प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी मे इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नहीं होने से यह माध्यम-परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परिणामत भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए 'वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग' की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत सन् १९६९ में पांच हिन्दी भाषी प्रदेशो में ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना की गयी।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ निर्माण में राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानों तथा अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्राय सभी क्षेत्रों मे उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थो का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्त तक दो सौ से अधिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम में तैयार करवायी गयी है। हमें आशा है कि यह अपने विषय में उत्कृष्ट योगदान करेगी। इस पुस्तक की परिवीक्षा के लिए अकादमी डॉ० गोविन्दचन्द्र पाडे, इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के प्रति आभारी है।

खेतसिंह राठौड़
अध्यक्ष

गौरीशंकर सत्येन्द्र
निदेशक

ह

अनुवादक के दो शब्द

भारतीय इतिहास की संरचना में अभिलेखिक साक्ष्यों के महत्त्व के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। विविध क्षेत्रों में हुई विशिष्ट उपलब्धियों के कारण गुप्त युग भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग के रूप में जाना जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय-क्षेत्र कुछ अधिक विस्तृत है, गुप्त शासनवंश तथा अन्य महत्त्वपूर्ण समसामयिक वाकाटक शासनवंश के अतिरिक्त इसमें अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय शासनवंशों एवं परवर्ती शासनवंशों से संबद्ध अभिलेखों का भी संकलन किया गया है। भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए इन मूलभूत साक्ष्यों का महत्त्व स्वतःसिद्ध है। अब विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी भाषा के माध्यम से पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि होने के कारण इतनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक का हिन्दी भाषा में अनुवाद आवश्यक सा था। मुझे राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर से इस अनुवाद-कार्य का प्रस्ताव लगभग दो वर्ष पूर्व मिला जो मैंने गुरुवर्य प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के कहने पर स्वीकार किया, यद्यपि इतने विशालकाय ग्रन्थ के अनुवाद-कार्य में सन्निहित कठिनाइयों का मुझे भान था।

गुरुवर्य डॉ० पाण्डेय की प्रेरणा तथा राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के उपनिदेशक श्री यशदेव शल्य से निरन्तर प्राप्त सहयोग एवं उत्साह वर्धन से यह कार्य पूरा हो सका। मैं उनका आभारी हूँ। पुस्तक की अनुक्रमणिका के उद्धरण-कार्य के समय मुझे विभाग के शोध छात्र श्री चन्द्रकान्त राजूरकर से अत्यन्त सहायता मिली जिसके लिए मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ। पुस्तक में जो त्रुटियां रह गई हैं विद्वान् पाठक उसके लिए क्षमा करेंगे।

गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र

इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर।

शुद्धिपत्र

पृ०		
४७	प० १५	१८७१ मे ही के वाद जोडें जन० कनिंघम द्वारा
४९	प० २८	राजेन्द्रपाल मिश्र के स्थान पर राजेन्द्रलाल मित्र
८५	प० १	विवरण प्राप्त होते हैं, के वाद जोडें प्रचलित वलभी सवत् ६४५
९१	प० १०	वलभी सवत् के वाद जोडें ६२७
१७४	प० ११	गृह—लाघव के स्थान पर ग्रह—लाघव
१७९	प० २६	भट्टार्क के स्थान पर भट्टारक
१८०	प० ३	ज्येष्ठशुक्लदशम्याम् के स्थान पर ज्येष्ठशुक्लविवादशम्याम्
१८०	प० ६	भट्टाक के स्थान पर भट्टारक
१८४	प० १३	भट्टाक के स्थान पर भट्टारक
१८५	प० ८	भट्टाक के स्थान पर भट्टारक
८	प० ६	कौराक्तक के स्थान पर कौराक्तक
१५	टि० ४ मे	ऊपर पृ० ७ टि० १ के स्थान पर ऊपर पृ० ८ टि० २
१५	टि० ५ में	ऊपर पृ० ७ टि० २ के स्थान पर ऊपर पृ० ८ टि० ३
१७	टि० १ मे	ऊपर पृ० ८ टिप्पणी १ के स्थान पर ऊपर पृ० ६ टिप्पणी १
२५	टि० २ की प० १	ऊपर पृ० ८ पर के स्थान पर ऊपर पृ० ६
२५	टि० २ की प० २	ऊपर पृ० १४, टिप्पणी ४ के स्थान पर ऊपर पृ० १७ टि० ३
२६	टि० २ मे	ऊपर पृ० १८ के स्थान पर ऊपर पृ० २२
३१	टि० ४ में	ऊपर पृ० ८ के स्थान पर ऊपर पृ० ६
३३	टि० ३ म	ऊपर पृ० १२, टिप्पणी १ के स्थान पर ऊपर पृ० १४, टिप्पणी २
३५	टि० ३ मे	ऊपर पृ० २७, टिप्पणी १ के स्थान पर ऊपर पृ० ३३, टिप्पणी २
३९	टि० ५ में	ऊपर पृ० ३० के स्थान पर ऊपर पृ० ३७
४३	टि० १ म	ऊपर पृ० २७, तथा टिप्पणी १ के स्थान पर ऊपर पृ० ३३, तथा टिप्पणी २
४४	प० १४	चन्द्रगुप्त के वाद जोडें (द्वितीय)
४७	प० ८	सस्याए के स्थान पर सस्थाए
५५	प० २६	कोटिप्रयस्य के स्थान पर कोटिप्रदस्य
५७	प० २०	कुवेरच्छन्द के स्थान पर कौबेरच्छन्द
६१	प० १	समुद्रगुप्त के स्थान पर स्कन्दगुप्त
७१	प० २०	प्रजयत् के स्थान पर ऊजयत्
७४	टि० ३	इन्द्रवज्रा तथा उपन्द्रवज्रा का उपजाति के स्थान पर इन्द्रवज्रा का उपजाति तथा उपेन्द्रवज्रा
७४	टि० ६	" " " "
७५	टि० ६	" " " "
७९	प० ४	प्रजयत के स्थान पर ऊजयत्

विषय-सूची

त्र

लेख सख्या

पृ०		
७९	प० २३	ईचारित्त के स्थान पर उच्चारित
८३	प० १५	गुप्त वश के स्थान पर गुप्तो के वश
८४	प० २	भद्र के स्थान पर मद्र
१०१	टि० २	इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उपजाति के स्थान पर इन्द्रवज्रा का उपजाति तथा उपेन्द्रवज्रा
१०१	टि० ४	” ” ” ”
१०२	टि० ८	” ” ” ”
१३३	प० १८	छन्दोकौथुम के स्थान पर छन्दोगकौथुम
१३३	प० २५	ऋषि के स्थान पर वेद
१४१	टि० ७	इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उपजाति के स्थान पर इन्द्रवज्रा का उपजाति तथा उपेन्द्रवज्रा
१४९	प० २५	प्रतिष्ठापित के स्थान पर प्रतिष्ठापितक
१८६	प० १३	भानुगुप्त के स्थान पर भानुगुप्ता
१८६	टि० ६	इन्द्रवज्रा . .का उपजाति के स्थान पर इन्द्रवज्रा का उपजाति तथा उपेन्द्रवज्रा
१८७	टि० ६	” ” ” ”
२२१	टि० ६	” ” ” ”
२२४	प० १३	धरसेन के स्थान पर ध्रुवसेन
२४५	प० २१	उत्तरा अमुख के स्थान पर उत्तराभिमुख
२५३	प० १	जीवितगुप्त के बाद जोड़ें (प्रथम)
२५७	टि० २ की प० १	शब्द के स्थान पर सख्यात्मक प्रतीक
२८३	प० ६	शक्ति के स्थान पर शाक्त
३२२	प० १५	लिच्छवि के स्थान पर लिच्छिवि
३२२	प० १९	वहृव्रिच के स्थान पर वहृवृच
३४८	प० १	हरिचलस्य के स्थान पर हरिवलस्य
३४८	प० ४	हरिवल के स्थान पर हरिवल
३५५	प० २३	वोधिमण्डप के स्थान पर वोधिमण्ड
३६१		शीर्षक दें सारनाथ प्रस्तरांकित लेख
३७४	प० १४	पक्ख के स्थान पर फक्क
३७५	प० २	उद्योतार्क के स्थान पर उद्योतकर
३८४	टि० १ की प० १	द्वारद्ररणक के स्थान पर दारद्रणक

लेख संख्या

प्राक्कथन

ठीक पचास वर्ष पूर्व, १८३७ मे, जर्नल आव द बगाल एशियाटिक सोसायटी के जिल्द ६ पृष्ठ ६६३ पर, भारतीय पुरातात्विक अध्ययन को सर्वप्रथम एक दृढ और समीक्षात्मक आधार पर प्रतिष्ठित करने वाले विद्वान श्री जेम्स प्रिंसेप (James Princep) ने दिन प्रतिदिन भारी मात्रा मे प्रकाश मे आते हुए आभिलेखिक साक्ष्यो को सुव्यवस्थित ढग से प्रस्तुत करने की आवश्यकता की ओर ध्यान दिलाया। उन्होंने यह सुझाव भी दिया कि इन्हे एक साथ ग्रन्थ रूप मे प्रकाशित किया जाय और इसका नाम कार्पस इन्सक्रिप्शनम इडिकेरम रखा जाय।

किन्तु लगभग चालीस वर्ष तक—इन आभिलेखिक वस्तु सामग्रियो का सग्रह तथा प्रकाशन वैयक्तिक प्रयास का विषय बने रहने के कारण—यह योजना ठप्प पडी रही, यह योजना पुन दस वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई जब भारतीय प्रशासन द्वारा शीघ्र ही अस्तित्व मे आए भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण विभाग के महानिदेशक पद पर जनरल सर अलेक्जेंडर कनिंघम (Alexander Cunninghum) सी० एस० आई०, के० सी० आई० ई० का चयन किया गया और उन्होने १८७७ मे कार्पस इन्सक्रिप्शनम इडिकेरम, जिल्द १ के अन्तर्गत इस शृ खला की पहली जिल्द को प्रकाशित किया जिसमे अशोक के अभिलेख थे।

उसी समय उन्होने यह घोषित किया कि इस शृ खला के जिल्द २ मे भारतीय शको और सौराष्ट्र के क्षत्रपो के अभिलेख तथा जिल्द ३ मे गुप्तो तथा उत्तरी भारत के अन्य समसामयिक राज वशो से सम्बन्धित अभिलेख होंगे। इसी बीच, १८८२ मे, भारतीय प्रशासन से सम्बन्धित राज्य सचिव की विशेष अनुमति से मेरा शीघ्र ही अस्तित्व मे आए भारतीय प्रशासन के पुरालेखविद् पद के लिए चयन हुआ जिसका प्रमुख कार्य प्रारम्भिक गुप्त सम्राटो के अभिलेखो से सम्बन्धित जिल्द को तैयार करना था। मैंने १७ जनवरी १८८३ को इस नियुक्ति का कार्य ग्रहण किया तथा ४ जून १८८६ तक इस पद पर काम करता रहा जबकि इस पद को समाप्त कर दिया गया।

यह सोच कर कि आवश्यक वस्तु सामग्री का सग्रह पहले ही हो चुका है और केवल उनकी विधिवत परीक्षा और प्रकाशन शेष हैं, पहले तो यह प्रमुख कार्य जो मुझे सौंपा गया था दीर्घकालिक और परिश्रम-साध्य नही प्रतीत हुआ और उस समय जो एक मात्र कठिनाई मेरे सामने दिखाई पड रही थी वह यह थी कि भारतीय शको के अभिलेखो से सम्बन्धित जिल्द, जिसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व कुछ अन्य लोगो पर था और तत्कालीन सभी आवश्यक विषयो के तिथिक्रम के निर्धारण के लिए जिसका प्रकाशन पहले होना आवश्यक था, अभी तक प्रकाशित नही हुई थी—वह वास्तव मे अबतक प्रकाशित नही हो पाई है। उन पूर्वकालिक घटनाओ की तिथियो का निश्चित निर्धारण न होने के कारण इस अतिमहत्वपूर्ण प्रश्न, कि प्रारम्भिक गुप्त शासन वश को किस युग मे रखा जाय, को सभवत अनिश्चित छोडना पडेगा सिवाय इसके कि इस विषय पर कुछ प्रमाण-सम्मत तथा अन्य प्रकार के अनुमानो और तर्कों के आधार पर कोई मत बनाया जाय जो भविष्य मे होने वाली खोजो द्वारा निराधार और त्रुटिपूर्ण प्रमाणित हो सकता है।

किन्तु, शीघ्र ही मेरे कार्य ने बड़ा आकार धारण करना प्रारम्भ किया, मैंने पाया कि मौलिक प्रस्तर लेखो और ताम्रलेखो की जो स्याही की छापे (ink-impressions) हमे सगृहीत रूप में प्राप्त हैं वह प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रामाणिक सम्पादन के लिए अधिक प्रामाण्य नही है। उन मौलिक लेखो की अनुकृतियो के पुनर्प्रस्तुतीकरण के प्रसग मे, जिसका ऐसे शोधकार्यों मे दिया जाना अनिवार्य सा है ताकि मौलिक लेखो की परीक्षा करने मे असमर्थ पाठक उन्हे देखकर प्रस्तुत किए गए परिणामो की जाच कर सकें, यह सामग्री मुझे और कम प्रामाण्य लगी। मैंने पाया कि केवल ग्यारह अथवा बारह अपवादो को छोड कर मेरे लिए अन्य सभी लेखो की नवीन अनुकृतिया लेना अनिवार्य था तथा, जहा तक हो सके, मुझे इन लेखो को उनके मूल स्थान पर जाकर देखना चाहिए और मूल ताम्र लेखो को उनके स्वामियो से प्राप्त कर उनकी पुन॰ परीक्षा करनी चाहिए। इस योजना के परिणामस्वरूप भारी पैमाने पर पत्रो का आदान-प्रदान और यात्राए करनी पडी और अबाध तथा सुचारू लेखन कार्य के मार्ग मे इससे अधिक कोई बाधा नही हो सकती। अप्रैल १८८५ मे जाकर मुझे अपने काम की अन्तिम वस्तु सामग्री अर्थात् विश्ववर्मन् के गगधार अभिलेख की एक मसी-अनुकृति तथा छाप प्राप्त हुई जो इस ग्रथ का सत्रहवा अभिलेख है।

किन्तु, इस बीच मूल लेखो तथा अनुवादो की प्रस्तुति, प्रतिचित्रो की व्यवस्था तथा अन्य सहायक कार्यों मे कुछ प्रगति की जा चुकी थी जो स्वभावत सदैव इस तथ्य पर आधारित रही कि इस ग्रन्थ का कोई भाग तबतक पूर्णरूपेण सम्पन्न नही हो सकता जबतक हमे यह ज्ञात न हो जाय कि अब कोई नवीन वस्तु-सामग्री नही मिलने वाली है। यह सिद्ध हो चुका है कि पहले से ही प्राप्त वस्तु सामग्रियो को फिर से सग्रह करने के कारण हुई देरी कोई दु ख का विषय नही है, चाहे हम केवल इस दृष्टि मात्र से विचार करें कि इसके कारण अन्य कई सर्वथा नवीन लेखो के साथ मुझे बहुमूल्य मन्दसोर अभिलेख (द्र०,लेख सख्या १८) प्राप्त हो सका जिसने गुप्त-सवत् सम्बन्धी दीर्घकाल से चल रहे विवादपूर्ण प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करने वाली अपेक्षित सूचना प्रदान की है। यह अभिलेख मेरे ही निदेशन मे १८८४ के मार्च महीने मे प्राप्त हुआ, और उस समय भी मेरे पास लाई गई स्याही की छाप मे कुछ गम्भीर अशुद्धिया होने के कारण उसका सम्पूर्ण महत्व न ज्ञात हो सका। १८८५ की फरवरी के अन्त मे मैं स्वय मन्दसोर गया, उस समय मैं लेख को अपने मूल स्थान पर देख सका और तभी मैंने उसकी ठीक स्याही की छाप बनवाई जिससे इसका सम्पूर्ण और निर्णयात्मक महत्व जाना जा सका। इसी यात्रा के प्रसग मे उज्जैन जाने पर मुझे प्रथम बार लगभग समान महत्व के यशोधर्मन् तथा विष्णुवर्धन् के अभिलेख का पता लगा जो इस जिल्द का पैंतीसवा अभिलेख है यशोधर्मन् की निश्चित तिथि प्रदान करने के कारण यह अभिलेख उस युग के इतिहास को समझने का अनन्य स्रोत है। मार्च १८८४ मे मेरे निदेशन मे प्राप्त मन्दसोर अभिलेख (सख्या ३३) के अनुसार यशोधर्मन् ने सुविज्ञात विदेशी आक्रमणकारी और विजेता उस मिहिरकुल को उन्मूलित किया था जिसने, जैसा कि मैं पहले ही निर्धारित कर चुका था, प्रारम्भिक गुप्त शासन वश के अन्तिम पतन मे योग दिया होगा। इन खोजो के बिना प्रारम्भिक गुप्तो का प्रभावपूर्ण शासन काल अब भी विभिन्न सिद्धान्तो और शकाओ का विषय बना रहता। इसके विपरीत इन खोजो के कारण मैं उन प्रश्नो का अन्तिम समाधान कर सका हूँ और ऐसा प्रारम्भ-विन्दु स्थापित कर सका हूँ जिसके आधार पर पीछे की ओर चल कर भारतीय-शको के इतिहास का अध्ययन किया जा सकता है। मिहिरकुल के विषय मे हम चीनी यात्री युवान च्वाग के विवरण से जानते हैं कि उसने प्रारम्भिक भारतीय इतिहास मे एक प्रमुख और महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, पहली बार तिथि निश्चित करके मैं राजतरगिणी मे चर्चित कश्मीर के प्रारम्भिक इतिहास मे मिहिरकुल के पूर्व और पश्चात् के तिथिक्रम को व्यवस्थापित करने तथा तत्कालीन युग के विषय मे उपलब्ध चीनी विवरणो की सत्यता को जाचने के साधन प्रदान कर सका हूँ।

अपेक्षित वस्तु सामग्रियो का सग्रह कार्य अन्तत सम्पन्न हो चुकने पर अगला कार्य था आलोक-शिलामुद्रणीय (Photo-lithographic) प्रतिलिपि-पट्टो (Facsimile plates) को तैयार करना। और यह इस ग्रन्थ के अत्यन्त विशिष्ट कार्यो मे एक प्रमुख कार्य था। मेरा सदैव यह उद्देश्य रहा कि ये प्रतिचित्र पाठको के सम्मुख मौलिक अभिलेखो के यथाशक्य सुन्दर अनुकल्प के रूप मे आए ताकि वे मेरे पाठन की शुद्धता अथवा अशुद्धता और इसी प्रकार के किसी सदेहात्मक प्रश्न पर स्वय को सतुष्ट कर सकें और भावी अनुसधानो द्वारा प्रस्तावित किसी भी सुधार को ग्रहण कर सकें। प्रामाणिकता के दृष्टिकोण से हस्तानुरेखण अथवा आँखो से देखकर तैयार किए गए अकन अथवा इसी प्रकार के अन्य किसी साधन के आधार पर बनाए गए किसी भी शिलामुद्रण की कोई उपयोगिता नही हो सकती और यही बात किसी भी ऐसे यान्त्रिक-प्रत्यकन के लिए भी कही जा सकती है जिसमे हाथ के काम की अपेक्षा रहती है, क्योंकि इस कार्य मे चाहे जितनी वैयक्तिक विद्वत्ता और कुशलता प्रयुक्त हो और चाहे जितनी भी सावधानी बरती जाय, हमे मौलिक अभिलेखो का हूबहू प्रत्यकन न प्राप्त होकर केवल उनका ऐसा प्रत्यकन प्राप्त होगा जैसा कि वे अपने अलग-अलग पाठक को दिखाई पडते हैं, और जबतक हमे केवल इस प्रकार के तथाकथित प्रत्यकन ही उपलब्ध रहेंगे तबतक इन लेखो के पाठन के विषय मे मतो की विविधता, शकाओ और अनुमानो का होना अवश्यम्भावी है। इससे बचने के लिए इस सम्पूर्ण ग्रन्थ मे ग्यारह अथवा बारह को छोड कर मेरे निदेशन में तैयार की गई सभी स्याही की छापें बडी ही सावधानी के साथ तैयार की गई हैं, उन्हें तैयार करने मे केवल यात्रिक साधनो का ही प्रयोग किया गया है तथा इस कार्य मे ऐसे व्यक्ति की सेवा ली गई है जिसे मैंने इस प्रकार के कार्य पर बहुत दिनो से लगा रखा है तथा जो इस क्षेत्र में काफी कुशलता अर्जित कर चुका है। एक विशेष अनुमति द्वारा इनके पुनर्प्रस्तुतीकरण का कार्य पेकहम (Peckham) स्थित श्री डब्लू० ग्रिग्स (W Griggs) की सुविज्ञात शिला-मुद्रण-चित्र-सस्था को दिया गया जिसमे पहले ही इस प्रकार के काम भारी मात्रा मे हो चुके हैं, मुझे इग्लैण्ड जाने की भी अनुमति मिली ताकि इस कार्य का मैं स्वय निरीक्षण कर सकू। इस सन्दर्भ मे मेरा अपना कार्य यह देखना रहा है कि शिला-मुद्रण-चित्र ठीक-ठीक हो और उनकी तैयारी सर्वथा यात्रिक प्रक्रिया के अन्तर्गत हो, किन्तु इसमे अन्तिम छपाई तक एक-एक प्रतिचित्र का दो-तीन बार सूक्ष्म निरीक्षण करना पडा ताकि किसी प्रकार की गडबडी न रह जाय, और इस कार्य का व्यवहारिक अनुभव रखने वाला कोई भी व्यक्ति जानता है कि इसमे काफी समय लगता है, किन्तु, इस कार्य मे जो समय-हानि अथवा परेशानी हुई उसका प्रतिदान प्राप्त परिणामो द्वारा हो गया। श्री ग्रिग्स, जो अभिलेखो के पुनर्प्रस्तुतीकरण मे व्यक्तिगत रुचि लेते हैं, की बहुमूल्य सहायता से मैं अब अपने पाठको के सम्मुख मौलिक अभिलेखो तथा उनके परिवेशो का यथासम्भव ठीक-ठीक प्रत्यकन प्रस्तुत कर सकता हूँ।

यह कार्य-भाग १८८५ के दिसम्बर मे समाप्त हो गया। तत्पश्चात् मैं इस ग्रन्थ की समाप्ति के लिए भारत लौटा, मई १८८६ के अन्त मे मूल लेख और अनुवाद मुद्रणालय के लिए तैयार हो चुके थे यद्यपि वे सर्वथा अपने वर्तमान रूप मे नही थे। किन्तु तभी यह ज्ञात हुआ कि इस ग्रन्थ के लिए कुछ स्वराकित मुद्रणाक्षर विशेष रूप से बनवाने पडेंगे, इस तथा कुछ अन्य कारणो से पहला प्रूफ अगले नवम्बर के पूर्व न तैयार हो सका। इस समय तक कार्य प्रारम्भ हो सकने और तब से इसकी तीव्र प्रगति का कारण भारतीय सरकारी मुद्रणालय (Government printing, India) के अधीक्षक और उप-अधीक्षक श्री ई० जे० डीन (E J Dean) और श्री ए० सैंडरसन (A Sanderson) की मित्रतापूर्ण और निजी सहायता है जिनके यहाँ यह ग्रन्थ मुद्रित हुआ है, और मेरा विचार है कि यह कहना अत्युक्ति नही होगी कि यह ग्रन्थ इस बात का सर्वोत्कृष्ट नमूना है कि बुद्धिमत्तापूर्ण निदेशन के अन्तर्गत भारत मे बडे और महत्वपूर्ण ग्रन्थो का मुद्रणकार्य सम्पन्न हो सकता है। यहाँ मैं अपने मित्र श्री डब्लू० रोज

फिलिप्स (W Rees Philipps) का आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने अन्तिम प्रूफ को देखने मे काफी सहायता की है, जब से मुद्रणकार्य प्रारम्भ हुआ, प्रेस की सामग्री डाक से आने के कारण कभी भी मुझे पाच दिन के अन्तर से पूर्व नही मिली-और इस बीच मैं इग्लैण्ड भी रहा-अत मुद्रण-स्थान कलकत्ता मे ही रहते हुए उनकी बहुमूल्य सहायता से काफी समय बच सका। मूल लेखो और अनुवादो का मुद्रणकार्य जुलाई १८८७ मे समाप्त हो गया। उसके बाद जो भी देरी हुई वह भारी मात्रा मे प्राप्त महत्वपूर्ण वस्तु-सामग्री की छपाई के कारण हुई जिनका उपयोग इस बीच मैं अपनी भूमिका मे कर सका।

यह निस्सदेह कहा जा सकता है कि अपने मूल लेखो की टिप्पणियो मे मैंने उन लेखो के पूर्व-प्रकाशित पाठान्तरो का बहुत कम उल्लेख किया है। पारम्भ मे ही मुझे लगा कि सम्पूर्ण ग्रन्थ मे इस प्रकार के उद्धरण देने से यह ग्रन्थ अपने वर्तमान आकार से दूना हो जाएगा और प्रत्येक पृष्ठ पर ऐसी सैकडो टिप्पणिया देनी पडेंगी जिनका कोई व्यवहारिक उपयोग नही है। अत मैंने प्रारम्भ से ही इस प्रकार की कार्य-योजना का विचार त्याग दिया क्योकि मेरे विचार से इसमे बहुत थोडे पाठको को ही रुचि हो सकती थी। मैंने सोचा कि ऐसे विशिष्ट पाठको को आवश्यक तुलनात्मक अध्ययन की सभी सुविधा प्रदान करने के लिए मैं उन सभी पाठान्तरो को, जो मुझसे पूर्व अन्य विद्वान् प्रस्तुत कर चुके है, प्रत्येक मूल लेख से सबद्ध भूमिका मे दू, मैंने पूर्व प्रकाशित त्रुटिपूर्ण पाठभेदो को केवल तब दिया है जब उनका प्रभाव किसी ऐतिहासिक नाम अथवा किसी अन्य महत्वपूर्ण समस्या पर पड रहा हो। मैं स्वय द्वारा प्रस्तुत पाठो को सर्वथा अन्तिम पाठ के रूप मे नही अपितु अवतक प्रकाशित पाठो मे सबसे विश्वसनीय पाठ के रूप मे रख रहा हूँ जिनसे, अब पहली बार, इस युगविशेप के आभिलेखिक साक्ष्यो से सम्बन्धित शोधकार्य के सभी पक्षो पर समालोचनात्मक विचार हो सकता है। केवल एक विशिष्ट पक्ष उदाहरण के लिए लें—अब जाकर हमने हिन्दू तिथियो को अग्रेजी तिथियो मे परिवर्तित करने की प्रतिक्रिया को ठीक-ठीक समझा है। इस प्रसग मे अभी बहुत कुछ जानना शेष है तथा जैसे-जैसे हमारा ज्ञान बढेगा हमे, उदाहरण के लिए, सख्यात्मक प्रतीको और लिखित तिथियो की अन्य सूक्ष्मताओ की व्याख्या मे बहुतेरे सुधार करने पडेंगे। प्रसगोचित दृष्टान्त के लिए मैं लेख स ७१ से सबद्ध टिप्पणी स २ का उल्लेख करता हूँ। इस पक्ति मे, तथा इस प्रकार की किसी पक्ति मे, मैं किसी भी सुझाव का कृतज्ञतापूर्वक स्वागत करू गा जिससे भविष्य मे छपने वाले सस्करण मे सुधार हो सके।

अवतक, पूर्ण तथा व्यवस्थित विषय-सूचियो का अभाव आभिलेखिक शोधकार्यो के अनुशीलन मे सबसे बडी बाधा रही है। प्रस्तुत गन्थ की विषय सूची पर विशेष ध्यान दिया गया है तथा इसमे इस अभिलेख-सग्रह से सम्बन्धित किसी भी ऐसे उद्धरण को सम्मिलित करने की चेष्टा की गई है जो शिलालेख शास्त्र से सम्बन्धित किसी भी प्रकार के शोधकार्य के लिए महत्वपूर्ण है। मुझे विश्वास है कि इस शृखला के आगामी प्रकाशनो मे भी सम्बन्धित विद्वान् इस बात का ध्यान रखेंगे।

प्रतिचित्रो के निर्माण मे अधिक खर्च पडने के कारण प्रारम्भ मे इस ग्रन्थ की केवल ढाई सौ प्रतियो के प्रकाशन की अनुमति प्राप्त हुई थी। ग्रन्थ की समाप्ति तक इग्लैण्ड, योरोप तथा भारतवर्ष से इस आशय की अत्यन्त सतोषजनक सूचनाए प्राप्त हुई कि प्रस्तुत गन्थ मेरी अपनी आशा से भी अधिक लोकप्रिय होगा और सामान्य पाठ्य-विषय बनेगा। इन परिस्थितियो के कारण ढाई सौ अतिरिक्त प्रतियो का प्रकाशन किया गया जिनमे प्रतिचित्र नही रखे गए है और जो, इसी कारण, कम मूल्य मे उपलब्ध हैं। सामान्य पाठक के काम की सभी आवश्यक सामग्री इसमे उपलब्ध है। मूल पाठो की व्याख्या से सम्बन्धित विशेष समस्याओ मे जिज्ञासा रखने वाले विशिष्ट अध्येता सदैव पास के

जनता-पुस्तकालय अथवा किसी शैक्षणिक सस्था मे रखी विशद प्रति मे सहायता ले सकते है जिसमे प्रतिचित्र भी दिए गए हैं।

जैसा कि मैंने ऊपर सकेत किया है यह ग्रन्थ ठीक उस रूप मे नही प्रकाशित हो रहा है जैसा कि यह अपने मूल रूप मे मुद्रणार्थ तैयार किया गया था। इतिहास-विषयक अध्यायो के बिना, जो इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग के रूप मे प्रकाशित होने चाहिए, यह जिल्द पूर्ण नही समझी जा सकती। बार-बार उल्लेखो और उद्धरणो को देने की समस्या जुटी होने के कारण, मूल पाठो और अनुवादो के प्रकाशित हुए बिना इन अध्यायो का लेखन तक सभव नही था। पिछले पचास वर्षों मे विभिन्न शोध क्षेत्रो के प्रसग मे प्रतिपादित विभिन्न त्रुटिपूर्ण सिद्धान्तो के ऐतिहासिक विश्लेषण के लिए इतनी भारी मात्रा मे नानाविध अध्ययन और आलोचन अपेक्षित हैं कि अब, वित्त विभाग के प्रशासकीय कार्यों मे सलग्न रहते हुए, मुझे भारी सदेह है कि मैं कभी भी इस भाग को लिख सकूंगा। वस्तुत प्रस्तुत ग्रन्थ को ही सतोषप्रद स्वरूप मे समाप्त कर सकना मेरे लिए काफी कठिन सिद्ध हुआ है। ग्रन्थ के प्रकाशन मे हुई देरी का इसी कारण मैंने यह लाभ उठाया है कि मैंने इसमे उन विभिन्न टिप्पणियो और विचारो को दे दिया है जिन्हें मैं इतिहास-विषयक अध्यायो से सम्बन्धित भाग मे रखना चाहता। किन्तु, मैं सोचता हूँ कि वे यहा भी अप्रासगिक नही प्रतीत होगे, चाहे कालान्तर मे मुझे अपने मतो मे परिवर्तन भी करना पडे।

एक अन्य दृष्टि से भी प्रकाशन की देरी को एक बडे लाभ मे रूपान्तरित किया गया है और वह यह है कि इससे मैं अपनी भूमिका मे कुछ महत्वपूर्ण वस्तु-सामग्रियो को सम्मिलित कर सका तथा इस कार्य मे मैं बम्बई शिक्षा विभाग के श्री शकर बालकृष्ण दीक्षित का उनकी बहुमूल्य सहायता के लिए कृतज्ञ हूँ। उनसे मेरा परिचय दिसम्बर, १८८६ मे ही हुआ था। तब से, विभिन्न प्रश्नो के प्रति विशेष जिज्ञासा के कारण उत्पन्न समस्याओ के समाधानार्थ उन सभी ज्योतिषीय गणनाओ को उन्होंने परिश्रमपूर्वक किया जो मैंने उनके सामने रखे। उनके दो लेख अपने सम्पूर्ण रूप मे परिशिष्ट २ और ३ में दिए जाएगे, इनमे से प्रथम परिशिष्ट मे उस प्रक्रिया की व्याख्या है जिसके द्वारा प्रोफेसर केरो लक्ष्मण छत्रे द्वारा बनाई गई तालिका की सहायता से ठीक-ठीक गणना द्वारा किसी भी हिन्दू तिथि अथवा चान्द्र-दिवस को अंग्रेजी तिथि मे रूपान्तरित किया जा सकता है। जिस दूसरी समस्या पर उन्होंने ध्यान दिया है वह है बृहस्पति के द्वादश वर्षीय चक्र की व्याख्या जिसका प्रारम्भिक गुप्त युग के लेखो मे महत्वपूर्ण स्थान है। परिचय के इस छोटे समय मे उन्होंने मेरे लिए जितना कार्य किया है उसका मैं शब्दो में कृतज्ञतायापन नही कर सकता। मैं केवल यह कह सकता हूँ कि उनकी सहायता बहुमूल्य रही है जिसके बिना मैं इन पूरक समस्याओ को भविष्य के लिए छोड देता, साथ ही गुप्त सवत् के अति महत्वपूर्ण प्रश्न को भी भविष्य के लिए छोडना पडता और इसे इसकी सही तिथि के एक वर्ष पूर्व अथवा एक वर्ष पश्चात् तक रखे जाने की ही गुंजाइश रह जाती। किन्तु इस सहायता के कारण मैं अब वह सब सिद्ध कर सकता हूँ जो कुमार गुप्त और बन्धुवर्मन की तिथियो से युक्त मन्दसोर अभिलेख का सही महत्व जानने के बाद मैंने स्थापित करने का प्रयत्न किया है, तथा, जैसा कि इन पृष्ठो से स्पष्ट हो जाएगा, अब मैं अपनी बात को सम्पूर्णत और सतोषजनक रूप मे प्रस्तुत कर सकता हूँ।

—जे० एफ० फ्लीट

भूमिका

इस भूमिका के मुख्य विषय–अर्थात् तथाकथित गुप्त सवत् के काल का निर्धारण–की चर्चा प्रारम्भ करने के पूर्व मैं प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय-क्षेत्र तथा इसके विषय-वस्तु की व्यवस्था का सक्षिप्त विवरण दूंगा।

प्रमुख लेख स्वभावत: प्रारम्भिक-गुप्तो के हैं[1]; यह लेख शृ खला समुद्रगुप्त की मरणोत्तर अकित एलाहाबाद प्रस्तर-स्तम्भ-अभिलेख, सख्या १, से प्रारम्भ होती है तथा स्कन्दगुप्त, जो वर्तमान ज्ञान के आधार पर प्रारम्भिक-गुप्त शासन-वश की मुख्य शाखा का अन्तिम शासक जान पडता है, के उस इन्दौर ताम्र-दानपत्र से समाप्त होती है जो इस ग्रन्थ का लेख सख्या १६ है। इन लेखो की वास्तविक तिथियो की विस्तृति ४०१ ई० से ४६६ ई० तक है।

इसी युग के दो अभिलेख मालवा के शासको से सम्बन्धित हैं. ४२४ ई० की तिथि वाला विश्ववर्मन् का गगधार अभिलेख जो इस ग्रन्थ का लेख सख्या १७ है तथा ४७४ ई० की तिथि से युक्त मन्दसोर अभिलेख जो इस ग्रन्थ का लेख सख्या १८ है, मन्दसोर अभिलेख मे कुमार गुप्त तथा उसके सामन्त-शासक वन्धुवर्मन् के लिए ४३७ ई० की तिथि दी गई है[2] और इससे इस लेख ने एक चिरप्रपेक्षित भत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य पदान किया है–वह है किसी अभिज्ञान-समर्थ पारम्भिक-गुप्त राजा की एक ऐसे सुपरिचित सवत् मे तिथि प्रदान करना जो स्वयं प्रारम्भिक-गुप्त शासको के द्वारा प्रयोग किए जाने वाले सवत् विशेष से भिन्न हो। इसके वाद दिए गए 'विशेष अभिलेख' के अन्तर्गत आने वाले लेखो मे से कुछ को छोडकर लेख सख्या १७ विशेष रूपेण प्रारम्भिक-गुप्त शासन वश से सम्वन्धित अन्तिम लेख हैं।

किन्तु स्कन्द गुप्त के थोडे समय वाद ही हमे बुधगुप्त और भानुगुप्त के नाम मिलते हैं जिनकी तिथिया क्रमश. ४८४ ई० (प्रस्तुत ग्रथ मे लेख सख्या १९) और ५१० ई० (लेख सख्या २०) हैं। और इस तथ्य के साथ रखकर देखने पर कि परिव्राजक महाराजाओ के अभिलेखो मे गुप्त सर्वप्रभुता की सत्ता स्पष्ट रूप से ५२८ ई० तक बताई गई है, इन शासको के

---

१ मैंने इस शासन-वश को 'प्रारम्भिक-गुप्त' नाम दिया है ताकि इन्हे मगध के उन उत्तरवर्ती गुप्तो से भिन्न करके पहचाना जा सके जिनकी वशावली अफसड अभिलेख (लेख स ४२) तथा देव-वरणार्क अभिलेख (लेख स० ४६) मे दी गई हैं।

२ ये तीनो तिथिया मेरे उन प्रस्तावनात्मक कथनो पर आधारित हैं जो मैंने इन दो अभिलेखो के प्रसग मे अभिव्यक्त किए थे। किन्तु मालव अथवा गुप्त सम्वत् के अन्तिम विन्दु का ठीक ठीक निर्धारण हो पाने पर सम्भवत यह पाया जाय कि इन तीनो तिथियो तथा इस शृ खला की अन्य सभी तिथियो मे से प्रत्येक मेरे द्वारा इस समय सुझाए गए वर्ष से एक वर्ष पूर्व पडेगी।

नामान्त कम से कम इस अनुमान को जन्म देते हैं कि ये शासक भी सभवत प्रारम्भिक-गुप्त शाखा के रहे हो, यद्यपि यह संभव है कि उनका स्कन्दगुप्त से सीधा सम्बन्ध न रहा हो। तिथिक्रम की दृष्टि से बुधगुप्त स्कन्दगुप्त के ठीक वाद आता है। भानुगुप्त का समय कुछ वाद का है, बुधगुप्त के उपरान्त पूर्वी मालवा तोरमाण के प्रभुत्व मे रहा और भानुगुप्त इस तोरमाण के पश्चात् आया। किन्तु सभी तथ्यो पर विचार करने के उपरान्त सर्वाधिक सुविधाजनक यह जान पडता है कि उसके अभिलेख को बुधगुप्त के अभिलेख के तुरन्त वाद रखा जाय।

लेख-सख्या २१ से लेकर लेख-सख्या २५ तक के अभिलेख ऐसे हैं जिनका काल-क्षेत्र ४७५ ई० से लेकर ५२८ ई० तक है और जो एक ओर तो बुधगुप्त के समय को और दूसरी ओर तोरमाण, भानुगुप्त और मिहिरकुल के समय को अतिव्याप्त करते हैं। वे एक सामन्त वश से सम्वन्धित लेख हैं जिसके सदस्यो को सुविधा के लिए परिव्राजक महाराज कह कर पुकारा जा सकता है।[1] इन लेखो का विशेष महत्व इस वात मे है कि ये स्पष्ट रूप से यह प्रदर्शित करते है कि चाहे प्रारम्भिक-गुप्त शासन वश की मुख्य शाखा समाप्त हो गई रही हो, किन्तु गुप्त साम्राज्य ५२८ ई० तक वना रहा और गुप्त राजाओ का नाम इस समय तक सार्वभौम सत्ताधारी के रूप में मान्य होता रहा। इनकी दूसरी विशिष्टता यह है, जैसा कि हम वाद मे देखेंगे, कि तिथियो के अकन मे ये लेख वृहस्पति के द्वादश वर्षीय चक्र का प्रयोग करते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ मे प्रथम वार यह दर्शाया जाएगा कि यह तथ्य, प्रारम्भिक-गुप्तो और उनके उत्तरवर्ती शासको की तिथिया ठीक-ठीक किस वर्ष से प्रारम्भ होती हैं, इस विषय मे मेरे सामान्य निष्कर्षों का महत्वपूर्ण समर्थक है, चाहे यह एक वस्तुत स्वतन्त्र एव निर्णयात्मक प्रमाण न भी हो।

उपर्युक्त शासन-वश के साथ तिथिक्रम तथा भौगोलिक दोनो दृष्टिकोणो से घनिष्टरूपेण सम्वन्धित परिवार उच्चकल्प के महाराजो का था जिनके लेख इस ग्रन्थ मे लेख-सख्या २६ से लेकर लेख-सख्या ३१ तक सगृहीत हैं, लेख-सख्या २४ मे इनके एक शासक 'महाराज' शर्वनाथ का नाम भी उल्लिखित है और लेख मे दी गई तिथि के अनुसार वह परिव्राजक वश के 'महाराज' हस्तिन् का समकालीन ठहरता है। यदि इनके लेखो की तिथियो को गुप्त सवत् मे अकित माना जाय तो इनका काल विस्तार ४९३ ई० से ५३३-३४ तक प्राप्त होता है। ये तिथिया गुप्त सवत् की हैं यह मत जनरल कनिंघम का है, जिन्हें एक को छोडकर अन्य सभी उच्चकल्प-दान पत्रो को सर्वप्रथम प्रकाश मे लाने का श्रेय प्राप्त है।[2] मेरा अपना विचार भी यही रहा है। किन्तु इस समस्या पर पुनर्विचार करने पर ज्ञात हुआ कि इन अभिलेखो में कुछ ऐसी वातें हैं जो, यदि कल्चुरि अथवा चेदि सवत् का स्वतन्त्र अस्तित्व सतोषजनक रूप से प्रमाणित हो सके तो, इस सभावना को उत्पन्न करती हैं कि ये लेख गुप्त सवत् मे न अकित होकर कल्चुरि सवत् मे अकित हैं, यह सवत् गुप्त सवत् के समान ही सभी आवश्यक अपेक्षाओ से मेल खाएगा-यहा तक कि कनिंघम के उस प्रस्ताव[3] से भी कि सवत् का प्रारम्भ २४९-५० ई० मे हुआ-वल्कि पच्चीस अथवा तीस वर्ष वाद का समय इनके लिए और भी उपयुक्त ठहरेगा। अत विशेष रूप से यह ज्ञान कि जव कि परिव्राजक-महाराज प्रारम्भिक-गुप्त शासन-वश के उत्तरवर्ती शासको के सामन्त थे उच्चकल्प के 'महाराज' शासक, जिनका

---

१ द्रष्टव्य लेख स० २१ मे 'परिव्राजक' शब्द पर टिप्पणी।

२ आरक्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जिल्द ९, पृष्ठ ९ इत्यादि।

३ द्रष्टव्य, इण्डियन एराज, पृ० ६० इत्यादि।

राज्य अपेक्षाकृत और पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व मे स्थित था, कल्चुरियो के अधीन थे, तुरन्त इस बात को स्पष्ट कर देगा कि भुमरा स्तम्भ लेख (लेख-सख्या २४) मे कोई सवत् क्यो नही दिया गया है, इसका कारण यह था कि दोनो परस्पर विरोधी शासन-वशो के सामन्त इस विषय पर एकमत न हो सके कि लेख मे किस सवत् का प्रयोग किया जाय। इसी लेख से यह ज्ञात होता है कि इसमे उल्लिखित महा-माया-सवत्सर मे महाराज हस्तिन् और महाराज शर्वनाथ एक दूसरे के समकालीन थे। हमे हस्तिन् के प्रसग मे प्रथम तिथि गुप्त-सवत् १५६ और अन्तिम तिथि गुप्त-सवत् १९१ ज्ञात है, शर्वनाथ की प्रथम तिथि १९३ और अन्तिम तिथि २१४ है तथा उसके पिता जयनाथ की अन्तिम ज्ञात तिथि १७७ है। और चूकि हस्तिन् का गुप्त-सवत् १९१ के बाद जीवित रहना और शासन करना असम्भव जान पडता है अत दोनो ही तिथि शृखलाओ को गुप्त-सवत् का मानने पर उपर्युक्त लेख मे उल्लिखित महा-माघ-सवत्सर वह महा-माघ-सवत्सर जान पडता है जिसका प्रारम्भ गुप्त-सवत् २०१ मे नही अपितु गुप्त-सवत् १८९ मे हुआ था, क्योकि तिथि १८९ से शर्वनाथ की प्रथम ज्ञात तिथि का केवल चार वर्ष का अन्तर ठहरता है, जबकि तिथि २०१ को ठीक मानने पर हमे हस्तिन् के पहले से ही छत्तीस वर्ष के लम्बे शासनकाल मे दस वर्ष और जोडने पडेंगे। दूसरी ओर हस्तिन् के समय मे इसके पूर्व महामेघ-सवत्सर गुप्त सवत् १६५ और १७७ मे पडा। यदि उच्चकल्प लेखो की तिथिया कल्चुरि-सवत् मे, जिसका प्रारम्भ कनिघम के अनुसार २४९-५० ई० है, अकित मानी जाय, तो शर्वनाथ की अन्तिम तिथि २१४, ई० सन् ४६३-६४ अथवा गुप्त-सवत् १४४ की समकालीन होगी, और इस दशा मे उसे गुप्त-सवत् १६५ मे हस्तिन् का समकालीन बनाने के लिए हमे उसकी अन्तिम ज्ञात-तिथि मे २१ वर्ष और जोडने होगे। किन्तु यदि कल्चुरि-सवत् का प्रारम्भ कनिघम द्वारा प्रस्तावित तिथि के लगभग पच्चीस वर्ष बाद माना जाय तो दोनो महाराजा गुप्त-सवत् १६५ अथवा ई० सन् ४८४-८५ मे स्वभावत समकालीन होगे। श्री श० ब० दीक्षित की गणना के अनुसार, यह सम्भव है कि जनरल कनिघम द्वारा प्रस्तावित काल सत्य के अधिक निकट हो किन्तु इसे पूर्ण सत्य नही माना जा सकता। तथा उन्होने पाया कि यद्यपि जनरल कनिघम द्वारा दी गई सभी कल्चुरि अथवा चेदि-तिथिया[1] २४८-४९ की तिथि से अथवा इससे एक वर्ष पूर्व की तिथियो से सगत बैठती हैं तथापि वे और मैं दोनो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रकाशित पाठनो और तिथियो के शिलामुद्रणो के रूप मे जो आधार सामग्री हमे उपलब्ध है वह इतनी विश्वसनीय नही है कि उससे प्राप्त परिणामो के आधार पर कोई नया मत बनाया जा सके। तथा, यदि इतने पहले कल्चुरि-सवत् का अस्तित्व था[2] तो यह भी निश्चित है कि उस समय कल्चुरि-शासनवश के शासक शासन कर रहे होंगे, यह मानने पर यह आश्चर्यजनक बात होगी कि समुद्रगुप्त द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी पर विजय का इतने अधिक विस्तार के साथ घोषणा

---

१ इण्डियन एराज, पृ० ६१

२ यहाँ मैं त्रैकूटक महाराज दहरसेन के 'पर्दी' दान-लेख [जनरल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी जि० १६, पृ० ३४६ इत्यादि] की उपेक्षा नही करता जो किसी अज्ञात सवत के २०७ वर्ष की तिथि मे अकित हैं, मुझे कन्हेरी धातुपत्र [द्र०, आरक्यालोजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इण्डिया द्वारा अलग से प्रकाशित पुस्तको के दशम प्रकाशन का पृ० ५७ और आगे] का भी ध्यान है जो 'त्रैकूटको की उत्तरोत्तर बढती हुई प्रभुसत्ता के दो सौ पैंतालीसवें वर्ष मे अकित है। किन्तु अभी यह प्रमाणित होना शेष है कि इन दोनो लेखो के सवत् एक ही हैं अथवा यह कि त्रैकूटको के नाम का स्रोत त्रिकूट तथा मध्यभारत के कल्चुरियो की राजधानी त्रिपुरा अथवा त्रिपुरी अभिन्न हैं।

करने वाला इलाहाबाद प्रयाग स्तम्भ कल्चुरियो का कोई विशिष्ट उल्लेख नही करता[1]—विशेष रूप से इसलिए क्योकि प्रारम्भिक चालुक्य शासक मगलीश के महाकूट स्तम्भ-लेख से[2] यह ज्ञात होता है कि कम से कम छठी शताब्दी मे इस राजवश का नामकरण सुनिश्चित हो चुका था, तथा प्रस्तुत लेख मे यह राजवश अपने सस्कृत नाम कलत्सूरि से उल्लिखित हुआ है चू कि अपने परवर्ती लेखो मे कल्चुरि स्वय को सहस्राजु न अथवा सहस्रबाहु-अर्जु न का वशज बताते हैं,[3] अत यह कहा जा सकता है कि इलाहाबाद लेख की बाईसवी पक्ति मे उल्लिखित आजु नायनो मे उनका उल्लेख है, तथा इस आधार पर कोई विशेष आपत्ति नही उठाई जा सकती। जो वास्तविक कठिनाई है वह है यह सिद्ध करना कि इतने पहले कल्चुरि सवत् का और इस कारण कल्चुरि शासको का, अस्तित्व था, और यह कि यह किसी प्राचीन काल के साथ सयोजित की जाने वाली परवर्ती कल्पना नही है। किन्तु, जिस समय मे मैं उपर्यु क्त बातों को लिखित रूप दे रहा था, अभी हाल मे प्रो० कीलहार्न ने यह प्रतिपादित किया है[4] कि यदि हम इन विवादास्पद दस तिथियो मे तीन तिथियों को व्यतीत वर्षो का बोधक मान लें तो सभी तिथिया २४८-२४६ ई० की तिथि मे सगत बैठेंगी। अत यह सत्य ही विचार का विषय है कि क्या उच्चकल्प के महाराज वास्तव मे कल्चुरि वश के प्रारम्भिक शासको के सामन्त थे तथा उनके लेखो मे कल्चुरि सवत् का प्रयोग हुआ है अथवा नही। दुर्भाग्यवश इन उच्चकल्प तिथियो मे गणना के लिए अपेक्षित विवरण नही प्राप्त है और, इस कारण, इस समय यह समस्या उस रूप मे नही सुलझाई जा सकती।

इन अभिलेखो मे प्रारम्भिक-गुप्त राजवश की प्रभुसत्ता के पतन के कारणो पर प्रकाश डालने वाले कई सकेत मिलते है, किन्तु सभी प्राप्त सूचनाओ का निरीक्षण करने पर तथा विदेशी साक्ष्य की सहायता से यह असदिग्धरूपेण सिद्ध हो जाता है कि उनका समापक विनाश महान् शासक मिहिरकुल के हाथो हुआ जो पजाब मे स्थित शाकल का शासक था और बाद में कश्मीर का शासक बना, चीनी यात्री ह्वेन साग से हमे उसकी जीवनी का विस्तृत विवरण प्राप्त होता हैं। जहा तक आभिलेखिक साक्ष्यो का प्रश्न है उसका नाम ग्वालियर से प्राप्त एक लेख (सख्या ३७), जिसमे यह तोरमाण के पुत्र के नाम के रूप मे आता है, बहुत पहले से उपलब्ध था यद्यपि उसको पहचाना नही जा सकता था। स्वयं मैंने जब पहली बार इस शब्द को एक व्यक्तिवाचक सज्ञा के रूप में पढा तब मैंने इसे एक अन्य मिहिरकुल का अभिधान माना, जो तोरमाण का पूर्ववर्ती अधिपति और स्वामी रहा हो। सर्वप्रथम इस मत का प्रत्याख्यान मेरी इस खोज ने उपस्थित किया कि मन्दसोर के दुहरी प्रतिलिपियो वाले स्तम्भ लेखों में (सख्या ३३ तथा सख्या ३४) उत्तरीभारत के एक शक्तिशाली शासक यशोधर्मन् द्वारा स्वय मिहिरकुल का उन्मूलन उल्लिखित है, इसके

---

१ प्रिंसेप ने अवश्य यह मत प्रकट किया [उदाहरणाय द्र०, प्रिंसेप्स एसेज, जि० १, पृ० २३७] कि सभवत इस लेख की बाइसवी पक्ति में उल्लिखित कर्तृपुर मे त्रिपुरा का उल्लेख है। किन्तु उनके अनुसार इसका तादात्म्य आधुनिक "तिप्पेरा" से किया जाना चाहिए। शामलरा से कर्तृपुर का समतट अथवा दक्षिणी बंगाल डवाक [? 'ढाका' यदि इसका शुद्ध वर्ण विन्यास वस्तुत ढाका है तो] कामरूप अथवा आसाम तथा नेपाल के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध जान पड़ता है जिससे यह प्रदर्शित होता है कि इस स्थान को मध्य भारत से काफी दूर होना चाहिए।

२ द्र० मेरी पुस्तक डायनेस्टीज आव द कनारीज डिस्ट्रिक्टस, पृ० २२, ५८

३ आर्क्यलाजिकल सर्वे आव इण्डिया, जि ९ पृ ९२ श्लोक ७।

४ द्र०, १० दिसम्बर १८८७ की अकेडमी, पृ० ३९४ इत्यादि।

उपरान्त शीघ्र ही मदसोर अभिलेख, सख्या ३५, मे मुझे यशोधर्मन् के लिए ५३३-३४ ई० की तिथि प्राप्त हुई। तत्सम्वन्धी एरण अभिलेखो में उपलव्ध कुछ विवरणो से यह स्पष्ट था कि पूर्वी मालवा मे तोरमाण का आगमन बुधगुप्त के शीघ्र वाद हुआ, इसका प्रमाण यह है कि बुधगुप्त के लेख मे किसी महाराज मातृविष्णु और उसके अनुज धन्यविष्णु की चर्चा है और दोनो ही जीवित बताए गए हैं जबकि तोरमाण के लेख मे धन्यविष्णु को तो जीवित किन्तु मातृविष्णु को मृत बताया गया है, और इन विवरणो से यह प्रमाणित हो जाता है कि पूर्वी मालवा मे बुधगुप्त के बाद तोरमाण का आगमन एक ही पीढी के समय के अन्तर्गत हुआ। सभी तथ्यो को एक साथ रख कर लिखे गए मेरे 'मिहिरकुल का इतिहास और उसकी तिथि' ('द हिस्टरी एण्ड डेट आव मिहिरकुल') शीर्षक लेख से यह पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है कि ग्वालियर अभिलेख मे वर्णित शासक मिहिरकुल ही है, कि वह तोरमाण का पुत्र था तथा यह कि उसका पतन यशोधर्मन् के हाथो ५३३-३४ ई० के कुछ ही वर्ष पूर्व अथवा बाद मे हुआ होगा। इस प्रकार तिथिक्रम के अनुसार रखने पर तोरमाण और मिहिरकुल बुधगुप्त के ठीक वाद आते हैं, तथा जहा तक पूर्वी मालवा का सम्बन्ध है तोरमाण तो निश्चित रूप से-और सभवत मिहिरकुल भी-भानुगुप्त के पूर्व आता है। अतएव प्रतिचित्र सख्या २३ क और ख का प्रतिचित्र २० के तुरन्त वाद रखा जाना औचित्यपूर्ण था। उपर्युक्त दोनो शासक सामान्यतया भारतीय-शक, शक, हूण, तुरुष्क, शाहि, शाहानुशाहि अथवा दैवपुत्र इत्यादि नामो से ज्ञात किसी विदेशी जाति से सम्बन्धित थे जिसने बहुत पूर्व पजाव मे अपनी प्रभुसत्ता कर ली थी तथा कम से कम समुद्रगुप्त के समय तक इसे बनाए रखा था—इन दो शासको के विषय मे दिए गए अपने सक्षिप्त विवरण मे मैं अब केवल जोडूँगा कि तोरमाण के अपने लेख मे उल्लिखित उसका प्रथम वर्ष निश्चित रूपेण ४८४ ई०, जो बुधगुप्त की आभिलेखिक तिथि है, के बाद तथा ५१० ई०, जो भानुगुप्त की आभिलेखिक तिथि है, के पूर्व पडेगा तथा साथ ही यह प्रथम वर्ष स्पष्टत उसके द्वारा पूर्वी मालवा पर अधिकार होने का प्रथम वर्ष होगा। यह देखते हुए कि वह भारत के सुदूर पश्चिमोत्तर भाग से आया था, अकस्मात् उसे अपने शासन के प्रथम वर्ष मे ही गुप्त साम्राज्य के हृदय मे एक नवीन राजवश के प्रथम शासक के रूप मे सुप्रतिष्ठापित पाने की आशा एक सर्वथा असभव कल्पना होगी। उसकी शासकीय तिथि, जिसे उपर्युक्त तिथि के लगभग सगत बैठना चाहिए, उसके चादी के सिक्को से प्राप्त होती है, सामान्य शैली के दृष्टिकोण से ये सिक्के प्रारम्भिक-गुप्तो के चादी के सिक्को के समान है किन्तु कुछ विशिष्ट वातो मे वे उनसे भिन्न है और इस भिन्नता को स्पष्टत: यह प्रदर्शित करने के लिए प्रविष्ट किया होगा कि वह गुप्त-प्रभुसत्ता का विरोधी था तथा उसने उसे नीचा दिखाया था। ब्रिटिश म्यूजियम मे उसके सिक्को के दो अत्युत्तम उदाहरण प्राप्य हैं, जिनका मैंने परीक्षण किया है, तथा उन पर सख्यात्मक प्रतीको मे ५२ अथवा ८२ तिथि अकित है। जनरल कनिंघम[२] ने इन तिथियो को ५२ अथवा ५३ पढा है, किन्तु दोनो ही दृष्टान्तो मे दूसरा अक निश्चित रूपेण २ है, जहा तक प्रथम सख्यात्मक प्रतीक का प्रश्न है, सम्प्रति मैं इस विषय पर अपना निश्चित मत नही दूगा कि यह ५० है अथवा ८० है, क्योकि यद्यपि इसे ५० ही होना चाहिए किन्तु यह सभव है कि यह ८० हो, तथा, यह ध्यान मे रखते हुए कि कही इसका लाछन सिक्के की परिधि के बाहर न पडे, साचे पर इसके आधे भाग को मोट दिया गया हो जिससे हमे इसका स्वरूप आडा न मिल कर

१ इडियन एन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० २४५ इत्यादि।

२ आरक्यलाजीकल सर्वे आफ इडिया, जि० ९, पृ० २६ इत्यादि, और द्र० वही, प्रतिचित्र ५, स० १८ और १९।

लम्बाकार मिलता है। निस्सन्देह, यह समस्या बडी सरल हो जाती यदि हम इस तिथि को, जैसा कि टामस [1] ने पढा है, १८२ पढ सकते अथवा यदि हम इसे ८२ ही पढ सकते और 'शतक-प्रतीको की उपेक्षा' के सिद्धान्त के आधार पर इसे १८२ मान लेते एव इसे गुप्त-सवत् की तिथि मान सकते, ऐसा करने पर हमे ५०१–५०२ ई० की तिथि प्राप्त होती है। किन्तु तिथि निश्चित रूपेण ५२ है अथवा ८२ के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस धारणा के लिए कोई आधार नही प्राप्त होता कि १०० का प्रतीक अकित किया गया था और अब मिट गया है; अथवा यह कि साचे पर शतक-सूचक प्रतीक वर्तमान था किन्तु वह सिक्के पर नही आ सका है, अथवा यह कि 'शतक-प्रतीको की उपेक्षा' के सिद्धान्त के आधार पर इसे १५२ पढा जाना चाहिए, और, अन्ततोगत्वा, यह कि इसे गुप्त सवत् का मानना चाहिए। मैंने अन्य स्थान पर यह दिखाया है [2] कि ग्वालियर लेख मे उल्लिखित मिहिरकुल का पन्द्रहवां वर्ष ५३३–३४ ई० के अत्यन्त निकट पडना चाहिए, जो यशोधर्मन् की ज्ञात तिथि है, यह अधिक सभव है कि यह तिथि दो एक वर्ष पूर्व पडे और तब हम उसकी गतिविधि का प्रारम्भ ५१५ ई० मे मान सकते हैं। अतएव, तोरमाण के सिक्कों पर अकित तिथि को ५२ पढने और उसे उसके शासन-काल की तिथि मानने मे कोई विशेष कठिनाई नही आती। मोटे तौर से, तोरमाण के शासन काल का प्रारम्भ ४६० ई० मे हुआ होगा। यह तिथि स्कन्द गुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि ४६६ ई० के बहुत निकट है, हमे ज्ञात है कि ४५७–५८ ई० तक पजाब के नीचे काठियावाड से लेकर नेपाल की सीमा तक स्कन्दगुप्त का प्रभुत्व व्याप्त था। और इसमे किसी प्रकार का सदेह नही रह जाता कि हूणो ने, जो पहले उसके द्वारा पराजित होकर भगाए जा चुके थे, फिर तोरमाण के नेतृत्व मे अपना आक्रमण कार्य प्रारम्भ किया, और इस बार वे इतने सफल रहे कि वे थोडे समय तक मध्य भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सके। यह मत वलभी लेखों के [3] इस कथन से भी पूर्ण सगत बैठता है जिनमे यह कहा गया है कि उनके वश के सस्थापक सेनापति भटार्क ने, जिसका समय लगभग ५०० ई० है, काठियावाड मे मैत्रकों अथवा मिहिरों से सफलतापूर्वक युद्ध किया, मैत्रक अथवा मिहिर हूणों के उस परिवार विशेष अथवा कुलविशेष का नाम था जिसमे तोरमाण तथा मिहिरकुल का उद्भव हुआ था। दूसरी ओर यदि तोरमाण के सिक्कों पर अकित तिथि ८२ है तो उसे उसके शासनकाल की तिथि नही माना जा सकता, और यद्यपि इस तिथि-परम्परा का प्रारम्भ तब से हुआ होगा जब से उसकी अपनी हूण-शाखा प्रभुत्व मे आयी होगी, किन्तु इसे उसके अपने शासनारोहण के प्रारम्भ का परिचायक नही माना जा सकता। जो भी हो, ऊपर मेरे द्वारा निर्धारित तत्कालीन इतिहास की बाह्य रूपरेखा मे कोई अन्तर नहीं पडता।

इसी प्रारम्भिक काल मे रहस्यसमाच्छन्न शासक चन्द्र का समय पडता है जिसका उल्लेख हम मृत्यूपरान्त लिखित लौह-स्तम्भ-लेख मेहरौली मे पाते हैं (स० ३२, पृ० १३६)। मेरे द्वारा उसे रहस्यसमाच्छन्न कहे जाने का कारण यह है कि यद्यपि यह लेख उसका एक ऐसे शक्तिशाली और प्रभुतासम्पन्न शासक के रूप मे उल्लेख करता है जिसने सिन्धु के पार से लेकर बगाल भूमि तक समस्त उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त किया है, किन्तु अभिलेख मे कही उसके राजवश का नाम नही मिलता और न ही कोई ऐसा संकेत मिलता है जिससे हम सुनिश्चित रूप से उसका काल और परिवेश निर्धारित

---

१ प्रिंसेप्स एसेज, जि० १, पृ० ३४० तथा आ० सर्वे आफ वेस्टर्न इडिया, जि० २, पृ० ६६, तथा द्र० वही, पृ० ३६, प्रतिचित्र ७ सख्या २७ और २८।

२ इन्डियन एन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० २५२।

३ द्र० पृ० १६७ तथा टिप्पणी ११।

कर सके। जो कुछ भी हमे निश्चित रूप से ज्ञात है वह है कि आभिलेखिक आधारो पर यह लेख काफी प्राचीन समय का ठहरता है। वस्तुत आभिलेखिक साक्ष्य के आधार पर इसे प्रारम्भिक-गुप्त शासन-वश के प्रथम शासक चन्द्रगुप्त प्रथम का लेख मानने मे कोई बाधा नही दिखाई पडती, जो एकमात्र आपत्ति मुझे दिखाई पडती है वह यह है कि लेख मे, यदि यह न मान लिया जाय कि वे यहाँ वाल्हीको के उल्लेख द्वारा सकेतित हैं, भारतीय-शक शासको का कोई उल्लेख नही प्राप्त होता जिनको उन्मूलित करके चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने वश की प्रभुसत्ता स्थापित की होगी। किन्तु यह एक रोचक तथ्य है कि जिस गाव से अभिलेख प्राप्त हुआ है उसका नाम मेहरौली है जो स्पष्टत मिहिरपुरी का प्राकृत रूप है जिसका अर्थ होगा 'सूर्य का नगर अथवा मिहरो का नगर'। व्यक्तिवाचक सज्ञा के रूप मे मिहिर हूणो के उस परिवार, कुल अथवा कबीला का सस्कृत रूप था जिसमे मिहिरकुल तथा उसके पिता तोरमाण का उद्भव हुआ था और यह असम्भव नही है कि बाद मे कभी इस लेख को मिहिरकुल के छोटे भाई का लेख सिद्ध किया जा सके जो मगध के शासक बालादित्य द्वारा मिहिरकुल की पराजय के पश्चात् पजाब का शासक बन बैठा, और ह्वेन साग ने जिसके नाम का उल्लेख नही किया है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि मन्दसोर के दुहरी प्रतिलिपियो वाले स्तम्भ लेख (स० ३३ और स० ३४), जो सर्वथा नवीन खोज है, हमे उत्तरी भारत के एक शक्तिशाली शासक यशोधर्मन् के विषय मे बताते हैं, इनमे इसे मिहिरकुल का विजेता कहे जाने के कारण यह एक अत्यन्त रोचक शासक है। मन्दसोर से प्राप्त अन्य लेख (स० ३५) – और यह भी सर्वथा नवीन खोज है – इसी यशोधर्मन् का है और इस लेख मे उसका उल्लेख विष्णुवर्धन नामक एक अन्य शासक के साथ हुआ है, और इस दृष्टिकोण से यह लेख अत्यन्त महत्व का है कि यशोधर्मन् के लिए ५३३-३४ ई० की निश्चित तिथि प्रदान करके इसने इस सम्पूर्ण काल के इतिहास के लिए अपेक्षित आधारो को पूर्णत्व प्रदान किया है। यह विष्णुवर्धन कौन था यह इस समय निर्धारित कर सकना कठिन है, किन्तु यह निश्चित है कि लेख सख्या ५६ मे उल्लिखित वरिक अथवा सामन्त विष्णुवर्धन नही है।

तिथिक्रम के दृष्टिकोण से इसके बाद वलभी के शासको के लेख आते हैं। यद्यपि अशत वे पूर्ववर्ती लेखो मे से कुछ के समसामयिक हैं, एव, यदि पूर्णतया निश्चित तिथियो को लिया जाय तो उनका काल-विस्तार ४२६ ई० से लेकर ७६६ ई० तक है। इस कुल के प्राप्त बहुसख्यक ताम्र-पत्रलेखो मे से मैंने नमूने के तौर पर दो लेख इस ग्रन्थ मे दिए हैं सख्या ३८ और स० ३९ इनमे बारह पीढियो तक दी गई वशावलियो के अतिरिक्त इनका प्रमुख महत्व इस बात मे है कि वे इस ऐतिहासिक तथ्य का प्रकाशन करते हैं कि इस वश के सस्थापक 'सेनापति' भटार्क ने मैत्रक नामक राजवश कबीला अथवा कुल के विरुद्ध सफल युद्ध किया और उनका उन्मूलन किया, वे इस कारण भी महत्वपूर्ण हैं क्योकि इनसे ज्ञात होता है कि काठियावाड एव गुजरात के अन्य निकटवर्ती प्रदेशो मे गुप्त सवत् कम से कम ७६६ ई०तक प्रयुक्त किया जाता रहा तथा यह कि कालान्तर मे इस वर्गविशेष के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण यह उस क्षेत्र मे वलभी सवत् के नाम से जाना जाने लगा। अन्यथा इस वश के लेख बहुत कम ऐतिहासिक महत्व के हैं, यद्यपि उनके सम्यक् अध्ययन से उनके प्राप्ति-स्थानो के प्राचीन भूगोल पर काफी प्रकाश पडेगा। यह एक कौतूहलपूर्ण तथ्य है कि अभी तक इस वंश का कोई प्रस्तर-लेख—कम से कम, कोई ऐसा लेख जिन्हे असदिग्धरूपेण उनका कहा जा सके—नही प्राप्त हुआ है। यह सत्य है कि पिछले वर्ष वला नामक स्थान से, जो प्राचीन वलभी का प्रतिनिधित्व करता है, कर्नल जे० डब्लू० वाटसन (J W Watson) को एक प्रस्तर-लेख का अश प्राप्त हुआ है जो सम्प्रति बाम्बे ब्रान्च आफ द रायल ऐशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय मे रखा हुआ

है, इसके अक्षरो को देखने से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह वलभी युग के प्रारम्भिक भाग का होगा। किन्तु यह लेख खण्डमात्र है और इसमे कोई ऐतिहासिक सकेत नही प्राप्य है। इस प्रसग मे यहा यह रोचक जानकारी दी जा सकती है कि वला मे किया जाने वाला उत्खनन कार्य अब प्रस्तर-अवशेषो के स्तर पर पहुँच गया है। इस स्तर के सम्यक् निरीक्षण के उपरान्त महत्वपूर्ण प्राप्तियों की सम्भावना है, क्योकि कुछ कारणो वश प्रस्तर-लेखो मे ताम्रपत्र-दान-लेखो की अपेक्षा अधिक ऐतिहासिक सूचनाए प्राप्त होती हैं।

मृत्यूपरान्त लिखित गोपराज के एरण स्तम्भ-लेख मे (स० २०) मे शरभ राजवश का उल्लेख है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे शरभपुर के राजाओं के दो अभिलेख दिए गए हैं (स० ४० तथा स० ४१)। इनका ठीक-ठीक समय जानने के लिए कोई सकेत नही मिलता, तथा इनमे उल्लिखित राजाओ मे से किसी का गोपराज के मातामह के साथ तादात्म्य किए जाने के विषय मे तो और भी कम सकेत मिलता है। किन्तु इनके अक्षरो से यह प्रतीत होता है कि गोपराज के समय से इनकी दूरी अधिक नही होनी चाहिए, और इस स्थान पर उनका विवेचन मुझे समीचीन प्रतीत हुआ। तथापि यह सभव है कि कालान्तर मे इनका समय गोपराज से कुछ शताब्दियो बाद का सिद्ध किया जा सके। जर्नल आव द बगाल एशियाटिक सोसाइटी, जि० ३५, पृ० १९५ इत्यादि मे डा० राजेन्द्रलाल मित्र ने 'राजा' महा-सुदेव राज का एक अन्य लेख प्रकाशित किया है, किन्तु, बगाल एशियाटिक सोसायटी को उपहार-स्वरूप दिए गए कुछ अन्य महत्वपूर्ण ताम्रपत्र-दानलेखो के साथ इस लेख का भी मूल गायब हो गया है, और प्रकाशित पाठ इतना विश्वसनीय नही है कि उसे यहा दिया जाय और इसी कारण मैंने इस सग्रह मे उस लेख को नही सम्मिलित किया है।

स० ४२ से लेकर स० ४६ तक मगध के गुप्तो के अभिलेख दिए गए हैं, हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद कन्नौज साम्राज्य के विघटन हो जाने पर सातवी शताब्दी के इतिहास मे इस राजवश के कम से कम एक शासक आदित्यसेन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आदित्यसेन को छोड़ कर ग्यारह पीढियो तक इस वश के प्रत्येक शासक का नामान्त गुप्त है जिससे इसमे किसी प्रकार का सदेह नही रह जाता कि ये मूल गुप्त राजवश से उद्भूत हुए थे। शाहपुर अभिलेख (स० ४३) से आदित्यसेन का समय ६७२-७३ ई० प्राप्त होता है और यदि इस समय से पीछे की ओर गणना की जाय तो कृष्णगुप्त, जिसे इस वश का प्रथम शासक बताया गया है, का समय ४७५ और ५०० ई० के बीच मे रखा जाएगा। इस प्रकार वह बुधगुप्त अथवा भानुगुप्त का अथवा इन दोनो का समकालीन था एव स्कन्दगुप्त के शीघ्र बाद आया। जो भी हो, इन तीनो शासको मे से किसी के साथ उसका ठीक-ठीक सम्बन्ध निश्चित होना अभी शेष है।

आदित्यसेन के अफसड अभिलेख (स० ४२) मे हमे दो महत्वपूर्ण समसामयिक राजवशो के विषय मे ज्ञात होता है। इनमे से प्रथम मौखरियो अथवा मुखरो का राजवश है, अभिलेख स० ४७ से लेकर अभिलेख स० ५१ तक के अभिलेख इसी राजवश से सम्बन्धित हैं। इस वश की अतीव प्राचीनता जनरल कनिंघम के निजी वस्तु के रूप मे पडी हुई एक मिट्टी की मुहर (सील) से प्रमाणित होती है जो उन्हे गया मे प्राप्त हुई थी जिस पर अशोक कालीन अक्षरो मे पालि भाषा में 'मोखलीणम' अर्थात् 'मोखलियो', मौखलिया अथवा मौखरियो का', यह लेख लिखा हुआ है। अभिलेख स० ४७ मे इस वश की एक शाखा के दो सामन्त महाराजो और उनके बाद आने वाले दो प्रभुतासम्पन्न शासको के नाम दिए गए है, और सम्भवत लेख स० ५१, इसी शाखा के महाराज ईश्वरवर्मन् का लेख है। इन मौखरियो और मगध के गुप्तो के बीच सम्बन्ध की स्थापना आदित्यवर्मन की पत्नी हर्षगुप्ता द्वारा स्थापित होती हुई दिखाई पडती है जो

सभवत मगध के हर्षगुप्त की बहन थी। कालान्तर मे इन राजवशो के सम्बन्ध कम मित्रतापूर्ण हो गए। इस प्रकार, यह प्राय असदिग्ध है कि इस वश का ईशानवर्मन् वही शासक है जो अफसड अभिलेख की छठी पक्ति के अनुसार हर्षगुप्त के पौत्र कुमारगुप्त द्वारा युद्ध मे पराजित किया गया था। पुन इसी लेख मे, दामोदरगुप्त का हूणो पर विजय प्राप्त करने वाली मौखरी-नरेश की सेना का नाश करते हुए उल्लेख किया गया है। तथा, महासेनगुप्त द्वारा विजित सुस्थितवर्मन् निस्सदेह इसी वश का था। मौखरियो के विषय मे अन्य उल्लेख बाण रचित हर्षचरित मे एव नेपाल के लेखो मे प्राप्त होते हैं।[1] लेख सख्या ४८, ४९ एव ५० मौखरी वश की एक गौण शाखा से सम्बन्धित है, जो स्पष्टत अपेक्षाकृत बहुत कम महत्व के हैं, यह शाखा गया के निकट स्थित थी।

अफसड अभिलेख मे उल्लिखित समसामयिक राजवशो मे दूसरा राजवश कन्नौज के शासको का राजवश है जिसमे महान शासक हर्षदेव अथवा हर्षवर्धन हुआ था। सोनपत मुहर (सख्या ५२) इस शासक से सम्बन्धित सर्वथा नवीन खोज है, जो मैं इस सग्रह मे दे सकता हूँ। इस वश का यह पहला आभिलेखिक साक्ष्य है, यह इस दृष्टि से अत्यन्त रोचक है कि इसमे हर्षवर्धन के सुविज्ञात पिता प्रभाकरवर्धन से दो पीढी और पीछे तक की वशावली दी गई है तथा इससे यह ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्धन इस वश का पहला स्वतन्त्र प्रभुतासम्पन्न शासक था। अफसड लेख का वह श्लोक, जिसमे हर्षवर्धन का हर्षदेव नाम से उल्लेख किया गया है, अशत मिट गया है, किन्तु इसमे माधवगुप्त का उल्लेख या तो कन्नौज-शासक के सामन्त के रूप मे अथवा उससे सन्धि की इच्छा करने वाले शासक के रूप मे है। ये दोनो वश महासेन गुप्ता[2] द्वारा परस्पर सम्बन्धित होते हुए दिखाई पडते है, जो हर्षवर्धन के पितामह आदित्यवर्धन की पत्नी थी। यह प्राय असंदिग्ध है कि वह माधवगुप्त के पिता मगध के महासेनगप्त की बहन थी। सोनपत मुहर द्वारा प्रकाशित एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इससे ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्धन का पिता न तो पुष्पभूति अथवा पुष्पभूति था जिसका उल्लेख बाण के हर्ष चरित मे इस वश के सदर्भ मे हुआ है और न ही ह्वेन साग द्वारा वर्णित मालव का शीलदित्य था, अपितु सामन्त महाराज आदित्यवर्धन था। श्री फरगुसन[3] ने इस मत का प्रतिपादन किया था कि मालव का शीलादित्य प्रभाकरवर्धन का पिता था। तथा प्रो० मैक्समूलर (Max Muller) ने उसका यही सम्बन्ध पुष्पभूति के साथ स्थापित किया है।[4] किन्तु डा० एफ० ई० हाल[5] (F E Hall) पुष्पभूति को केवल हर्षवर्धन को कोई दूरस्थ अथवा निकटस्थ पूर्वज बताते हैं, एव भगवानलाल इन्द्रजी ने[6], जो नाम को पुष्यभूति लिखते है, हर्षवर्धन को केवल पुष्यभूति कुल का कहा है।

सख्या ५३ से लेकर स० ५६ तक के लेख वाकाटक महाराजाओ के है। उनकी तिथि का निश्चय स्वतन्त्र प्रभुतासम्पन्न शासक देवगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता के साथ रुद्रसेन द्वितीय के विवाह द्वारा होता है, इसमे सदेह नही किया जा सकता कि यह देवगुप्त आदित्यसेन का पुत्र मगध का देवगुप्त[7] है जिसका उल्लेख देव-बरणार्क अभिलेख (स० ४६) मे हुआ है

१ इडियन एन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १६३ इत्यादि।
२ द्र०, लेख स० ५२ की प्रासगिक टिप्पणी।
३ जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S जि० ४, पृ० ८७।
४ इडिया, ह्वाट कैन इट टीच अस ? पृ० २८८।
५ वासवदत्ता, प्राक्कथन, पृ० ५१, हर्ष चरित की अपनी व्याख्या मे।
६ इडियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १३, पृ० ७४।
७ द्र० ले० स ४६ की प्रासगिक टिप्पणी।

तथा जिसका समय ६८० ई० और ७०० ई० के बीच में है। इससे वाकाटक महाराजाओं का समय सम्प्रति प्रचलित मान्यता से पूरे दो सौ वर्ष बाद में आ जाता है, किन्तु, उनके दानलेखों की लिपि में वास्तव में यदि इस निष्कर्ष का समर्थन नहीं होता, तो कम से कम उनमें ऐसी कोई बात भी नहीं है जिससे इस निष्कर्ष का विरोध होता हो। राजा तीवरदेव का राजिम दानलेख (न० ८१) प्रशासकीय मामलों में अपेक्षाकृत काफी लम्बे समय तक पुरानी लिपि के प्रयोग में आते रहने का स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है, यह प्रस्तुत ग्रन्थ का सबसे बाद का लेख है यद्यपि प्रथम दृष्टि में इसके अक्षर इसे काफी पहले का होने का आभास देते हैं।

स० ५७ से लेकर स० ८१ तक मैंने विविध नानाजातीय अभिलेखों को सकलित किया है, किसी शासक का नाम न दिया होने से तथा कुछ अन्य कारणों से इन्हें किसी अन्य स्थान पर तिथि के क्रम के अनुसार नहीं रखा जा सकता, जो कि इस ग्रन्थ की व्यवस्था का मुख्य आधार रहा है। इनमें सर्वाधिक रोचक लेख हैं स० ६० जो प्रारम्भिक-गुप्त शासक समुद्रगुप्त के नाम से अंकित किया गया एक जाली लेख है, लेख स० ६१ जो तिथि का उल्लेख करने के अतिरिक्त स्पष्ट रूप से स्वय को प्रारम्भिक गुप्त काल का बताता है और लेख न० १५ के समान ही यह चौथी शताब्दी ई० में जैन सम्प्रदाय के अस्तित्व का रोचक प्रमाण प्रदान करता है, तथा ५८८ ई० की तिथि में युक्त महानामन् का बोध गया लेख (स० ७१) भी इसी वर्ग में सकलित है। यह एक अन्य सर्वथा नवीन प्राप्ति है जिसकी खोज कनिंघम ने की है। इसकी रोचकता इस बात में है कि चूं कि इस लेख का महानामन् पालि महावश अथवा लंका का इतिहास के प्राचीनतर भाग के रचयिता सुविख्यात महानामन् के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता, अत इसकी तिथि से यह सिद्ध होता है कि सिंहली तिथि विवरणों को इतना विश्वसनीय नहीं माना जा सकता जितना उन्हें अबतक माना जाता रहा है, अथवा इसकी तिथि से यह प्रदर्शित होता है कि इन विवरणों को सुलझाने में गलत प्रारम्भ-बिन्दु को चुना गया है। यह लेख हमें एक निश्चित बिन्दु प्रदान करता है जिससे पीछे चलते हुए तिथिक्रम को समजित किया जा सकता है।

गुप्त सम्वत्

अब हम उस समस्या पर आते हैं जो पिछले चालीस वर्षों से प्राचीन भारतीय इतिहास में रुचि रखने वाले विद्वानों के विचार का विषय रही है तथा— कुमारगुप्त एव बन्धुवर्मन् के अभिलेख की प्राप्ति तक— जिसके प्रति किसी युक्तिपूर्ण एव अन्तिम निष्कर्ष पर न पहुँच सकने के कारण प्रारम्भिक-गुप्त युग से सम्बन्धित प्रत्येक शोध विषय अबतक जटिल बना रहा है। यह समस्या है उस सवत् के प्रारम्भ-बिन्दु का निश्चयन जिसका प्रयोग प्रारम्भिक-गुप्त शासकों और कुछ अनुवर्ती शासकों के अभिलेखों और सिक्कों में हुआ है।

आगे की जाने वाली विवेचना के निर्देशन के लिए मैंने सारणी न० १ में इस राजवंश की वशावली दिया है जिसमें प्रत्येक शासकों की राजकीय उपाधियां तथा इनकी ज्ञात तिथियां भी दी गई हैं। तथा, अविच्छिन्न क्रम-परम्परा के नीचे मैंने बुधगुप्त एव भानुगुप्त का नाम रखा

सारणी स० १

प्रारम्भिक गुप्त शासकों की वंशावली

गुप्त
'महाराज'
|
घटोत्कच
'महाराज'
|
चन्द्रगुप्त प्रथम
(विक्रम प्रथम अथवा विक्रमादित्य प्रथम)
'महाराजाधिराज'
लिच्छवि वंशीया कुमारदेवी के साथ विवाहित
|
समुद्रगुप्त
(काच)
'महाराजाधिराज'
रत्तदेवी के साथ विवाहित
|
चन्द्रगुप्त द्वितीय
विक्रम (द्वितीय), विक्रमादित्य (द्वितीय) अथवा विक्रमाक
'परम भट्टारक' तथा 'महाराजाधिराज'
ध्रुव देवी के साथ विवाहित
(गुप्त सवत् ८२, ८८, ९३ तथा ९४ अथवा ९५)
|
कुमारगुप्त
महेन्द्र अथवा महेन्द्रादित्य
'महाराजाधिराज'
(गुप्त सवत् ९६, ९८, १२९ तथा १३० से कुछ अधिक)
|
स्कन्दगुप्त
क्रमादित्य
'परम भट्टारक' तथा 'महाराजाधिराज'
(गुप्त सवत् १३६,१३७,१३८,१४१,१४४,१४५,१४६,१४८ तथा १४७ अथवा १४९)
|
बुद्धगुप्त
(गप्त सवत् १६५, १७५ तथा १८० से कुछ अधिक)
|
भानुगुप्त
(गुप्त सवत् १९१)

है, क्योंकि कम से कम इस बात की प्रबल सभावना है कि वे उसी वश के थे, यद्यपि उनका एक दूसरे से साथ तथा स्कन्दगुप्त के साथ सम्बन्ध अभीतक स्पष्ट नही हो पाया है, साथ ही इसे सदैव स्वीकृत किया गया है कि तिथिक्रम निर्धारण मे बुधगुप्त की तिथि महत्वपूर्ण है। ये तिथिया अशत अभिलेखो से ली गई है और अशत चादी के सिक्को से ली गई है जिन पर मेरा एक सक्षिप्त लेख इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १८, पृ० ६७ इत्यादि मे प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार चादी के सिक्कों से चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए गुप्त सवत् ६४ अथवा ६५ की तिथिया, कुमारगुप्त के लिए १३० से कुछ अधिक की तिथि[1], स्कन्दगुप्त के लिए १४४, १४५, १४८ और १४३ अथवा १४९ की तिथिया दी गई है, बुधगुप्त के लिए १७५ और सभवत १८० से कुछ अधिक की भी तिथि दी गई है। शासकों के गौण नाम अशत चादी के सिक्को मे और अशत सोने के सिक्को से लिए गए हैं जिन पर श्री वी० ए० स्मिथ द्वारा जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसाइटी, जि० ५३, पृ० ११९ इत्यादि में एक विस्तीर्ण और महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किया गया है, तथा जिनकी मैंने इण्डियन एन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ९३,९० मे चर्चा की है। क्रमश चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त एवं स्कन्दगुप्त के लिए प्रयुक्त विक्रमादित्य, महेन्द्रादित्य एवं क्रमादित्य नाम चादी के सिक्को मे प्राप्त होते हैं, इनमे से प्रथम दो का सक्षिप्त रूपान्तर विक्रम और महेन्द्र कुछ सोने के सिक्को पर भी प्राप्त होता है, सोने के सिक्को पर सभवत स्कन्दगुप्त के लिए क्रमादित्य नाम पूर्णरूप मे प्राप्त होता है। सदैव विक्रम तथा विक्रमादित्य के पर्याय के रूप मे प्राप्त होने वाला विक्रमाक नाम चादी के एक सिक्के पर मिलता है जो असदिग्धरूपेण चन्द्रगुप्त द्वितीय का जान पडता है। जहातक चन्द्रगुप्त प्रथम का प्रश्न है, यह अब भी एक सदिग्ध प्रश्न है कि विक्रम तथा विक्रमादित्य नामों से युक्त कुछ स्वर्ण-मुद्राए उसकी मानी जाए अथवा उसके पौत्र की, स्वय मुझे यह मानने में कोई बाधा नही दिखाई पडती कि ये सिक्के उसके है तथा यह कि उसने भी इन गौण नामो को धारण किया था, किन्तु यह निष्कर्ष सदेह से परे न होने के कारण मैंने इन्हे कोष्ठकों मे रख छोडा है। काच, जो सभवत समुद्रगुप्त का दूसरा नाम है, कुछ स्वर्ण-मुद्राओ पर अंकित मिलता है, जिनकी समीक्षा मैंने लेख स० ४ के प्रसग मे किया है, किन्तु पूर्णत निश्चित न होने के कारण यह भी कोष्ठक मे दिया गया है। रजत मुद्राए तथा स्वर्ण मुद्राए दोनों ही कुछ अत्यन्त रोचक समस्याए उपस्थित करती है, इनमे से कुछ का सक्षिप्त विवेचन मैंने मूलपाठ तथा अनुवाद के सदर्भ मे दी गई अपनी टिप्पणियों में किया है, किन्तु इनका पूर्ण विवेचन इतिहास सम्बन्धी भाग का विषय है।

स्वसम्पादित प्रिन्सेप्स एसेज, जि० १, पृ० २४५ मे श्री टामस ने जो वशावली दी है उसमे उन्होंने समुद्रगुप्त की एक रानी के रूप में महादेव्य की पुत्री देवी का नाम तथा स्कन्दगुप्त के एक पुत्र के रूप में एक युवराज को सम्मिलित किया है जिसका नाम महेन्द्रगुप्त सुझाया गया है। आर्क्यॅलाजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इडिया, जि० २, पृ० १९ मे श्री टामस द्वारा पुनप्रकाशित तालिका मे तथा पुन जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १३, पृ० ५२३ मे भी देवी और महेन्द्रगुप्त के नाम प्राप्त होते हैं, इन सभी स्थानो पर समुद्रगुप्त की एक अन्य रानी का भी उल्लेख मिलता है जिसका नाम नही दिया गया है किन्तु जिसे 'सहारिका' नामक राजमहिषी की पुत्री कहा गया है। दूसरी सूची मे महेन्द्रगुप्त का नाम दुहराया गया है, किन्तु तीसरी सूची मे इसके स्थान पर 'इस लेख की तिथि के समय प्रत्याशित राजपुत्र' – ये शब्द दिए गए हैं जिसका तात्पर्य स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख के राजपुत्र से है। जैसा कि मैंने (द्र० लेख स० १३) मे दर्शाया है तथाकथित महेन्द्रगुप्त का अस्तित्व केवल डा० मिल द्वारा भीतरी अभिलेख के प्रारम्भिक अशुद्ध पाठ तथा कुमारगुप्त के सिक्को पर

---

1 आर्क्यॅलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया, जि० ९, पृ० २८ तथा प्रतिचित्र ५, स० ७।

महेन्द्रादित्य नाम प्राप्त होने के कारण है। इसी प्रकार राजमहिषी, 'सहारिका' एव उसकी अज्ञातनामा पुत्री तथा महादैत्य और उसकी पुत्री देवी का अस्तित्व भी काल्पनिक है, जैसा कि पृ० १ पर दर्शाया गया है इनके अस्तित्व की मान्यता भी इलाहाबाद स्तम्भ लेख की पूर्ववर्ती अशुद्ध पाठो पर आधारित है। अपनी प्रथम सूची मे श्री टामस ने 'महाराज' गुप्त एव उसके वशजो को सूर्यवशी बताया है, यद्यपि दूसरी तथा तीसरी सूचियो मे इस गलती की पुनरावृत्ति नही हुई है किन्तु अभीतक इसका पूर्ण निराकरण भी नही किया गया है, किन्तु जैसा कि पृ० १ पर प्रदर्शित किया गया है यह कथन भी डा० मिल द्वारा एलाहाबाद लेख के एक भाग के अशुद्ध पाठ पर आधारित है।

संवत् का नामकरण

किन्तु, इसके पहले कि हम आगे बढे, इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना अत्यन्त आवश्यक है कि यद्यपि इस सम्वत्विशेष की चर्चा गुप्त-सवत् नाम से करना सुविधाजनक है, किन्तु हमारे पास ऐसा कोई भी प्राचीन साक्ष्य नहीं है जिसके आधार पर इसे गुप्तो के नाम के साथ इसके संस्थापक के रूप मे सम्बन्धित किया जा सके, और इस बात का साक्ष्य और भी कम है कि प्राचीन काल मे इसे 'गुप्त-काल' के नाम से अभिहित किया जाता था।

यह सच है कि इस शब्द का प्रयोग अलबेरुनी द्वारा किया गया है जो 'गुप्त-काल' अथवा 'गुबित-काल' की चर्चा करता है जिसका अभिप्राय 'गुप्त-काल' से है। किन्तु इसी प्रकार वह शक-सवत् के लिए 'शक-काल' शब्द का प्रयोग करता है। प्रत्येक दृष्टान्त मे उसके द्वारा किया गया 'काल' शब्द का प्रयोग इसके अर्थ 'काल अथवा एक काल-अवधि' से तथा 'संवत् विशेष' के अर्थ मे इसके अभिधान से सगति रखता है। किन्तु, जिन हिन्दुओ द्वारा प्रदत्त सूचनाओ को उसने अपने विवरण मे लिखा, वे स्वय इस सवत् की उत्पत्ति के विषय मे अनभिज्ञ थे तथा केवल यह जानते थे कि यह सवत् उन तक गुप्त शासको के माध्यम से आया है, उनके लिए इसे 'गुप्त-काल' कह कर पुकारना स्वाभाविक था। किन्तु, अलबेरुनी का कथन ग्यारहवी शताब्दी का है तथा प्राचीन काल से सम्बन्ध रखने वाली इस प्रकार की समस्या के लिए उसे पुष्ट प्रमाण नही माना जा सकता।

यह भी सच है कि डा०भाऊ दाजी का यह विचार था[1] कि स्कन्दगुप्त के जूनागढ शिलालेख की पन्द्रहवी पक्ति मे 'गुप्तस्य कालाद्' अर्थात् 'गुप्त सवत से' शब्द अंकित है। किन्तु, उस शिलामुद्रण, जिसे आधार बनाकर डा० भाऊ दाजी ने अपना कार्य किया था, से भी यह अत्यन्त स्पष्ट है कि शुद्ध पाठ 'गुप्तस्य काला (द्) गणना विधाय' अर्थात् 'गुप्त के सवत् से गणना करके' न हो कर 'गुप्त-प्रकाले गणना विधाय' अर्थात् 'गुप्तो की गणना पद्धति मे गणना करके' है। तथा यह प्राय सदेहरहित है कि डा० भाऊ दाजी का यह पाठ, और इस पाठ को स्वीकार करने पर अवश्यम्भावी हो गया उनका अनुवाद, रेनार्द द्वारा किए गए अलबेरुनी के कुछ अशो के उस पूर्वप्रकाशित अनुवाद द्वारा सुझाया गया था जिसमे उन्होने 'शक-काल' का अनुवाद तो 'शक-सवत्' से किया, किन्तु दूसरे स्थान पर उन्होने मूल अरबी का वर्णान्तर 'गुप्त-काल' करके कोष्ठक मे 'गुप्त-सवत्' रख दिया।[2] दुर्भाग्यवश, डा० भाऊ दाजी का पाठ बिना किसी परीक्षण के मान लिया गया और अबतक स्वीकृत रहा। और विशेष रूप से श्री टामस ने इसका प्रबल समर्थन किया, १८७६ मे और पुन १८८१ मे उन्होने कहा कि पहले उन्हे इस पाठ तथा अनुवाद की शुद्धता पर सदेह था किन्तु अब डा० भाऊ दाजी

---

१ जर्नल आफ द बाम्बे ब्रान्च आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ७, पृ० ११४, १२३।

२ फ्रैगर्मा अरेबीज् ए परसांस (Fragment Arabes at Persans) पृ० १४३

द्वारा प्रस्तुत तथा अन्य साक्ष्यो की स्वय तुलना करने के उपरान्त वे इस विषय मे सतुष्ट हो गए हैं।[1] श्री टामस का परवर्ती मत[2] निस्सदेह रूप से इस गलत धारणा पर आधारित है कि उन्होने 'स्पलपति' की कुछ मुद्राओ पर गु एव गुप्त पढा है तथा सभवत उन पर गुप्तस्य लिखे होने के भी सकेत प्राप्त होते हैं, उनके अनुसार, इनसे यह प्रदर्शित होता है कि इन मुद्राओ पर अकित तिथिया गुप्त अथवा गुप्तो के सवत् की तिथिया है। किन्तु ये सभी पाठन काल्पनिक हैं। तथा, यह तथ्य विचारणीय है कि जूनागढ अभिलेख मे गुप्तस्य काल शब्द नही आते। तथा, इन शब्दो द्वारा प्रस्तुत स्पष्ट अर्थ तथा इस तथ्य (जिसे आगे और वलपूर्वक कहा गया है) —कि एक सामन्त 'महाराज' मात्र होने के कारण इस राजवश का सस्थापक महाराज गुप्त किसी सवत् का प्रवर्तन नही कर सकता था — के अतिरिक्त यह ध्यान मे रखा जाना चाहिए कि गुप्त-प्रकाले इस शुद्ध पाठ मे समास का प्रथम भाग सम्बन्धकारक बहुवचन का सूचक है एकवचन का नही जैसा कि इसी लेख की पक्ति सख्या २७ मे अन्य तिथि के प्रसग मे सम्पूर्ण सम्बन्धकारक-बहुवचन गुप्तानाम् को काल द्वारा अन्वित करके स्पष्टरूपेण सूचित किया गया है। स्पष्टत दोनो उद्धरण इस सवत् को गुप्तो से सबद्ध बताते हैं तथा जैसा कि उनके अभिलेखो से स्पष्ट होता है, कम से कम तीन पीढियो से उनके द्वारा इस सवत् का प्रयोग किया जाना प्रमाणित होता है। किन्तु, इनमे से कोई भी यह प्रदर्शित करने मे समर्थ नही है कि उन्होने इसे चलाया था और न ही उनसे यह ज्ञात होता है कि उस समय तक उन्हे 'गुप्त सवत्' की सज्ञा प्राप्त हो चुकी थी। प्रथम पद मे केवल यह प्रदर्शित होता है कि तिथि का अकन ऐसे सवत् मे किया जा रहा था जो काठियावाड मे सर्वथा नया था तथा देश के इस भाग मे प्रचलित सवत् नही था।

तिथियुक्त लेखो मे, सम्बन्धकारक बहुवचन गुप्तानाम् पुन स्कन्दगुप्त के कहौम स्तम्भलेख (स १५) मे प्राप्त होता है। किन्तु वहा वह 'गुप्तो की वश-परपरा मे उत्पन्न स्कन्दगुप्त' से सबद्ध वशजस्य मे वश द्वारा अन्वित है। इसी प्रकार, १०६ठें वर्ष मे, अकित उदयगिरि गुहालेख (स ६१) की प्रथम पक्ति मे हमे गुप्त-अन्वयानाम् प्राप्त होता है। किन्तु, यह कुलस्य द्वारा अन्वित है, पूरा वाक्य-पद है—'गुप्तो की वश-परपरा मे उत्पन्न शासको के कुल की निरन्तर बढती हुई प्रभुसत्ता मे, अत इन दोनो अवतरणो से इस समस्या पर कोई प्रकाश नही पडता।

पुन परिव्राजक महाराजों हस्तिन तथा सक्षोभ के दान-लेखों (स २१ पृ ९३ से लेकर स २३ और स २५ तक) मे गुप्त-नृप-राज्यभुक्तौ अर्थात् 'गुप्त शासको की प्रभुता के सुख के अन्तर्गत' पद प्राप्त होता है। यह पद महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होता है कि गुप्त राजवश तथा प्रभुता का इस समय तक अस्तित्व था तथा यह कि ये लेख और इन लेखो मे अकित तिथिया उसी सवत् से सबधित हैं जिसका प्रयोगस्वय प्रारम्भिक गुप्त शासको ने किया था। किन्तु इस पद मे ऐसा कुछ भी नही है जिसके आधार पर इसे 'गुप्त-सवत्' नाम दिया जा सके।

डा० आर जी भडारकर के पाठानुसार जाइक के मोरवी दानलेख से हमे अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है[3] कि उस समय यह सवत् गुप्त सवत् के नाम से जाना जाता था, उनका पाठ इस

---

१ आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इडिया, जि० २, पृ० २२, तथा जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S जि० १३, पृ० ५३८।

२ द्र० ई० क्लाइव वेले का न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल, तृतीय माला, जि० २, पृ० १२८ इत्यादि मे 'रिमार्क्स आन सर्टेन डेट्स आर्कारिंग आन द हिन्दू किंग्स आफ काबुल' शीर्षक लेख।

३ इडियन एन्टिक्वेरी, जि० २, पृ० २५८, पक्ति १६ इत्यादि।

प्रकार से है—पन्चाशीत्या युतेऽतीते समाना शत-पञ्चके । गौप्ते ददावदो नृप सपरागेऽर्क मण्डले,–इसका भण्डारकर द्वारा किए गए अनुवाद की अपेक्षा अधिक शाब्दिक अनुवाद इस प्रकार होगा–'गुप्त पाच सौ तथा पचासी (वर्ष) व्यतीत हो जाने पर राजा ने इस दान को दिया, जबकि सूर्य का मण्डल ग्रहण को प्राप्त था।' इस लेख को ठीक-ठीक समझ सकने मे एक बाधा है, इस लेख की परीक्षा हेतु प्राप्ति के पूर्व ही प्रथम पत्र (Plate) अप्राप्त हो चुका था तथा परिणामस्वरूप जाइ क की वशावली नही ज्ञात है, तथा यदि मेरे द्वारा ऊपर उद्धृत अ श मे यह अप्राप्य है तो दूसरे पत्रक मे किसी स्थान का नामोल्लेख नही है और अब प्रकाशित दूसरा पत्रक भी गायब हो चुका है तथा पुन॰ नही प्रकाशित होने जा रहा है। मैं इसे अस्वीकार नही करता कि इस तिथि के गुप्त सम्वत् की होने की बहुत अधिक सभावना है। किन्तु उपरोक्त पाठ यह ध्यान मे नही रखता कि १७ वी पक्ति मे अ कित शब्द वस्तुत- गौप्ते न होकर गोप्ते हैं,औ(ौ)की प्राप्ति स्वर के सघटक के रूप मे एक पूर्णत॰ स्पष्ट तथा भिन्न-भिन्न चिह्न द्वारा हुई है। किन्तु यह चिह्न, वास्तव मे, श्लोकार्ध के अन्त मे पञ्चके के बाद अ कित विरामचिह्न है, तथा पहले इसे सही रूप मे इसी अर्थ मे समझा गया था। इस अवतरण मे गुप्तो का नाम केवल ओ(ो)के औ (ौ)मे ऐच्छिक शुद्धिकार्य[१] द्वारा ही लाया जा सकता है, किन्तु तब भी वाक्य का विशेषण विशेषित की जाने वाली सज्ञा पञ्चक से अत्यन्त दूरी पर स्थित दिखाई पडता है, जो खटकता है। यह उतना ही युक्तिपूर्ण होगा यदि गोप्ते का शुद्धरूप गोप्त्रे अर्थात् 'रक्षक अथवा क्षेत्रीय प्रान्तपाल को' किया जाय, और यह शुद्धिकार्य अधिक प्रामाणिक होगा क्योकि यह शब्द ददौ अर्थात् 'उसने दिया' के तुरन्त बाद आता है जिसके साथ चतुर्थी विभक्ति अथवा किसी अन्य विभक्ति का उपयोग अत्यन्त स्वाभाविक है। पुन ,बिना किसी शुद्धिकर्म के इसका अनुवाद 'राजा ने इस(शासनपत्र) को गोप्त (नामक ग्राम-स्थान) पर प्रदान किया' यह किया जा सकता है। और मुझे आशा है कि यदि प्रथम पत्र, जिसे अब बगाल मे गगासागर नामक स्थान पर प्राप्य बताया जाता है, परीक्षा हेतु प्राप्त हो सके तो यही शुद्ध अर्थ निकलेगा। हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्था में, इस अवतरण में तो कम से कम ऐसा कुछ भी नही है जिससे हम इस तिथि को गुप्तो के नाम के साथ जोडने के लिए बाध्य हो। तथा, अधिक से अधिक किसी परवर्ती खोज द्वारा यदि हम तिथि मे गौप्ते पाठ स्वीकार करने को बाध्य भी हो जाय, तो यह उल्लेखनीय है कि यह दान-लेख काफी बाद का है जबकि काठियावाड एव गुजरात मे इस सवत् की उत्पत्ति के विषय मे यथार्थ ज्ञान विस्मृत हो चुका होगा तथा केवल यह स्मरण रह गया होगा कि उस क्षेत्र मे इस सवत् का प्रयोग सर्वप्रथम गुप्त शासको द्वारा प्रारंभ किया गया था।

और अन्त मे अचारटिका से प्राप्त एक अवतरण मे, जिसे मैंने आगे पूर्णरूप मे दिया है, हमे जो तिथि प्राप्त होती है वह है—'जब गुप्तोके सात सौ तथा बहत्तर वर्ष व्यतीत हो चुके थे', इसमे सम्बन्धकारक बहुवचन गुप्तानाम् प्रयुक्त हुआ है। किन्तु, जैसा कि बाद मे देखा जाएगा, इस अवतरण मे गुप्त तथा शक सवतो के बीच एक असाधारण परिभ्रान्ति है जिसे सम्प्रति नही सुलझाया जा सकता। तथा, मोरबी दान-लेख के समान यह लेख भी बाद के समय का है तथा इतने प्राचीनकाल के सदर्भ मे इसे प्रमाण नही माना जा सकता।

स्वय प्रारभिक गुप्तो के लेखो मे तिथि के लिए सवत्सर शब्द अर्थात् वर्ष का प्रयोग हुआ है–उदाहरणार्थ, ८२ वें वर्ष मे अ कित (सख्या ३, पक्ति २) चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि

१　औ (ौ)के स्थान पर ओ (ो)की त्रुटि हमे दानलेख की तीसरी पक्ति मे दिखाई पडती है जहां स्वरभानौ के स्थान पर स्वरभानो शब्द प्राप्त होता है। किन्तु पक्ति ९ के पौर्व्व शब्द मे औ (ौ) अत्यन्त शुद्धरूप मे तथा पूर्ण रूप मे अकित किया गया।

गुहा-लेख, अथवा शब्द सक्षेप स का प्रयोग हुआ है-उदाहरणार्थ, ६३ वें वर्ष मे अकित (स ५, पक्ति ११)। इसी शासक का साची लेख, अथवा, और वडे शब्द-सक्षेप सवत् का प्रयोग हुआ है-उदाहरणार्थ, कुमारगुप्त का (स ११, पक्ति २) मानकुवर प्रतिमा-लेख। तथा, उनकी जो तिथ्यकित मुद्राए मिलती है उन पर केवल वर्णनात्मक प्रतीक मिलते हैं, वर्ष सूचक किसी भी शब्द का उल्लेख तक नही मिलता, किसी राजवश का नामोल्लेख तो दूर की बात है। तिथ्यकन के ये ढग अन्य राजवशो के लेखो के समान ही हैं, परिशिष्ठ स १ मे मैंने इस प्रकार मे तिथि अकित करने का एक कारण बताया है और अत इनसे यह निश्चित रूपेण सिद्ध नही होता कि यह सवत् गुप्तो द्वारा नही स्थापित किया गया था। साथ ही, इस बात का भी कोई निश्चित प्रमाण नही है कि इसकी स्थापना उन्होने ही की थी तथा उनके नाम को इसके साथ सबधित करने का भी कोई आधार नही मिलता।

अत, अन्तत यह तथ्य सामने आता है कि किसी भी प्राचीन लेख मे हमे इस बात का कोई सकेत नहीं प्राप्त होता कि इस सवत् की स्थापना गुप्तों ने की थी, न ही हमे इस प्रकार की कोई पारिभाषिक अभिव्यक्ति मिलती है जैसे शक-नृप-काल अर्थात् 'शक शासक अथवा शासको का काल अथवा सवत्' शक-नृप-सवत्सर अर्थात् 'शक शासक के वर्ष', शक-काल अर्थात् 'शक सवत्', विक्रमकाल अर्थात् 'विक्रम सवत्', विक्रमादित्य ओत्पादित् सवत्सर अर्थात् 'विक्रमादित्य द्वारा स्थापित वर्ष' इत्यादि।[1] परवर्ती काल मे वस्तुत प्राप्त होने वाले इस प्रकार के भी शब्द नही मिलते जैसे वलभी-स तथा वलभी-सवत्। सम्वत् की सभावित उत्पत्ति की चर्चा करते समय यह प्रश्न और भी महत्वपूर्ण होगा। इस समय मैंने इसके प्रति इसलिए ध्यान आकर्षित कराया है क्योकि सपूर्ण चर्चा के दौरान इस बात को याद रखना आवश्यक है। किन्तु उलझन मे बचने के लिए इस सवत् को कुछ नाम देना आवश्यक है, और इस कारण सुविधा के लिए मैं, पिछले चालीस वर्षो की परम्परा के अनुसार, इसे 'गुप्त-सवत्' कह कर पुकारूगा। और, चूकि परवर्ती काल मे, काठियावाड मे, यह सवत् 'वलभी-सवत्' कहा जाने लगा, अत सदर्भ के अनुसार मैं बिना भेद करते हुए इसे कभी 'गुप्त-सवत्' कभी 'वलभी-सवत्' और कभी 'गुप्त-वलभी-सवत्' कहूँगा। उपरोक्त अभ्युक्तियो से मर्यादित यह नामकरण और अधिक स्पष्टीकरण की अपेक्षा नही रखता, यदि मैं यह बताऊ कि प्रारम्भिक गुप्तो को ३१९ ई० से पूर्व का मानने वाले भी यह मानते हैं कि अलबेरुनी के विवरण से ज्ञात गुप्त-सवत् का और वलभी-सवत् का एक ही समय है, उनकी केवल यह मान्यता है कि प्रारम्भिक गुप्त शासक जिस गुप्त सवत् का प्रयोग करते थे, वह यह गुप्त-सवत् नहीं था।

---

१ द्र० इडियन ऐण्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० २०७ इत्यादि में मेरा लेख 'आन द नोमेनक्लेचर आव द प्रिंसिपल हिन्दू एराज, एण्ट दी यूज आव द वड सवत्सर एण्ड इट्स एब्रीवियेशस', जिसमे कैरा दान-लेखो (पृ० २०८) तथा कावी दान-लेख (पृ० २११ई०) के प्रसग मे प्रकाशित मेरे विचारो मे, तब से प्रभूत ज्ञानवृद्धि के कारण, भारी सशोधन की आवश्यकता है। वहां मैंने दिखाया है कि, जैसी कि सामान्य मान्यता है, सवत् शब्द सक्षेप का प्रयोग केवल विक्रम-सवत् के लिए नहीं हुआ है, इस प्रसग मे डा० ब्यूलर द्वारा इडियन एण्टिक्वेरी जि० १८, पृ० ६३ में प्रस्तुत उदाहरणविशेष भी उल्लेखनीय है। तिथि के अकन मे 'सवत्सर' अर्थात् 'वर्ष' का एक शब्द-सक्षेपमात्र है अथवा इसी का कोई शब्दविकार है (द्र० स० ५ की सबद्ध टिप्पणी)। इस बात को ध्यान रखने पर 'गुप्त-सवत्', 'विक्रम-सवत्' इत्यादि शब्द हमे विभिन्न सवतों की गणना के लिए एक समरूप, सुविधाजनक तथा आपत्तिरहित तरीका प्रदान करते हैं-इनमें से अन्तिम दो अर्थात् शक-सवत् और विक्रम-सवत् तो वस्तुत लेखो मे उल्लिखित मिलते हैं। (द्र०, इडियन एण्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० २१३, २९३)।

रेनाद (M Reinaud) द्वारा प्रस्तुत अलबेरूनी का विवरण

मन्दसोर अभिलेख (स० १८) की प्राप्ति के पूर्व तक गुप्त सवत् के काल के विषय मे उपलब्ध एकमात्र प्रत्यक्ष साक्ष्य अलबेरूनी का विवरण था। ३० अप्रेल १०३० से लेकर ३० सितम्बर १०३० के बीच मे लिखते हुए[1] उसने निम्नलिखित विवरण छोडा है जो यहाँ रेनाद के फ्रासीसी अनुवाद फ्रेगमा अरेबीज ए परसा (Fragment Arabes at Pevrans), पृ० १३८ ई० से प्रस्तुत किया जा रहा है —

"साधारणतया लोग श्री हर्ष के[2], विक्रमादित्य के, शक के, बल्लभ[3] के तथा गुप्तो के सवत् का प्रयोग करते है' ''' वल्लव, जिसका नाम एक सवत् के साथ भी सबद्ध है, अन्हिलवार के दक्षिण मे लगभग ३० योजनो की दूरी पर स्थिति[4] वल्लभ नामक नगर का शासक था। वल्लव-सवत् शक-सवत् से २४१ वर्ष बाद का है। शक के सवत् की तिथि मे से ६ का घन (२१६) तथा ५ का वर्ग (२५) घटाने पर वल्लब सवत् की तिथि प्राप्त होती है। इस सवत् की यथास्थान चर्चा की जाएगी। जहा तक गुप्त-काल (गुप्तो का सवत्) का प्रश्न है, गुप्त शब्द से ऐसे लोगो का अभिधान होता है जो दुष्ट और शक्तिशाली थे, इनके नाम को धारण करने वाला सवत् इनके सत्तानाश के समय से प्रारम्भ हुआ। प्रत्यक्षत गुप्तो के तुरन्त बाद वल्लव आया क्योकि गुप्तो का सवत् भी शक के सवत्

---

१ द्र०, सचाऊ की अलबेरूनीज इडिया, प्राक्कथन, पृ० १०।

२ जैसा कि अलबेरूनी के विवरण से आगे प्राप्त होता है, यह ६०६ अथवा ६०७ ई० मे प्रारम्भ होने वाला कन्नौज के हर्षवर्धन का सवत् नही था जिसका कि एक दृष्टान्त हम इस ग्रन्थ के स ४२ मे पाते हैं, अपितु यह ४५८ ई पू से प्रारम्भ होने वाला कोई पूर्ववर्ती सवत् था जिससे सबधित कोई अभिलेख हमे नही प्राप्त होता और न ही अलबेरूनी के कथन के अतिरिक्त कोई अन्य साक्ष्य इसके अस्तित्व की सूचना देता है, अलबेरूनी ने साथ मे यह भी कहा है कि एक कश्मीरी पचाग मे उसने पढा कि श्री हर्ष का समय विक्रमादित्य से ६६४ वर्ष बाद है तथा यह कि वह इस विसगति की कोई व्याख्या नही पा सका (सचाऊ की अलबेरूनीज इडिया, अनुवाद, जि २, पृ ५)।

३ रेनाद के अरबी मूल मे द्विगुणित ल तथा नगर के नाम मे ह्-ध्वनियुक्त भ के प्रयोग का कोई आधार नही मिलता। इसी प्रकार सचाऊ ने एक बार वल्लभ तथा एक बार बलभ रूप का प्रयोग करने का कोई आधार नहीं दिया है। इन रूपो का उद्भव वलभी नगर के नाम तथा सस्कृत शब्द वल्लभ जिसका अर्थ 'प्रणयी, पति, मित्र अथवा कृपापात्र व्यक्ति' होता है—के बीच किसी कल्पित सबध मे मानना चाहिए, वल्लभ शब्द प्राय व्यक्तिवाचक सज्ञा के रूप मे प्रयुक्त हुआ है किन्तु वलभी के किसी शासक का यह नाम नही मिलता। स्वय वलभी शब्द का अर्थ होता है 'झोपडी की काष्ठ-कडिया, छत, बुर्ज अथवा किसी भवन के छत पर अस्थायी वास्तु-निर्माण।' इसका उल्लेख स १८ पक्ति ६ मे हुआ है और स ६६, पक्ति २ मे यह वडभी रूपान्तर से उल्लिखित हुआ है। सभवत इसी प्रकार की किसी गलत धारणा के वश मे होकर स्वय अलबेरूनी ने भी इसे व्यक्ति और नगर दोनो का नाम लिखा है। उसकी यह गलती उसी प्रकार की है जैसे उसने शक का उल्लेख एक कबीले के रूप मे न कर एक व्यक्ति विशेष के रूप मे किया है, इस प्रकार की गलती पर यदि ध्यान न दिया जाय, तो वह निश्चितरूपेण यहा उस सवत् का उल्लेख कर रहा है जिसका वलभी के शासक प्रयोग करते थे।

४ ऐसा प्रतीत होता है कि दूरीवाचक शब्द योजन अग्रेजी मील के ढाई से लेकर ९ और यहा तक कि १८ मील तक विभिन्न दूरियो का परिचायक था, किन्तु औसतन इसका विस्तार ४ और ५ मील के बीच मे होता था। प्राचीन वलभी का प्रतिनिधि वला अन्हिलवाड से लगभग एकदम दक्षिण मे १३५ मील की दूरी पर स्थित है।

के २४१वें वर्ष से प्रारम्भ होता है। ब्रह्मगुप्त की कन्दरवातक सारणिया इसी सवत् मे रखी जाती हैं। इस कृति को हम लोग अरकन्द नाम से जानते हैं। इस प्रकार मज्दजिद[1] के सवत् के ४००वें वर्ष मे रखने पर, हम स्वयं को श्री हर्ष-सवत् के १४८८वे वर्ष मे, विक्रमादित्य-सवत् के १०८८वें वर्ष मे, शक-सवत् के ९५३वे वर्ष मे, वल्लव-सवत् तथा गुप्तो के सवत् के ७१२वें वर्ष मे पाते हैं।

अलबेरूनी के विवरण का प्रो० सचाऊ का अनुवाद

और अब हम इसके साथ ही अलबेरुनी के इन्हीं अवतरणो का प्रो० सचाऊ द्वारा किया गया अग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं जो उनके अनुवाद ग्रन्थ अलबेरूनीज इन्डिया[2] जि० २, पृ० ५ इ० मे प्राप्त होता है –

'इसी कारण लोगो ने उनका प्रयोग छोड कर उनके स्थान पर (१) श्री हर्ष, (२) विक्रमादित्य, (३) शक, (४) वल्लभ[3] एव गप्त के सवतो को अपना लिया है वलब के सवत् को यह नाम अन्हिलवार से ३० योजन दक्षिण मे स्थित वलभ[4] नगर के शासक वलब से प्राप्त हुआ है। इस सवत् का काल शक सवत् से २४१ वर्ष वाद पडता है। लोग इसका इस प्रकार प्रयोग करते हैं। वे पहले शककाल का वर्ष रखते हैं और फिर उसमें से ६ का घन और ५ का वर्ग (२१६+२५=२४१) घटा देते हैं। शेष वलव सवत् का काल होता है। वलव का इतिहास यथा स्थान दिया गया है।[5] जहा तक गुप्तकाल का प्रश्न है, लोगो का यह कहना है कि गुप्त दुष्ट और शक्तिशाली लोग थे और उनके सत्तानाश के समय मे एक सवत् का प्रारम्भ माना गया। ऐसा प्रतीत होता है कि वलव उनका अन्तिम शासक था क्योंकि वलव सवत् के समान ही गुप्तो का सवत् भी शककाल के २४१ वर्ष वाद पडता है। ज्योतिषियो का सवत् शककाल के ५८७ वर्ष वाद प्रारम्भ होता है। मुसलमानो मे अल-अरकन्द नाम से ज्ञात ब्रह्मगुप्त का खण्डखाद्यक नामक ग्रन्थ इसी सवत् पर आधारित है। यज्दजिद सवत्, जिसे हमने अपना मानदण्ड माना है, का ४०० वर्ष भारतीय सवतो के ये निम्नलिखित वर्ष प्रदान करेगा — १ श्री हर्ष के सवत् का १४८८ वा वर्ष, २ विक्रमादित्य के सवत् का १०८८वा वर्ष, ३ शककाल का ९५३वा वर्ष तथा ४ वलव सवत्, जो गुप्तकाल से अभिन्न है, का ७१२ वा वर्ष।

---

१. इस सवत् का प्रारम्भ फारस के ससानी शासक यज्दजिर्द तृतीय के ६३२ ई. मे शासनारूढ होने के समय से होता है (द्र० प्रिसेप्स एसेज, जि २, यूसफुल टेबल्स, पृ ३०२ तथा टिप्पणी)। तिथियों की परस्पर तुलना के लिए अलबेरूनी ने ४०० का जो 'मानदण्ड वर्ष' अपनाया है वह उस सवत् से एक वर्ष आगे है जिसमे वह स्वय लिख रहा था।

२ यह निश्चित नही है कि प्रो सचाऊ का अनुवाद इस सकलन के पूर्व प्रकाशित हो सकेगा या नहीं। किन्तु यह एक प्रामाणिक अनुवाद होगा और उन्होंने अनुवाद के प्रूफ से उद्धरण देने की अनुमति प्रदान करने की कृपा की है।

३ अर्थात् भारत युद्ध तथा कलियुग के सवत् तथा समय-मापन के इसी प्रकार के कुछ अन्य उपाय, जिनका विवरण अलबेरूनी ने पहले ही दे दिया है, उसके अनुसार इनका इसलिए त्याग कर दिया गया क्योंकि इनमे बहुत बडी बडी सख्याओ का प्रयोग करना पडता था।

३-४ द्र०, ऊपर पृ० २२, टिप्पणी ४।

५ यह उद्धरण फल-विक्रेता रङ्क तथा राजा वल्लभ की कथा का ज्ञान पडता है, अनुवाद, जि १, पृ १९२ इ अध्याय १७ मे 'हिन्दू विज्ञानों पर जो कि जनसामान्य के अज्ञान का विनाश करते हैं।'

उपरोक्त अनुवादो से प्राप्त निष्कर्ष

ऊपर दिए गए अवतरण गुप्त तथा वलभी दोनो राजवशो के नाम से सवद्ध एक सवत् का उल्लेख करते हैं, जिसके विषय मे हमे इन महत्वपूर्ण मुद्दो पर विचार करना है।

सर्वप्रथम, अलबेरूनी इस सवत् को 'गुप्त सवत्' और 'वलभी संवत्' दोनो कहता है। उपरोक्त अनुवादो के अनुसार, गुप्तो के साथ इस सवत् का संबध बताते हुए वह कहता है कि इनका प्रारम्भ गुप्त सत्ता के विनाश के समय से हुआ और वस्तुत इससे यह उपलक्षित होता है कि इस घटना विशेष के कारण इस सवत् की स्थापना हुई, और तब निश्चितरूपेण हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि स्वय गुप्त शासको द्वारा जिस सवत् का प्रयोग हुआ है वह गुप्त सवत् न होकर अपेक्षाकृत काफी पहले प्रारम्भ होने वाला कोई और सवत् है। तथा वलभी राजवश के साथ इसके सबध के विषय मे, इस तथ्य के आधार पर कि उनके सवत् का प्रारम्भ-विन्दु वही है जो गुप्त सवत् का है, वह यह अनुमान करता है कि तिथिक्रम मे यह राजवश गुप्तो के बाद आया, किन्तु वह उनके साथ सवत् के प्रतिष्ठापन के बीच किसी सबध का सकेत नहीं करता।

और दूसरे, सवत् के प्रारम्भ-बिन्दु के सम्बन्ध मे वह स्पष्ट रूप से यह कहता हुआ प्रतीत होता है कि इन दोनो मे से किसी भी नाम के अन्तर्गत सवत् का प्रारम्भ शक सवत् के २१६+२५ = २४१ वर्ष व्यतीत हो जाने पर हुआ। आजकल की सारणियो[1] मे बीते हुए शक वर्ष का प्रयोग जिस ढग से किया गया है, उसे आधार मानने पर ३१९-२० ई० का प्रचलित वर्ष[2] इस सवत् का प्रारम्भ तथा ३२०-२१ ई० इस सवत् का प्रथम प्रचलित वर्ष होगा। यह पहले तो शक वर्षो से २४१ पूर्ण वर्ष घटाने के नियम से और दूसरे इस कथन से प्रदर्शित किया गया है कि गुप्त-वलभी-सवत् का ७१२ वर्ष शक-सवत् ९५३ के बराबर है—चूंकि अलबेरूनी शक-सवत् की सख्या को यज्दर्जिद के ४०० वर्ष के बरावर वताता है, जो १०३१-३२ ई० का प्रचलित होगा, अत यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका अभिप्राय बीते हुए वर्ष से है। जैसा कि रेनाद के अनुवाद से प्रदर्शित होता है, अपने दूसरे उल्लेख मे वह स्पष्टत सवत् का प्रारम्भ अर्थात् इसका प्रथम प्रचलित शक सवत् के २४१ वें वर्ष मे बताता है जिसे बीता हुआ वर्ष समझना चाहिए, इसके अनुसार इस सवत् का प्रारम्भ २४० वर्ष की समाप्ति के उपरान्त ठहरेगा। अपनी पुस्तक मे कुछ और आगे[3] वह इस बात का उल्लेख करता है कि किस प्रकार की गणना करके हिन्दूलोग (१०२६ की जनवरी मे) महमूद गजनवी द्वारा सोमनाथ-पाटन के नष्ट किए जाने की घटना का 'लगभग' समय निकालते है, यह घटना 'हिजरी सवत् ४१६ अथवा शककाल ९४७ मे' घटी थी और वह बताता है हिन्दू लोग पहले २४२ लिखते है और फिर उसके नीचे ६०६ और फिर उसके नीचे ९९ लिखते है, परिणामत इन अको को जोडने पर हमे शक सवत् का ९४७ प्राप्त होता है, जिसे बीता हुआ वर्ष मानने पर हमे १०२५-२६

---

१ उदाहरण के लिए वे सारणिया जो जनरल कनिंघम के बुक आव इन्डियन एराज तथा प्रो० के० एल० छत्रे की पुस्तक ग्रहसाधनाचीं कोष्टकें अर्थात् 'ग्रहो के स्थानो के निर्धारण मे उपयोगी सारणिया' मे प्राप्त होती है।

२ अथवा, यदि और ठीक गणना दें तो ९ मार्च ३१९ ई० से २५ फरवरी ३२० ई० के बीच का समय। सामान्य पाठकों के लिए यह बता देना उचित होगा कि ३१९-२० ई० के रूप मे ईस्वी सन् के दो वर्षों का प्रयोग दो वर्ष का सम्पूर्ण समय नही ज्ञापित करता अपितु केवल यह ज्ञापित करता है कि इनमे से प्रथम मे वहाँ दिए गए शक वर्ष का प्रारम्भ हुआ और दूसरे मे यह समाप्त हुआ।

३ अलबेरूनीज इण्डिया, अनुवाद, जि० २, प ९।

का प्रचलित वर्ष प्राप्त होता है, जिसमे १०२६ ई० का जनवरी का महीना सम्मिलित होगा। और प्रथम दृष्टि मे पहला अक यह सकेतित करता हुआ प्रतीत होता है कि इस गणना मे सवत् विशेष का प्रारभ शक सवत् के २४२ वर्ष बीत चुकने पर माना जाता था[1]।

---

१ यह अन्तिम अवतरण अलबेरूनी ने अपनी लोककाल अथवा जनसामान्य द्वारा सौ वर्षों के चक्रों द्वारा की जाने वाली गणना की चर्चा के सबध मे दिया है। उसको पढ़ने से उसका झुकाव इस विचार के प्रति प्रतीत होता है कि २४२ का अक उस समय से पूर्व के बीते हुए वर्षों से है जब से हिन्दुओं ने सौ वर्षों के चक्र का प्रयोग प्रारम्भ किया और उन्होंने इसका प्रयोग गुप्त सवत् के साथ सवद्ध करके किया, तथा यह कि ६०६ सख्या पूर्ण हो चुके चक्रों का निरूपण करती है अर्थात छः चक्र जिनमे प्रत्येक १०१ वर्षों का गिना जाना चाहिए तथा यह कि ९६ सख्या प्रचलित चक्र के बीते हुए वर्षों की परिचायिका है। वह आगे कहता है कि, जैसा कि उसने मुल्तान के दुलम की रचनाओ मे पाया है, प्रचलित नियम यह था कि ८४८ की सख्या मे लोककाल जोड दिया जाय और इस जोड से प्राप्त सख्या शक सवत् का वर्ष देगी। किन्तु इस नियम को शक सवत् ९५३ जो बीत चुका है —जो उसके द्वारा पूर्व निर्धारित मानदण्ड-वप यज्दजिर्द सवत् से सगति रखता है—पर लागू करने के उपरान्त वह यह बताता है कि ८४८ घटाने पर लोककाल के लिए १०५ शेप बचता है जबकि सोमनाथपाटन का नाश चक्र के ९८ वें वप में पडेगा। यहा कुछ छोटी मोटी बाधाए हैं जिन्हें इस समय पूर्णरूपेण नही सुलझाया जा सकता। उनमे से एक है सोमनाथपाटन के ध्वस को लोककाल चक्र के अठ्ठावनवें तथा निन्यानवेवें दोनो वर्षों मे बताना, जिसके साथ यह भी जुटा हुआ है कि अठ्ठानवेवें वर्ष को प्रचलित वप तथा निन्यानवेवें वर्ष को बीत चुका वर्ष अनुमानित किया गया है। दूसरी बाधा यह है कि एकमात्र पूर्णरूपेण व्याख्यापित लोककाल-गणना के अनुसार (इन्डियन एराज, पृ० ६, ६०), अर्थात् वह जिसका प्रयोग कश्मीर मे किया जाता था और अलबेरूनी के कथनानुसार उसके अपने समय मे कुछ वर्ष पूर्व मुलतान के लोगो द्वारा अपना लिया गया था, यह घटना चक्र के प्रथम प्रचलित वर्ष मे पड़ेगी। इस प्रकार कल्हण ने राजतरगिणी, १, ५२ (कलकत्ता सस्करण, पृ० ३) मे शक सवत् तथा कश्मीर के लोकाल के समीकार के विषय में अत्यन्त स्पष्ट विवरण प्रदान किया है। उसके शब्द हैं—लौकिकेऽब्दे चतुर्-विंशे शक-कालस्य साम्प्रत सप्तत्यधिक यात सहस्र परिवत्सरा, अर्थात् वतमान समय में, अर्थात् लौकिक (लोक प्रचलित) सवत् के चौबीसवें वर्ष मे, शक सवत् के एक हजार से सत्तर अधिक वप व्यतीत हो चुके हैं। इस अवतरण मे ज्योतिपियो मे वह प्रचलित प्रथा के अनुसार शक-वप को बीत चुका बताता है। किन्तु वह लोकाल को प्रचलित वर्ष बताता है, जो कि इस प्रकार की लोकप्रचलित गणना के सदभ में अत्यन्त स्वाभाविक है। अतएव वह लोककाल के २४ वें प्रचलित वर्ष तथा शक सवत् के १०७० बीत चुके वर्ष में लिख रहा था, यह ईसवी सन् के ११४८-४९ चालू वर्ष के बराबर होगा। और इससे शक-सवत् १०४७ बीत चुके वर्ष से सगति रखने वाले चक्र का लोककाल १ प्रचलित वर्ष प्राप्त होता है, जो ईसवी सन् के १०२५—२६ प्रचलित वर्ष के बराबर है। कश्मीरी लोककाल चक्र के प्रत्येक वर्ष की योजना उत्तरी भारत मे प्रचलित शक—सवत् के वर्ष के समान थी तथा इसका प्रारम्भ चैत्र मास (मार्च—अप्रैल) के प्रथम दिन से होता था, यह अलबेरूनी के विवरण से तथा इस सवत् की व्याख्या के सदर्भ मे जनरल कनिंघम द्वारा सगृहीत टिप्पणियो से स्पष्ट हो जाता है। और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक कश्मीरी लोककाल का प्रथम प्रचलित वप शक सवत् की प्रत्येक शताब्दी के सैंतालीसवें बीत चुके वर्ष तथा अडतालीसवें प्रचलित वर्ष के ठीक बराबर होगा। साथ ही इसमे ईसवी सन् की प्रत्येक शताब्दी के पचीसवें वर्ष का कुछ भाग तथा छब्बीसवें वर्ष का कुछ भाग सम्मिलित होगा। इस प्रकार १०२६ ई० का जनवरी मास कश्मीर के लोककाल १ प्रचलित वर्ष मे पडा, जो शक सवत् ९४७ बीत चुके वप का समकक्ष था, तथा जिसका समय-विस्तार (द्र०, इन्डियन एराज, पृ० १७१) ३ मार्च १०२५ ई० से लेकर २१ मार्च १०२६ ई० तक था। और यह बोधगम्य नही है कि कैसे कश्मीरी

अलबेरूनी के विवरण का प्रो० राइट द्वारा किया गया अनुवाद

अलबेरूनी के विवरण का रेनाद ने जो अनुवाद प्रस्तुत किया उसमे मुख्य ऐतिहासिक विषय-वस्तु यह सूचना थी कि गुप्त सवत् का प्रचलन गुप्त राजवश की समाप्ति की स्मृति स्वरूप हुआ, आपातत इस प्रकार की असभावना के कारण शीघ्र ही इस सूचना के प्रति लोगो का विशेष ध्यान

लोककाल सवत् का व्यवहार करते समय उस महीने में घटी हुई घटना को शुद्धत लोकाल ९९ वीत चुके वर्ष में अथवा, और भी आगे बढ़ कर, ९८ प्रचलित वर्ष मे रखा जा सकता है। पहली स्थिति मे सगति लाने के लिए कश्मीरी चक्र से तीन वर्ष बाद प्रारम्भ होने वाले चक्र की आवश्यकता है। अलबेरूनी का यह कथन कि विभिन्न लोककाल-गणना-पद्धतियां प्राप्त होने के कारण वह वस्तुस्थिति जानने मे सफल नही हो सका यह सकेतित करता है कि इस प्रकार के विभिन्न प्रारम्भ-बिन्दुओ का प्रचलन था तथा वर्षों की योजना के सबध मे भी किसी प्रकार की एकरूपता का अभाव था। किन्तु, एक बात स्पष्ट जान पड़ती है। जहां तक अलबेरूनी के प्रथम दृष्टान्त मे उल्लिखित ६०६ सख्या का प्रश्न है, किसी शतवर्षीय चक्र में एक सौ एक वर्षों का होना असंभव है। और स्वय अलबेरूनी ने इसके पहले स्पष्ट रूप से कहा है (अलबेरूनीज इडिया, अनुवाद, जि० २, पृ० ८), 'शतक पूर्ण होने के उपरान्त वे उसका त्याग कर देते हैं और नए शतक मे तिथ्यकन प्रारम्भ कर देते हैं।' वस्तुत, यह स्पष्ट है कि ये छ अतिरिक्त वर्ष लोककाल चक्रो के नही हैं। केवल छ शताब्दियां ही उस गणना-पद्धति से सबधित हैं। मैं आगे यह प्रदर्शित करूंगा कि गुप्त-वलभी-सवत् का प्रारम्भकाल वास्तव मे ३१९-२० ई० प्रचलित वर्ष था जिसे या तो शक सवत् मे २४१ बीत चुके वर्ष में अथवा २४२ प्रचलित वर्ष में उद्धृत किया जा सकता है। इन छ. अतिरिक्त वर्षों को शक सवत् के २४१बीत चुके वर्ष मे जोडने पर हमे शक सवत् का २४७ बीत चुका वर्ष अथवा २४८ प्रचलित वर्ष प्राप्त होता है, जो ३२५-२६ प्रचलित वर्ष के बराबर है, और यह, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कश्मीर मे प्रचलित लोककाल-गणना-पद्धति के प्रथम प्रचलित वर्ष के बराबर होगा। किन्तु यह किसी भी ऐसे गणना-पद्धति के किसी भी चक्र के प्रथम चालू वर्ष से एक वर्ष पहले बैठेगा जिसके अगले चक्र मे यह घटना विशेष उसके निन्यानबेवें बीत चुके अथवा सौवें प्रचलित वर्ष मे घटी हो। मैं समझता हूँ, हमें यहा यह मान लेना चाहिए कि अलबेरूनी ने दुर्लभ को ठीक ठीक उद्धृत किया है। और तब यह मानना पड़ेगा कि मुलतान-गणना-पद्धति में प्रत्येक चक्र का प्रथम प्रचलित वर्ष कश्मीरी-गणना-पद्धति के प्रथम प्रचलित वर्ष से एक वर्ष बाद आता था तथा यह शक सवत् की प्रत्येक शताब्दी के अड़तालीसवें बीत चुके वर्ष और उनचासवें प्रचलित वर्ष के बराबर तथा ईसवी सन् की प्रत्येक शताब्दी के छब्बीसवें वर्ष के कुछ भाग और सत्ताइसवें वर्ष के कुछ भाग के बराबर होता था। और यदि मुलतान मे इस गणना-पद्धति का प्रथम प्रवेश इतने पीछे ले जाया जा सके तो इसका प्रारम्भ शक सवत् के २४८वें बीत चुके वर्ष अथवा २४९वें प्रचलित वर्ष मे प्रतिष्ठित होगा। सभव है यह वर्ष शक सवत् के २४१वें बीत चुके वर्ष मे ही जोडने पर प्राप्त होता रहा हो। किन्तु, जैसा कि आगे देखा जाएगा, शक सवत् के २४१ बीत चुके वर्ष के प्रयोग के पीछे वास्तविक प्रयोजन एक ऐसा आधार प्राप्त करना था जिसकी सहायता से गुप्त-वलभी तिथियो की गणना की जा सके, और यह हमे गुप्त सवत् के प्रारम्भ तक ले आता है। तुलना के लिए दोनो का चालू वर्ष लेने पर गुप्त-वलभी-सवत् तथा शक-सवत् के बीच का अन्तर २४२ वर्षों का है। तथा शक सवत् के २४२ बीत चुके वर्ष से हमे गुप्त सवत् के प्रथम प्रचलित वर्ष का प्रारम्भ प्राप्त होता है। अलबेरूनी को जो बताया गया था उस प्रकार की प्रक्रिया के लिए वस्तुत इस प्रारम्भ बिन्दु की आवश्यकता थी। और इसी कारण इस वर्ष विशेष को गणना का प्रत्यक्ष आधार बनाया गया। वास्तव मे सही आधार शक सवत् का ८४८ बीत चुका वर्ष था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अलबेरूनी को बताए गए अको से जिस प्रक्रिया की व्याख्या की गई है उसमे लोककाल-गणना-पद्धति के द्वारा गुप्त-सवत् से आनुकुल्यता बनाने का ढग भी

गया। और जैसा कि आगे देखा जाएगा, इसके स्पष्टीकरण के लिए विभिन्न प्रयत्न किए गए, और विविध परस्पर विरोधी निष्कर्ष प्राप्त हुए।

यह मुझे सब प्रथम श्री रेहतासेक (Rehatsek) ने बताया कि इसका वास्तविक समाधान इसमे नही खोजना चाहिए कि अलबेरूनी को गलत सूचना दी गई तथा अलबेरूनी ने सही सूचना को गलत ढग से प्रस्तुत किया, अपितु इस बात मे खोजना चाहिए कि उसके आशय की त्रुटिपूर्ण व्याख्या की गई है, रेहतसेक ने दिसम्बर १८८६ मे रेनाद के प्रकाशित ग्रन्थ मे से इस निर्णायक अवतरण का मुझे निम्न शाब्दिक अनुवाद दिया– 'और गुप्त सवत् (के सबध में), यह कहा जाता है कि वे दुष्ट (और) शक्तिशाली थे, और उनके नाश के उपरान्त तिथ्यकन उनके अनुरूप किया गया'[1]। इस प्रकार का अनुवाद हमे अलबेरूनी के शब्दो का अत्यन्त स्पष्ट तथा अन्य बातो से सगत अर्थ प्रदान करता है अर्थात् यह कि दुष्ट तथा अत्यत लोकप्रिय होने पर भी गुप्त इतने शक्तिशाली शासक रहे थे कि उनके राजवश के पतन के उपरान्त भी उनके द्वारा प्रयुक्त सवत् चलता रहा।

कुछ दिनो बाद श्री एच०सी० के (H C Kay) ने भी इन शब्दो का अनुवाद 'तिथ्यंकन उनके द्वारा (अथवा उनके अनुरूप) किया गया' यह किया और उनकी व्याख्या करते हुए यह टिप्पणी जोडी 'लेखक का अर्थ स्पष्ट नहीं है। किन्तु मेरा विचार है कि यथारूप लिए जाने पर ये शब्द एकरूप ढग से गुप्तो द्वारा प्रयुक्त तिथ्यकन की पद्धति का अकीकरण अथवा उसकी निरतरता प्रदर्शित करते हैं। 'जब उनका नाश हो गया', पहले आए हुए ये शब्द इस अर्थ की सभावना सुझाते

समाविष्ट है, अथवा, यदि और ठीक प्रकार से कहे, इसमे यह ढग बताया गया है कि कैसे गुप्त-गणना-पद्धति के माध्यम से लोककाल–तिथियो को शक–तिथियो मे रूपान्तरित किया जाय। किन्तु ऊपर दिए गए आकडे इस अनुमान का बिल्कुल समर्थन नहीं करते कि लोककाल–गणना–पद्धति गुप्तों द्वारा चलाई गई अथवा उनके समय मे प्रारम्भ हुई, इसके विपरीत मुलतानवासी दुलभ द्वारा ८४८ वर्षो का घटाया जाना और १०५ वर्षों अथवा एक चक्र और पांच वर्ष का शेप बचना स्पष्टत यह सकेतित करता हुआ प्रतीत होता है कि देश के उस भाग मे इस गणना–पद्धति का प्रारम्भ शक सवत् के ८४८ बीत चुके वप से अर्थात् ईसवी सन् के ९२६–२७ चालू वप से हुआ, यदि ऐसा नही होता तो दुर्लभ ने अपनी पद्धति को दूसरे शब्दों मे दिया होता– उदाहरणाय, इस प्रसग मे यह कहा गया होता कि ९४८ घटाने पर ५ वप और शेप बचता है। ६०६ की सख्या की कुछ इसी प्रकार की व्याख्या देते हुए (इडियन एराज, पृ० १६) जनरल कनिघम ने यह माना है कि इस प्रक्रिया मे गलती से शक सवत् २४१ के स्थान पर २४२ कहा गया है। किन्तु, जैसा कि मैंने दिखाया है, बात ऐसी नही है। और जिस ढग से उन्होंने इन आकडो का उपयोग किया है, मैं उससे सहमत नहीं हूँ। शक सवत् का २४१ बीत चुका वर्ष हमे ३१८–१९ ई० का अन्त तया ३१९–२० का प्रारम्भ देता है। यदि हम इसमे क्रमश ६, ६०० और ९९ वर्ष जोडे तो हमे शक सवत् का ९४६ बीत चुका वप अर्थात् १०२३–२४ ई० का अन्त और १०२४–२५ ई० का प्रारम्भ प्राप्त होता है, और फिर भी जिस समय यह घटनाविशेप घटी, हमे उससे एक वर्ष कम का समय प्राप्त होता है।

१ इसी प्रकार, लगभग तेरह वर्ष पूर्व श्री ब्लाखमैन (Blochmann) ने (द्र० जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ४३, भाग १, पृ० ३६८) यह अनुवाद किया–"जहां तक गुप्तकाल का प्रश्न है, वे, जैसा कि कहा जाता है, दुष्ट और शक्तिशाली लोग थे, और जब वे समाप्त हो गए, तब इसका तिथ्यकन उनके अनुरूप हुआ (सवत प्रारम्भ हुआ ?)।" यह अनुवाद कोष्ठक मे दिए शब्दो से ("सवत् प्रारम्भ हुआ?") दूषित हो गया है, जिसका प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि क्यों श्री ब्लाखमैन ने सर्वथा भिन्न अर्थ देने वाला अनुवाद प्रस्तुत करते हुए भी रेनाद के अनुवाद मे कोई दोष नहीं देखा है।

हैं कि तिथि का अकन इस घटना के समय से प्रारम्भ हुआ। किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि इस अर्थान्वय को तभी वरीयता दी जा सकती है जब कि सदर्भ विशेष मे अथवा तद्‌विषयक ज्ञात तथ्यो मे कोई ऐसी बात हो जो इसे अनिवार्य बनाती हो, अथवा, कम से कम, इस ओर स्पष्ट सकेत करती हो।'

मेरा विश्वास था कि इस विषय पर मेरे अपने लेखन के पूर्व ही प्रो सचाऊ द्वारा अरबी मूल का किया गया अनुवाद अलबेरूनी के वास्तविक अर्थ के सबध में सभी शकाए मिटा चुकेगा। किन्तु, दुर्भाग्यवश ऐसा नही हुआ है, ऐसा इस कारण है क्योकि रेनाद के समान उन्होने भी अपने अनुवाद मे 'सवत्' शब्द का समावेश किया है जो मूल मे अनुपलब्ध है, और, इस शब्द का समावेश अनुवाद को एक बाध्यकर अर्थ देता है जबकि मूल का शाब्दिक अनुवाद करने पर हम इस अर्थ को ग्रहण करने के लिए बाध्य नही हो सकते।

अत मुझे प्रसन्नता है कि मैं यहा प्रो सचाऊ के प्रकाशित ग्रन्थ मे से उन अवतरणो का निम्न लिप्यन्तरण तथा प्रत्येक पक्ति के नीचे उसका शब्दश' अनुवाद दे सकता हूँ, ऊपर जिनका रेनाद तथा प्रो सचाऊ द्वारा किया गया अनुवाद दिया जा चुका है, और जो मुझे स्वयं केम्ब्रिज के प्रो० विलयम राइट की कृपा से प्राप्त हुआ है —

मूल और उसका शब्दश अनुवाद

व-लि-धालिक	अरडू	अन्-हा	व-जाऊ	इला
तथा इसके लिए	वे विमुख हो गए हैं	उनसे	तथा आए हैं	तक

तवारीख	श्री-ह्लिश	व-बिगरमादित	व-शक	व-विलब
के सवत्	(श्री हर्ष)	तथा (विक्रमादित्य)	तथा (शक)	तथा (वलभी)

व-क्वित · ····	व-अम्मा	तारीख	वल्ब
तथा (गुप्त)···	तथा जहा तक सबध है	सवत् का	(वलभी)

व-हुव	साहिब	मदीनत्	वल्भ	व-हिय	जनूबीयह	अन्
तथा वह	का स्वामी	का नगर	(वलभी)	तथा यह	दक्षिण	से

मदीनत्	अन्ह्‌ल्वारह	बि-करीब	मिन	थलाथीन	जोझन	फ-इन्न
का नगर	(अन्हिलवाड)	निकट	के	तीस	(योजन)	देखो

औवल-हु	मुत अक्खिर	अन्	तारीख	श्क	वि-मिअतैन्
इसका प्रथम	पश्चात्कालीन	के	का सवत्	(शक)	दो सौ

व-इहदा	व-अर्ब ईन्	सनह।	व-मिस्तमिलू-हु	यड-ऊन	इग-काल्व
तथा एक	तथा चालीस	वर्ष	तथा इसके प्रयोगकर्ता	लिखते हैं	(शक) सवत्

व-यन्कुसून	मिन्-हु	मजमू	मुक अब	असससित्त.	व-मुरब्ब
तथा कम करते हैं	इससे	का योग	का घन	छ	तथा का वर्ग

अल–खम्स फ–यब्का तारीख वल्व । व–खवरू–हु आतिन्
पाच तथा बचता है का सवत् (वलभी) । तथा उसका इतिहास आ रहा है

फी मौडी इ–हि । व–अम्मा गुब्त–काल फ–कानू कमा किला
अपने स्थान पर । तथा जहा तक (गुप्त) वे थे जैसा कि कहा
सवध है सवत् जाता है

कौमन् अश्रारन् अकविया अ फ–लम्मा इन्करडू उरिख
लोग दुष्ट शक्तिशाली तथा इस प्रकार वे नष्ट इसका तिथ्यकन
बाद मे हो गए हुआ

वि–हिम् । व–क–अन्न ब्लव कान् अरवीर–हुम । फ–इश्र
उनके द्वारा । तथा मानो (वलभी) था उनमें से । तथा देखो
वह अ तिम

औवल तारीखि–हिम् ऐडन् मुत–अखिखर अन् श्ग–काल
प्रथम उनके सवत् का भी पश्चात्कालीन के (शक्) सवत्

२४१ । व–तरीख अल्–मुनज्जिमीन यत अक्खर अन् श्ग काल
२४१ । तथा का सवत् ज्योतिषी पश्चात्कालीन है के (शक) सवत्

५८७ व–अलै–हि बुनिय जिज कुन्द्कात लि ब्रम्हगुप्त
५८७ तथा इस पर निर्मित होता है शास्त्र (खण्ड काटक) द्वारा (ब्रम्हगुप्त)

व–हुव अल्–मरूफ इन्द–ना बिल–अर्कन्द
और यह ज्ञात हमारे साथ अल–अर्कन्द (नाम) द्वारा

फ–इधन सिनू तरीख श्री–हरिषा लि–सनति–ना
और इस प्रकार तब के वर्ष का संवत् (श्री–हर्ष) हमारे वर्ष तक

अल्–मुमय्यल वि–हा १४८८ व–तरीख वृक्र्मादत १०८८
जिसका प्रयोग किया एक दृष्टात १४८८ तथा का (विक्रमादित्य) १०८८
जाता है के रूप मे सवत्

व–श्ग–काल ६५३ व–तरीख वल्व अल्लधी हुव ऐडन
तथा (शक) ६५३ तथा का (वलभी) जो यह भी
सवत् सवत

गूबित–काल ७१२
(गुप्त) सवत् ७१२

अनुवाद

'और इस कारण उन्होंने उसका परित्याग कर दिया है तथा श्री हर्ष, विक्रमादित्य, शक, वलभी तथा गुप्तो के सवतो को अपना लिया है और जहा तक वलभी के सवत् का प्रश्न है-जो अन्हिलवाड नामक नगर का शासक था-यह शक सवत् के दो सौ इकतालीस वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ। जो इसका प्रयोग करते हैं वे शक सवत् (का वर्ष) लिखते हैं और उसमे छ के घन और ५ के वर्ग के योग को घटा देते है, तत्परिणामस्वरूप वलभी के सवत (का वर्ष) शेष बचता है। इसका इतिहास यथास्थान आएगा'[1]। जहा तक गुप्त सवत् का प्रश्न है, यह कहा जाता है कि (इस राजवश के शासक) दुष्ट (तथा) शक्तिशाली जाति के थे, और, इस कारण, उनका नाश हो जाने पर लोगो ने उनके अनुरूप तिथ्यकन किया। तथा यह प्रतीत होता है कि वलभी उनमे अतिम था। और इस कारण उनके सवत् का भी प्रारम्भ शक सवत् के २४१ (वर्ष) बाद होता है। तथा ज्योतिषियो का सवत् शक सवत् के ५८७ वर्ष बाद का है, ब्रह्मगुप्त द्वारा लिखित खण्डकाटक (नामक) ज्योतिष ग्रन्थ, जिसे हम लोग अल-अरकन्द (के नाम से) जानते है, इसी पर आधारित है। और तब श्री हर्ष के सवत् का १४८८वा वर्ष (यज्दजिद के) वर्ष-जिसे हमने निर्दिष्ट माप माना है-के समकक्ष तथा विक्रमादित्य के सवत् के १०८८ तथा शक सवत् के ९५३ और वलभी के सवत्-जो कि गुप्त सवत् भी है-के ७१२ के समकक्ष बैठता है।'

वस्तुत पूरी बात का सार इस बात मे निहित है कि उन शब्दो का ठीक अर्थ क्या किया जाता है जो इस कथन के बाद आते हैं कि गुप्त दुष्ट एव शक्तिशाली थे। प्रो० राइट का कथन है कि मूल मे हम एक अस्पष्ट अकर्तृक कर्मवाच्य पाते हैं जिसका अर्थ है-'इसका तिथ्यकन उनके अनुरूप किया गया,उनके अनुरूप तिथ्यकन हुआ अथवा लोगो ने उनके अनुरूप तिथि का अकन किया, किन्तु निश्चित-रूपेण यह इस बात का स्पष्ट सकेत नही करता कि यह तिथ्यकन गुप्त सत्ता नाश के समय से प्रारम्भ हुआ अथवा इसका प्रारम्भ इस घटना के परिणामस्वरूप हुआ। यह सच है कि अन्य प्रमाणो से समर्थित होने पर उसके इस अभिकथन की यह व्याख्या स्वीकार की जा सकती है। किन्तु, कम से कम हम इस अभिकथन का यह दूसरा अर्थ मानने को पूर्ण स्वतत्र हैं कि गुप्त इतने शक्तिशाली रहे थे कि उनके नाश के बाद भी लोग उनके द्वारा प्रयुक्त सवत् में तिथि का अकन करते थे। अब हमे प्राप्त गुप्त तथा वलभी तिथियो का सूक्ष्म परीक्षण करके यह निश्चित करना होगा कि इन दो सभावित व्याख्याओ मे से कौन स्वीकार्य है।

सशोधित अनुवादो मे एक बात और भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। प्रो० राइट का अनुवाद वलभी के सवत्, जो कि गुप्त सवत् भी है, का ७१२ (वर्ष) तथा प्रो० सचाऊ का अनुवाद वलभ सवत्, जो कि गुप्त काल के समान है, का ७१२ वर्ष, ये दोनो अनुवाद रेनाद के 'वल्लभ के सवत् तथा गुप्तो के सवत् का ७१२ वर्ष' इस अनुवाद से इस दृष्टि से सर्वथा भिन्न है कि अन्तत ये दूसरा अर्थ प्रदान करते है। उनसे यह एकदम स्पष्ट है कि अलबेरुनी दो नामो से केवल एक तथा अभिन्न सवत् की चर्चा कर रहा था न कि समान अथवा लगभग समान प्रारम्भ-काल वाले दो सवतो की।

रेनाद द्वारा किए गए अलबेरूनी के विवरण के अनुवाद पर आधारित सिद्धान्त

वर्तमान काल तक अलबेरूनी के विवरण का रेनाद द्वारा किया गया अनुवाद ही प्राप्य रहा है। इस विषय पर लिखने वाले सभी विद्वानो ने उसके अनुवाद को अपने तर्क का आधार बनाया है

---

१ तथापि, देखिए ऊपर पृ० २३, टिप्पणी ५।

संपूर्ण प्रश्न को भली भांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि इस पर उसके द्वारा प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर विचार किया जाय।

उसके अनुवाद के अनुसार, सवत् के प्रारम्भ बिंदु के लिए हमे शक सवत् के इन तीन बीत चुके वर्षो, २४०, २४१ अथवा २४२ मे से चुनना है, इसमे एक प्रश्न-विशेष रूप से ईसवी सन् मे इसकी तिथि के निर्धारण का प्रश्न-सन्निहित है जिसका निर्धारण अभिलेखो मे प्राप्त सामग्री की सम्यक् जाच तथा उसकी विस्तृत व्याख्या से हो सकता है, ताकि सामान्य पाठक यह देख सके कि अपनाई गई विधि सतोषजनक है।

किन्तु इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय जो भी हो, यह तथ्य शेष रहता है कि अलबेरूनी को गुप्तो तथा वलभी नगर के साथ सवद्ध एक सवत् के अस्तित्व की सूचना दी गई थी जिसका प्रारम्भ ३१९ ई० मे किसी समय अथवा इसके एक वर्ष पूर्व अथवा पश्चात् हुआ, तथा जिसे सुविधापूर्वक गुप्त, वलभी अथवा गुप्त-वलभी-सवत् कहा जा सकता है। कम से कम, वलभी के नाम से सवद्ध होकर इस सवत् के प्रयोग की बात अन्हिलवाड के चालुक्य शासक अर्जुनदेव[1] के वेरावल अभिलेख से प्रमाणित होती है, इसमें वलभी-सवत् ९४५ का विक्रम-सवत् १३२० के समसामयिक तिथि मे उल्लेख मिलता है जो ईसवी सन् के १२६३-६४ तथा हिजरी सवत् के ६६२ के वर्ष के समकक्ष होगा, जिसका समय विस्तार[2] ४ नवम्वर १२६३ ई० से लेकर २३ अक्टूबर १२६४ ई० तक है।

इतना निश्चित था। किन्तु गुप्तो के नाश के समय से गुप्त सवत् के प्रारम्भ की बात असभव लगी। और परिणामस्वरुप अत्यत शीघ्र इस विषय पर विचार करने वाले विद्वान दो वर्गों मे विभक्त हो गए।

इनमे से प्रथम वर्ग ने,स्व० श्री जे० फरगुशन (J Fergusson) अन्त तक जिसके सबसे मुखर तथा दृढ विश्वास रखने वाले प्रतिनिधि बने रहे, अलबेरुनी के विवरण को सवत् के प्रारम्भ काल से सवद्ध माना किन्तु उन्होंने इस वक्तव्य को अस्वीकार किया कि यह गुप्तो के विनाशकाल मे प्रारम्भ होता है, उनकी इस अस्वीकृति का आधार अलबेरूनी का यह सदृश अभिकथन है जिसमें उसने हिन्दू परम्परा के साक्ष्य पर निर्भर करते हुए सवत् का प्रारम्भ काल शको के पतन के समय से माना है—एक ऐसा अभिकथन जो निश्चित रूप से गलत है।[3] उन्होंने इस राजवश का अभ्युदय तथा इस सवत् की स्थापना की तिथि ३१८ई० मे मानी, इस तिथि का चुनाव उन्होंने इस सिद्धान्त के आधार पर किया कि सवत् का प्रारम्भ किसी शासक के शासनारुढ होने के समय से अथवा किसी विशिष्ट ऐतिहासिक घटना के समय से नही हुआ था अपितु यह, तुलना की सुविधा के लिए, शक संवत् के प्रारम्भ काल से वृहस्पति नक्षत्र के चार षष्ठिवर्षीय चक्रो की समाप्ति से नियमित हुआ था।

दूसरे वर्ग ने ३१८ ई० अथवा इसके आसपास के समय को गुप्तो के पतन का समय माना तथा अर्जुनदेव के अभिलेख मे उल्लिखित वलभी सवत् को, जो निश्चित रूप से इस समय प्रारम्भ हुआ, गुप्त सवत् से सर्वथा स्वतत्र तथा गुप्त शक्ति के विनाश की स्मृति मे प्रारम्भ हुआ

---

१ सर्वप्रथम टॉड (Tod) ने अपनी पुस्तक एनल्स आफ राजस्थान मे इसे प्रकाश में लाया, किन्तु इसका प्रथम आलोचनात्मक अध्ययन हुल्श (Hultzsch) द्वारा १८८२ मे, इडियन एन्टीक्वेरी के जि० ११, पृ० २४१ इ० मे हुआ।

२ द्र० इन्डियन एराज, पृ० १२६

३ द्र० परिशिष्ट १, नीचे।

स्वीकार किया, तत्परिणामस्वरूप उन्होंने गुप्त राजवश के अभ्युदय के लिए तथा इस सवत् के प्रारम्भ-विन्दु के लिए और प्राचीन तिथि खोजना प्रारम्भ किया जिसका गुप्त शासको तथा जैसा कि अधिकाश ने कुछ असामजस्य के साथ, माना है – अपने स्वय के वलभी–सवत् की अपेक्षा इसे अधिक मान्यता देकर वलभी शासको ने प्रयोग किया था। इस मत के मुख्य व्याख्याता स्व० श्री ई० टामस (E Thomas) जनरल सर अलेक्जेंडर कनिंघम (Cunningham) तथा सर ई० क्लाइव बेले (E Clive Bailey) थे। टामस ने इसे शक सवत् से अभिन्न बताया[1] और इसका प्रारम्भ काल ७७–७८ ई० माना, कनिंघम ने अन्तत इसका प्रारम्भ काल १६६–६७ ई० स्थापित किया तथा बेले के अनुसार इसका प्रारम्भ काल १९०–१९१ ई० था।

---

१. किसी हिन्दू लेखक द्वारा गुप्त तथा शक सवतो मे सभ्रान्ति होने का एक रोचक दृष्टान्त हमे जैन ग्रन्थ आचारागसूत्र पर शीलाचार्य द्वारा लिखे गए आचार टीका नामक टीका ग्रन्थ के निम्न दो अवतरणों से प्राप्त होता है। मैंने इन्हे तीन सौ वर्ष प्राचीन समझे जाने वाली एक पाण्डुलिपि से उद्धृत किया है जिसे मुझे डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने १८८३ के प्रारम्भिक वर्षों मे दिखाया था। पृ० २०७ ब तथा २०८ अ पर प्राप्त प्रथम अवतरण छन्द मे है और इस प्रकार है – द्वासप्तत्यधिकेषु हि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम। सवत्सरेषु मासि च भ (ा) द्रपदे शुक्ला (क्ल) – पञ्चम्या॥ शीलाचार्येण कृता गम्भूताया स्थितेन टीकैषा। सम्यगुपयुज्य शोध्या मात्सर्य – विनाकृतैरार्यै (र्यैः)॥ इस अवतरण के अनुसार, टीका का यह भाग शीलाचार्य द्वारा गुप्त-सवत् ७७२ बीत चुके वर्ष मे भाद्रपद मास मे शुक्ल पक्ष के पाचवें दिन गम्भूता (कैम्बे ?) नामक स्थान पर पूरा किया गया था। पृ० २५६ ब पर प्राप्य दूसरा अवतरण सम्पूर्ण पुस्तक के अन्त में है और गद्य मे है। यह इस प्रकार है – शक-नृप-कालातीत-सवत्सर-शतेसषु (शतेषु पढिए) सप्तसु। अष्टानवत्यधिकेषु वैशाख – शुद्ध पचम्या आचारटीका कृतेति ॥व॥ सवत् (पृ० २५६ ब यही समाप्त हो जाता है। तथा दूसरा पृष्ठ, जिस पर तिथि को अको के स्वरूप मे दुहराया गया था तथा लेखक के अन्तिम शब्द थे, अब अप्राप्य हैं)। इस अवतरण मे शक सवत् बीत चुके वर्ष के वैशाख मास के शुक्ल पक्ष मे पाचवें दिन को सपूर्ण टीका की समाप्ति की तिथि बताया गया है। ये दोनो अवतरण यह सकेतित करते हैं कि शीलाचार्य ने गुप्त तथा शक सवतो को अभिन्न माना है, इनमे किसी न किसी प्रकार की त्रुटि है जिसका कारण यह जान पड़ता है कि अपने पाडित्य प्रदर्शन के लिए वह यहा किसी सवत् का – चाहे वह गुप्त सवत् हो अथवा शक सवत् हो – समावेश करना चाहता था, जिससे कि वह भली-भाँति परिचित नहीं था। और यह त्रुटि तबतक बनी रहेगी जबतक कि शीलाचार्य की वास्तविक तिथि का कोई स्वतन्त्र प्रमाण नही मिल जाता जिससे यह ठीक प्रकार से ज्ञात हो सके कि आचारटीका गुप्त-सवत् ७७२ से ७९८ बीत चुके वर्ष (१०९२ ई० से लेकर १११८ ई० तक) की अवधि मे अथवा शक सवत् ७७२ से लेकर ७९८ बीत चुके वर्ष (८५० ई० से लेकर ८७६ ई० तक) की अवधि मे लिखी गई थी। इस प्रसग मे मैं केवल यह कहना चाहूगा कि गुजरात तथा काठियावाड मे, राष्ट्रकूटो की गुजरात शाखा के लेखों को छोडकर, शक सवत् का इतना अत्यल्प प्रयोग हुआ है कि सभवत गुप्त सवत् के प्रयोग से ही शीलाचार्य की तिथि प्राप्त हो सकेगी। और मेरा यह सुझाव है कि दद्द द्वितीय के प्रत्यक्षत कृत्रिम लगने वाले उमेता और इलाओ के दानलेखो की शक सवत् ४०० तथा ४१७ की तिथियो मे इसी प्रकार की कोई त्रुटि अन्तर्निहित है। ये अवतरण इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं कि इनसे यह ज्ञात होता है कि शीलाचार्य के समय मे यह स्मृति लोगो मे शेष थी कि यह सवत् – जो सबसे अधिक वलभी शासको द्वारा प्रयोग के कारण ज्ञात रहा होगा और जिसके कारण यह काठियावाड मे वलभी सवत् के नाम जाना गया – मूलत तथा विशेष रूप से गुप्तो से सबद्ध था, जिन्होंने काठियावाड तथा निकटवर्ती प्रदेशों मे इसका समावेश किया। इस टिप्पणी को, जो मूलत इन्डियन एन्टिक्वेरी जि० १५, पृ० १८८ मे प्रकाशित हुआ था, लिख चुकने के पश्चात् मुझे १८६४ मे डा० भाऊ दाजी का एक लेख देखने को मिला जिसमे स्पष्टतः

पूर्ववर्ती मतों की परीक्षा

श्री फरगुसन के इस सिद्धान्त को,कि इस सवत् की तिथि ३१८–३१६ ई० है तथा इसका प्रारम्भ ३१६–२० ई० मे हुआ, सरलता से विसर्जित किया जा सकता है। यह त्रुटिपूर्ण था किन्तु इसमे केवल एक वर्ष की त्रुटि है। जैसा कि कहा जा चुका है, इसका कारण उसकी यह पूर्वमान्यता थी – जो प्रत्यक्षत डा० भाऊ दाजी द्वारा १८६४ में प्रस्तावित एक सुझाव पर आधारित है – कि इसका प्रारम्भ काल शक सवत् के प्रारम्भ काल से वृहस्पति नक्षत्र के चार षष्ठिवर्षीय चक्रो की समाप्ति से नियमित था, ताकि शक तथा गुप्त तिथियो के बीच सदैव दो सौ चालीस वर्षों का सम तथा सुविधाजनक अन्तर रहे। यह तभी व्यवस्थित हो सकता था जबकि षष्ठिवर्षीय चक्र का प्रयोग उसी प्रकार किया जाय जैसा कि आजकल दक्षिण भारत मे होता है, जहा कि इसका स्वरूप खगोलीय चक्र का कतई नही है, क्योकि वहा ग्रहो के राशि भोग अथवा उसके सूर्य-सहोदय के साथ कुछ अवसरो पर गणना मे एक वर्ष के त्याग द्वारा,किसी प्रकार का समन्वय किए बिना चक्रीय वर्ष एक नियमित आनुपूर्वी मे आगे बढते रहते हैं, तथा इन्हे चान्द्र-सौर वर्षों से आरम्भ तथा समाप्त हुआ माना जाता है। वर्तमान दक्षिण भारतीय पद्धति के अनुसार, शक सवत् १ प्रचलित वर्ष (७८–७६ ई०) बहुधान्य सवत्सर था, तथा शक सवत् २४१ प्रचलित वर्ष (३१८–३१६ ई०) भी वही बहुधान्य नामक चक्रीय वर्ष था, और इस प्रकार श्री फरगुसन के मत मे कुछ औचित्य देखा जा सकता है। किन्तु, आगे मैं प्रदर्शित करूगा कि गुप्त सवत् का वास्तविक प्रारम्भिक-बिन्दु ३१६–३२० ई० है जो शक सवत् २४१ प्रचलित वर्ष से मेल नही खाता। इस प्रकार, वस्तुत दक्षिण भारतीय व्यवस्था के अनुसार भी इस समय तक चार चक्र तथा एक वर्ष पूर्ण हो चुके थे और इतना मात्र ही ३१८–१६ ई० को प्रारम्भ-बिन्दु मानने वाले सिद्धान्त के लिए घातक है। और इसके अतिरिक्त अन्य अभिलेखो मे राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय का वनी-दान-लेख, जिसमे यह उल्लिखित है[1] कि शक सवत् ७३० मे वैशाख पूर्णिमा के दिन व्यय संवत्सर प्रचलित था, तथा उसी शासक का राधनपुर-दान-लेख, जिसमे यह उल्लेख मिलता है[2] कि उसी वर्ष में श्रावण मास (जुलाई–अगस्त) की अमावस्या के दिन चक्र मे अगले स्थान पर आने वाला सर्वजित् सवत्सर प्रचलित था, ये दोनो लेख अत्यन्त स्पष्ट रूपेण यह प्रदर्शित करते है कि दक्षिण भारत मे भी वर्तमान व्यवस्था मौलिक व्यवस्था नही थी।

यदि गुप्त सवत् के प्रारम्भ के समय षष्ठिवर्षीय चक्र का प्रयोग उत्तरी भारत मे तथा किसी उत्तरीय सवत् के साथ सवद्ध होकर – और गुप्त सवत् निश्चित रूपेण एक उत्तरीय सवत् था – प्रचलित था तब सुव्यवस्थित उत्तरीय पद्धति ही एक ऐसी पद्धति थी जिसका अनुसरण किया जा सकता था, जिसके अनुसार चक्र वस्तुत एक खगोलीय चक्र है तथा यह कि सवत्सरों का नियमन पूर्णत तथा केवल वृहस्पति नक्षत्र द्वारा राशि चक्र के एक राशि से दूसरे राशि मे स्थानान्तरण के आधार पर होता है। सूर्य सिद्धान्त से ली गई श्री श० ब० दीक्षित की गणना के अनुसार, शक सवत्

इसी पाण्डुलिपि का उल्लेख था किन्तु उन्होंने केवल गुप्त तिथि का उद्धरण दिया था। उन्होंने इसमे लिखा है (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रान्च आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ८, पृ० २४६) – "मेरे पास एक जैन पाण्डुलिपि है जिसमे गुप्तकाल ७७२ वें वर्ष की तिथि दी गई है, किन्तु दुर्भाग्यवश इसमें विक्रम अथवा शालिवाहन सवत् की समकक्ष तिथि नहीं दी गई है और न ही इस समय अन्य स्रोतो की सहायता से लेखक की वास्तविक तिथि का निर्धारण सभव है।"

१ इण्डियन एन्टीक्वेरी, जि० ११, पृ० १५९ पक्ति ४६ इ०।

२ वही, जि० ६, पृ० ६८, पक्ति ५३ इ०।

१ प्रचलित वर्ष (७८–७९ ई०) के प्रारम्भ के समय सवत्सर शुक्ल था जो चक्र मे तृतीय है, तथा इसके पश्चात् दिसम्बर ७८ ई० मे पोष मास की पूर्णिमा के दिन प्रमोद सवत्सर आया जो चक्र मे चतुर्थ है। तथा, शक सवत् २४१ प्रचलित वर्ष (३१८–१९ ई०) के प्रारम्भ के समय अगरिस संवत्सर था, जिसका चक्र मे छठा स्थान है और तत्पश्चात् फरवरी ३१९ ई० मे फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष के नवे दिन श्रीमुख नामक सातवा सवत्सर आया। इस प्रकार, शक सवत् १ तथा शक सवत् २४१ की अवधि के बीच चार पूर्ण चक्र तथा तीन सवत्सर व्यतीत हुआ, और अत जबतक गुप्त सवत् का प्रारम्भ काल तीन वर्ष और पहले ३१५–१६ ई० मे न माना जाय, उसका निश्चयन इस प्रकार के किसी आकलन से नही हो सकता था।

और न ही इसका निश्चयन बृहस्पति नक्षत्र के द्वादशवर्षीय चक्र से हो सकता है जिसके वर्षों का नियमन या तो बृहस्पति द्वारा राशिचक्र के एक राशि से दूसरे मे स्थानान्तरण के आधार पर होता है अथवा, जैसी कि प्राचीनतर पद्धति थी, इसका नियमन बृहस्पति नक्षत्र के चन्द्रमा के किसी विशेष घर मे सूर्य-सहोदय के आधार पर होता है।[1] सर्वप्रथम, राशि-स्थानान्तरण पद्धति पर विचार करने पर श्री श० ब० दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि शक सवत् १ प्रचलित वर्ष (७८–७९ ई०) के प्रारम्भ के समय सवत्सर महा-आश्वयुज था जो चक्र मे बारहवा है, अगले चक्र के पहले सवत्सर महा-कार्तिक द्वारा पहले के अनुसार, दिसम्बर ७८ ई० मे पौष पूर्णिमा के दिन इसका अनुगमन हुआ। दूसरी ओर, शक सवत् २४१ प्रचलित वर्ष (३१८–१९ ई०) के प्रारम्भ के समय चक्र का तीसरा महा-पौष नामक सवत्सर चल रहा था जिसका अनुगमन, पहले के अनुसार, फरवरी ३१९ई० मे फाल्गुन शुक्ल पक्ष के नवे दिन महा-माघ नामक चक्र के चतुर्थ सवत्सर द्वारा हुआ। तथा, सूर्य-सहोदय-पद्धति के अनुसार, शक सवत् १ प्रचलित वर्ष (७८–७९ ई०) के प्रारम्भ के समय चक्र का ग्यारहवा सवत्सर महा-भाद्रपद चल रहा था, इसका अनुगमन अप्रेल ७८ ई० मे, वर्ष के प्रारम्भ के शीघ्र पश्चात्, वैशाख शुक्ल पक्ष के बारहवें दिन महा-आश्वयुज द्वारा हुआ जो चक्र का बारहवा सवत्सर है। दूसरी ओर, शक सवत् २४१ चालू वर्ष के प्रारम्भ के समय (३१८–१९ ई०) के चक्र का तीसरा संवत्सर महा-पौष चल रहा था जिसके पश्चात् जुलाई ३१८ ई० मे श्रावण मास के शुक्ल पक्ष के छठे दिन चक्र का चौथा सवत्सर महा-माघ प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार शक सवत् १ तथा शक सवत् २४१ की अवधि मे राशि स्थानान्तरण पद्धति के अनुसार बीस पूर्णचक्र तथा तीन सवत्सर तथा, सूर्य-सहोदय-पद्धति के अनुसार, बीस चक्र तथा चार सवत्सर व्यतीत हो चुके थे, तथा गुप्त सवत् के प्रारम्भ का निश्चयन इस चक्र से सबद्ध किसी आकलन द्वारा नही हो सकता था जब तक कि इसे ३१५–१६ ई० अथवा ३१४–१५ ई० मे न रखा जाय।

किन्तु, अन्य तीन सिद्धान्त और भी जटिल हैं, और उन्हे ठीक-ठीक समझने और उनका सही मूल्याकन करने के लिए उनके आधारभूत तथ्यो तथा खोजो की सक्षिप्त जानकारी तथा उनके समर्थन मे प्रयुक्त तर्कों का ज्ञान आवश्यक है। हम यहा पुरालिपिशास्त्र, मुद्राशास्त्र, वास्तुकला, समसामयिक इतिहास इत्यादि असगत समस्याओ के लम्बे विवाद मे नही पडना चाहते क्योकि, यदि सही विधि का प्रयोग किया जाय तो, इन समस्याओ का समाधान तिथियो से होना है न कि इनसे तिथियो का। अत इन पर विचार तबतक के लिए स्थगित कर देना चाहिए जबतक कि प्रारम्भिक गुप्त तिथिक्रम का समाधान नही हो जाता।

गुप्त सवत् के विषय मे सर्वप्रथम उल्लेख अथवा उसके काल के सम्बन्ध मे किसी सामान्य उल्लेख के अतिरिक्त, गुप्तो से सम्बन्धित किसी सवत् के अस्तित्व के विषय मे प्रथम सकेत – जो मुझे

---

१ बृहस्पति नक्षत्र के द्वादशवर्षीय चक्र की पद्धतियों की व्याख्या के लिए देखिए, नीचे परिशिष्ट ३।

सारणी संख्या २

वलभी के शासको की वंशावली
भटार्क, सेनापति
धरसेन प्रथम सेनापति
द्रोणसिंह महाराज
ध्रुवसेन प्रथम महाराज, महासामन्त, महाप्रतिहार, महादण्डनायक, तथा, महाकार्ताकृतिक (गुप्त सवत् २०७)
धरपट्ट महाराज
गुहसेन महाराज (गु०स०२४० (२३७), २४६ २४८)
धरसेन द्वितीय सामन्त, महासामन्त, महाराज तथा महाराजाधिराज (गु०स०२५२, २६६, २७०)
शीलादित्य प्रथम अथवा, धर्मादित्य प्रथम (गु०स० २८६, २९०)
खरग्रह प्रथम
धरसेन तृतीय
ध्रुवसेन द्वितीय अथवा बालादित्य (गु०स० ३१०)
देरभट
शीलादित्य द्वितीय
खरग्रह द्वितीय अथवा धर्मादित्य द्वितीय (गु०स० ३३७)
ध्रुवसेन तृतीय
धरसेन चतुर्थ परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर तथा चक्रवर्तिन् (गु०स० ३२६, ३३०)
शीलादित्य तृतीय परमभट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर (गु०स० ३५२)
शीलादित्य चतुर्थ परम भट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर (गु०स० ३७२)
शीलादित्य पचम् परमभट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर (गु० स० ४०३)
शीलादित्य षष्ठम् परमभट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर (गु० स० ४४१)
शीलादित्य सप्तम् अथवा ध्रुभट (ध्रूवभट) परमभट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर (गु०स० ४४७)

ज्ञात है, वह है १८३८ मे जर्नल आव द बंगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ७, पृ० ३६ ई० मे स्कन्दगुप्त के कहौम स्तम्भ लेख (स० १५) पर श्री जेम्स प्रिंसेप का विवेचन। उनके द्वारा किए गए लेख के अनुवाद के अनुसार इस लेख की तिथि (वही, पृ० ३७) थी – "स्कन्दगुप्त की मृत्यु के उपरान्त एक सौ तैंतीसवें वर्ष में", इस पर टिप्पणी करते हुए प्रिंसेप ने (वही, पृ० ३८) कहा – "कुछ रहस्यपूर्ण तरीके से यहा इस शासक की मृत्यु को एक तिथिकाल के प्रारम्भ बिन्दु के रूप मे प्रयुक्त किया गया है।" यह उपकल्पित रहस्यमयता उस विधा की ओर निर्देश करती है जिसके आधार पर १३३ की सख्या – अथवा, जैसा कि अधिक ठीक जान पडता है, १४१ की सख्या – उपलब्ध होती है। जहा तक दूसरी बात का प्रश्न है, स्कन्दगुप्त की मृत्यु की तिथि का उल्लेख देखने का कारण लेख की द्वितीय पक्ति के अन्तिम शब्द का अशुद्ध पाठ है। वहा शुद्ध पाठ शान्त शब्द का अधिकरणकारण मे बनने वाला रूप शान्ते है जो उसी पक्ति के राज्ये शब्द से सगति रखता है, इसका अर्थ होगा – "(स्कन्दगुप्त के) शान्त शासनकाल मे।" किन्तु श्री प्रिंसेप ने इसे शान्ते पढा जो शान्ति शब्द से अपादानकारक अथवा सम्बन्धकारक मे एक वचन का रूप है, यह पाठ करने पर इसका अनुवाद "मृत्यु के उपरान्त" "शान्ति अर्थात् मृत्यु के पश्चात्" या स्कन्दगुप्त की "मृत्यु के पश्चात्" के अतिरिक्त और कुछ करना और लेख मे उल्लिखित वर्षों का उस घटना के समय से प्रारभ हुआ मानना असभव सा था। उस समय इस समस्या पर कोई विचार विमर्श नही हुआ। किन्तु, स्कन्दगुप्त प्रारभिक-गुप्त राजवश की सीधी वश-परपरा मे उस समय अन्तिम ज्ञात शासक था और अब भी वह अन्तिम ज्ञात शासक है। और यह स्पष्ट है कि उपरोक्त अनुवाद ने ही इस विचार को जन्म दिया कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु के उपरान्त गुप्त सत्ता के नाश के समय से किसी सवत् का प्रारम्भ हुआ। हमारी वर्तमान समस्या के प्रसग मे यदि श्री प्रिंसेप के लेखो मे कुछ और महत्वपूर्ण है तो वह है उसी जिल्द मे (पृ० ३५४) उनका यह अभिकथन कि वलभी राजपत्रो मे विक्रम सवत् का प्रयोग हुआ है।

१८४५ मे रेनाद ने फ्रैगमा अरेब ए परसां (Fragman Arebes e Persans) शीर्षक के अन्तर्गत भारतवर्ष से सबधित कृतियो के कुछ उद्धरणो को उनके फ्रेंच भाषा के अनुवादो के साथ पुनर्प्रकाशित किया, जिन्हे वे पहले सितम्बर-अक्टूबर १८४४ तथा फरवरी-मार्च १८४५ के जर्नल एशियाटिक के सस्करण मे अलग से प्रकाशित कर चुके थे। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, इस पुस्तक मे उन्होने अलबेरुनी का अनुवाद इस प्रकार किया है(वही,पृ० १४३) जैसे वह यह कह रहा हो कि गुप्त सवत् का प्रारम्भ गुप्तो के पतन के समय से हुआ। वे इस विशेष प्रश्न पर प्रिंसेप का कोई उल्लेख करते नही दिखाई देते। किन्तु, अपनी पुस्तक मे वे आदि से अन्त तक प्रिंसेप के तथा अंग्रेजी भाषा मे लिखे गए अन्य लेखो से परिचित दिखाई पडते हैं जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने निश्चितरूपेण प्रिंसेप का कहौम लेख का अनुवाद तथा इस पर उनकी टिप्पणियो को पढा था। तथा, यद्यपि यह सभव है कि वे जान बूझ कर प्रिंसेप के विचारो से निर्दिष्ट न हुए हो, किन्तु इसमे कोई सदेह नही रह जाता कि अलबेरुनी के विवरण का अनुवाद करते समय उनके मस्तिष्क मे उनकी स्मृति थी। वस्तुत. यह अत्यन्त कठिन दिखाई पडता है कि श्री ब्लाखमैन, श्री रेहतसेक तथा प्रो० राइट के पाठो के होते हुए रेनाद कैसे, बिना इस प्रकार के किसी पूर्वप्रवृत्त प्रभाव के, अपने अनुवाद मे दिए गए शब्दो को पा सकते थे।

इसके पश्चात् १५ अप्रैल १८४८ को पढे गए एक लेख मे, जो १८५० मे जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, F S. जि० १२, पृ० १ इ० मे प्रकाशित हुआ, श्री टामस ने सौराष्ट्र तथा

काठियावाड के तथाकथित 'साह्' शासको[1] के राजवश से सबधित इतिहास पर विस्तार से विचार किया, और इस सदर्भ मे वे प्रारभिक-गुप्त तिथियो पर विचार करने के लिए बाध्य थे। उन्होंने यह मान्यता व्यक्त की कि रेनॉद के अलबेरूनी के विवरण के अनुवाद से तथा वलभी सवत् ६४५ के वेरावल अभिलेख मे यह सिद्ध होता है कि वलभी सवत् ३१९ ई० मे (वही, पृ० ४) अथवा ३१८–१९ ई० में (वही, पृ० ४, टिप्पणी १) प्रारम्भ हुआ, तथा अलबेरूनी के विवरण से यह प्रमाणित होता है कि इस तिथि के कुछ समय पूर्व गुप्तो ने गुजरात पर परम-प्रभुतासपन्न शासको के रूप मे शासन किया था, इन उपरोक्त मान्यताओ को स्वीकार करने से वे इन निष्कर्षों पर पहुँचे – १ कि ३१९ ई० मे प्रारम्भ होने वाले वलभी सवत् को वलभी के महाराज गुहसेन ने चलाया होगा और इस सवत् का प्रारम्भ उसके राज्यारोहण के समय मे अथवा उसके शासनकाल की किसी महत्वपूर्ण घटना से हुआ होगा, २ कि इसमे किसी प्रकार के सदेह के लिए स्थान नही है कि वे गुप्त जिन्होंने ३१९ ई० के कुछ समय पूर्व शासन किया था और इलाहाबाद, जूनागढ और भितरी अभिलेखो के गुप्त एक ही हैं, ३ कि सौराष्ट्र मे गुप्त भारतीय शको के तुरन्त बाद आए यद्यपि सिन्धु नदी के पश्चिम मे इन शको के चिह्न चतुर्थ शताब्दी के अन्त तक देखे जा सकते हैं, ४ कि तथाकथित साह् शासक भारतीय शको के पूर्व हुए थे। उसके तिथिक्रम सबधी निष्कर्ष उसी जिल्द के पृ० ४२ पर सारिणीबद्ध करके दिए गए हैं। ई० पू० १५७ के पूर्व उन्होंने "एक अथवा अधिक साह् शासको" को रखा है, जिनका उल्लेख पृ० ४९ पर "वर्ष के पुत्र ईश्वरदत्त" कहकर उल्लिखित किया गया है।[2] उसके पश्चात् १३ साह् शासक आए जिनकी

---

१ जैसा कि अन्यत्र (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ६५, ३२५) मैंने यह बताया है, 'साह्' नाम – तथा, इसके साथ, यह विचार कि ये शासक शक अथवा भारतीय-शक (इण्डो-सीथियन) थे – के मूल मे केवल यह तथ्य विशेष है कि प्रारभिक गुप्तो की रजत-मुद्राओ तथा यहां तक कि कुछ सुवर्ण-मुद्राओ के समान इस शृखला की रजत-मुद्राओ पर अकन के लिए प्रयुक्त सांचो मे सामान्यतया उन स्वर-चिन्हो को नहीं काटा जाता था जिनके लिए यह डर रहता था कि वे उपान्तस्थ लेख की पक्ति पर अथवा उसके ऊपर पडेंगे। गुप्त रजत-मुद्राओ मे बिना किसी अपवाद के इस पद्धति का पालन किया गया है, और इसी कारण इस प्रकार के लेख (वही पृ० ३५ ६०) मिलते हैं – परमभगवत – महरजधरज श्र-चन्द्रगुप्त-वक्रमदतय जो परमभागवतमहाराजाधिराज-श्री चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य के लिए है और जिसका अर्थ है, "ईश्वर का परम श्रद्धालु भक्त महाराजाधिराज कीर्तिमान् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य।" सौराष्ट्र मुद्राओ पर इस विधि का पालन लगभग सर्वथा किया जाता था किन्तु इस ठीक रूप मे नहीं, इस विधि के आंशिक पालन के दृष्टान्त स्वरूप हम इस प्रकार के लेख लें (वही, पृ० ३२५) – रज्ञ महक्षत्रपस रुद्रदम्न पुत्रस रज्ञ महक्षत्रपस रुद्रसीहस जिसमें अन्तिम शब्द मे पक्ति के ऊपर जाने वाली मात्रा ई का प्रयोग अपवादरूप मे हुआ है, तथा यह लेख राज्ञो महाक्षत्रपस्य रुद्रदाम्न पुत्रस्य राज्ञो महाक्षत्रपस्य रुद्रसीहस्य के लिए है जिसका अर्थ है – "राजा महाक्षत्रप रुद्रदामन के पुत्र राजा महाक्षत्रप रुद्रसीह का।" सीह अर्थात् सिंह शब्द कई क्षत्रपो अथवा महाक्षत्रपो का नामान्त है। और चू कि दीर्घ ई अथवा अनुस्वार से अनुगत ह्रस्व इ (ि) को सामान्यतया मुद्राओ पर अकित नहीं किया जाता है और परिणामस्वरूप सह तथा सहस्य पाठ बनता है, इस कारण इन शासको को 'सह' अथवा 'साह्' नाम वाले कल्पित राजवश का मान लिया गया। और केवल इसी कारण से कभी कभी सूची मे कुछ नामों का सेन पाठ किया गया है।

२ अर्थात्, यदि शब्दश अर्थ करें तो "वर्ष (साल) का पुत्र ईश्वरदत्त"!! उसकी मुद्रा पर प्राप्त लेख (वही, पृ० ५०) वर्ष पुथ मे समाप्त होता हुआ बताया गया है जिसमें पुथ को सस्कृत पुत्र अर्थात् "पुत्र (लडका)" के प्रतिस्थानी के रूप मे लिया गया है (वही, पृ० ५१)!! वास्तव मे ये दो अक्षर सस्कृत शब्द प्रथमे के प्रथम दो अक्षर हैं – वर्षे प्रथमे = "प्रथम वर्ष में", द्र० न्यूटन, जर्नल आफ द बाम्बे ब्रान्च आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ७, पृ० ८, तथा प्रतिचित्र स० ८, टामस के लेख के साथ दिया गया प्रतिचित्र १, स १ भी देखिए जिसमें लेख लगभग समानरूपेण स्पष्ट मिलता है।

मुद्रा-तिथियो को उस सवत् की चौथी शताब्दी मे रखा गया जिसका तादात्म्य अलवेरूनी द्वारा उल्लिखित ४५७ ई० मे प्रारम्भ होने वाले हर्ष सवत् से किया गया, एव तत्परिणामस्वरूप इन तेरह शासको का समय १५७ ई० पू० से ५७ ई० पूर्व निश्चित हुआ। इसके पश्चात् भारतीय-शको का पदार्पण हुआ जिसके लिए २६ ई० पू० का समय निश्चित किया गया। उसके बाद गुप्त शासक आए। एव तत्पश्चात् ३१६ ई० मे वलभी सवत् का प्रारम्भ हुआ। यह एक रोचक बात है कि इस सारिणी मे गुप्तो के लिए किसी सवत् का उल्लेख नही किया गया है। किन्तु, सभवत यह मुद्रण की त्रुटि थी क्योकि पृ० ४ पर प्रारम्भ होने वाली टिप्पणी मे हम यह स्पष्ट कथन पाते है (वही,पृ० ५) कि गुप्त अभिलेखो तथा वलभी राजपत्रो की तिथिया शक सवत् मे दी गई है। इन उपरोक्त निष्कर्षो मे यह सूचना पहली बार मिलती है कि वलभी शासको ने अपना स्वतन्त्र सवत् चलाया, जो गुप्तो के पतन के समय से प्रारम्भ होता था, किन्तु अपने सवत् से अधिक गुप्त सवत् को मान्यता देते हुए उसका प्रयोग करते रहे,३१६ ई० से पूर्व के किसी सवत् विशेष की भी सूचना सर्वप्रथम वही दी गई जिसमे कि गुप्त तिथियो को रखा जाना चाहिए। एक बात जिस पर श्री टामस स्पष्टत' कुछ बल देना चाहते थे (वही,पृ० १३ इ०) वह है अलवेरूनी का यह विवरण – जो हिन्दू परम्परा पर आधारित है किन्तु जो प्रयोग मे इससे भिन्न है–कि शक सवत् का प्रारम्भ विक्रमादित्य द्वारा शक अथवा सीथियन शासक के पराजय तथा मृत्यु की स्मृति मे हुआ तथा, जैसा कि अलबेरूनी से ज्ञात होता है,यह विक्रमादित्य विक्रम सवत् के अनुमानित सस्थापक से भिन्न है, इसके साथ यह भी स्मरणीय है कि कुछ प्रारभिक गुप्त मुद्राओ पर गौण विरुद के रूप मे विक्रमादित्य नाम प्राप्त होता है।[1] तथा अपने विचारो के समर्थन मे (वही पृ० १२,टिप्पणी ४) उन्होने मेजर किट्टो (Kittoe) से लेकर कर्नल साइक्स (Sykes) तक के इस आशय के कुछ अभिकथनो को उद्धृत किया कि १६३ वर्ष मे अकित (स० २२, पृ० १००) महाराज हस्तिन् का दान लेख – यह महाराज इलाहाबाद स्तम्भ लेख की बीसवी पक्ति मे उल्लिखित वेगी के शासक हस्तिवर्मन् से अभिन्न है, इस मान्यता के आधार पर–यह प्रदर्शित करता है कि समुद्रगुप्त के समय मे गुप्त राजवश के एक सौ तिरसठ वर्ष व्यतीत हो चुके थे और'इस प्रकार, इससे यह प्रमाणित होता है, कि गुप्तो ने द्वितीय शताब्दी ई० तक शासन किया। किन्तु यह भी टामस द्वारा उल्लिखित चन्द्रगुप्त नामक शासक विशेष के १७२ ई० से बिल्कुल मेल नही खाता है जिसकी तिथि गुप्त सवत् मे ६३ है तथा जो समुद्रगुप्त का पिता अथवा पुत्र ही हो सकता था।

१८५४ मे जनरल कनिंघम ने अपनी पुस्तक भिलसा टोप्स को प्रकाशित किया जिसमे, पृ० १३८ इ० पर, उन्होने इस तथ्य की ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाया कि अलबेरूनी गुप्त तथा वलभी सवतो का तीन बार उल्लेख करता है एव उनका तादात्म्य करता है, तथा वह प्रत्येक उल्लेख मे इन्हे ३१६ ई० से प्रारम्भ होता हुआ मानता है। उन्होने आगे वह लिखा है – "किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि इनमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवतरण विकृत अथवा रहस्यमय है, क्योकि रेनॉद के अनुवाद के अनुसार गुप्तो का सवत् उनके नाश के समय से प्रारम्भ होता है। यदि यह अनुवाद सत्य है तो इसमे किसी प्रकार का सदेह नही रह जाता कि अबूरिहान का मूल त्रुटिपूर्ण है क्योकि हम यह निश्चित रूप से जानते है कि पाचवी-छठी शताब्दी ई० मे गुप्त शासन कर रहे थे। रेनॉद के अनुवाद मे दिया गया विवरण इतना असाधारण है कि इसकी अशुद्धि दिखाने वाले बिना किन्ही अन्य प्रत्यक्ष प्रमाणो के ही मैं

---

१ मेरे विचार से यह सर्वथा असभव नही है कि इसके पश्चात् यह दिखाया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम अथवा द्वितीय द्वारा भारतीय शको की पराजय की कुछ विस्मृ खलित स्मृति के परिणामस्वरूप विक्रम अथवा विक्रमादित्य नाम ५७ ई० पू० के मालव सवत् के साथ सवद्ध हो गया। किन्तु शक सवत् के संस्थापन के प्रश्न का इससे कोई सवध नही है।

इसे त्रुटिपूर्ण कहकर निराकृत कर देता। मेल्यूकिद सवत् सेल्यूकस द्वारा सीरिया राजवश की स्थापना से प्रारम्भ हुआ, ईसवी सन् का प्रारम्भ ईसाई धर्म की स्थापना के समय से होता है, तथा गुप्त सवत् का प्रारम्भ, विना किसी सदेह के, उनके राजवश की स्थापना के समय से हुआ जो, उनके द्वारा यह नाम न दिए जाने पर भी, वास्तव मे एक गुप्त-काल था और, इस कारण, लोगो द्वारा इसी नाम से अभिहित किया गया होगा।" तथा, कनिघम ने अलवेरूनी का एक दूसरा अनुवाद सुझाया जिसका आशय यह था कि गुप्तो के विनाश के साथ साथ गुप्त-सवत् समाप्त हो गया, न कि गुप्त-सवत् का प्रारम्भ उनके विनाश के समय से हुआ, अपनी पुस्तक मे सर्वत्र उन्होने गुप्त तिथियो के लिए ३१९ से प्रारम्भ होने वाले गणना-क्रम का व्यवहार किया। यदि जनरल कनिघम, जो प्रिंसेप की मृत्यु के उपरान्त पुरातत्व के क्षेत्र मे हमारे अग्रणी थे, अपने इन विचारो पर टिके रहे होते तथा उन्होंने अपने अन्य शोधकार्यों को इनके आधार पर किया होता तो सभवत गुप्तो के लिए और प्राचीन तिथि निर्धारित करने वाले किसी सिद्धान्त के विषय मे हम फिर नही सुनते। किन्तु, जैसा कि हम देखेंगे, वे शीघ्र ही अन्य विचारो मे आस्था रखने लगे।

१८५५ मे, श्री टामस ने जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३७१ इ० में प्रकाशित 'आन दी एपक आफ द गुप्त डायनेस्टी' शीर्षक अपने लेख मे भिलसा टोप्स मे प्रकाशित जनरल कनिघम के विचारो तथा तर्कों का विशेष उत्तर दिया। इस लेख मे ऐसा कुछ भी नही है जो यहा उद्धत किया जाय। अत हम १८५८ मे पहुँचते हैं जब अपने सम्पादकत्व मे उन्होंने एसेज आफ इन्डियन ऐन्टिक्विटीज शीर्षक के अन्तर्गत श्री जेम्स प्रिंसेप, जिनका इस समय तक देहावसान हो चुका था, के लेखो का सग्रह प्रकाशित किया। हिन्दू सवतो के प्रसग मे प्रिंसेप ने वलभी सवत् का उल्लेख किया था (वही, जि० २, लाभप्रद सारणिया, पृ० १५८) जिसके लिए उन्होने, ९४५ वलभी सवत् वाले सोमनाथपाटन अथवा वेरावल अभिलेख के आधार पर, ३१८ ई० की तिथि निर्धारित किया था। किन्तु उन्होंने गुप्त-सवत् का कोई उल्लेख नही किया था। तथापि श्री टामस ने (वही, जि० १, पृ० २७० इ०) यहा अपने इस पूर्व व्यक्त मत का समावेश किया कि गुप्त तिथिया शक सवत् की हैं तथा कुछ अन्य तथ्यो को सामने रखा जो उनके विचार की पुष्टि करते प्रतीत होते थे। तथा, इस अवसर पर उन्होने कुछ सामान्य निष्कर्ष (वही, जि० १, पृ० २७६) सामने रखे – यह कि वलभी राजपत्रो की तिथियो को ३१८–१९ ई० के वलभी सवत् मे रखे जाने पर अत्यन्त अर्वाचीन समय प्राप्त होगा, यह कि तिथिया उन क्रमवद्ध शृ खलाओ से सवद्ध नही प्रतीत होती हैं जिनमे स्वय गुप्तो द्वारा प्रयुक्त अक प्राप्त होते हैं, और यह कि गुप्त तिथियो को शक सवत् से सवद्ध मानते हुए भी, वलभी लेखो को – 'हृदयमानत चाहे इसमे किसी प्रकार की असगति भी हो – विक्रम सवत् मे रखना अधिक उचित जान पडता है। यह उल्लेखनीय है कि उन्होने (वही, जि० १, पृ० २७१, टिप्पणी १) अलवेरूनी के मौलिक शब्दो मे आए एक शब्द के अर्थ में परिवर्तन प्रस्तावित किया, वह है – "तत्पश्चात् क्कवत काल (गुप्त सवत्), वह, जैसा कि कहा जाता है, दुष्ट तथा शक्तिशाली वश था, जब यह समाप्त हो गया, इसकी गणना तब से की गई, तथा (यह प्रतीत होता है कि) **बलब उनमे अन्तिम था** क्योकि उनके सवत् का भी प्रथम वर्ष शक-काल के २४१ वर्ष बाद पडता है।" किन्तु जिन शब्दो का उन्होने "जब यह समाप्त हो गया, तब से इसकी गणना हुई" – यह अनुवाद किया, उनका सर्वथा शाब्दिक अनुवाद करने मे वे सफल नही हो सके। अशत इस कारण से और अशत जैसा कि उसके तिरछे छपे शब्दो से स्पष्ट होता है, उनका ध्यान मुख्यत वलभी के शासको तथा गुप्तो के बीच के सबधो पर केन्द्रित होने से, वे इस अवतरण के उस महत्वपूर्ण सवध को न देख सके जो इसका गुप्त तथा वलभी सवतो के प्रारम्भ काल मे है। इस समस्या पर किए गए अपने इस विचार मे उन्होंने प्रो० लैसेन के मतो (इडिश-आल्टरथुमस्कून्द, जि० २) को यह सिद्ध करने के लिए उद्धृत किया कि गुप्तो का उदय १५० ई०

तथा १६० ई० के बीच मे हुआ, किन्तु, इस मत के परीक्षण का मुझे अभी तक कोई अवसर नही प्राप्त हुआ है।

इसी बीच १८५३, १८५७, एव १८५८ मे, चीनी यात्री ह्वेनसाग की जीवनी तथा यात्रा-विवरण का स्टैनिसलास ज्यूलिएन (Stanislas Julien) के फ्रेंच अनुवाद का प्रकाशन हो चुका था, इस ग्रन्थ मे यह महत्वपूर्ण अभिकथन प्राप्त होता है कि जब यात्री वलभी आया – यह घटना ६४० ई० की है – उस समय शासन करने वाला नरेश मालव के शीलादित्य का भानजा तथा कन्नौज के शीलादित्य का जामाता था। वह क्षत्रिय था तथा उसका नाम तोउ-लोउ-फो-पो-थो (वही, जि० १, पृ० २०६), ताउ-लोउ-पो-पा- छा (वही, जि० १, पृ० २५४), अथवा थोउ-लोउ-फो-पो-तोउ (वही, जि० ३, पृ० १६३) था। मूल सस्कृत नाम के जूलिएन ने ये रूपान्तर किए जिसे कालान्तर मे उन्होने "ध्रौवपटोउ" अर्थात् ध्रुवपटु पढा। और यह पहले ही सुझाया जा चुका था कि यह नाम वलभी के ध्रुवसेन नाम धारी शासको मे से किसी एक का है। स्वय टामस ने (प्रिंसेप्स एसेज, जि० १, पृ० २६७, टिप्पणी ४) इस उपकल्पित तादात्म्य को कोई महत्व नही दिया था। किन्तु ह्वेनसाग के कथन को –और यह उचित ही था–इस गवेषण के प्रसग मे एक महत्वपूर्ण साक्ष्य माना जाने लगा था। और इसीलिए, आगे दी गई सारिणी स० २ मे, मै शीघ्र निरीक्षण हेतु वलभी राजवश की पूर्ण वशावली दे रहा हूँ जिसमे इसके शासको के नाम, उनके विरुद तथा – जहा तक मैं उनकी सत्यता की जाच कर सका हूँ – उनकी तिथिया दी गई है। यहा मैं ह्वेनसाग के विवरण के सम्बन्ध मे दो एक बातो की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जिनका अभी तक हल नही खोजा जा सका है। चीनी यात्री की जीवनी तथा यात्रा विवरण पर अपने सामान्य विवरण मे श्री जूलियन (वही, जि० १, पृ० २०६), वलभी राज्य के प्रसग मे उसे यह कहते हुए चित्रित करते हैं कि "वर्तमान शासक क्षत्रिय (त्स-ति-लि) है, वह कन्याकुब्ज (किए-जो-किओ-चे) के शासक शीलादित्य (चि-लो ओ-तिए-तो) का जामाता है, और उसका नाम ध्रुवपटु (तोउ-लोउ-फो-पो-थो) है।" दूसरी ओर, उसकी यात्रा के और विस्तृत विवरण मे, इसी सदर्भ मे श्री जूलियन उसे एक शासक नही अपितु कई शासको के विषय मे चर्चा करते हुए तथा यह कहते हुए (वही, जि० ३, पृ० १६३) दिखाते हैं कि, "वर्तमान शासक क्षत्रिय (त्स-ति-लि) है, वे मालव राज्य (मो-ला-फो) के शासक शीलादित्य (चि-लो ओ-थिए-तो) के भानजे है। कन्याकुब्ज राज्य (किए-जो-को-चे) के शासक राजा शीलादित्य (चि-लो-ओ-तिए-तो) के पुत्र का एक जामाता है जिसका नाम ध्रुवपटु (थोउ-लोउ-फो-पो-तोउ) है।" यह विचारणीय है कि १८८४ मे प्रकाशित श्री बील के बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, जि० २, पृ० २६७ मे इस दूसरे अवतरण में एकवचन का ही प्रयोग हुआ है – "अन्य सभी के समान, वर्तमान शासक क्षत्रिय है। यह मालव के शीलादित्यराज का भानजा तथा कन्याकुब्ज के वर्तमान शासक शीलादित्य का जामाता है। उसका नाम ध्रुवपटु (थु-लु-हो-पो-तु) है", किन्तु उन्होने अपने अनुवाद तथा श्री जूलियन के अनुवाद के बीच मे दृश्यमान महत्वपूर्ण भेद को व्याख्यायित नही किया है। और फिर, श्री जूलियन के अनुसार, (वही, जि० १, पृ० २५४, इ०, पृ० २६०) चीनी यात्री किसी ध्रुवपटु (तोउ-लोउ-पो-पा-छा) अथवा केवल पा-छा का उल्लेख करता है जो दक्षिण भारत का शासक था, किन्तु वलभी को किसी प्रकार दक्षिण भारत मे नही रखा जा सकता, दक्षिण भारत को वलभी के अन्तर्गत रखना तो और कठिन है, और यह अभिकथन इस तथ्य से असगति रखता है कि उस समय यदि समूचे दक्षिण भारत नही तो कम से कम दक्षिणी भारत के अधिकाश भाग का शासक पश्चिमी चालुक्य वश का पुलकेशिन् द्वितीय था, जिसके लिए एक भी ऐसे विरुद का उल्लेख नही मिलता जो चीनी रूपान्तर से सदृशता रखता हो, यह सदृशता केवल सत्याश्रय-ध्रुवराज-इन्द्रवर्मन के नाम के दूसरे भाग मे देखी जा सकती है, जो रेवतीद्वीप मे स्थित चार विषयो अथवा मण्डलों का स्वामी था एव जिसका उल्लेख पुलकेशिन् द्वितीय

के चाचा मगलीश[1], जिसने उनकी अल्पवयस्कता में शासन सत्ता सभाली थी, के गोआ दानलेख की चौथी पंक्ति में हुआ है। इन अवतरणों में कुछ ऐसे विचार्य-विषय प्राप्त होते हैं, ह्वेनसाग द्वारा अभिप्रेत किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के तादात्म्य के सबंध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुचने के लिए, जिन पर सावधानी से विचार होना आवश्यक है, इसीलिए और भी क्योंकि ज्ञात तिथियों के आधार पर यह किसी भी प्रकार वलभी का शीलादित्य प्रथम, केवल जिसके लिए हम दूसरा नाम ध्रुवभट पाते हैं, नहीं हो सकता, और क्योंकि जैसा कि श्री जूलियन बताते हैं, (वही, जि० ३, पृ० १६३, टिप्पणी) चीनी में ध्रुवभट्ट के नाम का चीनी रूपान्तर छग-जुह अर्थात् 'निरन्तर धीमान्' था, जो इस मान्यता की पुष्टि करता है कि जिस संस्कृत नाम का प्रथम भाग 'निरन्तर' अर्थवाला ध्रुव था उसका अन्तिम भाग पटु अर्थात् 'कार्यकुशल, निपुण तथा धीमान्' था न कि 'योद्धा' के अर्थवाला भट शब्द। यह आशा की जाती है कि ह्वेनसाग की जीवनी से सबधित जो अनुवाद श्री बील शीघ्र प्रकाशित करने वाले हैं तथा जो श्री जूलियन की तीन जिल्दों के समरूप होगा, उससे इन विवाद-विषयों पर कुछ प्रकाश डाला जाएगा।

१८६१ में स्वर्गीय डा० भाऊ दाजी द्वारा जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ८, पृ० १६ इ०, २०७ इ० में प्रकाशित उनके लेख "आन द सस्कृत पोएट कालिदास" के सदर्भ में यह प्रश्न फिर उठाया गया। जहा तक गुप्त सवत् का प्रश्न है, यहा उन्होंने केवल यह मत व्यक्त किया कि यह ३१९ ई० में वलभी सवत् के साथ प्रारम्भ हुआ। किन्तु उन्होंने एक महत्वपूर्ण बात की ओर ध्यान दिलाया (वही, पृ० २०७, टिप्पणी)। यह यह था कि कहौम स्तम्भ लेख, जिसका कि उन्हें डा० भगवान लाल इन्द्रजी द्वारा उनके लिए तयार किया गया अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक पाठ देखने का अवसर मिला था, में गुप्त राजवश के १४१ वे वर्ष की तिथि प्राप्त होती है तथा यह स्कन्दगुप्त के शासनकाल में लिखा गया था न कि, जैसा कि प्रिंसेप ने कहा था, उसकी मृत्यु के पश्चात्। इसके साथ ही उन्होंने यह मत भी व्यक्त किया (वही, पृ० २०८, टिप्पणी) कि ह्वेनसाग द्वारा उल्लिखित तो-लो-पो-पो-टो अथवा ध्रु-व-पो-टु का तादात्म्य महाराज धरपट्ट से किया जाना चाहिए जो वलभी राजवश के सस्थापक सेनापति भटार्क का चौथा तथा सबसे छोटा पुत्र था।

१८६१ में ही डा० फिट्ज एडवर्ड हाल (Fitz Edward Hall) ने जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३०, पृ० १ इ० में परिव्राजक महाराज हस्तिन् के दो दानलेखों को सम्पादित किया, जिनमें १५६ तथा १६३ तिथियाँ दी गई हैं (स० २१, तथा स० २२), चूकि इनमें उद्धृत बृहस्पति नक्षत्र वाले द्वादशवर्षीय चक्र के सवत्सरों की गणना अब अधिक निश्चयता के साथ हो सकती है अतः ये दानलेख अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं क्योंकि ये स्वयं को उस समय अंकित किया गया बताते हैं जब "गुप्त शासक शासन सत्ता का भोग कर रहे थे।" इससे पूर्व १८५८ में, श्री टामस द्वारा सम्पादित प्रिंसेप्स एसेज जि० १, पृ० २५१ इ० में एच० एच० विल्सन (H. H. Wilson) द्वारा इन दोनों लेखों के श्री टामस के पाठ के सम्मिलित अनुवाद में, इन्हें प्रकाश में लाया जा चुका था, किन्तु इनका पूर्ण रूप से प्रकाशन सर्वप्रथम हाल ने किया। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है गुप्त-नृप-राज्य-भुक्तौ अर्थात् "गुप्त शासकों के शासन-भोग के समय में" जिसे श्री टामस ने शुद्ध रूप से पढ़ा है तथा जिसका प्रो० विल्सन ने उपयुक्त अनुवाद किया है — "गुप्त शासकों द्वारा शासनसत्ता के अधिकारकाल (के १६३ वे वर्ष) में।" डा० हाल ने यही पाठ स्वीकार किया। किन्तु, अपने समर्थन में बिना किसी

---

1 जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १०, पृ० ३६५। यह सभव है कि यह व्यक्ति मगलीश का पुत्र हो, द्र०, मेरी पुस्तक, डायनेस्टीज आफ द कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स, पृ० २२।

साक्ष्य को उद्धृत किए उन्होने यह मत दिया (जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३०, पृ० ३ इ०, टिप्पणी) कि भुक्ति शब्द, जिसका शाब्दिक अर्थ "आनन्द उठाने अथवा खाने का कार्य, भोग, खाना, अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति अथवा उपलब्धि" होता है, 'कालिक उपसर्ग से विशेषित न होने पर केवल भूतकालिक 'उपलब्धि' अथवा 'अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति' का परिचायक होता है", और उन्होने वाक्य का अनुवाद इस प्रकार किया है (वही, पृ० ७) – 'गुप्त शासको की राज्य सत्ता के नाश के (एक सौ छप्पन वर्ष) बाद", अन्यत्र फिर (वही, पृ० १२) उन्होने अनुवाद किया है – "गुप्तो की प्रभुसत्ता समाप्त हो जाने के (एक सौ तिरसठ वर्ष) बाद।" और इस प्रकार, उन्होने दृश्यमानत इस बात का एक निर्णयात्मक साक्ष्य प्रस्तुत किया कि यह सवत्-विशेष गुप्त शासको के पतन के समय से प्रारम्भ होता था। इसके समर्थन मे उन्होंने (वही, पृ० ५, टिप्पणी), अब पूर्णत अस्वीकृत, अलबेरूनी द्वारा उल्लिखित इस हिन्दू परम्परा को उद्धृत किया कि शक सवत् का प्रारम्भ शको के विनाशकाल से प्रारम्भ हुआ था। अपने विवरण मे आगे उन्होने कहौम स्तम्भ लेख के प्रथम श्लोक के अपने पाठ तथा सशोधित अनुवाद को प्रस्तुत किया जिसमे उन्होने यद्यपि द्वितीय पक्ति के अन्त मे शान्ते इस शुद्ध पाठ को स्वीकार किया, किन्तु, उन्होने प्रिंसेप के अनुवाद के सामान्य अभिप्राय का ही अनुसरण किया और तिथि-निर्धारण यह किया – "जबकि स्कन्दगुप्त का साम्राज्य समाप्त हुए एक सौ इक्तालीस वर्ष हो चुके थे।" इसमे उन्होने यह वक्तव्य जोडा – "पहले प्रस्तावित किए गए एक प्रस्ताव के स्थान पर मैं अब इस मत को उपयुक्त मानता हूँ कि कहौम अभिलेख मे तिथ्यकन गुप्त राजवश के पतन के समय से हुआ है, जिसमे स्कन्द अन्तिम शासक रहा होगा।" उन्होने ये शब्द १८५९ मे जर्नल आफ द अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी, जि० ६, पृ० ५३० मे इस श्लोक के विषय मे पूर्वाध्ययन को ध्यान मे रख कर कहे थे, उस समय उन्होने तिथि-निर्धारण इस प्रकार किया था – "एक सौ इक्तालीसवे वर्ष मे जब कि स्कन्दगुप्त का साम्राज्य अचल है", इसके साथ उन्होंने यह जोडा – "यहा, जैसी कि प्रिंसेप की मान्यता है, स्कन्दगुप्त की मृत्यु के विषय मे कुछ भी नही लिखा है, चूकि स्कन्दगुप्त गुप्त राजवश का न तो प्रथम शासक था, और न अन्तिम शासक था और न ही उसका कोई विशेष महत्व था, अत उसकी मृत्यु के समय से तिथ्यकन वस्तुत एक असाधारण बात होगी।" जहा तक महाराज हस्तिन् के दानलेखो मे प्राप्त अभिव्यक्ति का प्रश्न है, इसके अर्थ के विषय मे कुछ कहना लगभग व्यर्थ सा प्रतीत होता है क्योकि पूर्वाग्रहो से मुक्त किसी भी सस्कृतज्ञ विद्वान् के लिए इसका अर्थ एकदम स्पष्ट है। किन्तु, यह विस्मयजनक है कि कुछ त्रुटियो की जीवनी शक्ति कितनी अधिक होती है। अभी हाल मे मेरे सामने यह सुझाव रखा गया कि गुप्त सवत् के गुप्तो के विनाशकाल से प्रारम्भ होने के विषय मे अलबेरूनी के अपने अभिकथन का मूल कारण सभवत यह है कि उसे सूचना प्रदान करने वाले हिन्दू गुप्त-नृप-राज्य-भुक्तौ के अर्थ को ठीक ठीक नही समझ सकते थे। मैं केवल यह कह सकता हूँ कि किसी भी सस्कृतज्ञ हिन्दू के लिए यह सर्वथा असभव है कि वह इस पद का इसके अतिरिक्त कोई अर्थ करे कि इससे सबद्ध तिथि के समय गुप्त राज्य सत्ता अभी अस्तित्व मे थी। सस्कृत भाषा से परिचित किसी योरोपीय विद्वान् के लिए भी इसका कोई अन्य अर्थ करना असभव है जबतक कि वह किसी अत्यन्त सबल पूर्वाग्रह के प्रभाव मे न हो। उसी अक के पृ० १४ इ० पर हाल ने बुद्धगुप्त तथा तोरमाण के अभिलेखो के अपने पाठ प्रकाशित किए (स० १९ तथा स० २०), तथा इस प्रसग मे यह मत व्यक्त किया (वही, पृ० १५ टिप्पणी) के विक्रम सवत् मे रखे जाने पर बुधगुप्त के लेख के तिथिविषयक विवरण ठीक उतरते है और ईसवी सदी मे उसकी समकक्ष तिथि बृहस्पतिवार, ७ जून १०८ ई० (नवीन पद्धति) होगी। इस सामान्य प्रश्न पर उन्होने फिर उसी अक मे प्रकाशित अपने लेख (पृ० १३९ इ०) 'नोट आन बुधगुप्त' मे विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे (वही, पृ० १४८ ई०)

कि बुधगुप्त गुप्त राजवश के किसी और प्राचीन शाखा का प्रथम शासक था, जो उसके साथ ही समाप्त हो गई, तथा यह कि स्कन्दगुप्त एव उसके पूर्ववर्ती शासको के लेखो मे प्रयुक्त तिथिया सभवत २७८ ई० से प्रारम्भ होने वाले किसी सवत् मे थी जिसका, जैसा कि बनारस के प० वापूदेव शास्त्री ने वास्तविक गणना कर के वताया, (उसके राजवश द्वारा प्रयुक्त सवत् विशेष) ६०७ वर्ष मे अकित कल्चुरिशासक नरसिंहदेव के भेरघाट अभिलेख तथा ६२८ वर्ष मे अकित उसी शासक के तेवर अभिलेख के विवरण से मेल बैठता है।

१८६२ मे, जर्नल आफ द वाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ८, पृ० १ इ० में श्री न्यूटन ने "आन द साह, गुप्त एण्ड अदर ऐश्यन्ट - डायनेस्टीज आफ काठियावाड एण्ड गुजरात" शीर्षक एक लम्वा लेख प्रकाशित किया, यह मुख्य रूप से इन शासको की मुद्राओ के आधार पर लिखा गया था जिसमे इन मुद्राओ, और कम से कम तथाकथित साह मुद्राओ, का पहली बार सम्यक् परीक्षण किया गया। एव वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे (वही, पृ० ३०) कि साह मुद्राओ की तिथिया विक्रम सवत् की हैं, जिसका अभिप्राय यह होगा कि इस राजवश के शासको का काल-विस्तार ३० ई० अथवा ४० ई० से लेकर २४० अथवा २५० ई० तक था, कि (वही, पृ० ३६) गुजरात मे, उनके पश्चात् भारतीय शको का कोई व्यवधान हुए विना, कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त का शासनकाल आया, कि, इन दोनो के पश्चात् ३१९ ई० मे वलभी राजवश आया। किन्तु, उनके निष्कर्ष मुख्यत इस आधार पर स्थापित थे (वही, पृ० ३१) कि "श्री प्रिंसेप, श्री टामस एव प्रो० विल्सन इस विषय पर एकमत हैं कि साह शासक गुप्तो के पूर्व हुए तथा यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्त वलभी राजवश के पूर्व हुए", इसके साथ उनकी यह स्वीकृति जुटी थी कि वलभी सवत् – और इससे मैं निष्कर्ष निकालता हूँ कि गुप्तो के अन्तिम शासक के उपरान्त इस राजवश का उदय – का समय सतोषजनक रूप से ३१९ ई० निश्चित हो चुका था, यद्यपि उनका यह मत भी था (वही, पृ० ३०) कि यह अधिक सभव है कि वलभी दानलेखो की तिथिया विक्रम संवत् की हैं।

उसी अक के पृ० ११३ ई० मे डा० भाऊ दाजी ने स्कन्दगुप्त के जूनागढ शिलालेख का (सं० १४) अपना पाठ तथा अनुवाद एव उसी शिलाखण्ड पर अकित महाक्षत्रप रुद्रदामन का तथाकथित साह अभिलेख प्रकाशित किया। वर्तमान सदर्भ मे यह लेख इस कारण विशेष महत्व का है क्योकि स्कन्दगुप्त के लेख की १५ वी पक्ति मे डा० भाऊ दाजी ने गुप्त-प्रकाले गणनां विधाय, "गुप्तो की गणना-पद्धति मे गणना करके" के स्थान पर गुप्तस्य काला (ल) गणना विधाय" गुप्त सवत् से गणना करके" पढा (वही,पृ० १२३,१२९)। यह मान्यता कि सवत् का प्रारम्भ महाराज गुप्त, जिसे लेख मे इस राजवश का सस्थापक कहा गया है, के समय से हुआ, पूर्णत इस अशुद्ध पाठ पर आधारित है, तथा इस मान्यता, कि इस सवत् विशेष का पारिभाषिक नाम गुप्तस्यकाल अर्थात् "गुप्त का सवत्" था, का कारण भी यह अशुद्ध पाठ है। डा० भाऊ दाजी के इन दोनो अभिलेखो के अनुवादो से सवद्ध कुछ सामान्य विचार हैं जो और अधिक खोजो की सम्भावना प्रकट करते हैं, इनसे हमे ज्ञात होता है कि उस समय उनके ये विचार थे (वही, पृ० ११५) कि गुप्त तिथिया स्पष्टत गुप्त सवत् मे अकित हैं, तथा इन्हे वलभी सवत् से सवधित करना चाहिए, जिसके विषय मे ९४५ वलभी सवत् मे अकित वेरावल अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसका प्रारम्भ-काल ३१८ ई० था, कि कहौम अभिलेख के उनके सशोधित पाठ के अनुसार स्कन्दगुप्त को ४४८ से लेकर ४५९ ई० की अवधि के वीच मे रखना चाहिए, जो पाच अथवा दस वर्ष आगे या पीछे भी हो सकता है, कि स्वय वलभी दानलेखो की तिथिया शक सवत् की हैं और परिणामस्वरूप उस समय ज्ञात तिथिया ३८८ ई० से ४४३ ई० के वीच की अवधि की हैं, और यह कि, तदनुसार सेनापति भटार्क द्वारा स्थापित वलभी राजवश का उदय स्कन्दगुप्त से कुछ समय पूर्व हुआ।

१८६४ मे, जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ८, पृ० २२६,इ० मे प्रकाशित अपने लेख 'ब्रीफ सर्वे आफ इन्डियन क्रानालजी फ्राम द फर्स्ट सेन्चुरी आफ द क्रिस्चियन एरा टू द फिफ्थ" मे डा० भाऊ दाजी ने इस विषय को फिर लिया तथा इस अवसर पर उन्होने पर्याप्त अन्वेषण प्रस्तुत किए जैसा कि उन्होने पहले विश्वास दिलाया था। अपने लेख मे उन्होने शक सवत् ४०० की तिथि मे अकित वलभी के महाराज धरसेन द्वितीय के उस मिथ्या दान-लेख की ओर ध्यान दिलाया जिसे अब डा० व्यूलर (Buhler) ने इन्डियन एन्टीक्वेरी, जि० १०, पृ० २७७ इ० मे सम्पादित करके प्रकाशित किया है। डा० भाऊ दाजी ने इस लेख के जालीपन को पूर्णत स्वीकार किया। किन्तु, यह मानते हुए कि यह तिथि शक सवत् की चौथी शताब्दी की है – ठीक ठीक शक सवत् ४०० की नही – एव जाली होने पर भी यह एक प्राचीन लेख है तथा यह जालसाजी उस समय तक प्राप्त वलभी दानलेखो मे अन्तिम लेख के पचास वर्ष के भीतर की गई थी, डा० भाऊ दाजी ने यह मत व्यक्त किया (वही, पृ० २४४) कि "यह लेख मौलिक हो अथवा जाली हो, सवत् के नाम के सबध मे प्राप्त साक्ष्य का महत्व इससे कम नही होता क्योकि जालसाजी करने वाले व्यक्ति ने ठीक-ठीक वर्ष न देने की सावधानी बरती है तथा केवल सवत् विशेष की शताब्दी का उल्लेख किया है, इसकी सत्यता स्वीकार्य लगती है क्योकि जालसाजी करने वाले इस व्यक्ति से यह स्वाभाविक अपेक्षा की जा सकती है कि वह तिथि की गलती से बचना चाहेगा क्योकि अन्य किसी एक गलती की तुलना मे यह गलती लेख को विदूषित करने के लिए पर्याप्त होती।" उनके सामान्य निष्कर्ष अधिकाशत वही थे जो उन्होने पूर्व अवसर पर व्यक्त किया था, वे निष्कर्ष ये थे (वही, पृ० २४७) कि वलभी दानलेखो की तिथिया शक सवत् की हैं, जो सवत्, उनके अनुसार (वही, पृ० २३८) "नहपान ने चलाया था जो सभवतया एक पह्लव शासक था एव फ्रेह्टीज (Phrahtes) का वशज था", (वही, पृ० २४६) कि गुप्त सवत् का प्रारम्भ ३१८ ई० मे हुआ था तथा कुमारगुप्त एव स्कन्दगुप्त अन्तिम वलभी शासक के बाद आए, एव, तत्परिणामस्वरूप, यह कि (वही, पृ० २८७ इ०) यदि अलबेरूनी द्वारा उल्लिखित वलभी सवत् गुप्त सवत् से अभिन्न है तो यह निश्चित रूप से स्वय वलभी शासको द्वारा प्रयुक्त सवत् न होकर वह गुप्त सवत् है जिसका काठियावाड मे समावेश कुमारगुप्त एव स्कन्दगुप्त ने किया था। उनके इन निष्कर्षों ने उन्हे इस निष्कर्ष पर पहुँचाया(वही,पृ० २४९इ०)कि ह्वेनसांग की भारत यात्रा की तिथि को वस्तुत सामान्यत स्वीकृत एव सुस्थापित तिथि,अर्थात् ६३० ई० से लेकर ६४३ ई०, से लगभग साठ वर्ष पहले रखना चाहिए – यह एक ऐसा निष्कर्ष था जिस मात्र से उन्हें यह ज्ञात हो जाना चाहिए था उनके द्वारा प्राप्त परिणामो मे निश्चितरूपेण कोई गभीर त्रुटि है। और इस अवसर पर उन्होंने यह सुझाव (वही, पृ० २४६) रखा – जिसे बाद मे श्री फरगुसन ने स्वीकार किया और पुष्ट किया – अथवा कम से कम इस प्रत्यक्ष तथ्य की ओर विशेष ध्यान दिलाया कि गुप्त सवत् का प्रारम्भ शक सवत् के प्रारम्भ के उपरान्त वृहस्पति के चार षष्ठिवर्षीय चक्रो की समाप्ति के पश्चात् हुआ, किन्तु इस सुझाव से सगति बिठाने के लिए उन्हे अलबेरूनी के इस कथन को उपेक्षा करनी पडी कि इन दोनो सवतो के बीच दो सौ इक्तालीस वर्षों का अन्तर है, जो हर हालत मे साठ वर्ष वाले चार चक्रो से एक वर्ष अधिक होता है। स्पष्टत, ये निष्कर्ष उस सामान्य सभ्रान्ति के परिचायक हैं जिसमे उस समय यह समस्या पडी हुई थी।

इसी बीच, १८६३ मे, जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३२, पृ० २–११६ मे जनरल कनिंघम ने १८६१–६२ का पुरातात्विक विवरण प्रकाशित किया जो कालान्तर मे, १८७१ मे, आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया, जि० १, पृ० १–१३० मे पुनर्प्रकाशित हुआ, आगे मैं फिर इसकी चर्चा करूगा। इसमे उन्होने अपने इस पूर्व मत को छोड दिया कि गुप्त सवत् का प्रारम्भ ३१९ ई० से हुआ और इसके स्थान पर यह मत अपनाया कि यह तिथि वस्तुत इस राजवश के विनाश की तिथि

थी, तथा यह कि गुप्त तिथिया, जैसा कि श्री टामस ने प्रस्तावित किया था, शक सवत् मे रखी जानी चाहिए। फिर १८६५ मे, जर्नल ग्राफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३४, पृ० ११५ इ० मे प्रकाशित "क्वायन्स ग्राव द नाइन नागज" शीर्षक अपने लेख मे उन्होंने कहा कि गुप्त सुवर्ण मुद्राओ की भारतीय-शको की सुवर्ण मुद्राओ से तुलना करने पर तथा रजत-मुद्राओ की सौराष्ट्र की साह मुद्राओ से तुलना करने पर उन्होने यह पाया (वही, पृ० ११८) "कि प्राथमिक गुप्त नरेश निश्चितरूपेण कुषाण शको के प्रारम्भिक शासको के समसामयिक रहे होगे और तदनुसार उनकी तिथि ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के बाद की होनी चाहिए।" उनके मतानुसार एकमात्र प्रारूप जो इस राजवश की सभी ज्ञात तिथियों एव अवस्थाओ से सगत होवे, वह यह होगा कि चन्द्रगुप्त प्रथम को इसका सस्थापक मान लिया जाय, कि अलबेरुनी के अनुसार शक सवत् की स्थापना विक्रमादित्य नामक शासक ने शको के ऊपर अपने विजय के पश्चात् की थी, कि विक्रमादित्य नाम उन मुद्राओ पर प्राप्त होता है जो चन्द्रगुप्त प्रथम की मुद्राए मानी गई हैं, तथा यह कि इलाहाबाद स्तम्भ लेख मे चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र समुद्रगुप्त को शको से उपहार प्राप्त करते हुए बताया गया है। इन आधारो पर उन्होने यह मत व्यक्त किया (वही, पृ० ११९) कि उनका "झुकाव इस विचार की ओर अधिक था कि ७९ ई० मे प्रारम्भ होने वाला शक सवत् ही गुप्त राजवश का वास्तविक सवत् था तथा चन्द्रगुप्त प्रथम ने इसकी स्थापना की थी।"

१८७० मे श्री फरगुसन ने जर्नल ग्राफ द रायल ऐसियाटिक सोसायटी जिल्द ४, पृष्ठ ८१ इ० मे 'ग्रान इण्डियन क्रानालजी' शीर्षक अपना लेख प्रकाशित किया, जिसे दो वर्ष पूर्व, फरवरी १८६९ मे, वे सस्था के सामने प्रस्तुत कर चुके थे। इस लेख मे तथ्यो को अधिक विस्तार से उपस्थित किया गया था एव वे इस एक गभीर त्रुटि को छोड कर युक्ति सगत थे कि पूर्ववर्ती एव पश्चिमी चालुक्य तथा वलभी के शासक एक ही राजवश के थे, तथा चालुक्य उसकी दक्षिणी शाखा के थे (वही, पृ० ८९, ९१)। उनकी इस मान्यता का आधार केवल यह विश्वास जान पडता है कि (वही, पृ० ९४) पश्चिमी चालुक्य शासक पुलकेशिन् द्वितीय के पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय का पराभव धरसेन चतुर्थ द्वारा हुआ, जो वलभी राजवश का प्रथम प्रभुतासपन्न शासक था[१]। किन्तु यह एक सर्वथा त्रुटिपूर्ण विश्वास है जिसके पक्ष मे कोई साक्ष्य नही प्राप्त होता एव जिसके विपक्ष मे सबल एव प्रभूत साक्ष्य मिलते हैं। इसके अतिरिक्त, लेख मे कुछ अन्य महत्वपूर्ण त्रुटिया हैं—उदाहरणार्थ उनके द्वारा स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख मे डॉ० भाऊ दाजी के गुप्तस्य कालात् पाठ का समर्थन, किन्तु उसका भिन्न अनुवाद करना जिससे अर्थ "गुप्त के सवत् से" न होकर (वही, पृ० ११२) "गुप्तो के सवत् से" प्राप्त होता है, उनकी यह मान्यता (वही, पृ० १०८, १२६) कि ८२ वर्ष की तिथि से अकित उदयगिरि गुहालेख एव ९३ वर्ष की तिथि से अकित साची लेख चन्द्रगुप्त प्रथम के समय के है और, तदनुसार, उसका पुत्र समुद्रगुप्त ४११ ई० के पूर्व सिंहासनारूढ़ नही हुआ होगा, तथा उनका यह विचार (वही, पृ० ११८) कि एरण स्तम्भ लेख मे उल्लिखित बुधगुप्त तथा ह्वेनसाग द्वारा उल्लिखित मगध-शासक बुधगुप्त अभिन्न व्यक्ति हैं[२]। इन त्रुटियो को छोड कर उनके द्वारा प्रयुक्त तर्क एव प्राप्त

---

१ श्री फरगुसन धरसेन तृतीय कहते हैं, किन्तु यह स्पष्टत त्रुटि है।

२ इस विषय मे श्री फरगुसन ने लिखा—"यहां सकेतित वतनी के अन्तर को मैं महत्वपूर्ण नहीं समझता। ह्वेनसांग द्वारा दिए गए नाम को पहले सस्कृत से चीनी भाषा में और फिर चीनी से फ्रेंच मे अनूदित किया गया, और इस प्रक्रिया मे यह काफी परिवर्तित हो गया होगा।" अभी हाल में यही गलती फिर की गई है। अत मैं यहा यह कहना चाहता हू कि दोनों नाम पूर्णरूपेण भिन्न हैं और दो व्यक्तियों के हैं। जहा तक ह्वेनसाग द्वारा उल्लिखित शासक का प्रश्न है(बील का बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, जि० २,

निष्कर्ष बहुत कुछ युक्तिसगत है किन्तु वे तर्कमात्र के लिए प्रस्तुत किए गए हैं एव उनकी पुष्टि के लिए कोई निश्चित साक्ष्य नही दिए गए हैं। फरगुसन ने निम्न मान्यताए रखी (वही, पृ० ६०) कि यह अकल्पनीय है कि वलभी सवत् का प्रयोग स्वय वलभी के शासको ने न किया हो, कि (वही, पृ० ८६ ई०) वलभी तिथियो को ३१८ ई० के अनुसार परिवर्तित करने पर हम ध्रुवसेन नामक एक शासक पाते हैं जिसे ध्रुवपट्ट, जो ह्वेनसाग की भारतयात्रा के समय शासक था, माना जा सकता है, कि अलबेरूनी के इस कथन मे, कि गुप्त सवत् का प्रारम्भ गुप्त राजवश के विनाशकाल से हुआ था, अन्तर्निहित असभाव्यता के अतिरिक्त यह उल्लेखनीय है कि युद्ध, रक्तपात अथवा ऐसी कोई अन्य महत्वपूर्ण घटना नही घटी जिसे ३१८ ई० मे रखा जा सके, कि (वही, पृ० १०४) यदि स्वय गुप्तो की अर्वाचीनतम तिथि को, जो बुधगुप्त का १६५ वर्ष है, शक सवत् मे रखा जाय तो हमे २४० ई० की तिथि प्राप्त होती है, और इस प्रकार इस तिथि मे एव अन्तिम गुप्त शासक की तिथि ३१८ ई० मे पचहत्तर वर्षो का अन्तर छूटता है जिस अवधि मे किसी शासक का नाम नही मिलता—यदि (वही, पृ० १०७) इस तिथि को विक्रम सवत् मे रखा जाय तो और भी लम्बा अन्तर छूटता है, कि (वही, पृ० १२१) क्रमिक अनुगमन की परम्परा मे पहले तथाकथित साह शासक और फिर क्रमश गुप्त एव वलभी के शासक हुए। इन उपरोक्त आधारो पर तथा वास्तुकलात्मक, सामान्य ऐतिहासिक तथा मुद्राशास्त्रीय तर्कों के आधार पर, जो हमारे सम्प्रति प्रकट किए गए विचारो के क्षेत्र के बाहर पडते हैं, श्री फरगुसन इन निष्कर्षो पर पहुँचे (वही, पृ० १२८ ई०) कि ५७ ई० पू० मे प्रारम्भ होने वाला विक्रम सवत् तथाकथित साह राजवश द्वारा चलाया गया था, कि यह राजवश २३५ ई० तक शासन करता रहा, कि वहा इसके पश्चात् आन्ध्र राजवश का उदय हुआ, जिसमे उत्पन्न गौतमीपुत्र ३१८–१६ ई० मे पश्चिमी भारत का शासक था, कि उसी समय, सभवत. वलभी नगर की स्थापना का अवलम्ब लेकर, वलभी सवत् की स्थापना हुई, कि गुप्त राजवश का सस्थापक, महाराज गुप्त, आन्ध्र शासको मे से किसी का—किन्तु यह आवश्यक नही है कि वलभी नगर के निर्माण के समय—अधीनस्थ शासक रहा होगा, तथा यह कि प्रारभिक गुप्तो तथा वलभी के शासको ने इस प्रकार यह सवत् प्राप्त किया, जो कालान्तर मे इन दोनो के नाम से जाना जाने लगा। अपने इस लेख मे आगे श्री फरगुसन ने सर्वप्रथम यह सिद्धान्त प्रवर्तित किया कि (वही, पृ० १३१ इ०) ईसवी सदी के पूर्व अथवा उसके कुछ शताब्दियो बाद तक ऐसे किसी विक्रमादित्य का अस्तित्व नही था जो शको के परम्परागत शत्रु तथा विक्रम सवत् के सस्थापक के रूप मे प्रसिद्ध है, तथा यह कि "मालव के विक्रमादित्य (जिसे उन्होंने ४६० ई० तथा ५३० ई० के बीच मे रखा, वही, पृ० ६०) द्वारा इस नाम को भारी प्रसिद्धि दिलाए जाने के पश्चात्, ब्राह्मण धर्म का पुनर्जागरण होने पर हिन्दुओ ने एक ऐसे सवत् का प्रयोग करना चाहा जो, कम से कम, शालिवाहन के बौद्ध सवत् से (अर्थात् शक सवत् से) प्राचीनतर हो। उस समय नहपान द्वारा स्थापित साह सवत्, इस राजवश के पतन तथा वलभी सवत् मे अभिभूत हो जाने के कारण, रिक्त था, ब्राह्मणो

पृ० १६८ इ०, जूलियन का ह्वेनसांग जि० १, पृ० १४६, जि० ३, पृ० ४१ इ०)। हम फ्रेंच अथवा अंग्रेजी अनुवादो की शुद्धता पर नहीं आश्रित हैं। नाम के प्रथम भाग के लिए ह्वेनसाग सुविज्ञात फो-तो देता है जिसका प्रयोग उसके द्वारा बुद्ध-अर्थात् शास्ता अथवा शाक्य-तथागत के लिए अत्यन्त स्वाभाविक रूप मे हुआ है तथा जिसके विषय मे उससे त्रुटि की अपेक्षा नही की जा सकती। इसके विपरीत, एरण अभिलेख मे चर्चित शासक के विषय मे यह विचारणीय है कि छन्द तथा पाठ की स्पष्टता से यह अत्यन्त निश्चितरूपेण सिद्ध होता है कि नाम का प्रथम भाग नक्षत्रविशेष बुध है। सस्कृतज्ञ विद्वानो को तुरन्त ही इन दोनो नामो के बीच स्थित भारी अन्तर स्पष्ट हो जाएगा। मगध के बुधगुप्त की तिथि पर मेरे अपने विचारो के लिए, द्र० इण्डियन एन्टिक्वेरी जि० १५, पृ० २५१ इ०।

ने इसे वर्तमान नाम देकर तथा इसे स्वीकार्य बनाने के लिए मनगढन्त इतिहास रचना करके इस पर अधिकार जमा लिया।" उनके अनुसार, सवत् का यह रूपान्तरण ६६३ ई० के लगभग धारा के भोज के समय मे अथवा ६७३ ई० मे पश्चिमी चालुक्य राजवश के पुन स्थापन के समय हुआ।

१८७१ मे, जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S जि० ५, पृ० १६३ इ० मे, कनिंघम ने प्रो० डाउसन के "एन्श्येन्ट इ सक्रिप्सन्स फ्राम मथुरा" शीर्षक लेख के साथ एक टिप्पणी जोडी जिसमे (वही, पृ० १६७) इस आधार पर कि कनिष्क और हुविष्क दोनो शक सवत् की स्थापना के पूर्व हुए थे, उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि इन दोनो शासको के अभिलेख विक्रम सवत् मे अ कित है, तथा उन्होने इलाहाबाद स्तम्भ लेख मे देवपुत्र तथा शाहानुशाहि शासको के उल्लेख को उद्धत किया, 'जो अधिक सभवतया पजाब के तुरुष्क शासक थे" तथा,उनके अनुसार, यह उल्लेख यह प्रदर्शित करता था कि समुद्रगुप्त "तुरुष्क शासको का समकालीन था, चीनी साक्ष्यो के अनुसार जिनका साम्राज्य ईसवी सन् की तृतीय शताब्दी में समाप्त हो चुका था।" इस अन्तिम विचार के विषय मे मैं यह कहना चाहता हूँ कि इलाहाबाद अभिलेख मे वस्तुत जो हमे प्राप्त होता है, वह चीनी विवरणो की सहायता से समुद्र गुप्त के तिथि-निर्धारण का साधन नही है अपितु वह समुद्रगुप्त की तिथि द्वारा चीनी विवरणो को सशोधित करने का साधन है।

१८७१ मे ही आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १ का प्रकाशन हुआ जिसके प्रथम भाग मे उनके द्वारा तैयार किया गया १८६१-६२ की अवधि से सम्बन्धित पुरातात्विक विवरण था, जो इसके पूर्व ही जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३२, पृ० ३-१०६ मे प्रकाशित हो चुका था। इसमे (वही, पृ० ६४) उन्होने यह मत प्रकट किया कि प्रारभिक गुप्त तिथियो को शक सवत् मे अकित मानना उस समय इस सामान्यतया स्वीकृत विचार से सबसे अधिक मेल खाता है कि गुप्त राजवश का पतन ३१६ ई० मे हुआ, और तदनुसार उन्होंने अब स्कन्दगुप्त के कहोम स्तम्भ लेख मे अकित १४१ तिथि को २१६ ई० का समरूप माना। तथा प्रसगवश (वही, पृ० १३६ ई०) विक्रम तथा शक सवतो के प्रश्न के सदर्भ मे उन्होने अलबेरूनी द्वारा उल्लिखित विक्रमादित्य का—मुल्तान तथा लोनी के बीच करुर नामक स्थान पर शकों के ऊपर जिसके विजय की स्मृति मे, ५७ ई० पू० के विक्रम संवत् की स्थापना से एक सौ पैंतीस वर्ष बाद, शक सवत् की स्थापना मानी जाती थी[1]—का तादत्म्य उस शालिवाहन मे किया, जिसका नाम कालान्तर मे हिन्दुओ द्वारा शक सवत् के साथ इसके सस्थापक के रूप मे जोड दिया गया। यही विचार, अर्थात् गुप्त साम्राज्य सभवत ७८ ई० मे प्रारम्भ हुआ, उन्होने १८७३ मे आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ३, पृ० ४ मे प्रकट किया, इसी जिल्द मे उन्होने (वही, पृ० ४१ इ०) कनिष्क तथा हुविष्क की तिथियो को विक्रम सवत् मे रखा, उन्होंने राजतरगिणी १,१६८-१७३ मे उल्लिखित तीन शासको, हुष्क, जुष्क तथा कनिष्क का विक्रमादित्य द्वारा प्रतिनिधित्व होता हुआ माना, जिसने, मेरुतु ग के अनुसार, सात वर्ष तक शासन किया था, उन्होंने भारत मे भारतीय-शको के शासनकाल का प्रारम्भ ५७ ई० पू० तथा समाप्ति-काल ७६ ई० माना "तथा, हिन्दू विश्वास के अनुसार, इस द्वितीय तिथि पर शालिवाहन ने विक्रमादित्य के राजवश को अन्तिम रूप से उखाड फैंका।"

१८७२ मे, जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १० पृ० ७२ ई० में डॉ० आर० जी० भण्डारकर ने श्री टामस तथा डॉ० भाऊ दाजी के मत का समर्थन करते हुए यह कहा 'कि वलभी दान लेखो की तिथिया शक सवत् की हैं जो "उस वलभी सवत् के लिए एक

---

१ अलबेरूनी का अनुवाद, जि० २, पृ० ६।

बुद्धिग्राह्य पारम्भ-बिन्दु प्रदान करती है, जिसका प्रारम्भ कर्नल टॉड ने ३१६ ई० निश्चित किया था।' वलभी सवत् की स्थापना के विषय मे उनका अपना विचार यह था कि यह वलभी दानलेखो मे—उदाहरणार्थ, स० ३८, प० ५, —"सर्वप्रभुतासपन्न शासक एव समस्त भूमण्डल का स्वामी" कह कर वर्णित किसी शासक द्वारा सेनापति भट्टार्क के द्वितीय पुत्र द्रोणसिंह के महाराज के रूप मे अभिषेक की घटना की स्मृति मे चलाया गया था, उनके अनुसार, इस घटना के समय से वलभी राजवश के शासक स्वतन्त्र हुए। किन्तु १८७४ मे, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ३, पृ० ३०३ इ० मे, उन्होने, इस आधार पर कि वलभी दानलेखो तथा आठवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो के पश्चिमी चालुक्य दानलेखो मे प्रयुक्त लिपियो मे पर्याप्त समानता है तथा कुछ अन्य कारणो से जिसे उन्होने ठीक प्रकार से परिभाषित नही किया, अपने मत को सशोधित कर दिया, इस सशोधित मत के अनुसार, "वलभी तिथिया शक सवत् के अतिरिक्त किसी अन्य सवत् मे रखी जानी चाहिए", और फिर श्री फरगुसन के मत से सहमति रखते हुए उन्होने इन्हे ३१८ ई० मे प्रारम्भ होने वाले सवत् की तिथिया माना। किन्तु उन्होने अपना मत श्री फरगुसन के मत से थोडा सा भिन्न रखा—वह यह कि चू कि वलभी राजवश मे 'वल्लव' अथवा वलभी नामक कोई शासक नही हुआ, अत , "यह सदेहास्पद है कि यह सवत् वस्तुत भट्टार्क के राजवश से प्रवर्तित हुआ था। यदि इस सवत् का प्रवर्तन इस राजवश द्वारा नही हुआ था तथा इस राजवश की स्थापना के पूर्व से यह सौराष्ट्र मे प्रचलित था, तब वलभी तिथिया इस सवत् मे रखी जा सकती हैं। अथवा, जो अधिक सभव है, चू कि इस राजवश के पहले आने वाले गुप्तो ने इस प्रदेश मे अपने सवत् का समावेश किया अत इन दानलेखो की तिथिया उसी सवत् मे अकित की गई होगी। किन्तु इससे परिणाम मे कोई अन्तर नही आता क्योकि दोनो की प्रारम्भिक तिथिया एक ही हैं।"

१८७३, मे इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० २, पृ० ३१३ मे, कर्नल जे० डब्लू० वाटसन ने काठियावाड के चारणो मे प्रचलित निम्नलिखित परम्परा का प्रकाशन किया—"चारण यह कथा कहते हैं कि वाला वरसिंगजी के पुत्र वाला राम राजा ने जूनागढ तथा वन्थली पर शासन किया था। वे अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध थे और उनके विषय मे यह कहा जाता है कि अपनी दाढी के प्रथम क्षौरकर्म के दिन उन्होने इक्कीस गाव दान मे दे दिए तथा निर्धनो मे पचास लाख रुपये[1] भिक्षा स्वरूप वितरित किए। राम राजा वाला वश के थे। सौराष्ट्र मे यह कथा प्रचलित है कि जूनागढ-वन्थली के राज्य के उद्भव के पूर्व गुजरात की राजधानी वलभी नगर था। वलभी के उद्भव की कथा चारणो द्वारा इस प्रकार कही जाती है। गुप्त शासक गगा तथा यमुना नदियो के बीच के भूभाग पर शासन करते थे। इनके एक शासक ने अपने पुत्र कुमारपालगुप्त को सौराष्ट्र विजय के लिए भेजा तथा अपने अधिकारियो मे से एक, प्राणदत्त के पुत्र चक्रपाणि, को वामनस्थली (आधुनिक वन्थली) नामक नगर का प्रान्तीय शासक नियुक्त किया। तत्पश्चात् कुमारपालगुप्त अपने पिता के पास लौट गया। उसके पिता ने सौराष्ट्र-विजय के बाद तेइस वर्ष तक शासन किया और फिर उसकी मृत्यु हो गई, तत्पश्चात् कुमारपालगुप्त शासनारुढ हुआ। कुमारपालगुप्त ने बीस वर्ष तक शासन किया और उसकी मृत्यु के पश्चात् स्कन्दगुप्त शासक बना, किन्तु यह क्षीण बुद्धि का शासक था। उसका सेनापति भट्टार्क, जो गेहलोती वश का था, एक शक्तिशाली सेना लेकर सौराष्ट्र आया एव वहा अपने शासन को सुदृढ किया। इसके दो वर्ष पश्चात् स्कन्दगुप्त की मृत्यु हो गई। अब सेनापति ने सौराष्ट्र के शासक की उपाधि धारण की तथा वामनस्थली मे एक प्रान्तपति को नियुक्त कर वलभी नगर की स्थापना की। इस समय गुप्त राजवश विदेशी आक्रामको द्वारा शासनच्युत कर दिया गया था। सेनापति गेहलोत वश

---

१ लगभग पाच लाख पौण्ड।

का था एव गुप्तो द्वारा हटाए जाने तक इसके पूर्वजो ने अयोध्या नगरी पर शासन किया था। वलभी की स्थापना करने के पश्चात् उसने सौराष्ट्र, कच्छ, लाटदेश एव मालव पर अपना राज्य स्थापित किया। वाला लोग गेहलोतो की एक शाखा थे। वलभी के पतन के पश्चात् वामनस्थली का वाला प्रान्तीय शासक स्वतन्त्र हो गया। राम राजा के कोई पुत्र नही था, किन्तु उसकी वहन का विवाह नगर ठाठा के राजा के साथ हुआ", इत्यादि। इन्डियन एन्टिक्वेरी,जि० ३,पृ० ३०३ मे, इस कथा की डॉ०आर० जी० भण्डारकर ने आलोचना की, उनका अपना मत यह था कि "यद्यपि यह परम्परा रोचक है एव सामान्यतया सत्य घटनाओ का उल्लेख करती है, किन्तु विशिष्ट घटनाओ के प्रसग मे इसे सत्य नही माना जा सकता, यह हमे केवल इस पूर्वज्ञात तथ्य की सूचना देती है कि वलभी शासक गुप्तो के वाद हुए।" भण्डारकर के मत का उत्तर देते हुए तथा इस परम्परा का समर्थन करते हुए श्री टामस[1] ने कहा कि "जैसा कि इस प्रकार की प्राचीन कथाओ के साथ स्वाभाविक है, यह कथा भी त्रुटिपूर्ण हो सकती है। किन्तु इसमे मुस्लिम जिज्ञासु[2] द्वारा दिए गए प्राचीन इतिहास से सवधित एक रहस्यपूर्ण भाग की पुष्टि होती है, साथ ही यह क्षेत्रीय शक्ति-सक्रामण के कारणो की स्पष्ट व्याख्या करती है एव परिपाटी वद्ध पिता द्वारा पुत्र मे प्रभुसत्ता के प्रतिनिधान का उल्लेख तथा दोनो शासको की सम्मिलित शासन अवधि का सकेत करती है जो अन्य कही नही प्राप्त होता। इसके अतिरिक्त, इस कथा के विवरण अभिलेखो तथा मुद्राओ से प्राप्त अन्य सुनिश्चित विवरणो से पूर्ण सगति रखते हैं।" यह सच है कि यह परम्परा उन अर्द्ध-परिशुद्ध परम्पराओ के समान है जो, यदि हम उन्हे केवल स्वीकार कर सके तो, अपनी पुष्टि अपने साथ लेकर चलते हैं। उदाहरण के लिए, पाल पद का कुमारगुप्त के नाम के वीच मे समावेश करना, स्कन्दगुप्त के जूनागढ अभिलेख मे उल्लिखित पर्णदत्त तथा उसके पुत्र चक्रपालित के स्थान पर प्राणदत्त तथा चक्रपाणि नामो का दिया जाना, सहसोन्नत सेनापति के लिए भटार्क के स्थान पर भट्टार्क नाम का दिया जाना—यह सभी कुछ बडा स्वाभाविक लगता है। किन्तु इस विषय पर और अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नही है क्योकि एक अत्यन्त श्रेष्ठ साक्ष्य—वह साक्ष्य डॉ० भगवानलाल इन्द्रजी स्वय हैं—द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि यह उपकल्पित परम्परा पिछले पन्द्रह वीस वर्षो मे अस्तित्व मे आयी तथा इसके मूल मे स्वय उनके कुछ अनुमान हैं जो एक पुस्तक के माध्यम से इन चारणो तक पहुँच गए। यह केवल एक दृष्टान्त है जो यह प्रस्तावित करता है कि प्रत्येक हिन्दू ऐतिहासिक उपाख्यान की सत्यता के प्रति हमे वहुत पर्याप्त सदेहपूर्ण दृष्टि रखनी चाहिए।

१८७४ मे, जर्नल आफ द वगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ४३, भाग १ पृ० ३६३ इ० मे, डॉ० राजेन्द्रपाल मित्र ने, स्कन्दगुप्त के इन्दौर दानलेख (स० १६, पृ० ६८) के प्रति ध्यानाकर्षण करते हुए, इस समस्या पर विचार किया। यहा उन्होने (वही, पृ० ३६६ इ०) कहौम स्तम्भ लेख की पक्ति ३ मे आए शान्ते शब्द को पक्ति ४ मे आए वर्षे शब्द के साथ सवधित करके एक नवीन तथा सर्वथा अनावश्यक विचार को जन्म दिया, मूलत उन्होने श्री प्रिसेप तथा डॉ० हाल के अर्थ को—विशेषरूपेण शान्त शब्द का—अपनाया यद्यपि उनका उद्देश्य पूरे श्लोक का अर्थ इस प्रकार करना था कि वह उनके अर्थों से अधिक शुद्ध प्रतीत हो और यहा तक कि डॉ० भाऊ दाजी के अनुवाद से भी सुन्दर हो। उन्होने यह अनुवाद किया (वही, पृ० १३७)—"स्कन्दगुप्त के राज्य मे, जवकि एक सौ इकतालीस वर्ष व्यतीत हो चुके थे।" इस समस्या पर की गई सामान्य चर्चा के प्रसग मे डॉ० मित्र कोई महत्वपूर्ण वात नही कहते अतिरिक्त इसके कि (वही, पृ० ३७१) डॉ० एफ० ई० हाल के विरोध मे वे महाराज हस्तिन् के

---

१ आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया, जि० २, पृ० ३०।

२ अर्थात् अलवेरूनी।

दानलेख के लिए प्रो० एच० एच० विल्सन का अनुवाद स्वीकार करते है, जिससे यह ज्ञात होता है कि उसके समय मे अभी गुप्त शासको की सर्वोपरिता चल रही थी, और यह कि उन्होने यहा अलबेरूनी के अनुवाद का श्री ब्लाखमैन द्वारा प्रस्तावित सशोधन दिया (वही, पृ० ३६८) जिसे मैंने ऊपर पृ० २७, टिप्पणी १ मे उद्धृत किया है। किन्तु डॉ० मित्र वह व्याख्या देखने मे असमर्थ रहे जो इस सशोधित अनुवाद पर आरोपित किया जा सकता है, तथा उन्होने अपना यह विश्वास अभिव्यक्त किया (वही, पृ० ३७२) कि प्रारभिक गुप्त तिथिया तथा बुधगुप्त तथा महाराज हस्तिन् की तिथिया शक सवत् मे अकित हैं, तथा यह कि अलबेरूनी द्वारा उल्लिखित गुप्त सवत् वलभी के शासको द्वारा गुजरात के गुप्तो के निर्वासन की स्मृति मे चलाया गया था।

१८७६ मे, **आर्क्यलोजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इन्डिया,** जि० २, पृ० १८ इ० मे, श्री टामस ने "साह एव गुप्त मुद्राए इत्यादि" शीर्षक पर एक अध्याय प्रकाशित किया जिसमे, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उन्होने काठियावाड से प्राप्त उस उपकल्पित चारण-परम्परा का दृढ शब्दो मे समर्थन किया है, जिसकी ओर सर्वप्रथम कर्नल वाटसन ने ध्यान आकर्षित किया था। प्रारभिक गुप्त राजवश विषयक अपने सारिणीबद्ध अभिकथन मे (वही, पृ० ७०) उन्होने गुप्त तिथियो को तथा उनके साथ तोरमाण की मुद्रा पर अकित तिथि को, शक सवत् से सबद्ध किया, तोरमाण की मुद्रा पर प्राप्त तिथि को उन्होने (वही, पृ० ६६) १८२ पढा। इस उपकल्पित परम्परा के आधार पर उन्होने वलभी राजवश के सस्थापक सेनापति भटार्क को स्कन्दगुप्त की मृत्यु के ठीक दो वर्ष पूर्व रखा, तथा साथ मे उन्होने एक वक्तव्य जोडा, जो स्पष्ट रूप से यह सकेतित करता है कि उनके मतानुसार ३१९ ई० मे प्रारभ होने वाला वलभी सवत् महाराज धरसेन द्वितीय द्वारा स्थापित किया गया था "जो पहला ऐसा शासक प्रतीत होता है जो सही अर्थों मे प्रभुतासम्पन्न था।"

१८७८ मे **इन्डियन ऐन्टिक्वेरी,** जि० ७, पृ० ७९ इ० मे, डॉ० ब्यूलर ने हाल मे प्राप्त वलभी के शीलादित्य सप्तम् के अलीन दानलेख (स० ३९,) की ओर ध्यान दिलाया, जिसमे उसके लिए गुप्त सवत् ४४७ की तिथि (७६६-६७ ई०) दी गई है और उसका विरुद अथवा दूसरा नाम ध्रूमट अथवा ध्रुभट दिया गया है। इस नाम तथा ह्वेनसाग के विवरण मे प्राप्त धु-लु-फो-पो-तु मे भारी सदृशता की ओर ध्यान दिलाते हुए (वही, पृ० ८०) तथा यह सुझाव रखते हुए कि ह्वेनसाग द्वारा दिए गए नाम का "निरन्तर धीमान्" मे अनुवाद गलत सूचना के कारण अथवा भट (योद्धा) तथा भट्ट (विद्वान्) शब्दो मे अन्तर न कर सकने के कारण हो सकता है, डॉ० ब्यूलर ने अपना झुकाव इस विचार की ओर दिखाया कि शीलादित्य सप्तम् ह्वेनसाग का समकालीन शासक हो सकता है, इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि वलभी दानलेखो मे प्रयुक्त सवत् का प्रारभ २०० ई० के कुछ समय पूर्व अथवा कुछ समय पश्चात् हुआ होगा। तथापि, उन्होने इस ओर ध्यान दिलाया कि (वही, पृ० ८१) इस प्रकार की जटिल समस्या से सबधित सभी बातो पर सावधानी से विचार किया जाना चाहिए तथा इस लेख मे ऐसी बहुत सी महत्वपूर्ण बातें हैं जिनमे ध्रूमट अथवा ध्रुवभट का उल्लेख एक है।

१८७९ मे, **आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया,** जि० ९, पृ० ९ इ० मे, जनरल कनिंघम ने कुछ लेखो की ओर ध्यान आकर्षित किया १९१ वर्ष की तिथि से अकित (स० २३,) महाराज हस्तिन् का दानलेख, भुमरा स्तम्भ लेख (स० २४), २०९ वर्ष की तिथि से अकित (स० २५) महाराज सक्षोभ का दानलेख, तथा स० २८ पृ० १२५ को छोड कर उच्चकल्प के महाराजो के दानलेख (स० २६ से लेकर स० ३१ तक) जिनका समय विस्तार १७४ वर्ष से लेकर २१४ वर्ष तक है। तथा हस्तिन् तथा सक्षोभ के दानलेखो में उन्होने गुप्त-नृप-राज्यभुक्तौ पद के प्रसग मे प्रो० विल्सन के अनुवादो का समर्थन किया,जो व्याकरण की दृष्टि से नही किन्तु तत्वत शुद्ध थे,विल्सन का समर्थन करते हुए उन्होने इस ओर भी ध्यान आकर्षित किया कि इससे इन दानलेखो के अकन के समय भी गुप्त सर्वोपरिता का उस समय

भी अस्तित्वमान होना सकेतित होता है। इन अभिलेखो की चर्चा के साथ उन्होने (वही, पृ० १६ इ०) "गुप्तो की तिथि" पर कुछ विचार प्रकट किए जिनमे उनका यह निष्कर्ष था कि गुप्त सवत् का सभावित काल १६४–६५ ई० अतएव इसका प्रारभ १६५–६६ ई० मे हुआ। इसे लगभग निश्चित सा मान कर कि ६४० ई० मे ह्वेनसाग की यात्रा के समय वलभी मे शीलादित्य सप्तम् शासन कर रहा था, उन्होंने यह विचार प्रकट किया (वही, पृ० १७) कि चूकि दानलेख मे अकित ४४७ वर्ष की तिथि यात्री की यात्रा के पचीस अथवा तीस वर्ष पूर्व अथवा वाद मे पडेगी, अत गुप्त सवत् का प्रारम्भ विन्दु १६३ ई० और २२३ ई० के वीच मे कही पड सकता है। उन्होंने पाया कि इस अवधि के वीच मे सवत् के समय के लिए १६४–६५ ई० ही एकमात्र वर्ष है जो वुधगुप्त के एरण स्तम्भलेख एव जाइकदेव के मोरवी दानलेख मे वर्णित स्थितियो से मेल खाएगा। इस समय को एरण तिथि पर लागू करने पर परिणामस्वरूप (वही, पृ० १८) ३५६ ई० की तिथि प्राप्त होती है, जिस वर्ष, उनकी गणना के अनुसार, आषाढ शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि यथापेक्षित वृहस्पतिवार के दिन (अर्थात् २४ जून) पडती है। मोरवी दानलेख मे सूर्य ग्रहण का उल्लेख है जो, उनकी मान्यतानुसार, लेख के अकन के पाच दिन पूर्व माघ अमावस्या को पडा, इस समय को मोरवी लेख की तिथि पर लागू करने पर १० फरवरी ७८० ई० की तिथि प्राप्त होती है "जिस दिन को पूर्वी एशिया मे दिखाई पडने वाला सूर्यग्रहण था।"[1] चौथा परीक्षण जिसे व्यवहार मे लाने की ओर उन्होंने सकेत किया, वह था महाराज हस्तिन् तथा सक्षोभ के दानलेखो मे वृहस्पति नक्षत्र के द्वादश वर्षीय चक्र के कुछ सवत्सरो का उल्लेख। किन्तु उस समय इस चक्र के विषय मे ठीक ठीक सूचना नही प्राप्त थी, तथा महा-वशाख सवत्सर को ३५० ई० का समरूप वनाने मे (वही, पृ० १६) जो—सवत् का समय १६४–६५ ई० मानने पर—महाराज हस्तिन् के दानलेख (स० ३१) मे अकित गुप्त-सवत् के वरावर होगा, वे कल्पनामात्र का आश्रय लेते हुए प्रतीत होते हैं, दूसरी ओर, उसी महाराज के गुप्त सवत् १६३ मे अकित दानलेख (स० २२) मे उल्लिखित महा-आश्वयुज सवत्सर को अपने चक्र विषयक मत से सगत बनाने के लिए, उन्हें मूल तिथि को १६३ से १७३ मे वदलना पडा,[2] जिसके परिणामस्वरूप हमे ३६७ ई० की तिथि प्राप्त होती है। इस अवसर पर जनरल कनिघम ने (वही, पृ० २१) फिर गुप्त सवत् की स्थापना का श्रेय चन्द्रगुप्त प्रथम को दिया तथा उन्होंने ३१६ ई० के वलभी सवत् का स्थापनकाल कुमारगुप्त के शासनकाल के वीसवें वर्ष मे रखा। तथा इस वलभी सवत् के प्रसग मे उन्होने यह मत व्यक्त किया (वही, पृ० २०) कि गुप्त राजवश के पतन से इसका कोई भी सबध नही हो सकता था क्योकि १६४–६५ ई० के प्रस्तावित समय पर लागू करने पर स्कन्दगुप्त के जूनागढ शिलालेख (स० १४) मे अकित १३८ तथा १३६ तिथियो से यह ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र अथवा काठियावाड[3] मे ३३३ ई० तक गुप्त साम्राज्य अस्तित्वमान था। तथा उन्होंने यह मत प्रकट किया कि अलवेरूनी के अभिकथन मे प्रत्यक्ष दिखाई पडने वाली सगति का मूल कारण यह था कि उसने पाया कि गुप्तो तथा वलभी के शासको ने वस्तुत एक ही सवत् का प्रयोग किया था और फिर वह मान कर चला कि यह वही सवत् है जिसे लोग वलभी सवत् कह कर पुकारते हैं तथा जो ३१६ ई० मे प्रारम्भ हुआ था। उन्होंने वलभी के सेनापति भट्टार्क को ३३६ ई० मे (वही,

---

१ इस ग्रहण पर विस्तृत विवरण के लिए, द्र०, इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि ६, पृ ३०८।

२ इस अभिलेख से सबंधित मेरे प्रस्तावनात्मक विवरण के नीचे की टिप्पणी देखें, जहां मैंने यह प्रदर्शित किया है कि मूल को परिवर्तित करने मे एक गभीर बाधा है। साथ ही, जैसा कि आगे देखा जाएगा, गुप्त सवत् के संवध में सही दृष्टिकोण अपनाने पर किसी प्रकार का परिवर्तन अनावश्यक है।

३ यह १३९ की उपकल्पित तिथि मानने पर है। किन्तु वास्तविक तिथिया १३६, १३७ तथा १३८ हैं और उनमें १३९ तिथि नहीं मिलती।

पृ० २१) अर्थात् वलभी संवत् के ३१९ ई० में संस्थापन के तीन वर्ष पश्चात् रखा। तथा, तोरमाण की मुद्राओं की तिथियों को ५२ एवं ५३ पढ़ते हुए (वही पृ० २७) उन्होंने उन्हें (वही पृ० २१) ३१९ ई० में प्रारम्भ होने वाले वलभी संवत् में रखा।

जनरल कनिंघम ने १८८० में आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० १११ इ० पर प्रकाशित अपने 'द गुप्त एरा' शीर्षक परिशिष्ट में इस प्रश्न पर पुनर्विचार किया, और इस अवसर पर वे इस अन्तिम निष्कर्ष पर पहुंचे (वही, पृ० १२६) कि संवत् का प्रारम्भ संभवतः १६७ ई० में हुआ था और इस प्रकार संवत् का समय १६६-६७ ई० था। जिन महत्वपूर्ण सामान्य तथ्यों को उन्होंने अपना आधार बनाया (वही, पृ० ११६) उनमें से प्रथम यह था कि समुद्रगुप्त की तिथि को सन्निकटतः एवं अपेक्षाकृत सीमित अवधि में दो तथ्यों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। वे हैं—१ '(इलाहाबाद स्तम्भ लेख में) स्वयं उसके द्वारा देवपुत्र, शाहि, शाहानुशाहि शासकों से उपहार प्राप्त करने का उल्लेख। हमें यह ज्ञात है कि वे उपाधियां भारतीय-शकों, कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव तथा उनके उत्तराधिकारियों की हैं और इससे यह प्रदर्शित होता है कि वह इस वंश के किसी शासक का समकालिक था' और २ "चीनी साक्ष्य के अनुसार २२० ई० तथा २८० ई० के बीच की अवधि में यू-ची लोगों ने उनके शासकों को मार डाला तथा सैनिक प्रधानों को नियुक्त किया। इन दोनों विवरणों की तुलना करके जनरल कनिंघम ने यह अनुमान किया कि समुद्रगुप्त ने यू-ची द्वारा उनके शासकों की मृत्यु के पूर्व—अथवा २०० ई० तथा २४० ई० की अवधि के पश्चात् नहीं—शासन किया होगा तथा उनके पिता चन्द्रगुप्त प्रथम को द्वितीय शताब्दी ईसवी के अन्तिम दिनों में रखना चाहिए। किन्तु, इस संबंध में मैं अपनी उस बात को दुहराऊंगा जो मैं अन्य प्रसंग में पहले कह चुका हूं कि जो हमें प्राप्त है वह चीनी साक्ष्य की सहायता से समुद्रगुप्त का समय निर्धारित करने के साधन नहीं हैं अपितु प्रारंभिक गुप्त तिथिक्रम के आधार पर चीनी विवरणों को संशोधित करने का साधन है। इस प्रसंग में दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह था जैसा कि वे पहले संकेतित कर चुके थे कि शीलादित्य सप्तम् के अलीना दानलेख से यह ज्ञात होता है कि गुप्त संवत् का प्रारम्भ बिन्दु १६४ ई० तथा २२४ ई० के बीच में पड़ना चाहिए। इन दो परस्पर सन्निबद्ध परिणामों को साथ रखते हुए उन्होंने यह अनुमान किया कि गुप्त संवत् का प्रारम्भ १८० ई०-२०० ई० से अधिक दूर नहीं होना चाहिए। इस बीच उन्हें बृहस्पति नक्षत्र के द्वादश वर्षीय चक्र के विषय में बनारस कालेज गणित के प्रोफेसर बापूदेव शास्त्री से कुछ सूचना प्राप्त हुई थी और वे अब इस कसौटी की भी सहायता ले सकते थे, वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सामान्य तथ्यों के आधार पर जो समय-सीमाएं उन्होंने निर्धारित की थीं उसको तथा बुधगुप्त के एरण स्तम्भ लेख में अंकित दिन विशेष को ध्यान में रखने पर गुप्त संवत् के समय तथा उसके प्रारम्भ काल के लिए १६६-१६७ ई० तथा १६७-१६८ ई० ही एकमात्र ऐसी तिथियां प्राप्त होती हैं जो सभी अपेक्षाओं से संगति रखती हैं। किन्तु महाराज हस्तिन् एवं संक्षोभ के दानलेखों में उल्लिखित बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र के सभी संवत्सरों का इस समय से संगति बैठाने के लिए उन्हें अब भी गुप्त संवत् १६३ का १७३ से परिवर्तन विषयक अपने विचार का पोषण करना पड़ा। इस परिवर्तन को स्वीकार करने पर उनका सिद्धान्त तथा द्वादशवर्षीय चक्र के संवत्सरों की व्यवस्था एवं उनके द्वारा प्राप्त निष्कर्ष सामान्यिक दृढ़ तथा विश्वसनीय प्रतीत हुए। किन्तु अब यह ज्ञात हो चुका है कि इन संवत्सरों के निश्चयन की उनकी पद्धति त्रुटिपूर्ण है तथा इससे संतोषजनक परिणाम नहीं प्राप्त हो सकता। इस विषय के इस भाग की विस्तार रूप में व्याख्या आगे की जाएगी। यहां मैं केवल यह कहना चाहता हूं कि जनरल कनिंघम का द्वादश वर्षीय चक्र विषयक सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है—जिसकी त्रुटिपूर्णता अब प्रमाणित की जा सकती है—कि इसके संवत्सर चान्द्र-सौर वर्षों से प्रारम्भ और समाप्त होते हैं, तथा संवत्सरों का निश्चयन करने वाली उनकी पद्धति में (वही, पृ० ६, ११४ इ० तथा

इन्डियन एराज, पृ० २७ ई०) केवल वह सवत्सर प्राप्त होता है जो, राशिक्रमण व्यवस्था के अनुसार, किसी दिए गए चान्द्र–सौर वर्ष के प्रारम के समय चालू था, यह पद्धति इसके प्रारम्भ के बाद किसी वर्ष विशेष में तिथि विशेष के समय प्रचलित सवत्सर के निश्चय मे भी कुछ सहायता नही करती जो कि – इस प्रणाली का भी—एक यथार्थत महत्वपूर्ण विषय है। इस अवसर पर (वही, पृ० ११२) जनरल कनिंघम ने ३१९ ई० मे वलभी प्रदेश मे गुप्त प्रभुसत्ता के पतन सबधी अलबेरुनी के विवरण को पूर्णतया स्वीकार किया और उन्होने इसी वर्ष मे वलभी के सेनापति भटार्क को रखा। उन्होंने यह विचार प्रकट किया (वही, पृ० १२६) कि ३१९ ई० के वलभी सवत् की स्थापना का अवसर सभवत स्कन्दगुप्त की मृत्यु से प्राप्त हुआ होगा, स्कन्दगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि १४६ उसके एक सिक्के से प्राप्त होती है जो, इस नए सिद्धान्त के अनुसार, ३१५ ई० होगी। अपने निष्कर्षों के सामान्य समर्थन मे उन्होने कुछ मुद्राशास्त्रीय तथ्यो का उद्धरण किया—उदाहरणार्थ, (वही, पृ० ११०) गुप्त शासकों की सुवर्ण मुद्राओं की भारतीय-शासक वासुदेव की सुवर्ण मुद्राओ से तुलना करने से ज्ञात होता है कि गुप्त मुद्राए उसकी मुद्राओ के शीघ्र बाद चलाई गई होगी, दूसरी ओर, उनकी रजत मुद्राओ की सौराष्ट्र के क्षत्रपों–जिन्हे पहले साह शासक कहा गया है–की मुद्राओ से तथा वलभी राजवश की मुद्राओं से तुलना करने पर यह स्पष्टरूपेण प्रमाणित होता है कि गुप्त शासक सौराष्ट्र के क्षत्रपों के पश्चात् एव वलभी राजवश के पूर्व हुए होगे। किन्तु वर्तमान गवेषणा के प्रसग मे हमारा इस प्रकार के अध्ययन से सरोकार नही है।

उसी वर्ष जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S जि० १२, पृ० २५९ ई० मे श्री फरगुशन ने अपने "आन इन्डियन क्रानालजी" शीर्षक लेख, जिसकी ऊपर पृ० ४५ पर चर्चा की जा चुकी है, के पूरक के रूप मे "आन द शक, सवत् एण्ड गुप्त एराज" शीर्षक लेख प्रकाशित किया। अपने पहले के लेख मे उन्होने जनरल कनिंघम के इस मत को अपनाया था कि कनिष्क की मृत्यु २४ ई० मे हुई थी। किन्तु अब वे इस निष्कर्ष पर पहुचे (वही, पृ० २६१) कि शक सवत् की स्थापना कनिष्क ने की थी तथा शालिवाहन सवत् का प्रारम्भ "सातवाहन अथवा शालिवाहन वश मे प्रमुख" आन्ध्र शासनवश के शातकर्णि द्वितीय के शासन काल मे हुआ था। इन निष्कर्षों को प्राप्त करने मे उन्होने उन तर्कों का आश्रय लिया जिनका आधार कनिष्क की मुद्राओ तथा मनिक्याल मे कनिष्क के स्तूप मे पाई गई रोमन-कासल (Roman Consular) युग की कुछ मुद्राओं से प्रदर्शित अपेक्षाकृत अवनतिशील अवस्था थी, उन्होने यह माना (वही, पृ० २६५) कि गोन्डोफेरीज नामक किसी शासक के समय मे सेंट टामस की पूर्व की यात्रा की कथा-यह यात्रा यदि सत्य घटना है तो इसका समय ३३ ई० के पश्चात् एव ५० ई० के पूर्व रहा होगा—कम से कम इस सूचना के प्रसग मे स्वीकार्य है कि इसके निर्माताओं को यह अवश्य ज्ञात रहा होगा कि उस समय "तक्षशिला" का शासक गोन्डोफेरीज था जिसका नाम सिक्कों पर उन शासकों के साथ प्राप्त होता है" जिन्होने भारत के पश्चिमोत्तर भाग मे निश्चितरूपेण यूनानी शासनवशो के पतन के पश्चात् तथा कनिष्क के पूर्व शासन किया", फरगुसन ने इसी प्रकार के अन्य आधारो का आश्रय लिया है। गुप्त सवत् के सबध मे इस अवसर पर (वही पृ० २८५) उन्होने यह धारणा व्यक्त की कि इसके विषय मे उनके मत को "कभी भी सदिग्ध नही समझा जाता यदि उस काल का तिथिक्रम अवतक लगभग एकमात्र मुद्राशास्त्रीय अनुसधानों पर ही निर्भर नही होता।" तथा अपने इस विश्वास को दुहराते हुए (वही, पृ० २८१) कि सवत् का प्रारम्भ ३१९ ई० मे हुआ था एव (वही, पृ० २७०) यह आन्ध्र शासक गोतमीपुत्र के शासनकाल मे चलाया गया था, उन्होने भी अब (वही, पृ० २७०) इस मत का पोषण किया कि यह आवश्यक नही है कि सवत् का प्रारम्भ शासक के शासनारोहण अथवा उसकी मृत्यु अथवा उसके शासनकाल की किसी विशिष्ट घटना से हुआ हो अपितु इस बात को ध्यान मे रखते हुए कि नए सवत् की तिथिया सरलता से पुराने

सवत् मे रूपातरित की जा सके, इस नए सवत् का प्रारम्भ काल शक सवत् के प्रारम्भ काल से वृहस्पति के चार षष्ठि वर्षीय चक्रो की समाप्ति के वाद से निर्धारित किया गया था। केवल उन तर्कों के अतिरिक्त जिन पर वे आधारित हैं, मैं उनके इस सिद्धान्त, कि शक सवत् की स्थापना कनिष्क ने की थी, तथा उनके अन्य सामान्य निष्कर्षो से मत वैभिन्य रखने का कोई कारण नही देखता। किन्तु उनके इस लेख के मुख्य स्वर के विषय मे कुछ शब्द आवश्यक प्रतीत होते हैं, जो स्पष्ट रूप मे उनकी विक्रम सवत् के लिए ५७ ई० के अतिरिक्त किसी अन्य उत्पत्ति को खोजने की इच्छा मे दिखाई पडता है, जिसकी स्थापना, परम्परा के अनुसार, विक्रम अथवा विक्रमादित्य नामक एक शासक द्वारा हुई थी, जो वस्तुत उस समय शासन कर रहा था। वे अपने पूर्ववर्ती लेख मे पहले ही यह सुझाव प्रस्तुत कर चुके थे। और अब उन्होने यह दावा किया कि उनके अन्य निष्कर्षों को ठीक मानने पर इस वात का कोई सीधा साक्ष्य नही रह जाता (वही, पृ० २७१) कि प्रथम शताब्दी ई० पू० मे अथवा उसके काफी दिनो बाद तक विक्रम सवत् का अस्तित्व था—वस्तुत तवतक जवतक कि विक्रम नाम के शासक एव सवत् के मूल सस्थापन के बीच कोई सवध स्थापित करना असभव है। उन्होंने राजतरंगिणी के दो अवतरणो का उद्धरण दिया जिनमे से एक[1] प्रतापादित्य का उल्लेख करता है, जिसे किसी अन्य देश से कश्मीर का शासक बनाने के लिए लाया गया था तथा जिसे विक्रमादित्य नामक शासक का वशज बताया गया, राजतरगिणी के अनुसार कुछ लोगो द्वारा इस विक्रमादित्य का तादात्म्य गलती से शकारि अथवा "शको के शत्रु" से किया जाता था, राजतरगिणी के दूसरे अवतरण के अनुसार[2], कश्मीर के हिरण्य की मृत्यु के समय उज्जैन मे विक्रमादित्य नामक एक शक्तिशाली शासक राज्य करता था, जिसका दूसरा नाम हर्ष था और जिसने शको का उन्मूलन किया था। वे अलबेरूनी की उस व्याख्या को भी उद्धृत करते हैं कि विक्रमादित्य जिसने, उसे बताई गई परम्परा के अनुसार, विक्रम सवत् की स्थापना के एक सौ पैंतीस वर्ष वाद शको पर विजय प्राप्त किया था, इस सस्थापक विक्रमादित्य नही हो सकता था। इन साक्ष्यो के आधार पर फरगुसन इन निष्कर्षो पर पहुचते हैं (वही, पृ० २७४) कि करूर मे शको पर विजय प्राप्त करने वाला विक्रमादित्य उज्जैन का हर्ष था, कि उसकी मृत्यु ५५० ई० मे हुई और करूर का युद्ध ५४४ ई० मे हुआ, कि १००० ई० के लगभग अथवा इसके पूर्व जब कि "बौद्धो के साथ सघर्ष की समाप्ति के पश्चात् हिन्दुओ के लिए एक नए युग का आगमन हो रहा था", तव हिन्दुओ ने एक नए प्रकार का काल-सगठन अपनाना चाहा जो कनिष्क के बौद्ध शक सवत् से प्राचीनतर हो, कि गुप्त एव वलभी के शासक इस समय के वहुत पहले हो चुके थे तथा उनका महत्व एव बहुमान्यता समाप्तप्राय हो चली थी, अतः नए सवत् के प्रारम्भ के लिए किसी महत्वपूर्ण घटना को खोजने के प्रयास मे उन्होंने विक्रमादित्य के नाम को सर्वाधिक उपयुक्त पाया तथा करूर की विजय को उसके शासनकाल की सबसे महत्वपूर्ण घटना के रूप मे लिया, और यह कि चूकि इस विजय को तिथि ५४४ ई० से बहुत हाल की घटना थी अतएव उन्होंने इस घटना को साठ वर्षों के दस चक्र पीछे के समय मे रखा तथा इस प्रकार अपने विक्रम सवत् के लिए उन्हे ५६ ई० पू० की तिथि प्राप्त हुई, केवल इससे सतुष्ट न हो कर उन्होंने उसके दूसरे नाम हर्ष से एक अन्य सवत् चलाया तथा इसका प्रारम्भ करूर युद्ध से दस शताब्दी पीछे अर्थात् ४५६ ई० पू० मे निर्धारित किया। यह एक यथार्थ तथ्य है कि ५७ ई० पू० के सवत् के सबध मे विक्रम नाम का प्रयोग अपेक्षाकृत काफी बाद की तिथि तक नही प्राप्त होता[3]। किन्तु राजतरंगिणी के अर्ध-ऐतिहासिक वृत्तान्तो पर आवश्यकता

---

१ कलकत्ता सस्करण २, पक्ति ६, पृ १५।

२ कलकत्ता सस्करण, ३, पक्तिया १२५, १२८, पृ २६।

३ इस समय मैं ठीक ठीक तिथि देने की स्थिति मे नहीं हू। किन्तु, "ग्यारसपुर" अथवा "ग्यारिसपुर" अभिलेख (आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि १०, पृ ३३, तथा प्रतिचित्र ११) से ज्ञात होता है कि मध्यभारत मे ८८० ई० तक यह सवत् मालव सवत् के नाम से जाना जाता था।

से अधिक विश्वास करने के कारण श्री फरगुसन के तर्क प्रारम्भ से अन्त तक विकृत हो गए हैं। कश्मीर के प्राचीन इतिहास के तिथिक्रम का निर्धारण अभी शेष है, तथा इसे व्यवस्थित करने मे ५३३ ई०, जो मिहिर-कुल की तिथि है, से सहायता ली जा सकती है, जिसने स्वयं इस ग्रन्थ के अनुसार, आठ शताब्दी ई० पू० मे शासन किया था। और यदि उज्जैन के हर्ष-विक्रमादित्य की तिथि कश्मीर के हिरण्य की तिथि पर आधारित है, तो यह निश्चित है कि इसे छठी शताब्दी ई० की प्राचीन तिथि के समय नही रखा जा सकता।

१८८१ मे इन्डियन एन्टिक्वेरी, जि० १० पृ० २१३ इ० मे डॉ ओल्डेनबर्ग (Oldenberg) ने "आन द डेट्स आफ ऐन्शयन्ट इन्डियन इन्सक्रिप्सन्स एण्ड क्वायन्स" शीर्षक लेख प्रकाशित किया, जिस समूचे लेख पर सावधानी के साथ विचार किया जाना आवश्यक है। उन्होंने हर्र वान सैलेट (Herr von Sallet) के मुद्राशास्त्रीय शोधकार्यों से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर इस मत मे विश्वास प्रकट किया (वही, पृ० २१८) कि कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव को प्रथम शताब्दी ईसवी के पूर्व नही रखा जा सकता, तथा इन्हे २०० ई० के पूर्व रखना चाहिए, उन्होंने शक सवत् ५०० वीत चुके वर्ष मे अकित पश्चिमी चालुक्य शासक मगलीश[1] के वादामी गुहा-लेख का उद्धरण देते हुए यह कहा कि इससे यह निश्चितरूपेण प्रमाणित होता है कि शक सवत् का प्रारम्भ किसी शक शासक (अथवा शासको) की पराजय अथवा मृत्यु के समय से नही, अपितु उसके राज्याभिषेक के समय मे होता है, मुद्राओ के अध्ययन से उन्होंने यह पाया (वही, पृ० २१४ इ०) कि कनिष्क निश्चित रूप मे शक जाति का था, उपरोक्त परिणामो के अतिरिक्त उन्होने यह पाया (वही, पृ० २१५) कि कनिष्क के शासनकाल के समय उसकी शक्ति तथा प्रसिद्धि से बराबरी करने वाला कोई अन्य भारतीय शासक नही था, इन उपरोक्त परिणामो के आधार पर वे इस मुख्य निष्कर्ष पर पहुचे कि कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव के अभिलेखो मे प्रयुक्त सवत् शक सवत् है तथा यह कनिष्क के शासनारोहण के समय से प्रारम्भ हुआ था। इस निष्कर्ष को उन्होने अपने कार्य का प्रारम्भ-बिन्दु बनाया और यह विचार प्रकट किया-जो अत्यन्त सही था-(वही, पृ० २१७) कि श्री टामस तथा अन्य विद्वानो के शोधकार्य जिस मूलभूत त्रुटि से कलुषित होते हैं, वह यह है कि वे अलबेरुनी द्वारा सुरक्षित "गुप्त सवत् विषयक प्रत्यक्ष तथा अत्यन्त स्पष्ट प्राचीन परम्परा को सबसे आगे रख कर विधिवत इसके इस वात पर विचार करने के स्थान पर कि क्या इसके विरुद्ध कोई गंभीर आपत्तिया रखी जा सकती हैं, उसकी सतही चर्चा मात्र मे सतुष्ट हो जाते हैं", तत्पश्चात् विविध ऐतिहासिक, मुद्राशास्त्रीय तथा लिपिशास्त्रीय तर्कों द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुचे कि प्रारंभिक गुप्तों का अभ्युदय ३१९ ई० मे तथा पतन ४८० ई० मे रखा जाना चाहिए। लेख मे आगे चल कर उन्होने यह सुझाव रखा (वही, पृ० २१९) कि ह्वेनसाग द्वारा उल्लिखित थु-लु-फो-पो-तु वलभी का देरभर हो सकता है अथवा उसी राजवश मे हुए धरसेन नामधारी शासको मे अथवा पूर्ववर्ती शीलादित्यो मे से किसी एक के लिए प्रयुक्त हुआ हो सकता है, तथा यह कि अलीन दानलेख मे गौण उपाधिमात्र के रूप मे ध्रूभट उपाधि का उल्लेख सवत् के ३१९ ई० मे प्रारम्भ होने के विरुद्ध कोई निर्णयात्मक साक्ष्य नही प्रदान करता। उन्होने यह आख्यापित किया (वही, पृ० २२०) कि ३१९ ई० को सवत् का प्रारम्भ मानने पर बुधगुप्त के एरण स्तम्भ लेख का यह कथन, कि गुप्त सवत् १६५[2] के आषाढ शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि को बृहस्पतिवार था, वारेन

१ इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि ६, पृ ३६३ इ तथा जि १०, पृ० ५७ इ०।

२ अथवा गुप्त सवत् १६६, क्योंकि उन्होंने लेख का अर्थ १६५ बीत चुका वर्ष अथवा १६६ प्रचलित वर्ष किया। किन्तु तब सवत् का प्रारम्भ ३१९ ई० न हो कर ३१८ ई० होगा। ओल्डेनबर्ग ने सभवत इस सबध मे असावधानी के कारण ३१९ ई० को सवत् का समय बताया है। दूसरी जगह (वही पृ० २१५, २२७) उन्होंने स्पष्टरूपेण ३१९ ई० को सवत् का प्रारम्भ काल बताया है जिसके अनुसार ३१८ ई० सवत् का समय होगा।

(Warren) के काल-सकलित मे दी गई सारणियो और सिद्धान्तो से पूरी तरह ठीक बैठता है। तथा (वही, पृ० २२८) काठियावाड के चारणो की उपकल्पित परम्परा के सबध मे उन्होने यह विश्वास दिलाने के पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत किए कि यह आधुनिक अभिलेखिक तथा मुद्राशास्त्रीय गवेषणाओं के परिणामो के विषय मे जो जानकारी इन चारणो तक किसी प्रकार पहुची थी, उन सबका एक अपकृष्ट सकल्प मात्र है।

उसी वर्ष श्री टामस ने जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S जि० १३, पृ० ५२४ ई० मे प्रकाशित "दी एपक आफ द गुप्तज" शीर्षक लेख मे इस प्रश्न पर पुनर्विचार किया। इस अवसर पर उन्होने (वही, पृ० ५२४) इस विचार का परित्याग कर दिया कि साह मुद्राओ की तिथिया ४५६ ई० पू० मे प्रारम्भ होने वाले उपकल्पित हर्ष सवत् मे रखी जानी चाहिए, तथा उन्होने श्री न्यूटन (Newton) के इस मत की ओर अपना झुकाव अभिव्यक्त किया कि वे ५७ ई० पू० के विक्रम सवत् की तिथिया है। किन्तु, जहा तक गुप्त सवत् का प्रश्न है, उन्होने इस समय भी (वही, पृ० ५४९) इस मत मे आस्था प्रकट की कि गुप्त सवत् शक सवत् से अभिन्न नही है अथवा, कम से कम, गुप्त तिथियो को शक काल मे रखना चाहिए। इस लेख मे (वही, पृ० ५४९) उन्होने अलबेरूनी से कुछ और अवतरण उद्धृत किए जिनसे यह ज्ञात होता है कि 'सस्थापक अलेग्जेंडर' (Alexander the Founder) की मृत्यु तथा 'यज्दजिर्द बेन शहयार' (Yazdajird ben Shahryar) की मृत्यु के समय से सवतो की स्थापना हुई थी, उन्होने तर्क किया कि इनसे यह सकेत मिलता है कि यह (उपकल्पित) बात कहने मे कि गुप्त सवत् का प्रारम्भ गुप्तो के विनाश के समय से हुआ, अलबेरूनी ने यथोचित विचार किया होगा। इस लेख मे उन्होने यह नई खोज प्रकाशित की कि काबुल के 'स्पलपति', सामन्तदेव, 'खदवयक' तथा भीमदेव की मुद्राओ के पृष्ठ भाग पर बने अश्व के सामने कुछ चिन्ह अ कित है जो गु, गुप् तथा गुप्त अक्षरो का प्रतिनिधित्व करते हैं, तत्परिणामस्वरूप उन्होने इन्हे गुप्त सवत् की परम्परागत तिथि ६१७ से सवद्ध किया जिसे कि वे चिन्ह प्रस्तुत करते है। इसके पूर्व उन्होने सामन्तदेव के सिहासनारोहण[1] के लिए ९२५ ई० की तिथि सुझाया था। तथा यह दिखाते हुए कि परम्परागत तिथि ६१७ को ३१९ ई० से जोडने पर ९३६ ई० की तिथि प्राप्त होती है–यह तिथि उनके द्वारा सामन्तदेव के लिए बताई गई तिथि से एक वर्ष के भीतर पडती है—उन्होने इन मुद्राओ को (वही, पृ० ५४८) को इस बात के प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया कि "गुप्त शासन के विनाश के समय से तिथि-गणना की पद्धति अभी व्यवहार मे जीवित थी।"

पूर्वोक्त लेख से घनिष्ठरूपेण सबधित सर ई० क्लाइव बेले(E Clive Bayley)का"आन सरटेन डेट्स आकरिंग आन द क्वायन्स आफ द हिन्दू किंग्स आफ काबुल, एक्सप्रेस्ड इन द गुप्त एरा एण्ड इन अरेबिक (आर क्वासी-अरेबिक) न्यूमेरल्स" शीर्षक लेख है जो १८८२ मे न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल,(तृतीय शृ खला) जि० २, पृ० १२८ इ० मे प्रकाशित हुआ। इस लेख का प्रकाशन उन्होने अपने इस सिद्धान्त के समर्थन मे किया था कि १८९ (९०) ई० अथवा १९० (९१) ई० मे गुप्त सवत् का प्रारम्भ हुआ, उनका यह सिद्धान्त प्रमुख रूप से शीलादित्य सप्तम् के अलीन दानलेख (जिसके विषय मे ऊपर पृ० ५१ पर चर्चा की गई है) से निष्पन्न इस अनुमान पर आधारित था कि सवत् का प्रारम्भ १०० ई० के पश्चात् का नही हो सकता, इसके साथ ही 'स्पलपति' की प्राचीनतम मुद्राओ पर उन्होने '६९८ गुप्त' पाठ पढा जिससे-चू कि वे 'स्पलपति' को ८८७ ई० एव ९१६ ई० के बीच मे रखते हैं-यह ज्ञात होता है कि गुप्त सवत् का प्रारम्भ १८० ई० के पश्चात् हुआ था। ३१९ ई० के सवत् के विषय मे उनका सुझाव–जो

१ जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, F S जि० ९ पृ० १७९।

काठियावाड के चारणो की उपकल्पित परम्परा मे बताई गई स्कन्दगुप्त की शक्तिहीनता पर आधारित था-यह था कि भभव है कि इसका प्रारम्भ कुमारगुप्त की मृत्यु से हुआ हो तथा वलभी राजवश द्वारा स्कन्दगुप्त के विरुद्ध विद्रोह की स्मृति मे चलाया गया हो। उन्होने आगे कहा कि इस प्रकार की परिस्थितियो के बावजूद वलभी राजवश गुप्त सवत् का प्रयोग करता रहा। इस सिद्धान्त का मुख्य स्वर सर ई० क्लाइव वेले की श्री टामस के साथ इस विषय पर सहमति मे है कि कावुल मुद्राओ की तिथियो मे 'गुप्तस्य काल' इस पूर्ण पद का सक्षिप्त रूप प्राप्त होता है। किन्तु, सूक्ष्म विवरणो के प्रसङ्ग मे उनका श्री टामस से भारी मतभेद था। इस प्रकार (वही, पृ० १४५) उन्होंने इन चिन्हो को श्री टामस से ठीक उलटे ढग से पढा तथा ६१७ की परम्परागत तिथि को स्वीकार करने के स्थान पर उन्हे इन चिन्हो मे ८८७ ई० से लेकर ६१६ ई० के बीच की अवधि से मेल खाने वाली विविध सख्याए प्राप्त हुई, जिन्हे उन्होने 'स्यलपति' के साथ नियोजित किया। इन मुद्राओ पर प्राप्त तिथियो की सम्यक् व्याख्या मुख्य रूप से इस वात पर निर्भर है, और जिसका निश्चित होना अभी शेष है, कि 'स्यलपति'[1] तथा अन्य सबधित शासको का ठीक-ठीक समय क्या है। यहा इस विषय पर विस्तार के साथ विचार उपयुक्त नही होगा, अत यहा इस समस्या पर विस्तार के साथ विचार न करके मैं केवल यह दिखाने के लिए कुछ तथ्य प्रस्तुत करना चाहता हूँ कि इन तिथियो के विषय मे सर ई० क्लाइव वेले की व्याख्या सर्वथा अग्राह्य है। विचाराधीन मुद्राओ मे वे मुद्राए, जिन पर तिथि सर्वाधिक स्पष्टरूपेण अकित है (वही, प्रतिचित्र ७, स० २४ से २७ तक) वे किसी ऐसे शासक की है जिसका नाम नही दिया गया है। वे 'स्यलपति' से नही सवद्ध की जाती अपितु उन्हे अपेक्षाकृत और वाद का माना जाता है। तथापि, उन्हें उसी शृ खला का माना जाता है, उनकी सुस्पष्टता के कारण मैं उन्हे पहले लेता हूँ। यदि हम

१ इस प्रसग में मैं प्रिंसेप्स एसेज जि० १, पृ० ३०४, प्रतिचित्र २५, स० २, मे दी गई 'स्यलपति' की मुद्राओ की ओर विशेष ध्यान दिलाना चाहता हू, इसमे, जैसा कि सर ई० क्लाइव वेले की तालिका से स्पष्ट है, असदिग्धरूपेण ८१४ तिथि प्राप्त होती है जिसके अनुचिन्ह उसी प्रतिचित्र के सख्या १ पर भी देखे जा सकते हैं। इस स० २ में अश्वारोही के पीछे वही गुम्फाक्षर, ड ड (ट ट नहीं) प्राप्त होते हैं जो सर ई० क्लाइव वेले की स० २५, २६ तथा २७ पर मिलते हैं, साथ ही, जैसा कि स० १ से स्पष्ट है, इसके ऊपरी कोने में अश्वारोही के सम्मुख वही चिन्ह दिखाई देता है (जिसे सर ई० क्लाइव वेले ने अपनी स० २० मे अवल अर्थात् 'ठीक (भार अथवा मूल्य)' की भोडी अनुकृति बताया) जो अन्य मुद्राओ पर इसी दशा मे मिलता है तथा जो स्वरूप मे एक हत्थेदार यष्टि के ऊर्ध्वभाग पर स्थित अधचन्द्र के समान है। इन समानताओ से यह प्रतीत होता है कि सभवत सर ई० क्लाइव वेले की स० २५, २६ तथा २७ (तथा अन्य) वस्तुत 'स्यलपति' से सबधित हैं, यद्यपि पृष्ठभाग पर उसका नाम नहीं मिलता। तथा, प्रिंसेप्स एसेज प्रतिचित्र २५ स० २ पर स्पष्टरूपेण अकित ८१४ तिथि यह और निर्देशित करती है कि सर वेले की स० ७, ८, ९ तथा १० पर अकित अकों को ७०७ तथा ७२७ नहीं पढना चाहिए। सर ई० क्लाइव वेले ने 'स्यलपति' को ८८७ ई० से ६१६ ई० तक की अवधि म रखा, यह प्रिंसेप की मुद्रा पर अकित ८१४ की तिथि से अत्यन्त सतोष-जनक ढग से मेल खाता है यदि हम ८१४ को शाक सवत् में रखें जिससे हमे ८९१-९२ ई० की तिथि प्राप्त होगी। श्री टामस ने जर्नल आफ व रायल एशियाटिक सोसायटी, F S जि० ९, पृ० १७९) उसे लगभग उसी समय अर्थात् 'दशम् शताब्दी के प्रारभ में' रखा। इसके विपरीत जनरल कनिंघम ने (आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया, जि० १४, पृ० ४५) उसे अपेक्षाकृत पहले ८०० ई० के लगभग, रखा है किन्तु इसके लिए उन्होंने कोई साक्ष्य नहीं दिया है। मैं 'स्यलपति' की सभाव्य तिथि के विषय में कोई अन्य सूचना नहीं पा सका हू।

सर ई० क्लाइव वेले द्वारा दी गई अको की सारणी (वही, प्रतिचित्र ७) की सहायता से उनका परीक्षण करें, तो यह तुरन्त स्पष्ट हो जाता है कि अ क २४, '८०२ गु'न बता कर केवल '८०४' अ क बताता है एव उसके बाद और कुछ नही है, तथा अ क २५, २६ और २७ '८१२ गु' न बताकर केवल '८१४' बताते हैं और इनके भी बाद और कुछ नही आता, वस्तुत अ क एकदम उनके समान हैं जिन्हे सर ई० क्लाइव बेले ने स्वय स० १६ से २३, स० २६ से ३१ तक पर तथा ३४ पर केवल '८१४' पढा था। इन दृष्टान्तो मे उपकल्पित गु उस चिन्ह के अतिरिक्त और कुछ नही है जो इन अ को मे ८२ एव ८४ मे अन्तर करता है। सर ई० क्लाइव वेले के पाठ मे एक और विचित्र असगति यह है कि अ को को मुद्रा के किनारे से चलकर एक दिशा मे पढना होता है तथा उपकल्पित गु को दूसरी दिशा से, इसके परिणामस्वरूप '८०२ ग्रि' तथा '८१२ ग्रि' के रूप मे एक विलक्षण व्यवस्था का दर्शन होता है। हमे यहा यह ध्यान देना है कि सर ई० क्लाइव वेले ने यह सूचना दी (वही, पृ० १४५ इ०) कि श्री टामस ने इन चिन्हो को जिनका सभावित अर्थ गु, गुप् तथा गुप्त था, उनके अपने ढग मे ठीक उल्टे ढग से पढते हुए सपूर्ण तिथि को एक ही दिशा मे मुद्रा के अन्दर की ओर से पढा तथा सभी अ को को केवल एक ही तिथि अर्थात् 'गु ६१७' पदान करते हुए बताया, उनके अनुसार यह गुप्त सवत् मे सामन्त राजवश की प्रारभिक तिथि का द्योतक था। इस सभावना को स्वीकार करते हुए कि प्रथम चिन्ह का अर्थ गु हो सकता है, अ को की इस ढग से व्याख्या सर ई० क्लाइव वेले की सारणी से भी समानरूपेण पमाणित होती है। किन्तु प्रथम चिन्ह का अर्थ गु न हो सकता है और न है। और सारणी को देखने से तुरन्त स्पप्ट हो जाता है कि अ को को, सर ई० क्लाइव वेले के समान, मुद्राओ के किनारो से पढना चाहिए, तथा ये तिथिया, जैसा कि मैं ऊपर बता चुका हूँ, वस्तुत ८०४ एव ८१४ के अतिरिक्त और कुछ नही है। स्वय 'स्यलपति' की मुद्राओ मे (प्रतिचित्र १, स० ३ से ५ तथा ७ से १०) स० ७ को '७०७' तथा ८९ और १० को '७२७' पढा जाता है तथा इनमे गुप्त सवत् का कोई उल्लेख नही माना जाता, तथा ये पाठ-यदि इन तिथियो को उपरोक्त स० १६ से २७, २६ से ३१ तथा ३४ की तिथियो के समान मुद्राओ के किनारो से पढा जाए तो-अ को की सारणी के अनुरूप हैं। दूसरी ओर, इन सातो मुद्राओ पर प्राप्त अको को यदि अन्दर की ओर पढा जाए तो उन्हे क्रमश '८०८' तथा '८६८' मान लेने मे कोई विशेष आपत्ति नही दिखाई पडती। अब स० ३, ४ और ५ शेष बचते हैं जिन्हे दो सदिग्ध अको, '६८ गु' एव '६६ गु', के साथ 'गुप्त' पढा जाता है, 'शतक लोप' के सिद्धान्त के अनुसार इनका अर्थ (६)६८ तथा (६)६६ होगा। दुर्भाग्यवश, इनका समाधान इतना सरल नही है, क्योकि यद्यपि वे चिन्ह, जिनका अर्थ गुप्त माना जाता है, किसी न किसी प्रकार के अक रहे होंगे-सर ई० क्लाइव वेले की सारणी मे ऐसा कुछ नही मिलता—और अन्य कही भी मुझे नही मिलता—जिससे उनका सख्यात्मक मूल्य जाना जा सके। किन्तु, उनका सही पाठ प्राप्त करने के प्रयास मे हमे सबसे पहले इस पर ध्यान देना चाहिए कि स० ४ तथा ५ पर जिस चिन्ह को सर ई० क्लाइव वेले ने ६ का अक पढा तथा अपनी सारणी मे इसी रूप मे प्रविष्ट किया, वह ठीक उस स्थान पर है जो स्थान, ऊपर पृ० ५७, टिप्पणी १ पर उल्लिखित, प्रिसेप की मुद्रा स० १ मे एक ऐसे चिन्ह से युक्त है जो आडी मूठ से युक्त छोटी यष्टि के ऊर्ध्वभाग पर स्थित अर्धचन्द्र के सदृश दिखाई पडता है, और इससे यह सिद्ध होता है कि यह चिन्ह अक नही है। मैं यहा इन विवादास्पद चिन्हो का सर ई० क्लाइव वेले द्वारा दिए गए अकन (वही, प्रतिचित्र ६, स० ६) की प्रतिकृति देता हूँ, जिन्हे वे तथा श्री टामस गुप्त शब्द का निरूपण मानते हैं तथा जिन्हे वे (वही, पृ० १२७) 'इस शब्द के सामान्य स्वरूप का उपयुक्त चित्रण' बताते हैं। यहा मैं उनका वास्तविक अभिप्राय जानने का प्रयास न करके केवल उनके इस अभिप्राय की ओर सकेत करना चाहता हूँ कि वे किसी न किसी प्रकार के अक है। किन्तु

गु - प्त

कोई भी योग्य लिपिशास्त्री बिना किसी हिचकिचाहट के यह मान लेगा कि ये सर्वथा ही गुप्त शब्द के सामान्य स्वरूप के सदृश नही है तथा किसी भी ज्ञाता लिपि के अनुसार उन्हे यह नही पढ़ा जा सकता, श्री टामस के अनुसार (वही, पृ० १२८) इन्हें 'इस शब्द का अवकृष्ट तथा सक्षिप्त रूप' तथा सर ई० क्लाइव बेले के अनुसार (वही, पृ० १४५) 'शब्द का गभीर अपभ्रष्टीकरण' मानने पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते है। उपरोक्त मे मैं केवल इतना जोड़ूगा, जैसा कि मैं ऊपर पृ० १८ इ० पर बता चुका हूँ, कि गुप्तस्य काल अथवा गुप्त-काल सर्वथा काल्पनिक है एव इसका कोई यथार्थ आभिलेखिक अस्तित्व नही है, और इस कारण काबुल मुद्राओ अथवा किन्ही अन्य मुद्राओ पर उसका सक्षिप्त रूप होने का प्रश्न ही नही उठता। अपने लेख के पश्चात् दी गई टिप्पणी मे सर ई० क्लाइव बेले ने महाराज हस्तिन् तथा सक्षोभ के दानलेखो मे प्रयुक्त बृहस्पति के द्वादश वर्षीय चक्र के सबध मे कुछ विचार प्रकट किए। इस प्रसग मे उनके विचार सर्वप्रथम तो जनरल कनिंघम की इस त्रुटिपूर्ण मान्यता को स्वीकार करने से गभीररूपेण दूषित हो जाते हैं कि इस चक्र के सवत्सरों का प्रारम्भ और अन्त सदैव चान्द्र-सौर वर्षो मे होता है, और फिर वे ऐसी कई गलतिया करते हैं जिनकी ठीक ठीक आलोचना कैसे की जाए यह जानना बड़ा कठिन है। उन्होने भुमरा स्तभ-लेख (स० २४) मे उल्लिखित सवत्सर को महा-माघ के स्थान पर महा-मार्गशिर माना, यह एक ऐसी त्रुटि थी जिसने इस लेख को दो सवत्सर आगे बढा दिया। उन्होंने जनरल कनिंघम के पाच निष्कर्षो मे केवल एक को शुद्ध माना, जो भुमरा लेख मे महा-मार्गशिर के इस उल्लेख के सदर्भ मे था। यह मान कर कि जनरल कनिंघम के अनुसार उस सवत् का समय १६६-१६७ ई० के स्थान पर १६७-६८ ई० था स्वय उन्होने उनको अकारण ही गलत बना दिया। तथा, उन्होंने इस बात का सर्वथा विस्मरण कर दिया कि चूकि प्रत्येक चक्र मे सामान्यतया बारह वर्ष होते हैं और उनका अपना प्रस्तावित समय कनिंघम द्वारा प्रस्तावित समय से ठीक चौबीस वर्ष बाद पड़ता है, अत उनके अपने निष्कर्ष सामान्य परिस्थितियों मे जनरल कनिंघम के निष्कर्षो के समान ही शुद्ध अथवा अशुद्ध होगे, किन्तु इस विशिष्ट दृष्टान्त मे वे जनरल कनिंघम के निष्कर्षो की अपेक्षा कम शुद्ध होंगे क्योकि जनरल कनिंघम की सारणी के अनुसार, जिसे उन्होंने ठीक माना है-३९४ एव ३९६ ई० के बीच एक सवत्सर का विलोपन हैं, इससे यद्यपि जनरल कनिंघम के निष्कर्षो पर कोई प्रभाव नही पड़ता है किन्तु उनके अपने निष्कर्षो पर पड़ता है जबकि वे गुप्त सवत् २०९ को जैसा कि स्वय लेख मे अकित है (स० २५) महा-आश्वयुज के स्थान पर महा-कार्तिक सवत्सर का समकालीन बनाते है। वास्तव मे, उनके मूल लेख तथा अनुवर्ती लेख के सम्यक् परीक्षण से सिद्ध हो जाता है कि उनके द्वारा प्रस्तावित १९० ई० के समय का कोई आधार नहीं है, तथा इस सिद्धान्त का इसके अतिरिक्त और कोई महत्व नही है कि यह एक सर्वथा गौण प्रश्न उपस्थित करता है, और चूकि इसके साथ एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् का नाम जुड़ा है अत मुख्य प्रश्न के समाधान के पूर्व इस पर विचार और फिर इसका तिरस्कार किया जाना आवश्यक हो जाता है।

१८८३ मे जनरल कनिंघम ने अपनी पुस्तक बुक आफ इन्डियन एराज प्रकाशित किया जिसमे उन्होंने कुछ परिवर्धनो के साथ गुप्त सवत् तथा बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र के ऊपर लिखे गए उस प्रबन्ध को नए रूप मे प्रस्तुत किया जो आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया, जि० १०, पृ० १११ इ० मे प्रकाशित हो चुका था, उनके निष्कर्षो मे कोई परिवर्तन नही हुआ था। उन्होंने यह स्वीकार किया (वही, पृ० ५०) कि गुप्त सवत् की समस्या का अन्तिम समाधान अभी नही हो पाया है। सभवत इस विषय पर की गई अपनी गवेषणाओ मे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि सवत् के प्रारम्भ के लिए १६७-६८ ई० तथा २६२-६३ ई० के दो ही विकल्प हैं, किन्तु इन दोनो तिथियो मे भी इस समय भी (वही, पृ० ५७) उनका झुकाव प्रथम तिथि की ओर अधिक था, उनके अनुसार, यह तिथि न केवल

२६२-६३ ई० अपितु "अब तक प्रस्तावित अन्य सभी तिथियो की अपेक्षा अधिक स्वीकार्य" थी। तदनुसार, उनकी सारणी स० १७ मे गुप्त सवत् विषयक स्तम्भ मे हम (वही पृ० १४२) सवत् का समय १६६-६७ ई० तथा सवत् का प्रारम्भ १६७-६८ ई० पाते हैं। बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्रो के संवत्सर उसी सारणी के अन्य स्तम्भ मे दिखाए गए हैं, तथा, इस चक्र पर उनके विस्तृत विवरणो से हमे ज्ञात होता है कि सवत्सरो के निश्चयन के लिए उन्होने पहले अवसर पर प्रयुक्त पद्धति का ही प्रयोग किया था। वलभी सवत् के सबध मे उनका मत अब भी यही था (वही, पृ० ५३, ६३) कि वलभी सवत् ९४५ की तिथि मे अकित वेरावल अभिलेख से यह प्रमाणित होता है कि ३१९ ई० मे इसका प्रारम्भ हुआ था, यह इसका समय नही था। तथा वे यह भी (वही, पृ० ५०) अत्यन्त स्पष्ट रूप से सकेतित करते हुए प्रतीत होते हैं कि, उनके विचार मे, इस सवत् के वर्षो का क्रम-स्थापन कार्तिक (अक्टूबर-नवम्बर) शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा (प्रथम दिन) से प्रारम्भ होने वाले दक्षिणी विक्रम-सवत् के वर्षो के क्रम-स्थापन से अभिन्न था। उन्होने यह मत भी प्रकट किया (वही, पृ० ५७) कि "यह निश्चित प्रतीत होता है कि वलभी शासको द्वारा प्रयुक्त सवत् वही था जिसका प्रयोग गुप्तो ने किया था, क्योकि "काठियावाड के चारणो की उपकल्पित परम्परा मे "वलभी राजवश के सस्थापक सेनापति भटार्क को स्कन्दगुप्त के शासनकाल के अन्तिम दो वर्षो की अवधि मे सौराष्ट्र का प्रान्तीय शासक बताया गया है।" और उन्होने सुझाया (वही, पृ० ५३) कि वर्तमान सभ्रान्ति का कारण यही है कि वलभी शासको ने स्वय वलभी सवत् के प्रयोग के स्थान पर १६६-६७ ई० वाले गुप्त सवत् का प्रयोग किया। इस अवसर पर प्रकट किए गए नवीन विचारो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण (वही, पृ० रोमन १० इ०, ४७ इ०, ५८) डा० ब्यूलर द्वारा इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० १५१ मे प्रकाशित सौराष्ट्र के शासक जाइकदेव के घिनिकि ताम्रलेख का उल्लेख था। यह लेख विक्रम सवत् ७९४ अर्थात् ७३६-३७ ई० की तिथि से अकित है, उन्होने इस लेख को प्रामाणिक माना तथा इस जाइकदेव को मोरवी लेख के जाइक से अभिन्न माना, जिसकी (गुप्त) सवत् ५८५ बीत चुके वर्ष की तिथि, जनरल कनिघम के मतानुसार, ७५१-५२ ई० के बराबर होगी, इन दोनो लेखो की समकालीनता से निश्चित-रूपेण उनके सिद्धान्त का प्रबल समर्थन प्राप्त होता है। किन्तु इस तिथि—जिसमे प्रारम्भ से ही सदिग्धता के तत्व वर्तमान थे—के सूक्ष्म परीक्षण के उपरान्त मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि इस घिनिकि लेख को निश्चित रूप से जाली मान कर तिरस्कृत कर देना चाहिए।[1] यदि यह जाली नही

१　इस लेख में तिथि (प्रकाशित शिलामुद्रण से, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० १५५, तथा प्रतिचित्र, पक्ति १ ई०) इस प्रकार दी गई है—विक्रमसवत्सर-शतेषु सप्तसु चतुर्नवत्यधिकेष्वंकत ९४७ कार्तिक मासापर-पक्षे अमावास्यायां आदित्यवारे ज्येष्ठा-नक्षत्रे रविग्रहणपर्वणि अस्यां संवत्सर-मास-पक्ष-दिवस-पूर्वायां तिथावद्येह भूमिलिकाया इत्यादि—"विक्रम सवत्सर के सात सौ चौरानवें मे (अथवा) अको मे ७९४ मे (यह उल्लेखनीय है कि ४ को छोडकर इन अको की व्याख्या पूर्णतया पहले शब्दो मे दी गई सूचना पर आधारित है, इनमे से प्रथम दो ७ एव ९ के अतिरिक्त और कुछ नही लगते), कार्तिक मास के द्वितीय पक्ष मे अमावस्या को रविवार के दिन, ज्येष्ठा नक्षत्र के अन्तर्गत सूर्यग्रहण के अवसर पर, ऊपर बताए गए वर्ष, मास, पक्ष तथा (सौर) दिन के अनुसार आज यहाँ भूमिलिका में" इत्यादि। गणना के लिए इस सवत् से हमे विक्रम सवत् ७९४ मिलता है जो, लेख के शाब्दिक अनुवाद के अनुसार, प्रचलित वर्ष होगा, इसके अतिरिक्त ये सूचनाए दी गई हैं—कार्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर), कृष्ण पक्ष, अमावस्या तिथि, रविवार, सूर्यग्रहण तथा ज्येष्ठा नक्षत्र अथवा 'ल्यूनर मैंसन'। तथा, चू कि अभिलेख के विवरण इसे विशिष्ट रूप से सौराष्ट्र अथवा काठियावाड से सबद्ध करते हैं, अत. हमे यहा उद्धृत विक्रम सवत्सर को दक्षिणी विक्रम सवत्सर मानना होगा, जिसका प्रारम्भ कार्तिक शुक्ल १ से होता है एव जिसमे महीनो की अमान्त दक्षिणी

है तो केवल यह माना जा सकता है कि जाइक तथा जाइकदेव अलग अलग व्यक्ति थे। किसी भी दशा मे गुप्त सवत् के सबध मे इस लेख का कोई उपयोग नही है।

१८८४ मे डा० आर० जी० भण्डारकर ने अपनी पुस्तक अर्ली हिस्ट्री आफ द डकन, परिशिष्ट अ, पृ० ९७ इ० मे इस प्रश्न पर एक लेख दिया जिसमे उन्होने गुप्त सवत् के समय के लिए

व्यवस्था प्रयुक्त होती है (द्र० सारणी ३) जिसमें प्रत्येक मास का दूसरा पक्ष कृष्ण पक्ष होता है। वस्तुत यह लेख से ही प्रमाणित हो जाता है क्योकि इसमे अमावस्या तिथि को मास के द्वितीय पक्ष मे रखा गया और अमावस्या निश्चित रूप से कृष्ण पक्ष मे पडती है। तथा श्री श० ब० दीक्षित ने मुझे बताया है कि यह ज्येष्ठा नक्षत्र के उल्लेख से भी स्पष्ट है क्योकि यह कभी भी पूर्णिमान्त उत्तरी कार्तिक की अमावस्या तिथि पर नहीं पड सकता। दक्षिणी विक्रम सवत् ७०४ मे रखी जाने पर सारणियो के अनुसार यह तिथि शक सवत् ६५९ बीत चुके वर्ष में, तथा दक्षिणी विक्रम सवत् ७९५ मे रखी जाने पर यह शक सवत् ६६० बीत चुके वर्ष मे पडेगी। इन दो शक वर्षों—इन्हे बीत चुके वर्ष के रूप में लिया जाय—को आधार मानने पर श्री श० द० दीक्षित मुझे इस अकित तिथि से सगति रखने वाली दो अग्रेजी तिथियां देते हैं, विक्रम सवत् ७९४ के लिए २८ अक्टूबर ७३७ ई० सोमवार जबकि अनुराधा नक्षत्र था तथा सभवत सूर्यग्रहण नहीं था (कम से कम, इण्डियन एराज, पृ० २११ पर उल्लिखित नही मिलता), तथा विक्रम सवत् ७९५ के लिए १६ नवम्बर ७३८ ई० रविवार जबकि ज्येष्ठा नक्षत्र था, किन्तु इस दिन सूर्यग्रहण नही हो सकता था क्योकि इसके पूर्ववर्ती अमावस्या पर अर्थात् १७ अक्टूबर ७३८ ई०, शुक्रवार को, अथवा अग्रेजी सारणियो के अनुसार (इण्डियन एराज, पृ० २११) १८ अक्टूबर शनिवार को एक सूर्यग्रहण हो चुका था (दिन का अन्तर इस कारण है क्योकि सूर्य तथा चन्द्र का सम्मिलन सूर्योदय के समय देर मे हुआ, और इसी कारण यह ग्रहण भारत में नहीं देखा जा सका था)। यह अवश्य ही पूर्णिमान्त उत्तरी कार्तिक की अमावस्या थी जो ७३८ ई० मे पडी थी, किन्तु इस मान्यता को कि यही अभीष्ट दिन था मेरे द्वारा ऊपर दिए गए तथ्य बाधित करते हैं और ये हमे उल्लिखित मास को पूर्णिमान्त उत्तरी मास मानने से रोकते हैं, इस मान्यता के स्वीकरण में दूसरी बाधा श्री श० ब० दीक्षित द्वारा अभिनिश्चित यह तथ्य है कि १७ अक्टूबर ७३८ ई० को स्वाति एव विशाखा नक्षत्र थे। विवरणो को पूर्ण करने के उद्देश्य से, मैं केवल यह जोडूगा कि उनकी गणना के अनुसार ७३७ ई० मे पडने वाले पूर्णिमान्त उत्तरी कार्तिक मास की अमावस्या तिथि का अग्रेजी समरूप २८ सितम्बर ७३७ ई० का शनिवार होगा जबकि चित्रा एव स्वाति नक्षत्र थे तथा सूर्यग्रहण नहीं था। अत एकमात्र अग्रेजी तिथि जो इस लेख से सगति रखती है वह १६ नवम्बर ७३८ ई० का रविवार है, तथा श्री ब्यूलर ने इस लेख के प्रकाशन पर, प्रो० जैकोबी की गणनाओं को आधार मानते हुए, इस तिथि को ही स्वीकार किया। इस तिथि को प्राप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने लेख का अनुवाद विक्रम सवत् ७९४ बीत चुके वर्ष तथा ७९५ प्रचलित वर्ष के अर्थ मे किया। तथा, ग्रहण की चर्चा के सदर्भ मे, जो उसी अमान्त गणना के अनुसार एक चन्द्रमास पहले पूर्ववर्ती महीने के आश्विन की अमावस्या तिथि पर पडा, वे इन निष्कर्षों पर पहुचे कि यह लेख वस्तुत आश्विन की अमावस्या तिथि पर जारी किया गया था, क्योकि, दृष्ट न होने पर भी इस ग्रहण का घटित होना ज्ञात था और इस प्रकार यह एक विशेष पुण्य का अवसर था, किन्तु इस राजपत्र का वास्तविक आलेख एक महीने बाद कार्तिक की अमावस्या को तैयार किया गया तथा आलेखकर्ता ने असावधानीवश इन दोनो अवसरो में भेद नही किया। जनरल कनिंघम ने अपनी पुस्तक इण्डियन एराज मे इस तिथि पर भी विचार किया है। उनके निष्कर्ष थे कि यह तिथि विक्रम सवत् ७९४ है, ७९५ नही, किन्तु अभिप्रेत ग्रहण की तिथि (१७ अथवा) १८ अक्टूबर ७३८ ई० है। इन परस्पर विरोधी निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए उन्होंने यह माना कि वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक मास से न होकर मार्गशीर्ष (नवम्बर-दिसम्बर) से होता था, जो उस

३१८–१९ ई० के सिद्धान्त के स्वीकरण की घोषणा की।[1] उन्होने यह विचार प्रकट किया (वही, पृ० ९७) कि अलबेरुनी के इस कथन, कि सवत् का प्रारम्भ गुप्तो के विनाश के समय से हुआ, का

पद्धति के अनुरूप था जिसके विषय मे अलबेरूनी बताता है कि वह सिंध तथा कन्नौज एव अन्य प्रदेशो के लोगो मे प्रचलित थी तथा मुल्तान के लोगो मे उसके आने से कुछ समय पहले तक इसका प्रचलन था। इस व्यवस्था से अवश्य ही विक्रम सवत् ७९४ का कार्तिक मास वर्ष के अन्त मे पडेगा और तत्परिणामस्वरूप यह ७३७ ई० मे न पडकर ७३८ ई० मे पडेगा। किन्तु दक्षिणी गणना के अनुसार ७३८ ई० की अमावस्या तिथि १६ नवम्बर को पडती है जो ग्रहण का दिन नही था। तदनुसार, अभी प्रश्न का पूर्ण समाधान शेष था, तथा जनरल कनिघम ने इस व्यवस्था को पूर्ण करने के लिए कार्तिक के स्थान पर आश्विन पाठ का प्रस्ताव रखा जो कि ग्रहण के वास्तविक दिन अर्थात् (१७ अथवा) १८ अक्टूबर, ७३८ ई० से मेल खाता है। "किन्तु चू कि यह दिन शनिवार था, जोकि एक अशुभ दिन है, अत दानलेख अगले दिन अर्थात् रविवार को लिखा गया, जोकि कार्तिक मास का प्रथम दिन था, और सभवत इसी कारण ग्रहण के वास्तविक दिन के लिए कार्तिक के स्थान पर आश्विन लिख दिया गया।" वस्तुत लेख मे यह परिवर्तन प्रस्तावित करने का कोई कारण नही था, क्योकि जिन स्थानो का उल्लेख अलबेरूनी ने किया है वहा मार्ग शीर्ष से प्रारम्भ होने वाला वर्ष मासो की पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था से ही सबद्ध हो सकता था, और उस व्यवस्था के अनुसार १७ अक्टूबर ७३८ ई० को—जिस दिन, जैसा कि हम देख चुके हैं, भारत मे ग्रहण घटित हुआ—वस्तुत कार्तिक की अमावस्या थी। किन्तु, इस दृष्टान्त मे, पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था के विरुद्ध कई बातें उठती हैं जिनकी ओर मैंने ऊपर ध्यान आकर्षित किया है। अतएव, जनरल कनिघम के सुझाव इस समस्या के समाधान के लिए अपर्याप्त हैं, न ही इस तिथि से सबधित डा० ब्यूलर की व्याख्या पर्याप्त है। क्योकि, यद्यपि इस प्रश्न का अन्तिम समाधान अभी शेष है कि दक्षिणी विक्रम सवत् ७९४ प्रचलित वर्ष अथवा ७९५ बीत चुके वर्ष में दी गई तिथि शक सवत् ६५९ प्रचलित वर्ष अथवा ६६० बीत चुके वर्ष की है, तथापि उनके द्वारा वर्णित ग्रहण जनरल कनिघम द्वारा वर्णित ग्रहण के समान ही भारत वर्ष मे दृष्ट नही था, और यह मानना भी कि यही अभिप्रेत ग्रहण है तथ्यो तथा लिखित विवरण के बीच एक बडा अन्तर उपस्थित करता है, जो कि सभवत एक प्रामाणिक लेख मे नही हो सकता। यहा मैं यह स्वीकार करता हू कि मैंने प्रारम्भ से ही यह सोचा था कि धिनिकि लेख एक जाली लेख है—अशत इस कारण कि इसमे प्रयुक्त देवनागरी अक्षर, कुछ प्राचीन विशिष्टताओ से युक्त होने पर भी, उनसे अवर प्रकार के हैं जिनका प्रयोग कुछ ताडपत्र-पाण्डुलिपियो मे हुआ है, तथा ये राष्ट्रकूट शासक दन्तिदुर्ग के सामानगढ दानलेख—जिनका समय शक सवत् ६७५ बीत चुका वर्ष (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० १०८ तथा प्रतिचित्र) है तथा जो लगभग इसी समय के पास पडता है—मे प्रयुक्त अक्षरो से तुलना किए जाने पर अपरिष्कृत दिखाई पडते हैं, और अंशत इस कारण कि यह सवत् के लिए विक्रम नाम के प्रयोग का अन्य किसी प्राप्त साक्ष्य की तुलना मे इतना अधिक प्राचीन दृष्टान्त प्रदान करता है। मेरी धारणा यह रही है कि लेख को वलभी के लिए विक्रम रख कर जाली बनाया गया। मैं जानता हूँ कि इस मत को समर्थित नही किया जा सकता क्योकि लेख मे दिए गए विवरण वलभी सवत् ७९४ (१११३–१४ ई०) अथवा एक वर्ष पूर्व या पश्चात् की तिथि के प्रति खरे नही उतरते। किन्तु मेरा विचार है कि ऊपर बताई गई प्राप्तियो से अब यह स्पष्ट हो जाता है कि यह लेख यथार्थत एक जाली लेख है। अक्षरो के अध्ययन के आधार पर मेरा ऐसा विश्वास है कि यह जालसाजी ग्यारहवी अथवा बारहवी शताब्दी मे की गई। चू कि ज्येष्ठा नक्षत्र सर्वदा कार्तिक की अमावस्या तिथि अथवा इस तिथि के दो दिन के भीतर ही आता है, अतएव इस विवरण को काफी सकटमुक्त समझ कर चुना गया, अन्य विवरण पूर्णतया काल्पनिक हैं।

१ वे ३१९–२० ई० को सवत् का समय उद्धृत करते हुए प्रतीत होते हैं (उदाहरणार्थ पृ० ९९, पक्ति १५)। किन्तु चू कि उन्होंने गुप्त वर्षों को बीत चुके वर्षो के रूप मे लिया, अत दृश्यमानत. उन्होंने ३१८–१९ ई० को ही सवत् का समय प्रमाणित किया।

एकमात्र कारण—जैसा कि हम शक संवत् के संबंध में देखते हैं—यह था कि हिन्दुओं ने उसे एक अशुद्ध परम्परा बताई थी, तथा यह कि इस संदर्भ में केवल यह तर्कसंगत होगा कि संवत् के प्रारम्भ के लिए उसकी बताई गई तिथि को तो स्वीकार कर लिया जाय तथा उसके उस विवरण को अस्वीकृत किया जाय जिसमें उसने उन परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिसमें इस संवत् की उत्पत्ति हुई थी, तथा उन्होंने यह विचार प्रकट किया(वही,पृ० ६८)कि कालान्तर में इस संवत् का वलभी संवत् नाम पड़ने का कारण यह था कि सौराष्ट्र में इसका प्रचलन सर्वप्रथम वलभी राजवंश द्वारा किया गया था, जो मूलत गुप्तों के अधीन थे, तथा वलभी शासकों के दानलेखों की तिथियों को सेनापति भट्टार्क के साथ इस राजवंश के उदय से संबद्ध नहीं किया जा सकता। इस संदर्भ में उनके द्वारा व्यवहृत दो कसौटिया मुख्य थी, बुधगुप्त के एरण स्तम्भ लेख में दिन विशेष का उल्लेख तथा महाराज हस्तिन् एव सक्षोभ के दानलेखों में उल्लिखित बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र के संवत्सरों के नाम। एरण लेख के विषय में उन्होंने कहा (वही, पृ० ६६) कि प्रो० के० एल० छत्रे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह शक संवत् ४०६ बीत चुके वर्ष[1] के लिए सही बैठता है जो ४८४-८५ ई० के बराबर है, अर्थात् ऐसा शक संवत् जो अलबेरूनी द्वारा बताई गई प्रारंभिक तिथि से मेल खाता है। यहा तक उनके द्वारा प्रयुक्त आधार उपयुक्त थे। किन्तु बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र के संदर्भ में (वही, पृ० ६६) वे पथभ्रष्ट हो गए। इसके कई कारण थे, अंशत इस सिद्धान्त के स्वीकरण के कारण कि चक्र के संवत्सर चान्द्र-सौर वर्षों में प्रारम्भ तथा समाप्त होते थे, अंशत संवत्सरों के जनरल कनिंघम की सारणियों का व्यवहार करने के उद्देश्य से यह मानने के कारण कि गुप्त तिथिया बीत चुके वर्षों एव प्रचलित संवत्सरों की परिचायिका हैं, जिससे यह निष्कर्ष निकला कि गुप्त संवत् १५६ महा-वैशाख संवत्सर के स्थान पर, जो कि लिखा हुआ है, महा-चैत्र संवत्सर होना चाहिए, और अंशत इस कारण कि उन्होंने लेख स० २२, के विषय में जनरल कनिंघम द्वारा प्रस्तावित परिवर्तन—गुप्त संवत् १६३ का १७३ में—को स्वीकार कर लिया। आगे दिए गए तर्कों में, जो उनके शेष लेख को आप्लावित करते हैं, उन्होंने यह सुझाया कि ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित थु-लु-फो-पो-तु वलभी का ध्रुवसेन द्वितीय था। किन्तु इस प्रसग में उनके इस विचार में किसी भाग को समर्थित करना अत्यन्त कठिन है कि "भट प्रत्यय में कोई महत्वपूर्ण बात नहीं संबद्ध है। यह एक विरुदमात्र अथवा आदरपूर्ण प्रत्ययान्त था, ठीक उसी प्रकार जैसे हम मराठों में पन्त अथवा राव हैं। सेन, सिंह तथा भट वलभी के आदरसूचक प्रत्ययान्त हैं तथा उनका निर्विशेषरूपेण प्रयोग हो सकता था। लेखों में ध्रुवसिंह नाम से उल्लिखित शासक को जनसाधारण द्वारा ध्रुवभट कहा जा सकता था और ह्वेनसांग ने यह नाम जनसाधारण में पाया होगा।" किन्तु, अब तक ज्ञात बहुसंख्यक वलभी दानलेखों में ध्रुवसिंह का नाम नहीं मिलता, न ही उनमें से किसी में इस मान्यता का हल्का सा भी आधार मिलता है कि सेन, सिंह एव भट प्रत्ययान्तों में कभी भी कोई संभ्रान्ति थी। और यद्यपि डा० आर० जी० भण्डारकर ने यह कहा है कि ह्वेनसांग वलभी के एकाधिक शासकों का उल्लेख करता प्रतीत होता है और जो उनके अनुसार, दो भाई, धरसेन

---

१ इसी से उन्होंने यह अनुमान लगाया कि लेख में वर्णित गुप्त संवत् १६५ भी बीत चुका वर्ष है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता। गुप्त तिथि तथा तदनुरूप अंग्रेजी तिथि का समीकार शक तिथि पर बिलकुल आधारित नहीं है, केवल हिन्दू सारणियों का प्रयोग करने पर हमें इस तक शक वर्ष के माध्यम से आना होता है। उनके अभिकथनों में शक संवत् के प्रचलित वर्षों एव बीत चुके वर्षों के बीच विचित्र संभ्रान्ति दिखाई पड़ती है। इस प्रकार यद्यपि उन्होंने ७८-७६ वर्षों का अन्तर रखते हुए शक संवत् ४०६-को उचित ही ४८४-८५ ई० के बराबर बताया, किन्तु इसके साथ ही उन्होंने वही अन्तर रखते हुए (उदाहरण के लिए) ५११-१२ ई० को शक संवत् ४३३ प्रचलित वर्ष के बराबर निश्चित किया।

तृतीय एव ध्रुवसेन द्वितीय थे, तथापि मुझे न तो श्री स्टेनिसलास जूलियन के और न श्री बील के अनुवाद मे ऐसा कोई साक्ष्य प्राप्त होता है जिसके आधार पर उनके विचार को माना जा सके कि ह्वेनसाग केवल दो शासको की चर्चा कर रहा था और इनमे कनिष्ठ शासक का नाम उसने थु-लु-फो-पो-तु बताया। जो भी हो, जैसा कि मैं ऊपर पृ० ४० पर सकेतित कर चुका हूँ, इस समस्या का तवतक समाधान नही हो सकता जवतक कि ह्वेनसाग द्वारा प्रयुक्त शब्दो की और स्पष्ट तथा विश्वसनीय व्याख्या न हो जाय।

और अन्तत, बगाल एशियाटिक सोसायटी की १७८४ से लेकर १८८३ तक की सेन्टेनरी रिव्यू मे डा० ए० एफ० आर० होर्नले (A F R Hoernle) ने पूर्ववर्ती गवेषणाओ का सक्षिप्त विवरण दिया तथा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे (वही, भाग २, पृ० १११) कि "श्री टामस द्वारा निश्चित की गई गुप्त साम्राज्य की अन्तिम तिथि को"—३१९ ई० को—"उन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओ मे से एक समझना चाहिए जिसकी सत्यता सुस्थापित हो चुकी है", तथा यह कि (वही, पृ० ११३) जनरल कनिंघम के इस सिद्धान्त, कि गुप्त सवत् का समय १६६-६७ ई० है,[1] की "सर्व स्वीकृति की तथा गुप्त सवत् के ऊपर अब तक की गई गवेषणाओ मे इसको अन्तिम निर्णय मान लिए जाने की सभी सभावनाए है।"

मालव सवत् ५२९ का मन्दसोर अभिलेख

ऊपर दिए गए सक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि इस समस्या के समाधान के लिए समय समय पर कितने मौलिक—किन्तु त्रुटिपूर्ण विचार प्रकट किए गए, इससे उन विद्वानो द्वारा अपने मत के समर्थन मे दिए गए तर्कों की अपर्याप्तता भी स्पष्ट हो जाती है, जिन्होने समस्या का सही समाधान पा लिया था।

किन्तु, यह अवश्य कहा जा सकता है कि जबतक उन परिस्थितियो—जिनके अन्तर्गत ३१९-२० ई० अथवा इसके लगभग प्रारम्भ होने वाले सवत् की उत्पत्ति हुई—के सम्बन्ध मे श्री रेनाद का अनुवाद मान्य तथा असशोधित रहा, तबतक इस दृष्टिकोण से कुछ कहने के लिए कि हमे अलबेरूनी की एक गलती पर विचार करना है, जिसके पीछे यह कारण था कि अलबेरूनी को प्रारम्भिक गुप्त शासको द्वारा प्रयुक्त ३१९ ई० से पूर्व के गुप्त सवत् तथा एक अन्य गुप्त सवत्—अथवा अधिक उपयुक्त शब्दो मे वलभी सवत्—जिसकी स्थापना का समय ३१९-२० ई० अथवा इसके लगभग था, के बीच सभ्रान्ति थी, यह भी कहा जा सकता है कि उस ऐतिहासिक घटना के विषय मे उसका विवरण शुद्ध था जिससे—जैसा कि वह कहता प्रतीत होता है—दूसरे सवत् की उत्पत्ति हुई थी। किन्तु, किसी निश्चित साक्ष्य के अभाव मे, समस्या के समाधान का स्वरूप निर्धारित करना सभव नही हो सकता था तथा श्री टामस, जनरल कनिंघम एव सर ई० क्लाईव बेले के विचारो के विरुद्ध सभवत: प्रवलतम तर्क निम्नलिखित असाधारण स्थिति मे अन्तर्निहित है जिस पर समय समय पर लोगो का ध्यान गया है किन्तु जिसका कभी समाधान नही किया गया। इसे सभी ने स्वीकार किया कि वलभी राजवश गुप्तो के बाद आया। यह भी स्वीकृत हुआ कि ३१८ ई० अथवा ३१९ ई० मे इस राजवश के किसी व्यक्ति ने वलभी नगर की स्थापना की, तथा, अशत इस घटना की स्मृति मे, एव अशत, गुप्त शासन की समाप्ति एव राजसत्ता की प्राप्ति की स्मृति मे, उसने इस समय से प्रारम्भ होने वाले वलभी सवत् को चलाया। और फिर भी—जैसा कि अन्य तथ्यो के साथ इस तथ्य विशेष से प्रमाणित होता

---

१ डा० होर्नले ने १६६ ई० को सवत् का प्रारम्भिक वर्ष बताया, किन्तु यह जनरल कनिंघम के निष्कर्षों का यथातथ्य निरूपण नही है।

है कि इस राजवंश का संस्थापक भटार्क २०७ वर्ष की तिथि, जो कि उनके अपने दानपत्रों में प्रयुक्त इस संवत् की प्राचीनतम तिथि है, से केवल एक पीढ़ी पूर्व आया—इस वंश के संस्थापक तथा उसके उत्तराधिकारियों ने गुप्त संवत् के स्थान पर इन स्मरणीय परिस्थितियों में प्रारम्भ किए गए अपने संवत् का प्रयोग नहीं होने दिया अपितु अपने संवत् की स्थापना हो जाने पर भी वे ऊपर पृ० ३२ इ० में दिए गए तीन प्राचीनतर प्रारम्भ बिन्दुओं के अनुरूप—कम से कम क्रमश २०५, २६४ एवं ३१८ वर्षों के लिए-(जैसा कि ४४७ वर्ष की तिथि में अंकित शीलादित्य सप्तम् के अलीन लेख से ज्ञात होता है) गुप्त संवत् का प्रयोग करते रहे। यह निश्चित है कि इस समूची समस्या के संबंध में इससे अधिक असंभावित बात की कल्पना नहीं की जा सकती।

इस समस्या के निश्चित समाधान की संभावना के लिए आवश्यकता इस बात की थी कि प्रारम्भिक गुप्त शासकों में किसी एक अभिज्ञेय शासक की उनके अपने अभिलेखों में प्रयुक्त संवत् से इतर किसी अन्य संवत् में कोई तिथि प्राप्त हो सकती। अन्तत यह तिथि मन्दसोर अभिलेख में प्राप्त हुई है। लेख के अनुसार मालव गण-संरचना के ५२९ वर्ष व्यतीत हो चुकने पर इस लेख का अंकन हुआ। लेख में कुमारगुप्त के सामन्त शासक बन्धुवर्मन् द्वारा कुमारगुप्त के लिए उपर्युक्त संवत् विशेष की ४९३ वर्ष की तिथि दी गई है।

इस संवत्, जिसे सुविधा के लिए मालव संवत् कहा जा सकता है, के प्रयोग का यह पहला दृष्टान्त नहीं था क्योंकि यह स्पष्टत वही संवत् है जिसका प्रयोग मालव शासकों के ७९५ वर्ष व्यतीत हो चुकने पर की तिथि में अंकित कनस्वा अभिलेख[1] में हुआ है, मध्यभारत में 'ग्यारसपुर' अथवा 'ग्यारिसपुर' से प्राप्त एक खण्डात्मक लेख—जो ९३६ वर्ष व्यतीत हो चुकने पर की तिथि में अंकित हैं—में इसका मालव-काल के स्पष्ट नाम से उल्लेख हुआ है जिसका अर्थ है 'मालव-संवत्' अथवा 'मालवों का समय'।[2] किन्तु, यद्यपि इस द्वितीय लेख पर अपना मत प्रकट करते हुए जनरल कनिंघम ने कहा[3] कि यह मालव संवत् ५७ ई० पू० में प्रारम्भ होने वाले उज्जैन के विक्रमादित्य का संवत् ही

---

१ इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १९, पृ० १६२ इ० में डा० कीलहार्न द्वारा संपादित। तिथि (प्रकाशित मूल, पृ० १६४ इ०, पंक्ति १४ इ०) इस प्रकार है—संवत्सर-शतैर्यातैः स-पंच-नवत्यर्गलैः सप्तभिर्मालवेशानाम् मंदिर धूर्जटे कृतम्। अर्थात् "मालव शासकों में (बताए गए वर्ष में) सात सौ पचानवे व्यतीत हो चुकने पर धूर्जटि (देवता) का (यह) मंदिर बनाया गया।"

२ आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ३३ इ० तथा प्रतिचित्र ११। तिथि, जिसका कुछ अंश टूटा हुआ है, प्रतिचित्र के अनुसार इस प्रकार है—मालव-कालच्छरदां षट्-त्रिंशत्संयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु अर्थात् "मालव संवत् (के प्रारम्भ)(अथवा मालवों के समय) से नौ सौ छत्तीस शरद् बीत चुकने पर"। मालव संवत् ५८९ बीत चुके वर्ष में अंकित (सं० ३५,) यशोधर्मन् तथा विष्णुवर्धन के मंदसोर अभिलेख की पंक्ति २१ में भी संवत् की गणना शरद में की गई है। यह उल्लेखनीय है क्योंकि यह उन साक्ष्यों में एक है, जो मालव संवत् का विक्रम संवत् से समीकरण सिद्ध करते हैं। यह लगभग असंदिग्ध है कि मूलत विक्रम वर्षों का प्रारम्भ कार्तिक मास (अक्टूबर—नवम्बर) के शुक्ल पक्ष की प्रथम तिथि से होता था। और अब भी, छः ऋतुओं के सामान्य विभाजन के अनुसार, शरद् ऋतु में कार्तिक दूसरा महीना है। किन्तु, ऋतुओं के दक्षिणी विभाजन-व्यवस्था के अनुसार, यह वस्तुत शरद् ऋतु का पहला महीना प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में जब वर्ष का केवल तीन ऋतुओं में विभाजन किया जाता था, उस समय भी यह ऋतु-विशेष का पहला महीना था।

३ आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ३४। वही, जि० ६, पृ० १६५ इ० तथा १७४ इ०।

है, किन्तु इस तथ्य को अब तक प्रमाणित नही किया जा सका है, इसका कारण यह था कि उपर्युक्त लेखो मे से किसी मे भी वास्तविक गणना के लिए अपेक्षित विवरण नही दिया गया है और न ही इनमे से किसी मे ऐतिहासिक समीकार का कोई आधार मिलता है। सद्य. ज्ञात मन्दसोर अभिलेख भी सगणना के लिए कोई विवरण नही देता। किन्तु, कुमारगुप्त का उल्लेख देने का कारण यह समानरूपेण उपयोगी है।

गुप्त अभिलेखो तथा मुद्राओ पर दृष्टिपात करने पर हम पाते हैं कि कुमारगुप्त के लिए प्राचीनतम तथा नवीनतम प्राप्त तिथि क्रमश गुप्त सवत् ९६ तथा १३०से कुछ अधिक हैं। प्रथम तिथि उसके बिल्सड अभिलेख (स० १०) से तथा दूसरी तिथि जनरल कनिंघम द्वारा प्राप्त मुद्राओ मे[1] से एक मुद्रा से प्राप्त होती है। मुद्रा से प्राप्त तिथि मे किसी प्रकार के सदेह के निराकरण के लिए गुप्त सवत् १२९ की तिथि से अकित मनकुवार लेख (स० ११) विचारणीय है। तथा इन दो भिन्न छोरो वाली तिथियो मे हम गुप्त सवत् ११३ को मध्यमान वर्ष के रूप मे ले सकते हैं।

इस मध्यमान वर्ष को गुप्त सवत् के काल विषयक विभिन्न मतो पर लागू करने पर, इसके लिए ये तिथिया प्राप्न होती हैं–१ श्री टामस के अनुसार १९०–९१ ई०, २ जनरल कनिंघम के अनुसार २७९–८० ई०, ३ सर ई० क्लाइव बेले के अनुसार ३०३–३०४ ई०, ४ एव मेरे अपने मत के अनुसार ४३२–३३ ई०।

तत्पश्चात् संप्रति विचाराधीन लेख मे कुमारगुप्त के लिए दी गई तिथि मालव सवत् ४९३ बीत चुके वर्ष को उपरोक्त सख्याओ के सदर्भ मे देखने पर हम पाते हैं कि मालव सवत् का प्रारम्भ-बिन्दु निम्नाकित तिथियो के कुछ वर्ष आगे अथवा पीछे होना चाहिए—१ ३०१ ई० पू०, २ २१४ ई० पू०, ३ १९० ई० पू०, तथा ४ ६१–६० ई० पू०।

इनमे से प्रथम तीन निष्कर्षो मे प्रत्येक अब तक अश्रुत तथा सर्वथा अप्रत्याशित एकदम नवीन सवत् की अपेक्षा करते हैं। साथ ही, जहा तक २१४ ई० पू० की सभावित तिथि का प्रश्न है, हमे उन कुछ मुद्राओ के अस्तित्व को नजरअन्दाज नही करना चाहिए जो कोटा से उत्तर लगभग पैंतालीस मील की दूरी पर स्थित मालव के उत्तर मे नागर नामक स्थान पर भारी सख्या मे पाए गए हैं तथा जिनकी ओर सर्वप्रथम श्री कार्लेयल ने ध्यान आकर्षित किया,[2] इन पर "मालवाना जय" अर्थात् "मालवो की जय" लेख मिलता है और जनरल कनिंघम के विचार मे इनकी लिपि का समय "२५० ई० पू० तथा २५० ई० के बीच मे" है। इन मुद्राओ से सिद्ध होता है कि एक सुविज्ञात एव महत्वपूर्ण कुल (Clan) के रूप मे मालवो का अस्तित्व उस समय के बहुत पूर्व से सुस्थापित था जब कि—जैसा कि मैं सोचता हूँ—उनकी "गणसरचना" हुई, जिसके कारण यह सवत् प्रारम्भ हुआ, और इसी प्रकार, दूसरी ओर, इलाहाबाद स्तम्भ लेख मे समुद्रगुप्त द्वारा पराभूत अन्य गणो के मध्य उनका उल्लेख यह प्रदर्शित करता है कि कम से कम उसके समय तक उन्होने अपना गणात्मक स्वरूप एवं महत्व बनाए रखा था। तथा, यदि हम किसी नए सवत् का आश्रय लेने को बाध्य होते हैं तो ये मुद्राए औचित्य पूर्वक अपनी तिथियो के सवत् के लिए हमे २२३ ई० पू० की तिथि का चयन करने को प्रेरित करेंगी, जो कि जनरल कनिंघम द्वारा अशोक की मृत्यु की तिथि निर्धारित की गई है,[3] तद-

---

१ वही, जि० ९, पृ० २४, तथा प्रतिचित्र ५, स० ७।

२ वही, जि० ६, पृ० १६५ इ० तथा १७४ इ०, और भी द्र० वही, जि० १४, पृ० १४९ इ० तथा प्रतिचित्र ३१, स० १९ से २५।

३ कार्पस इंसक्रिप्शनम इण्डिकेरम, जि० १, प्राक्कथन पृ० ७।

नुसार, मालव सवत् ४६३ की तिथि ईसवी सन् २७० के बरावर होगी अथवा जनरल कनिंघम के सिद्धात के अनुसार यह तिथि कुमारगुप्त के शासनकाल के प्रथम दशक मे पड़ेगी। किन्तु, जैसा कि मैं पहले कह चुका हू, यह मानने पर एक ऐसे सवत् के अस्तित्व को मानना होगा जिसके विषय मे अब तक देश के विभिन्न प्रदेशो से प्राप्त तथा परीक्षित अभिलेखो मे तनिक भी सूचना नही प्राप्त होती, और, यह एक ऐसा तात्कालिक उपाय है जिसका यथासभव त्याग किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस मत के अनुसार मालव सवत् ७६५ में अकित कनस्वा अभिलेख को तथा मालव मवत् ६३६ मे अकित, 'ग्यारसपुर' अभिलेख को क्रमश ५७२ ई० तथा ७१३ ई० मे रखना पडेगा, जवकि इनके अक्षरो को देखते हुए इनमे उपरोक्त कालो मे नही रखा जा सकता। और इस प्रकार—च् कि, कुछ सीमा-रेखाओ तक तो लिपिशास्त्रीय साक्ष्य का पालन होना चाहिए—यह एक दुरतिक्रम लिपिशास्त्रीय वाधा उत्पन्न करता है। तीसरा निष्कर्ष भी व्यवहारत उसी सीमा तक, एव प्रथम निष्कर्ष उससे भी अधिक लिपिशास्त्रीय साक्ष्य से असगत बैठता है।

इसके विपरीत, चतुर्थ निष्कर्ष सभी लिपिशास्त्रीय अपेक्षाओ को सतुष्ट करता है। और यह हमे सुविज्ञात विक्रम सवत्—परवर्ती परपरा के अनुसार जो मालवो के प्रदेश से घनिष्ठरूपेण सबधित है क्योकि इसकी स्थापना इसी प्रदेश के शासक राजा विक्रमादित्य ने की थी जिसकी राजधानी मालव प्रदेश की प्रमुख नगरी उज्जैन थी—के प्रारम्भ विन्दु ५७ ई० पू० के इतने निकट आता है कि हम इसमे समस्या का समाधान देखने को वाध्य हो जाते है, और तदनुसार हमे तिथियो को इस प्रकार व्यवस्थित करना होता है—गुप्त मवत् ११३ (कुमारगुप्त का मध्यमान वर्ष) ईसवी सन् ३१६-२० = ईसवी सन् ४३२-३३, तथा मालव सवत् ४६३-५७-५६ ई० पू०=ईसवी सन् ४३६-३७, और यह तिथि निश्चिततया कुमारगुप्त के शासनकाल की सत्तरह वर्षों की अवधि के अन्दर एव उसके मध्यमान वर्ष के वाद पड़ती है।

अतएव मेरे नए मन्दसोर अभिलेख से प्रमाणित होता है—१ कि अलबेरूनी का ऐसा कोई अभिकथन कि गुप्त सत्ता ३१६ ई० में समाप्त हो गई निश्चितरूप से गलत है। २ कि, इसके विपरीत, कुमार-गुप्त के शासनकाल की तिथिया—और उनके साथ उसके पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय और उसके पुत्र स्कन्दगुप्त, जो असदिग्धरूपेण उसी शृ खला के हैं, की तिथियो तथा उनके समनुरूप सिद्ध किए जा सकने वाले अन्य शासको की तिथियो—को ३१६-२० ई० अथवा इसके आसपास प्रारम्भ होने वाले सवत् मे रखना चाहिए, जिसकी ओर अलवेरूनी ने निर्देश किया है तथा वलभी सवत् ६४५ मे अकित वेरावल अभिलेख से जिसका समर्थन होता है, तथा ३ प्रसगत यह कि मालवगण के साथ सवद्ध हो एक अन्य नाम के अन्तर्गत विक्रम सवत् का अस्तित्व निस्सन्देह ५८४ ई० के पहले विद्यमान था, जबकि—जैसा कि हम ऊपर पृ० ५४ पर देख चुके हैं—फरगुसन के मतानुसार, यह सवत् चलाया गया था। वस्तुत ये निष्कर्ष इस प्रश्न से असवद्ध है कि प्रारम्भिक गुप्तो ने उपरोक्त तिथि से प्रारम्भ होने वाले अपने पृथक सवत् की सस्थापना की अथवा उन्होंने किसी अन्य राजवश के सवत् को ही अपनाया।

सवत् का शुद्धकाल-निर्धारण

अब तक मैंने यह प्रदर्शित किया है कि प्रारभिक गुप्त तिथियो तथा उस समरूप शृ खला मे सवधित सिद्ध किए जा सकने वाले अन्य शासको की तिथियो को ३१६-२० ई० से अथवा उसके लगभग प्रारभ होने वाले सवत् मे रखना चाहिए, जिसकी ओर अलवेरूनी ने ध्यान आकर्षित किया है तथा वलभी सवत् ६४५ की तिथि से अकित वेरावल अभिलेख जिसकी पुष्टि करता है।

अब यह प्रदर्शित करना शेष रहता है कि सवत् के प्रारम्भ के लिए अलबेरूनी के अभिकथनो से निगमनीय तीन सभावित तिथियों—३१८-१६ ई० प्रचलित वर्ष, ३१६-२० ई० प्रचलित वर्ष तथा

३२०-२१ ई० प्रचलित वर्ष—मे क्यो ३१९-२० ई० को ही सवत् का प्रारम्भ बिन्दु और शक सवत् २४१ बीत चुके वर्ष का समरूप समय माना जाय।

इस प्रश्न का समाधान अकित तिथियो की शुद्ध गणना एव उनके विस्तृत विवेचन से ही हो सकता है ताकि यह देखा जा सके कि प्रयुक्त क्रियाविधि सतोषजनक है तथा आहृत अनुमान शुद्ध है। और, इस प्रसग मे सर्वप्रथम हमे गुप्त-वलभी सवत् के वर्षों के स्वरूप का निर्धारण करना चाहिए।

गुप्त-वलभी वर्ष का प्रारूप

यह ध्यान मे रखने पर कि उन सभी दृष्टान्तो मे जिनमे तिथियो अथवा चान्द्र दिवसो का तथा चान्द्र-मासो से सबधित सौर दिवसो का अकन और गणना अपेक्षित है, उनमे कलियुग सवत्[1] तथा उत्तरी विक्रम सवत् के वर्षों का प्रारम्भ, शक सवत् के वर्षों के समान, चैत्र मास (मार्च-अप्रैल) के शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन से मानना होगा, साथ ही महीनो के कृष्ण तथा शुक्ल चान्द्र पक्षो की व्यवस्था विषयक निर्णय अनिवार्यत सवत् के सामान्य उत्तरी एव दक्षिणी स्वरूप तथा उसके वर्षों से सबधित निर्णय के साथ जाएगा, क्योकि हमे उत्तरी वर्ष के साथ पक्षो की दक्षिणी व्यवस्था एव दक्षिणी वर्ष के साथ उत्तरी व्यवस्था नही मिल सकती। अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि गुप्त-वलभी सवत् के वर्षों की अपनी विशिष्ट योजना थी और उनका अपना पृथक् प्रारभिक दिन था, अथवा उनमे, उत्तरी अथवा दक्षिणी व्यवस्था के अनुरूप, शक सवत् के वर्षों की योजना तथा प्रारभिक दिन का प्रयोग होता था, अथवा उनमे दक्षिणी विक्रम सवत् के वर्षों की योजना एव प्रारभिक दिन का प्रयोग होता था।

आगे दी गई सारिणी स० ३ को देखने से इन वर्षो की योजनाओ का अन्तर तथा सप्रति विचाराधीन प्रश्न के समाधान की आवश्यकता तुरन्त स्पष्ट हो जाएगी।[2]

---

१ अभिलेखों मे इस सवत् का प्रयोग अत्यन्त अपवादरूप से ही कम मिलता है। मैं केवल निम्न उदाहरण उद्धृत कर सकता हूँ—१ पश्चिमी चालुक्य शासक पुलकेसिन द्वितीय का ऐहोले अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ८, पृ० २३७ इ०) जिसमे भारत युद्ध के समय से तीन हजार सात सौ पैंतीस वर्ष व्यतीत हो चुके समय की तिथि दी गई है, और साथ मे यह अभिकथन भी दिया गया है कि इस समय कलियुग में (शक शासको का सवत् जिसके एक उप-प्रभाग के समान है) शक शासको के पाच सौ छप्पन वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, तथा २ गोआ के कादम्बो के कुछ लेख जिनका समय-विस्तार ११६७ ई० से १२४७ ई० है (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी, जि० ९, पृ० २४१, इ०, २६२ इ०, एव इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० २८८ इ०), किसी अज्ञात कारणवश ये कलियुग की तिथि मे अकित हैं तथा इनमे शक सवत् का कोई उल्लेख नही है, यद्यपि इसी वश के अन्य लेख (द्र० मेरी पुस्तक डायनेस्टीज आफ द कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स, पृ० ९० इ०) शक सवत् तथा केवल शक सवत् की तिथि मे अकित है।

२ अब तक प्रचलित पद्धति के विपरीत मैं सारणी मे प्रचलित हिन्दू वर्षों को दे रहा हू। किसी भी परिस्थिति मे, उदाहरण के लिए, यह कहना सर्वथा तर्करहित होगा "शक सवत् ५०० का, मे अथवा से सबद्ध, चैत्र शुक्ल १" जबकि अभिप्रत शक वर्ष बीत चुका है। तथा, ईसवीय सवत् के वर्षों से (जिसके प्रचलित वर्ष सदैव दिए जाते हैं) तुलना उद्देश्य होने पर तो प्रचलित हिन्दू वर्षों का प्रयोग विशेष रूप से आवश्यक है, जो भी हिन्दू सारणियो के अनुसार किसी तिथि की गणना करना चाहता है वह पूर्ववर्ती बीत चुके वर्ष को अपनी गणना का आधार बनाएगा।

उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत दोनो के शक वर्षों का प्रारम्भ अमावस्या योग के ठीक तुरन्त पश्चात् चैत्र शुक्ल के प्रथम दिन से होता है। किन्तु वर्ष की योजना मे एक महत्वपूर्ण अन्तर है, उत्तरी व्यवस्था मे प्रत्येक मास का कृष्ण-पक्ष शुक्ल-पक्ष के पूर्व आता है[1], जबकि दक्षिणी व्यवस्था में शुक्ल-पक्ष पहले आता है। जनसाधारण मे, तथा पचागों अर्थात् हिन्दू ज्योतिष-पत्रियो मे, उत्तरी व्यवस्था को पूर्णिमान्त, अर्थात् "पूर्णिमा के साथ समाप्त होने वाला", तथा दक्षिणी व्यवस्था को "अमान्त" अर्थात् "(सूर्य एव चन्द्र के) योग के साथ समाप्त होने वाला" (=अमावस्या के साथ समाप्त होने वाला) कहा जाता है, व्यावहारिक प्रयोग मे ये शब्द बड़े सुविधाजनक होंगे। व्यवस्था के इस अन्तर के परिणामस्वरूप उत्तरी वर्ष मे चैत्र मास का कृष्ण पक्ष उसी चान्द्रकाल मे पडता है जिसमे उत्तरी वैशाख मास का कृष्ण पक्ष पडता है, और तदनुरूप सम्पूर्ण वर्ष की व्यवस्था बनती है। शक वर्षों के शुक्ल-पक्षो की तिथियो के लिए यह स्पष्ट है कि इस बात मे कोई अन्तर नही पडता कि हम उत्तरी व्यवस्था का पालन कर रहे हैं अथवा दक्षिणी व्यवस्था का। किन्तु कृष्ण पक्ष की तिथियो की शुद्ध गणना के लिए स्पष्टरूपेण यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम ठीक-ठीक यह जानें कि वे किस योजना के अन्तर्गत हैं, क्योकि उदाहरण के लिए दक्षिणी वर्ष-व्यवस्था के अन्तर्गत चान्द्र मास आषाढ कृष्ण पक्ष का तेरहवा चान्द्र दिवस अथवा सौर दिवस उत्तरी वर्ष-व्यवस्था की तुलना मे पूरे एक चान्द्र मास अथवा लगभग एक मास बाद अग्रेजी दिन होगा।

दक्षिणी विक्रम वर्ष मे पक्षों की व्यवस्था नियमित अमान्त दक्षिणी व्यवस्था है। किन्तु वर्ष का प्रारम्भ समान शक वर्ष के तथा समान उत्तरी विक्रम वर्ष के सात चान्द्र-मास पश्चात् होना है[2], अर्थात् वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर) के शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन से होता है। यहा, फिर गणना की सुविधा के लिए, दक्षिणी विक्रम वर्ष की किसी भी तिथि का समान शक वर्ष की उसी तिथि के रूप मे अनुशीलन करना होगा। तथा सारिणी सख्या ३ मे बने दाहिने हाथ के स्तम्भों मे यह अनायास ज्ञात हो जाएगा कि किस प्रकार वर्षों का पारस्परिक अतिव्यापन होता है, इससे यह भी ठीक-ठीक स्पष्ट हो जाएगा कि सम्प्रति विचाराधीन प्रश्न का निर्धारण कितना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, दोनों सवतों के कालो के अनुसार, दक्षिणी विक्रम सवत् १३२१ प्रचलित वर्ष का समरूप शक सवत् ११८६ प्रचलित वर्ष होगा, तथा, कार्तिक शुक्ल १ से लेकर फाल्गुन कृष्ण १५ तक—जिसमे ये दोनो तिथिया सम्मिलित हैं—की किसी भी तिथि के लिए इसका वास्तविक समरूप भी यही होगा। किन्तु, तदनुवर्ती चैत्र शुक्ल १ से लेकर आश्विन कृष्ण १५ तक—जिसमे ये दोनो तिथिया सम्मिलित हैं—की किसी तिथि के लिए, विक्रम सवत् १३२१ प्रचलित वर्ष का वास्तविक समरूप बाद मे आने वाला शक सवत् ११८७ प्रचलित वर्ष होगा। परिणामत, गुप्त-वलभी वर्ष को दक्षिणी विक्रम वर्ष मानने पर इस प्रकार की किसी तिथि, जैसे वलभी-सवत् ६४४ का चैत्र शुक्ल १ से लेकर आश्विन कृष्ण १५ तक, का अग्रेजी समरूप सपूर्ण चान्द्रमास, अथवा व्यवहारत एक वर्ष[3] बाद पड़ेगा, इसी प्रकार, वर्ष को शक वर्ष मानने पर, इस प्रकार की किसी तिथि, जैसे गुप्त-वलभी सवत् ६४४ का

---

१ द्र०, बील की पुस्तक बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, जि० १, पृ० ७१, जहा ह्वेनसाग के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि बारह शताब्दी पूर्व भी यही व्यवस्था थी।

२ यह इस बात को कहने का परम्परागत ढंग है। किन्तु और अधिक शुद्ध अभिकथन यह होगा कि उत्तरी भारत का विक्रम वर्ष अब समान शक वर्ष के साथ प्रारम्भ होता है, जोकि तदनुरूप दक्षिणी विक्रम वर्ष से सात चान्द्रमास पूर्व होगा (द्र०, ऊपर पृ० ६५, टिप्पणी ७)।

३ अथवा, अधिकमास के सन्निवेश होने पर तेरह चान्द्रमास अथवा यह कहें कि एक वर्ष और एक मास।

कार्तिक शुक्ल १ से लेकर फाल्गुन कृष्ण १५ तक, का अंग्रेजी समरूप वर्ष बारह सपूर्ण चान्द्रमास पहले पड़ेगा।

गुप्त-वलभी-सवत् की किसी अवस्था मे क्या हमारा सरोकार दक्षिणी विक्रम सवत् की योजना से पड़ सकता है ? यह प्रश्न और भी महत्वपूर्ण है क्योकि इस सवत् की जो तिथिया हमे इसके परवर्ती नाम वलभी सवत् के अन्तर्गत उपलब्ध हैं, वे काठियावाड़ से प्राप्त होती हैं जहा, समीपवर्ती गुजरात तथा उत्तरी कोंकण के प्रान्तो के समान, राष्ट्रीय सवत् दक्षिणी व्यवस्था वाला विक्रम सवत् हैं। इन प्रदेशो ने अवश्य ही, आगे अथवा पीछे, गुप्त-वलभी सवत् की मौलिक योजना को क्षेत्रीय राष्ट्रीय सवत् के वर्षो की योजना के अनुयुक्त बनाने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। और, गुजरात मे इस प्रकार का अनुकूलन वास्तव मे किया गया, इसका एक विशिष्ट उदाहरण वलभी के ध्रुवसेन चतुर्थ के कैर (खेडा) दानलेख से प्राप्त होता है, जिसका प्रकाशन डा० व्यूलर द्वारा इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ३३५ इ०, मे हुआ है। इसकी तिथि ३३० वर्ष है, "द्वितीय' मार्गशीर्ष मास (नवम्बर-दिसम्बर), शुक्ल पक्ष, तथा दूसरी तिथि पथवा चान्द्र-दिवस। इस लेख की रोचकता तथा महत्व इसके द्वारा प्रस्तुत इस सूचना मे है कि उस वर्ष मे एक अधिक मास का सन्निवेश है जो मार्गशीर्ष मे हुआ था। अब यदि हम थोडी देर के लिए यह मान लें—जैसाकि मैं शीघ्र ही लगभग एक निश्चित तथ्य के रूप मे प्रमाणित करूगा—कि गुप्त-वलभी वर्ष की यथार्थत मौलिक योजना उत्तरी शक वर्ष योजना है तो इस लेख का मार्गशीर्ष मास शक सवत् ५७२ प्रचलित वर्ष के अन्तर्गत आएगा एव ईसवी सन् ६४९ मे पडेगा। किन्तु नीचे आगे इस तिथि के सबध मे किए गए विस्तारपूर्ण विवेचन से यह ज्ञात होता है कि अधिकमास का यह सन्निवेश ईसवी सन् ६४८ मे ही हुआ होगा तथा यह शक सवत् ५७१ प्रचलित वर्ष के अन्तर्गत अथवा, गुजरात मे प्रचलित पद्धति के अनुसार, दक्षिणी विक्रम सवत् ७०६ प्रचलित वर्ष के अन्तर्गत पडा होगा। और चूंकि इस लेख मे उल्लिखित प्रदेश इसे पूर्णरूपेण गुजरात के एक जिले से सबद्ध करते हैं, अत. इस लेख के ३३० वर्ष का प्रारम्भ दक्षिणी विक्रम सवत् ७०६ के समान, गुप्त सवत् ३३० के पहले आने वाले कार्तिक मास से अथवा, इस सवत् के वर्षो की मौलिक योजना के अनुरूप, प्रचलित शक संवत् ५७२ के चैत्र शुक्ल १ से हुआ होगा। यदि यह ध्यान मे रखा जाय कि यह लेख गुजरात से प्राप्त हुआ है, तो इस विसगति का कारण समझना अधिक कठिन नही होगा। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, गुजरात मे गुप्त-वलभी सवत् के अनुप्रवेश के पश्चात् यह स्वभाविक प्रवृत्ति रही होगी कि इसके वर्षो की मौलिक योजना का तिरस्कार कर उसके स्थान पर दक्षिणी विक्रम वर्षो की योजना को ग्रहण किया जाय। यहा हम यह मान लें कि यह रूपान्तरण गुप्त-वलभी-सवत्[१] ३०३ मे हुआ जिसका प्रारम्भ सभवतः १९ मार्च ६२२ ई० को हुआ था जो दक्षिणी विक्रम सवत् ६७९ प्रचलित वर्ष के लगभग आधे पर पडेगा। इस अवस्था मे, यदि योजना मे परिवर्तन गुप्त-वलभी सवत् के प्रथम सात चान्द्रमासो मे हुआ तो, गुजरातियो ने इस नए वर्ष, अर्थात् गुप्त-वलभी सवत् ३०४, को अपने नए वर्ष, अर्थात् दक्षिणी विक्रम सवत् ६८० के साथ अनुवर्ती कार्तिक शुक्ल १, अथवा संभवत. १२ अक्तूबर ६२२ ई०, को प्रारम्भ किया होगा, तथा उनके द्वारा इस प्रकार अपनाए गए एव सक्षिप्त किए गए गुप्त-वलभी सवत् ३०३ मे केवल सात चान्द्रमास होंगे जिसका समय-विस्तार चैत्र शुक्ल १ से लेकर आश्विन कृष्ण

१ मेरा अभिप्राय यह आग्रह करने का नही है कि यह परिवर्तन इसी वर्ष अथवा इसके कुछ वर्ष आगे अथवा पीछे हुआ। इस प्रसग मे केवल इतना निश्चित है कि यह परिवर्तन गुप्त-वलभी सवत् ३३० के पूर्व हुआ। और मैंने स्पष्टीकरण के लिए शून्यान्त अक ३०० के स्थान पर ३०३ वर्ष को लिया है ताकि हम अधिक मास युक्त वर्ष से बच जाय।

सारणी स० ३

विक्रम, शक एव गुप्त–वलभी वर्षों की तुलनात्मक सारणी

उत्तरी भारत पूर्णिमान्त	मास तथा पक्ष (पूर्णिमान्त)	पक्ष	मास तथा पक्ष (अमान्त)		दक्षिणी भारत अमान्त
शक सवत् ११८६। विक्रम सवत् १३२१। गुप्त वलभी संवत् ९४४। ईसवी सन् १२६३-६४।	चैत्र	शुक्ल	चैत्र	शक मवत् १८८६ ई० सन् १२६३-६४	विक्रम सवत् १३२०। ईसवी सन् १२६२-६३
	वैशाख	कृष्ण	चैत्र		
	वैशाख	शुक्ल	वैशाख		
	ज्येष्ठ	कृष्ण	वैशाख		
	ज्येष्ठ	शुक्ल	ज्येष्ठ		
	आषाढ	कृष्ण	ज्येष्ठ		
	आषाढ	शुक्ल	आषाढ		
	श्रावण	कृष्ण	आषाढ		
	श्रावण	शुक्ल	श्रावण		
	भाद्रपद	कृष्ण	श्रावण		
	भाद्रपद	शुक्ल	भाद्रपद		
	आश्विन	कृष्ण	भाद्रपद		
	आश्विन	शुक्ल	आश्विन		
	कार्तिक	कृष्ण	आश्विन		
	कार्तिक	शुक्ल	कार्तिक		
	मार्गशीर्ष	कृष्ण	कार्तिक		
	मार्गशीर्ष	शुक्ल	मार्गशीर्ष		
	पौष	कृष्ण	मार्गशीर्ष		
	पौष	शुक्ल	पौष		
	माघ	कृष्ण	पौष		
	माघ	शुक्ल	माघ		
	फाल्गुन	कृष्ण	माघ		
	फाल्गुन	शुक्ल	फाल्गुन		

वेरावल अभिलेख
आषाढ,
कृष्ण पक्ष,
१३वा सौर
दिवस, रविवार)
शक सवत्
११८७।
विक्रम सवत्
१३२२।
गुप्त-वलभी
मवत् ९४५।
ईसवी सन्
१२६४-६५
चैत्र
वैशाख
ज्येष्ठ
आषाढ
श्रावण
भाद्रपद
आश्विन
कार्तिक
मार्गशीर्ष
पौष
माघ
फाल्गुन
चैत्र
कृष्ण
शुक्ल
चैत्र
वैशाख
ज्येष्ठ
आषाढ
श्रावण
भाद्रपद
आश्विन
कार्तिक
मार्गशीर्ष
पौष
माघ
फाल्गुन
शक सवत
११८७।
ईसवी सन्
१२६४-६५
विक्रम
सवत
१३२१।
ईसवी सन्
१२६३-६४
विक्रम
सवत्
१३२२
ईसवी सन्
१२६४-६५।

१५ तक होगा। दूसरी ओर, यदि यह परिवर्तन गुप्त-वलभी सवत् के अतिम पाच चान्द्रमासा मे हुआ जिम समय कि दक्षिणी विक्रम सवत् ६८० प्रचलित वर्ष पहले ही प्रारम्भ हो चुका था, तब गुजरातियो ने नए वर्ष, गुप्त-वलभी सवत् ३०४, के प्रारम्भ को अपने स्वय के नए वर्ष, दक्षिणी विक्रम सवत् ६८१, के प्रारम्भ तक—जो अनुवर्ती कार्तिक शुक्ल १, अथवा सभवत १ अक्टूबर ६२३, को पडेगा—स्थगित कर दिया होगा, और इस प्रकार अपनाए गए एव दीर्घकालीन बनाए गए गुप्त-वलभी सवत् ३०३ मे उन्नीस चाद्रमास होंगे। भविष्य मे इन सवत् के वर्ष का प्रारभ गुजरात मे, सदैव दक्षिणी विक्रम सवत् के साथ कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन से होगा। दूसरी अवस्था मे, जबतक काठियावाड मे मूल गणना पद्धति सुरक्षित रहेगी, तबतक गुजरात मे, प्रत्येक अनुगामी वर्ष काठियावाड की तुलना मे सात चाद्रमास बाद मे प्रारम्भ होगा, कम से कम गुप्त-वलभी सवत् ६४५ तक यही स्थिति थी। प्रथम अवस्था मे, गुजरात मे प्रत्येक अनुगामी वर्ष काठियावाड की तुलना मे पाच चाद्रमास पहले प्रारम्भ होगा। सम्प्रति विचाराधीन धरसेन चतुर्थ के दानलेख से यह प्रदर्शित होता है कि योजना मे परिवर्तन पहले ही हो चुका था तथा इसका स्वरूप दूसरे प्रकार का था, क्योंकि केवल इसी ढग से इस लेख के मार्गशीर्ष मे घटित अधिक मास को गुप्त-सवत् ३२९ मे न रखकर गुप्त-सवत् ३३० मे रखा जा सकता है।

किन्तु, वलभी सवत् ६४५ की तिथि से अकित चालुक्य शासक अर्जुनदेव के वेरावल अभिलेख मे—जिसका उल्लेख मैंने ऊपर पृ० ३१ इ० में किया है तथा जिस पर विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा—तिथ्यकन के सबध मे दिए गए विवरण यह प्रदर्शित करते हैं कि लेख में दक्षिणी विक्रम वर्ष—अथवा यहा तक कि दक्षिणी शक वर्ष—की योजना का कोई उल्लेख नही है।

किन्तु, ऐसे विशिष्ट दृष्टान्तों के अतिरिक्त जो विशेष परिस्थितियो के माध्यम से ऐसे प्रमाण प्रस्तुत करते हैं जिनके अन्तर्गत अकित दिनो की शुद्धता सिद्ध हो जाती है, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, यह सामान्य तथ्य तो रहता ही है कि हम न तो महीनों के पक्षो की पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था मे सलग्न दक्षिणी वर्ष पा सकते हैं और न ही ऐसा उत्तरी वर्ष जिसके साथ अमान्त दक्षिणी व्यवस्था सलग्न हो। और इस बात के समर्थन मे मैं कुछ बोधकर सूचनाए प्रस्तुत करूगा जो नेपाल से प्राप्त अभिलेखों मे प्राप्त हुई, इन लेखो का प्रकाशन डा० भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १६३ इ० में हुआ है।

इन अभिलेखो में जिन सवतो का प्रयोग हुआ है उनमे गुप्त-सवत् तथा कन्नौज के हर्षवर्धन का सवत् प्राचीनतम है तथा इन दो सवतो में अकित समय—विस्तार क्रमश ६३५ ई० से लेकर ८५४ ई० तक एव ६३९ ई० से लेकर ७५८ ई० तक है। इस समय के ठीक बाद नेपाल मे इन दोनो सवतो के स्थान पर नेवार[1] सवत् का प्रयोग होने लगा, श्री प्रिंसेप के इस अभिकथन[2] के अनुसार कि इसके ९५१ वर्ष की समाप्ति १८३१ ई० मे होगी, नेवार-सवत् का समय ईसवी सन् ८७९–८० होगा तथा इसका प्रारम्भकाल ८८०–८१ ई० होगा। श्री प्रिंसेप ने यह भी कहा कि इस सवत् के प्रत्येक वर्ष

---

१ डॉ० भगवानलाल इन्द्रजी ने मुझे बताया है कि नेवार शब्द नेपाल का क्षेत्रीय अपभ्रंश रूप है। अभिलेखों मे जहां इस सवत् को सामान्यरूपेण प्रयुक्त शब्द सवत् से अभिहित नहीं किया गया है वहा इसके लिए नेपाल-वर्ष (उदाहरणार्थ, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १८५, नीचे से तेरहवीं पंक्ति), नेपाल-सवत् (वही, पृ० १९१, ऊपर से चौथी पंक्ति) तथा नेपाल-अब्द (वही, पृ० १९२, ऊपर से दूसरी पंक्ति) शब्दो का प्रयोग हुआ है।

२ प्रिंसेप्स एसेज, जि० २, लासकर सारणियां, पृ० १६६, और भी द्र० इण्डियन एराज, पृ० ७४।

का प्रारम्भ अक्टूबर मे होता है जो, मोटे तौर से, अपने नेपाल-भ्रमण के दौरान डा० भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा प्राप्त इस सूचना से सगति रखता है कि प्रत्येक वर्ष का प्रथम दिन कार्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर) के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा होता है।

जहा तक इस सवत् के उद्भव का प्रश्न है, नेपाल वशावली अर्थात् शासको की सूची के कथनानुसार[1] इसकी स्थापना अशुवर्मन् के द्वितीय ठाकुरी राजवश के शासक जयदेवमल्ल ने किया था। किन्तु सत्य के सबध मे अधिक महत्वपूर्ण सकेत इसके तुरन्त बाद वाले अभिकथन मे दिया गया है, इसमे कहा गया है कि सवत् के नवे वर्ष मे श्रावण मास के शुक्ल पक्ष के सातवे दिन जबकि शक सवत् ८११ चल रहा था (जो बीत चुके वर्ष के रूप मे ई० सन् ८८९-९० के बराबर होगा) और जबकि जयदेवमल्ल और उसके छोटे भाई आनन्दमल्ल का सम्मिलित शासन था, दक्षिण दिशा से आने वाले किसी नान्यदेव ने सपूर्ण नेपाल को जीत कर कर्णाटक राजवश की स्थापना की। सत्य संभवत यह है कि नान्यदेव जयदेवमल्ल का मन्त्री था जिसने समय का लाभ उठाकर राजसत्ता हड़प ली जो, वशावली के अनुसार, उसकी पाच पीढियो बाद तक उसके वशजो के हाथ मे रही। यह बता पाना अवश्य ही कठिन है कि नान्यदेव वस्तुत दक्षिणात्य था अथवा नही। हो सकता है कि यह अभिकथन एव राजवश का नाम मनगढन्त हो और उनकी कल्पना केवल नए सवत् से सबद्ध वर्ष के स्वरूप से सगति बिठाने के लिए की गई हो, सवत की स्थापना, स्पष्टत, उसके द्वारा हुई थी, जयदेवमल्ल द्वारा नही। किन्तु, यह स्पष्ट है कि एक नए सवत् की स्थापना के अतिरिक्त पचाग मे एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया गया और वह था नेपाल मे अब तक प्रयुक्त वर्ष के स्थान पर अन्य प्रदेशीय कर्नाटक वर्ष का सस्थापन। प्राप्त तिथियो से इस बात का पूर्णरूपेण निश्चित प्रमाण नही मिलता कि इस नए वर्ष का प्रारभिक दिन कार्तिक शुक्ल १ था। किन्तु वशावली से ये दो समीकरण प्राप्त होते हैं—जैसाकि पहले कहा जा चुका है, नान्यदेव के अन्तर्गत नेपाल सवत् ९=शक सवत् ८११ (बीत चुका वर्ष), जिसके साथ श्रावण शुक्ल ७ तिथि दी गई है, तथा, भाटगाम के सूर्यवशी राजवश के प्रथम शासक हरिसिंहदेव के अन्तर्गत, नेपाल सवत् ४४४=शक सवत् १२४५ (बीत चुका वर्ष), प्रथम दृष्टान्त मे ८०२ वर्षो का और दूसरे दृष्टान्त मे ८०१ वर्षो का अन्तर यह प्रदर्शित करता है कि इस वर्ष की योजना शक वर्षो की योजना से भिन्न थी। तथा, इसे श्री प्रिंसेप एव डा० भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा उपलब्ध की गई सूचना के सदर्भ मे तथा इस तथ्य के सदर्भ मे लेने पर कि इस प्रकार की सभी तिथिया जिनकी परीक्षा की जा चुकी है यही परिणाम देती हैं, यह निश्चित प्रतीत होता है कि प्रत्येक वर्ष का प्रथम दिन कार्तिक शुक्ल १ होता था, तथा यह स्पष्ट है कि वर्ष को दक्षिणी विक्रम वर्ष से अपनाया गया था। मासो के पक्षो की व्यवस्था का प्रश्न शेष रहता है, यहा इतने दूर उत्तर नेपाल मे दक्षिणी विक्रम वर्ष से अपनाए वर्ष मे भी चाद्र पक्षो की पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था की आशा करना सर्वथा तर्कसगत होगा, किन्तु हम पाते हैं कि बात ऐसी नही है और वहा अमान्त दक्षिणी व्यवस्था सुरक्षित रही। सर्वप्रथम तो यह नेपाल सवत् ७५७ मे अकित सिद्धिनृसिंह के अभिलेख मे श्रावण शुक्ल १२ के पश्चात् श्रावण कृष्ण ८ के उल्लेख मे प्रमाणित होता है, इससे भी अधिक यह इसी अवतरण[2] मे दिए गए इस विधान से प्रमाणित होता है कि जन्माष्टमी पूजा अर्थात् 'कृष्ण जन्मोत्सव के उपलक्ष मे पर्वं चान्द्रदिवस पर की जाने वाली पूजा' श्रावण के कृष्ण पक्ष की आठवी तिथि पर पडती है, क्योकि किसी भी पचाग से यह स्पष्ट हो जाएगा कि केवल अमान्त दक्षिणी गणनापद्धति के अनुसार ही यह उत्सव श्रावण मास के कृष्ण पक्ष मे पडेगा, पूर्णिमान्त उत्तरी गणना के अनुसार, यह उत्सव भाद्रपद

१ इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १३, पृ० ४१४।

२ द्र० इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १८६, अन्तिम दो पक्तिया।

के कृष्ण पक्ष की उसी तिथि पर पडेगा। इसके अतिरिक्त ऋद्धिलक्ष्मी के अभिलेख से गणना के लिए कृष्ण पक्ष की एक तिथि प्राप्त होती है। विस्तृत विवरण[1] इस प्रकार है नेपाल सवत् ८१० प्रचलित वर्ष, कार्तिक मास, कृष्ण पक्ष, द्वितीय चान्द्र दिवस, दिन रविवार। ई० सन् ८७९-८० को सवत् का समय मानने पर यह दी गई तिथि १६८९ ई० मे पडेगी, तथा, प्रो० के० एल० छत्रे की सारणियो के अनुसार, श्री श० ब० दीक्षित इस परिणाम पर आते हैं कि अमान्त दक्षिणी व्यवस्था के अनुसार रविवार इसका अतिम दिन था अर्थात् २० अक्टूबर १६८९ ई०, जबकि पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था के अनुसार इसका अतिम दिन शुक्रवार होगा जो २० सितम्बर को पडेगा। साथ ही, इस प्रश्न के सबध मे कि क्या सवत् का समय ८७९-८० ई० था, वे इस परिणाम पर आते हैं कि दी गई तिथि, अमान्त तथा पूर्णिमान्त किसी भी व्यवस्था के अनुसार, रविवार के दिन न तो ई० सन् १६८८ मे पडेगी और न ही १६९० मे[2]। अतएव, यह पूर्णतया निश्चित है कि नेपाल के नेवार सवत् के सदर्भ मे जिस वर्ष का प्रयोग किया गया है एव जिसका प्रथम दिन कार्तिक शुक्ल १ था, वह दक्षिणी वर्ष था। दूसरी ओर, जैसा कि श्री श० ब० दीक्षित की रानी ललितत्रिपुरसुन्दरी[3] के अभिलेख मे अकित कृष्णपक्षो की तिथियो की गणनाओ मे प्रमाणित होता है, जब नेपालियो ने दक्षिणी विक्रम सवत् की इस उपशाखा का त्याग कर उत्तरी भारत मे पडोसी प्रदेशो मे प्रचलित विक्रम सवत् का प्रचलन प्रारम्भ किया, तब उन्होंने इसके उत्तरी प्रकार को अपनाया जो चैत्र शुक्ल १ से प्रारम्भ होता था तथा जिसमे पक्षो की पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था थी। ये निम्नलिखित तिथिया दी गई है विक्रम सवत् १८७४, भाद्रपद कृष्ण ६, शुक्रवार,[4] विक्रम सवत् १८७५, मार्गशीर्ष कृष्ण ५, बुधवार, तथा विक्रम सवत् १८७७,

---

१ इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १९२—नेपालाब्दे गगन-धरिणी-नाग युक्ते किलोर्जे मासे पक्षे विधुविरहिते सु-द्वितीया तिथौ सा कृत्वा देवालयमपि रवौ ऋद्धिलक्ष्मी प्रसन्ना चक्रे देवी सु विधि विदितां शकरस्य प्रतिष्ठाम्—"आकाश (=०), पृथ्वी (=१) तथा (८) नागों से युक्त नेपाल वर्ष मे, ऊर्ज (अर्थात् कार्तिक) (मास) मे, चन्द्र से रहित पक्ष मे, सुन्दर द्वितीय चान्द्रदिवस, रविवार के दिन (इस) मदिर का निर्माण करके अनुकम्पाशीला एव महामहिमामयी ऋद्धिलक्ष्मी ने उपयुक्त अनुष्ठानों के साथ (भगवान) शकर को प्रतिष्ठापित किया।" प्रकाशित पाठ म दिन का नाम छूट गया है।

२ अमान्त व्यवस्था के अनुसार, इन वर्षो के अ ग्रेजी समरूप होंगे मगलवार, ३० अक्टूबर १६८८ ई० तथा शनिवार, ८ नवम्बर १६९० ई०, पूर्णिमान्त व्यवस्था के अनुसार ये होंगे सोमवार, १ अक्टूबर १६८८ ई० तथा बृहस्पतिवार, ९ अक्टूबर १६९० ई०।

३ प्रकाशित पाठ मे शुक्ल मिलता है जो स्पष्टरूपेण गलती से शुक्रे के स्थान पर छप गया है।

४ इस लेख के मेरे द्वारा प्रकाशित पाठ में, द्वितीय सख्यात्मक प्रतीक ९ दिया गया है और साथ मे यह टिप्पणी (द्र० लेख स २५ की टिप्पणी) दी गई है कि यह ७, ८ अथवा ९ मे से कोई अक हो सकता है। श्री श०ब० दीक्षित ने गणना करके इस तिथि को मास का सत्ताइसवा सौर दिवस निर्धारित किया है, अत अब मैं ९ के स्थान पर ७ रखता हूँ (द्र० लेख स० ७१ की टिप्पणी)। इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १६, पृ० १४५ मे मेरे द्वारा ध्यान आकर्षित करने के पूर्व इस दुहरे लेख का महत्व नहीं समझा गया था, क्योंकि जनरल कनिंघम—जिसने सर्वप्रथम इस लेख की ओर ध्यान आकर्षित किया—ने चौबीस पक्ति मे प्रथम प्रतीक को २० के स्थान पर १० पढ़ा तथा द्वितीय प्रतीक उनकी दृष्टि मे नहीं आया। इस प्रकार उन्होंने चैत्र, दिन १० पढ़ा और यह लिखा—"ऊपर दी गई लिखित तिथि से सगति तभी बैठती है जबकि यह अक १३ हो' (पक्ति २ ६० में) (आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० पृ० १५)। किन्तु यहा स्पष्टरूपेण दो प्रतीक अकित है जिनका अर्थ २० एव ७, अथवा एक साथ लेने पर २७ है।

ज्येष्ठ कृष्ण १०, रविवार। अमान्त दक्षिणी व्यवस्था के अनुसार उपरोक्त दिन शुद्ध नही उतरते, जबकि पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था के अनुसार इनके अंग्रेजी समरूप, अपेक्षितरूप से, शुक्रवार, ५ सितम्बर १८१७ ई०, बुधवार, १८ नवम्बर १८१८ ई० एव रविवार ७ मई १८२० ई० प्राप्त होते हैं।

इन तथ्यो से मेरी यह मान्यता पूर्णतया प्रतिष्ठापित होती है कि दक्षिणी वर्ष एव सवत् के साथ पक्षो की पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था तथा उत्तरी वर्ष एव सवत् के साथ पक्षो की अमान्त दक्षिणी व्यवस्था नही पाई जा सकती। अब मैं ऐसे निश्चयात्मक साक्ष्य प्रस्तुत करूगा जिनसे यह प्रमाणित होता है कि गुप्त-वलभी वर्ष के मासो की योजना नियमित पूर्णिमान्त उत्तरी योजना थी और यह कि, इसी कारण, इसकी मूल सरचना मे हमे किसी प्रकार की दक्षिणी गणना नही खोजनी चाहिए।

२०९ वर्ष (ईसवी सन् ५२८–२९) के परिव्राजक महाराज सक्षोभ का खोह ताम्रपत्र दानलेख (स० १५) इस प्रकार तिथ्यकित है— 'गुप्त शासको के प्रभुसत्ता – भोग – काल मे, महा-आश्वयुज सवत्सर मे", तथा, जहा तक अन्य विवरणो का प्रश्न है, यह सौभाग्य से दो प्रकार से तिथ्यकित है। पक्ति २ इ० मे हमे मिलता है—चैत्र-मास-शुक्ल-पक्ष-त्रयोदश्याम् (यहा हमे त्रयोदश्याम् के बगल मे तिथौ रखना है),—"चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की तेरहवी तिथि अथवा चान्द्रदिवस पर।" और अन्त मे, १४ वी पक्ति मे तिथि सख्यात्मक प्रतीको मे इस पकार दुहराई गई है—चैत्र दि २०७ (यहा सक्षिप्तरूप दि १ दिन, दिने, दिवस अथवा दिवसे के लिए है)—"चैत्र (मास), (सौर) दिवस २० (तथा) ७।" यह दुहरा तिथ्यकन तभी व्याख्येय है जब यह माना जाय कि गुप्त वर्ष के मासो की योजना मे, नियमित पूर्णिमान्त उत्तरी योजना के अनुसार, कृष्ण पक्ष पहले आते थे। केवल इसी प्रकार शुक्ल पक्ष की तेरहवी तिथि अथवा चान्द्रदिवस मास का सत्ताइसवा सौर दिवस हो सकता है। ठीक इसी प्रकार दुबारा तिथ्यकन हम १९१ वर्ष की तिथि वाले परिव्राजक महाराज हस्तिन् के मझगवा दानलेख (स० २३) मे पाते हैं, इस लेख की पक्ति २ मे हम यह पाते हैं—'माघ-मास-बहुल-पक्ष-तृतीयाम्', —"माघ मास के कृष्ण पक्ष की तृतीया तिथि अथवा चान्द्रदिवस पर", पक्ति २१ मे हम—'माघ दि ३'—"माघ मे (सौर) दिवस ३" यह लेख पाते हैं। किन्तु, इस दृष्टान्त मे सौर दिवस सख्या सोलह से कम होने के कारण इस लेख से कुछ भी प्रमाणित नही होता।[1] हमे आवश्यकता ऐसी दुहरी तिथि की है जिसमे पक्ष की तिथि दी गई हो जो पन्द्रह से अधिक न हो और यह सोलह से अधिक सख्या वाले सौर दिवस से सबधित हो ताकि वह स्पष्ट हो जाय कि यह किसी पक्षमात्र के सदर्भ मे न होकर सपूर्ण मास के सदर्भ मे निर्दिष्ट है। यह हम महाराज सक्षोभ दानलेख मे पाते हैं। तथा यह लेख एकदम निश्चितरूप से यह प्रमाणित करता है कि गुप्त वर्ष के मासो के पक्षों की व्यवस्था पूर्णिमान्त

---

१ ऐसा प्रतीत होता था कि १९१ वर्ष की तिथि वाले गोपराज के एरण स्तम्भ लेख (स० २०) मे भी इसी प्रकार की दुहरी तिथि दी गई है, इस लेख की पक्ति २ मे श्रावण ब दि ७ "श्रावण (मास), कृष्ण पक्ष, ७ (सौर) दिवस"—यह लेख मिलता है, एव पक्ति १ मे प्रत्यक्षत श्रावण-बहुल-पक्ष-सप (त्) अम्य (आं) अथवा, सप् (त्) अम (यां)), "श्रावण (मास) के कृष्ण पक्ष की सातवी तिथि अथवा चान्द्रदिवस पर"—यह लेख पाया जाता है। श्री श० ब० दीक्षित ने यह पाया है कि गुप्त सवत् १९१ मे श्रावण पक्ष की सातवी तिथि अथवा चान्द्रदिवस सोमवार १४ जून ईसवी सन् ५१० को समाप्त हुआ तथा यह कि चूकि पिछली अमावस्या मगलवार ८ जून को समाप्त हुई थी अत यह मास अथवा पक्ष का छठा सौर दिवस था। तदनुसार, पक्ति १ के अन्त मे हमे सभवतया सप् (त्) अम् (` ह्नि) अथवा सप् (त्) अम् (` दिने) पढना चाहिए।

उत्तरी व्यवस्था है, और, तत्परिणामस्वरूप, सवत् के वर्षों की सामान्य योजना किसी दक्षिणी वर्ष की योजना नहीं थी।

सप्रति, वलभी सवत् ९४५ मे अकित अर्जुनदेव का वेरावल अभिलेख एक मात्र ऐसा दृष्टान्त है जिसमे गुप्त-वलभी सवत् तथा किसी अन्य सवत् के समीकरण के अतिरिक्त माम, पक्ष एव दिन का विस्तृत विवरण भी दिया गया है।[1] तथा इसमे उल्लिखित आषाढ कृष्ण पक्ष का तेरहवा सौर दिवस गुप्त-वलभी वर्ष का अतिम अथवा प्रथम दिन हो सकता है। इस प्रकार, अकेला उदाहरण होने के कारण, वर्ष का पहला दिन निश्चित करने मे इससे कोई सहायता नही मिलती।

परिणामस्वरूप, यह प्रश्न--कि गुप्त वलभी सवत् के वर्षों मे पूर्णरूपेण उत्तरी शक वर्ष की योजना अपनाई गई है अथवा उनका अपना पृथक् प्रारभिक दिन था---तवतक पूर्णरूपेण समाधेय नही है जबतक कि निम्नलिखित अपेक्षाओ मे से कोई एक पूरी नही होती वेरावल अभिलेख के समान कुछ अन्य दुहरे तिथ्यकन वाले लेख मिले जिनकी सहायता से हम उन सीमाओ को घटा सकें जिसके भीतर गुप्त-वलभी सवत् के प्रारम्भ को बारह महीनो के अनुपरिवर्त्ती माप पर रखना है, अथवा किसी लेख मे एक प्रारभिक तिथि दी गई हो जो चैत्र शुक्ल १ के अत्यन्त निकट हो, तथा इसके बाद उसी लेख मे एक बाद की तिथि दी गई हो जो चैत्र अमावस्या के निकट हो, और ये दोनो तिथिया गुप्त-वलभी वर्ष की हो एव दूसरी तिथि किसी ऐसी घटना अथवा उत्सव के साथ सवद्ध हो जिसे स्पष्टरूपेण प्रथम तिथि के साथ सवद्ध घटना अथवा उत्सव के पश्चात् घटित हुआ बताया गया हो, अथवा किसी लेख मे चैत्र अमावस्या के निकट स्थित एक बाद की तिथि दी गई हो जिसके पश्चात् चैत्र शुक्ल १ के निकट स्थित एक प्रारभिक तिथि आई हो एव इन दोनो तिथियो को क्रमानुगत दो गुप्त-वलभी वर्षों के साथ सवद्ध किया गया हो, तथा, पहले की भाति, बाद की तिथि किसी ऐसी घटना अथवा उत्सव से सवद्ध हो जो निश्चितरूपेण प्रथम तिथि के साथ सवद्ध घटना अथवा उत्सव के पश्चात् घटित हुई हो। स्पष्टत इन शर्तों का पूर्ण होना अत्यन्त कठिन है।

मैंने अब यह स्पष्ट कर दिया है कि मूल गुप्त वर्ष उत्तरी वर्ष था जिसमे चाद्र पक्षो की पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था प्रचलित थी, प्रारभिक गुप्त राजवश मुख्यत उत्तरी भारत का राजवश था एव उनसे वास्तव मे यही अपेक्षित था। और, आगे मैं यह प्रदर्शित करूगा कि महाराज हस्तिन् एव सक्षोभ के दानलेखो मे उद्धृत बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र के सवत्सर---यह प्रमाणित करके कि उनके विवरण कार्तिक मास से प्रारम्भ होने वाले वर्ष से सगत नही बैठते--न केवल उपरोक्त निष्कर्षों की पुष्टि करते हैं अपितु यह भी प्रमाणित करते हैं कि हमारा सरोकार मार्गशीर्ष (नवम्बर,दिसम्बर) की अमावस्या से प्रारम्भ होने वाले किसी वर्ष मे नही हो सकता जिसे अलबेरूनी[2] ने सिंध, मुल्तान, कन्नौज तथा

---

१ एकमात्र अन्य उदाहरण जिसमे गुप्त-वलभी सवत् किसी अन्य सवत् के साथ उल्लिखित हुआ है, वह है अलबेरूनी का विवरण (ऊपर पृ० ३०) जिसमें गुप्त-वलभी सवत् ७१२ को विक्रम सवत् १०८८ तथा शक सवत् ९५३ का समरूप बताया गया है। किन्तु वर्ष की योजना के निर्धारण मे इसका कोई व्यावहारिक उपयोग नही है क्योंकि उसने मास इत्यादि का कोई विवरण नहीं दिया है और न ही हमे यह ज्ञात है कि वह उत्तरी विक्रम सवत् का उल्लेख कर रहा है अथवा दक्षिणी विक्रम सवत् का।

२ अलबेरूनीज इण्डिया, अनुवाद, जि २, पृ ८६। उसी स्थान पर, वह भी भाद्रपद (अगस्त--सितम्बर) से प्रारम्भ होने वाले वर्ष का उल्लेख करता है। किन्तु उसके अभिकथन से यह कश्मीर के निकटवर्ती प्रदेशो मे ही सीमित प्रतीत होता है। किन्तु चूकि शक वर्ष मे भाद्रपद कार्तिक से पहले आने वाला मास है, अत जिन परिस्थितियो द्वारा वर्ष का कार्तिक मास से प्रारम्भ निराकृत होता है उन्हीं से, और अधिक दृढ़तापूर्वक, वर्ष का भाद्रपद मास से प्रारम्भ भी निराकृत होता है।

अन्य प्रदेशो के लोगो मे लोककाल गणना के साथ सवद्ध होकर प्रचलित वताया है, तथा जिसे मुल्तान मे उसके अपने समय के कुछ पूर्व त्याग दिया गया था। वस्तुत, मार्गशीर्ष से प्रारम्भ होने वाला एव पक्षो की पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था से सयुक्त वर्ष प्रत्येक गुप्त-वलभी तिथि के विवरणो मे सगति रखता है जिसमे ३३ वर्ष की तिथि से अकित धरसेन चतुर्थ का कैर दान लेख, जिसकी ऊपर चर्चा की गई है, तथा वलभी सवत् ९२७ की तिथि से अकित वेरावल अभिलेख, जिस पर आगे विचार किया जाएगा, सम्मिलित है, इस सदर्भ मे ऊपर उल्लिखित महाराज हस्तिन् का मझगवाँ दानलेख एकमात्र अपवाद है। एकमात्र अपवाद होने के कारण इस लेख मे उद्धृत सवत्सर के प्रारम्भ तथा समाप्ति का निश्चय करने वाली गणनाओ का सावधानीपूर्वक सम्यक् परीक्षण किया गया। प्राप्त निष्कर्षो से मार्गशीर्ष से प्रारम्भ होने वाले वर्ष का प्रयोग सर्वथा निराकृत होता है। और इस प्रकार-यह ध्यान मे रखने पर कि शक वर्ष को छोड कर सामान्यतया प्रयुक्त ऐसा अन्य कोई, वर्ष नही ज्ञात है जिसका आश्रय लिया जाय[1], तथा इस वात को यथोचित महत्व देने पर कि अलबेरूनी गुप्त-वलभी सवत् के वर्षो को विना प्रभाग किए पूर्णांक मे शक सवत् के वर्षो के साथ सवद्ध करता है, तथा इस तथ्य को भी मस्तिष्क मे रखने पर कि गणना के लिए प्रत्येक हिन्दू तिथि का समरूप शक तिथि मे रूपान्तरण आवश्यक है—हम इसे लगभग निश्चित मान सकते है कि गुप्त-वलभी सवत् का यथार्थत ऐतिहासिक प्रारम्भ-विन्दु जो भी रहा हो, किन्तु शीघ्र ही इसके वर्षो की योजना सभी दृष्टियो से शक वर्ष की योजना के समान हो गई, जिसके अनुसार चैत्र शुक्ल पक्ष का प्रथम दिन प्रत्येक वर्ष का पहला दिन हुआ तथा चान्द्र पक्षो की पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था अपनाई-गई, ये दोनो वाते उत्तरी भारत मे सदैव प्रचलित रही पद्धति के अनुरूप है[2]।

---

१ श्री वजेशकर गौरीशकर से मुझे ज्ञात हुआ है कि काठियावाड के पश्चिम मे आषाढ शुक्ल से प्रारम्भ होने वाले किसी वर्ष का प्रचलन है जो प्रान्त के शेष भाग मे प्रचलित कार्त्तिक शुक्ल १ से प्रारम्भ होने वाले विक्रम वर्ष से पहले आता है। यह वर्ष हालारी वर्ष कहलाता है अर्थात् जो काठियावाड के एक खण्ड हालार प्रान्त से सवधित हो। मुझे यह नही ज्ञात है कि इसमे चान्द्र पक्षो की अमान्त व्यवस्था है अथवा पूर्णिमान्त व्यवस्था। किन्तु इसका प्रयोग सर्वथा क्षेत्रीय जान पडता है, अन्य सभी तिथियो से सवधित परिणामो से तुलना करने पर, यह ३३० वर्ष मे तिथ्यकन धरसेन चतुर्थ के कैर दान-लेख तथा वलभी सवत् ९२७ की तिथि से अकित वेरावल अभिलेख की तिथियो से सवधित परिणामो की विसगति सुलझाने मे कोई सहायता नही देता, साथ ही, वुधगुप्त के एरण स्तम्भलेख तथा अन्य लेखो की तिथियो से सगति रखने के लिए इसका प्रारम्भ कार्तिक शुक्ल १—जिस तिथि से प्रान्त के अन्य भागो मे प्रचलित विक्रम सवत् का प्रारम्भ होता है—के पूर्ववर्ती आषाढ शुक्ल १ से नही अपितु अनुवर्ती आषाढ शुक्ल १ से होना चाहिए। अतएव, इस मान्यता का कोई आधार नही है कि हालारी वर्ष मे गुप्त सवत् का कोई अवशेष है।

२ वास्तव मे दक्षिण भारत में भी अथवा, कम से कम, इसके कुछ भागो मे इस प्रकार के प्रमाण एकत्रित हो रहे हैं कि चान्द्र पक्षो की अमान्त दक्षिणी व्यवस्था शक वर्षो के साथ अपेक्षाकृत काफी वाद तक नही सवद्ध हुई थी। इसके पक्ष मे एक प्रमाण पश्चिमी चालुक्य शासक पुलकेशिन् द्वितीय का हैदरावाद (डेकन) दान लेख है जिसमे गणना हेतु प्राप्त विस्तृत विवरण (इन्डियन एन्टीक्वेरी, जि ६, पृ ७३, पक्ति ११ इ) इस प्रकार है—शक सवत् ५३४ वीत चुका वर्ष, भाद्रपद मास (अगस्त—सितम्बर), अमावस्या तिथि तथा सूर्यग्रहण का दिन। इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि १६, पृ १०९ इ मे मैंने इस तिथि का उल्लेख किया है, उस समय मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा कि विचाराधीन सूर्यग्रहण वह है जो २३ जुलाई ६१३ ई को पडा था। यह निष्कर्ष उल्लिखित प्रचलित शक वर्ष के अग्रेजी समरूप के सवध मे की गई गलती के परिणामस्वरूप प्राप्त हुआ था और इस गलती के पीछे वीत चुके वर्षो के लिए वनाई गई सारणियो को व्यवस्थित करने का वह ढग था

अंकित तिथियों की गणना

अतएव हमारा दूसरा कार्य यह देखना होगा कि किस सीमा तक प्राप्त गुप्त-वलभी तिथियां—यदि इन्हें दो सौ इकतालीस वर्ष जोड़ कर शक तिथियों में रूपान्तरित कर दिया जाय जैसा कि इन दो सवतों के समीकरण के संदर्भ में अलबेरूनी ने स्पष्टरूप में कहा है, तथा इन्हें उत्तरी तिथियां माना जाय जिसमें चान्द्रपक्षों की पूर्णिमान्त व्यवस्था होती है और वर्ष का प्रथम दिन चैत्र

जिसमें इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता (द्र०, नीचे परिशिष्ट १), अत यह गलती केवल मुझ तक सीमित नहीं है। शक संवत् ५३४ बीत चुका वर्ष और ५३५ प्रचलित वर्ष, वास्तव में, ईसवी सन् ६१२–१३ का समरूप है। इस अवधि में एक सूर्यग्रहण हुआ था (द्र०, इण्डियन एराज, पृ २१०) जो २ अगस्त ६१२ ई को पड़ा था, तथा पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था के अनुसार यह तिथि भाद्रपद की अमावस्या थी। किन्तु सूर्य सिद्धान्त के आधार पर श व दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यह तिथि ३५ घटी, ४६ पल पर समाप्त हुई थी और तत्परिणामस्वरूप, यह ग्रहण, रात्रि में घटित होने के कारण, भारत में दृष्टिगोचर नहीं था। तदनुसार, पूर्ववर्ती वर्ष में दी गई तिथि पर सूर्यग्रहण न होने के कारण, यह संदेहपूर्ण है कि लेख में वस्तुत २ अगस्त ६१२ ई के ग्रहण का उल्लेख है अथवा यह उद्धृत वर्ष में गलती का दृष्टान्त है, तथा यहां अभिप्रेत ग्रहण वह है जो अत्यन्त प्रभावकारी परिस्थितियों म इस क्षेत्र अर्थात् बादामी में–जिसका स्वयं लेख उल्लेख करता है–पूर्णरूप से दृष्टिगोचर हुआ तथा २३ जुलाई ६१३ ई को घटित हुआ, यह तिथि पुन, पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था के अनुसार, भाद्रपद की अमावस्या तिथि से मेल खाती है। किन्तु जिस बात की ओर मैं ध्यान आकर्षित करना चाहता हू वह यह है कि इन दोनों ग्रहणों में से हम किसी को भी चुनें, प्रत्येक अवस्था में चान्द्र पक्षों की पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था ही लागू करनी होगी। पुन कनारी प्रदेश से प्राप्त राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय के एक दानलेख में हमें गणना के लिए (इण्डियन एन्टिक्वेरी, जि ११, पृ १२६, पंक्ति १ इ) ये विवरण मिलते हैं शक सवत ७२६, बृहस्पति के षष्ठिवर्षीय चक्र का सुभानु सवत्सर, वैशाख (अप्रेल-मई) मास, कृष्ण पक्ष, पंचमी तिथि, तथा बृहस्पतिवार। यह पूर्णतया निश्चित नहीं है कि पाठ के शाब्दिक अनुवाद से प्रदत्त शक वर्ष बीत चुका वर्ष ज्ञात होता है अथवा प्रचलित वर्ष। किन्तु, सही परिणाम इसे बीत चुका वर्ष मानने पर भी प्राप्त हो सकते हैं। शक सवत् ७२६ बीत चुके वर्ष को आधार मानने पर, दी गई तिथि–जो शक सवत् ७२७ प्रचलित वर्ष की तिथि है–अमान्त व्यवस्था के अनुसार, शुक्रवार, ३ मई ८०४ ई को समाप्त हुई थी, किन्तु पूर्णिमान्त व्यवस्था से इसकी समाप्ति अपेक्षित बृहस्पतिवार, ४ अप्रेल को हुई थी। और यह षष्ठि–वर्षीय चक्र की उत्तरी पद्धति के अनुरूप है, जिसके अनुसार सुभानु सवत्सर का प्रारम्भ शक सवत् ७२६ प्रचलित वर्ष में १७ जून ८०३ ई को हुआ और जिसके पश्चात् शक सवत् ७२७ प्रचलित वर्ष में १२ जून ८०४ ई को तारण सवत्सर आया, इस प्रकार, दी गई तिथि पर यह प्रचलित सवत्सर था। चक्र की दक्षिणी पद्धति के अनुसार, सुभानु सवत्सर तथा शक सवत् ७२६ प्रचलित वर्ष (८०३–८०४ ई) समकालिक हैं। और इस वर्ष के लिए, शक सवत् ७२५ बीत चुके वर्ष को आधार मानने पर अमान्त तथा पूर्णिमान्त व्यवस्था से क्रमश शनिवार, १५ अप्रेल ८०३ ई तथा शुक्रवार १७ मार्च की तिथियां प्राप्त होती हैं। दूसरी ओर, राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष प्रथम के शिरूर (जिला धारवाड) अभिलेख में गणना हेतु (इन्डियन एन्टिक्वेरी, जि १२, पृ २१९, पंक्ति १५ इ) ये विवरण मिलते हैं शक सवत् ७८८, व्यय सवत्सर, ज्येष्ठ (मई–जून) मास, अमावस्या तिथि, दिन रविवार और सूर्यग्रहण। इस लेख में भी यह स्पष्ट नहीं है कि पाठ के शाब्दिक अनुवाद से प्रदत्त शक वर्ष प्रचलित वर्ष मालूम होता है अथवा बीत चुका वर्ष। किन्तु सही परिणाम इसे बीत चुका वर्ष मानने पर ही प्राप्त होते हैं। शक सवत् ७८८ प्रचलित वर्ष (८६५-८६६ ई) में दी गई तिथि पर सूर्यग्रहण नहीं घटित हुआ था। साथ ही षष्ठिवर्षीय चक्र की दक्षिणी पद्धति के अनुसार, व्यय सवत्सर तथा शक सवत् ७८९ प्रचलित वर्ष (८६६–८६७ ई) समकालिक थे, उत्तरी पद्धति

शुक्ल १ का होता है—संतोषजनक परिणाम प्रदान करती है, तथा यह देखना होगा कि, एक ओर, गुप्त-वलभी संवत् के वर्षों तथा, दूसरी ओर, शक तथा ईसवी संवतों के वर्षों के बीच कौन से समरूप समीकरण बनेंगे।

१६५ वर्ष की तिथि युक्त एरण अभिलेख

ऐसा प्राचीनतम लेख जिसमें यह परीक्षण सरलता से हो सकता है, तथा जिसमें सप्ताह के बाद के उल्लेख के साथ अन्य आवश्यक विवरण प्राप्त है, तथा श्री श० ब० दीक्षित ने मेरे लिए—सबसे पहले जिस लेख का परीक्षण किया, वह बुधगुप्त का एरण स्तम्भ लेख है। यह सेन्ट्रल प्राविन्सेज के सागर जिला से प्राप्त हुआ था (स० १६) । इसमे तिथि इस प्रकार (पंक्ति २ इ०) दी हुई है—शते पंचषष्ठ्यधिके वर्षाणां भूपतौ च बुधगुप्ते। आषाढ-मास - शुक्ल-द्वादश्यां सुरगुरोर्दिवसे। स० १०० ६० ५,—अर्थात् "जब कि सौ वर्षों से पैंसठ वर्ष अधिक हो चुके थे, जब कि बुधगुप्त शासक (है), आषाढ मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि को, सुरगुरु के दिन, (अथवा, यदि अंकों में कहा जाय) १०० (और) ६० (और) ५ वर्ष।"

जैसाकि तिथि की लिपि से ज्ञात होता है, इनमे उद्धृत तिथि प्रारम्भिक गुप्त लेखों में अंकित तिथि-शृंखलाओं के ही अन्तर्गत आती है, इस निष्कर्ष को सभी ने स्वीकार किया है और इस प्रकार हमें गणना के लिए ये तथ्य प्राप्त होते हैं, गुप्त संवत् १६५ चालू वर्ष, आषाढ मास (जून-जुलाई) शुक्ल पक्ष,द्वादशी तिथि, सुरगुरुवार जो—चूंकि सुरगुरु, अर्थात् 'देवताओं का गुरु', बृहस्पति (बृहस्पति नक्षत्र का संरक्षक देवता) का ही दूसरा नाम है—बृहस्पतिवार अथवा गुरुवार है। यह तिथि सदैव गणना तथा विवाद का विषय रही है। १८६१ मे जर्नल आफ द बंगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३०, पृ० १५, टिप्पणी मे बनारस के बापुदेव शास्त्री को प्रमाण मानते हुए डा० एफ० ई० हाल ने यह घोषित किया कि विक्रम संवत् की इस तिथि पर लागू करने पर हम बृहस्पतिवार, ७ जून १०८ ईसवी, नयी शैली की तिथि पाते हैं।

१८७९ मे आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ९, पृ० १७ इ० मे जनरल कनिंघम—उस समय जो इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे कि अंकित तिथि १६४ (६५) ई० से प्रारम्भ होने वाले संवत् की है—ने यह मत व्यक्त किया कि यह तिथि बृहस्पतिवार, २४ जून ३५९ ई० प्राचीन शैली होनी चाहिए[1]। इस गणना का आधार यह विचार था कि चैत्र शुक्ल १ को पड़ने वाला मंगलवार १६ मार्च

के अनुसार, इसका प्रारम्भ शक संवत् ७८८ प्रचलित वर्ष मे २३ सितम्बर ८६५ ई० को हुआ तथा इसके पश्चात् शक संवत् ७८९ प्रचलित वर्ष के अन्तर्गत २० सितम्बर ८६६ ई० को सर्वजित संवत्सर आया। शक संवत् ७८८ बीत चुके वर्ष को आधार बनाने पर, पूर्णिमान्त व्यवस्था के अनुसार, दी गई तिथि शनिवार, १८ मई ८६६ ई० को समाप्त हुई थी जबकि सूर्यग्रहण नहीं था, किन्तु अमान्त व्यवस्था के अनुसार यह जैसा कि अपेक्षित है, रविवार, १६ जून को समाप्त हुई थी, जबकि सूर्यग्रहण था (द्र० इन्डियन एराज, पृ २१२), चूंकि यह तिथि (बम्बई मे) लगभग २ बजे अपराह्न मे समाप्त हुई थी अतः यह ग्रहण अन्य स्थितियों के समान होने पर भारतवर्ष मे दृष्टिगत था। अतः यह प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत मे चान्द्र-पक्षों की अमान्त दक्षिणी व्यवस्था का शक वर्षों के साथ सम्प्रयोग ८०४ ई० तथा ८६६ ई० के बीच किसी समय हुआ था।

१ यह ज्ञातव्य है कि ग्रगोरियन कैलेन्डर अथवा नई शैली—जिसका मैंने तथा, मेरा विश्वास है, जनरल कनिंघम ने प्रयोग किया है—के ग्रहण के पूर्व हिन्दू तिथियों के सभी अंग्रेजी रूपान्तरण जूलियन कैलेण्डर अथवा प्राचीन शैली के अनुसार दिए गए थे। इंगलैंड मे इसके प्रचलन के पूर्व के समय के लिए न्यू स्टाइल का प्रयोग करके इस बात को और जटिल बनाना आवश्यक नहीं।"

गुप्त सवत् १६५+ईसवी सन् १६४-६५=ईसवी सन् ३५६-६०=शक सवत् २८१ बीत चुके वर्ष का प्रथम वार है, और उपर्युक्त निष्कर्ष इस मान्यता पर आधारित था कि दी गई तिथि अपने सिद्धान्तत स्वाभाविक स्थान अर्थात् वर्ष के १०१ वें सौर दिवस पर पडी[1]। तथा, उसी स्थान पर उन्होने यह सूचित किया कि इस तिथि को ३१८ (१६) ई० से प्रारम्भ होने वाले सवत् की तिथि मानने पर हमे परिणामत शुक्रवार ३ जून ८८३ ई० की तिथि प्राप्त होगी, इस दूसरी गणना का आधार यह विचार था कि चैत्र शुक्ल १ को पडने वाला बुधवार, २३ फरवरी गुप्त सवत् १६५+ईसवी सन् ३१८-१६=ईसवी सन् ४८३-८४=शक संवत् ४०५ बीत चुके वर्ष का प्रथम दिन होगा, तथा इस निष्कर्ष का आधार तिथि की स्थिति विषयक वही पूर्वोक्त मान्यता थी।

१८८० मे, आर्चियलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ११५ इ० मे जनरल कनिंघम—जिन्होंने अब अपने पूर्व विचार मे सशोधन करके यह विचार प्रकट किया था कि तिथि १६६ (६७) ई० मे प्रारम्भ होने वाले सवत् की है—ने यह मत प्रकट किया कि बापूदेव शास्त्री द्वारा सूर्य सिद्धान्त की गणना से प्राप्त निष्कर्ष ३३१ ई० मे शुक्रवार है, किन्तु आर्य सिद्धान्त के आधार पर स्वय उनके द्वारा उसी वर्ष का बृहस्पतिवार प्राप्त होता है। उस समय उन्होने अधिक विवरण नही दिया। किन्तु १८८२ मे अपनी पुस्तक बुक आफ इण्डियन एराज, पृ० ५५ इ० मे उन्होंने इस प्रसग मे जो विशेष विवरण दिए, उनसे यह ज्ञात होता है कि अभिप्रेत तिथिया ईसवी सन् ३३१ मे क्रमश शुक्रवार ४ जून और बृहस्पतिवार ३ जून थी, तथा यह कि उन्हे यह निष्कर्ष इस विचार के आधार पर प्राप्त हुआ था कि चैत्र शुक्ल १ को पडने वाला मगलवार २३ फरवरी गुप्त सवत् १६५+ईसवी सन् १६६६-६७=ईसवी सन् ३३१-३२=शक सवत् २५३ बीत चुके वर्ष का प्रथम दिन था, तिथि की स्थिति के विषय मे वही पूर्वोक्त मान्यता स्वीकार की गई थी। पहले उद्धरण मे उन्होंने ३१८-(१६) के सवत् के लिए शुक्रवार (३ जून), ईसवी सन् ८८३ के निष्कर्ष को ही दुहराया।

१८८२ मे अपने 'डेट्स आन क्वायन्स आफ द हिन्द किंग्स आफ द काबुल' शीर्षक लेख के पश्चलेख मे, जो न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल, तृतीय शृ खला, जि० २, पृ० १२८ इ० मे प्रकाशित

---

१ इसका आधार यह मान्यता है कि हिन्दू चान्द्र-सौर वर्षों के चान्द्र मासों मे नियमित अनुक्रम मे अन्योन्यानुगामी रूप से तीस तथा उनतीस सौर दिवस होते हैं, उदाहरण के लिए डॉ० कावासजी पटेल की पुस्तक कानालजी, पृ० ६६-८० सारणियां २ से लेकर १३, तथा कनिंघम की पुस्तक इण्डियन एराज, पृ० ६६ सारणी १०। लगभग ठीक निष्कर्षों की प्राप्ति के लिए इन सारणियों मे दी गई व्यवस्था काफी सुविधाजनक है। किन्तु सम्मिहित सिद्धान्तो पर ध्यान न देने पर भी किसी भी वर्ष-शृंखला के प्रसग में किसी एक पंचांग के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह मान्यता तथ्यों से मेल नहीं खाती, तथा यह कि इस प्रकार का कोई ऐसा नियम नही निर्धारित किया जा सकता जिसके आधार पर, एक अथवा दो दिन का भी अन्तर न रखते हुए, वर्ष के प्रारम्भ से गणना करके ठीक-ठीक उस दिन को जाना जा सके जिस पर कोई तिथि विशेष पडी हो। वास्तव मे शक सवत् १८०९ से लेकर १८१८ तक के (दोनो तिथियां सम्मिलित) दस वर्षों मे आषाढ शुक्लपक्ष की द्वादशी तिथि की समाप्ति कभी वर्ष के १०१वें दिन और कभी १०२वें दिन हुई, तथा सोमवार, मगलवार अथवा बुधवार से प्रारम्भ होने वाले किसी वर्ष में इस तिथि विशेष के बृहस्पतिवार के दिन पडने की सभावना है। इस सैद्धान्तिक व्यवस्था मे एक विशेष प्रकार की विसगति अन्तर्निहित है। वर्ष के प्रथम मास को तीस दिन का माना गया है, इस स्थिति मे बीच मे अधिक मास न होने पर वर्ष के आठवें महीने कार्तिक मे उनतीस सौर दिवस होंगे (द्र० कानालजी, सारणी ४ और १३, तथा इण्डियन एराज, सारणी १०)। किन्तु, दक्षिणी विक्रम सवत् मे प्रथम होने पर इसी कार्तिक मास मे तीस सौर दिवस होंगे (द्र० कानालजी, सारणी ३)। यह एक स्पष्ट असभावना है।

हुआ, सर ई० क्लाइव बेले—जिनका मत यह था कि विचाराधीन तिथि १९०(९१) ई० से प्रारम्भ होने वाले सवत् की है—ने यह विचार प्रकाशित किया कि उनके द्वारा प्राप्त निष्कर्ष ईसवी सन् ३३५ का एक वृहस्पतिवार है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह उसी वर्ष मे १७ मई को पडने वाला वृहस्पतिवार है। किन्तु उन्होने उस पद्धति का कोई सकेत नही किया जिसके माध्यम से उन्हे यह परिणाम प्राप्त हुआ था। उन्होंने केवल टामस द्वारा सपादित एसेज, जि० २, यूजफुल टेबल्स, पृ० १८०, १८१ मे दी गई प्रिसेप की सारणियो का सामान्य उल्लेख किया। और वास्तविकता यह है कि प्राप्त निष्कर्ष सर्वथा गलत था। १७ मई ईसवी सन् ३३५ को वार बुधवार था, वृहस्पतिवार नही; और जिस उपयुक्तता तक जनरल कनिंघम की सारणियो द्वारा निश्चयन हो सकता है, इस दिन उत्तरी वर्ष के आषाढ कृष्ण पक्ष की ५वी तिथि थी। सर ई० क्लाइव बेले शीघ्र ही अपनी त्रुटि को जान गए प्रतीत होते हैं क्योकि अपने पश्चलेख के अन्त मे जो उनसे मेरे पास उनके मुख्य लेख के साथ मई १८८३ मे पहुँचा, यह वाक्य जोडा हुआ था—"यह तिथि त्रुटिपूर्ण है, किन्तु प्रोफेसर याकोबी द्वारा सगणित सही तिथि वृहस्पतिवार को पडती है।" गुप्त संवत् १६५+इसवी सन् १९०-९१=ईसवी सन् ३५५-५६=शक संवत् २७७ बीत चुके वर्ष के आषाढ शुक्ल १२ की सही तिथि वृहस्पतिवार, ८ जून, ईसवी सन् ३३५ है, जैसा कि श्री श० ब० दीक्षित द्वारा पो० केरो लक्ष्मण छत्रे की सारणियो के आधार पर गणना करके प्राप्त हुआ है।

१८८१ मे इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १०, पृ० २२० मे डा० ओल्डेनबर्ग ने वारेन की कल-संकलित मे दी गई सारणियो के आधार पर सही परिणाम की घोषणा की अर्थात् वृहस्पतिवार, २१ जून, ईसवी सन् ४८४।

अब, डा० हाल, जनरल कनिंघम तथा सर ई० क्लाइव बेले द्वारा प्रस्तावित निष्कर्षों को—वे शुद्ध हो अथवा त्रुटिपूर्ण—तथा इस प्रकार के किसी सयोग को बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार किया जा सकता है। जहा तक जनरल कनिंघम द्वारा प्रस्तावित १६६-६७ ई० से प्रारम्भ होने वाले सवत् के आधार पर प्राप्त निष्कर्षो का प्रश्न है, श्री श० ब० दीक्षित सभी प्रमाण-ग्रन्थो की सहायता से गणना करके—जिनमे आर्य सिद्धान्त भी है जिसे जनरल कनिंघम ने विशेष रूप से अपना आधार बनाया है—इस निष्कर्ष पर पहुचे कि ईसवी सन् ३३१ मे प्रस्तुत तिथि, जो शकसवत २५४ चालू वर्ष से संबद्ध है तथा जिसका सगणन शक सवत् २५३ बीत चुके वर्ष के आधार पर हुआ है, शुक्रवार, ४ जून को ऐसे समय समाप्त हुई कि किसी भी प्रकार वृहस्पतिवार, ३ जून की सभावना हो ही नही सकती[१]; साथ ही, उपर्युक्त शक वर्ष का प्रथम वार बुधवार, २४ फरवरी, ईसवी सन् ३३१ था, मंगलवार, २३ फरवरी नही।

---

१ यहां केवल चार प्रधान प्रमाणो का उद्धरण पर्याप्त होगा। इस तिथि विशेष की समाप्ति के समय १ बम्बई मे माध्य सूर्योदय से, २ उज्जैन मे माध्य सूर्योदय से, ३ एरण मे माध्य सूर्योदय से तथा ४ एरण मे स्पष्ट सूर्योदय से इस प्रकार है: प्रो० के० एल० छत्रे की सारणियो के अनुसार, (२) ५ घटी, ४६ पल, (२) ६ घटी १५ पल (३) ६ घटी ४० पल, (४) ८ घटी ४० पल। सूर्य सिद्धान्त के अनुसार (१) ७ घटी ० पल, (२) ७ घटी २९ पल, (३) ७ घटी ५४ पल, (४) ९ घटी ५४ पल। आर्य सिद्धान्त के अनुसार, (१) ८ घटी १४ पल, (२) ८ घटी ४३ पल, (३) ९ घटी ८ पल, (४) ११ घटी ८ पल, तथा ब्रह्म सिद्धान्त के अनुसार, (१) ९ घटी १६ पल, (२) ९ घटी ४५ पल, (३) १० घटी १० पल, (४) १२ घटी १० पल। ये समय शुद्ध नही हैं किन्तु एकदम शुद्ध निष्कर्ष प्राप्त होने पर भी केवल कुछ पलो का ही अन्तर पडेगा।

जिस प्रमुख विचार्य विषय मे यहा हमारी रुचि है वह यह है कि यदि हम अलबेरूनी के इस स्पष्ट अभिकथन—कि गुप्त-वलभी सवत् तथा शक सवत् के बीच दो सौ इकतालीस वर्षों का अन्तराय है—को मान कर गुप्त सवत् १६५+२४१=शक सवत् ४०६ यह गणना करें तो क्या आषाढ शुक्ल १२ को बृहस्पतिवार का दिन पडता है, अथवा यह कि उस वर्ष के प्रसग मे अपेक्षित परिणाम न मिलने पर क्या ठीक पूर्ववर्ती अथवा अनुवर्ती शक वर्ष के साथ ठीक निष्कर्ष प्राप्त होता है।

श्री श० व० दीक्षित ने, प्रो० के० एल० छत्रे की सारणियो के आधार पर, इन तीन शक वर्षो को बीत चुके वर्ष मानकर आवश्यक गणनाए की हैं और उनके निष्कर्ष इस प्रकार हैं—शक सवत् ४०५ बीत चुके वर्ष के साथ शुक्रवार ३ जून ईसवी सन् ४८३, शक सवत् ४०६ बीत चुके वर्ष के साथ बृहस्पतिवार, २१ जून ईसवी सन् ४८४[1], तथा शक सवत् ४०७ बीत चुके वर्ष के साथ मगलवार, ११ जून, ईसवी सन् ४८५। उन निष्कर्षो को प्रदान करने वाली प्रक्रिया को विस्तार से, दूसरे निष्कर्ष के प्रसग मे, नीचे परिशिष्ट २ मे दिखाया गया है।

केवल दूसरा निष्कर्ष अर्थात् बृहस्पतिवार, २१ जून, ईसवी सन् ४८४ ही लेख मे उल्लिखित वार मे मेल खाता है तथा परिशिष्ट २, सारणी ६ को देखने मे यह ज्ञात होगा कि यह सगति केवल प्रो० के० एल० छत्रे की सारणियों द्वारा ही नही अपितु आर्य सिद्धान्त तथा अन्य सभी प्रमुख प्रमाणो द्वारा प्रतिष्ठित होती है। जैसा कि अपेक्षित है, यह गुप्त वर्ष के उत्तरी शक वर्ष से भी मेल खाता है, यद्यपि यह स्वय निश्चितरूपेण सवत् का काल अथवा वर्ष की योजना नही सिद्ध करता। इसका कारण यह है कि शुक्ल पक्ष की तिथि होने के कारण यह आषाढ शुक्ल १२ की तिथि—जो २१ जून को पडती है—सपूर्ण भारतवर्ष मे तथा दक्षिणी एव उत्तरी दोनो के शक सवत् ४०७ प्रचलित वर्षो मे तथा दक्षिणी विक्रम सवत् ५४१ प्रचलित वर्ष एव उत्तरी विक्रम सवत् ५४२ प्रचलित वर्ष दोनो मे, भिन्न भिन्न तिथि नही है और यह एक ही सौर दिवस पर पडी। इससे दिए गए प्रचलित गुप्त वर्ष के लिए समरूप तिथि शक सवत् ४०७ प्रचलित वर्ष (ईसवी सन् ४८४–८५) प्राप्त होती है और अन्त मे,—जैसा कि परिणामी वर्ष अर्थात् शक सवत् ४०६ बीत चुके वर्ष को लागू करने पर प्राप्त होता है ताकि दी गई तिथि को शक सवत् ४०७ प्रचलित वर्ष माना जा सके—इससे यह प्रदर्शित होता है कि अलबेरूनी का कथन मानकर दो सौ इकतालीस वर्ष जोडने से हमे वास्तव मे प्रदत्त प्रचलित गुप्त-वलभी वर्ष का बीत चुके शक वर्ष मे रूपान्तरण प्राप्त होता है, और इससे हमे वह आधार प्राप्त होता है जो हिन्दू सारणियो मे प्राप्त निष्कर्षों की गणना के लिए अपेक्षित है—अर्थात्, यह कि दिए हुए प्रचलित गुप्त-वलभी वर्ष से सबधित प्रचलित वर्ष के प्रारम्भ के पहले ही गत शक वर्ष समाप्त हो गया, तथा यह कि

---

१ निष्कर्षों को इस प्रकार केवल सक्षेपण के उद्देश्य से रखा गया है। प्रस्तुत उदाहरण में उन्हें और सही ढग से इस प्रकार कहा जा सकता है कि यह तिथि विशेष, जो शक सवत् ४०७ प्रचलित वर्ष की है तथा जिसकी गणना का आधार शक सवत् ४०६ बीत चुका वर्ष है, हिन्दू बृहस्पतिवार को समाप्त हुई तथा यह इस दिन की ऐसे समय समाप्त हुई जबकि अंग्रेजी बृहस्पतिवार चल रहा था अर्थात् २१ जून, ईसवी सन् ४८४ प्राचीन शैली। विभिन्न प्रमाणों के अनुसार, तथा बम्बई, उज्जैन एव एरण में माध्य अथवा स्पष्ट सूर्योदय से गणना किए जाने पर, यह तिथि इन उपरोक्त स्थानो पर किन-किन समयों (घटों) पर समाप्त हुई, यह परिशिष्ट २, सारणी ६ में दिया गया है।

प्रचलित गुप्त-वलभी एव प्रचलित शक वर्षों के बीच निरन्तर बना रहने वाला अन्तर दो सौ चालीस वर्षों का है।[1]

वलभी सवत् ६४५ की तिथि से युक्त वेरावल अभिलेख

इस प्रसग मे अब मैं चालुक्य शासक अर्जुनदेव के वेरावल अभिलेख पर विचार करूंगा जो काठियावाड मे प्राचीन सोमनाथपाटन का प्रतिनिधित्व करने वाले वेरावल नामक स्थान पर हरसटदेवी के मदिर मे स्थित एक प्रस्तर खण्ड पर अकित है। यह तिथि विशेष रूप से एक जटिल समस्या है, कुछ तो इसलिए कि यह कृष्ण पक्ष की तिथि है, और कुछ इसलिए कि काठियावाड से प्राप्त यह लेख अपेक्षाकृत वाद की तिथि का है तथा इसी लेख मे विक्रम सवत् का भी एक वर्ष अकित है और इस प्रकार इस वात की काफी सभावना है कि इसके विवरण दक्षिणी विक्रम सवत् के साथ सम्भ्रमित हो गए हो अथवा उन्हें दक्षिणी विक्रम सवत् के अन्तर्गत कर दिया गया हो, जोकि काठियावाड तथा गुजरात के निकटवर्ती प्रदेश मे मूल क्षेत्रीय (राष्ट्रीय) सवत् था और अब भी है। किन्तु यह देखा जाएगा कि ऐसा नही हुआ है।

इस तिथि के विवरण (डा० हुल्श के प्रकाशित मूल से, इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० २४२, पक्ति २ इ०) इस प्रकार हैं, श्री विश्वनाथ-प्रतिबद्ध-नौजनाना बोधक-रसूल-महमद-सवत् ६६२ तथा श्री-नृप-विक्रम-सवत् १३२०, तथा श्रीमद्-वलभी स ९४५ तथा श्री-सिंह स १५१ वर्षे आषाढ व दि १३ खाववेह..इह श्री-सोमनाथ-देव-पत्तेन-"पैगम्बर महम्मद, जो कि पावन (भगवान्) विश्वनाथ(के मन्दिर) से सम्बद्ध नाविको के शास्ता हैं, का ६६२ वा वर्ष, और साथ ही यशस्वी शासक विक्रम का १३२० वा वर्ष, और साथ ही प्रसिद्ध (नगर) वलभी का ९४५ वा वर्ष, और साथ ही यशस्वी सिंह का १५१ वा वर्ष,(इस) वर्ष मे, आषाढ मास, कृष्ण पक्ष[2], (सौर) दिवस १३, रविवार को, आज (एव) यहा,...यहा पावन सोमनाथ देव के नगर मे।"

---

१ डा० आर० जी० भण्डारकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे (अर्ली हिस्टरी आफ द डकन, पृ० ९९) कि २४१ वर्षों को जोडने से गत गुप्त वर्ष का गत शक वर्ष मे रूपान्तरण होगा। यह त्रुटि शक सवत् के कालविषयक सामान्य त्रुटि के कारण है (द्र० ऊपर पृ० ६३, टिप्पणी २)। हिन्दुओ द्वारा २४२ की सख्या जोडने के उदाहरण के लिए द्र०, ऊपर पृ० २५, टिप्पणी १।

२ पाठ मे आने वाला अक्षर व—अकेले अथवा पक्ष या पक्षे के साथ—या तो बद्य का सक्षिप्त रूप है अथवा यह ब अक्षर के लिए है और—अकेले अथवा पक्ष या पक्षे के साथ—बहुल शब्द का सक्षिप्त रूप है। जहा तक यह प्रश्न है कि ब वि अथवा व वि तथा शु वि भिन्न-भिन्न पारिभाषिक सक्षिप्त रूप है, स्वय मे शब्द नही, देखिए लेख स० २० की सबद्ध टिप्पणी। जिस प्रकार व अथवा ब और शु के साथ कभी वि का प्रयोग किया जाता है और कभी नही, उसी प्रकार नेपाल अभिलेखो में (द्र०, नीचे परिशिष्ट ४) तिथि की सख्या के साथ अव्यय दिवा = "दिन" को कभी लिखा जाता है कभी नही। इसी प्रकार दि अथवा इसके दिन, दिनं, दिवस, अथवा दिवसे इन पूर्ण रूपो मे से किसी का भी उल्लेख कभी कभी पक्ष के उल्लेख के विना भी किया जाता है। इस प्रसग मे, यह स्पष्ट नहीं है कि प्रयोग की इन भिन्नताओ का अर्थ क्या है और इसका निश्चयन काफी गणनाओ के वाद ही किया जा सकता है। किन्तु यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जब दि अथवा इसके किसी पूर्ण रूप का उल्लेख किया जाता है तो—स्वभावत सबसे प्राचीन जान पडने वाली गणना-विधि के अनुरूप—सौर दिवस अभिप्रेत होता है न कि चान्द्र तिथि। यदि, वाद मे किसी समय, चांद्र तिथियो के साथ सौर दिवसो का विलोपन अथवा पुनरावृत्ति हो गई तो पक्ष की चालू सख्या सदैव चान्द्र तिथि

इस लेख से हमे गणना के लिए ये विवरण प्राप्त होते हैं, आपाढ मास (जून-जुलाई), कृष्ण पक्ष, पक्ष का तेरहवा सौर दिवस—इस दिन चाहे जो तिथि रही हो यद्यपि सभवत त्रयोदशी रही होगी, रविवार का दिन। इसमे विक्रम सवत् का १३२० वा वर्ष तथा पैगम्बर महम्मद का ६६२ वा वर्ष—जो सुविज्ञात हिजरी सवत् का वर्ष है—उल्लिखित है और इस वर्ष का प्रारम्भ[1] रविवार ४ नवम्बर ईसवी सन् १२६३ को तथा अन्त शनिवार २३ अक्टूबर ईसवी सन् १२६४ को हुआ। जिससे यह ज्ञात होता है कि इस लेख मे अकित वलभी सवत् का प्रारम्भ विन्दु ३१६ ई० अथवा इसके लगभग रहा होगा तथा यह अनिवार्यरूपेण वही वलभी सवत् है जिसका उल्लेख अलवेरूनी ने किया है। एरण अभिलेख की तिथि के प्रसग मे प्राप्त निष्कर्षों के अनुसार यह तिथि वलभी सवत् ९४५+२४२=शक सवत् ११८७ प्रचलित वर्ष (ईसवी सन् १२६४-५) होगी, तथा हिन्दू सारणियो का प्रयोग करते समय गणना का आधार शक सवत् ११८६ वीत चुका वर्ष बनाना चाहिए।

इसके पहले कि निष्कर्षों की ओर वढा जाय, कुछ प्रायमिक वातो पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि चू कि यह लेख विशिष्ट रूप से काठियावाड के एक क्षेत्र से सवधित है अत यह अनुमान किया जा सकता है कि उल्लिखित विक्रम सवत् कार्तिक (अक्टूवर-नवम्वर) मास के शुक्ल पक्ष के प्रथम वार से प्रारम्भ होने वाला दक्षिणी विक्रम सवत् है। इस प्रकार का अनुमान करना स्वाभाविक है किन्तु इसके अतिरिक्त यह हिजरी वर्ष के सहवर्ती उल्लेख से पूर्णरूपेण निश्चित हो जाता है, चू कि आपाढ का महीना सामान्यत जून-जुलाई में पडता है, अत इससे यह भी स्पष्ट है—जैसा कि अभिलेख के सम्पादन के समय डा० हुल्श ने[2] तथा इसकी तिथि पर मत व्यक्त करते हुए जनरल कनिंघम ने सकेतित किया था[3]—कि अग्रेजी तिथि ईसवी सन् १२६४ के जून अथवा जुलाई मे पडनी चाहिए। इससे उत्तरी विक्रम सवत् के उल्लेख की सभावना सर्वथा समाप्त हो जाती है क्योकि उत्तरी विक्रम सवत् १३२१ प्रचलित वर्ष[4] का आपाढ मास पूर्ववर्ती अग्रेजी वर्ष, ईसवी सन् १२६३ के जून-जुलाई मे पडता है। साथ ही, चू कि ईसवी सन् १२६४ की जून-जुलाई की अवधि शक सवत् ११८७ प्रचलित वर्ष मे पडी, अतएव इससे शक सवत् ११८६ प्रचलित वर्ष तथा ११८८ प्रचलित वर्ष के लिए गणना करने की कोई आवश्यकता नही रह जाती, किन्तु समस्या के पूर्ण समाधान के उद्देश्य से इन दोनो वर्षों के प्रसग मे प्राप्त निष्कर्षों को दिया जाएगा।

प्रस्तुत तिथि के अग्रेजी स्वरूप के १२६४ ई० मे पडने के विषय मे इतना सब डा० हुल्श तथा जनरल कनिंघम द्वारा स्पष्ट रूप से बताया जा चुका था। किन्तु जहा तक मुझे ज्ञात है अग्रेजी समरूप

और सौर दिवस दोनो के प्रसग मे एक ही होगी। यदि नहीं तो, उदाहरण के लिए त्रयोदशी तिथि, पक्ष के प्रारम्भ से बिना पुनरावृत्ति अथवा विलोपन के गिने जाने पर, बारहवें अथवा चौदहवें सौर दिवस पर किसी समय पड सकती है। तथा, अभिव्यक्ति की भिन्नताओ में सभवत अकन-पद्धति की भिन्नता के प्रति कोई उल्लेख प्राप्त हो सके।

१ द्र० इण्डियन एराज, पृ० १२६।

२ इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० २४१।

३ इण्डियन एराज, पृ० ५०, ५३, ६३।

४ वर्तमान सारणियों के अनुसार अकित विक्रम सवत् १३२० को, वीत चुका वर्ष माना जाना चाहिए, और, अतएव, सकेतित प्रचलित वर्ष १३२१ है। किन्तु, इससे अकित वलभी वर्ष वीत चुका वर्ष नहीं हो जाता, ठीक उसी प्रकार जैसे यह अकित हिजरी वर्ष को वीत चुके वर्ष में नही रूपान्तरित करता अथवा कर सकता है।

तिथि के विषय मे इससे अधिक कुछ नही कहा गया था, उस समय तक जब कि मेरे द्वारा इस समस्या पर विचार प्रारम्भ करने के[1] थोडे पूर्व ३ दिसम्बर १८८५ ई० की तिथि युक्त एक पत्र मे जनरल कनिंघम ने मुझे बताया कि समरूप अंग्रेजी तिथि रविवार, २५ मई[2] ईसवी सन् १२६४ है।

जैसा कि नीचे देखा जाएगा, **रविवार २५ मई, ईसवी सन् १२६४** का यह निष्कर्ष शुद्ध निष्कर्ष है। किन्तु इसके पूर्ण अर्थ को समझने के लिए केवल यह कहने मात्र से कुछ और अधिक अपेक्षित है—विशेष रूप से इसलिए कि इस तिथि के विषय मे जो पहले ही लिखा जा चुका है उसके विपरीत यह प्रदर्शित करना नितान्त आवश्यक है कि यह निष्कर्ष विक्रम सवत् १३२० के उल्लेख से नही प्राप्त होता है यद्यपि यह उस उल्लेख की सभी आवश्यकताओ को पूरा करता है, अर्थात् यह कि यह निष्कर्ष किसी ऐसे वर्ष के लिए नही है जो कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष के प्रथम वार से प्रारम्भ हुआ हो और ईसवी सन् १२६३ मे पडा हो, और, परिणामत, यह कि—मैं जो पहले प्रमाणित कर चुका हूँ, उसके अतिरिक्त—यह लेख यह प्रमाणित करता है कि वलभी सवत् ९४५ का प्रारम्भ किसी भी प्रकार उस दिन नही हुआ।[3] और यहा, आपातत, मैं यह कहना चाहता हूँ कि इन दो वर्षों के समीकरण विषयक किसी तर्क का आधार केवल यह तथ्य विशेष नही हो सकता कि लेख मे वलभी वर्ष एव दक्षिणी विक्रम वर्ष दोनो का उल्लेख है। यहा यह बताना भी अनुपयुक्त नही होगा कि यहा हिजरी सवत् ६६२ का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि अकित सवत् के वर्ष की योजना दक्षिणी विक्रम सवत् से अभिन्न नही है, जबकि—यदि इस तथ्य को ध्यान मे न भी रखा जाय कि हिजरी सवत्, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रविवार, ४ नवम्बर, ईसवी सन् १२६३ को प्रारम्भ हुआ तथा दक्षिणी विक्रम सवत् १३२० (बीत चुके वर्ष के रूप मे) अर्थात् यदि अधिक ठीक प्रकार कहा जाय, दक्षिणी विक्रम सवत् १३२१ प्रचलित वर्ष उसी ईसवी सन् के शुक्रवार ५ अक्टूबर[4] को प्रारम्भ हुआ—सभी लोग यह जानते हैं कि, चूँ कि हिजरी सवत् पूर्णत. मुसलमानी सवत् है, इन दोनो सवतो मे कुछ भी समानता नही है। वेरावल अभिलेख भारतवर्ष मे प्राप्त हो रहे उन बहुसख्यक लेखो मे एक है जिनमे तिथ्यकन अंग्रेजी अथवा किसी न किसी भारतीय पद्धति के अनुसार हुआ है तथा जिनमे मुख्य तिथि इस बात पर आधारित होती है कि इसे किस व्यक्ति ने लिखवाया है एव इसका लेखक किन परिस्थितियो मे हुआ है। कभी यह अंग्रेजी तिथि हो सकती है कभी भारतीय तिथि। हम अभी देखेंगे कि इस वेरावल अभिलेख मे मुख्य तिथि वलभी

---

१ इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १६, पृ० १४७ इ०।

२ सामान्यत आषाढ जून-जुलाई मे पडता है। किन्तु उत्तरी आषाढ का कृष्ण पक्ष दक्षिणी ज्येष्ठ के कृष्ण पक्ष से सगति रखता है, जो सामान्यत मई-जून का महीना होता है। और यह—इस तथ्य के साथ कि शक सवत् ११८७ प्रचलित वर्ष अपेक्षाकृत पहले १२६४ ई० के शनिवार १ मार्च को अथवा शुक्रवार २९ फरवरी को प्रारम्भ हुआ—इस बात का कारण है कि क्यो यह आषाढ कृष्ण पक्ष पूर्णत मई मे पडा।

३ इन निष्कर्षों के ठीक विपरीत जनरल कनिंघम (इण्डियन एराज पृ० ५३) ने इस लेख को यह प्रमाणित करने के लिए उद्धृत किया है कि वलभी सवत् १ = ३१९ (२०) ई० है, जो तभी हो सकता है जबकि सवत् का समय ३१८-१९ ई० माना जाय और वर्षों का प्रारम्भ कार्तिक शुक्ल १ से माना जाय। इसके अतिरिक्त (वही, पृ० ५०, ६३) वह विक्रम सवत् १३२० को लेख की प्रमुख तिथि मानते हैं और—यद्यपि वह स्पष्ट रूप से ऐसा नही करते है—अत्यन्त स्पष्ट रूप से वलभी तथा दक्षिणी विक्रम वर्षों की योजना का समीकरण उपलक्षित करते हैं।

४ कोवासजी पटेल की पुस्तक क्रॉनालजी, पृ० १५०।

तिथि है एव विक्रम सवत् की तिथि का उल्लेख सयोगवश ही हुआ है और, जैसा कि स्वाभाविक है, हिजरी तिथि गौण तिथि के रूप में अकित है। सभव है, हमे ऐसे दृष्टान्त प्राप्त हो जिसमें इसके विपरीत अकन पाया जाय। किन्तु, उनसे गुप्त-वलभी सवत् तथा इसके वर्षों की योजना के विषय में प्राप्त उन निष्कर्षों का निरास नही होगा जिन्हें कि विचाराधीन वेरावल तिथि की परिस्थितियो ने हमे मानने को बाध्य किया है।

जो दूसरी बात विचारणीय है, वह यह है कि ईसवी सन् १२६४ मे पडने वाला आषाढ मास—अर्थात् उत्तरी शक सवत् ११८७ तथा उत्तरी विक्रम संवत् १३२२ दोनो का आषाढ मास और उससे थोडा सा भिन्न दक्षिणी शक सवत् ११८७ एव दक्षिणी विक्रम सवत् के १३२१ का आषाढ मास—अधिक मास था।[1] इस अधिक मास का प्रभाव इस प्रकार हुआ शक सवत् ११८७ (उत्तरी तथा दक्षिणी दोनो) का प्रथम वार तथा उत्तरी विक्रम सवत् १३२२ का प्रथम वार, जनरल कनिंघम के अनुसार[2], शनिवार, १ मार्च, ईसवी सन् १२६४ था तथा, श्री सी० पटेल के अनुसार[3], (चू कि यह अग्रेजी वर्ष वृद्धि वर्ष था) शुक्रवार, २९ फरवरी था। जनरल कनिंघम के अपने प्रथम वार विषयक मत तथा उनके अपने सिद्धान्त एव गणना-पद्धति के अनुसार—अर्थात् आषाढ कृष्ण १३ वर्ष के (वर्ष के प्रथम वार से जिसमे कि प्रथम वार भी सम्मिलित है) ८७ वें सौर दिवस पर पडा—प्राप्त अग्रेजी तिथि सोमवार, २६ मई, ईसवी सन् १२६४ होगी। अतएव, रविवार, २५ मई की तिथि प्राप्त करने के लिए उन्होने अपने प्रथम वार को ग्रहण करने की अपेक्षा श्री सी० पटेल के प्रथम वार को ग्रहण किया है। सम्प्रति जहा भी कुछ उद्देश्यो के हेतु प्रथम वार का प्रयोग किया जाएगा वह इसी पद्धति के अनुसार होगा। इस द्विक आषाढ मे चार चान्द्र पक्ष थे। उत्तरी शक सवत् ११८७ तथा उत्तरी विक्रम सवत् १३२२ मे इनका प्रारम्भ तथा अन्त—सिद्धान्तत तथा अनुमानत —क्रमश शक वर्ष के ७५ वें सौर दिवस एव १३३ वें सौर दिवस पर[4] अर्थात् क्रमश १३ मई और १० जुलाई को हुआ। तथा, अभ्याससिद्ध उत्तरी पद्धति के अनुसार, चार पक्षो मे पहला (कृष्ण) पक्ष स्वाभाविक मास का पक्ष था, दूसरा (शुक्ल) तथा तीसरा (कृष्ण) पक्ष अधिक मास के पक्ष थे तथा चौथा (शुक्ल) स्वाभाविक मास का पक्ष था। किन्तु, दक्षिणी शक सवत् ११८७ एव दक्षिणी विक्रम सवत् १३२१ मे उनका

---

१ द्र० इण्डियन एराज, पृ० १७९। के० एल० छत्रे की सारणियों से भी यह सिद्ध होता है। सी० पटेल की क्रॉनालजी मे अधिक मास को शक संवत् ११८६ (बीत चुका वर्ष) तथा दक्षिणी विक्रम सवत् १३२१ (बीत चुका वर्ष) के सामने दिया गया है। शक वर्षों के प्रसग में बताए गए अधिकमास उन्होंने शुद्ध रूप में प्रस्तुत किए हैं। किन्तु, उन्होंने यह नहीं बताया है कि उन्हें विक्रम वर्षों पर लागू करते समय—जो कि उनकी सारणी में आद्यन्त दक्षिणी विक्रम वर्ष है—जहा तक चैत्र से लेकर आश्विन (दोनों मास सम्मिलित हैं) तक के मासो का प्रश्न है, उन्हें—इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि दोनो सवतो के वर्ष परस्पर व्यापी हैं—जिस विक्रम वर्ष के सामने वे दिए गए हैं उसके पूर्ववर्ती विक्रम वर्ष के साथ रखना चाहिए, कम से कम मुझे उनकी पुस्तक मे कहीं इस प्रकार का अभिकथन नहीं मिलता। ऊपर दी गई सारणी ३ से यह स्पष्ट हो जाएगा कि शक सवत् ११८६ (उत्तरी अथवा दक्षिणी) बीत चुके वर्ष में चैत्र से लेकर आश्विन (दोनो मास सम्मिलित) तक के बीच मे घटित किसी भी एक मास का अधिकमास उत्तरी विक्रम सवत् १३२१ बीत चुके वर्ष में, किन्तु दक्षिणी विक्रम सवत् १३२० बीत चुके वर्ष मे पडा।

२ इण्डियन एराज, पृ० १७९।

३ क्रॉनालजी, पृ० १५०।

४ द्र० इण्डियन एराज, पृ० १०९, तथा क्रॉनालजी, पृ० ७१।

प्रारम्भ तथा अन्त—सिद्धान्तत. तथा अनुमानत —क्रमश शक वर्ष के ६० वे तथा १४८ वे सौर दिवस पर[1] अर्थात् २८ मई और २५ जुलाई को हुआ। और, यदि हम वर्तमान अभ्याससिद्ध दक्षिणी पद्धति को अपनाए तो चार पक्षो मे प्रथम (शुक्ल) तथा दूसरा (कृष्ण) पक्ष अधिक मास के पक्ष थे तथा तीसरा (शुक्ल) एव चौथा (कृष्ण) पक्ष स्वाभाविक मास के पक्ष थे।[2] अतएव, इस लेख के आषाढ को स्वाभाविक मास मानने पर,यह स्पष्ट हो जाता है कि इस तिथि को उत्तरी वर्ष की तिथि स्वीकार करने पर जो अंग्रेजी समरूप तिथि मिलेगी वह, इसे दक्षिणी वर्ष की तिथि स्वीकार करने से प्राप्त समरूप तिथि से, एक मास पूर्व पडेगी, तथा यह कि इस तिथि—इसे उत्तरी अथवा दक्षिणी किसी भी वर्ष मे रखा जाय—की समरूप अंग्रेजी तिथि तभी प्राप्त हो सकती है जबकि लेख मे उल्लिखित आषाढ को अधिकमास माना जाय। हमे आपातत यह मानना होगा कि यह तिथि स्वाभाविक आषाढ मास के कृष्ण पक्ष की तिथि है, कुछ तो इसलिए कि लेख मे कोई ऐसा विशेषक शब्द नही है जो अधिकमास की ओर सकेत करे और कुछ इस कारण कि अधिक मास मे शासकीय, सामाजिक और धार्मिक सभी प्रकार के अनुष्ठान निषिद्ध होते हैं।[3]

प्रो० के० एल० छत्रे की सारणियो के आधार पर गणना करने पर श्री श० व० दीक्षित को स्वाभाविक आषाढ मास के प्रसग मे ये निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं : उत्तरी शक सवत् ११८६ बीत चुके वर्ष

---

१ फ्लीटजी, पृ० ७१।

२ स्वसपादित भास्कराचार्य के सिद्धान्त शिरोमणि, पृ० ४९, टिप्पणी मे बापू देव शास्त्री ने एक श्लोक दिया है जो ब्रह्म-सिद्धान्त का है और जो एक अपेक्षाकृत प्राचीन प्रथा की ओर सकेत करता है जिसके अनुसार प्रथम (शुक्ल) तथा दूसरा (कृष्ण) पक्ष स्वाभाविक मास के पक्ष होंगे, तथा तीसरा (शुक्ल) और चौथा (कृष्ण) पक्ष अधिक मास के अन्तर्गत आएगे। श्लोक इस प्रकार है मेषादिस्थे सवितरि यो यो मास प्रपूर्यते चान्द्रः चैत्रा-द्य स ज्ञेयः पूर्तिद्वित्वेऽधिमासोऽन्त्य —"मेष तथा अनुवर्ती (राशियो) मे सूर्य के रहते समय जो भी चान्द्र मास पूर्ण होगा, वह मास चैत्र इत्यादि होगा, जब दो पूर्ण मास होंगे तब तक अधिकमास होगा और (यह दोनो मासो मे) दूसरा होगा।" अधिकमास अशुभ माने जाते हैं और उनमे धार्मिक अनुष्ठानो का सपादन निषिद्ध है। जब भी एक वर्ष मे दो अधिक मास पडते हैं (जिनके साथ सदैव एक मास का विलोपन होता है जो दो में से एक अथवा कोई तीसरा मास हो सकता है) तब प्रथम अधिकमास प्रशस्त अथवा "शुभ और समान्य" माना जाता है किन्तु दूसरा निद्य, अर्थात् "जिसमे अनुष्ठान निषिद्ध हैं", माना जाता है। ब्रह्म-सिद्धान्त से सबद्ध किए जाने वाला नियम वर्ष की उत्तरी अथवा दक्षिणी योजना के अनुसार भारतवर्ष के विभिन्न भागो के लिए भिन्न-भिन्न अधिकमासीय पक्ष प्रदान करेगा। स्पष्टरूप से यह—विशेष रूप से उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत और दक्षिणी भारत को विभाजित करने वाली सीमा पर—अत्यन्त असुविधाजनक रहा होगा कि निषेध ठीक-ठीक उन्ही चान्द्र अवधियो पर न लागू हो। अत परिस्थिति की आवश्यकताओ के अनुसार परिवर्तन किया गया और यह परिवर्तन प्रस्तुत अभिलेख के बहुत पहले किया गया होगा, यद्यपि यह परिवर्तन स्पष्टरूपेण गुप्त सवत् ३३० की तिथि से युक्त धरसेन चतुर्थ के कैरा दानलेख के पश्चात् हुआ, जिसमे उल्लिखित 'द्वितीय मार्गशिर' असदिग्धरूपेण अधिकमास है—जिसके द्वारा दक्षिणी मास के अधिकमासीय पक्षो (अर्थात् चार पक्षो मे प्रथम तथा द्वितीय) को उत्तरी मास के अधिकमासीय पक्षो (अर्थात् चार पक्षो मे द्वितीय तथा तृतीय) से मेल खाने वाला बनाया गया। मैंने यहा प्राचीनतर प्रथा को दिया है क्योकि यह तिथि की सामान्य परिपार्श्विक अवस्थाओ मे एक है। किन्तु यह समस्या अधिक महत्वपूर्ण नही है क्योकि यह तिथि उत्तरी तिथि है दक्षिणी नहीं।

३ द्र०, पूर्ववर्ती टिप्पणी।

मे, त्रयोदशी तिथि तथा तेरहवें सौर दिवस दोनो के लिए, रविवार[1], २५ मई, ईसवी सन् १२६४, दक्षिणी शक सवत् ११८६ वीत चुके वर्ष मे त्रयोदशी तिथि मगलवार २२ जुलाई, ईसवी मन् १२६४, किन्तु तेरहवें सौर दिवस के लिए बुधवार २३ जुलाई[2]। किन्तु, उत्तरी तथा दक्षिणी दोनो गणनाओ के अनुसार जैसा कि आज भी देश के इन दोनो भागो मे प्रचलित है, अधिकमासीय आषाढ के प्रसग मे उनका निष्कर्ष यह है कि त्रयोदशी तिथि सोमवार, २३ जून ईसवी मन् १२६४ मे तथा तेरहवा सौर दिवस मगलवार २४ जून को पडा। श्री श० व० दीक्षित ने भी मुझे एक साथ ही तिथि की सभी सभव पारिपार्श्विक परिस्थितियो को देने के उद्देश्य से, पूर्णिमान्त उत्तरी पद्धति तथा अमान्त दक्षिणी पद्धति दोनो के अनुसार, शक सवत् ११८५ एव ११८७ वीत चुके वर्षों के पूर्ण विवरण दिए हैं। ये परिणाम इस प्रकार हैं शक सवत् ११८५ वीत चुके वर्ष मे त्रयोदशी तिथि के लिए मगलवार ५ जून ईसवी सन् १२६३, किन्तु तेरहवें सौर दिवस के लिए बुधवार ६ जून, तथा दक्षिणी शक सवत् ११८५ वीत चुके वर्ष मे त्रयोदशी तिथि के लिए या तो[3] बुधवार, ४ जुलाई या बृहस्पतिवार ५ जुलाई, ईसवी सन् १२६३, किन्तु तेरहवें सौर दिवस के लिए शुक्रवार ६ जुलाई ही, उत्तरी शक सवत् ११८७ वीत चुके वर्ष मे, त्रयोदशी तिथि तथा तेरहवें सौर दिवस दोनो के लिए शनिवार १३ जून ईसवी सन् १२६५, और दक्षिणी शक सवत् ११८७ वीत चुके वर्ष मे त्रयोदशी तिथि के लिए रविवार १२ जुलाई ईसवी सन् १२६५ किन्तु तेरहवें सौर दिवस के लिए सोमवार, १३ जुलाई। केवल अन्तिम परिणाम ही ऐसा है जिसमे रविवार का दिन मिलता है। किन्तु यह किसी व्यावहारिक महत्व का नही है क्योंकि यह शक वर्ष को दक्षिणी वर्ष मानने पर प्राप्त होता है जबकि मैं पहले ही दिखा चुका हूँ ऐसा मानना अनुपयुक्त है, इसका एक और निर्णयात्मक कारण यह है कि इसे दक्षिणी विक्रम मवत् १३२१ वीत चुके वर्ष मे रखना पडेगा जबकि लेख स्पष्ट रूप मे पूर्ववर्ती वर्ष १३२० (वीत चुके वर्ष) का उल्लेख करता है।

अतएव, इस तिथि की यथार्थ समरूप अग्रेजी तिथि रविवार २५ मई, ईसवी सन् १२६४ है। यह, और केवल यही, निष्कर्ष लेख की सभी अपेक्षाओ को पूरा करता है। यह ऐसी तिथि का समरूप है जो, लेखानुसार, दक्षिणी विक्रम सवत् १३२० (वीत चुके) की सीमा के अन्दर पडता है, यद्यपि

---

१ वम्बई मे माध्य सूर्योदय के पश्चात् यह तिथि १३ घटी ३० पल पर समाप्त हुई।

२ अर्थात् अपलोपित की गई चान्द्र तिथि के साथ एक भी सौर दिवस छोडे विना पक्ष के प्रारम्भ से गिना गया तेरहवा सौर दिवस (द्र० ऊपर, पृ० ८४, टिप्पणी २)।

३ यह सदेह इस रोचक खोज के कारण है कि शक सवत् ११८५ वीत चुके वर्ष मे दक्षिणी आषाढ तथा उत्तरी श्रावण का कृष्ण पक्ष ऐसा पक्ष है जिसमे—"सभवत भारत के कुछ सुदूर पूर्वी प्रदेशो को छोड कर"—केवल १३ सौर दिवस थे, इस विषय पर द्र०, इण्डियन ऐंटिक्वेरी, जि० १६, पृ० ८१ इ० में मेरा लेख। दक्षिणी तथा उत्तरी दोनो आषाढ मासो की पूर्णिमा तिथि शनिवार २३ जून को पडी थी, तथा दक्षिण आषाढ एव उत्तरी श्रावण की अनुवर्ती अमावस्या तिथि शुक्रवार ६ जुलाई को पडी थी, और इस प्रकार इसके कृष्ण पक्ष मे तेरह दिन आते हैं। इसमे दो तिथियो का अपलोपन हुआ था और कमी को पूरा करने के लिए किसी तिथि की पुनरावृत्ति नहीं हुई थी। अपलोपित तिथियो के प्रश्न पर विद्वानो मे एकमत नहीं है। एक पक्ष के प्रारम्भ मे अपलोपित हुआ था तथा श्री श० व० दीक्षित ने इसे जानने का प्रयत्न नही किया है क्योंकि विचाराधीन तिथि पर इससे कोई प्रकाश नहीं पडता। दूसरी तिथि द्वादशी, त्रयोदशी अथवा चतुर्दशी तिथि थी और इस वात पर यह प्रश्न निर्भर करेगा कि त्रयोदशी तिथि—यदि यह अपलोपित न रही हो—बुधवार, ४ जुलाई अथवा बृहस्पतिवार ५ जुलाई को पडेगी। प्रत्येक परिस्थिति मे इस कृष्ण पक्ष का तेरहवा और अन्तिम सौर दिवस शुक्रवार ६ जुलाई था।

यह-उस वर्ष मे रखने पर-आषाढ मास के किसी वार का समरूप नही है,क्योकि यदि इसे उस वर्ष (और बीत चुके दक्षिणी शक सवत् ११८६) की तिथि का समरूप माना जाए तो निश्चितरूप से यह आषाढ मास के पूर्व आने वाले ज्येष्ठ मास के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी तिथि और तेरहवे सौर दिवस का उपस्थापन करता है। यह स्वाभाविक मास के-अधिकमास के नही-निर्दिष्ट दिन से मेल खाता है, जो कि कुछ तो इसलिए अपेक्षित है क्योकि लेख मे अधिकमास का सविशेष उल्लेख नही किया गया है और कुछ अधिकमास के सामान्य निषेध-नियमो के कारण। तथा, जैसा कि ऊपर दिए गए विवरणो से स्पष्ट है कि यह बीत चुके शक वर्ष को, जो कि गणना का आधार है, उत्तरी वर्ष मानने पर ही प्राप्त होता है। इस प्रकार, यह न केवल बुधगुप्त के एरण स्तम्भ लेख की तिथि-चर्चा से प्राप्त निष्कर्षों की पुष्टि करता है अपितु उनसे भी आगे जाता है। यह निश्चित रूप से गुप्त-वलभी सवत् के तथा शक सवत् के प्रचलित वर्षों के बीच दो सौ बयालीस वर्षो का स्थायी अन्तर प्रमाणित करता है। यह यह भी प्रमाणित करता है कि गुप्त-वलभी सवत् के वर्षों की वास्तविक मूल योजना-अर्थात् जैसा कि ऊपर पृ० ७६ इ० मे बताया गया है-अभ्याससिद्ध पूर्णिमान्त उत्तरी योजना-काठियावाड मे हर हालत मे ईसवी सन् १२६४ तक सुरक्षित रखी गई थी। यह अकित गुप्त-वलभी वर्ष की समरूप तिथि के रूप मे प्रचलित शक सवत् ११८७ (ईसवी सन् १२६४-६५) प्रदान करता है। और इससे यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि सवत् का यथार्थ काल व्यतीत शक सवत् २४१ अथवा प्रचलित शक सवत् २४२ था, जो ईसवी सन् ३१६-२० के बराबर है। अत गुप्त सवत् १६५ की तिथियुक्त बुधगुप्त के एरण स्तम्भलेख की तिथि से प्राप्त निष्कर्षो की अपेक्षा अब इस निष्कर्ष को एक निश्चित प्रतिमान प्रदान करने वाला माना जाएगा जिसके आधार पर हमे गणनाविषयक विवरणो से युक्त गुप्त-वलभी सवत् की शेष तिथियो की गणना करनी चाहिए।

वलभी संवत् ६२७ की तिथि से युक्त वेरावल अभिलेख

तीसरी और अतिम तिथि-जो वार के उल्लेख के साथ अकित है-जिसकी मुझे चर्चा करनी है, वह एक ऐसे अभिलेख मे है जिसका अभी प्रकाशन नही हुआ है किन्तु विचाराधीन विचारविमर्श के लिए इसके खोजकर्त्ता डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने मेरे लिए उपलब्ध किया है। लेख एक प्रतिमा की पीठिका पर है, जो वेरावल मे हरसट देवी के आधुनिक मन्दिर के दीवाल मे बनी हुई है। इस सदर्भ मे कुछ महत्वपूर्ण शब्दो के साथ तिथि (डा० भगवानलाल इन्द्रजी की पट-प्रतिलिपि से) इस प्रकार है (पक्ति १) श्रीमद्-वलभी-स (˘) सवत् ६२७ वर्ष फाल्गुन शुदि २ सौमे ॥ अद्येह श्री-देवपत्तने ˙ (पक्ति ४) श्री-गोवर्धन-मूर्त्ति ( ) (पक्ति ५) कारापिता, किन्तु, दुर्भाग्यवश वार का नाम देने वाले शब्द के प्रथम अक्षर के पाठ के विषय मे कुछ सदेह है। औ(ौ)की मात्रा निश्चितरूप से बनाई गई थी यद्यपि प्रतिलिपि मे मात्रा का ऊपरी भाग अशत भरा हुआ है जिसका कारण या तो तक्षण मे गहराई का अभाव है अथवा प्रतिलिपि तैयार करते समय हुई असावधानी है। और, चू कि प्रतिलिपि मे सहाकित अक्षर भ जान पडता है, स्वाभाविक झुकाव इसे भौमे पढने का होता है अर्थात् "मगलवार"। किन्तु डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने मुझे बताया है कि मूल पाठ मे यह अक्षर निश्चित रूप से स है, और इस कारण भ की प्रतीति प्रतिलिपि मे त्रुटि के कारण है। इसके अनुसार सौमे पाठ बनेगा। किन्तु यह वास्तव मे कोई शब्द नही है और इसे सौमे, "सोमवार को", भौमे, "मगलवार को", सौम्ये, "बुधवार"-इन शब्दो के रूपान्तरण द्वारा शुद्धरूप देने की आवश्यकता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि इतने महत्वपूर्ण प्रश्न के विषय मे हमे सशोधन करना है,विशेष रूप से इसलिए कि इसमें चयन की भारी प्रतिबध-मुक्तता है। किन्तु यह करना अनिवार्य है। तथा गणना से प्राप्त निष्कर्ष इस मान्यता की पुष्टि करते हैं कि अभिप्रेत पाठ सौमे है अर्थात् "सोमवार के दिन"। डा० भगवानलाल इन्द्रजी का विचार था कि अभिप्रेत पाठ भौमे, अर्थात् "मगलवार के दिन", है जिसका समर्थन यह मानने पर किया जा सकता

है कि तक्षणकार ने असावधानी के कारण अपनी छेनी को इस प्रकार सरक जाने दिया जिससे भ करीब–करीब एकदम स के समान बन गया। किन्तु प्रतिलिपि को देखने से सौमे पाठ यह मानने पर समानरूपेण उपयुक्त जान पडता है कि भ की प्रतीति का कारण प्रतिलिपि मे दोप होने के कारण है तथा यह कि ओ(ो)की औ(ौ)मात्रा मे रूपान्तरित रेखा के पूरी होने के पूर्व ही ओ (ो) के स्थान पर औ (ौ) बनाने की गलती को समझ लिया गया था, इससे इस रेखा के इतने पतली होने का–कि प्रतिलिपि मे यह सर्वथा छिप गयी है–कारण स्पष्ट हो जाता है। सोमे का सशोधन ग्रहण करने पर अनुवाद होगा–"प्रसिद्ध वलभी (नगर) का ६२७ वा वर्ष, (इस) वर्ष मे, फाल्गुन (मास), शुक्ल पक्ष, (सौर) दिवस २, सोमवार को, आज, यहा प्रसिद्ध (नगर) देवपत्तन मे पावन गोवर्धन की (यह) प्रतिमा ..बनवाई गई।"

इससे हमें गणना के लिए ये तथ्य प्राप्त होते हैं प्रचलित वलभी सवत्, फाल्गुन का महीना (फरवरी-मार्च), शुक्ल पक्ष, पक्ष का दूसरा सौर दिवस, और समवत द्वितीया तिथि, तथा सोमवार का दिन। ९४५ वलभी सवत् की तिथियुक्त वेरावल अभिलेख की समवृत्तिता के आधार पर उल्लिखित तिथि वलभी सवत् ६२७+२४२=प्रचलित शक सवत् ११६९ (ईसवी सन् १२४६–४७) मे पडनी चाहिए, तथा गणना अवसित शक सवत् ११६८ के आधार पर की जानी चाहिए।

श्री श० व० दीक्षित द्वारा परिणामी वर्ष के पूर्ववर्ती वर्ष तथा अनुवर्ती वर्ष तथा स्वय उस वर्ष के लिए प्रो० के०एल० छत्रे की सारणियो तथा सूर्य–सिद्धान्त दोनो के आधार पर की गई गणनाओ से उपर्युक्त प्रत्येक दृष्टान्त में–द्वितीय सौर दिवस तथा द्वितीया तिथि दोनो के लिए–ये निष्कर्ष मिलते हैं अवसित शक–सवत् ११६७ मे सोमवार[1], १९ फरवरी, ईसवी सन् १२४६, अवसित शक–सवत् ११६८ मे, शनिवार[2], ९ फरवरी, ईसवी सन् १२४७, तथा अवसित शक सवत् ११६९ मे बुधवार[3], २९ जनवरी, ईसवी सन् १२४८।

शक सवत् ११६९–जिस वर्ष मे जैसा कि अनुमान किया गया है कि वार को सही होना चाहिए–के सबध मे प्राप्त निष्कर्ष सर्वथा मेल नही खाता है। यदि हम यह मान लें कि अभिप्रेत पाठ सौम्ये, अथवा "बुधवार के दिन",है तब शक सवत् ११७० के लिए प्राप्त निष्कर्ष स्वीकार्य हो सकता है, किन्तु इस प्रसग मे केवल इन बातो को ध्यान मे रखना होगा कि अनुमोद्य होने पर भी सौम्यवार को प्राय बुधवार के पर्याय के रूप मे नही प्रयुक्त किया जाता तथा यह निष्कर्ष अपेक्षित वर्ष के एक वर्ष बाद का है तथा इसे गुप्त–वलभी सवत् की गणना मे परिवर्तन करके ही प्राप्त किया जा सकता है जो ऊपर पृ० ७३ इ० मे बताए गए उस परिवर्तन के सर्वथा विपरीत है जो कि गुजरात मे ३३० की तिथि युक्त धरसेन चतुर्थ के कैर दानलेख के पूर्व किया गया। यदि, इसके विपरीत, हम अभिप्रेत पाठ को सोमे अर्थात् "सोमवार के दिन" मानें तब शक सवत् ११६८ के लिए प्राप्त निष्कर्ष को इस बात का ध्यान रखते हुए स्वीकार किया जा सकता है कि यह अपेक्षित वर्ष के पूर्ववर्ती वर्ष से सबधित निष्कर्ष है। यह निष्कर्ष सर्वथा बुद्धिगम्य होगा यदि हम इस तिथिविशेष को मार्गशीर्ष से प्रारम्भ होने वाले वर्ष की तिथि मानें क्योकि, उस दशा में, वलभी सवत् ६२७ की तिथि होने के कारण यह नियमित रूप से

---

१ प्रो० छत्रे की सारणियों के अनुसार बम्बई मे माध्य सूर्योदय के बाद तिथि २९ घटी ५९ पल तथा सूर्य–सिद्धान्त के अनुसार ३० घटी २ पल पर समाप्त हुई।

२ यहा समय क्रमश ८ घटी ३३ पल तथा ९ घटी २५ पल है।

३ यहां समय क्रमश ३१ घटी ५७ पल तथा ३४ घटी ४३ पल है।

शक संवत् ११६८ की तिथि होगी जिसकी अंग्रेजी समरूप तिथि नियमितरूपेण ईसवी सन् १२४६ मे पडेगी। किन्तु, जैसा कि मैंने ऊपर पृष्ठ ७८ पर कहा है, इसे मानने मे एक निर्णयात्मक बाधा है। एकमात्र मार्ग जो शेष बचता है, वह यह है कि यह माना जाय कि किसी कारण इस लेख मे दी गई तिथि को, ३३० की तिथि युक्त धरसेन चतुर्थ के कैर दानलेख मे अंकित तिथि के समान, गुजराती पचाग से लिया गया था तथा यह एक ऐसे वर्ष की तिथि है जिसका प्रथम बार गुप्त-वलभी सवत् ६२७ के प्रारम्भ के पूर्व कार्तिक शुक्ल पक्ष मे पडा था। यह भी सर्वथा बुद्धिगम्य होगा यदि यह मान लिया जाय कि यह प्रतिमा-जो परिवहनीय है-अभिलेख के अकन के साथ ही, गुजरात मे किसी स्थान पर बनाई गई थी और तत्पश्चात् किसी तीर्थयात्री द्वारा वेरावल लाई गई थी। किन्तु इसके विरोध मे आपत्ति यह है कि अभिलेख स्पष्टत यह कहता प्रतीत होता है कि पतिमा देवपत्तन नामक स्थान पर बनाई गई थी और देवपत्तन सोमनाथपत्तन के अर्थात् आधुनिक वेरावल के एक अन्य नाम के रूप मे सुविज्ञात है, तथा यह समझ पाना अत्यन्त कठिन है कि ईसवी सन् १२४६ मे वेरावल मे गुप्त-वलभी सवत् की भ्रष्ट गुजराती गणना-पद्धति का समावेश हो सकता था जबकि-जैसा कि हम वलभी-सवत् ६४५ की तिथियुक्त एक अन्य वेरावल अभिलेख की सहायता से देख चुके है-वास्तविक मूल गणना-पद्धति का प्रयोग वहा अठारह वर्षों बाद तक किया जाता रहा। सभवत इसकी व्याख्या इस मान्यता मे पाई जा सकेगी कि अभिलेख को गुजरात के किसी तीर्थयात्री की व्यक्तिगत देख-रेख मे तैयार किया गया था जो अपने साथ गुजराती पचाग लाया था।

पूरी समस्या पर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इसका स्पष्टीकरण जो कुछ भी हो, इसमे सदेह का कोई कारण नही प्रतीत होता कि शुद्ध निष्कर्ष सोमवार, १९ फरवरी, ईसवी सन् १२४६ है। यह प्रचलित गुप्त-वलभी तथा प्रचलित शक वर्षों के बीच मे स्थित ठीक ठीक दो सौ बयालीस वर्षों के अन्तर का समर्थन नही करता और तिथि के शुक्ल-पक्ष से सवद्ध होने के कारण न ही यह गुप्त-वलभी वर्ष के उत्तरी अथवा दक्षिणी स्वरूप के विषय मे कुछ प्रमाणित करता है। यदि हम इसे ऐसी तिथि का निष्कर्ष मानें जो ऐसे वर्ष से सवद्ध है जिसकी योजना शक वर्ष-उत्तरी अथवा दक्षिणी-की योजना से अभिन्न थी—अर्थात् ऐसी तिथि से सवद्ध निष्कर्ष जिसके वर्ष का प्रारम्भ प्रचलित शक सवत् ११६८ के चैत्र शुक्ल १ से होता है—तो इसके लिए केवल दो सौ इकतालीस वर्षों के अन्तर की अपेक्षा है। किन्तु, यदि इसे ऐसी तिथि का निष्कर्ष माने जो ऐसे वर्ष से सवद्ध है जिसकी योजना दक्षिणी विक्रम वर्षों की योजना से अभिन्न है—अर्थात् ऐसा निष्कर्ष जो अवसित शक सवत् ११६७ के माध्यम से ऐसे वर्ष की तिथि के लिए प्राप्त हुआ है जो, प्रचलित दक्षिणी विक्रम सवत् १३०३ के साथ, आगामी कार्तिक शुक्ल १ (यह भी प्रचलित शक सवत् ११६८ से सवद्ध होगा) से प्रारम्भ होता था और जो गुप्त-वलभी सवत् ६२७ के वास्तविक प्रारम्भ के पाच मास पूर्व पडेगा—उस दशा मे इसे दो सौ इकतालीस तथा दो सौ बयालीस के बीच स्थित स्थायी अन्तर की अपेक्षा होगी। जैसा कि ऊपर पृ० ७३ पर उल्लिखित ३३० वर्ष की तिथियुक्त धरसेन चतुर्थ के कैर दानलेख के दृष्टान्त मे किया गया है, तथा जिसकी अब विस्तृत विवेचना की जायगी, मैं दूसरे प्रकार से निष्कर्ष का प्रयोग करता हू। और अतएव, इससे प्रचलित वलभी वर्ष के सामान्य समरूप के लिए प्रचलित दक्षिणी विक्रम सवत् १३०३ (ईसवी सन् १२४५-४६) की तिथि मिलती है। किन्तु मैं स्पष्ट रूप से यह बताना चाहता हू कि यह तिथि सतोषजनक नही है क्योकि इसके बुद्धिगम्य स्पष्टीकरण के लिए किसी न किसी प्रकार का महत्वपूर्ण सशोधन करना आवश्यक है, साथ ही यह वलभी सवत् ६४५ की तिथियुक्त अन्य वेरावल अभिलेख के समान कोई निर्णयात्मक निष्कर्ष नही प्रदान करता है।

३३० वर्ष की तिथि से युक्त कैर दानलेख

उपरोक्त उल्लेख गुप्त-वलभी सवत् की तिथि से युक्त किसी लेख मे किसी वार के

उल्लेख होने का अंतिम दृष्टान्त है जो अब तक प्राप्त हुआ है। किन्तु तीन अन्य अभिलेखों में गणना के लिए महत्त्वपूर्ण सूचनाएं हैं, जिन पर, बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र विषयक समस्या पर विचार-विमर्श करने के पूर्व, सम्प्रति विचार किया जाएगा।

इनमें से प्रथम वलभी के धरसेन चतुर्थ का कैर दानलेख है जिसमें तिथि (व्यूलर द्वारा प्रकाशित पाठ से उद्धृत, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ३३६, पंक्ति ५३) इस प्रकार दी गई है स० ३०० ३० द्वि—मार्गशिर शु २—'३०० (और) ३० वर्ष, द्वितीय मार्गशिर (मास), शुक्ल पक्ष, (चान्द्रदिवस) २।"

यह हमें गणना के लिए ये तथ्य प्रदान करता है प्रचलित गुप्त संवत् ३३०, मार्गशिर अथवा मार्गशीर्ष मास (नवम्बर-दिसम्बर) का अधिकमास जैसा कि लेख में इस नाम से दो मासों के उल्लेख से ज्ञात होता है, तथा दूसरी तिथि अथवा चान्द्र दिवस। ९४५ वलभी संवत् की तिथि से युक्त वेरावल अभिलेख की समवृत्तिता के आधार पर लेख में अंकित अधिकमास गुप्त संवत् ३३०+२४२=प्रचलित शक संवत् ५७२ (ईसवी सन् ६४९-५०) का होना चाहिए, तथा गणना अवसित शक संवत् ५७१ के आधार पर की जानी चाहिए।

किन्तु, जनरल कनिंघम[1] ने उस वर्ष में अधिकमास नहीं दिखाया है, इसके स्थान पर उन्होंने पूर्ववर्ती वर्ष शक संवत् ५७१ में कार्तिक मास का अधिकमास दिखाया है जो ईसवी सन् ६४८ में पड़ेगा। और यह सूर्य की वास्तविक स्थिति द्वारा अधिकमास का नियमन होने के आधार पर एकदम सही जान पड़ता है। इस प्रश्न पर और अधिक विचार करने पर डा० व्यूलर की सूचनानुसार[2] हम यह पाते हैं कि डा० श्रम (Shram) ने यह पाया है कि ईसवी सन् ६४८ में निश्चितरूपेण अधिकमास पड़ा था जो, वर्तमान गणना-पद्धति के अनुसार, कार्तिक होगा किन्तु, माध्य अधिकमासों के नियम के अनुसार, मार्गशीर्ष होगा। इसी प्रकार, सूर्य-सिद्धान्त के आधार पर गणना करके श्री श० ब० दीक्षित भी इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि, माध्य अधिकमास के अनुसार, ईसवी सन् ६४८ में स्वाभाविक मार्गशीर्ष एवं स्वाभाविक पौष के बीच एक अधिकमास का महीना पड़ा जो मेषादिस्थे सवितरि आदि श्लोक—जो कि ब्रह्म सिद्धान्त के श्लोक के रूप में उद्धृत है[3]—के अनुसार मार्गशीर्ष नाम से अभिहित होगा, यद्यपि वर्तमान पद्धति के अनुसार यह पौष कहलाएगा। दोनों ही दृष्टान्तों में ये दोनों अधिकमासीय पक्ष उसी चान्द्र अवधि में पड़ते हैं, एकमात्र अन्तर इस अवधि को दिए जाने वाले नाम के विषय में है। मार्गशीर्ष के नाम के साथ संलग्न इस अवधि को जानने का प्रयत्न करते समय यह तथ्यविशेष स्वीकार किया जाना चाहिए कि सामान्य परम्परा के विपरीत इस लेख में अंकित दान अधिकमास में दिया गया, इस परम्परा-विरोध का कोई कारण मुझे लेख में नहीं प्राप्त होता। इस तथा अन्य कई विषयों को ध्यान में रख कर मैंने श्री श० ब० दीक्षित से इस संभावना के परीक्षणार्थ आवश्यक गणनाएं करने को कहा कि द्वितीया का संक्षेपन द्वि केवल मार्गशिर शब्द का विशेषक न होकर सम्पूर्ण पद मार्गशिर शु २ का विशेषक है, अर्थात् इस संभावना के परीक्षणार्थ कि यह वृद्धि अथवा पुनरावृत्ति तिथि अथवा चान्द्रदिवस का निर्देश करती है, मास का नहीं, और उस दशा में यह तिथि, प्रचलित प्रथा के अनुसार, शक संवत् ५७२ में अंकित की गई होगी। किन्तु, उन्होंने पाया है कि ईसवी सन् ६४९ में पड़ने वाली शक संवत् ५७२ के मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की द्वितीया तिथि प्रो० के० एल० छत्रे

---

१ इण्डियन एराज, पृ० १५८।

२ इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ३३८।

३ द्र०, ऊपर पृ० ८८, टिप्पणी २।

की सारणी तथा सूर्य-सिद्धान्त दोनो के अनुसार पुनरावृत्त तिथि नही थी, और यह कि, विपरीतत, इस तिथि के भारत के सुदूर पूर्वी प्रदेशो मे अपलोपित किए जाने की सभावना है। अतएव यह निश्चित है कि उल्लिखित वृद्धि मास का निर्देश करती है, तिथि का नही। और यह भी समानरूपेण निश्चित है कि ईसवी सन् ६४८ मे पडने वाले शक सवत् ५७१ मे अधिकमास पडा था जिसे मार्गशिर अथवा मार्गशीर्ष का नाम दिया जा सकता है और यह स्पष्ट है कि इस लेख के प्रारूपकार द्वारा प्रयुक्त पचाग मे इसे वास्तव मे यही नाम दिया गया था। ऐसा होने पर अनुगामी वर्ष शक सवत् ५७२ मे उसी मास—और वस्तुत किसी भी मास—की वृद्धि नही हो सकती। अतएव, इस लेख का मार्गशीर्ष असदिग्धरूपेण ईसवी सन् ६४९ मे नही (जैसा कि शुद्ध गुप्त-वलभी गणना-पद्धति के अनुसार होना चाहिए) अपितु ईसवी सन् ६४८ मे पडा, तथा, ज्योतिषीय आवश्यकताओ के लिए यह शक सवत् ५७१ से अथवा, जनप्रचलित गुजराती व्यवहार के अनुसार, दक्षिणी विक्रम सवत् ७०६ से सबद्ध था। और, चू कि राजपत्र मे उल्लिखित प्रदेश इसे पूर्णरूपेण गुजरात प्रान्त[1] से सबद्ध करते हैं, अतएव इस लेख मे अकित ३३० वर्ष दक्षिणी विक्रम सवत् ७०६ के समान गुप्त सवत् ३३० के प्रारम्भ से पूर्व आने वाले कार्तिक मास से, तथा, सवत् के वर्षो की मौलिक योजना के अनुसार, शक सवत् ५७२ के चैत्र शुक्ल १ से प्रारम्भ हुआ होगा।

अतएव यह निष्कर्ष प्रदत्त प्रचलित गुप्त वर्ष के सामान्य समरूप के रूप मे प्रचलित दक्षिणी विक्रम सवत् ७०६ की तिथि प्रदान करता है। तथा, वलभी सवत् ९२७ की तिथि से युक्त वेरावल अभिलेख के साथ, इस तिथि को उन दृष्टान्तो के वर्ग मे रखना चाहिए जिनमे प्रचलित गुप्त-वलभी तथा प्रचलित शक वर्षो के बीच मे दो सौ बयालीस वर्षो का स्थायी अन्तर नही रखा जाता था, जिसका कारण यह था कि गुप्त-वलभी वर्ष का दक्षिणी विक्रम वर्ष की योजना के अनुरूप इस प्रकार क्षेत्रीय रूपान्तरण हो चुका था कि—जैसा कि ऊपर पृ० ७३ पर बताया गया है—इस रूपान्तरण से प्रभावित प्रत्येक अनुवर्ती गुप्त-वलभी सवत्, मूल योजना के अनुसार, वर्ष के वास्तविक प्रारम्भ से पाच चान्द्रमास पहले प्रारम्भ होता था। स्वय लेख मे उल्लिखित क्षेत्र को देखा जाय तो वर्तमान उदाहरण मे दिखाई पडने वाली विसगति काफी स्वाभाविक है।

३८६ वर्ष की तिथि से युक्त नेपाल अभिलेख

दूसरा अभिलेख जिसकी मुझे चर्चा करनी है, वह मानगृह के लिच्छवि-वशीय अथवा सूर्यवशी मानदेव का नेपाल अभिलेख है, जो काठमाण्डू से उत्तर-पूर्व मे लगभग पाच मील की दूरी पर स्थित चागु-नारायण के मन्दिर के द्वार के बाई ओर स्थित एक भग्न स्तभ के निचले हिस्से पर अकित है। इसमे तिथि (डा० भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा प्रकाशित पाठ तथा शिलामुद्रण से उद्धृत, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १६३, पक्ति १ इ०) इस प्रकार है सवत् ३०० ८० ६ ज्येष्ठ-म् (ा) स-शुक्लपक्षे प्रतिपदि १ (रो) हिणी—नक्षत्र—युक्त (`) चन्द्रमसिम् (ु) हूर्त्ते प्रशस्तेऽभिजिति—
"३०० (और) ८० (और) ६ वर्ष, ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष मे प्रथम तिथि अथवा चान्द्र दिवस (अथवा अको मे) १ को, चन्द्रमा का रोहिणी नक्षत्र के साथ योग के समय, अभिजित् (नामक) उत्तम मुहूर्त्त मे।"

---

1 यह राजपत्र भरुकच्छ अर्थात् आधुनिक ब्रोच (भरुच) मे विजय-शिविर से जारी किया गया था, तथा इसमे खेटक आहार—अथवा वह क्षेत्रीय विभाजन जिसका मुख्य नगर खेटक अर्थात् आधुनिक कैर (खेडा) था—मे कुछ भूमि दान की चर्चा की है।

नेपाल अभिलेखो की ओर ध्यानाकर्षण सर्वप्रथम डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने **इण्डियन ऐन्टिक्वेरी**, जि० ९, पृ० १६३ इ० मे किया एव उनके ऐतिहासिक निष्कर्षों के सबध मे उनके अपने विचार उसी पत्रिका के जि० १३, पृ० ४११ इ० मे प्रकाशित हुए। तद्‌विषयक मेरे अपने विचार, जो मूलत उसी पत्रिका के जि० १४, पृ० ३४२ इ० मे प्रकाशित हुए थे, नीचे परिशिष्ट ४ में व्याख्यायित किए गए हैं। यहा केवल यह कहना अपेक्षित है कि प्राचीनतम अभिलेखो से दो सवतो का प्रयोग प्रकट होता है तथाकथित गुप्त सवत् तथा हर्ष सवत्। किन्तु जब डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने लिखा था, तब यह तथ्य दृश्यमान नही था कि इन अभिलेखो मे से कुछ मे गुप्त सवत् का प्रयोग हुआ है। और यह वेन्डल द्वारा मानगृह के महाराज शिवदेव प्रथम के गोलमाढिटोल अभिलेख की खोज से स्पष्ट हुआ जिसे उन्होंने मूलत **इण्डियन ऐन्टिक्वेरी**, जि० १४, पृ० ९७ इ० मे प्रकाशित किया और पुन, तिथि के पाठ मे कुछ सशोधन के साथ, अपनी पुस्तक **जर्नी इन नेपाल एण्ड नार्दन इण्डिया**, पृ० ७२, तथा प्रतिचित्र ८, मे दिया। यह अभिलेख सवत् विषयक किसी सूचना के विना ३१६ वर्ष की तिथि से युक्त है। किन्तु तिथि के निर्धारण के लिए यह सूत्र मिलता है कि इसमे महासामन्त अशुवर्मन् को शिवदेव प्रथम का समकालीन[1] बताया गया है। अशुवर्मन् की लगभग तिथि-अर्थात् ईसवी सन् ६३७—ह्वेनसाग द्वारा उसके उल्लेख के कारण[2] बहुत अच्छी तरह ज्ञात थी और चू कि नेपाल अभिलेख-मालाओ में स्वय अशुवर्मन् के तीन अभिलेख हैं, जो किसी अनुल्लिखित सवत् के क्रमश ३४, ३९ और ४४ अथवा ४५ वर्षों की तिथि अकित है, तथा एक अभिलेख जिष्णुगुप्त का है जो ४८ वर्ष की तिथि से युक्त है एव अशुवर्मन् का उल्लेख करता है, अतएव, डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने अत्यन्त उपयुक्तरूपेण इन तिथियो को ईसवी सन् ६०६ से प्रारम्भ होने वाले[3] हर्ष सवत् की तिथिया बताया। इतना निश्चित हो जाने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अशुवर्मन् के समकालीन शिवदेव प्रथम की ३१६ वर्ष की तिथि का प्रारम्भ विन्दु हर्ष सवत् के लगभग तीन सौ वर्ष पहले होनी चाहिए। और जो सवत् इन अपेक्षाओ को पूरा करता है वह गुप्त सवत् है क्योकि ३१६+ईसवी सन् ३१९–२०=ईसवी सन् ६३५–३६ जोकि अशुवर्मन् के लिए हर्ष सवत् मे अकित तिथियो से—जिनका समय विस्तार ईसवी सन् ६३९ से लेकर सन् ६४९ अथवा ६५० तक है—पूर्ण सगति रखता है।

जहा तक मानदेव के वर्तमान अभिलेख का प्रश्न है,इसके लिपिशास्त्रीय स्वरूप तथा ऐतिहासिक निष्कर्षों पर सामान्य विचार मे यह ज्ञात होता है कि इसमे उद्धृत वर्ष ३८६ उसी तिथि-शृ खला का है जिसका कि शिवदेव प्रथम के गोलमाडिटोल अभिलेख से उद्धत३१६ वर्ष है। और, तदनुसार,इस अभिलेख से गणना के लिए ये तथ्य प्राप्त होते हैं प्रचलित गुप्त-सवत् ३८६, ज्येष्ठ मास (मई–जून), शुक्ल पक्ष, प्रथम तिथि अथवा चान्द्र दिवस, रोहिणी नक्षत्र, तथा अभिजित् मुहूर्त अर्थात् दिन और रात का तीसवा भाग, तथा वलभी सवत् ९४५ की तिथि युक्त वेरावल अभिलेख की समवृत्तिता के आधार पर

---

१ यह शिवदेव प्रथम के अन्य लेख में भी उल्लिखित है, जो कि **इण्डियन ऐन्टिक्वेरी**, जि० ९, पृ० १६८ इ० में डा० भगवानलाल इन्द्रजी की नेपाल अभिलेखमाला का पाचवा अभिलेख है। किन्तु इन अभिलेखों की सहायता से वे जिन तिथि विषयक निष्कर्षों पर पहुचे हैं जिसमें गुप्त सवत् मे अकित नेपाल तिथियों की व्याख्या के लिए विक्रम सवत् का प्रयोग सन्निहित है—उसके लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि इस स्थान पर शिवदेव प्रथम की तिथि टूटी हुई है और अनुपलब्ध है।

२ द्र० बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड जि० २, पृ० ८१, और भी द्र० **इण्डियन ऐन्टिक्वेरी**, जि० १३ पृ० ४२२, एव जि० १४, पृ० ३४५।

३ इस विषय पर द्र० नीचे परिशिष्ट ४।

प्रदत्त तिथि को गुप्त सवत् ३८६+२४२=प्रचलित शक सवत् ६२८ (ईसवी सन् ७०५–७०६) मे पडनी चाहिए, तथा गणना अवसित शक सवत् ६२७ के आधार पर की जानी चाहिए ।

सूर्य-सिद्धान्त के आधार पर गणना करके तथा प्राप्त निष्कर्षों को काठमाण्डू की देशान्तर रेखा पर लागू करने पर श्री श० व० दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, अवसित शक सवत् ६२७ के आधार पर, प्रचलित शक सवत् ६२८ की यह तिथि मगलवार २८ अप्रेल[1] ईसवी सन् ७०५ को सूर्योदय के पश्चात् ५७ घटी १२ पल पर समाप्त हुई थी, तथा यह कि सूर्योदय के पश्चात् ११ घटी ३ पल तक कृत्तिका नक्षत्र और तत्पश्चात् रोहिणी नक्षत्र था जो अगले दिन बुधवार को सूर्योदय के पश्चात् ११ घटी १८ पल तक रहा, तथा यह कि, परिणामस्वरूप, अभिजित् मुहूर्त—जिसका नक्षत्रो मे आठवा स्थान है तथा जो सूर्योदय के पश्चात् चौदह घटी बाद आता है—लेख की अपेक्षानुसार, उस समय आया जब कि रोहिणी नक्षत्र चल रहा था। वे इस निष्कर्ष पर भी पहुचे हैं कि प्रदत्त तिथि को प्रचलित शक सवत् ६२७ अथवा ६२९ की तिथि मानने पर नक्षत्र और मुहूर्त की अवस्थाए भिन्न हो जाएगी ।

अतएव यह निष्कर्ष, अपेक्षानुसार, प्रचलित गुप्त-वलभी तथा शक वर्षों के दो सौ बयालीस वर्षों के स्थायी अन्तर तथा गुप्त वर्ष के उत्तरी शक वर्ष के रूप मे प्रयोग के अनुरूप है। तथा इससे प्रदत्त प्रचलित गुप्त वर्ष के लिए प्रचलित शक सवत् ६२८ (ईसवी सन् ७०५–७०६) की समरूप तिथि प्राप्त होती है। किन्तु, बुधगुप्त के एरण स्तम्भलेख की तिथि विषयक निष्कर्ष के समान, इससे स्वत निश्चितरूपेण न तो सवत् का सही-सही काल प्रमाणित होता है और न वर्ष की योजना, इसका कारण यह है कि शुक्ल पक्ष की तिथि होने के कारण यह ज्येष्ठ शुक्ल १—सपूर्ण भारतवर्ष मे, शक सवत् (दक्षिणी तथा उत्तरी दोनो) ६२८ मे तथा दक्षिणी विक्रम सवत् ७६२ तथा उत्तरी विक्रम सवत् ७६३ मे—सर्वत्र समान तिथि थी और एक ही चान्द्र दिवस पर—जिस दिन अग्रेजी तारीख २८ अप्रेल थी—समाप्त हुई ।

५८६ वर्ष की तिथि से युक्त मोरबी दानलेख

अतिम तिथि जिस पर मुझे वर्तमान दृष्टिकोण से विचार करना है काठियावाड से प्राप्त जाइक के मोरबी दानलेख में अकित है जिसे डा० आर० जी० भण्डारकर ने इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० २, पृ० २५७ इ० मे प्रकाशित किया। इस लेख मे दो तिथिया हैं। पक्ति १६ इ० मे, दान के दिए जाने के प्रसग मे, हम (प्रकाशित शिलामुद्रण से उद्धृत) यह पाते हैं पचशीत्या युतेऽतीते समाना शत-पचके। गोप्ते ददावदो नृप सोपरागेऽर्क्क—मण्डले ॥—"दो सौ पचासी (वर्षों के) बीत चुके होने पर राजा ने गोप्त (नामक गाव पर) यह (राजपत्र) दिया, जबकि सूर्य मण्डल ग्रहणग्रस्त था", इसमे वर्ष "अवसित" अर्थ वाले एक शब्द से सलग्न है। तथा, पक्ति १९ इ० मे, राजपत्र के लेखन के प्रसग मे, हम यह पाते है सवत् ५८५ फाल्गुन सु (शु) दि ५—"५८५ वर्ष, फाल्गुन मास, शुक्ल पक्ष, (सौर) दिवस ५", यहा इस बात का कोई सकेत नही है कि यह अवसित वर्ष है अथवा प्रचलित वर्ष। पक्ति ३ मे ग्रहण का भी उल्लेख इन शब्दो मे किया गया है मार्त्तण्ड-मण्डलाश्रयिणी स्वव्भानो (पढें स्वर्भानौ)—"जब कि स्वर्भानु राहु (जो कि आरोह-पात की पौराणिक सज्ञा है) सूर्य मण्डल पर स्थित है।"

---

१ प्रचलित शक सवत् ६२८ अपेक्षाकृत पहले लगभग रविवार, १, मार्च, ईसवी सन् ७०५ को प्रारम्भ हुआ। और यही कारण कि ज्येष्ठ मास, जो सामान्यत मई-जून मे पडता है, २८ अप्रेल को प्रारम्भ हुआ और मई की समाप्ति के पूर्व समाप्त हो गया ।

इस लेख के सपूर्ण अर्थ को समझने मे कुछ बाधा है, क्योकि प्रथम प्रतिचित्र परीक्षित होने के पूर्व ही गायब हो गया, और अब दूसरा प्रकाशित प्रतिचित्र भी खो गया है और उसका पुनर्प्रकाशन नही होने वाला है। यहा मुझे यह बताना है कि श्लोक के दूसरे भाग मे डॉ० आर० जी० भण्डारकर ने गोप्ते के स्थान पर गौप्ते पढा है तथा "गुप्तो के पाच सौ पचासी वर्ष व्यतीत हो चुकने पर" यह अनुवाद किया, और औ(ौ)की मात्रा का ओ(ो) की मात्रा मे सशोधन करने पर ही इस अवतरण मे गुप्तो का नाम पढा जा सकता है[1]। किन्तु उस अवस्था मे भी विशेषण गौप्ते असामान्यरूपेण अपने विशेष्य शब्द शत-पचके से काफी दूरी पर है, और इस प्रकार की रचना से प्रत्येक कुशल लेखक बचना चाहेगा। इसके विपरीत, दूसरी ओर, ऊपर पृ० १८ इ० पर, सवत् के नामकरण विषयक चर्चा के प्रसग मे मैंने दिखाया है कि यहा गौप्त अर्थात् "गुप्तो से सम्बन्धित"—इस प्रकार का विशेषण खोजने का हमारे पास कोई कारण नही है, और यदि हम गौप्ते का प्रारम्भिक पाठ स्वीकार करें तो हमे सप्तमी विभक्ति मिलती है जिसका क्रिया ददौ (="उसने दिया") के साथ घनिष्ठरूपेण सलग्न हो कर आना सर्वथा अपेक्षित है, जिसके पश्चात् उस गाव का नाम आएगा जहा दान दिया गया था। तथा, जबतक कि दानलेख का प्रथम मूल प्रतिचित्र नही प्राप्त होता और यह नही प्रमाणित किया जाता कि गाव का नाम[2] गोप्त नही था अथवा इस अवतरण की कोई अन्य व्याख्या नही की जाती, तबतक मैं इसी पाठ और अनुवाद को ग्रहण करता हूँ।

किन्तु, लेख की लिपि को देखते हुए मुझे इसे गुप्त-वलभी सवत् के अतिरिक्त किसी अन्य सवत् मे रखने का कोई कारण नही दिखाई देता, चाहे लेख मे इसका नाम दिया गया है अथवा नही। अतएव, इस लेख से हमे गणना के लिए एक सूर्य-ग्रहण प्राप्त होता है जो प्रचलित गुप्त सवत् ५८६ मे क्योकि मूल पाठ मे स्पष्टरूपेण कहा गया हैकि वर्ष५८५ बीत चुका था–किसी अनुल्लिखित तिथि पर पडा। ६८५ वलभी सवत् की तिथि युक्त वेरावल अभिलेख की समवृत्तिता के आधार पर इस ग्रहण को गुप्त सवत् ५८६+२४२=प्रचलित शक सवत् ८२८ मे खोजना चाहिए जो १० मार्च, ईसवी सन् ९०५ तथा २७ फरवरी, ईसवी सन् ९०६ के बीच मे कही पडेगा[3]। साथ ही अनुमानत यह उस स्थान पर द्रष्टव्य रहा होगा जहा इस अवसर पर यह दान दिया गया। तथा, यद्यपि लेख के अवशिष्ट भाग मे निश्चितरूप से उस क्षेत्र का नाम नही दिया गया है जिसका कि यह लेख है, किन्तु इस मान्यता–कि यह स्वय मोरवी अथवा इसके निकटवर्ती प्रदेश का ही है—के विरोध मे कुछ नही मिलता। अत हमे एक ऐसा सूर्यग्रहण ढूढना है जो प्रचलित शक सवत् ८२८ मे घटित हुआ तथा काठियावाड के उत्तर मे स्थित मोरवी अथवा उस नगर के निकट द्रष्टव्य था।

---

१ औ(ौ) की मात्रा के स्थान पर ओ(ो)की मात्रा लिखे जाने की गलती लेख की पक्ति ३ मे मिलती है जिसमे स्वर्म्भानो के स्थान पर स्वर्म्मानो दिया हुआ है। किन्तु पक्ति ९ के पौर्व्व में औ(ौ) की मात्रा अत्यन्त शुद्ध तथा पूर्ण रूप में बनी हुई है।

२ हम सरलता से इसका प्रतिनिधि आधुनिक 'गोप' नाम मे देख सकते हैं, जो कि काठियावाड मे स्थित एक गाव का नाम है, जो मोरवी से दक्षिण पश्चिम में पचहत्तर मील की दूरी पर स्थित है, नवानगर अथवा जामनगर से इसकी दूरी पचीस मील है, धिनिकि से—जहां से जाइकदेव का ताम्रपत्रलेख प्राप्त हुआ है जो विक्रम सवत् ७९४ में तिथ्यकित जान पडता है (द्र०, ऊपर पृ० ९०, टिप्पणी १)—यह पचास मील पूर्व पर स्थित है।

३ चू कि यह अमावस्या को ही पड सकता था अत यह उस दिन नहीं हुआ जिस दिन यह राजपत्र लिखा गया। जिन सीमाओं के अन्दर हमे इसे ढूढना चाहिए वे हैं—जैसा कि इण्डियन एण्टि, पृ० १६७ पर दिया गया है, उसके अनुसार—प्रचलित शक सवत् ८२८ के प्रथम और अन्तिम दिन।

जनरल कनिंघम की सारणी[1] मे ऊपर परिभाषित अवधि मे घटे हुए किसी सूर्यग्रहण का उल्लेख नही है। किन्तु प्रो० के० एल० छत्रे की सारणियो के आधार पर की गई गणनाओ द्वारा श्री श० व० दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं[2] कि मगलवार, ७ मई, ईसवी सन् ६०५ को-जो कि प्रचलित शक सवत् ८२८ के पूर्णिमान्त उत्तरी ज्येष्ठ की अमावस्या तिथि से सगत बैठता है—एक सूर्यग्रहण पडा था, और यह सभी अपेक्षित अवस्थाओ से मेल खाता है[3]। यह मोरबी तथा लगभग सपूर्ण दक्षिण भारत मे और लका मे द्रष्टव्य था। मोरबी मे इसका परिमाण सूर्यमडल का नौवा भाग तथा भारत के दक्षिणी प्रदेशो मे इससे अधिक था। मोरबी के सूर्य-ग्रहण का मध्य विन्दु वहा की प्रचलित स्थानीय गणना के मध्यमान के दिन १२/६ बजे था। तदनुसार, गणनाओ द्वारा पहले से न ज्ञात होने पर भी यह ग्रहण मोरबी मे स्पष्टरूपेण द्रष्टव्य था।

अतएव, यह निष्कर्ष लेख की सभी अपेक्षाओ के पूर्णत अनुरूप है। सवत् के ठीक ठीक काल अथवा वर्ष की योजना के विषय मे यह स्वत कोई निर्णयात्मक प्रमाण नही देता, क्योकि इसे दक्षिणी तिथि मानने पर सूर्यग्रहण का दिन—जो कि उस दशा मे अमान्त दक्षिणी वैशाख की अमावस्या पर पडेगा—दक्षिणी शक सवत् ८२८ दक्षिणी विक्रम सवत् ६६२, एव उत्तरी शक सवत् ८२८ और विक्रम सवत् ६६३ मे पडेगा। किन्तु जैसा कि अपेक्षित है, यह गुप्त-वलभी तथा शक वर्षों के बीच के दो सौ बयालीस वर्षों के स्थायी अन्तर के तथा गुप्त वर्ष के उत्तरी शक वर्ष के रूप मे प्रयुक्त होने के अनुरूप हैं। तथा, इससे सकेतित पचलित गुप्त वर्ष के लिए प्रचलित शक सवत् ८२८ (ईसवी सन् ६०५-६०६) प्राप्त होता है।

राजपत्र के लेखन के प्रसग मे प्रदत सौर दिवस अर्थात् फाल्गुन मास (फरवरी-मार्च) के शुक्ल पक्ष के पाचवें सौर दिवस के विषय मे—चूकि वार का नाम नही दिया गया है—एक मात्र निकष यह परिकल्पना[4] है कि चान्द्र तिथि एव सौर दिवस की एक ही सख्या है अर्थात् यह कि पचमी चान्द्र तिथि पक्ष के पाचवें दिन समाप्त हुई। यदि इस सौर दिवस से सबद्ध ५८६ वर्ष को अवसित वर्ष माना जाय, जैसा कि ग्रहण के सदर्भ मे माना गया है, तो इस प्रकार की घटना शक सवत् ८२८ मे होनी चाहिए। और प्रो० के० एल० छत्रे की सारणियो के आधार पर उस वर्ष के लिए की गई गणनाओ द्वारा श्री श० व० दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि पूर्ववर्ती अमावस्या—जो पूर्णिमान्त उत्तरी फाल्गुन अथवा अमान्त दक्षिणी माघ की अमावस्या थी—सोमवार २७ जनवरी, ईसवी सन् ६०६ को समाप्त हुई थी,

१ द्र० इण्डियन एराज पृ० २१३।

२ अपनी गणनाओ के लिए, जो कि सूर्य और चद्र के दृश्यमान देशान्तरो पर आधारित हैं, उन्होने मोरबी के अक्षाश और देशान्तर—जिन्हे उस समय मैं उन्हें नही दे सका था—२०°४५' उत्तर तथा ७०°५१' पूर्व रखा था। थार्नटन के गजेटियर ऑफ इन्डिया मे मैंने अब पाया है कि ये सख्याए २२°४९' उत्तर तथा ७०°५३' पूर्व हैं। किन्तु श्री श० व० दीक्षित का कहना है कि इस अन्तर से निष्कर्षों पर कुछ अधिक प्रभाव नही पडता।

३ इसी प्रकार स्वय प्रो० के० एल० छत्रे ने भी ग्रहण को निकाला है, द्र० डा० आर० जी० भण्डारकर की अर्ली हिस्ट्री आफ द डकन पृ० ९९, जिसमें थोडे शाब्दिक अन्तर के साथ ग्रहण को "शक ८२७ के वैशाख के ३०वें दिन को" घटा हुआ बताया गया है—यहाँ अमान्त दक्षिणी मास एव अवसित शक वर्ष की ओर निर्देश है।

४ द्र०, ऊपर पृ० ८४, टिप्पणी २।

तथा यह कि फाल्गुन के शुक्ल पक्ष की पचमी तिथि शनिवार, १ फरवरी को पडी थी जिस दिन अनुक्रम से पाचवा सौर दिवस था। इस तिथि को स्वीकार करने पर यह निष्कर्ष निकलेगा कि यह राजपत्र दान देने के नौ महीने बाद लिखा गया [1]। दूसरी ओर, ५८ वर्ष को प्रचलित वर्ष माना जाय तो शक सवत् ८२७ मे भी चान्द्र तिथि एव सौर दिवस की वही सहमति होनी चाहिए। और इस वर्ष के प्रसग मे श्री श० ब० दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पूर्ववर्ती अमावस्या बृहस्पतिवार, ७ फरवरी, ईसवी सन् ६२५ को तथा फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की पचमी तिथि मगलवार, १२ फरवरी को समाप्त हुई जिस दिन अनुक्रम से पाचवा सौर दिवस भी था। यह तिथि स्वीकार किया जाय तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि राजपत्र दान देने के दो मास पूर्व तैयार किया गया था।

सवत् के ठीक-ठीक काल के विषय मे मेरे निष्कर्षों के विरोध मे सभवत यह तर्क किया जा सकता है कि सभी गुप्त-वलभी तिथिया अवसित वर्षों मे अकित हैं, चाहे यह स्पष्टरूपेण कहा गया हो अथवा नही, और, परिणामस्वरूप, यह कि एरण स्तम्भ लेख मे अकित १६५ वर्ष प्रचलित वर्ष के रूप मे नही अपितु अवसित वर्ष के रूप मे प्रचलित ईसवी सन् ४८४-८५ का समरूप है एव वर्तमान लेख का अवसित ५८५ वर्ष प्रचलित ईसवी सन् ६०४-६०५ का समरूप है। उस अवस्था मे, सूर्य ग्रहण को गुप्त सवत् ५८५+२४२=प्रचलित शक सवत् ८२७ मे २१ मार्च, ईसवी सन् ६०४ तथा ६ मार्च, ईसवी सन् ६०५ के बीच मे[2] कही ढूढना होगा। इस अवधि मे दो सूर्यग्रहण हुए थे[3] पहला शनिवार १६ जून, ईसवी सन् ६०४—जो कि प्रचलित शक सवत् ८२७ के पूर्णिमान्त उत्तरी आषाढ की अमावस्या से सगति रखता है—को, तथा दूसरा शनिवार, १० नवम्बर, ईसवी सन् ६०४—जो कि उसी शक वर्ष के पूर्णिमान्त उत्तरी मार्गशीर्ष की अमावस्या से सगति रखता है—को। इनमे से प्रथम के विषय मे श्री श० ब० दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि यह भारत मे कही भी द्रष्टव्य नही था, यह केवल पृथ्वी के और उत्तर की ओर स्थित प्रदेशो में ही द्रष्टव्य था। अत यह अभिप्रेत ग्रहण नही हो सकता। दूसरे के विषय मे उनका निष्कर्ष यह है कि यह मोरवी में, काठियावाड के आधे से अधिक उत्तरी भाग में, तथा दक्षिण मे—समुद्रतट के किनारे-किनारे, मोरवी से दक्षिण-पूर्व मे एक सौ सत्तर मील की दूरी पर स्थित सूरत तक, और आन्तरिक भाग मे कुछ और दूर तक—द्रष्टव्य था। तथा मोरवी मे सूर्य-ग्रहण का मध्य विन्दु प्रचलित स्थानीय गणना के मध्यमान से दिन के ११।५४ बजे था। मोरवी से पूर्व उत्तर मे एक सौ बीस मील की दूरी पर स्थित अहमदाबाद मे सूर्यमण्डल का बारहवा भाग ग्रहण-ग्रस्त था तथा भारत के और उत्तरी प्रदेशो में इससे अत्यधिक भाग। किन्तु स्वय

---

१ लेख मे इस बात का कोई सकेत नहीं मिलता कि राजपत्र दान देने के पूर्व अथवा बाद में लिखा गया। तीवरदेव का राजिम दानलेख (स ८१) इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण है। उस लेख में दान ज्येष्ठ मास (मई-जून) की एकादशी तिथि पर दिया गया था जबकि राजपत्र का लेखन अथवा अभ्यर्पण कार्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर) के आठवें सौर दिवस पर हुआ था, और लेख मे यह ज्ञात करने का कोई सूत्र नहीं है कि यह पूर्ववर्ती कार्तिक था अथवा अनुवर्ती कार्तिक। उस राजपत्र का लेखन अथवा अभ्यर्पण इसमे उल्लिखित दान के दिए जाने के या तो पांच महीने बाद अथवा सात महीने पहले किया गया था।

२ द्र० इन्डियन एराज़, पृ० १६७।

३ द्र०, इन्डियन एराज़, पृ० २१३।

मोरवी मे ग्रहण का परिमाण काफी छोटा था—सूर्य मण्डल का केवल पच्चीसवा भाग[1]। अतएव, यह ग्रहण, अन्य विचारो को ध्यान मे न रखने पर भी, किसी भी प्रकार ७ मई, ईसवी सन् ६०५ के दिन हुए ग्रहण के समान सतोषजनक नही है।

प्रारभिक गुप्त काल के लेखो मे वृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र का प्रयोग

मैं अब अपनी गवेषणा के और भी रोचक तथा महत्वपूर्ण भाग पर पहुचता हू-वह है प्रारभिक गुप्त काल के कुछ लेखो की तिथियो मे वृहस्पति नक्षत्र के द्वादशवर्षीय चक्र का प्रयोग।

ये तिथिया परिव्राजक महाराजो हस्तिन् तथा सक्षोभ के अभिलेखो मे पाई जाती है (स० २१ से लेकर स० २५ तक)। एव वर्तमान दृष्टिकोण से उनका अत्यधिक महत्व इस कारण है कि सख्या २४[2] को छोड कर प्रत्येक दृष्टान्त मे तिथि एक ऐसे पद से जुटी हुई है जो स्पष्टरूपेण यह प्रदर्शित करता है कि उल्लिखित तिथि के समय गुप्त प्रभुसत्ता जीवित थी, और, परिणामस्वरूप, चू कि इनमे अ कित वर्षों की सख्याए स्वभावतया उसी एकरूप लेख शृ खला को निर्देश्य हैं जो स्वय प्रारभिक गुप्तो के लेखो मे उद्धृत वर्षों से युक्त है और चू कि इन अभिलेखो की लिपि सर्वथा इस प्रकार के निर्देश के पक्ष मे है-इनसे यह प्रदर्शित होता है कि ये तिथिया उसी सवत् की हैं जिसमे प्रारभिक गुप्त शासको की तिथिया अकित हैं।

इन अभिलेखो से व्युत्पाद्य साक्ष्य का अब तक सर्वथा गलत प्रयोग किया गया है, इसका एक कारण इस मत मे विश्वास था कि इस चक्र के प्रत्येक सवत्सर अथवा वर्ष की अवधि शक सवत् के वर्षों की अवधि के समान है-अर्थात् चैत्र शुक्ल १ से लेकर चैत्र कृष्ण १५ तक, दूसरा कारण इस विचार मे विश्वास था कि इस चक्र के सवत्सरो के ठीक ठीक निर्धारण के साधन वराहमिहिर तथा अन्यो द्वारा बताए गए किन्ही नियमो से उपलब्ध शेषफल द्वारा प्राप्त होते हैं, जबकि वास्तव मे इससे केवल यह प्रदर्शित होता है कि उत्तरी पद्धति के अनुसार उसी ग्रह के षट्वर्षीय चक्र का तथा मध्यक राशि पद्धति के अनुसार द्वादशवर्षीय चक्र का कौन सा सवत्सर, किसी प्रदत्त शक अथवा कलियुग वर्ष के प्रारभ के समय, प्रचलित है। यह वर्ष की किसी अन्य प्रदत्त तिथि पर सवत्सरो का निर्धारक तथ्य नही प्रदान करता[3]।

---

१ श्री श० ब० दीक्षित ने गोप नामक गाव के लिए (द्र०, ऊपर, पृ० ९७, टिप्पणी २) गणनाएं नही की है, किन्तु वे यह बता सके हैं कि यहा दोनों ही ग्रहण—७ मई, ईसवी सन् ९०५ का तथा १० नवम्बर, ईसवी सन् ९०४ का—द्रष्टव्य थे। दृष्टिगोचरता के दृष्टिकोण से मोरवी की तुलना मे गोप के लिए प्रथम सूर्यग्रहण की परिस्थितियां अधिक अनुकूल और दूसरे ग्रहण की परिस्थितिया कम अनुकूल हैं।

२ इस लेख मे इस अतिक्रम के सभव स्पष्टीकरण के लिए, द्र० ऊपर पृ० ७।

३ उदाहरणार्थ, द्र० इन्डियन एराज, पृ० २६ इ०। विचाराधीन नियमों की व्याख्या से उस प्रथम शेष फल का उपयोग तथा व्याख्या नही होती जो कि, वराहमिहिर के नियम के अनुसार, ३७५० द्वारा विभाजित करने से तथा, ज्योतिष्टत्व के नियम के अनुसार, १८७५ द्वारा विभाजित करने पर प्राप्त होता है। ज्योतिष्टत्व के नियम के प्रसग मे वारेन ने दिखाया है (कल-संकलित, पृ० २०२) कि कैसे यह शेषफल प्रत्येक सवत्सर के वास्तविक प्रारभ का निर्धारण करने वाले साधन प्रदान करता है। उत्तरी पद्धति के अनुसार षष्ठि-वर्षीय चक्र के प्रत्येक सवत्सर तथा मध्यक राशि पद्धति के अनुसार द्वादशवर्षीय चक्र के प्रत्येक सवत्सर के वास्तविक प्रारभ के निर्धारण के लिए श्री श० ब० दीक्षित द्वारा तैयार की गई कुछ सारणियो के प्रयोग से मैं यह निष्कर्ष निकालता हू कि वराहमिहिर की बृहत्-सहिता, ८, २०, २१ के सदृश नियमो के प्रसंग मे

श्री श व दीक्षित ने नीचे परिशिष्ट ३ के रूप मे प्रकाशित अपने लेख मे-सम्प्रति विचाराधीन लेखो मे प्रयुक्त पद्धति को अपेक्षाओ के अनुरूप–चक्रविषयक सही सिद्धान्त का तथा प्रत्येक सवत्सर के निर्धारण के सही ढग का निरूपण किया है। तथा, सूर्य-सिद्धान्त के आधार पर की गई गणनाओ द्वारा उन्होने विचाराधीन तिथियो के पूर्ण निरूपण के लिए अपेक्षित सभी निष्कर्षों को हल किया है, ताकि योरोपीय और हिन्दू ज्योतिषी दोनो ही उनके द्वारा प्राप्त निष्कर्षों की जाच कर सकें, इस उद्देश्य से उन्होंने प्रारभ से लेकर अन्त तक अग्रेजी और हिन्दू दोनो तिथिया दी है। उनके द्वारा प्राप्त निष्कर्षों को प्रकाशित करते हुए मुझे विश्वास है कि उनमे कोई गभीर त्रुटि नही बताई जा सकती, यद्यपि और अधिक व्यापक गणनाओ से यह देखा जा सकता है कि वृहस्पति के सूर्य सापेक्ष उदय के प्रसग मे उनके द्वारा बताए गए देशान्तरो मे हलका सशोधन हो सकता है [1]। तथा, जैसा कि देखा जाएगा, उनके परिणामो द्वारा अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढग से उन सब निष्कर्षों की पुष्टि होती है जो पूर्ववर्ती पृष्ठों पर प्रमाणित किए जा चुके हैं, सबसे पहले अलबेरूनी के अभिकथनो, अवसित मालव सवत् ५२९ की तिथि युक्त मन्दसौर के अभिलेख, एव गुप्त सवत् १६५ की तिथियुक्त बुधगुप्त के एरण स्तम्भलेख के प्राप्त निष्कर्षों की लगभग पुष्टि, और फिर वलभी सवत् ९४५ की तिथियुक्त वेरावल अभिलेख से प्राप्त निष्कर्षों की पूर्ण पुष्टि।

मोटे तौर पर यह प्रश्न आवश्यक नही है कि प्रचलित गुप्त तथा शक वर्षों के बीच दो सौ बयालीस वर्षों के स्थायी अन्तर का सही निष्कर्ष प्रदान करने वाली तिथिया–सयोग से–प्रस्तावित प्राचीनतर कालो के प्रसग मे भी सही निष्कर्ष प्रदान करती है या नही। तथा, इस प्रकार की किसी नियमित एव सम्यक् गवेषणा के लिए प्रस्तावित कालों के पूर्ववर्ती तथा अनुवर्ती बारह वर्षों के लिए गणनाओ का करना अपरिहार्य होगा। किन्तु इस प्रकार की गवेषणाए निश्चितरूप से श्री टामस द्वारा प्रस्तावित काल के समान काल के प्रसग मे अनावश्यक होगी। किन्तु, जनरल कनिंघम एव सर ई० क्लाइव बेले द्वारा प्रस्तावित कालो के प्रसग मे इन तिथियो की गणना तथा प्राप्त निष्कर्षों को प्रस्तुत करना हमे उपयोगी प्रतीत हुआ, दोनो ने इस विषय पर इस मान्यता में विश्वास रखते हुए विचार किया है कि ये तिथिया ऐसे सवत् मे अकित है जो स्वय प्रारभिक गुप्त शासको द्वारा व्यवहृत हुआ

शक वर्षों को मेष-सक्रान्ति से (अर्थात् सूर्य के मेष राशि में प्रवेश होने के समय) प्रारभ हुआ मानना चाहिए, चैत्र शुक्ल १ से नही –यद्यपि दूसरी तिथि को ही वह प्रथम दिन होता है जिसकी तिथियों के अकन मे अपेक्षा होती है। उदाहरणार्थ, वराहमिहिर के नियम के अनुसार, षष्ठिवर्षीय चक्र का विश्वावसु सवत्सर प्रचलित शक सवत् ७४८ (ईसवी सन् ८२५–२६) के प्रारम के समय प्रचलित था, तथा जनरल कनिंघम के इस नियम के प्रसारण के अनुसार (इन्डियन एराज, पृ० २७) द्वादशवर्षीय चक्र का महा आश्वयुज सवत्सर इसी तिथि पर प्रचलित था। शक सवत् ७४८ में, मेष-सक्रान्ति २९ मार्च, ईसवी सन् ८२५ पर हुई, तथा चैत्र शुक्ल १ २२ फरवरी को समाप्त हुआ। उत्तरी पद्धति के अनुसार षष्ठिवर्षीय चक्र का विश्वावसु सवत्सर तथा, इसके साथ, मध्यक राशि पद्धति के अनुसार द्वादश-वर्षीय चक्र का महा आश्वयुज सवत्सर वस्तुत १५ मार्च को प्रारभ हुए, और, इस प्रकार वे मेष–सक्रान्ति के समय प्रचलित थे किन्तु चैत्र शुक्ल १ पर नहीं प्रचलित थे। तथा सवत्सरो के महा सक्रान्ति के थोडे दिन ही पहले प्रारभ होने पर सदैव यही होगा। वराहमिहिर द्वारा दिए गए नियमो के सदृश नियमो का प्रयोग, वास्तव में, स्वाभाविक है यद्यपि हो सकता है यह प्रथम दृष्टि मे स्पष्ट नही हो। क्योंकि, मेष–सक्रान्ति वर्ष का अत्यधिक निश्चित बिन्दु होता है जबकि चैत्र शुक्ल १ सदैव ग्यारह से लेकर उन्नीस दिनों तक के अन्तर में आगे पीछे होता रहता है तथा इसके परिस्थितियो के प्रति इस प्रकार के निश्चित नियम नहीं बनाए जा सकते।

१ उदाहरणाथ, द्र० नीचे, १६३ वर्ष की तिथि से युक्त खोह दानलेख से सबद्ध टिप्पणी।

था। और देखा जाएगा कि ईसवी सन् ३१९-२० के काल को सिद्ध करने के लिए जिस सूर्य-सहोदय-व्यवस्था का प्रयोग किया गया है उसी पद्धति का प्रयोग करने पर ये निष्कर्ष नही प्राप्त होते। इन दो कालो के आधार पर सूक्ष्म विवरणो की गणना मे-उस काल के समान जिसे मैं सिद्ध करना चाहता हू-गुप्त वर्ष को चैत्र शुक्ल १ से प्रारंभ होने वाले एक शक वर्ष के रूप मे तथा चान्द्र पक्षो की पूर्णिमान्त उत्तरी व्यवस्था से युक्त वर्ष के रूप मे देखा गया है। उन कुछ दृष्टान्तो मे जिनमे इस निरूपण से तथा इन दो कालो के आधार पर अपेक्षित निष्कर्ष नही प्राप्त होते हैं, वहा पूर्ववर्ती अथवा अनुवर्ती कार्तिक शुक्ल १ से प्रारभ होने वाले वर्ष को ग्रहण करने तथा, तदनुसार, प्रस्ताविक कालो मे थोडे हेर-फेर से अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल निष्कर्ष प्राप्त किए जा सकते है। किन्तु सभी ज्ञात विवरणो पर विस्तृत ढग से विचार करने से यह ज्ञात होगा कि इन दोनो मे से कोई भी काल और सभवत इनके आस पास पडने वाला कोई भी अन्य काल ऐसा कोई उपाय नही दे सकता जिससे आद्यन्त शुद्धत एकरूप निष्कर्ष प्राप्त हो सके।

किन्तु, यह कहा जा सकता है कि इन लेखो के लिए जनरल कनिंघम द्वारा निश्चित काल तथा सर ई० क्लाइव बेले द्वारा निश्चित काल को द्वादशवर्षीय चक्र की दूसरी पद्धति से सिद्ध किया जा सकता है, जिसके अनुसार सवत्सरो का निर्धारण बृहस्पति नक्षत्र के राशि मण्डल की राशियो मे सक्रम से होता है, तथा, यह कि इन दो विद्वानो ने अपने सिद्धान्तो के समर्थन मे इसी पद्धति का प्रयोग किया है। अतएव, इस पद्धति के आधार पर प्राप्त निष्कर्षों को भी दिया जाएगा। यह देखा जाएगा कि मैं जिस काल को सिद्ध करना चाहता हू उस पर यह पद्धति लागू नही होती क्योकि जिन चार दृष्टान्तो के आधार पर ही किसी निश्चित प्रमाण की स्थापना की जा सकती है उनमे से यह केवल दो दृष्टान्तो के प्रसग मे सही निष्कर्ष प्रदान करता है[1] वे दो हैं गुप्त सवत् १६३ मे तिथ्यकित दान (ख) एव गुप्त सवत् १९१ मे तिथ्यकित दान (ग)। जहा तक जनरल कनिंघम तथा सर ई० क्लाइव बेले द्वारा निश्चित कालो का सबध है यह सदैव स्वीकार किया गया है कि-जबतक कि प्रदत्त तिथि १६३ को जान बूझकर १७३ मे न परिवर्तित कर दिया जाय-कि दान (ख) के प्रसग मे इस पद्धति से ठीक निष्कर्ष नही मिलता। चूंकि मूल पाठ मे इस परिवर्तन का कोई औचित्य नही है[2], केवल इस दृष्टान्त मे ही इस पद्धति की असफलता यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि प्रस्तावित कालो को स्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु, यद्यपि इस तथ्य को अब तक नही समझा गया है, यह पद्धति अन्य लेखो के सदर्भ मे भी उचित निष्कर्षों की प्राप्ति मे विफल रहती है। इस प्रकार, गुप्त सवत् १९१ मे तिथ्यकित दान (ग) के प्रसग मे, जनरल कनिंघम द्वारा प्रयुक्त तथा सर ई० क्लाइव बेले द्वारा स्वीकृत नियमो के अनुरूप, प्रदत्त सवत्सर वास्तव मे प्रदत्त वर्ष के प्रारभ के समय प्रचलित था, किन्तु इससे यह अनुमान करना उचित नही कि यह उस पूरे वर्ष मे प्रचलित था, अपितु यह सवत्सर उस वर्ष की अगली प्रदत्त तिथि के पूर्व-जनरल कनिंघम द्वारा निश्चित काल के अनुसार लगभग साढे तीन मास तथा सर ई० क्लाइव बेले द्वारा निश्चित काल के अनुसार लगभग सात मास पहले-समाप्त हो गया और इसके बाद

---

१ भूमरा स्तम्भ लेख (नीचे, दान स० ९ (घ)) मे अकित तिथि से कोई स्वत निश्चित प्रमाण नही मिलता क्योकि इसमे प्रचलित गुप्त सवत् का कोई उल्लेख नही है और, परिणामत, प्रदत्त सवत्सर को विचाराधीन कालों के पूरे एक वर्ष अथवा इससे भी अधिक समय के अतर से एक वर्ष पहले अथवा एक वर्ष बाद के काल में रखा जा सकता है। हम केवल यह ज्ञात करने मे इसका परीक्षण कर सकते हैं कि क्या यह पद्धति किन्हीं विशेष परिस्थितियो मे प्रदत्त सवत्सर को छोड देने के कारण विफल होती है।

२ द्र०लेख स० २२ के विवरण मे सबद्ध टिप्पणी।

अगला सवत्सर घटित हुआ। वास्तव मे उन चार प्रमुख तिथियो में, जिनके आधार पर कोई सिद्धान्त वनाया जा सकता है, केवल दो तिथियो के प्रसग मे इन दो कालो को व्यवहृत करने पर सही निष्कर्प प्राप्त होते हैं ये दो लेख हैं गुप्त सवत् १५६ में तिथ्यकित दान (क) तथा गुप्त सवत् २०० में तिथ्यकित दान (घ)। तथा जैसा कि सूर्य-सहोदय पद्धति के साथ देखा जाता है, वैसे ही इस पद्धति के सदर्भ में भी व्यापक विचार करने से स्पष्ट हो जाएगा कि गुप्त वर्ष के लिए उत्तरी शक वर्ष की योजना से इतर योजना को स्वीकार करने पर भी इन दोनो कालो में से कोई भी प्रारभ से ले कर अन्त तक एकरूप निष्कर्षों की प्राप्ति मे समर्थ नही है।

(क) १६५ वर्ष की तिथि से युक्त खोह दानलेख

पहला अभिलेख महाराज हस्तिन् के खोह दानलेखों में एक है (स० २१) जिसमे तिथि (पक्ति १ इ०) यह दी गई है पट्पञ्चाशोतरेऽब्दशते गुप्त-नृप-राज्य-भुक्तौ महा-वैशाख-सवत्सरे कार्तिक-मास-शुक्ल-पक्ष-तृतीयाम्—"एक सौ छप्पनवें (वर्प) में, गुप्त शासको के प्रभुसत्ता-भोग-काल मे, महा-वैशाख सवत्सर मे, कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष के तीसरे चान्द्र दिवस पर"।

इस लेख से गणना के लिए महावैशाख सवत्सर प्राप्त होता है जिसे प्रचलित गुप्त सवत् १५६ मे कार्तिक मास (अक्टूवर-नवम्वर) के शुक्ल पक्ष की तीसरी तिथि अथवा चान्द्र दिवस पर अस्तित्वमान वताया गया है। तथा, वलभी सवत् ६४५ की तिथियुक्त वेरावल अभिलेख की समवृत्तिता के आधार पर यह स्थिति गुप्त सवत् १५६+२४२=प्रचलित शक सवत् ३६८ मे होनी चाहिए[1]। जिस वर्ष मे प्रदत्त तिथि का अग्रेजी समरूप रविवार, १९ अक्टूवर, ईसवी सन् ४७५ वैठता है।

श्री श० व० दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं (द्र० नीचे पृ० १०५–६ पर, सारणी स० ४, स्तम्भ अ) कि, प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व, वृहस्पति का उदय[2] उसी वर्ष अर्थात् प्रचलित शक सवत् ३९८ मे कार्तिक शुक्ल १ पर हुआ जो कि शुक्रवार १७ अक्टूवर, ईसवी सन् ४७५ से अथवा अग्रेजी पचाग के अनुसार शनिवार १८ अक्टूवर[3] से सगत वैठता है। उस समय उसका देशान्तर १६५°५४′ था।

---

१ इस स्थान पर तथा आद्यन्त अन्य स्थलों पर भी वर्ष एक उत्तरी वर्ष के रूप में व्यवहृत हुआ है। किन्तु इन तिथियों के विवरणो मे चान्द्र पक्षो की पूर्णिमान्त अथवा अमान्त व्यवस्था के प्रसग में कोई वास्तविक प्रमाण नहीं मिलता।

२ अर्थात् अपनी पूरी सूर्य-सहोदय की अवधि मे। किन्तु वास्तविक गणना उसके सूर्यसहोदय के लिए शक्त होने के उपरान्त उसके प्रथम दैनिक उदय के प्रति है।

३ सूर्य-सहोदय मे शक्त होने के ठीक पश्चात् वृहस्पति का दैनिक उदय सूर्योदय के पैंतालीस मिनट पहले और, इस प्रकार, ऐसी अवधि मे होता है जिसमे हिन्दू और अग्रेजी वार समान नही होते (द्र० नीचे परिशिष्ट २ मे टिप्पणी)। वर्तमान दृष्टान्त मे यह अग्रेजी शनिवार, १८ अक्टूवर को उपरोक्त समय पर सूर्योदय के पूर्व घटित हुआ। कार्तिक शुक्ल २ उस दिन के सूर्योदय के पश्चात् तक नही समाप्त हुआ। परिणामत, चू कि — प्रचलित तिथियां नहीं उद्धृत हुई हैं—जवतक कि अत्यन्त असामान्य परिस्थितियां न हो जो कि सप्रति विचाराधीन दृष्टान्त के समान दृष्टान्तो पर नहीं लागू होती हैं—अत उसका उदय कार्तिक शुक्ल १ तिथि पर हुआ। तथा शुक्रवार को सूर्योदय के पश्चात् (एव शनिवार को सूर्योदय के पूर्व) समाप्त होने वाली इस तिथि को—इसके वार के रूप मे—शुक्रवार १७ अक्टूवर से सवद्ध करना होगा। अत० हिन्दू अथवा अग्रेजी पचाग के अनुसार एक दिन का दृश्यमान—किन्तु वास्तविक नहीं—अन्तर पडता है। और नीचे दिए गए सूर्य सहोदयों की सभी तिथियों में यही अन्तर दिखाई पडता है।

नक्षत्रो की समाप्ति-बिन्दुओ के देशान्तरो के प्रति प्रयुक्त असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार (द्र० परिशिष्ट ३, सारणी ६) वह उस समय विशाखा मे था, और उस समय जो सवत्सर प्रारभ हुआ (द्र० परिशिष्ट ३, सारणी ८) उसे महावैशाख नाम दिया गया होगा[1]। बृहस्पति का आगामी उदय शक सवत् ३६६ के मार्गशीर्ष शुक्ल १३ को, अर्थात् सोमवार, १५ नवम्बर, ईसवी सन् ४७६ को, घटित हुआ, अथवा अग्रेजी पचाग के अनुसार, यह मगलवार १६ नवम्बर को घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर २२५°३५' था। असमान अन्तरालो की ब्रह्म-सिद्धान्त मे दी गई पद्धति के अनुसार, वह उस समय ज्येष्ठा मे था तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महाज्येष्ठ नाम दिया गया होगा। दूसरी ओर, असमान अन्तरालो विषयक गर्ग पद्धति के अनुसार, वह उस समय अनुराधा मे था तथा उस समय जो सवत्सर प्रारम्भ हुआ, उसे महावैशाख नाम दिया होगा—जिससे यह प्रदर्शित होता है कि इस अवधि मे सवत्सर की पुनरावृत्ति हुई थी। किन्तु, आगामी सवत्सर के प्रसग मे इस अन्तर से प्रदत्त तिथि पर कोई प्रभाव नही पडता। असमान अन्तराल विषयक दोनो पद्धतियो के अनुसार, प्रचलित गुप्त तथा शक वर्षों के बीच दो सौ बयालीस वर्षों का स्थायी अन्तर लेने पर, प्रदत्त तिथि पर महावैशाख संवत्सर का अस्तित्व था। और यह निष्कर्ष प्रदत्त प्रचलित गुप्त वर्ष की समरूप तिथि के रूप मे हमे प्रचलित शक सवत् ३६८ (ईसवी सन् ४७५-७६) प्रदान करता है।

इस अवधि विषयक निष्कर्षों के सबध मे निम्नलिखित बातो को ध्यान मे रखना होगा। श्री श० ब० दीक्षित ने नक्षत्रो के समाप्ति-बिन्दुओ के निर्धारण के लिए तीन पद्धतियो का विवेचन किया है एक समान अन्तरालो की और अन्य दो असमान अन्तरालो की है। प्रदत्त तिथियो के ठीक पूर्व प्रत्येक उदय के लिए बृहस्पति के देशान्तरो— जो ऊपर पृ० १०५-६, सारणी ४ मे दिया गया है— के परीक्षण से स्पष्ट हो जाएगा कि सभी शेष दृष्टान्तो मे प्रचलित सवत्सर तीनो पद्धतियो से सिद्ध होता है, एकमात्र अतिक्रम (ङ) के साथ है। समान अन्तरालो की पद्धति के अनुसार, प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व अपने उदय के समय बृहस्पति अश्लेषा मे था, किन्तु उस स्थिति मे भी—जैसा कि असमान अन्तरालो की अन्य दो पद्धतियो के अनुसार भी होगा—प्रचलित संवत्सर का नाम महामाघ ही होगा—इसी प्रकार यह द्रष्टव्य है कि इन तीनो पद्धतियो के अनुसार, आगामी सवत्सरो के सबध मे हम समान निष्कर्ष पाते है, इसका एकमात्र अतिक्रम हम यह पाते है कि (घ) मे, समान अन्तरालो की पद्धति के अनुसार, प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व अपने उदय के समय बृहस्पति की स्थिति भरणी मे थी और तदनुसार, उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को पुन महाआश्वयुज नाम दिया जाएगा, इससे यह प्रदर्शित होता है कि इस अवधि मे सवत्सर की पुनरावृत्ति हुई थी किन्तु इससे प्रदत्त तिथि पर प्रचलित सवत्सर नही प्रभावित होता। अतएव, जहा तक उन तिथियो का प्रश्न है, उन लेखो की शुद्धता इन तीनो में किसी पद्धति द्वारा सिद्ध हो सकती है। किन्तु वर्तमान लेख के साथ ऐसी बात नही है। समान अन्तरालो की पद्धति के अनुसार, प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व अपने उदय के समय बृहस्पति की स्थिति स्वाति मे थी। उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महाचैत्र नाम दिया जाएगा, तथा, महावैशाख सवत्सर का प्रारम्भ तबतक नही होगा जबतक कि प्रदत्त तिथि के ठीक पश्चात् बृहस्पति का

---

१ महा (महत्) अर्थात् "बडा", इस उपसर्ग के प्रयोग के लिए मैं मूल प्रमाण को नहीं पा सका हू। तथा यह कादम्ब प्रमुख मृगेशवर्मन् के हल्सी दानलेखो मे उल्लिखित दो सवत्सरों के साथ नही प्रयुक्त हुआ है ये दो उल्लेख हैं—उसके तीसरे वर्ष में तिथ्यंकित दानलेख की पक्ति ८ मे पौष सवत्सर (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० ७, पृ० ३५) तथा उसके आठवें वर्ष में तिथ्यंकित दानलेख १० मे वैशाख सवत्सर। किन्तु मैं यहा सप्रति विचाराधीन प्रारभिक लेखो मे पाई जाने वाली प्रवृत्ति के अनुरूप इस उपसर्ग का सर्वत्र प्रयोग कर रहा हू।

सारणी ४

बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र के संवत्सर

	अ	आ	इ	ई	उ१	उ२
प्रचलित गुप्त वर्ष....	१५६	१६३	१९१	२०९	१८९	२०१
जोड़ा जाने वाला अन्तर....	२४२	२४२	२४२	२४२	२४२	२४२
प्रचलित शक वर्ष....	३९८	४०५	४३३	४५१	४३१	४४३
महा संवत्सर....	महा वैशाख	महा आश्वयुज	महा पौष	महा आश्वयुज	महा माघ	महा माघ
चालू तिथि....	कार्तिक शुक्ल ३	पौष शुक्ल २	माघ कृष्ण ३	पौष शुक्ल १३	कार्तिक १६वां दिन	कार्तिक १६वां दिन
समरूप तिथि....	१६ अक्टूबर, ४७५ ई०	७ मार्च, ४८२ ई०	३ जनवरी, ५११ ई०	१६ मार्च, ५२८ ई०	१३ अक्टूबर, ५०८ ई०	२ अक्टूबर, ५२० ई०
बृहस्पति का पूर्वी उदय शक था....	शक ३९८ का कार्तिक शुक्ल १	शक ४०४ का वैशाख कृष्ण ६	शक ४३२ का आश्विन शुक्ल ११	शक ४५१ का पौष शुक्ल १२	शक ४३१ का श्रावण शुक्ल १५	शक ४४२ का भाद्रपद शुक्ल ३
समरूप तिथि....	१७ अक्टूबर, ४७५ ई०	५ अप्रैल, ४८१ ई०	२६ सितम्बर, ५१० ई०	१८ मार्च, ५२८ ई०	२८ जुलाई, ५०८ ई०	२ अगस्त, ५२० ई०
अंग्रेजी तिथि....	१८ अक्टूबर	६ अप्रैल	३० सितम्बर	१९ मार्च	२९ जुलाई	३ अगस्त
बृहस्पति का तत्कालीन देशान्तर....	१९५°२०'	४°२१'	१७७° ४७'	३४७°४५'	११७°४'	१२१°२०'

	अ	आ	इ	ई	उ२	उर
वृहस्पति की स्थिति .	विशाखा	अश्विनी	चित्रा	रेवती	मघा	मघा
और तब जो संवत्सर प्रारम्भ हुआ	महा वैशाख	महा आश्वयुज	महा चैत्र	महा आश्वयुज	महा माघ	महा माघ
वृहस्पति का आगामी उदय जब था...	शक ३९९ का मार्गशीर्ष शुक्ल १३	शक ४०५ का ज्येष्ठ शुक्ल ८	शक ४३४ का मार्गशीर्ष कृष्ण ७	शक ४५२ का ज्येष्ठ शुक्ल ३	शक ४३२ का आश्विन कृष्ण १३	शक ४४४ का आश्विन कृष्ण १
समरूप तिथि...	१५ नवम्बर, ४७६ ई०	१२ मई ४८२ ई०	२९ अक्टूबर, ५११ ई०	२६ अप्रैल, ५२९ ई०	२९ अगस्त, ५०९ ई०	३ सितम्बर, ५२१ ई०
अंग्रेजी तिथि ..	१६ नवम्बर	१३ मई	३० अक्टूबर	२७ अप्रैल	३० अगस्त	४ सितम्बर
वृहस्पति का तत्कालीन देशान्तर	२२५°३५'	४०° ३४'	२०७°४१'	२८°३६'	१४७°४९'	१५२°१७'
वृहस्पति की स्थिति	ज्येष्ठा	रोहिणी	विशाखा	कृत्तिका	उत्तरा-फल्गुनी	उत्तरा-फल्गुनी
और, तब जो संवत्सर प्रारम्भ हुआ .	महा ज्येष्ठ	महा कार्त्तिक	महा वैशाख	महा कार्त्तिक	महा फाल्गुन	महा फाल्गुन

उदय नही हो जाता जिसकी स्थिति, उसी पद्धति के अनुसार, उस समय अनुराधा मे होगी। तदनुसार, वर्तमान लेख पर समान अन्तरालो की पद्धति तभी लागू हो सकती है जबकि प्रचलित गुप्त तथा शक वर्षों के बीच दो सौ तेंतालीस वर्षों का स्थायी अन्तर माना जाय, जो इस तथ्य के विरोध मे होगा कि अन्य शेष लेखो के सवत्सरो को सिद्ध करने के लिए इसे दो सौ बयालीस वर्षों के अन्तर के साथ लागू करना होगा। अतएव, यह स्पष्ट है कि इन लेखो के लिए समान अन्तरालो की पद्धति का प्रयोग उपयुक्त नही है, तथा यह कि हमे असमान अन्तरालों की पद्धतियों मे से किसी एक का प्रयोग करना है। यह स्वाभाविक भी है क्योकि ये दोनो समान अन्तरालो की पद्धति से अधिक प्राचीन है, तथा जो पद्धति जितनी ही प्राचीन है प्रारभिक गुप्त काल मे उसके प्रयोग की निश्चितता उतनी ही अधिक है। साथ ही, शक सवत् ७८४ की तिथि युक्त कन्नौज के शासक भोजदेव का देवगढ अभिलेख अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह सकेतित करता है कि, यदि दोनो नही तो, असमान अन्तरालो की पद्धतियो में से एक का प्रयोग—उस प्रदेश मे जो प्रारभिक गुप्त साम्राज्य का एक भाग रहा था—कम से कम नवी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध तक चलता रहा[1]। असमान अन्तरालो की पद्धतियो मे चाहे हम ब्रह्म-सिद्धान्त पद्धति

---

१ आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० १०१ तथा प्रतिचित्र ३३, स० २ मे जनरल कनिघम द्वारा प्रकाश मे लाए गए इस लेख मे, जो मध्य भारत मे सिंधिया अधिकृत क्षेत्र मे झासी से दक्षिण-पश्चिम मे लगभग साठ मील की दूरी पर स्थित देवगढ मन्दिर के महाकक्ष के सामने थोडा हट कर बने हुए मण्डप के एक स्तम्भ पर अकित है, तिथि (स्याही की छाप से उद्धृत, पक्तिया ६ इ०, १०) इस प्रकार है सवत् ९१९ अस्व(श्व)युज-शुक्ल-पक्ष चतुर्दश्या बृहस्पति-दिनेन उत्तर(1)—भाद्रपद(द)—नक्षत्रे इद स्तम्भ समाप्तमिति . शक कालाब्द—सप्त—शतानि—चतुरशीत्यधिकानि ७८४—"वर्ष ९१९, अश्वयुज के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी तिथि अथवा चान्द्र दिवस पर, बृहस्पतिवार को, उत्तरा-भाद्रपदा नक्षत्र के अन्तर्गत, यह स्तम्भ पूर्ण हुआ, शक सवत् का सात सौ चौरासीवां वर्ष, (अथवा अको मे) ७८४"। इससे हमे गणना के लिए ये तथ्य मिलते हैं विक्रम सवत् ९१९ और शक सवत् ७८४, आश्वयुज मास (सितम्बर-अक्टूबर) बृहस्पतिवार का दिन, तथा, उत्तरा-भाद्रपदा नक्षत्र। तिथि निश्चिततया एक उत्तरी तिथि है किन्तु चू कि प्रदत्त तिथि शुक्ल पक्ष की तिथि है अत यह तथ्य महत्वपूर्ण नही है। इस शक वर्ष को अवसित वर्ष मानने पर श्री श० ब० दीक्षित को—प्रो० के० एल० छत्रे की सारणिया तथा सूर्य सिद्धान्त दोनो के आधार पर—इसकी अग्रेजी समरूप तिथि के रूप मे बृहस्पतिवार, १०, ईसवी सन् ८६२ प्राप्त हुआ है। तिथि उस दिन सूर्योदय के पश्चात् ५६ घटी ३४ पल अथवा २२ घटे ३७ मिनट ३६ सेकन्ड पर समाप्त हुई। नक्षत्रो की समान-अन्तराल पद्धति के अनुसार, बृहस्पतिवार को सूर्योदय के पश्चात् ५३ घटी ३१ पल अथवा २१ घटे २४ मिनट २४ सेकन्ड तक चन्द्रमा पूर्वा-भाद्रपदा नक्षत्र में था, और तत्पश्चात् यह उत्तरा-भाद्रपदा नक्षत्र मे प्रविष्ट हुआ अर्थात्, सूर्योदय का समय ६ बजे प्रात मानने पर, शुक्रवार को सूर्योदय के २ घटे ३५ मिनट ३६ सेकण्ड पूर्व (चू कि मुझे देवगढ का ठीक-ठीक देशान्तर नहीं प्राप्त है, अत यह समय, आद्यन्त, उज्जैन के लिए है, इसे लगभग ७८°१५' पूर्व मानने पर, प्रत्येक अवस्था में समय दस मिनट बाद तक की अवधि के भीतर होगा)। किन्तु, यह समय लेखयुक्त-स्तम्भ के पूरा होने का—जैसा कि लेख मे कहा गया है—अत्यन्त असभव समय होगा। किन्तु नक्षत्रों की असमानअन्तराल पद्धति का प्रयोग करने पर पूर्वा-भाद्रपदा नक्षत्र बृहस्पतिवार को सूर्योदय के पश्चात् लगभग २३ घटी ४० पल अथवा ९ घटा २८ मिनट पर समाप्त हुआ और तत्पश्चात् चन्द्रमा उत्तरा-भाद्रपदा नक्षत्र में प्रविष्ट हुआ, अर्थात्, स्थूलरूपेण, सूर्यास्त के पूर्व स्तम्भ के पूर्ण होने के लिए काफी समय छोड़ते हुए मध्यान्ह मे लगभग साढ़े तीन बजे। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि इस लेख के नक्षत्र के निर्धारण के लिए असमान अन्तरालो की पद्धतियो मे से एक का प्रयोग करना होगा।

अथवा अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन गर्ग पद्धति का प्रयोग करें, इसका इस समय निश्चय नही हो सकता क्योकि उनके बीच मे एकमात्र अतिक्रम वर्तमान लेख मे प्रदत्त तिथि पर प्रचलित संवत्सर के बाद मे आने वाले सवत्सर के प्रसग मे है।

दूसरा विचार्य विषय यह है कि चूंकि आगामी सवत्सर शक सवत् ३६६ के मार्गशीर्ष शुक्ल १३ तक नही प्रारम्भ हुआ था, अत महावैशाख सवत्सर शक सवत् ३६६ तथा ३६८ (जो कि गुप्त वर्ष का वास्तविक समरूप वर्ष है) दोनो में प्रदत्त तिथि कार्तिक शुक्ल ३ पर अस्तित्वमान था। इसी प्रकार, यह देखा जाएगा कि (घ) के प्रसग में महाआश्वयुज सवत्सर, शक सवत् ४५२ तथा ४५१ (जो कि उस लेख मे अकित गुप्त वर्ष का वास्तविक समरूप वर्ष है) दोनो में, प्रदत्त तिथि चैत्र शुक्ल १३ पर अस्तित्वमान थी। परिणामत इन दो तिथियो—(क) तथा (घ)—का प्रयोग प्रचलित गुप्त तथा शक वर्षों के बीच दो सौ तैंतालीस वर्षों का स्थायी अन्तर तथा साथ ही दो सौ वर्षों का स्थायी अन्तर, दोनो सिद्ध करने के लिए किया जा सकता है। किन्तु, इसे ध्यान में न भी रखा जाय कि इसके समर्थन मे हमे और कुछ नही प्राप्त है, तो भी यह विचारणीय है कि (ख) और (ग) के प्रसग में इस प्रकार का कोई विकल्प नही है, इन लेखो के सवत्सर दो सौ बयालीस वर्षों का स्थायी अन्तर मानने पर ही सिद्ध हो सकते हैं। अतएव, इन चारो दृष्टान्तो को एक साथ लेने पर ये प्रचलित गुप्त तथा शक वर्षों के बीच दो सौ बयालीस वर्षों के स्थायी अन्तर से केवल सगति ही नही रखते अपितु इसे सिद्ध भी करते हैं।

अतिम विचार्य विषय यह है कि ३३० वर्ष की तिथियुक्त धरसेन चतुर्थ के कैर दानलेख की समवृत्तिता के आधार पर, तथा उत्तरी शक वर्ष के प्रारम्भ के ठीक पूर्व के कार्तिक मास से प्रारम्भ होने वाला वर्ष लेने पर, गुप्त सवत् १५६ मे प्रदत्त तिथि कार्तिक शुक्ल ३ प्रचलित शक सवत् ३९७ मे पड़ेगी। किन्तु उस स्थिति में यह शक सवत् ३६८ के कार्तिक शुक्ल १ पर पड़ने वाले लेखाकित सवत्सर के प्रारम्भ के—केवल दो दिन कम—एक वर्ष पूर्व पड़ेगी। अतएव, यह लेख हमारे उत्तरी शक वर्ष के प्रारम्भ के ठीक पूर्व के कार्तिक मास से प्रारम्भ होने वाले दक्षिणी विक्रम वर्ष की योजना से सबद्ध होने की सभावना का भी निराकरण करता है।

इसी लेख की समवृत्तिता के आधार पर, तथा उत्तरी शक वर्ष के प्रारम्भ के ठीक पूर्व पड़ने वाले मार्गशीर्ष मास से प्रारम्भ होने वाला वर्ष (उत्तरी अथवा दक्षिणी) लेने पर[1], प्रदत्त तिथि फिर भी शक सवत् ३६८ मे पड़ेगी। किन्तु, हमारे इस प्रकार के किसी वर्ष से सबद्ध होने को सभावना का नीचे गुप्त सवत् १६१ को तिथियुक्त (ग) लेख के तिथि विषयक निष्कर्षों से निराकरण हो जाता है।

मध्यक राशि पद्धति के अनुसार, प्रचलित शक सवत् ३६६ के वैशाख शुक्ल ५ अर्थात् बुधवार १४ अप्रेल, ईसवी सन् ४७६ तक महावैशाख सवत्सर का प्रारम्भ नही हुआ था, और, इस प्रकार, प्रदत्त तिथि पर यह अस्तित्वमान नही था। उस समय महाचैत्र सवत्सर अस्तित्व मे था, जिसका प्रारम्भ शक सवत् ३६८ के ज्येष्ठ कृष्ण १३ अर्थात् शनिवार, १६ अप्रेल, ईसवी सन् ४७५ को हुआ।

जनरल कनिंघम द्वारा प्रस्तावित १६६–६७ ई० का सवत्-काल ग्रहण करने पर, प्रदत्त तिथि प्रचलित शक सवत् २४५ मे पड़ेगी और इसका अंग्रेजी समरूप रविवार, ३० सितम्बर, ईसवी सन् ३२२ होगा। श्री श० ब० दीक्षित का यह निष्कर्ष है कि प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व पड़ने वाला

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ७८।

वृहस्पति का उदय शक सवत् २४४ के कार्तिक शुक्ल १३ पर, तदनुसार शुक्रवार २० अक्टूबर, ईसवी सन् ३२१ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, शनिवार, २१ अक्टूबर पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर २००°५४' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय विशाखा मे था, और उस समय जिस सवत्सर का प्रारम्भ हुआ उसे महा वैशाख नाम दिया गया होगा। वृहस्पति का ठीक अगला उदय शक सवत् २४५ के पौष कृष्ण १० पर, तदनुसार मगलवार, २० नवम्बर, ईसवी सन् ३२२ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, बुधवार २१ नवम्बर पर हुआ। उस समय उसका देशान्तर २३१°३३' था। समान अन्तरालो की पद्धति के अनुसार तथा असमान अन्तरालो की गर्ग-पद्धति के अनुसार, वह उस समय ज्येष्ठा मे तथा असमान अन्तरालो की ब्रह्म-सिद्धान्त-पद्धति के अनुसार मूल मे था, तथा, तीनो पद्धतियो के अनुसार उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा ज्येष्ठ का नाम दिया गया होगा। इस प्रकार, यह सवत्-काल ग्रहण करने पर प्रदत्त तिथि पर महा वैशाख सवत्सर अस्तित्वमान था। किन्तु, यह एक सयोगमात्र है। (घ) के प्रसग मे यही सयोग दिखाई पडता है किन्तु (ख) तथा (ग) के प्रसग मे यह नही मिलता।

मध्यक राशि-पद्धति के अनुसार, महा वैशाख सवत्सर प्रचलित शक सवत् २४४ के फाल्गुन कृष्ण १५ पर, तदनुसार शुक्रवार २ फरवरी, ईसवी सन् ३२२ पर प्रारम्भ हुआ, तथा, इसके पश्चात् शक सवत् २४५ के फाल्गुन शुक्ल ६ पर, तदनुसार मगलवार, २९ जनवरी, ईसवी सन् ३२३ पर, अनुवर्ती सवत्सर महा ज्येष्ठ आया। इस प्रकार, यह सवत्-काल ग्रहण करने पर, और इस पद्धति के भी अनुसार, महा वैशाख सवत्सर प्रदत्त तिथि पर अस्तित्वमान था।

सर ई० क्लाइव बेले द्वारा प्रस्तावित १९०-९१ ई० का सवत्-काल ग्रहण करने पर, प्रदत्त तिथि प्रचलित शक सवत् २६९ में पडेगी, और इसका अग्रेजी समरूप शनिवार, ४ अक्टूबर, ईसवी सन् ३४६ होगा। इसमे प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व वृहस्पति का उदय शक सवत् २६८ के मार्गशीर्ष कृष्ण ३ पर, तदनुसार मगलवार, २९ अक्टूबर, ईसवी सन् ३४५ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, बुधवार, ३० अक्टूबर पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर २०९°२२' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार वह उस समय विशाखा मे था और उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा वैशाख नाम दिया गया होगा। वृहस्पति का अगला उदय शक सवत् २६९ के पौष कृष्ण १५ पर, तदनुसार शनिवार, २९ नवम्बर, ईसवी सन् ३४६ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, रविवार, ३० नवम्बर पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर २४०°१७' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार वह उस समय मूल मे था, तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा ज्येष्ठ नाम दिया होगा। इस प्रकार, यह सवत्-काल ग्रहण करने पर भी प्रदत्त तिथि पर महा वैशाख सवत्सर प्रचलित था। किन्तु, यह भी एक सयोगमात्र है। तथा, पुन, यद्यपि यह सयोग (घ) के प्रसग मे प्राप्य है, किन्तु (ख) तथा (ग) के प्रसग मे इसका सर्वथा अभाव है।

मध्यक राशि-पद्धति के अनुसार, महा वैशाख सवत्सर प्रचलित शक सवत् २६८ के कार्तिक शुक्ल ११ पर, तदनुसार बुधवार, २३ अक्टूबर, ईसवी सन् ३४५ पर प्रारम्भ हुआ तथा यह, शक सवत् २६९ के मार्गशीर्ष कृष्ण ३ पर, तदनुसार रविवार, १९ अक्टूबर, ईसवी सन् ३४६ पर, महा ज्येष्ठ द्वारा अनुसृत हुआ। इस प्रकार, यह सवत्-काल ग्रहण करने पर, तथा इस पद्धति के अनुसार भी प्रदत्त तिथि पर महा वैशाख सवत्सर प्रचलित था।

(ख) १६३ वर्ष की तिथि से युक्त खोह दानलेख

दूसरा अभिलेख महाराज हस्तिन् का एक अन्य खोह दानलेख है (स० ३३) जिसमे तिथि (पक्ति १ इ०) यह दी गई है, त्रिषष्ट्युत्तरेऽब्दशते गुप्तनृपराज्यभुक्तौ महाश्वयुज

संवत्सरे चैत्रमासशुक्लपक्ष-द्वितीयायाम्— एक सौ तिरसठ वर्ष में; गुप्त शासकों के प्रभुसत्ता-भोग-काल में; महा आश्वयुज संवत्सर में; चैत्र मास के द्वितीय चान्द्र दिवस पर।

इससे हमें गणना के लिए यह तथ्य प्राप्त होता है कि प्रचलित गुप्त संवत् १६३ में चैत्र मास (मार्च-अप्रैल) के शुक्ल पक्ष की द्वितीया तिथि अथवा चान्द्र दिवस पर महा आश्वयुज संवत्सर प्रचलित था। तथा, वलभी-संवत् ६४५ की तिथियुक्त वेरावल अभिलेख की समवृत्तिता के आधार पर यह स्थिति गुप्त संवत् १६३+२४२=प्रचलित शक संवत् ४०५ में होनी चाहिए, जिस वर्ष में प्रदत्त तिथि रविवार, ७ मार्च ईसवी सन् ४८३ से संगति रखती है।

श्री श० ब० दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं(द्र० ऊपर,पृ० १०५-१०६ सारणी ४ स्तम्भ आ) कि प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व बृहस्पति का उदय पूर्ववर्ती वर्ष, प्रचलित शक वर्ष ४०४ के वैशाख कृष्ण ६ पर, तदनुसार रविवार, ५ अप्रैल, ईसवी सन् ४८२ पर अथवा, अंग्रेजी पंचांग के अनुसार, सोमवार, ६ अप्रैल पर घटित हुआ।[1] उस समय उसका देशान्तर ४°२१' था। असमान अन्तरालों की दोनों पद्धतियों के अनुसार[2] उस समय वह अश्विनी में था और उस समय प्रारम्भ होने वाले संवत्सर को महा आश्वयुज नाम दिया गया होगा। बृहस्पति का अगला उदय संवत् ४०५ के ज्येष्ठ शुक्ल ८ पर, तदनुसार बुधवार १२ मई, ईसवी सन् ४८३ पर, अथवा अंग्रेजी पंचांग के अनुसार, बृहस्पतिवार १३ मई पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ४०°३४' था। असमान अन्तरालों की दोनों पद्धतियों के अनुसार, उस समय वह रोहिणी में था तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले संवत्सर का नाम महा कार्तिक रहा होगा। अतएव असमान अन्तरालों की दोनों पद्धतियों के अनुसार, तथा प्रचलित गुप्त तथा शक वर्षों के बीच दो सौ बयालीस वर्षों का अन्तर मानने पर, प्रदत्त तिथि पर महा आश्वयुज संवत्सर प्रचलित था। और यह निष्कर्ष प्रदत्त प्रचलित गुप्त वर्ष के समरूप के रूप में प्रचलित शक संवत् ४०५ (ईसवी सन् ४८२-८३) प्रदान करता है।

इस दृष्टान्त में, प्रदत्त संवत्सर—न तो पूर्ववर्ती वर्ष, शक संवत् ४०४, में और न अनुवर्ती वर्ष शक संवत्, ४०६ में-प्रदत्त तिथि पर प्रचलित नहीं था। अत. यह निष्कर्ष प्रचलित गुप्त तथा शक वर्षों के बीच दो सौ बयालीस वर्षों के अन्तर से न केवल संगत बैठता है, अपितु इसे सिद्ध भी करता है।

३३० वर्ष की तिथियुक्त धरसेन चतुर्थ के कैर दानलेख की समवृत्तिता के आधार पर, तथा उत्तरी शक वर्ष के प्रारम्भ के ठीक पूर्व के कार्तिक मास अथवा मार्गशीर्ष मास से प्रारम्भ होने वाले वर्ष को लेने पर, गुप्त संवत् १६३ में प्रदत्त तिथि चैत्र शुक्ल फिर भी शक संवत् ४०५ में पड़ेगी। किन्तु, जैसाकि ऊपर पृ० १०८ पर देखा जा चुका है, (क) लेख में अंकित तिथि विषयक निष्कर्ष हमारी उत्तरी शक वर्ष के प्रारम्भ के ठीक पूर्व के कार्तिक मास से प्रारम्भ होने वाले दक्षिणी विक्रम संवत् की योजना से संबद्ध होने की सम्भावना का निराकरण करते हैं। तथा जैसाकि नीचे पृ० ११४ पर देखा

---

१ ये गणनाएं सर्वदा शुद्ध नहीं हैं। किन्तु तिथि-सीमा का विस्तार इतना अधिक है कि इस दृष्टान्त में एकदम ठीक गणना आवश्यक नहीं है। यदि श्री श० ब० दीक्षित द्वारा प्राप्त तथा सर्वदा शुद्ध गणना से निर्धारणीय बृहस्पति के देशान्तरों में कुछ अन्तर पड़ता है तो यह अन्तर चाप (arc) के केवल कुछ मिनटों का होगा, तथा बृहस्पति के उदय का जो समय उन्होंने बताया है उससे केवल एक अथवा दो दिनों का अन्तर पड़ेगा; तत्परिणामस्वरूप, इस दृष्टान्त में, बृहस्पति वैशाख कृष्ण ५ अथवा ७ पर उदित हुआ होगा।

२ समान अन्तरालों की पद्धति के अनुसार भी; (द्र० ऊपर पृ० १०७)। यह तथ्य निम्नलिखित दृष्टान्तों में विचार्य नहीं है।

जाएगा, (ग) लेख मे अंकित तिथि विपयक निष्कर्ष हमारे किसी ऐसे वर्ष—उत्तरी अथवा दक्षिणी—से सवद्ध होने की सभावना का निराकरण करते हैं जो उत्तरी शक वर्ष के प्रारम्भ के ठीक पूर्व के मार्गशीर्ष मास से प्रारम्भ होता है।

मध्यक राशि-पद्धति के अनुसार महा आश्वयुज सवत्सर प्रचलित शक सवत् ४०४ के चैत्र शुक्ल ८ पर, तदनुसार मगलवार, २४ मार्च, ईसवी सन् ४८१ पर प्रारम्भ हुआ तथा यह प्रचलित शक सवत् ४०५ के चैत्र शुक्ल १५ पर, तदनुसार रविवार, २० मार्च, ईसवी सन् ४८२ पर महा कार्तिक द्वारा अनुसृत हुआ। अतएव, इस पद्धति के अनुसार भी महा आश्वयुज सवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था।

जनरल कनिंघम द्वारा प्रस्तावित १६६-६७ ई० के सवत्-काल को ग्रहण करने पर, तथा गुप्त सवत् १६३ का प्रारंभिक पाठ स्वीकार करने पर, प्रदत्त तिथि प्रचलित शक सवत् २५२ मे पड़ेगी तथा इसका अग्रेजी समरूप सोमवार, १७ फरवरी, ईसवी सन् ३२६ होगा। श्री श० व० दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि, प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व, बृहस्पति का उदय शक सवत् २५१ के आषाढ कृष्ण ६ पर, तदनुसार बृहस्पतिवार १६ मई, ईसवी सन् ३२८ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, शुक्रवार, १७ मई पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ४७°२५' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, उस समय वह रोहिणी मे था तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा कार्तिक नाम दिया गया होगा। बृहस्पति का अगला उदय शक सवत् २५२ के आषाढ शुक्ल १० पर, तदनुसार रविवार, २२ जून ३२६ पर, अथवा अग्रेजी पचाग के अनुसार, सोमवार, २३ जून पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ८२°१२' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय पुनर्वसु मे था तथा उस समय जो सवत्सर प्रारम्भ हुआ उसका नाम-बीच मे आने वाले सवत्सर महा मार्गशीर्ष को छोड दिए जाने से—महा पौष रहा होगा। तदनुसार, यह सवत्-काल तथा लेख के वास्तविक पाठ को ग्रहण करने, प्रदत्त तिथि पर महा-आश्वयुज सवत्सर नही प्रचलित था। महा आश्वयुज सवत्सर के प्रारम्भ के लिए हमे पीछे शक सवत् २५० के वैशाख शुक्ल ३ पर, तदनुसार मगलवार ११ अप्रेल, ई० सन् ३२७, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, बुधवार १२ अप्रैल पर घटित बृहस्पति के उदय तक जाना होगा, जबकि उसका देशान्तर ११°२१' था तथा वह तीनो पद्धतियो के अनुसार अश्विनी मे था। और इस प्रकार प्रदत्त सवत्सर पूर्ववर्ती वर्ष की उसी तिथि पर प्रचलित था। इसी सवत्-काल तथा प्रस्तावित गुप्त सवत् १७३ के शुद्ध पाठ को (द्र० लेख स० २२ की सवद्ध टिप्पणी) ग्रहण करने पर प्रदत्त तिथि प्रचलित शक सवत् २६२ पर पड़ेगी तथा इसका अग्रेजी समरूप मगलवार, २७ फरवरी, ई० सन् ३३९ होगा। इसमे प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व का बृहस्पति का उदय शक सवत् २६१ के चैत्र शुक्ल २ पर, तदनुसार शुक्रवार १० मार्च, ई० सन् ३३८ पर, अथवा अग्रेजी पचाग के अनुसार शनिवार ११ मार्च पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ३३९°५४' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय उत्तरा-भाद्रपद मे था और उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा भाद्रपद नाम दिया गया होगा। बृहस्पति का अगला उदय शक सवत् २६२ के ज्येष्ठ कृष्ण ११ पर, तदनुसार मगलवार, १७ अप्रैल ई० सन् ३३९ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, बुधवार, १८ अप्रैल पर हुआ। उस समय उसका देशान्तर १६०°३४' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार वह भरणी मे था और उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत् को महा आश्वयुज नाम दिया गया होगा। तदनुसार, इस सवत् काल को ग्रहण करने पर, एव प्रस्तावित किए गए सशोधित पाठ को मानने पर भी, प्रदत्त तिथि पर महा आश्वयुज सवत्सर नही प्रचलित था, यह अनुवर्ती वर्ष की उसी तिथि पर प्रचलित था।

मध्यक राशि पद्धति तथा गुप्त सवत् १६३ के मूल पाठ को ग्रहण करने पर, महा आश्वयुज सवत्सर प्रचलित शक सवत् २४६ के माघ शुक्ल २ पर, तदनुसार वृहस्पतिवार, १२ जनवरी ईसवी सन् ३२७ पर प्रारम्भ हुआ, एव यह शक सवत् २५० के माघ शुक्ल ६ पर, तदनुसार सोमवार, ८ जनवरी, ईसवी सन् ३२८ पर महा कार्तिक द्वारा अनुसृत हुआ, परिणामत यह प्रदत्त तिथि पर नही प्रचलित था। उस समय महा मार्गशीर्ष सवत्सर प्रचलित था जो प्रचलित शक सवत् २५१ के फाल्गुन कृष्ण १ पर, तदनुसार शुक्रवार, ३ जनवरी, ईसवी सन् ३२९ पर प्रारम्भ हुआ। गुप्त सवत् १७३ के प्रस्तावित किए गए संशोधित पाठ को ग्रहण करने पर, महा आश्वयुज सवत्सर प्रचलित शक सव· कृष्ण ६ पर तदनुसार बुधवार २२ नवम्बर, ई० सन् ३३८ पर प्रारम्भ हुआ, और यह शक सवत् २६२ के मार्गशीर्ष शुक्ल १ पर, तदनुसार रविवार, १८ नवम्बर, ईसवी सन् ३३९ पर महा कार्तिक सवत्सर द्वारा अनुसृत हुआ। तदनुसार, इस सवत्-काल को ग्रहण करने पर, और इस पद्धति के अनुसार, तथा प्रस्तावित सशोधित पाठ को मानने पर, प्रदत्त तिथि पर महा आश्वयुज सवत्सर प्रचलित था। किन्तु मूल पाठ के प्रस्तावित परिवर्तन का औचित्य नही स्थापित किया जा सकता।

सर ई० क्लाइव बेले द्वारा प्रस्तावित १६०–६१ ई० के सवत्-काल को ग्रहण करने पर, तथा गुप्त सवत् १६३ के मूल पाठ को स्वीकार करने पर, प्रदत्त तिथि प्रचलित शक सवत् २७६ मे पडेगी तथा इसका अग्रेजी समरूप सोमवार २२ फरवरी, ईसवी सन् ३५३ होगा। इसमे प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व के वृहस्पति का उदय शक सवत् २७५ के आषाढ कृष्ण १२ पर, तदनुसार बुधवार २७ मई, ईसवी सन् ३५२ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, वृहस्पतिवार २८ मई पर पडेगा। उस समय उसका देशान्तर ५७°१२′ था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय मृग मे था और उस समय प्रारभ होने वाले सवत्सर को महा मार्गशीर्ष नाम दिया गया होगा। वृहस्पति का अगला उदय शक सवत् २७६ के आषाढ शुक्ल १३ पर, तदनुसार वृहस्पतिवार १ जुलाई ईसवी सन् ३५३ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, शुक्रवार २ जुलाई पर हुआ। उस समय उसका देशान्तर ६१°१६′ था। तीनो पद्धतिया के अनुसार, उस समय वह पुनर्वसु मे था तथा उस समय प्रारभ होने वाले सवत्सर को महा पौष नाम दिया गया होगा। तदनुसार, इस सवत्-काल को ग्रहण करने पर तथा लेख के वास्तविक पाठ को लेने पर, प्रदत्त तिथि पर महा आश्वयुज सवत्सर नही प्रचलित था। वस्तुत इस चक्र के महा–आश्वयुज सवत्सर को छोड दिया गया होगा। इस प्रकार, प्रचलित शक सवत् २७३ मे वृहस्पति का उदय वैशाख कृष्ण ६ पर, तदनुसार शुक्रवार १६ मार्च ईसवी सन् ३५० पर, अथवा अग्रेजी पचाग के अनुसार शनिवार १७ मार्च पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ३४५°१०′ था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय उत्तरा–भाद्रपदा मे था तथा उस समय प्रारभ होने वाले सवत्सर को महा–भाद्रपद नाम दिया गया होगा। उसका दूसरा उदय शक सवत् २७४ के वैशाख शुक्ल १० पर, तदनुसार सोमवार, २२ अप्रैल ईसवी सन् ३५१ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, मगलवार, २३ अप्रैल को घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर २१°३५′ था। समान अन्तरालो की पद्धति के अनुसार, वह उस समय भरणी मे था, तथा उस समय प्रारभ होने वाला सवत्सर महा आश्वयुज कहा जाएगा, एव आगामी सवत्सर महा कार्तिक का लोप होगा। किन्तु, असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय कृत्तिका मे था तथा उस समय प्रारभ होने वाला सवत्सर महा कार्तिक कहा जाएगा, एव बीच मे आने वाले सवत्सर महा आश्वयुज का लोप होगा। इसी सवत्-काल को, तथा गुप्त सवत् १७३ के प्रस्तावित सशोधित पाठ को (द्र० लेख स० २२ की सबद्ध टिप्पणी) ग्रहण करने पर, प्रदत्त तिथि प्रचलित शक सवत् २८६ मे पडेगी, तथा इसका अग्रेजी समरूप मगलवार ४ मार्च, ईसवी सन् ३६३ होगा। इसमे, प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व के वृहस्पति का उदय शक सवत् २८५ के चैत्र शुक्ल ६ पर, तदनुसार २१ मार्च, ईसवी सन् ३६२ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार,

शुक्रवार २२ मार्च पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ३५°११' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय रेवती में था तथा उस समय प्रारभ होने वाले सवत्सर को महा आश्वयुज नाम दिया गया होगा। बृहस्पति का दूसरा उदय शक सवत २८६ के ज्येष्ठ कृष्ण १२ पर, तदनुसार रविवार २७ अप्रैल, ईसवी सन् ३६३ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, सोमवार, २८ अप्रैल पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ६६°३५' था। असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय कृत्तिका मे था तथा उस समय प्रारभ होने वाले सवत्सर को महा कार्त्तिक नाम दिया गया होगा। समान अन्तरालो की पद्धति के अनुसार वह उस समय भरणी मे था, और, इस पद्धति के अनुसार, उस समय प्रारभ होने वाले सवत्सर को महा आश्वयुज नाम दिया गया होगा, जिससे यह ज्ञात होता है कि, इस पद्धति के अनुसार, इस अवधि मे एक सवत्सर की पुनरावृत्ति हुई थी। तदनुसार, इस सवत्-काल, तथा प्रस्तावित सशोधित पाठ को ग्रहण करने पर, प्रदत्त तिथि पर महा आश्वयुज सवत्सर प्रचलित था। किन्तु यह एक सयोगमात्र है तथा प्रारभिक पाठ के प्रस्तावित सशोधन का औचित्य नही स्थापित किया जा सकता।

मध्यक राशि पद्धति के अनुसार तथा गुप्त सवत् १६३ के प्रारभिक पाठ को ग्रहण करने पर, महा आश्वयुज सवत्सर प्रचलित शक सवत् २७३ के कार्तिक कृष्ण १ पर, तदनुसार बुधवार, ३ अक्तूबर, ईसवी सन् ३५० पर प्रारभ हुआ, तथा यह शक सवत् २७४ के कार्तिक कृष्ण ८ पर, तदनुसार रविवार २६ सितम्बर ईसवी सन् ३५१ पर महा कार्तिक सवत्सर द्वारा अनुसृत हुआ, और, परिणामत यह प्रदत्त तिथि पर नही प्रचलित था। उस समय प्रचलित सवत्सर महा मार्गशीर्ष था, जो प्रचलित शक सवत् २७५ के कार्तिक कृष्ण १५ पर, तदनुसार बृहस्पतिवार २४ सितम्बर, ईसवी सन् ३५२ पर प्रारम हुआ। गुप्त सवत् १७३ के प्रस्तावित सशोधित पाठ को ग्रहण करने पर, महा आश्वयुज सवत्सर प्रचलित शक सवत् २८५ के भाद्रपद शुक्ल ७ पर, तदनुसार मगलवार, १३ अगस्त, ईसवी सन् ३६२ पर प्रारभ हुआ, तथा यह शक सवत् २८६ के भाद्रपद शुक्ल १३ पर, तदनुसार शनिवार ६ अगस्त, ईसवी सन् ३६३ पर महा कार्तिक सवत्सर द्वारा अनुसृत हुआ। तदनुसार, इस सवत्-काल को ग्रहण करने पर, और इस पद्धति के अनुसार भी, तथा प्रस्तावित सशोधित पाठ को स्वीकार करने पर, प्रदत्त तिथि पर महा आश्वयुज सवत्सर प्रचलित था। किन्तु प्रारभिक पाठ मे किए गए परिवर्तन का औचित्य नही स्थापित किया जा सकता।

(ग) — १९१ वर्ष की तिथियुक्त मझगवां दानलेख

अगला अभिलेख सप्रति जिसका परीक्षण अभिप्रेत है, महाराज हस्तिन् का मझगवा दानलेख ("म० २३) है, जिसमे यह तिथि दी गई है एकनवत्युत्तरेऽब्द-शते गुप्तनृपराज्य-भुक्तौ श्रीमति प्रवर्धमानमहाचैत्रसवत्सरे माघमासवहुलपक्षतृतीयायाम्—एक सौ इक्यानवे वर्ष मे, गुप्त शासको के प्रभुसत्ता-भोग-काल में, श्री सम्पन्नता मे वृद्धिमान महा चैत्र सवत्सर में, माघ मास के कृष्ण पक्ष के तृतीय चान्द्र दिवस पर। तथा, अन्त मे पक्ति २१ में तिथि को दुहराया गया है माघ दि ३—"माघ (मास), (सौर) दिवस ३"।

इस लेख से हमे गणना के लिए यह तथ्य विशेष प्राप्त होता है कि प्रचलित गुप्त सवत् १९१ मे माघ मास (जनवरी-फरवरी) के कृष्ण पक्ष की तृतीया तिथि अथवा चान्द्र दिवस पर महा-चैत्र सवत्सर प्रचलित था। तथा, वलभी सवत् ९४५ की तिथियुक्त वेरावल अभिलेख की समवृत्तिता के आधार पर यह स्थिति गुप्त सवत् १९१+२४२=प्रचलित शक सवत् ४३३ मे होनी चाहिए, जिस वर्ष मे प्रदत्त तिथि के समरूप के रूप मे सोमवार, ३ जनवरी, ईसवी सन् ५११ प्राप्त होता है।

श्री श० ब० दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं (द्र ऊपर, पृ० १०५-१०६, सारणी ४,स्तम्भ द) कि प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व के बृहस्पति का उदय उसी वर्ष अर्थात् शक सवत् ४३३ के आश्विन शुक्ल ११ पर, तदनुसार बुधवार २९ सितम्बर ईसवी सन् ५१० पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार,बृहस्पतिवार ३० सितम्बर को घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १७७°४७′ था। असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार वह उस समय चित्रा मे था तथा उस समय प्रारभ होने वाले संवत्सर को महा चैत्र नाम दिया गया होगा। बृहस्पति का अगला उदय शक सवत् ४३४ के मार्गशीर्ष कृष्ण ७ पर, तदनुसार शनिवार, २९ अक्टूबर, ईसवी सन् ५११ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, रविवार, ३० अक्टूबर पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर २०७°४१′ था। असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय विशाखा मे था तथा उस समय प्रारभ होने वाले सवत्सर को महा वैशाख नाम दिया गया होगा। अतएव, असमान अन्तरालो की दोनों पद्धतियो के अनुसार, तथा प्रचलित गुप्त एव शक सवतो के बीच दो सौ बयालीस वर्षों का स्थायी अन्तर लेने पर, **महा चैत्र संवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था।** तथा यह निष्कर्ष प्रदत्त गुप्त वर्ष के समरूप के रूप मे प्रचलित शक सवत् ४३३(ईसवी सन् ५१०-११) प्रदान करता है।

ऊपर दिए गए (ख) लेख के समान, इस दृष्टान्त मे भी प्रदत्त सवत्सर प्रदत्त तिथि पर न तो पूर्ववर्ती वर्ष, शक सवत् ४३२, मे प्रचलित था और न ही यह अनुवर्ती वर्ष, शक सवत् ४३४, मे प्रचलित था। अतएव, इस दृष्टान्त मे भी प्राप्त निष्कर्ष न केवल **प्रचलित गुप्त तथा शक वर्षों के बीच दो सौ बयालीस वर्षों के स्थायी अन्तर से मेल खाता है अपितु यह इसे सिद्ध भी करता है।**

३३० वर्ष की तिथियुक्त धरसेन चतुर्थ के कैर दानलेख की समवृत्तिता के आधार पर, तथा उत्तरी शक वर्ष के प्रारभ के ठीक पूर्व के कार्तिक मास से प्रारभ होने वाले वर्ष को लेने पर गुप्त संवत् १९१ मे पडने वाली प्रदत्त तिथि माघ कृष्ण ३,शक सवत् ४३२ मे पडेगी। उस स्थिति मे यह लेखांकित शक सवत् ४३३ के आश्विन शुक्ल ११ पर पडने वाले सवत्सर के प्रारभ के साढे आठ महीने पहले पडेगी। अत, ऊपर चर्चित (क) लेख के समान, यह लेख हमारी उत्तरी शक वर्ष के प्रारभ के ठीक पूर्व के कार्तिक मास से प्रारभ होने वाले दक्षिणी **विक्रम वर्ष की योजना से सबद्ध होने की सम्भावना का निराकरण करता है।**

पुन इसी लेख की समवृत्तिता के आधार पर, तथा उत्तरी शक वर्ष के प्रारभ के ठीक पूर्व के मार्गशीर्ष से प्रारभ होने वाले वर्ष को लेने पर, प्रदत्त तिथि समानरूपेण शक सवत् ४३२ मे पडेगी, तथा, समानरूपेण, लेखाकित सवत्सर के साढे आठ महीने पूर्व पडेगी। अतएव, यह लेख हमारे उत्तरी शक वर्ष के प्रारभ के ठीक पूर्व के **मार्गशीर्ष मास से प्रारम्भ होने वाले किसी वर्ष–उत्तरी अथवा दक्षिणी –से स बद्ध होने की सभावना का भी निराकरण करता है।**

मध्यक राशि-पद्धति के अनुसार, महा चैत्र सवत्सर प्रचलित शक सवत् ४३३ के मार्गशीर्ष शुक्ल १ पर, तदनुसार बृहस्पतिवार, १८ नवम्बर, ईसवी सन् ५१० पर प्रारभ हुआ, तथा, यह शक सवत् ४३४ के मार्गशीर्ष शुक्ल ८ पर, तदनुसार सोमवार, १४ नवम्बर, ईसवी सन् ५११ पर महा-वैशाख द्वारा अनसृत हुआ। तदनुसार, इस पद्धति के अनुसार भी, **महा चैत्र सवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था।**

जनरल कनिंघम द्वारा प्रस्तावित १६५-६७ ई० का सवत्-काल ग्रहण करने पर प्रदत्त तिथि प्रचलित शक सवत् २८० मे पडेगी, तथा इसका अग्रेजी समरूप मगलवार,१६ दिसम्बर, ईसवी सन् ३५७ होगा। श्री श० ब० दीक्षित का यह निष्कर्ष है कि प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व के बृहस्पति का उदय उसी वर्ष अर्थात् शक सवत् २८० के मार्गशीर्ष शुक्ल ४ पर, तदनुसार रविवार २ नवम्बर, ईसवी

सन् ३५७ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, सोमवार ३ नवम्बर पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर २१३°३१' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, उस समय वह अनुराधा मे था तथा उस समय प्रारभ होने वाले सवत्सर को महा वैशाख नाम दिया गया होगा। वृहस्पति का अगला उदय शक सवत् २८१ के पौष कृष्ण २ पर, तदनुसार शुक्रवार ४ दिसम्बर ईसवी सन् ३५८ पर अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, शनिवार ५ दिसम्बर पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर २४४°४६' था। समान अन्तरालो की पद्धति के अनुसार तथा असमान अन्तरालो की गर्ग-पद्धति के अनुसार, वह उस समय मूल मे था, तथा उस समय प्रारभ होने वाले सवत्सर को, इन दोनो पद्धतियो के अनुसार, महा ज्येष्ठ नाम दिया गया होगा। असमान अन्तरालो की ब्रह्म-सिद्धान्त पद्धति के अनुसार, वह उस समय पूर्वा-आपाढा मे था तथा बीच मे आने वाले सवत्सर महा ज्येष्ठ का लोप हो जाने के कारण उस समय प्रारभ होने वाले सवत्सर को, इस पद्धति के अनुसार, महा आपाढ नाम दिया गया होगा। तदनुसार, इस सवत् काल को ग्रहण करने पर, महा चैत्र सवत्सर प्रदत्त तिथि पर नही प्रचलित था। महा चैत्र सवत्सर के प्रारभ के लिए, हमें शक सवत् २७६ के कार्तिक कृष्ण ७ पर, तदनुसार वृहस्पतिवार, ३ अक्टूबर ईसवी सन् ३५६, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, शुक्रवार ४ अक्टूबर पर पडने वाले वृहस्पति के उदय तक पीछे जाना पडेगा, जबकि उसका देशान्तर १८३°३३' था तथा तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह चित्रा में था। और, इस प्रकार, प्रदत्त सत्वसर उसी तिथि पर पूर्ववर्ती वर्ष मे प्रचलित था।

मध्यक राशि-पद्धति के अनुसार, महा चैत्र सवत्सर प्रचलित शक सवत् २७६ के आश्विन कृष्ण ११ पर, तदनुसार शनिवार ७ सितम्बर ईसवी सन् ३५६ पर प्रारम्भ हुआ तथा यह शक सवत् २८० के आश्विन शुक्ल ३ पर, तदनुसार बुधवार ३ सितम्बर ईसवी सन् ३५७ पर महा वैशाख द्वारा अनुसृत हुआ, तथा स्वय महा वैशाख सवत्सर शक संवत् २८१ के अधिकमासीय आश्विन शुक्ल १० पर, तदनुसार रविवार ३० अगस्त, ईसवी सन् ३५८ पर महा ज्येष्ठ द्वारा अनुसृत हुआ। तदनुसार, यह सवत्-काल ग्रहण करने पर, तथा इस पद्धति के अनुसार भी, महा चैत्र संवत्सर प्रदत्त तिथि पर नही प्रचलित था, इस समय प्रचलित सवत्सर महा वैशाख था।

सर ई० क्लाइव बेले द्वारा प्रस्तावित १६०-१६१ ई० के सवत-काल को ग्रहण करने पर, प्रदत्त तिथि प्रचलित शक सवत् ३०४ में पडेगी तथा इसका अग्रेजी समरूप सोमवार २० दिसम्बर, ईसवी सन् ३८१ होगा। इनमे प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व के वृहस्पति का उदय उसी वर्ष अर्थात् ३०४ के मार्गशीर्ष शुक्ल ८ पर, तदनुसार वृहस्पतिवार ११ नवम्बर, ईसवी सन् ३८१ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, शुक्रवार, १२ नवम्बर पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर २२२°०८' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय अनुराधा मे था, तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा वैशाख नाम दिया गया होगा। वृहस्पति का अगला उदय शक सवत् ३०५ के माघ कृष्ण ८ पर, तदनुसार बुधवार १४ दिसम्बर ईसवी सन् ३८२ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, वृहस्पतिवार १५ दिसम्बर पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर २५४°०१' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय पूर्व-आपाढा मे था और उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को—बीच मे आने वाले सवत्सर महा ज्येष्ठ का लोप होने के कारण—महा-आपाढ नाम दिया गया होगा। तदनुसार, इस सवत्-काल को ग्रहण करने पर भी महा चैत्र सवत्सर प्रदत्त तिथि पर नही प्रचलित था। महा चैत्र सवत्सर के प्रारम्भ के लिए हमे शक सवत् ३०३ के कार्तिक कृष्ण १२ पर, तदनुसार रविवार ११ अक्टूबर ईसवी सन् ३८० पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, सोमवार, १२ अक्टूबर, ईसवी सन् ३८० पर पडने वाले वृहस्पति के उदय तक पीछे जाना होगा, जबकि उसका देशान्तर १६१°०२' था, तथा,

दोनो पद्धतियो के अनुसार, वह स्वाति मे था और, इस प्रकार, प्रदत्त सवत्सर इसी तिथि पर पूर्ववर्ती वर्ष मे प्रचलित था।

मध्यक राशि-पद्धति के अनुसार, महा चैत्र सवत्सर प्रचलित शक सवत् ३०३ के अधिक-मासीय आषाढ शुक्ल ८ पर, तदनुसार बृहस्पतिवार २८ मई, ईसवी सन् ३८० पर प्रारम्भ हुआ, तथा यह शक सवत् ३०४ के ज्येष्ठ शुक्ल १५ पर, तदनुसार सोमवार २४ मई, ईसवी सन् ३८१ पर महा-वैशाख द्वारा अनुसृत हुआ, स्वय महा वैशाख शक सवत् ३०५ के आषाढ कृष्ण ६ पर, तदनुसार शुक्रवार, २० मई, ईसवी सन् ३८२ पर महा ज्येष्ठ द्वारा अनुसृत हुआ। तदनुसार, इस सवत्-काल को ग्रहण करने पर भी, तथा पुन इस पद्धति के अनुसार, महा चैत्र संवत्सर प्रदत्त तिथि पर नही प्रचलित था, तथा, इस समय प्रचलित संवत्सर महा वैशाख था।

(घ)—२०९ वर्ष की तिथियुक्त खोह दानलेख

अगला लेख जिस पर विचार किया जाएगा महाराजा संक्षोभ का खोह दान लेख (स० २५) है, जिसमे यह तिथि (पक्ति १ इ०) मिलती है नवोत्तरेऽब्दशतद्वये गुप्तनृपराज्य भुक्तौ श्रीमति प्रवर्धमानविजयराज्ये महाश्वयुज सवत्सरे चैत्रमासशुक्लपक्ष त्रयोदश्याम्—"दो सौ नौ वर्ष मे, गुप्त शासको के प्रभुसत्ता-भोगकाल मे, श्री सम्पन्न, वृद्धयोन्मुख तथा जयी शासनकाल मे; महा आश्वयुज सवत्सर मे, चैत्र मास के शुक्ल पक्ष के तेरहवें दिवस पर"। तथा, अन्त मे पक्ति २४ में तिथि को दुहराया गया है —चैत्र दि २० ७–"चैत्र (मास), (सौर) दिवस २० (और) ७"।

इससे हमे गणना के लिए यह तथ्य विशेष प्राप्त होता है कि प्रचलित गुप्त सवत् २०९ मे चैत्र (मार्च-अप्रेल) के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी तिथि अथवा चान्द्र दिवस पर महा आश्वयुज संवत्सर प्रचलित था। तथा, वलभी सवत् ९४५ की तिथियुक्त वेरावल अभिलेख की समवृत्तिता के आधार पर, यह स्थिति गुप्त सवत् २०९+२४२=प्रचलित शक सवत् ४५१ मे होगी, जिस वर्ष मे प्रदत्त तिथि की समरूप तिथि रविवार १९ मार्च ईसवी सन् ५२८ है।

श्री श० व० दीक्षित का निष्कर्ष है (द्र० ऊपर पृ० १०५-१०६, सारणी ४, स्तभ ई) कि प्रदत्त तिथि के पूर्व के बृहस्पति का उदय उसी वर्ष अर्थात् शक सवत् ४५१ के चैत्र शुक्ल १२ पर, तदनुसार शनिवार, १८ मार्च, ईसवी सन् ५२८ पर अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, रविवार १९ मार्च पर घटित हुआ; इसका अर्थ यह हुआ कि यह दान किए जाने के ठीक पहले उष काल मे घटित हुआ।[1] उस समय उसका देशान्तर ३४७°४५' था। असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय रेवती मे था, तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा आश्वयुज नाम दिया गया होगा। बृहस्पति का अगला उदय शक सवत् ४५२ के ज्येष्ठ शुक्ल ३ पर, तदनुसार बृहस्पति-वार, २६ अप्रेल, ईसवी सन् ५२९ पर अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, शुक्रवार २७ अप्रेल पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर २८°३९' था। असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय कृत्तिका मे था, तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा कार्त्तिक नाम दिया गया होगा। अतएव, असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार, तथा प्रचलित गुप्त एव शक वर्षो के बीच दो सौ बयालीस वर्षो का स्थायी अन्तर मानने पर, महा आश्वयुज संवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था। तथा, यह निष्कर्ष प्रदत्त प्रचलित गुप्त वर्ष के समरूप के रूप मे प्रचलित शक सवत् ४५१ (ईसवी सन् ५२८–२९) प्रदान करता है।

---

१ सभवत इसी कारण विशेष को ध्यान मे रखते हुए दान करने के लिए विशेष रूप से प्रदत्त तिथि का चयन किया गया, क्योंकि हिन्दुओ द्वारा सवत्सर का प्रारम्भ एक शुभ अवसर माना जाता है।

वास्तव मे, महा आश्वयुज संवत्सर अनुवर्ती वर्ष, शक सवत् ४५२, मे प्रदत्त तिथि चैत्र शुक्ल १३ पर अभी भी प्रचलित था। साथ ही यह शक सवत् ४५१ मे भी प्रचलित था, जो कि प्रदत्त गुप्त वर्ष का वास्तविक समरूप है। परिणामत, इस लेख का प्रयोग प्रचलित गुप्त तथा शक वर्षों के बीच दो सौ बयालीस वर्षों के अन्तर तथा दो सौ तैंतालीस वर्षों के स्थायी अन्तर-दोनो सिद्ध करने के लिए किया जा सकता है। किन्तु, ऊपर पृ० १०८ पर, गुप्त सवत् १५६ की तिथियुक्त (क) लेख के प्रसग मे प्रकाशित मेरे विचारो द्वारा इस सभावना का निराकरण किया जा चुका है।

३३० वर्ष की तिथियुक्त धरसेन चतुर्थ के कैर लेख की समवृत्तिता के आधार पर, तथा उत्तरी शक वर्ष के प्रारम्भ के ठीक पूर्व के कार्त्तिक मास अथवा मार्गशीर्ष मास से प्रारम्भ होने वाले किसी वर्ष को लेने पर, गुप्त सवत् २०६ मे प्रदत्त तिथि चैत्र शुक्ल १३, शक सवत् ४०५ मे ही पडेगी। किन्तु ऊपर पृष्ठ १०८ तथा ११४ पर (क) तथा (ग) लेखो की तिथियो की चर्चा के प्रसग मे प्राप्त निष्कर्षों से हमारे लिए उत्तरी शक वर्ष के प्रारम्भ के ठीक पूर्व के कार्त्तिक मास से प्रारम्भ होने वाले दक्षिणी विक्रम सवत् की योजना की प्रासगिकता की सभावना का निराकरण होता है तथा (ग) लेख की तिथि के प्रसग मे प्राप्त निष्कर्ष हमारे लिए उत्तरी शक वर्ष के प्रारम्भ के ठीक पूर्व के मार्गशीर्ष मास से प्रारम्भ होने वाले वर्ष—उत्तरी अथवा दक्षिणी—की प्रासगिकता की सभावना का भी निराकरण करता है।

मध्यक राशि-पद्धति के अनुसार, महा आश्वयुज सवत्सर प्रचलित शक सवत् ४५१ के आश्विन शुक्ल ३, तदनुसार शनिवार २ सितम्बर, ईसवी सन् ६२८ तक नही प्रारम्भ हुआ था और परिणामस्वरूप यह प्रदत्त तिथि पर नहीं प्रचलित था। उस समय प्रचलित सवत्सर महा भाद्रपद था, जो शक सवत् ४५० के भाद्रपद कृष्ण ११ पर, तदनुसार मगलवार ७ सितम्बर, ईसवी सन् ५२७ पर प्रारम्भ हुआ।

जनरल कनिंघम द्वारा प्रस्तावित १६६–६७ ई० के सवत्-काल को ग्रहण करने पर, प्रदत्त तिथि प्रचलित शक सवत् २९८ मे पडेगी, तथा इसका अग्रेजी समरूप सोमवार २ मार्च, ईसवी सन् ३७५ होगा। श्री श०ब० दीक्षित का निष्कर्ष है कि प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व के बृहस्पति का उदय शक सवत् २९७ के वैशाख कृष्ण १२ पर, तदनुसार बुधवार २६ मार्च, ईसवी सन् ३७४ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, बृहस्पतिवार २७ मार्च पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ३५५°१' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय रेवती में था, तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा-आश्वयुज नाम दिया गया होगा। बृहस्पति का अगला उदय शक सवत् २९८ के ज्येष्ठ कृष्ण १ पर, तदनुसार रविवार ३ मई, ईसवी सन् ३७५ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, सोमवार ४ मई पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ३१°४९ था। तीनो पद्धतियो के अनुसार वह उस समय कृत्तिका मे था तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा कार्तिक नाम दिया गया होगा। तदनुसार, इस सवत्-काल को ग्रहण करने पर, महा आश्वयुज सवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था। किन्तु यह एक सयोगमात्र है। जैसाकि हम ऊपर पृ० १०९ पर देख चुके हैं, इसी प्रकार का सयोग (क) लेख की तिथि के विषय मे मिलता है, किन्तु (ख) तथा (ग) लेखो के विषय में यह सयोग नहीं दिखाई देता।

मध्यक राशि-पद्धति के अनुसार, महा आश्वयुज सवत्सर प्रचलित शक सवत् २९७ के श्रावण कृष्ण १२ पर, तदनुसार सोमवार २३ जून ईसवी सन् ३७४ पर प्रारम्भ हुआ, तथा यह शक सवत् २९८ के आषाढ शुक्ल ४ पर, तदनुसार शुक्रवार १९ जून ईसवी सन् ३७५ पर महा कार्तिक द्वारा अनुसृत हुआ। तदनुसार इस सवत्-काल को ग्रहण करने पर, तथा इस पद्धति के अनुसार भी, महा-आश्वयुज सवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था।

सर ई० क्लाइव बेले द्वारा प्रस्तावित १६०–६१ ई० के सवत्-काल को ग्रहण करने पर, प्रदत्त तिथि प्रचलित शक सवत् ३२२ मे पडेगी तथा इसका अग्रेजी समरूप रविवार, ६ मार्च ईसवी सन् ३६६ होगा। इसमे प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व के वृहस्पति का उदय शक सवत् ३२१ के वैशाख शुक्ल ३ पर, तदनुसार मगलवार, ६ अप्रेल ईसवी सन् ३६८ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार वुधवार ७ अप्रेल पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ५°२८' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय अश्विनी मे था तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा आश्वयुज नाम दिया गया होगा। वृहस्पति का अगला उदय शक सवत् ३२२ के आषाढ कृष्ण ७ पर, तदनुसार शुक्रवार १३ मई ईसवी सन् ३६६ पर, अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, शनिवार, १४ मई पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ४१°४२' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय रोहिणी मे था तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा कार्तिक नाम दिया गया होगा। तदनुसार, इस सवत्-काल को ग्रहण करने पर भी महा आश्वयुज सवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था। किन्तु यह भी एक सयोग मात्र है। तथा, पुन यह विचारणीय है कि यद्यपि इस प्रकार का सयोग (क) लेख की तिथि के प्रसग मे प्राप्त होता है, किन्तु (ख) तथा (ग) लेखो मे इसका अभाव है।

मध्यक राशि पद्धति के अनुसार, महा आश्वयुज सवत्सर प्रचलित शक सवत् ३२१ के चैत्र शुक्ल १० पर, तदनुसार रविवार १४ मार्च, ईसवी सन् ३६८ पर घटित हुआ, तथा यह शक सवत् ३२२ के वैशाख कृष्ण २ पर, तदनुसार वृहस्पतिवार १० मार्च, ईसवी सन् ३६६ पर महा कार्तिक द्वारा अनुसृत हुआ। तदनुसार, इस सवत्-काल को पुन ग्रहण करने पर, तथा इस पद्धति के अनुसार भी, महा आश्वयुज संवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था।

(ङ)—भुमरा स्तम्भ लेख

इस शृ खला का अतिम अभिलेख महाराज हस्तिन् और महाराज सर्वनाथ का भुमरा स्तम्भ लेख (स० १४) है जिसमें तिथि (पक्ति ७ इ०) यह दी गई है महा माघ सवत्सरे कार्तिक मास दिवस १०६—"महा माघ सवत्सर मे, कार्तिक मास, (सौर दिवस) १० (और) ६"।

यह हमे गणना के लिए यह तथ्य विशेष प्रदान करता है कि कार्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर) के उन्नीसवे सौर दिवस पर महा माघ संवत्सर प्रचलित था। किन्तु, गुप्त सवत् का प्रचलित वर्ष नही दिया गया है। अतएव, निकटवर्ती गुप्त वर्ष के निर्धारण के लिए एकमात्र निर्देशक सूत्र—जिसके लिए गणना की जानी चाहिए—यह तथ्य विशेष है कि इस अभिलेख से यह प्रदर्शित होता है कि इस लेख के समय, परिव्राजक महाराज हस्तिन् उच्चकल्प के महाराज सर्वनाथ का समकालीन था। महाराज हस्तिन् के प्रसग मे हमे गुप्त सवत् १५६ तथा गुप्त सवत् १६१ की दो परस्पर अत्यन्त दूर की तिथिया प्राप्त हैं, जबकि महाराज सर्वनाथ के प्रसग मे हमे १६२ वर्ष तथा २१४ वर्ष की तिथिया प्राप्त हैं; उसके पिता जयनाथ के प्रसग मे १७७ वर्ष की तिथि मिलती है—इन सभी तिथियो को सभवत गुप्त सवत् मे रखना चाहिए। ऐसा मानने पर विचाराधीन सवत्सर को—इस मान्यता के आधार पर कि इस शृ खला मे इसका नियमित स्थान गुप्त सवत् १५६ मे कार्तिक शुक्ल ३ पर प्रचलित महा-वैशाख सवत्सर के वाद किसी विलोपन अथवा पुनरावृत्ति द्वारा नही प्रभावित होगा—गुप्त सवत् १८६ अथवा २०१ मे अथवा इसके लगभग ढूढना चाहिए। इन दो तिथियो मे भी, महाराज हस्तिन् के १५६ वर्ष के प्राचीन तिथि के कारण, १८६ वर्ष अधिक ग्राह्य है।

गुप्त सवत् १८६+२४२=प्रचलित शक सवत् ४३१ के प्रसग मे प्रदत्त तिथि, अर्थात् कार्तिक मास का उन्नीसवा दिवस, सोमवार, १३ अक्टूबर, ईसवी सन् ५०८ से सगत बैठती है। श्री श० बं० दीक्षित का निष्कर्ष है (द्र० ऊपर पृ० १०५-१०६, सारणी, ४,स्तम्भ उ१) कि प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व के

वृहस्पति का उदय उसी वर्ष अर्थात् शक सवत् ४३१ के श्रावण शुक्ल १५ पर, तदनुसार सोमवार २८ जुलाई, ईसवी-सन् ५०८ पर अथवा, अंग्रेजी पचाग के अनुसार, मगलवार, २६ जुलाई पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ११७°४' था। असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय मघा मे था तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा माघ नाम दिया गया होगा। वृहस्पति का अगला उदय शक सवत् ४३२ के आश्विन कृष्ण १३ पर, तदनुसार शनिवार, २६ अगस्त, ईसवी सन् ५०६ पर, अथवा, अंग्रेजी पचाग के अनुसार, रविवार, ३० अगस्त पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १४७°८६' था। असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय उत्तरा-फल्गुनी मे था, तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा फाल्गुन नाम दिया गया होगा। अतएव, असमान अन्तरालों की दोनो पद्धतियो के अनुसार, गुप्त सवत् १८६ मे—प्रचलित गुप्त तथा शक वर्षों के बीच दो सौ बयालीस वर्षों का अन्तर मानने पर—महा माघ सवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था। और यह निष्कर्ष सभावित प्रचलित गुप्त वर्ष के समरूप के रूप मे प्रचलित शक सवत् ४३१ (ईसवी सन् ५०८–०६) प्रदान करता है।

पुन, गुप्त सवत् २०१ + २४२ = प्रचलित शक सवत् ४४३ के प्रसग मे प्रदत्त तिथि, अर्थात् कार्तिक मास का उन्नीसवा दिवस, शुक्रवार, २ अक्टूबर, ईसवी सन् ५२० से सगत बैठती है। श्री श० व० दीक्षित का निष्कर्ष है (द्र०, ऊपर पृ० १०५-१०६, सारणी ४, स्तम्भ उ २) कि प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व के वृहस्पति का उदय उसी वर्ष अर्थात् शक संवत् ४४३ के भाद्रपद शुक्ल ३ पर, तदनुसार, रविवार २ अगस्त, ईसवी सन् ५२० पर, अथवा, अंग्रेजी पचाग के अनुसार, सोमवार, ३ अगस्त पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १२१°३०' था। असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय मघा मे था, तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा माघ नाम दिया गया होगा। वृहस्पति का अगला उदय शक सवत् ४४४ के आश्विन कृष्ण १ पर, तदनुसार शुक्रवार, ३ सितम्बर, ईसवी सन् ५२१ पर, अथवा, अंग्रेजी पचाग के अनुसार, शनिवार, ४ सितम्बर पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १५२°१७' था। असमान अन्तरालों की दोनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय उत्तरा-फाल्गुनी मे था तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा फाल्गुन नाम दिया गया होगा। अतएव, असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार, गुप्त सवत् २०१ मे भी—प्रचलित गुप्त तथा शक वर्षों के बीच दो सौ बयालीस वर्षों का स्थायी अन्तर मानने पर—महा माघ सवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था। तथा यह निष्कर्ष सभावित प्रचलित गुप्त वर्ष के समरूप के रूप मे प्रचलित शक संवत् ४४३ (ईसवी सन् ५२०–२१) प्रदान करता है।

गुप्त सवत् १८६ तथा गुप्त सवत् २०१, इन दो वर्षों के प्रसग मे प्राप्त निष्कर्ष, अपेक्षानुसार, प्रचलित गुप्त तथा शक वर्षों के बीच के दो सौ बयालीस वर्षों के स्थायी अन्तर से मेल खाते हैं। किन्तु ये स्वत इसे सिद्ध नहीं करते जिसका कारण यह है कि लेख मे प्रचलित गुप्त सवत् का उल्लेख ही नही है। जो महत्वपूर्ण बात है, वह यह है कि इन दो चक्रो में से किसी में भी महा माघ सवत्सर का लोप नही हुआ था।

यदि उच्चकल्प के महाराजाओ के दानलेखो मे अकित तिथियों को कल्चुरि सवत् में रखा जाय[1], तब इस लेख का महा माघ सवत्सर ऊपर दिए गए दो वर्षों मे प्रथम की अपेक्षा एक अथवा दो चक्र पूर्व पड़ेगा। इसमे भी, यह लेख वास्तविक सवत्-काल के विषय मे कोई पूर्णनिश्चित प्रमाण नही देता, तथा, एकमात्र महत्वपूर्ण तथ्य जिसे ध्यान मे रखना है वह यह है कि महा माघ संवत्सर का विचाराधीन दोनो चक्रो मे से किसी मे भी विलोपन नही हुआ था। श्री श० व० दीक्षित

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ८६।

का निष्कर्ष है कि गुप्त सवत् १६५+२४२=प्रचलित शक सवत् ४०७ मे बृहस्पति का उदय श्रावण शुक्ल १० पर,तदनुसार बृहस्पतिवार १६ जुलाई, ईसवी सन् ४८४ पर अथवा, अंग्रेजी पचाग के अनुसार, शुक्रवार २० जुलाई पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १०८°१६' था। असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय अश्लेषा मे था, तथा उस समय जो सवत्सर प्रारम्भ हुआ तथा जो उस वर्ष मे समूचे कार्तिक मास मे प्रचलित रहा, उसे महा माघ नाम दिया गया होगा। पुन, गुप्त सवत् १७७+२४२=प्रचलित शक सवत् ४१६ में बृहस्पति का उदय भाद्रपद कृष्ण १३ पर, तदनुसार बुधवार २४ जुलाई ईसवी सन् ४६६ पर, अथवा, अंग्रेजी पचाग के अनुसार, बृहस्पतिवार २५ जुलाई पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ११२°४८' था। असमान अन्तरालो की ब्रह्म-सिद्धान्त-पद्धति के अनुसार वह उस समय मघा में था, तथा गर्ग-पद्धति के अनुसार वह उस समय अश्लेषा मे था, एव दोनो पद्धतियों के अनुसार, उस समय जो सवत्सर प्रारम्भ हुआ तथा जो उस वर्ष मे समूचे कार्तिक मास मे प्रचलित था, उसे महा माघ नाम दिया गया होगा। अतएव, असमान-अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार, गुप्त सवत् १६५ तथा गुप्त सवत् १७७ मे भी, प्रचलित गुप्त तथा शक वर्षों के बीच दो सौ बयालीस वर्षों का स्थायी अन्तर मानने पर महा माघ सवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था। तथा इसका विलोपन नही हुआ था। और, ये निष्कर्ष सभवत, प्रचलित गुप्त वर्ष के समरूप के रूप मे हमे प्रचलित शक सवत् ४०७ (ईसवी सन् ४८४-८५) अथवा प्रचलित शक सवत् ४१६ (ईसवी सन् ४६६-६७) प्रदान करते है।

मध्यक राशि-पद्धति के अनुसार, गुप्त सवत् १६६+२४२=प्रचलित शक सवत् ४०८ मे महा माघ सवत्सर चैत्र शुक्ल ५ पर, तदनुसार बृहस्पतिवार ७ मार्च, ईसवी सन् ४८५ पर प्रचलित था, तथा, यह उस वर्ष के समूचे कार्तिक मास मे प्रचलित रहा। यह शक सवत् ४०६ के चैत्र शुक्ल १२ पर, तदनुसार सोमवार, ३ मार्च, ईसवी सन् ४८६ पर महा फाल्गुन द्वारा अनुसृत हुआ। पुन गुप्त सवत् १७७+२४२=प्रचलित शक सवत् ४१६ मे महा माघ सवत्सर फाल्गुन कृष्ण १२ पर, तदनुसार बृहस्पतिवार, १६ जनवरी, ईसवी सन् ४६७ पर प्रारम्भ हुआ। यथा यह गुप्त वर्ष १७८ के समूचे कार्तिक मास मे प्रचलित रहा। यह शक सवत् ४२० के माघ शुक्ल ४ पर,तदनुसार सोमवार, १२ जनवरी, ईसवी सन् ४६८ पर महा फाल्गुन द्वारा अनुसृत हुआ। पुन गुप्त संवत् १८६+२४२=प्रचलित शक सवत् ४३१ मे महा माघ सवत्सर पौष कृष्ण ३ पर, तदनुसार बुधवार, २६ नवम्बर, ईसवी सन् ५०८ पर प्रारम्भ हुआ, तथा यह गुप्त सवत् १६० के समूचे कार्तिक मास मे प्रचलित रहा। यह शक सवत् ४३२ के पौष कृष्ण ६ पर, तदनुसार रविवार, २२ नवम्बर, ईसवी सन् ५०६ पर महा फाल्गुन द्वारा अनुसृत हुआ। और इस प्रकार, इस पद्धति के अनुसार भी गुप्त सवत् १६६, १७८ तथा १६० मे, महा माघ सवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था। किन्तु दूसरे चक्र के प्रसग मे ऐसा नही था। गुप्त सवत् २०१+२४२=प्रचलित शक सवत् ४४३ मे महा माघ सवत्सर कार्तिक शुक्ल ६ पर, तदनुसार मगलवार, ६ अक्टूबर, ईसवी सन् ५२० पर प्रारम्भ हुआ तथा यह मास के उन्नीसवें दिन के चार, पाच अथवा छ दिनो बाद पडा, तथा यह शक सवत् ४४४ के कार्तिक कृष्ण १ पर, तदनुसार शनिवार, २ अक्टूबर, ईसवी सन् ५२१ पर-अर्थात् मास के उन्नीसवें दिन के सत्तरह, अट्ठारह अथवा उन्नीस दिन पूर्व—महा-फाल्गुन द्वारा अनुसृत हुआ। और इस प्रकार यद्यपि-प्रदत्त सवत्सर का विलोपन नही हुआ था, तथापि प्रदत्त तिथि इसकी अवधि की सीमाओ के भीतर नही पडी थी।

जनरल कनिंघम द्वारा प्रस्तावित १६६-६७ ई० के सवत्-काल को ग्रहण करने पर, श्री श० व० दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि गुप्त संवत् १८८+ईसवी सन् १६६-६७—ईसवी सन् ३५४-५५=प्रचलित शक सवत् २७७ मे—जिस वर्ष मे प्रदत्त तिथि का अंग्रेजी समरूप शनिवार ८ अक्टूबर ईसवी सन् ३५४ होगा—प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व के बृहस्पति का उदय उसी वर्ष अर्थात्

शक सवत् २७७ के भाद्रपद कृष्ण १२, तदनुसार मगलवार, २ अगस्त, ईसवी सन् ३५४ पर, अथवा, अंग्रेजी पचाग के अनुसार, बुधवार, ३ अगस्त पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १२२°५६' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय मघा मे था, तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा माघ का नाम दिया गया होगा। वृहस्पति का अगला उदय शक सवत् २७८ के आश्विन शुक्ल १२ पर, तदनुसार रविवार, ३ सितम्बर, ईसवी सन् ३५५ पर अथवा, अंग्रेजी पचाग के अनुसार सोमवार, ४ सितम्बर पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १५३°३४' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार वह उस समय उत्तरा-फाल्गुनी मे था और उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा-फाल्गुन नाम दिया गया होगा। तदनुसार, इस सवत्-काल को ग्रहण करने पर तथा गुप्त सवत् १८८ को अभिप्रेत प्रचलित वर्ष मानने पर, महा माघ सवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था। किन्तु इस लेख से सवत्-काल को सिद्ध करने मे सहायता नही मिलती क्योंकि लेख प्रचलित गुप्त वर्ष का स्पष्ट उल्लेख नही करता, एव किसी भिन्न गुप्त वर्ष को लेने पर यही निष्कर्ष अन्य भिन्न सवत्-काल के लिए पाया जा सकता है।

पुन, गुप्त संवत् १९९ + ईसवी सन् १६६-६७=ईसवी सन् ३६५-६६=प्रचलित शक सवत् २८८ मे—जिस वर्ष में प्रदत्त तिथि का अंग्रेजी समरूप बुधवार, ५ अक्टूबर, ईसवी सन् ३६५ होगा—प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व के वृहस्पति का उदय उसी वर्ष अर्थात् शक सवत् २८८ के श्रावण शुक्ल १ पर, तदनुसार बुधवार, ६ जुलाई, ईसवी सन् ३६५ पर, अथवा, अंग्रेजी पचाग के अनुसार, वृहस्पतिवार, ७ जुलाई पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर ९५°५६' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय पुष्य मे था तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा पौष नाम दिया गया होगा। वृहस्पति का अगला उदय शक सवत् २८९ के भाद्रपद शुक्ल १५ पर, तदनुसार सोमवार, ७ अगस्त, ईसवी सन् ३६६ पर, अथवा अंग्रेजी पचाग के अनुसार मंगलवार ८ अगस्त पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १२७°२४' था। असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय उत्तरा-फाल्गुनी मे था। तथा—बीच मे आने वाले सवत्सर महा माघ का विलोपन हो जाने के कारण—उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा फाल्गुन नाम दिया गया होगा। किन्तु, समान अन्तरालो की पद्धति के अनुसार, वह उस समय मघा मे था, तथा महा माघ सवत्सर उस समय प्रारम्भ हुआ तथा यह प्रदत्त तिथि पर गुप्त सवत् २०० में प्रचलित था। वृहस्पति का अगला उदय शक सवत् २९० के आश्विन कृष्ण १२ पर, तदनुसार शुक्रवार, ७ सितम्बर, ईसवी सन् ३६७ पर अथवा, अंग्रेजी पचाग के अनुसार, शनिवार, ८ सितम्बर पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १५७°४२' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार वह उस समय उत्तरा-फाल्गुनी मे था, तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा फाल्गुन नाम दिया गया होगा। असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार यह एक पुनरावर्तित सवत्सर था किन्तु, समान-अन्तरालो की पद्धति के अनुसार यह एक सामान्य सवत्सर था।

मध्यक राशि-पद्धति के अनुसार, गुप्त सवत् १८८+ईसवी सन् १६६-६७=ईसवी सन् ३५४-५५=प्रचलित शक सवत् २७७ मे महा माघ सवत्सर आश्विन शुक्ल १३ पर, तदनुसार शुक्रवार, १६ सितम्बर, ईसवी सन् ३५४ पर प्रारम्भ हुआ, तथा यह उस वर्ष के समूचे कार्तिक मास मे प्रचलित रहा, यह शक सवत् २७८ के कार्तिक कृष्ण ४ पर, तदनुसार मगलवार, १२ सितम्बर, ईसवी सन् ३५५ पर महा फाल्गुन द्वारा अनुसृत हुआ। और पुन, गुप्त सवत् २००+ईसवी सन् १६६-६७=ईसवी सन् ३६६-६७=प्रचलित शक सवत् २८९ में, महा माघ सवत्सर भाद्रपद शुक्ल ३ पर, तदनुसार वृहस्पतिवार, २७ जुलाई, ईसवी सन् ३६६ पर प्रारम्भ हुआ, और वह उस वर्ष के समूचे कार्तिक मास मे प्रचलित रहा। यह शक सवत् २९० के श्रावण शुक्ल १० पर, तदनुसार सोमवार, २३ जुलाई, ईसवी

सन् ३६७ पर महा फाल्गुन द्वारा अनुसृत हुआ। और इस प्रकार इस सवत्-काल को ग्रहण करने पर तथा इस पद्धति के अनुसार गुप्त सवत् १८८ तथा २०० मे महा माघ सवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था। किन्तु, ये निष्कर्ष स्वत प्रस्तावित सवत्-काल के विषय मे निश्चितरूपेण कुछ भी नही सिद्ध करते क्योकि लेख मे प्रचलित गुप्त वर्ष का ही उल्लेख नही है, तथा भिन्न गुप्त वर्षों को लेने पर यही निष्कर्ष भिन्न सवत्-काल के प्रसग मे पाए जा सकते हैं।

सर ई० क्लाइव बेले द्वारा प्रस्तावित १०-११ ई० के संवत्-काल को ग्रहण करने पर, श्री श० ब० दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुचे है कि गुप्त सवत् १८७ + ईसवी सन् १९०-९१ = ईसवी सन् ३७७-७८ = प्रचलित शक सवत् ३०० मे—जिस वर्ष मे प्रदत्त तिथि का अग्रेजी समरूप रविवार, २२ अक्तूबर, ईसवी सन् ३७७ होगा—प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व के वृहस्पति का उदय उसी वर्ष अर्थात् शक सवत् ३०० के भाद्रपद कृष्ण ४ पर तदनुसार मगलवार, ११ जुलाई, ईसवी सन् ३७७ पर अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, बुधवार १२ जुलाई पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १००°३२' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय पुष्य मे था तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा पौष नाम दिया गया होगा। वृहस्पति का अगला उदय शक सवत् ३०१ के भाद्रपद शुक्ल ३ पर, तदनुसार रविवार, १२ अगस्त, ईसवी सन् ३७८ पर अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, सोमवार १३ अगस्त पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १३१°५०' था। असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार वह उस समय पूर्वा-फाल्गुनी मे था तथा—बीच मे आने वाले महा माघ सवत्सर के विलोपन के कारण—उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा फाल्गुन नाम दिया गया होगा। किन्तु समान अन्तरालो की पद्धति के अनुसार, वह उस समय मघा मे था। महा माघ सवत्सर उस समय प्रारम्भ हुआ, तथा यह प्रदत्त तिथि पर गुप्त सवत् १८८ मे प्रचलित था। वृहस्पति का अगला उदय शक सवत् ३०२ के आश्विन शुक्ल १५ पर, तदनुसार वृहस्पतिवार, १२ सितम्बर, ईसवी सन् ३७९ पर अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, शुक्रवार, १३ सितम्बर, पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १६२°०' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय हस्त मे था तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा फाल्गुन नाम दिया गया होगा। असमान अन्तरालो की दोनो पद्धतियो के अनुसार यह एक पुनरावर्तित सवत्सर था, किन्तु समान अन्तरालो की पद्धति के अनुसार यह एक सामान्य सवत्सर था।

पुन, गुप्त सवत् १९९ + ईसवी सन् १९०-९१ = ईसवी सन् ३८९-९० = प्रचलित शक सवत् ३१२ मे—जिस वर्ष मे प्रदत्त तिथि का अंग्रेजी समरूप बुधवार १० अक्टूबर ईसवी सन् ३८९ होगा—प्रदत्त तिथि के ठीक पूर्व के वृहस्पति का उदय उसी वर्ष अर्थात् शक सवत् ३१२ के श्रावण शुक्ल ६ पर, तदनुसार रविवार, १५ जुलाई, ईसवी सन् ३८९ पर अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, सोमवार, १६ जुलाई पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १०४°५१' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय पुष्य मे था, तथा उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा पौष नाम दिया गया होगा। वृहस्पति का अगला उदय शक सवत् ३१३ के आश्विन कृष्ण ४ पर, तदनुसार शुक्रवार, १६ अगस्त, ईसवी सन् ३९० पर अथवा, अग्रेजी पचाग के अनुसार, शनिवार, १७ अगस्त पर घटित हुआ। उस समय उसका देशान्तर १३५°५७' था। तीनो पद्धतियो के अनुसार, वह उस समय पूर्वा-फाल्गुनी मे था तथा—बीच मे आने वाले महा माघ सवत्सर का विलोपन हो जाने के कारण—उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सर को महा फाल्गुन नाम दिया गया होगा।

मध्यक राशि-पद्धति के अनुसार, गुप्त सवत् १८८ + ईसवी सन् १९०-९१ = ईसवी सन् ३७८-७९ = प्रचलित शक सवत् ३०१ मे महा माघ सवत्सर आषाढ कृष्ण १० पर, तदनुसार बुधवार ६ जून ईसवी सन् ३७८ पर प्रारम्भ हुआ। तथा यह उस वर्ष के समूचे कार्त्तिक मास मे प्रचलित था। यह

शक संवत् ३०२ के आषाढ शुक्ल १ पर, तदनुसार रविवार, २ जून, ईसवी सन् ३७९ पर महा फाल्गुन द्वारा अनुसृत हुआ। पुन, गुप्त संवत् २००+ईसवी सन् १९०-९१=ईसवी सन् ३९०-९१=प्रचलित शक संवत् ३१३ मे महा माघ संवत्सर ज्येष्ठ कृष्ण २ पर, तदनुसार बुधवार, १७ अप्रैल, ईसवी सन् ३९० पर प्रारम्भ हुआ, तथा यह उस वर्ष के समूचे कार्तिक मास मे प्रचलित था। यह शक संवत् ३१४ के ज्येष्ठ कृष्ण ८ पर तदनुसार रविवार, १३ अप्रैल, ईसवी सन् ३९१ पर महा फाल्गुन द्वारा अनुसृत हुआ। और इस प्रकार इस संवत्-काल को ग्रहण करने पर भी, और इस पद्धति के अनुसार, गुप्त संवत् १८८ और २०० में महा माघ संवत्सर प्रदत्त तिथि पर प्रचलित था। किन्तु यहा भी, प्राप्त निष्कर्ष स्वत प्रस्तावित संवत्-काल के विषय मे निश्चितरूपेण कुछ भी नही सिद्ध करते, क्योकि लेख में प्रचलित गुप्त वर्ष का कोई उल्लेख ही नही है, तथा भिन्न गुप्त वर्षों को लेने पर यही निष्कर्ष अन्य भिन्न संवत-काल के प्रसग मे पाए जाएगे।

प्राप्त निष्कर्षों का साराश

ऊपर, अबतक ज्ञात, गुप्त-वलभी संवत् मे निरूपणीय उन सभी तिथियों का परीक्षण किया गया है, जिनसे गणना विषयक विवरण प्राप्त होते हैं और अब पूर्व-पृष्ठो मे की गई गवेषणाओ द्वारा स्थापित निष्कर्षों को समासत प्रस्तुत करना शेष रहता है।

अलबेरूनी एक ऐसे प्रचलित संवत् का उल्लेख करता है जो गुप्त संवत् तथा वलभी संवत् दोनो नामो मे ज्ञात था, जिनके वर्षों के-उसके अत्यन्त स्पष्ट अभिकथन के अनुसार-शक संवत् के वर्षों मे रूपान्तरण के लिए गुप्त-वलभी तिथियो मे दो सौ वयालीस वर्ष जोडने होते हैं। यह संवत् का प्रारम्भ-बिन्दु सन्निकटत उस समय निश्चित करता है जबकि शक संवत् २४१ अवसित हो चुका था तथा सुविज्ञात शक संवत् के संवत्-काल को ग्रहण करने पर जबकि ईसवी सन् ३१९-२० चल रहा था। इतना निर्धारित हो जाने पर केवल अकित तिथियों की गणना के आधार पर संवत्-काल का एकदम ठीक निश्चयन ही शेप रहता है। उसके अभिकथन मे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य सन्निहित मिलता है जिसका प्रो० राइट द्वारा किया गया अनुवाद सम्प्रति विचाराधीन समस्या पर अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। प्रो० राइट द्वारा किए गए अनुवाद में-यदि वास्तव मे इसका अभिप्रेत अर्थ केवल यह न हो तब भी-इस व्याख्या की क्षमता अन्तर्निहित है कि प्रारभिक गुप्त शासक इतने शक्तिशाली रहे थे कि उनके पतन के पश्चात् भी उनके द्वारा प्रयुक्त संवत् का प्रयोग होता रहा। कम से कम, इस अनुवाद के प्राप्त होने से हम इस बाध्यता से मुक्त हो जाते हैं-श्री रेनाद द्वारा किए गए इसी अवतरण के अनुवाद के कारण अबतक हम जिसे स्वीकारने को बाध्य थे-कि संवत् की स्थापना गुप्त शासन-वश की समाप्ति पर हुई, तथा यह कि प्रारंभिक गुप्तो की प्रभुसत्ता को ३१९ ई० के पूर्व तथा इसकी समाप्ति को ३१९ ई० मे रखना चाहिए। अधिक से अधिक इसके विरोध मे यह कहा जा सकता है कि यह एक ऐसे अस्पष्ट मूल अवतरण का शाब्दिक अनुवाद है जिसके वास्तविक अर्थ का निर्धारण भिन्न तथ्यो की सहायता से किया जाना चाहिए।

अवसित मालव संवत् ५२९ की तिथियुक्त मन्दसौर अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि इस संवत् विशेष के प्रारम्भ बिन्दु को-जिसमे कि कुमारगुप्त तथा प्रारभिक गुप्त वश के अन्य शासको, एव उस एकरूप श्रृंखला से सवद्ध अन्य शासको की वशीय तिथिया अकित की गई हैं---३१९ ई० के आस-पास कहीं ढूंढना चाहिए।

स्कन्दगुप्त के समय तक, स्वय प्रारभिक गुप्तो के लेखों से प्राप्त तिथियो से गणना के लिए कुछ विशेष विवरण नही मिलता। किन्तु, स्पष्ट रूप से वर्षों के इसी एकरूप श्रृंखला से सवद्ध वह तिथि है जो हमे बुधगुप्त के एरण स्तम्भ लेख मे मिलती है। इस तिथि को, अलबेरूनी द्वारा बताए गए

ढग के अनुसार, शक तिथि मे परिवर्तित करने पर, हमने यह पाया है कि परिणामस्वरूप प्राप्त शक-वर्ष को अवसित वर्ष मानने पर सभी विवरण ठीक उतरते हैं।

इसी प्रकार की तिथिया परिव्राजक महाराजो के लेखों मे मिलती हैं जिनमे, अतिरिक्तरूपेण, यह स्पष्ट सूचना मिलती है कि इस समय गुप्त-प्रभुसत्ता अभी भी अस्तित्वमान थी। तथा, उन्हे एरण स्तम्भलेख मे दी गई तिथि के प्रसग मे प्राप्त निष्कर्षों द्वारा निर्दिष्ट ढग के अनुसार निरूपित करने पर, हमे समानरूपेण शुद्ध और परस्पर-सगत निष्कर्ष प्राप्त होते है। इसके अतिरिक्त इन लेखो मे अतिम अर्थात् महाराजा सक्षोभ के खोह दानलेख (स० २५) से यह ज्ञात होता है कि गुप्त-प्रभुसत्ता दो सौ नौ वर्षों तक चलती रही। और केवल यही तथ्य इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिए पर्याप्त है कि-इसका ऐतिहासिक उद्भव जो भी रहा हो-क्यो इन लेखो मे प्रयुक्त सवत् अन्तत जनसाधारण मे गुप्त सवत् के रूप मे जाना गया।

पुन, इस प्रकार की तिथिया नेपाल के शिवदेव प्रथम तथा मानदेव के अभिलेखों मे मिलती है। तथा, इनमे से प्रथम सप्रति विचाराधीन सवत् मे अकित है, यह शिवदेव प्रथम के समकालीन शासक अशुवर्मन् की हर्ष सवत् मे अकित तिथियो की सहायता से प्रदर्शित होता है, जबकि इसी प्रकार के निरूपण से इनमे से द्वितीय लेख के विवरण ठीक निष्कर्ष प्रदान करते हैं।

इसी प्रकार की एक अन्य तिथि जाइक के मोरबी दानलेख मे मिलती है। तथा, पुन इसी निरूपण को व्यवहार मे लाने पर, इस लेख-के विवरण सही निष्कर्ष देते हैं।

वलभी राजवश के लेखो मे अकित तिथिया भी इसी तिथि-शृखला से सबद्ध हैं। तथा, वर्ष की योजना मे एक परिवर्तन के कारण-जिसका स्पष्टीकरण सरल है-एक हलका सा सशोधन ग्रहण करने पर, इसी निरूपण से हमे ३३० वर्ष की तिथि मे अकित इसी राजवश के धरसेन चतुर्थ के कैर दानलेख की तिथि के प्रसग मे सही निष्कर्ष प्राप्त होते है, यह एकमात्र ऐसा लेख है जिससे हमे गणना के लिए सुस्पष्ट विवरण उपलब्ध होते हैं। साथ हो, इन लेखो से हमे सेनापति भटार्क से प्रारम्भ होने वाले तथा राजा शीलादित्य सप्तम् से समाप्त होने वाले बारह पीढियो का पूर्वानुपरक्रम प्राप्त होता है, जिसमे तिथियो का समय-विस्तार २०७ वर्ष से लेकर ४४७ वर्ष तक है। प्रथम छ अथवा सात पीढियो तक इस वश के सदस्य सामन्त, सेनापति, अथवा महाराज थे, जिन्हे अपना भिन्न सवत् चलाने का अधिकार नही प्राप्त था। तथा वस्तुत, दूसरी पीढी मे महाराजा ध्रुवसेन प्रथम के लिए प्रयुक्त तिथि २०७ वर्ष से यह सिद्ध होता है कि सवत् विशेष राजवश के सस्थापक, उसके पिता भटार्क, द्वारा सत्ता प्राप्ति के समय से नही प्रारम्भ हुआ था अपितु किसी वाह्य स्रोत से ग्रहण किया गया था। दूसरी ओर, इस वश का दीर्घ शासन काल और यह तथ्य विशेष कि उनके राजपत्रो मे से अनेक वलभी नगर से ही जारी किए गए हैं[1] तथा सभी राजपत्र उसके आसपास के क्षेत्र से अथवा गुजरात के निकटवर्ती प्रदेशो से

---

१ उदाहरणार्थ, २०७ वर्ष की तिथियुक्त ध्रुवसेन प्रथम के दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ५, पृ० २०४), गुहसेन का २४८ वर्ष का लेख (वही जि० ५, पृ० २०६, तथा आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० ३, पृ० ९३), धरसेन द्वितीय का २५२ वर्ष का लेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ७, पृ० ६८, जि० ८, पृ० ३०१, जि० १५, पृ० १८७, तथा नीचे स० ३०), शीलादित्य प्रथम का २८६ वर्ष का लेख (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रान्च आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ११, पृ० ३५९ और इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ३२७), तथा २९० वर्ष का लेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० २३७), ध्रुवसेन द्वितीय का ३१० वर्ष का लेख (वही, जि० ६, पृ० १२), तथा ध्रुवसेन चतुर्थ का ३२६ वर्ष का लेख (वही, जि० १, पृ० १४ और जर्नल आफ द बाम्बे ब्रान्च आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १०, पृ० ६६)।

सवद्ध हैं, यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि यह सवत् अन्तत क्यों जनसाधारण मे वलभी सवत् के नाम से जाना गया।

और, अन्ततोगत्वा, तेरहवी शताब्दी ईसवी तक की बाद की तिथि मे वलभी सवत् के नाम से ज्ञात एक सवत् के वास्तविक प्रयोग के निर्विवाद उदाहरण हमे वलभी सवत् ९२७ तथा ९४५ की तिथियो में अकित वेरावल अभिलेखो मे प्राप्त होते है। इन दोनो तिथियो मे प्राचीनतर तिथि के प्रसग में शुद्ध निष्कर्षों की प्राप्ति उसी नगण्यत विसगत उपाय के प्रयोग द्वारा की जा सकती है जिसका प्रयोग ३३०वर्ष की तिथियुक्त धरसेन चतुर्थ के कॅर दानलेख के प्रसग मे होता है। किन्तु,इनमे दूसरी तिथि इससे कही अधिक महत्वपूर्ण है। यह अलबेरूनी के कथन के अनुरूप होने से तथा समरूप विक्रम सवत् तथा हिजरी सवत् के सयुक्त उल्लेख द्वारा न केवल सवत् के लगभग समय का निश्चयन करता है, अपितु इसमें दिए गए विवरण इस प्रकार के हैं कि उनमे यह सिद्ध होता है कि सवत् का प्रारम्भ ठीक उस समय हुआ जब कि शक सवत् २४१ अवसित हो चुका था तथा ईसवी सन् ३१९-२० प्रचलित था। और, वास्तव मे इस लेख से वह मानदण्ड प्राप्त होता है जिसके आधार पर गुप्त-वलभी सवत् में अकित उन सभी तिथियों का परीक्षण अपेक्षित है, जो इसके वर्षों की वास्तविक और मौलिक उत्तरी योजना के अनुरूप हैं।

इन सभी परस्पर-सगत निष्कर्षों को सयोग मात्र नही माना जा सकता। अपितु, हमें इसे एक प्रतिष्ठित तथ्य समझना चाहिए कि विचाराधीन सभी तिथिया एक ही सवत् की तिथिया हैं, जो कि ईसवी सन् ३१९-२० मे प्रारम्भ होता है। तथा, इस प्रश्न—कि यह सवत् वस्तुत स्वय प्रारंभिक गुप्तो द्वारा चलाया गया था अथवा नही—की अपेक्षा किए विना हमें, प्रारंभिक गुप्तों की प्रभुसत्ता को ईसवी सन् ३१९-२० के पहले तथा उनके पतन को इस समय रखने के स्थान पर, प्रारभिक गुप्त शक्ति का उदय ईसवी सन् ३१९-२० के आसपास कहीं रखना चाहिए।

किन्तु कुछ उपसहारात्मक शब्द ईसवी सन् के उन वर्षों के विषय मे आवश्यक प्रतीत होते हैं जो क्रमश गुप्त-वलभी सवत् के सवत्काल अथवा वर्ष का तथा प्रारम्भ अथवा प्रथम प्रचलित वर्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं।

लेखो मे विना किसी उपाधि के उद्धृत वर्षो को प्रचलित वर्ष के रूप मे ग्रहण करने पर हमे निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं[1] बुधगुप्त के एरण स्तम्भ लेख के अनुसार प्रचलित गुप्त सवत् १६५=प्रचलित ४८४-८५ ईसवी[2], परिव्राजक दानलेखो के अनुसार प्रचलित १५६=प्रचलित ४७५-७६ ईसवी[3], प्रचलित १६३=प्रचलित ४८२-८३ ईसवी[4], प्रचलित १९१=प्रचलित ५१०-११ ईसवी[5], प्रचलित २०९=प्रचलित ५२८-२९ ईसवी[6], मानदेव के नेपाल अभिलेख के अनुसार, प्रचलित

---

१ मैं यहां कुमरा स्तम्भ लेख को अलग कर देता हूँ क्योंकि गुप्त वर्ष न दिए होने से यह निश्चितरूपेण कुछ भी सिद्ध नही करता।

२ अथवा चैत्र शुक्ल १ से प्रारम्भ होने वाले शक वर्ष के अनुसार और भी निश्चित रूप मे १४ मार्च, ४८४ ई० मे लेकर २ मार्च, ४८५ तक की अवधि (द्र० इण्डियन एराज पृ० १५३)। यहा दी गई तिथिया लगभग ठीक तिथियो के रूप में उद्धृत हैं, वे एकदम ठीक तिथिया हो भी सकती हैं और नहीं भी हो सकतीं।

३ अथवा, उसी प्रकार २१ फरवरी, ४७५ ईसवी से लेकर ११ मार्च,४७६ ईसवी तक की अवधि।

४ अथवा, उसी प्रकार ९ मार्च, ४८२ ईसवी से लेकर २२ फरवरी, ४८३ ईसवी तक की अवधि।

५ अथवा, उसी प्रकार २५ फरवरी, ५१० ईसवी से लेकर १५ मार्च,५११ ईसवी तक की अवधि।

६ अथवा उसी प्रकार ८ मार्च, ५२८ ईसवी से लेकर २४ फरवरी,५२९ ईसवी तक की अवधि।

३८६=प्रचलित ७०५-०६ ईसवी[1], तथा अर्जुनदेव के वेरावल अभिलेख के अनुसार प्रचलित ९४५= प्रचलित १२६४-६५ ईसवी[2]। और, इन समीकरणों से यह एकरूप निष्कर्ष प्राप्त होता है कि गुप्त-वलभी संवत् ०=प्रचलित ३१९-२० ईसवी, अथवा शक वर्ष के अनुसार, और भी परिशुद्ध ढंग से कहा जाय तो, ९ मार्च, ३१९ ईसवी से लेकर २५ फरवरी, ३२० ई०तक की अवधि[3]; प्रचलित गुप्त-वलभी संवत् १=प्रचलित ३२०-२१ ईसवी, अथवा शक वर्ष के अनुसार, और भी परिशुद्ध ढंग से कहा जाय तो २६ फरवरी, ३२० ईसवी से लेकर १५ मार्च, ३२१ ईसवी तक की अवधि।

३३० वर्ष की तिथियुक्त कैर दानलेख तथा वलभी संवत् ९२७ की तिथियुक्त वेरावल अभिलेख से प्राप्त निष्कर्ष उपरोक्त से थोड़े भिन्न हैं, वे इस प्रकार हैं-प्रचलित गुप्त-वलभी संवत् ३३०=प्रचलित ६४८-४९ ईसवी[4]; तथा प्रचलित वलभी संवत् ९२७=प्रचलित १२४५-४६ ईसवी[5]। इन दो दृष्टान्तों मे अन्तर का कारण गुप्त वर्ष की वास्तविक तथा मौलिक योजना मे क्षेत्रीय परिवर्तन है, जो इस ढंग से किया गया कि प्रत्येक अनुवर्ती वर्ष का प्रारम्भ चैत्र शुक्ल १ से प्रारम्भ होने वाले वर्ष के वास्तविक प्रारम्भ के ठीक पूर्व पड़ने वाले कार्तिक शुक्ल १ के साथ हो। तथा, इन दो तिथियों तथा अब से उस वर्ग मे आने वाली सभी तिथियों के लिए हमे इन समीकरणों का प्रयोग करना चाहिए—गुप्त-वलभी संवत् ०=प्रचलित ईसवी सन् ३१८-१९ अथवा, यदि और निश्चित रूप मे कहा जाय, दक्षिणी विक्रम वर्ष के अनुसार १२ अक्तूबर, ३१८ ई० से लेकर ३० सितम्बर, ३१९ ईसवी तक की अवधि[6]; तथा प्रचलित गुप्त-वलभी संवत् १=प्रचलित ३१९-२० ईसवी अथवा, यदि और निश्चित रूप मे कहा जाय, दक्षिणी विक्रम वर्ष के अनुसार १ अक्तूबर, ३१९ ईसवी से लेकर १८ अक्तूबर, ३२० ईसवी तक की अवधि।

किन्तु, ये दोनो दृष्टान्त सर्वथा असाधारण दृष्टान्त हैं। तथा, इसके वर्षों की वास्तविक और मौलिक योजना से संगति रखने वाली सभी तिथियों के लिए हमे ईसवी सन् ३१९-२० के संवत्-काल का प्रयोग करना होगा, तथा संवत् के वर्षों को चैत्र शुक्ल १ से प्रारम्भ होने वाले-उत्तरी वर्षों के रूप में लेना होगा।

गुप्त-वलभी संवत् के संवत्काल तथा ईसवी सदी के बीच का समीकरण प्रकृत्या शक संवत् के प्रति निर्देश पर आधारित नहीं है, तथा इसे सीधे योरोपीय सारणियों के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु इस गवेषणा मे इसे, आद्यन्त, अवसित वर्षों के अनुसार निर्धारित शक संवत् के लिए व्यवस्थित की गई हिन्दू सारणियों के आधार पर स्थापित किया गया है; तथा, इन सारणियों का प्रयोग करने के लिए प्रदत्त गुप्त-वलभी वर्षों का अवसित शक वर्षों में रूपान्तरण अपेक्षित है। किन्तु, इस प्रक्रिया ने स्वयं गुप्त-वलभी वर्षों को अवसित वर्षों मे रूपान्तरित नहीं किया है। इस प्रसंग मे केवल यह किया गया है कि सर्वप्रथम एकरूप स्थाई अन्तर के जोड़ द्वारा प्रत्येक प्रदत्त गुप्त-वलभी

---

१ अथवा, उसी प्रकार १ मार्च, ७०५ ईसवी से लेकर २० मार्च, ७०६ ईसवी तक की अवधि।

२ अथवा, उसी प्रकार १ मार्च, १२६४ ईसवी से लेकर १९ मार्च, १२६५ तक की अवधि।

३ यहा, प्रारम्भिक तथा अंतिम तिथियों के लिए जिन्हें यथातथ्यत प्राप्त करना आवश्यक था मैं श० ब० दीक्षित का ऋणी हूँ।

४ अथवा, कार्तिक शुक्ल १ से प्रारम्भ होने वाले दक्षिणी विक्रम संवत् के अनुसार और भी निश्चित रूप मे २४ सितम्बर, ६४८ ईसवी से लेकर १२ अक्तूबर, ६४९ ईसवी तक की अवधि।

५ अथवा, उसी प्रकार २३ अक्तूबर, १२४५ ईसवी से लेकर १२ अक्तूबर, १२४६ ईसवी तक की अवधि।

६ यहा भी इन सुनिश्चित तिथियों के लिए मैं श्री श० ब० दीक्षित का ऋणी हूँ।

वर्ष का समरूप प्रचलित शक वर्ष प्राप्त किया गया है, और फिर, सामान्य रूप मे, तुरन्त पूर्व के शक वर्ष को अवसित वर्ष के रूप मे ग्रहण किया गया है, जो गणना के आधार के रूप मे अपेक्षित है। इस प्रकार, बुधगुप्त के एरण स्तम्भ लेख की तिथि से सबधित विवरण, जो वस्तुत गुप्त सवत् १६५+२४२=प्रचलित शक सवत् ४०७ से सबद्ध विवरण है, अवसित शक सवत् ४०६ के आधार पर सगणित हुए हैं, अन्य तिथियो से सबधित विवरणों के प्रसग मे भी इस विधि से गणना की गई है।

अब, विशेष रूप से अपनी विशिष्ट आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ज्योतिषियो द्वारा प्रयुक्त एक सवत् के विषय में-जैसा कि शक सवत् के विषय मे हम पाते हैं-चूँकि हमे अवसित वर्षों का उपयोग करना है अतएव सारणियो को तदनुरूप व्यवस्थित करना अत्यन्त स्वाभाविक है। और यह सभव है कि कुछ समय पश्चात् और भारतवर्ष के कुछ भागो मे हमे इस प्रकार के किसी सवत् की किसी भी प्रदत्त तिथि को अवसित वर्ष के रूप मे व्याख्यायित करना पड़े, चाहे इसे स्पष्टरूपेण ऐसा कहा गया हो अथवा नही[1]। किन्तु यही नियम उन सवतो के प्रसग मे नही लागू होता जिनका ज्योतिष विषयक प्रक्रियायो मे प्रयोग नहीं होता, यद्यपि उन्हे इन प्रक्रियाओ द्वारा निश्चित किए गए विवरणो के सबध मे उद्धृत किया जाता है। विक्रम सवत् इस प्रकार का एक सवत् है[2]। तथा, यद्यपि इस सवत् के अवसित वर्षो को अकित किया जाता था जैसा कि, उदाहरण के लिए, अवसित मालव सवत् ५२९ की तिथियुक्त मदसोर अभिलेख की पक्ति १९ तथा २१ (स० १८,) तथा अवसित विक्रम सवत् १२८० की तिथियुक्त जयन्तसिंह के कडी दानलेख की पक्ति २१ से[3] ज्ञात होता है, तथापि, कम से कम यदाकदा, प्रचलित वर्षों का प्रयोग महीपाल के ग्वालियर सास-बहू मदिर-अभिलेख से सिद्ध होता है[4], जिसमे सर्व प्रथम शब्दो मे अवसित वर्षों की संख्या ११४९ को दी गई और फिर, शब्दो मे अशत और अको मे पूर्णत, प्रचलित वर्ष ११५० अकित है। पुन गुप्त-वलभी सवत् इसी प्रकार का का एक सवत् है, अथवा कम से कम हमे अभी तक इस बात का थोडा भी सकेत नही मिला है कि इसे कभी भी ज्योतिषियो द्वारा अपनी गणनाओ का आधार बनाया गया था। और, गुप्त-वलभी तिथि मे वर्षों के सबध में "अवसित" अर्थ वाले किसी शब्द के अभाव मे यही उपयुक्त जान पडता है कि अनुवाद के सामान्य नियमो का पालन करते हुए अवतरण विशेष को प्रचलित वर्ष का परिचायक माना जाय।

अब तक ज्ञात गुप्त-वलभी तिथियो मे केवल एक दृष्टान्त ऐसा मिलता है जहा उल्लिखित वर्ष के सबध मे "अवसित" अर्थ के परिचायक किसी शब्द का प्रयोग हुआ है। यह अपवादरूप दृष्टान्त जाइक का मोरवी दानलेख है जिसमे सूर्यग्रहण के उस समय घटित होने का उल्लेख है जबकि ५८५ वर्ष बीत चुके हैं। दुर्भाग्यवश, जिस मास मे अथवा तिथि पर ग्रहण घटित हुआ, उनका उल्लेख नही है, यहा तक कि वार भी नहीं दिया गया है। तथा, जैसा कि हम ऊपर पृ० ९९ पर देख चुके हैं, इस लेख मे उल्लिखित सूर्यग्रहण का १० नवम्बर ईसवी सन् ९०४ पर घटित होने वाले सूर्यग्रहण के साथ तादात्म्य किया जा सकता है। उस स्थिति में, प्रदत्त अवसित वर्ष ५८५ तथा सकेतित प्रचलित वर्ष

---

१ इसका स्पष्ट उदाहरण भोजदेव के देवगढ़ अभिलेख की तिथि से प्राप्त होता है (द्र०, ऊपर पृ० १०७, टिप्पणी १)। अनुवाद के शाब्दिक नियमों के अनुसार, प्रदत्त शक वर्ष ७८४ को प्रचलित वर्ष के रूप में लेना होगा। किन्तु गणना के लिए इसे एक अवसित वर्ष मानना होगा।

२ किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान सारणियों को, शक सवत् के समान, अवसित वर्षों के आधार पर ही व्यवस्थित किया गया है। तथा, नीचे परिशिष्ट १ में उद्धृत कुछ पचाग भी उन्हें इसी रूप में देते हैं।

३ इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १९७।

४ तिथि के सपूर्ण पाठ तथा अनुवाद के लिए, द्र० पाठ और अनुवाद मे लेख स० ३ की सबद्ध टिप्पणी।

५८६ प्रचलित ईसवी सन् ६०४-०५ के समरूप होगे। और इस प्रकार बुधगुप्त के एरण स्तम्भ लेख मे अकित वर्ष १६५, एक प्रचलित वर्ष के रूप मे नही अपितु एक अवसित वर्ष के रूप मे, प्रचलित ईसवी सन् ४८४-८५ का समरूप वर्ष होगा, और इसी प्रकार अन्य तिथियो के विषय मे जानना चाहिए। तथा, इसके वर्षों की वास्तविक तथा मौलिक योजना का अनुसरण करने वाली, इस सवत् की सभी तिथियो के प्रसग मे प्रचलित ईसवी सन् ३१८-१६ के सवत्काल का अथवा, यदि और भी निश्चित रूप मे कहा जाय, शक वर्ष के अनुसार,१८ फरवरी, ३१८ ईसवी से लेकर ८ मार्च ३१६ ईसवी तक की अवधि का[1] प्रयोग करना चाहिए, तथा, ३३० वर्ष की तिथियुक्त कैर दानलेख तथा वलभी सवत् ६२७ की तिथियुक्त वेरावल अभिलेख के वर्ग के अन्तर्गत आने वाली तिथियो के प्रसग मे सभवत प्रचलित ईसवी सन् ३१७-१८ के सवत्काल का, अथवा, यदि और निश्चित रूप मे कहा जाय, विक्रम वर्ष के अनुसार २३ सितम्बर, ३१७ ई० से लेकर ११ अक्टूबर, ३१८ ई० तक की अवधि का प्रयोग किया जाना चाहिए। किन्तु, हम यह भी देख चुके हैं कि सप्रति विचाराधीन सूर्यग्रहण का तादात्म्य उपरोक्त तादात्म्य की अपेक्षा और अधिक सतोषजनक रूप मे ७ मई, ईसवी सन् ६०५ पर घटित होने वाले सूर्य-ग्रहण के साथ किया जा सकता है। उस स्थिति मे प्रदत्त अवसित वर्ष ५८५ एव सकेतित प्रचलित वर्ष प्रचलित ईसवी सन् ६०५-०६ के समरूप होगे। अतएव, यह लेख मेरे इस विचार का दृढ तथा निर्देशात्मक समर्थन प्रदान करता है कि किसी स्पष्टत विरोधी साक्ष्य के अभाव मे हमे गुप्त-वलभी तिथियो मे उल्लिखित वर्षों को प्रचलित वर्षों के रूप मे ग्रहण करना चाहिए।

सवत् का उद्भव

ऊपर पृ० ३३ इ० पर मैंने यह दिखाया है कि तथाकथित गुप्त सवत् ऐसा सवत् नही है जिसका प्रारम्भ-मूलरूपेण ईसवी सन् ३१८,३१६ अथवा ३२० के लगभग किसी घटना के घटित होने के कारण-शक सवत् के साथ तुलना की सुविधा केलिए बृहस्पति नक्षत्र के चक्रो (चाहे वह द्वादशवर्षीय चक्र हो अथवा षष्ठिवर्षीय चक्र) की किसी सम-सख्या की समाप्ति के पश्चात् माना गया हो, और इस प्रकार इसके सवत्काल का निश्चियन हुआ हो। तथा, कोई अन्य भी तिथिक्रमविषयक कारण नही प्राप्त होता जिस पर ऊपर प्रमाणित किए गए सवत्काल का चयन आधारित किया जा सके। अतएव, इसका उद्भव किसी ऐसी ऐतिहासिक घटना मे होना चाहिए जो वस्तुत ईसवी सन् ३२० मे, अथवा इस तिथि के इतने निकट घटी कि जब उत्तरी शक वर्ष की योजना को व्यवहार मे लाया गया तब इस सवत् की गणना-प्रक्रिया पर कोई विशेष प्रभाव नही पडा। और यहा-यद्यपि इससे पक्ष अथवा विपक्ष किसी मे कुछ निश्चित नही होता-हमे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि, जैसा कि ऊपर पृ० २६ इ० पर दिखाया गया है, इस सवत् के आभिलेखिक उल्लेखो मे कुछ भी ऐसा नही है जिसके आधार पर किसी भी प्राचीन समय मे प्रारभिक गुप्तो का नाम-विशेष रूप से इसके सस्थापक के रूप मे-इसके साथ सबद्ध किया जा सके, और न ही इनमे कोई ऐसा साक्ष्य मिलता है जिसके आधार पर, कम से कम इसकी स्थापना के नौ शताब्दियो बाद तक, वलभी का नाम इसके साथ जोडा जा सके।

हमे यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि यह निश्चित है कि इस संवत् की स्थापना वलभी वश के किसी सदस्य द्वारा नहीं हुई होगी; इसके ये कारण हैं-१ क्योकि प्रथम छ अथवा सात पीढियो तक इस वश के शासक सामन्त सेनापति और महाराज थे, जिन्हे अपने पृथक् सवत् की स्थापना का अधिकार प्राप्त नही था, २ क्योकि दूसरी पीढी के शासक महाराज ध्रुवसेन प्रथम के

१ । यहा, पुन, मैं एकदम ठीक प्रारम्भिक तथा अन्तिम तिथियो के लिए श्री श० ब० दीक्षित का ऋणी हूँ।

प्रसंग मे प्रयुक्त तिथि २०७ वर्ष से यह प्रमाणित होता है कि सवत् उसके पिता, सेनापति, भटार्क—जो इस वंश का संस्थापक था—द्वारा सत्ता-प्राप्ति के बहुत पहले से प्रारम्भ होता है।

इसी प्रकार, प्रारंभिक गुप्त वश के प्रथम दो शासक, गुप्त तथा घटोत्कच, महाराज की उपाधि धारण करने वाले सामन्त मात्र थे तथा उन्हे सवत्-स्थापना का अधिकार प्राप्त नही था। इस वंश का प्रथम प्रभुतासम्पन्न शासक घटोत्कच का पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम था। यदि उसके समय मे किसी गुप्त संवत् की स्थापना होना माना जाय तो उसके प्रारम्भ-बिन्दु के लिए उसके शासनकाल का प्रारंभिक वर्ष ग्रहण किया जाएगा, न कि वश के सस्थापक महाराज गुप्त द्वारा सत्ता-प्राप्ति की तिथि—जैसा कि हर्ष-सवत् के प्रसग मे देखा जा सकता है। हर्ष-सवत् केवल वशावली के प्रारम्भ के महाराजों की दो पीढियों की ही नही अपितु दो शासको, प्रभाकर वर्धन तथा राज्यवर्धन द्वितीय, के शासनकाल की भी उपेक्षा करता है एव तीसरे प्रभुतासपन्न शासक हर्षवर्धन के शासनकाल के प्रारम्भ से सगणित होता है। इसी प्रकार, जब पश्चिमी चालुक्य शासक विक्रमादित्य षष्ठ ने चालुक्य-विक्रम-काल नाम से एक नए सवत् की स्थापना की[1], तो उसने अपने सभी पूर्ववर्ती शासको की शासनावधियो की उपेक्षा की एव सवत् का प्रारम्भ अपने सिंहासनारोहण के समय से निश्चित किया। प्रारंभिक गुप्त लेख यह स्पष्टरूपेण प्रदर्शित करते हैं कि किसी भी स्थिति मे गुप्त सवत् का प्रारम्भ इस वश के चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद आने वाले किसी शासक के सिंहासनारोहण-काल से नही हो सकता। तथा कुछ ऐसी अपरिहार्य बाधाए हैं जिनको देखते हुए, सामान्य परिस्थितियो मे, सवत् का सस्थापन उसके शासनकाल के प्रारम्भ से नही माना जा सकता। अर्थात् ईसवी सन् ३२०-२१ को उसके प्रथम प्रचलित वर्ष के रूप मे नही लिया जा सकता। उसके पौत्र कुमारगुप्त के लिए इस सवत् की तिथियो का समय-विस्तार ९६ वर्ष से लेकर १३० वर्ष से कुछ अधिक तक का है[2]। इन तिथियो मे हम मानकुवर-अभिलेख (स० ११,) मे अकित १२९ वर्ष को उसके अतिम निश्चित तिथि के रूप[3] मे ले सकते हैं। तथा, चूकि हमे यह मान कर चलना चाहिए कि अपने शासन के प्रारम्भ के समय कुमारगुप्त प्रथम की आयु कम से कम बीस वर्ष थी, इससे हमे एक सौ उनचास वर्षों की अवधि प्राप्त होती है जो चार पीढियो तक फैली हुई थी। इससे प्रत्येक पीढी के लिए ३७¼ वर्षों की अवधि निश्चित होती है जो कि एक हिन्दू पीढी के लिए सामान्यतया स्वीकृत औसत, अधिकतम में पच्चीस वर्षो, की आयु से लगभग आधा और अधिक है। यह भी केवल पीढियो के प्रश्न पर विचार करता है। यदि हम चन्द्रगुप्त प्रथम के शासनकाल के प्रारम्भ से लेकर कुमारगुप्त के शासन-काल के सन्निकटतं अन्त तक का केवल एक सौ उनतीस वर्षों का समय लें, जिससे की प्रत्येक पीढी की शासनावधि का औसत विस्तार ३२¼ वर्ष बैठता है, तब भी बीस वर्षों को छोडने के बाद एक हिन्दू पीढी के औसत समय-विस्तार से यह अन्तर अधिक है। और, कुमार-गुप्त के शासन काल के अन्त तक पूर्ववर्ती चार पीढियो अथवा शासनावधियो के स्थान पर चन्द्रगुप्त द्वितीय की अतिम निश्चित तिथि[4], अर्थात् साची अभिलेख (स० ५,) मे अकित ९३ वर्ष को

---

१ द्र०, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ८, पृ० १८७ इ०।

२ द्र०, ऊपर पृ० ६७।

३ यह उसकी अतिम तिथि के अत्यन्त पास की तिथि होनी चाहिए। क्योकि वह उस समय लगभग पूरे तैतीस वर्षों से शासन कर रहा था, तथा हमें उसके उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त के लिए १३६ वर्ष की तिथि प्राप्त होती है। किसी अन्य इससे बाद की तिथि का चयन इस तर्क को और प्रबल बनाएगा।

४ रजत मुद्राए (द्र०, इण्डियन एण्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ६५ इ०) ९४ वर्ष अथवा ९५ वर्ष की तिथि देती हुई प्रतीत होती हैं, किन्तु अतिम सुनिश्चित-तिथि वही है जिसे मैं उद्धृत कर रहा हू। यहा भी और बाद की तिथि का स्वीकरण सम्प्रति दिए गए तर्क को और प्रबल बनाएगा।

लेने पर, तथा तिरानवे वर्ष क समय को तीन शासनावधियो मे विस्तारित करने पर-अथवा, चन्द्रगुप्त प्रथम की आयु विषयक पूर्वोक्त मान्यता को मानते हुए एक सौ तेरह वर्षों को तीन पीढियो मे विस्तारित करने पर-हमे लगभग ठीक ठीक वही निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। पीढियो के प्रश्न को मैं किसी विशेष आपत्ति का आधार नही बनाऊगा। एक असामान्य औसत अनुपात का उदाहरण पश्चिमी चालुक्य वशावली[1] से प्राप्त किया जा सकता है, जिसमे विक्रमादित्य पचम के शासन-काल के प्रारम्भ के लिए शक संवत् ९३०[2] तथा उसके बाद तीसरी पीढी मे आने वाले सोमेश्वर तृतीय के शासन-काल के अन्त के लिए-जिसे निर्विघ्नरूपेण उसकी मृत्यु की तिथि माना जा सकता है-शक सवत् १०६० की तिथिया प्राप्त होती हैं। यदि हम मानें कि शक संवत् ९३० मे विक्रमादित्य पचम की आयु बीस वर्ष थी, हमे चार पीढियो के लिए एक सौ पचास वर्षों का समय प्राप्त होता है, अर्थात् प्रत्येक पीढी के लिए साढे सैंतीस वर्षों की औसत अवधि। किन्तु, शक सवत् ९३० से १०६० के बीच मे छ शासक हुए थे, जिससे प्रत्येक के लिए पच्चीस वर्षों का औसत प्राप्त होता है जो कि सप्रति विचाराधीन चार प्रारंभिक गुप्त शासको मे से प्रत्येक को दी जाने वाली अवधि से सात वर्ष कम है। और यह निष्कर्ष भी मुख्य रूप से विक्रमादित्य षष्ठ के असाधारणतया दीर्घ शासनकाल के कारण है, जिसने, शक सवत ९९७ से लेकर १०४८ तक, बावन वर्षों तक राज्य किया। यदि पश्चिमी चालुक्य राजवश की समूची शासनावधि को लें जो-तैल द्वितीय के प्रथम वर्ष शक सवत् ८९५, से लेकर तैल तृतीय के शासनकाल के अतिम वर्ष तथा उसकी मृत्यु की तिथि, शक सवत् १०८४, तक[3]-एक सौ नब्बे वर्षों का समय घेरती है तो हमे दस शासन-अवधियां मिलती है जिनमे से प्रत्येक का औसत विस्तार केवल उन्नीस वर्षों का है। हिन्दू पिताओ और पुत्रो के चार पूर्वानुपर शासनकालो के लिए बत्तीस वर्षों का औसत समय प्रत्येक दृष्टिकोण से एक असभव वस्तु है। और यह हमे गुप्त सवत् का प्रारम्भ चन्द्रगुप्त प्रथम के शासनकाल के प्रारम्भ से मानने से रोकती है। अत हमे यह एक निश्चित तथ्य के रूप मे स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रारंभिक गुप्तों ने किसी अन्य राजवश के सवत् को ग्रहण किया। तथा, हमें इसका उद्भव किसी बाह्य स्रोत मे ढूंढना चाहिए।

अब, यह स्पष्ट है कि प्रारंभिक गुप्तों का उदय पहले सामन्त महाराजाओ के रूप मे हुआ, जिनमे तृतीय शासक चन्द्रगुप्त प्रथम ने, सामन्त शासक के रूप मे ही, अपनी स्वतत्रता स्थापित की, इसी कारण इनके लेखो के वशावली विषयक उद्धरणो मे अधीनस्थता सूचक उपाधि के स्थान पर अधीश्वरता सूचक उपाधियो से युक्त उसके उत्तराधिकारियो के नाम उसके नाम के साथ सलग्न दिखाई पडते हैं। तथा, महाराज गुप्त से लेकर कुमारगुप्त तक हम दो सामन्त शासको तथा चार प्रभुतासपन्न शासको की शासनावधिया पाते हैं, जो पच्चीस वर्षों के औसत के हिसाब से कुमारगुप्त की अन्तिम निश्चित तिथि द्वारा निर्दिष्ट कालावधि को पूरा करती है तथा, संयोग से, महाराज गुप्त के शासनकाल के प्रारम्भ को ईसवी सन् ३२० के अत्यन्त निकट रखती हैं। अतएव, यदि हम उस प्रभुतासंपन्न शासक का निश्चय कर सकें, महाराज गुप्त जिसका अधीनस्थ सामन्त शासक था, तो समवत उस शासक मे-यदि यह सिद्ध किया जा सके कि उसके उत्तराधिकारियो ने अपने लेखो को उसी तिथि मे अंकित किया-

---

१ द्र० मेरी पुस्तक डायनेस्टीज आफ द कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स, पृ० १८, सारणी।

२ जब मैंने इससे पहले दी गई टिप्पणी मे उद्धृत पुस्तक को लिखा, उस समय ठीक ठीक वर्ष सदेह का विषय था। किन्तु कौथें दानलेख से (द्र० इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १६, पृ० १५ इ०) अब यह निश्चित हो चुका है।

३ मैं शक सवत् ११०४ से लेकर ११११ तक के सोमेश्वर चतुर्थ के अल्पावधि शासनकाल को छोड दे रहा हु क्योंकि इस समय दक्कन के कलचुरियों द्वारा पश्चिमी चालुक्य शक्ति में व्यवधान पडा था।

संवत् का सम्यापक पाया जा सकता है। और तब जो एकमात्र कठिनाई शेष रहती है वह यह है कि चन्द्रगुप्त प्रथम तथा उसके उत्तराधिकारियों ने अपने अधीश्वरों के विरुद्ध विद्रोह करके स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् क्यों अपना एक नया संवत् चलाने अथवा जनसाधारण द्वारा प्रयोग किए जाने वाले किसी सुविज्ञात संवत् को ग्रहण करने के स्थान पर—जिससे पूर्व की हीन स्थिति का बोध न हो[1]—इस शासकीय संवत् का प्रयोग किया जो अत्यन्त कम समय पहले से प्रारम्भ हुआ था, तथा जो निश्चित-रूपेण ज्योतिष-विषयक संवत् नहीं हुआ था, और जिससे सदैव उनके पूर्वजों की अधीनस्थ स्थिति का भान होगा। किन्तु, प्रारम्भिक गुप्त लेख इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डालते, जब तक कि हमें महाराज गुप्त तथा महाराज घटोत्कच के समय के अथवा चन्द्रगुप्त प्रथम के प्रारम्भिक वर्षों के लेख नहीं प्राप्त होते, तब तक हम इस प्रकार की कोई आशा भी नहीं रख सकते। तथा, सम्प्रति हम भारतवर्ष के प्रसंग में किसी ऐसे शासक को नहीं जानते जिसके शासनकाल के प्रारम्भ को किसी निश्चितता के साथ ईसवी सन् ३२० में रखा जा सके, और न ही हमें कोई ऐसी ऐतिहासिक घटना ज्ञात है जिसे निर्विघ्न-रूपेण यह तिथि प्रदान की जा सके। और न ही गुप्त प्रभुसत्ता के प्रचलन के समय किसी अन्य स्वतंत्र राजवंश द्वारा गुप्त संवत् के व्यवहृत होने का कोई संकेत मिलता है। इस संवत् के लिए सम्प्रति जो तिथि हमारे विचाराधीन है उसके सर्वाधिक निकट की तिथि मध्य भारत के कल्चुरि राजवंश के प्रसंग में प्राप्त होती है, परिव्राजक महाराजों तथा उच्चकल्प के महाराजों के लेखों में कुछ ऐसे तथ्य प्राप्त होते हैं जो प्रारम्भिक गुप्त काल में एक कल्चुरि संवत् के, और परिणामतः कल्चुरि शासकों के, किसी प्राचीनतम, नाम के अन्तर्गत वस्तुतः अस्तित्वमान होने की पुष्टि करते हैं[2]। किन्तु, यह निश्चित है कि कल्चुरि तिथियों को गुप्त संवत् में नहीं रखा जा सकता तथा उपलब्ध विवरणों से यह ज्ञात होता है कि उस समय कल्चुरि शासकों का आधिपत्य प्रगत मध्यभारत के अधिक पूर्व के भाग पर ही सीमित था, और इस प्रकार वे उत्तरी राजवंश के समकालीन मात्र थे, प्रारम्भिक गुप्त जिनकी अधीनता स्वीकार करते थे। श्री फार्गुसन का विचार[3] इस ओर उन्मुख था कि वलभी नगर की पश्चिमी भारत की राजधानी के रूप में स्थापना के अवसर पर गुप्त संवत् का प्रचलन आन्ध्र शासक गौतमीपुत्र ने किया, जिसे उन्होंने ईसवी सन् ३१२ और ३३३ के बीच में रखा[4]। उनके अनुसार, महाराज गुप्त उसका अथवा उसके उत्तराधिकारियों में से किसी का अधीनस्थ सामन्त शासक था। किन्तु, आन्ध्र वंश मुख्यतः एक पश्चिमी और दक्षिणी राजवंश प्रतीत होता है जिसकी उत्तरी भारत के इतिहास में कोई प्रमुख भूमिका नहीं दिखाई पड़ती, और उनका तिथिक्रम अभी पूर्णतः निश्चित नहीं हो सका है। और डा० आर० जी० भण्डारकर, जिन्होंने इस विषय पर अन्य किसी विद्वान् की अपेक्षा अधिक विचार किया है, गौतमीपुत्र को दो शताब्दी पूर्व[5], ईसवी सन् ११३ और १५४ के बीच में, रखते हैं। तथा प्राचीन तिथिक्रम विषयक उनके विचार के अनुसार हमें गुप्त संवत् की स्थापना को सौराष्ट्र के क्षत्रियों के पतन

---

1 इस प्रकार की कोई आपत्ति वलभी वंश द्वारा गुप्त संवत् के प्रयोग पर नहीं लागू होगी। सेनापति भटार्क ने पश्चिमी भारत में गुप्त प्रभुसत्ता का उन्मूलन करने वाले आक्रामकों को भगाया था और सम्भव है वह स्वयं प्रारम्भिक गुप्त कुल के किसी सदस्य का सामन्त रहा हो। तथा, ध्रुवसेन चतुर्थ कन्नौज साम्राज्य के विघटन के बाद शासक हुआ। उपरोक्त दोनों स्थितियों में किसी में भी गुप्त संवत् के प्रति विरुचि का कोई कारण नहीं था।

2 इ० ऐण्टि०, पृ० ८ इ०।

3 जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S जि० ४, पृ० ११८ इ०।

4 वहीं, पृ० १३२।

5 अर्ली हिस्ट्री आफ द डेकन, पृ० २७।

से अथवा दक्कन के राष्ट्रकूटो के इतिहास से सबधित किसी घटना के साथ सबद्ध करना चाहिए। किन्तु यह निश्चित है कि क्षत्रियो ने गुप्त सवत् का प्रयोग नही किया। और इस बात के लिए कोई अल्पतम प्रमाण भी उपलब्ध नही है कि राष्ट्रकूटो का कभी भी अपना कोई अलग सवत् था। यह स्वीकार करने मे थोडा भी सदेह नही हो सकता कि महाराज गुप्त तथा घटोत्कच के तथा अपने प्रारभिक दिनो मे स्वय चन्द्रगुप्त के अधीश्वर उत्तर भारत के कुछ परवर्ती भारतीय-शक शासक थे, जिनके कम से कम समुद्रगुप्त के समय तक शासन करते रहने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। इन भारतीय-शक शासको ने शक सवत् का प्रयोग किया होगा। किन्तु सवत् भी उस समय तक ज्योतिषविषयक सवत् नही हुआ था[1]। और अतएव, गुप्तो के लिए इसे ग्रहण करने का कोई विशेष प्रलोभन नही था। किन्तु इसके विपरीत, इसके विरुद्ध अन्य भी आपत्ति है, जिसे पहले बताया जा चुका है। अपरच, विक्रम सवत् ज्योतिषविषयक सवत् नही था, तथा, उस समय, मालव सवत् के नाम से इसका प्रयोग सभवत मालव गण के विभिन्न शाखाओ तक और केवल उन भूभागो पर सीमित था जिसका कोई भी अश प्रारभिक गुप्त आधिपत्य के अन्तर्गत समुद्रगुप्त के समय के पहले नही आया। और, अन्ततोगत्वा, इस बात की पूर्ण सभावना है कि कलियुग सवत् का प्रयोग केवल उज्जैन के कुछ ज्योतिषियो द्वारा पूर्णत शास्त्रीय उद्देश्यो के लिए किया जाता था; तथा उन भूप्रदेशो मे, जहा प्रारभिक गुप्तो की शक्ति का उदय हुआ, यह सर्वथा अज्ञात था। वास्तव मे, स्वय भारत मे ऐसे किसी पूर्व प्रतिष्ठित संवत् का अस्तित्व नहीं था जिसे ग्रहण करने के लिए प्रारभिक गुप्त शासक प्रेरित हुए हो। और अब हमे देखना है कि क्या भारतवर्ष के बाहर इस प्रकार के किसी सवत् का अस्तित्व था।

ऊपर पृ० ६४ पर शिवदेव प्रथम तथा अशुवर्मन् की तिथियो की तुलना करके मैंने, सामान्य रूपेण, यह दिखाया है कि गुप्त सवत् का प्रयोग भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा से परे, नेपाल मे प्रचलित था; यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी पुष्टि ३८६ वर्ष की तिथियुक्त मानदेव के अभिलेख मे अकित तिथि के प्रसग मे प्राप्त निष्कर्षों से भी होती है। अतएव, हमे अब यह देखना चाहिए कि उस देश से प्राप्त आभिलेखिक साक्ष्यो मे और भी अधिक क्या विशेष सूचना प्राप्त होती है[2]।

---

१ द्र०, नीचे परिशिष्ट १।

२ इस प्रसग मे यह विचारणीय है कि वलभी के शासको द्वारा नेपाल में किसी सवत् के प्रचलन अथवा उस देश मे प्रचलित किसी सवत् को ग्रहण किए जाने की कोई सभावना नही है। जैसा कि पहले मैं अन्य प्रसग में बता चुका हूँ, भटार्क को सम्मलित करके वलभी राजवश की प्रथम छः अथवा सात पीढियो के शासक केवल सामन्त सेनापति अथवा महाराज थे। तथा किसी भी स्थिति में उनके द्वारा नेपाल के विजय की अथवा यहाँ तक कि उस देश की सीमाओ तक साम्राज्य-विस्तार की कोई भी सभावना नही है। इस राजवश का प्रथम शासक जिसने स्वय प्रभुतासपन्न शासक होने का दावा किया, वह धरसेन चतुर्थ था, जिसकी ज्ञात तिथिया ३२६ और ३३० हैं और जिसने परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर एव चक्रवर्तिन् की उपाधियां धारण की। प्रथम तीन विरुद उसके उत्तराधिकारियो द्वारा भी धारण किए गए किन्तु चक्रवर्तिन् उपाधि उसके किसी उत्तराधिकारी ने नहीं धारण किया, जो सभवत इस तथ्य का परिचायक हो सकता है कि धरसेन चतुर्थ की शक्ति का विस्तार उसके सभी उत्तराधिकारियो के शक्ति-विस्तार से अधिक था। यदि हम उसकी प्रथम तिथि ३२६ को ईसवी सन् ३१९-२० वाले सवत्काल मे रखें तो हमे, परिणामस्वरूप ईसवी सन् ६४५-४६ का समय मिलता है जो एक अत्यन्त उपयुक्त समय है जिस समय वह सर्वोपरि शासक की स्थिति तथा उपाधिया ग्रहण कर सकता था। अर्थात् उस अराजकतापूर्ण काल का प्रारभ जो, जैसा कि

नीचे परिशिष्ट ४ मे मैं नेपाल से प्राप्त उन अभिलेखों का विवरण दे रहा हू, जो सप्रति विचाराधीन प्रश्न पर कुछ भी प्रकाश डालते हैं। उनमे अकित वास्तविक तिथियो का विस्तार ईसवी सन् ६३५ से लेकर ८५४ तक है, तथा इनसे उस अवधि मे शासन करने वाले राजवशो के इतिहास का स्पष्ट चित्र प्राप्त होता है। इनसे दो भिन्न राजवशो के विषय मे ज्ञात होता है जो एक ही समय और लगभग समान स्थिति मे शासन कर रहे थे, तथा, इन दोनो वशो की अपनी कुछ विशिष्टताए थी। उनमे से एक राजवश का नाम अभिलेखो मे नही प्राप्त होता किन्तु जिसे वशावली मे ठाकुरी वश कहा गया है, इस वश के राज पत्र कैलासकूट भवन नामक राजप्रासाद से जारी किए गए हैं तथा इनमे विना किसी अपवाद के सदैव हर्ष सवत् का प्रयोग हुआ है। दूसरा राजवश लिच्छवि वश था जिसे अभिलेखो मे स्पष्टत इसी नाम मे अभिहित किया गया है, तथा वशावली ने जिसे सूर्यवश से सवद्ध किया है, इनके राजपत्र मानगृह नामक स्थान अथवा राजप्रासाद से जारी किए गए हैं तथा इनमे विना किसी अपवाद के गुप्त सवत्काल वाले सवत् का प्रयोग हुआ है।

नेपाल की दिशा मे, लिच्छवी वश अथवा गण की प्राचीनता तथा शक्तिसपन्नता के विषय मे फाहियान तथा ह्वेनसाग के विवरणो से ज्ञात होता है, जो कि उन्हें बुद्ध के निर्वाण से पूर्व की घटनाओ मे सवद्ध करते हैं। जहा तक इस वश की नेपाल-शाखा का प्रश्न है, एक अभिलेख मे इसके प्रथम वस्तुत ऐतिहासिक शासक जयदेव प्रथम का नाम मिलता है जिसे, प्रत्येक हिन्दू पीढी के लिए सामान्यतया स्वीकृत समय के आधार पर, ईसवी सन् ३३० से लेकर ३३५ तक अवधि मे रखना होगा।

मत्वन-लिन मे हमे ज्ञात होता है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० २०), "सपूर्ण उत्तरी भूभाग के युद्ध-मूर्ति सदृश अधिपति" हर्षवर्धन की मृत्यु के वाद उपस्थित हुआ। यह स्थिति कन्नौज साम्राज्य के पूर्ण विघटन के साथ समाप्त हुई। अशुवर्मन् नेपाल मे तथा आदित्यसेन मगध मे स्वतन्त्र हो गया। और इसी समय धरसेन चतुर्थ ने अवसर का लाभ उठा कर भारत के पश्चिमी भाग मे अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। किन्तु—अन्य आधारो पर इस वात की असभावना के विषय मे कुछ न कहने पर भी—केवल अशुवर्मन् का नेपाल का शासक होना ही धरसेन चतुर्थ द्वारा नेपाल-विजय की सभावना का सर्वथा निरास करने के लिए पर्याप्त है। इसी तिथि ३२६ को तीन पूर्व प्रस्तावित सवत्कालों मे रखने पर हमे परिणामस्वरूप क्रमश ईसवी सन् ८०३, ४६२ तथा ५१६ प्राप्त होते हैं। इन तिथियो मे इसके विरुद्ध कोई विशेष आपत्ति नही हो सकती यदि हम तर्कमात्र के लिए यह मान लें कि धरसेन चतुर्थ ने काठियावाड़ तथा गुजरात के निकटवर्ती उत्तरी भारत का काफी भूप्रदेश अपने आधिपत्य में लाया होगा। उत्तरी भारत से लेकर नेपाल तक के इतने विस्तृत भूप्रदेश पर विजय का उल्लेख वलभी राजपत्रो मे अवश्य हुआ होता, किन्तु इनमे वश के इतिहास मे घटी इस प्रकार की किसी घटना का अल्पतम सकेत भी नहीं है। वस्तुत भटाक द्वारा मैत्रको के उन्मूलन के उल्लेख को छोड कर ये लेख इस वश के किसी भी शासक की किसी सफलता का उल्लेख नहीं करते, जिससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भ से लेकर अन्त तक वलभी शक्ति एक सर्वथा क्षेत्रीय शक्तिमात्र थी। जहां तक पहले प्रस्तावित सवत्कालों का प्रश्न है, यदि यह मान भी लिया जाय कि धरसेन चतुर्थ ने नेपाल की अथवा नेपाल की सीमाओ तक उत्तरी भारत को विजय किया और वहा ईसवी सन् ३१९-२० के सवत् का प्रचलन किया, तव भी एक प्रश्न शेष रहता है और जिसका उत्तर नहीं दिया जा सकता—कि उसके व्यवहार मे इतनी गभीर असगति क्यो मिलती है कि वहां उसने उस गुप्त सवत् के स्थान पर जिसे उसने तथा उसके उत्तराधिकारियों ने अपने साम्राज्य के सभी शासकीय कार्यों के लिए काम में लिया, इस सवत् का प्रचलन क्यो किया जो—उन लोगों के अनुसार जिन्होंने उन संवत्-कालों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—उसके अपने अधिकृत क्षेत्र में व्यवहृत नहीं होता था?

प्रारंभिक गुप्तो तथा लिच्छवियों के बीच प्राचीन काल से मित्रतापूर्ण संबध होने का प्रमाण चन्द्रगुप्त प्रथम का लिच्छवि की कन्या, अथवा किसी लिच्छवि शासक की कन्या, कुमार देवी के साथ हुए विवाह सम्बन्ध से प्राप्त होता है। इस सबध का उल्लेख प्रारंभिक गुप्तो ने जितने गर्व से किया है-चन्द्रगुप्त प्रथम की कुछ सुवर्ण-मुद्राओ पर कुमार देवी तथा उसके पिता अथवा वश का नाम सावधानी पूर्वक अकित किया गया है तथा वशावली सूचक अभिलेखो मे समुद्रगुप्त के लिए सदैव लिच्छवी-दौहित्र उपाधि का प्रयोग हुआ है-उससे यह प्रमाणित होता है कि लिच्छवि लोग इस समय कम से कम उन के बरावर की शक्ति थे। पुन इलाहावाद स्तम्भलेख से यह ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने नेपाल को अधीनस्थ प्रान्त न भी बनाया हो तो भी उसका साम्राज्य उस देश की सीमाओ तक अवश्य विस्तृत था।

इसमे कोई सदेह नही हो सकता कि प्रारंभिक गुप्त शासक नेपाल मे अपने लिच्छवि सबधियो द्वारा प्रयुक्त होने वाले सवत् के स्वरूप तथा उसके उद्भव से परिचित रहे होंगे। तथा, जयदेव प्रथम के लिए निश्चित किया गया समय ईसवी सन् ३२०-२१ के इतने निकट पडता है कि उसके शासन काल के प्रारभ को उस वर्ष मे रखने मे अधिक समायोजन की आवश्यकता नही है। इस व्यवस्था से सवत् के उद्भव के विषय मे एक पूर्णतया बुद्धिग्राह्य कारण प्राप्त होता है, जिसके प्रति उत्तराधिकारियो का इतना आग्रहपूर्ण अनुराग था कि वे नेपाल से हर्ष सवत् के अनुप्रवेश तथा कैलासकूट भवन के पडौसी ठाकुरी राजवश द्वारा इसके अगीकरण के कम से कम दो शताब्दियो बाद तक इसका प्रयोग करते रहे। तथा, गुप्तो को ऐसे राजवश के सवत् को अगीकार करने मे कोई आपत्ति नही हो सकती थी जिसके साथ सवध होने मे वे विशेष गर्व का अनुभव करते थे। अत मेरे विचार से सर्वाधिक समावना इस बात की है कि तथाकथित गुप्त-सवत् एक लिच्छवि-सवत् था, जिसका प्रारभ या तो लिच्छवियो के गणतन्त्रात्मक अथवा गोत्रीय सविधान की समाप्ति के पश्चात् राजतत्र के प्रतिष्ठापन के समय से हुआ अथवा जयदेव प्रथम के शासनकाल के प्रारभ से हुआ, जिसने इस वश की नेपाल मे आवासित एक शाखा मे एक नए राजवश की स्थापना की थी। किन्तु, इस सवत् के उद्भव का प्रश्न एक ऐसा प्रश्न है जिस पर बाद की खोजो-विशेष रूप से यदि इस प्रकार की कोई खोज नेपाल मे होती है-से और भी अधिक प्रकाश पडने की आशा की जा सकती है।

४ नवम्बर, १८८७

जे० एफ० फ्लीट

---

१ द्र० लेगी का ट्रैवेल्स आफ फा-हियन, पृ० ७१, ७६, बील का बुद्धिस्ट रेकर्डस् आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, जि० १, पृ० रोमन १३ तथा रोमन ५५ तथा जि० २, पृ० ६७ टिप्पणी, ७०, ७३, ७७ टिप्पणी, ८२।

परिशिष्ट १

शक सवत् के काल तथा गणना-विधि पर एक टिप्पणी

जनरल सर ए० कनिघम की सारणियों[1] तथा गणपत कृष्णजी एव केरो लक्ष्मण छत्रे के पचांगों मे ५ अप्रेल, ईसवी सन् १८८६ से लेकर २४ मार्च, ईसवी सन् १८८७ की अवधि को शक सवत् १८०८ के साथ सगति रखते हुए दिखाया गया है। इसी प्रकार, सायन-पचाग में भी इस अवधि विशेष को निरयण चान्द्र-सौर वर्ष के रूप में गृहीत शक सवत् १८०८ से सगति रखती हुई दिखाया गया है, सायन वर्ष के रूप मे शक सवत् १८०८ ६ मार्च, ईसवी सन् १८८६ से लेकर २२ फरवरी, ईसवी सन् १८८७ तक की अवधि को व्याप्त करेगा। किन्तु, गणना सवधी सभी प्रयोजनो मे—यहा तक कि[2] यदि हम इसके प्रथम दिन, चैत्र शुक्ल १, की ही गणना कर रहे हो—इस शक वर्ष को "अवसित वर्ष १८०८" के रूप मे लेना होगा। इन सारणियो मे शक का यही प्रयोग अभिप्रेत है, और वस्तुत इसमे सन्देह करने का कोई आधार नही है कि उपरोक्त अवधि वास्तव में अवसित शक सवत् १८०८ तथा प्रचलित १८०९ की समरूप है। किन्तु, सामान्यत इसे केवल शक सवत् १८०८ के रूप मे उद्धृत किया

---

१ उनकी सारणियो को व्यवहार मे लाने के सम्यक् ढग के विषय में समवत उनके इन अभिकथनो से अनुमान किया जा सकता है (उदाहरणार्थ, इण्डियन एराज, पृ० ५, ४८, ५२) कि हिन्दू तिथियों मे वर्षों के अक वस्तुत अवसित वर्षों का निर्देश करते हैं, तथा यह कि हिन्दू लोग पूर्ण हो गये वर्षों के आधार पर ही गणना करते हैं। किन्तु, मैं यहा पाठक द्वारा पहली दृष्टि में इन सारणियो में पाए जाने वाले अर्थ के विषय में कह रहा हूँ। इस प्रकार, यदि कोई भी उनकी सारणी स० १७, पृ० १९९ पर—जिसके साथ इस प्रकार की कोई टिप्पणी नहीं दी गई है कि वहां दिए गए वर्ष अवसित वर्ष हैं—दृष्टि डालें तो ईसवी सन् १८८६–८७ के शक समरूप के रूप मे उसे शक सवत् १८०८ मिलेगा, तथा, जैसा कि स्वाभाविक है, वह उसे एक प्रचलित वर्ष के रूप मे ग्रहण करेगा। इस प्रकार की सभी सारणियों में—उदाहरणार्थ, श्री पटेल की क्रॉनॉलजी में दी गई सारणियो को लें—यही स्थिति मिलती है। यदि इन सारणियों को प्रचलित हिन्दू वर्षों को प्रचलित ईसवी सन् के वर्षों के ठीक सामने दिखाया जाय—जैसा कि वृहस्पति नक्षत्र के दोनों चक्रों के सवत्सरों के विषय में मिलता है—तो सामान्य उद्देश्यों के लिए ये सारणिया और भी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं, और इस प्रकार किसी विशेष गणना की इच्छा रखने वाला व्यक्ति पूर्ववर्ती वर्ष को अपनी गणना का आधार बना सकता है। तथा, साधारण लेखन में प्रचलित हिन्दू वर्षों को निश्चित रूप से प्रचलित ईसवी सन् के वर्षों के साथ ही उद्धृत करना चाहिए।

२ जब तक कि मेष-सक्रान्ति (अर्थात् सूर्य की स्थिति मेष मे होने के समय) पर आधारित सारणियो का प्रयोग न किया जा रहा हो जैसी कि प्रो० छत्रे की सारणियां हैं—जिसमें शक सवत् को वस्तुत मेष-सक्रान्ति के दिन से प्रारम्भ हुआ माना जाता है। इस प्रकार की सारणियों का प्रयोग करने पर, (प्रचलित शक सवत् १८०९ और) अवसित शक सवत् १८०८ से सबद्ध किसी तिथि के लिए—उस तिथि विशेष तक जो मेष-सक्रान्ति को घटित होने वाले सौर दिवस पर पडती है—हमे एक वर्ष प्राचीन पूर्ववर्ती वर्ष, अर्थात् अवसित शक सवत् १८०७, को अपनी गणना का आधार बनाना चाहिए।

जाता है। और, यदि कोई हिन्दू "शनिवार, १ जनवरी, ईसवी सन् १८८७" को इसकी समरूप हिन्दू तिथि मे रूपान्तरित करेगा तो वह प्राप्त निष्कर्ष को इस प्रकार लिखेगा "शके १८०८ पौष शुक्ल सप्तमी शनिवार", इसमे वह न केवल "अवसित" अर्थ वाले किसी शब्द का प्रयोग नही करता अपितु वह, वास्तव मे ही, अपरिष्कृत शक शब्द के स्थान पर सस्कृत भाषा की सप्तमी विभक्ति सूचक शके शब्द का प्रयोग करता है, जिसका शब्दश: अर्थ होगा "(१८०८) शक मे" अर्थात् "जब कि शक १८०८ प्रचलित है," प्रत्येक हिन्दू जो स्वय ज्योतिषी नही है तथा जो वर्ष की सख्या के पारिभाषिक प्रयोग से परिचित नही है, वह वर्ष के उल्लेख मे यही अर्थ पाएगा। यही नही, स्वय पचागो में इसी अभिव्यक्ति का प्रयोग होता है, इस प्रकार, ऊपर उल्लिखित दो पचागो में हम शीर्षक-पृष्ठ पर "शके १८०८ व्ययनाम सवत्सरे" लिखा हुआ पाते हैं-तथा पृष्ठ के ऊपर "शके १८०८ चैत्रशुक्लपक्ष" लिखा हुआ पाते हैं, जो चैत्र मास के शुक्ल पक्ष का सूचक है, इसी प्रकार, सायन-पचाग के शीर्षक पृष्ठ पर हम "शालिवाहन शके १८०८ व्ययनाम सवत्सर" तथा अन्यत्र "अमान्त चैत्रशुक्लपक्ष शालिवाहनशके १८०८ व्ययनामसवत्सर" लिखा हुआ पाते हैं। इसी प्रकार पडित उमाचरण मुहूर्तमिश्र के ग्वालियर स्थित मुद्रणालय से प्रकाशित एक पचाग के शीर्षक पृष्ठ पर हम "शके १८०८ व्ययनासवत्सरे" लिखा हुआ पाते हैं, १७ मार्च, ईसवी सन् १८८५ से लेकर ४ अप्रेल, ईसवी सन् १८८६ तक की अवधि के लिए उस वर्ष के जोधपुर चण्डू-पंचाग के शीर्षक-पृष्ठ पर "शालिवाहनशके १८०७" तथा बनारस में तैयार किए गए एव लखनऊ से प्रकाशित बापूदेव शास्त्री के पचांग मे "श्री सवत् १९४२ शके १८०७ चैत्रशुक्लपक्षः" लिखा हुआ पाया जाता है।

पुन, उन प्रारम्भिक अवतरणो मे जहा सवत्सर फल अर्थात् "वर्ष के (फलित-ज्योतिष के आधार पर) परिणाम" तथा इस प्रकार के अन्य विषयो की चर्चा की गई है, गणपत कृष्णाजी एव के० एल० छत्रे के पचागो में यह अवतरण प्राप्त होता है—अथ गतकलि। ४९८७, शेषकलि ४२७०१३, स्वस्ति, श्रीमन्नृपसमयातीतसवत्[1] १९४२, हेमलम्बनामसवत्सरे, तथा श्रीमन्नृपशालिवाहनशके १८०८, व्ययनामसवत्सरे, अस्मिन् वर्षे राजा चन्द्र —"सम्प्रति कलि (युग का) अवसित (भाग) ४९८७ (वर्ष है), तथा कलि (युग) का शेष भाग ४२७०१३ (वर्ष है)। स्वस्ति। श्रीमान् शासक विक्रमार्क[2] के समय से अवसित १९४२ वें वर्ष में, (तथा) हेमलम्ब सवत्सर में, इसी प्रकार, श्रीमान् शासक शालिवाहन के शक (वर्ष) १८०८ मे (तथा) व्यय सवत्सर में, इस वर्ष में, राजा चन्द्र (है)"। तथा, शक सवत् १८०८ के सायन-पचाग मे निरयण वर्ष के लिए यह दिया गया है कलि-युगस्य गतवर्षाणि ४९८७, श्रीमन्नृपविक्रमार्कसवत्[3] १९४३ विलम्बिसवत्सर, श्रीमन्नृपशालिवाहन

१ अर्थात्, सवत्सरे अथवा संवत्सरेषु।

२ यहा यह आश्चर्यजनक है कि विक्रम वर्ष को स्पष्ट रूप से अवसित वर्ष कहा गया है जबकि शक वर्ष को इस रूप मे विशेषित नही किया गया है, ऐसा लगता है मानो यहा दोनो सवतो की गणना-विधियो मे अन्तर किया जा रहा है।

३ अर्थात् सवत्सरे अथवा सवत्सरेषु। ये अक तथा १९४३ के ग्वालियर पचाग मे दिए गए अक १९४२ के गणपत कृष्णाजी तथा के० एल० छत्रे के पचागो मे दिए गए अको से भिन्न हैं, क्योंकि बाद के दोनो पचाग दक्षिणी गणना-विधि का प्रयोग करते हैं, जिसके अनुसार प्रत्येक विक्रम वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक मास से होता है, तथा जिसका वर्ष उत्तरी गणना-विधि से प्राप्त उसी वर्ष से सात चान्द्र मास बाद पडता है, परिणामस्वरूप, दक्षिणी गणना-विधि के अनुसार (अवसित) शक सवत् १८०८ के प्रारम्भ के समय, चैत्र शुक्ल पक्ष के प्रथम दिवस पर, विक्रम सवत् १९४२ अब भी प्रचलित था।

शकाब्द १८०८ व्ययनामसवत्सर, अयाम्मिन् वर्षे राजा चन्द्र -"कलियुग के अवसित हो चुके वर्ष ४९८७ (हैं), श्रीमान् शासक विक्रमार्क के १९४३ वर्ष मे विलम्बिन् नाम का सवत्सर (है) (तथा) श्रीमान् शासक शालिवाहन के शक का १८०८ वर्ष (है), (तथा) व्यय नामक सवत्सर-जो कि प्रचलित वर्ष है-मे राजा चन्द्र (है)"। इन अवतरणो मे, ये तीनो पचाग पुन शक वर्ष को स्पष्टत एक प्रचलित वर्ष के रूप मे लेते हैं। किन्तु ग्वालियर पचाग में, जिसे मैंने ऊपर उद्धृत किया है, यह प्राप्त होता है - गतकलि ४९८७, शेषकलि ४२७०१३ . , तन्मध्ये गतशक १८०८, शेषशक -१९१९- । स्वस्ति, श्री विक्रमार्कराज्यसमयादतीत सवत्[1] १९४३, शकगतवर्षेपु १८०८, चान्द्रमानेन व्ययनामसवत्सरे वार्हस्पत्यमानेन शके १८०७ आश्विनकृष्ण ७ शुक्रे सूर्योदयाद् गतघटीपु ४७ पलेपु २४ तदवधि शके-१८०८ आश्विनकृष्ण १४ भौमे घटी(पु) ४६ पले(पु) ३ तावत्पर्यन्त, विलम्बिसवत्सरोल्लेख विधेय तदग्रे विकारिसवत्सरोल्लेख कार्य, चैत्रादौ राजा चन्द्र,—"कलि (युग का) अवसित (भाग) ४९८७ (वर्ष है), तथा कलि (युग) का अवशिष्ट ४२७०१३ (वर्ष) है .. ., इसमें, शक (सवत्) का अवसित-(भाग) १८०८ (वर्ष) है, (तथा) शक (सवत्) का अवशिष्ट १९१९२ (वर्ष) है -। स्वस्ति। श्रीमान् विक्रमार्क के शासनकाल के समय से अवसित हो चुके वर्ष १९४३ मे, (तथा) अवसित शक वर्ष १८०८ में, (तथा) चान्द्र गणना-विधि के अनुसार, व्यय नामक (प्रचलित) सवत्सर में[2]— वृहस्पति की गणना-विधि के अनुसार, शक १८०७ में, आश्विन कृष्ण पक्ष के सातवें चान्द्र दिवस, शुक्रवार के दिन सूर्योदय से ४७ घटी २४ पल की समाप्ति से लेकर शक १८०८ में, आश्विन कृष्ण पक्ष के चौदहवें चान्द्र दिवस मगलवार के दिन (सूर्योदय से) ४६ घटी ३ पल की समाप्ति तक, विलम्बिन् सवत्सर का उल्लेख होगा, उसके पश्चात् विकारिन् सवत्सर का उल्लेख करना चाहिए—चैत्र के प्रारम्भ में राजा चन्द्र (है)।" प्रत्येक पचाग के अन्त में, सक्रान्तियो के सवध में, ऊपर उद्धृत अवतरणों के समान अवतरण दिखाई पडते हैं।

सायन वर्ष के रूप में गृहीत शक सवत् १८०८ के प्रसग में दिए गए इन्ही अवतरणो मे, सायन-पचाग किसी अनिश्चित अभिकथन तक ही सीमित नही रहता अपितु शक वर्ष को स्पष्टरूपेण एक प्रचलित वर्ष के रूप में उद्धृत करता है, इस प्रकार—कलियुगस्य सध्याया आदित, शालिवाहन-शकारम्भकालपर्यन्त, नन्दाद्रीन्दुगुण (३१७९) मितानि सौरवर्षाण्यतीतानि, प्रवर्त्तमानशालिवाहनशकाब्द अष्टोत्तराष्टादश (१८०८) मित, अमु सवत्सर नर्मदाया दक्षिणभागे व्ययनाम्ना व्यवहरन्ति, उत्तरभागे च विलम्बिनाम्ना, अस्मिन् वर्षे राजा शनि —"कलियुग की सध्या[3] के प्रारम्भ से लेकर शालिवान-शक के प्रारम्भ के समय तक कुछ सौर वर्ष अवसित हुए जिनकी गणना (नौ) नन्दो, (सात) पर्वतों, (एक) चन्द्र, तथा (तीन) गुणो, (३१७९) द्वारा किया जाता है, (तथा)

---

१ अर्थात्, अतीते सवत्सरे, अथवा अतीतेपु सवत्सरेपु।

२ सदर्भ है—"चैत्र के प्रारम्भ के समय, राजा चन्द्र (है)।" बीच मे आने वाली सामग्री अप्रधान वाक्य के रूप मे है।

३ संध्या का सामान्य अनुवाद "प्रात कालीन अथवा सायकालीन गोधूलिवेला" है। चार युगों में से किसी के सवध में प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ उस लम्बी अवधि से होता है जो प्रत्येक युग के प्रारम्भ मे चलती है जब तक कि युग विशेष का पूर्ण विकास नही हो जाता। कलियुग की सध्या का विस्तार सौ दैवी वर्ष है जो कि मनुष्यों के ३६०० वर्ष के बराबर है, इस प्रकार हम अभी उसी अवधि मे है। युग का पूर्ण काल-विस्तार मनुष्यों का ३६००० वर्ष है। तथा यह मनुष्या के ३६००० वर्षों के सध्यांश के साथ समाप्त होगा। इन अकों से युग विशेष मे ४३२००० वर्षो का योग प्राप्त होता है।

शालिवाहन-शक के प्रचलित वर्ष की गणना अठारह सौ में आठ अधिक सख्या (१८०८) से की जाती है, नर्मदा के दक्षिण भाग में लोग सवत्सर को व्यय नाम से जानते हैं, तथा उत्तर भाग में विलम्बिन् नाम से, वर्ष में राजा शनि (है)।" किन्तु, उसी पचाग मे पूर्ववर्ती वर्ष, शक सवत् १८०७ के प्रसङ्ग में दिए गए समरूप अवतरण में इन्ही शब्दो में कलियुग की सख्या के प्रारभ से लेकर शक सवत् के प्रारभ तक अवसित हुए सौर वर्षों की सख्या दिए होने के पश्चात् पाठ इस प्रकार दिया गया हैं · ततो वर्तमान-वत्सरारम्भकालपर्यन्त सप्तोत्तराष्टादशशत (१८०७) मितानि वर्षाणि गतानि, अमु वर्तमान-सवत्सर नर्मदाया दक्षिणे भागे पार्थिवनाम्ना व्यवहरन्ति उत्तरे भागे च हेमलम्बनाम्ना, अथास्मिन् वर्षे राजा भौम —"उस समय से लेकर वर्तमान् वर्ष तक कुछ वर्ष बीत चुके हैं जिन्हे अट्ठारह सौ में सात अधिक सख्या से (१८०७) गिना जाता है, नर्मदा के दक्षिण भाग मे लोग इस प्रचलित सवत्सर को पार्थिव नाम से अभिहित करते हैं तथा नर्मदा के उत्तर मे हेमलम्ब नाम से, इस वर्ष राजा मगल (है)"।[1] अतएव, सरसरी तौर से, शक सवत् १८०७ से १८०८ तक, अवसित वर्षों तथा प्रचलित वर्षों के बीच कम से कम शाब्दिक अन्तर किया गया मिलता है, तथा शक सवत् १८०८ के लिए गृहीत पदावली का अनुवर्ती वर्ष, १८०९, के प्रसग में पुनरावर्तन हुआ है। ईसवी सन् १८८५-८६ के एक उदाहरण में पार्थिव अथवा हेमलम्ब – इनमें प्रत्येक प्रचलित सवत्सर के रूप मे—सवत्सर को अवसित शक सवत् १८०७ के रूप में व्यवहृत किया गया है, जबकि, ईसवी सन् १८८६-८७ के अन्य उदाहरण में व्यय अथवा विलम्बिन् सवत्सर—इनमे प्रत्येक प्रचलित्त सवत्सर है तथा चक्र मे क्रमश पार्थिव तथा हेमलम्ब के पश्चात् आता है –को प्रचलित शक सवत् १८०८ के समरूप के रूप मे लिया गया है। इस परिवर्तन के पीछे क्या कारण हैं, यह मुझे नही ज्ञात है और मैं इसका अन्यत्र स्पष्टीकरण करने का उत्तरदायित्व श्री श० ब० दीक्षित पर छोडता हूँ जो कि पचाग के सपादक मण्डल के एक सदस्य हैं। किन्तु, ईसवी सन् १८८५-८६ के प्रसग मे प्रयुक्त पदावली का शब्दश अनुवाद करने पर तथा सारणियो के सिद्धान्तों के अनुसार वह अवधि अवसित शक सवत् १८०७ (तथा प्रचलित १८०८) की समरूप होगी, तथा इन्ही आधारो पर अवसित शक सवत् १८०८ (प्रचलित १८०९) को ईसवी सन् १८८६-८७ के समरूप के रूप मे उल्लिखित करना चाहिए था।

अब मुझे यहा यह तथ्य प्रकाश मे लाना है कि मद्रास मे उसी अग्रेजी अवधि, ईसवी सन् १८८६-८७, को वस्तुत शक सवत् १८०९ कहा जाता है, और इसके साथ षष्ठिवर्षीयचक्र का वही सवत्सर, व्यय, सलग्न होता है। यह सत्य है कि दक्षिणी भारत मे दो कुछ भिन्न प्रकार की विधिया मिलती हैं। इस प्रकार, जहा तक मैं सोचता हूँ, आरकाट जिले से प्रकाशित तेलगू सिद्धान्तपञ्चाङ्गम् मे ५ अप्रेल, ईसवी सन् १८८६ से २४ मार्च, ईसवी सन् १८८७ तक की चान्द्र-सौर अवधि को व्यय नामक सवत्सर कहा गया है और इसे अवसित शक सवत् १८०८ का समरूप बताया गया है, तथा प्रारम्भ मे यह सदैव अवसित वर्षों को उद्धृत करता है, इस प्रकार—"कलियुगगताब्द ४९८७, शालिवाहनशकगताब्दाः १८०८, विक्रमार्कशकगताब्दा १९४३।" किन्तु, दूसरी ओर, मद्रास से प्रकाशित तेलगू पचांग मे ५ अप्रेल, ईसवी सन् १८८६ से लेकर २४ मार्च, ईसवी सन् १८८७ तक की चान्द्र-सौर अवधि को व्यय सवत्सर कहा गया है तथा इसे शक सवत् १८०९, कलियुग सवत् ४९८८ तथा विक्रम सवत् १९४४—जिन्हे अवसित अथवा प्रचलित कुछ भी नही कहा गया है किन्तु जिनसे प्रचलित वर्ष का ही अभिप्राय हो सकता है—का समरूप बताया गया है। और इसी प्रकार अनुवर्ती वर्ष के लिए मद्रास से प्रकाशित

---

१ शक सवत् १८०७ के लिए बनाए गए बापूदेव शास्त्री के पचाग में एकदम यही पाठ मिलता है सिवाय इस अन्तर के कि उसमें अमु वर्तमानवत्सर पाठ किया गया है और अस्मिन वर्षे के पूर्व अथ का विलोपन हुआ है। अनुवर्ती वर्ष के पचाग की प्रतिलिपि मुझे नही मिल पाई।

तमिल सिरीय पञ्चाङ्ग मे १२ अप्रेल, ईसवी सन् १८८७ से ११ अप्रेल, ईसवी सन् १८८८ तक की सौर अवधि को सर्वजित् सवत्सर कहा गया है, और इसे शक सवत् १८१०, कलियुग सवत् ४९८९ तथा विक्रम सवत्[1] १३३५—पूर्वोक्त उदाहरण के समान इन्हें भी स्पष्टत अवसित अथवा प्रचलित वर्ष नही कहा गया है किन्तु इनके प्रचलित वर्ष होने का अनुमान किया जा सकता है[2]—का समरूप बताया गया है। तथा, अन्य सकेतो से इसमे किसी प्रकार का सदेह नही प्रतीत होता कि दक्षिण भारत मे प्रचलित इन दो गणना-विधियो मे दूसरी अधिक लोकप्रिय तथा सामान्यतया प्रचलित विधि थी, जिसके अनुसार ईसवी सन् १८८६ ८७ की अवधि को शक सवत् १८०९ के रूप मे उद्धृत किया गया है, इस प्रकार प्रथम दृष्टि मे इस तथा अन्य सवतो मे प्रयुक्त गणना उत्तरी तथा पश्चिमी भारत मे प्रयुक्त परम्परात्मक गणना की अपेक्षा एक वर्ष की अग्रिम तिथि से चलती प्रतीत होती है।

किन्तु, यह अन्तर केवल देखने मे है, तथा इसका कारण यह स्पष्ट तथ्य है कि मद्रास गणना-विधि मे प्रचलित वर्षों की व्यवस्था का अनुसरण किया गया है, जबकि दूसरी विधि का अवसित वर्षों की व्यवस्था द्वारा नियमन हुआ है। किन्तु अब प्राय उत्तरी भारत तथा पश्चिमी भारत की गणना-विधि को ही उद्धृत किया जाता है। तथा, यद्यपि इसके वर्ष अवसित वर्ष होते हैं तथापि इसे स्वभावत स्पष्ट रूप में इस प्रकार विशेषित नही किया जाता। और, इस प्रकार यह सामान्यतया समझा जाता है कि शक सवत् तथा ईसवी सन् के बीच के अन्तर को जानने के लिए शक सवत् की सख्या मे ७८–७९ की सख्या जोडी जानी चाहिए,[3] तथा यह कि शक सवत् का सवत्काल अथवा इसका ० वर्ष ३ मार्च ईसवी सन् ७८ से लेकर २० फरवरी ईसवी सन् ८९ तक की अवधि मे पडता है (जिसमे ये दोनो तिथिया सम्मिलित हैं), तथा यह कि इसका प्रारम्भ अथवा प्रथम प्रचलित वर्ष २१ फरवरी, ईसवी सन् ७९ से लेकर १० मार्च ईसवी सन् ८० (दोनो तिथिया सम्मिलित हैं) तक की अवधि

---

१ यहां दहाई के स्थान पर ४ के स्थान पर गलती से ३ लिख दिया गया है।

२ ऐसा जान पड़ेगा कि मद्रास से प्रकाशित तमिल वाक्यपञ्चाङ्ग मे १२ अप्रेल, ईसवी सन् १८८७ से १० अप्रेल, ईसवी सन् १८८८ तक की अवधि को सर्वजित् सवत्सर कहा गया है, तथा इसे शक संवत् १८०९, कलियुग सवत् ४९८८ तथा विक्रम सवत् १९४५ का समरूप बताया गया है, और यह कि इन वर्षों को स्पष्ट रूप से प्रचलित वर्ष कहा गया है। किन्तु, शक तथा कलियुग वर्षों के प्रसग मे यह सभवत सही नहीं हो सकता।

३ डा० आर० जी० भण्डारकर ने भी—सर्व प्रथम जिनके "नोट आन द शक डेट्स एण्ड द इयर्स आफ द बार्हस्पत्य सायकल, आकरिंग इन द इन्सक्रिप्सन्स" (अर्ली हिस्टरी आफ़ द डेकन, पृ० १०५ इ०) को पढ़ कर मेरा ध्यान पचांगो में दिए गए विवरणों के परीक्षण की आवश्यकता की ओर गया था—लिखा है (वही, पृ० ९९, तिर्यक् अक्षर उनके हैं) "अवसित गुप्त १९१+२४२=प्रचलित शक ४३३+७८=प्रचलित ईसवी सन् ५११। अवसित गुप्त २०९+२४२=प्रचलित शक ४५१+७८= प्रचलित ईसवी सन् ५२९।" अभी हाल तक मेरा स्वयं का यही विचार था। अन्य लेखकों को सरलतापूर्वक इसी मिथ्या धारणा के वशीभूत पड़े हुए दिखाया जा सकता है। डा० बर्नेल ने तो यहां तक कहा (साउथ इन्डियन पैलियोग्रेफी, पृ० ७२, टिप्पणी) "इस सवत् को ईसवी सन् में रूपान्तरित करने का स्थूल समीकरण है+७८½। वर्ष का प्रारम्भ मार्च के विषुव से होता है, यदि शक अतीते (अर्थात् अवसित) वर्ष का उल्लेख हो, तो समीकरण होगा+७९½।

में पड़ेगा[1]। इससे वस्तुत अवसित शक वर्षों के समरूप प्रचलित ईसवी वर्ष प्राप्त होते हैं। ऊपर शक सवत् १८०८ तथा १८०९ के सवध दिए गए विवरणो से यह स्पष्ट है कि सवत् की प्रारंभिक ज्योतिषियो द्वारा निश्चित की गई, तथा आज तक सुरक्षित रखी गई, गणना-विधि के अनुसार, सवत् का वास्तविक संवत्काल ईसवी सन् ७७-७८ है और ३ मार्च, ईसवी सन् ७८ से २० फरवरी, ईसवी सन् ७९ की अवधि वास्तव मे इसका प्रारम्भ अथवा प्रथम प्रचलित वर्ष है, तथा, यह कि प्रचलित शक वर्षों के समरूप प्रचलित ईसवीय वर्ष प्राप्त करने के लिए वास्तविक संयोज्य संख्या ७७-७८ है। किन्तु, निस्सदेह, इस बात की सदैव सभावना है कि यदि हमे गणना के लिए पूर्ण विवरणो से युक्त कोई ऐसी तिथि मिलती है जो अत्यन्त प्राचीन शक वर्ष की तिथि है, अथवा उन प्राचीनतम शासकीय तथा वशीय वर्षों की कोई तिथि है जो कालान्तर मे शक सवत् मे अकित होने लगे, उस दशा मे सभव है यह समीकरण ठीक न सिद्ध हो, इसका कारण यह है कि यह तिथि सवत् के ज्योतिषियो द्वारा अपनाए जाने के पूर्व के समय की तिथि है।

शक संवत् निश्चितरूपेण उन संवतो मे एक है जिसका उद्भव शासकीय अथवा वंशीय वर्षों के चलते रहने से हुआ। इसके सवध मे प्रमुख हिन्दू परम्परा यह है कि यह राजा विक्रम अथवा विक्रमादित्य द्वारा किसी शक शासक की पराजय की स्मृति मे स्थापित हुआ था। विक्रमादित्य को एक सौ पैंतीस वर्ष पूर्व प्रारभ होने वाले विक्रम सवत् का भी सस्थापक माना जाता है।[2] इस परम्परा

---

१ इन चारो तिथियो के लिए मे श्री ग० व० दीक्षित का ऋणी हूँ। जनरल कनिंघम (इन्डियन एराज, पृ० १३९) ने १४ मार्च, ईसवी सन् ७८ से १७ फरवरी, ईसवी सन् ७९ तक की अवधि तथा १८ फरवरी, ईसवी सन् ७९ से ८ मार्च, ईसवी सन् ८० तक की अवधि बताया है। किन्तु उनके संवत्काल के तथा प्रथम वर्ष के प्रारंभिक दिनो की तुलना करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे कुछ त्रुटि है। १८ फरवरी, १४ मार्च से चौबीस दिन पहले पडता है जबकि अन्तर केवल ग्यारह दिनो का होना चाहिए। श्री सी० पटेल (क्रानालजी, पृ० ६९) ने सवत्काल का प्रारमिक दिन नही दिया है किन्तु उपरोक्त रूप मे ही, प्रथम वर्ष के लिए उन्होंने भी १८ फरवरी, ईसवी सन ७९ से लेकर ८ मार्च, ईसवी सन् ८० की अवधि दिया है।

२ दूसरी परम्परा (उदाहरणार्थ प्रिंसेप्स एसेज, जि० २, यूजफुल टेबल्स, पृ० १५४) यह है कि सवत् का प्रारभ प्रतिष्ठान के शासक शालिवाहन के जन्म से होता है, जिसने उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य का विरोध किया था। किन्तु, सवत् के साथ शालिवाहन के नाम का सयोजन अपेक्षाकृत आधुनिक समय मे हुआ, और जो प्राचीनतम उदाहरण मुझे मिल सका है उसका समय तेरहवीं शताब्दी ई० है, आभिलेखिक साक्ष्य शालिवाहन द्वारा एक वर्ष के 'स्थापित तथा निर्णीत' होने का उल्लेख करते हैं किन्तु इसका प्रारम्भ उसके जन्म से नहीं बताते (द्र० इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० २१४ इ०)। इस दूसरी बात के प्रमाणस्वरूप मैक्समूलर ने (इण्डिया, ह्वाट कॅन इट टीच अस ? पृ० ३०० इ०) मूहूर्त्तभुवनोन्मार्तण्ड से एक अवतरण उद्धृत किया है जिसका अर्थ है "शालिवाहन के जन्म से तीन, (नौ) अकों तथा चौदह) इन्द्रों द्वारा सगणित वर्ष मे (अर्थात शक सवत् १४९३ मे)। तपस (माघ) (मास) मे, यह मार्त्तण्ड लिखा गया।" जैसा कि प्रो० मैक्समूलर ने इस अवतरण पर टिप्पणी करते हुए बताया है, इस सवत् को शालिवाहन-शक अथवा शालिवाहन सवत् कहना सर्वथा अशुद्ध नहीं है, क्योकि अपेक्षाकृत प्राचीन आभिलेखिक साक्ष्यो मे ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमे इस सवत् को हिन्दुओ ने यह नाम दिया है। किन्तु इन दृष्टातो से यह भी ज्ञात होता है कि इसके साथ शालिवाहन के नाम का सयोजन काफी बाद का है। तथा, प्राचीन तिथियो के सम्बन्ध मे की जाने वाली चर्चाओ ने इस सवत् को इस नाम से अभिहित करना कालदोषयुक्त तथा त्रुटिपूर्ण है।

का उल्लेख अलबेरूनी ने किया है[1] किन्तु इससे भ्रमित न होते हुए उसने लिखा "चूकि उस सवत् जो कि विक्रमादित्य का सवत् कहलाता है तथा शक के मारे जाने के बीच दीर्घकालीन अन्तराय है, अत हमारा विचार है कि वह विक्रमादित्य, जिससे सवत् को यह नाम मिला है, तथा शक को मारने वाला विक्रमादित्य एक व्यक्ति नही है तथा दोनो मे केवल नाम की समानता है।" और जब चालुक्य शासक मगलीश के बादामी गुहालेख की खोज से[2] यह परम्परा सर्वथा निर्मूल सिद्ध हो गई है, इस लेख को स्पष्टतया इस प्रकार तिथ्यकित किया गया है 'जब कि शक शासक (अथवा शासको) की अधीश्वरता-प्राप्ति के पाच सौ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।" इस लेख से यह निश्चित होता है कि इस सवत् का वास्तविक प्रारम्भ-बिन्दु शक जाति के किसी शासक विशेष, अथवा शासको, के शासनकाल का प्रारभ है, और, इस प्रकार, इसके वर्ष मूलत' शासकीय अथवा वशीय वर्ष थे। एक निश्चित सवत् के रूप मे स्वीकृत होने के पूर्व इस प्रकार के वर्ष लम्बे समय तक ऐसे ही चलते रहे होंगे और निस्सदेह यही कारण है कि क्यो इस प्रकार के प्रत्येक हिन्दू सवत् के प्रारभिक वर्षों के लिए वशीय अभिधान के बिना केवल वर्ष अथवा सवत्सर शब्द का प्रयोग मिलता है। साथ ही, इस प्रकार के शासकीय अथवा वशीय वर्षों का अवमित वर्षों के रूप मे उद्धृत होना तभी प्रारभ होगा जब कि वे वस्तुत किसी सवत् के रूप मे स्वीकार कर लिए जाय अथवा ज्योतिषीय गणनाओ के लिए ज्योतिषियों द्वारा उनका प्रयोग होने लगे, उस समय तक उनका प्रयोग अर्ध-वैयक्तिक शासकीय आवश्यकताओ तक ही सीमित होने के कारण, वे निश्चित ही प्रचलित वर्षों के रूप मे उद्धृत होंगे। इसमें विश्वास नही किया जा सकता कि अपने सिंहासनारोहण के तुरन्त पश्चात् शक शासक ने यह राजाज्ञा निकाल दी होगी कि उस समय से एक नए सवत् का सस्थापन हुआ है तथा इसका सामान्य प्रयोग तुरन्त प्रारभ हो जाना चाहिए, तथा, यह कि ज्योतिषियों की सुविधा के लिए प्रथम वर्ष को, अर्थात् उस समय प्रचलित वर्ष को, एक अवमित वर्ष के रूप मे ग्रहण किया जाय-जिसे करना, वास्तव मे, बडा कठिन होगा। उस प्रथम वर्ष मे सम्पन्न हुए किसी सार्वजनिक कार्य की वास्तविक तिथिक्रमिक स्थिति निश्चित करने में किसी प्राचीनतर सवत्-उदाहरणार्थ, कलियुग के सवत् का-प्रयोग किया जाएगा। किन्तु, केवल शासकीय वर्ष के सदर्भ मे सम्पन्न कार्य का तिथ्यकन इस प्रकार होगा 'वर्ष एक मे', 'प्रथम वर्ष मे' अथवा "जबकि शासनकाल का प्रथम वर्ष प्रचलित है", उदाहरण के लिए, जैसा कि हम एरण अभिलेख (स० ३६) की पक्ति १ इ० मे पाते हैं "प्रथम वर्ष में जब कि महाराजाधिराज श्रीमान् तोरमाण पृथ्वी पर शासन कर रहे है।" तिथ्यकन की यह विधि तब तक चलती रहेगी जब तक कि ये वर्ष शासकीय वर्ष मात्र रहेंगे, और, संभवत इस सपूर्ण अवधि में, ये वर्ष पूर्णतया शासकीय वर्ष रहेंगे और प्रत्येक वर्ष का प्रारभ-बिना इसकी चिन्ता किए कि उस समय व्यवहृत ज्योतिषीय वर्ष का प्रारभ किस दिन से होता है-सिंहासनारोहण की मूल तिथि से होगा किन्तु ज्योतिषीय सवत् के रूप मे ग्रहण करने पर ज्योतिषियो द्वारा-उस समय प्रचलित शासकीय वर्ष से पीछे की ओर प्रथम प्रचलित शासकीय वर्ष के प्रारभ के समय अवसित होने वाले कलियुग के अतिम वर्ष तक गणना करके-इसका निश्चित सवत्काल स्थापित किया जाएगा। इस प्रक्रिया मे वे, सरलीकरण के उद्देश्य से, शासकीय वर्षों के लिए-जहा तक प्रत्येक वर्ष के प्रारभ-बिन्दु का प्रश्न है-वही योजना तथा मासो के पक्षो के लिए वही व्यवस्था निर्धारित करेंगे जो कि देश के उस भाग मे प्रयुक्त होने वाले कलियुग सवत् के प्रसग मे पायी जाती है। और, इस प्रकार वे उन सभी आकडो को निश्चित कर देंगे जिससे वे ज्योतिषीय आवश्यकताओ के प्रसग मे इस नए सवत् का उपयोग कर सकें। तत्पश्चात्, केवल इसके अव-

१ सचाऊ की अलबेरूनीज इण्डिया, अनुवाद जि० २,पृ० ६।
२ इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० ३६३ इ० तथा जि० १०, पृ० ५७ इ०।

सित वर्षों को, उनके शास्त्र की परम्परा तथा आवश्यकताओ के अनुसार, व्यवहार मे लाना ही शेष रहेगा। ज्योतिषीय कार्यों मे कलियुग के स्थान पर शक सवत् की स्थानापन्नता आर्यभट (जन्म, ईसवी सन् ४७६)[1]-जिन्होने कलियुग का प्रयोग किया है-के पश्चात्, तथा वराहमिहिर (मृत्यु, ईसवी सन् ५८७)[2]-जिन्होने शक सवत् का प्रयोग किया है-के समय मे अथवा उनके कुछ ही समय पहले घटित हुई प्रतीत होती है, और, सभवत, शक सवत् की गणनाओ मे प्रतीयमानत स्थित एक वर्ष का अन्तर शक सवत् ५०० के आस पास उद्भूत हुआ होगा। हम यह मान ले कि शक सवत् का यह अगीकरण शक सवत् ५००, तदनुसार ईसवी सन् ५७७-७८ मे हुआ। प्रारम्भ मे ज्योतिषियो द्वारा यह "अवसित शक सवत् ४९९" के रूप मे लिया जाएगा, तथा इसे और अनुवर्ती कुछ वर्षों को उद्धृत करते समय वे संभवत सावधानीपूर्वक प्रत्येक वर्ष के साथ "अवसित" अर्थ सूचक शब्द जोड़ेंगे। किन्तु, समय बीतने पर अभिव्यक्ति मे इस प्रकार की परिशुद्धि उन्हे निरर्थक प्रतीत होने लगी होगी तथा अपने पचागो मे उन्होंने "अवसित" शब्द का प्रयोग छोड दिया होगा और—उदाहरण के लिए-केवल यह लिखा होगा· "शके ५१० चैत्रमासशुक्लपक्ष।" इससे उनके लिए कोई अन्तर अथवा असुविधा नही उत्पन्न होगी क्योकि प्रत्येक दीक्षित व्यक्ति यह जान लेगा कि यह शक सवत् ५१० के अवसान के पश्चात् प्रचलित शक सवत् ५११ के चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की ओर निर्देश करता है। किन्तु, सामान्य जनता—जिसमे वे लोग भी सम्मिलित हैं जो उसके व्यवहार-विधि मे ठीक प्रकार से दीक्षित हुए बिना पचाग का व्यावहारिक कार्यों मे प्रयोग करते हैं—अपनी गणना मे एक वर्ष पीछे चली जाएगी, और इसमे सदेह नही कि प्रारम्भ मे बडी असुविधा और गडबडी उत्पन्न होगी। किन्तु, यह सब शीघ्र ही विस्मृत हो जाएगा, अथवा, सुविधा के लिए, इसे जान बूझ कर निराकृत कर दिया जाएगा। और इस प्रकार वे शीघ्र ही इस प्रतिपत्ति पर पहुँचेंगे जिसके अनुसार उत्तरी तथा पश्चिमी भारत मे शक सवत् १८०८, एक प्रचलित वर्ष के रूप मे—अवसित वर्ष के रूप मे नही—सामान्यतया, ५ अप्रेल, ईसवी सन् १८८६ से लेकर २४ मार्च, ईसवी सन् १८८७ तक की अवधि के साथ सगति रखता है।

पश्चलेख

ऊपर पृष्ठ १३८ पर शक सवत् १८०७ तथा १८०८ के सायन-पंचाग के प्रसंग मे लिखित अपने अभिकथनो के सबध मे मैं यह जोडना चाहता हूँ कि मैंने श्री श० ब० दीक्षित का ध्यान इसकी परिस्थितियो की ओर आकर्षित किया था, और, अब मैंने पाया है कि (अवसित) शक सवत् १८१० (ईसवी सन् १८८८-८९) के पचाग मे सम्पादको ने पुन (अवसित) शक सवत् १८०७ के अपने पचाग मे प्रयुक्त पदावली का प्रयोग किया है।

---

१ जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S जि० १, पृ० ४०५।

२ जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N. S जि० १, पृ० ४०७।

परिशिष्ट २

हिन्दू तिथियों के वार तथा समरूप अ ग्रे जी तिथियों की गणना की पद्धति

(द्वारा—शकर बालकृष्ण दीक्षित, बम्बई, शिक्षा विभाग)

इस लेख मे, स्वर्गीय प्रोफेसर केरो लक्ष्मण छत्रे द्वारा अपनी पुस्तक ग्रह साधनार्थी कोष्ठक अथवा 'ग्रहो के स्थानो की गणना के लिए उपयोगी सारणिया' में दी गई पद्धति के आधार पर वह सही उपाय प्रदर्शित करना चाहता हू जिसके आधार पर किसी प्रदत हिन्दू तिथि अथवा चाद्र दिवस का, तदनुरूप वार का, तथा जूलियन अथवा ग्रेगोरियन पचाग के अनुसार प्राप्त समरूप अग्रेजी तिथि का निर्धारण किया जा सके। [1]

इस प्रक्रिया मे सन्निहित विभिन्न चरणो के विवरण के पूर्व मैं उन मुख्य पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करू गा जिनका इस लेख मे प्रयोग किया जाएगा तथा सक्षिप्तता एव समासिकता के उद्देश्य मे इन्हे मौलिक सम्कृत रूप में प्रस्तुत किया जाएगा।

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

किसी विशेष वर्ष का अब्दप-जिसका शाब्दिक अर्थ है 'वर्ष का अधिपति'-यह एक प्रचलित शब्द है जिसका प्रो० के० एल० छत्रे की पुस्तक तथा अन्य पुस्तको में प्रयोग मिलता है, किन्तु सर्वत्र नहीं। यह उस वर्ष की मेष-सक्रान्ति का द्योतक है। प्रो० के० एल छत्रे ने अब्दप का प्रयोग मेष-सक्रान्ति के स्पष्ट काल के लिए किया है। यहा स्पष्ट की गणना सूर्य-सिद्धान्त की पद्धति से की गई है। अन्य हिन्दू ग्रथो मे अब्दप शब्द का प्रयोग मेष-सक्रान्ति के मध्यम काल से है। इसी प्रकार उनके द्वारा गृहीत सौर वर्ष का विस्तार सूर्य-सिद्धान्त मे दिया गया वर्ष-विस्तार है, जिसे वर्तमान काल मे भारत के अधिकाश भागो मे माना जाता है। किन्तु, यह ध्यान मे रखना चाहिए कि उनके द्वारा दी गई सूर्य

---

१ इनमें से अधिकाश व्याख्याये मेरी अपनी हैं। या तो अपनी पुस्तक को बहुत बडी न होने देने के उद्देश्य से अथवा किसी अन्य कारण प्रो० के० एल छत्रे ने, कुछ अपेक्षाकृत सरल शब्दो को छोडकर, सभी पारिभाषिक शब्दो का, बिना उसकी व्याख्या किए, प्रयोग किया है, न उन्होंने यह स्पष्टीकरण किया है कि किन्ही वर्षों के लिए उन्हें कुछ विशेष अंक कैसे प्राप्त हुए, अथवा किसी वर्ष विशेष के प्रसग मे दृश्यमान व्यतिक्रम का क्या कारण है।

२ उन सभी सदर्भों में जहा हम स्पष्ट शब्द का प्रयोग करते हैं, अग्रेजी ज्योतिषी 'अपेरेन्ट' (Apparent) शब्द का प्रयोग करते हैं। अतएव 'अपेरेन्ट' स्पष्ट शब्द का सही अनुवाद है।

३ भारत मे ज्योतिषियो के तीन वर्ग हैं। एक वर्ग सूर्य-सिद्धान्त का अनुसरण करता है और सौर पक्ष कहलाता है, दूसरा ब्रह्म सिद्धान्त का अनुसरण करता है और ब्रह्म पक्ष कहलाता है, तीसरा वर्ग आर्य-सिद्धांत का अनुयायी है और आर्यपक्ष नाम से अभिहित होता है। जिस मुख्य विषय पर उनका पारस्परिक मतभेद है वह है वर्ष के विस्तार का प्रश्न, किन्तु, तीनों वर्गों के मतों में परस्पर केवल कुछ विपलों का अन्तर पडता

तथा चंद्र की सारणिया तथा ग्रहो की सारणिया योरोपीय सारणियों पर आधारित है, तथा यह कि सूर्य तथा अन्य नक्षत्रो की जो स्थितिया उनकी पुस्तक मे दी गई हैं, वे विपुव-बिन्दु से सगणित हुई हैं। नक्षत्रो की स्थितियो की गणना के लिए हिन्दू ज्योतिषियो द्वारा स्वीकृत प्रारम्भ-बिन्दु, उनके विचार से, लगभग अवसित शक सवत् ४४४ (ईसवी सन् ५२२-२३) के समय विपुव-बिन्दु का समकालीन था। वासन्तिक विपुव पर सूर्य के दो अनुक्रमिक आवर्तनो-जिसे 'उष्णदेशीय वर्ष' कहा जाता है-के बीच का अन्तर वर्तमान काल मे ३६५ दिन, १४ घटी तथा ३१.९७२ पल होता है, जबकि सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार वर्ष का विस्तार ३६५ दिन १५ घटी तथा ३१.५२३ पल है। इस अवधि मे सूर्य की गति, विपुव से लेकर विपुव तक, एक पूर्ण परिक्रमण+चाप का लगभग ५८ ६८८१ होती है। अतएव, वर्तमान काल मे हिन्दू ज्योतिषियो का प्रारम्भ-बिन्दु वासन्तीय विपुव से बाइस अश से कुछ अधिक पूर्व मे होता है। यह अन्तर अयनांश-शाब्दिक अर्थ, अयन का अश-कहलाता है, तथा वर्तमान वर्ष अर्थात् अवसित शक सवत् १८०९ (ईसवी सन् १८८७-८८) के अयनाश, गणेश देवज्ञ के ग्रह-लाघव [1] के अनुसार, २२ अश ४५ मिनट हैं। चू कि, विपुव से सगणित होने पर नक्षत्रो के देशान्तर इन अयनाशों को सम्मिलित करते हैं, अतएव वे सायन-शाब्दिक अर्थ, 'अयन से युक्त'-कहलाते हैं। तथा सूर्य-सिद्धान्त तथा अन्य हिन्दू कृतियो मे दी गई विधि के अनुसार प्राप्त नक्षत्रो की स्थितियो को, पृथकत्व प्रदर्शित करने के उद्देश्य से, निरयण-शाब्दिक अर्थ, 'अयन से रहित'-कहते है। प्रो० के० एल० छत्रे की सारणियो से प्राप्त स्थितिया सायन है। किन्तु, इसमे से कोई भी प्रक्रिया अपनाने पर, तिथि समान ही मिलती है, किन्तु, नक्षत्र, अथवा 'चान्द्र निकेतन' तथा, योग अथवा 'चन्द्र तथा सूर्य के देशान्तरो का जोड', के विषय मे ऐसी बात नही है [२]।

अब्दप के अक प्रो० के० एल० छत्रे की पुस्तक के पृ० १०, ११ पर सारणी १ मे दिए गए हैं और वारो, घटियो और पलो में अभिव्यक्त किए गए है। इनमे वार की गणना-जिसे कभी कभी

है (विपल पल का साठवां भाग होता है)। मतभेद का दूसरा विषय यह है कि किसी अवधि विशेष मे-उदाहरण के लिए एक महायुग मे-चद्रमा, ग्रहो इत्यादि के परिक्रमणो की सख्या उन सबमे भिन्न भिन्न है। सूर्य सिद्धान्त से प्रो० के० एल० छत्रे ने केवल वर्ष का विस्तार तथा इसके प्रारम्भ बिन्दु अर्थात् मेष-सक्रांति को ग्रहण किया है, लगभग अन्य सभी विषय मे वह इन तीनो मे से किसी प्रमाण का अनुसरण नहीं करते अपितु उन्होने अपनी सारणिया को ग्रहो की योरोपीय सारणियो के आधार पर बनाया है। उनकी पुस्तक के कल साधना नामक भाग में दी गई तिथियो से सबधित उनकी सारणियो के प्रसग मे द्र० नीचे पृ० १४७ टिप्पणी १, तथा पृष्ठ १५४ पर टिप्पणी १ के ऊपर दिया गया पाठ।

१ इस कृति का समय अवसित शक सवत् १४४२ (ईसवी सन् १५२०-२१) है। वर्तमान समय मे, दक्षिण मे, तथा भारत के कुछ अन्य भागो मे प्रकाशित होने वाले सभी पचांग (हिन्दू तिथिपत्र) इसी कृति तथा इसी लेखक की तिथि-चिन्तामणि शीर्षक एक अन्य छोटी पुस्तक—जिसमे सभी अपेक्षित सारणिया मिलती हैं—के आधार पर बनते हैं।

१ तिथियो की गणना के लिए चन्द्र के देशान्तरो तथा सूर्य के देशान्तरो के बीच स्थित अन्तर को लेना होता है अतएव, इससे कोई अन्तर नही पडता कि ये देशान्तर सायन हैं अथवा निरयण है। किसी नक्षत्र की प्राप्ति के लिए अयनाशों को प्रो० के० एल० छत्रे की सारणियो से प्राप्त चद्रमा के देशान्तरो के प्रति व्यवहृत करना चाहिए। महाराजा होलकर के सरक्षकत्व मे बम्बई विश्वविद्यालय के श्री जनार्दन बी० मोनक बी०ए०, मेरी तथा इदौर के श्री कृष्णराव रघुनाथ भिडे की सहायता से ग्वालियर के श्री विसजी रघुनाथ लेले द्वारा शक १८०६ से प्रतिवर्ष प्रकाशित सायन-पचांग सायन पद्धति का अनुसरण करता है।

दिन अथवा दिवस अर्थात् सौर दिवस (तथा रात्रि) कहा जाता है—नियमित क्रम मे, १ के रूप मे व्यवहृत रविवार से लेकर ७ अथवा ० के रूप मे शनिवार तक की जाती है, तथा हिन्दू इसकी गणना सदैव सूर्योदय मे सूर्योदय तक करते हैं। अब्दप का वार वह दिन प्रदर्शित करता है जिस दिन कि वर्ष की मेष-सक्रान्ति पडी थी। घटी—जिसे घटि और घटिका भी कहते हैं—माध्य सौर दिवस तथा रात्रि का साठवा भाग होती है, और इस प्रकार यह अग्रेजी चौवीस मिनट के बराबर होती है। सुविधा के उद्देश्य से घटी शब्द का प्रयोग तिथि के साठवें भाग के लिए भी होता है, किन्तु उस प्रयोग मे यह एक सौर दिवस और रात्रि से अभिन्न नही होता। पल घटी का साठवा भाग होता है और, इस प्रकार यह अग्रेजी २४ सेकन्डो के बराबर है। अब्दप की घटिया तथा पल मेष-सक्रान्ति जिस दिन घटित हुआ उस वार विशेष पर सूर्योदय के बाद का समय प्रदान करते हैं। इस प्रकार, अवसित ० शक सवत् का-अब्दप (मेष सक्रातीची वेक्त अर्थात् 'मेष-सक्रान्ति का समय'—इस लेखन के सामने, पृ० १० पर) इस प्रकार दिया गया है १ दिन, १० घटिया, १० पल—जिससे यह प्रदर्शित होता है कि उस समय मेष-सक्रान्ति रविवार के दिन, तथा सूर्योदय के पश्चात् १० घटी, १० पल अथवा चार घटे और चार मिनट पर घटित हुई। प्रो० के० एल० छत्रे द्वारा गृहीत सौर वर्ष ३६५ दिन, १५ घटी, ३१ ५२ पल के बराबर है। ३६५ को ७ (एक सप्ताह मे दिनो की सख्या) से विभाजित करने पर शेषफल १ बचता है। और इस प्रकार, यदि किसी एक वर्ष मेष मे सूर्य का प्रवेश किसी रविवार को सूर्योदय के समय होता है, तब आगामी वर्ष मे सूर्य मेष मे सोमवार के दिन, तथा सूर्योदय के पश्चात् १५ घटी ३१ ८ पल पर प्रवेश करेगा। अतएव, एक वर्ष मे अब्दप मे होने वाला अन्तर (पृ० १०, स्तम्भ ३, वार के अन्तर्गत) दिया गया है १ दिन १५ घटी ३१ ५ पल, दशाश स्तम्भ २ से प्राप्त हुए हैं जिसमे कि स्तम्भ १ मे अकित वर्षों की सख्याओ से मेल रखने वाली दिनो की सख्यायें दी गई हैं।

तिथि शब्द एक चान्द्रमास के तीसवें भाग का परिचायक है, अर्थात् क्रान्ति-वलय के प्रति प्रयुक्त होने पर यह उस चक्र से ठीक ठीक $\frac{1}{30}$ भाग का अर्थात् बारह अंशो का निर्देश करती है, किन्तु इसे एक स्पष्ट तिथि के रूप मे लेने पर, एव एक चान्द्रमास की अवधि के प्रति प्रयुक्त करने पर, यह उस अवधि का ठीक ठीक तीसवा भाग हो सकती है, अथवा यह एक सौर दिवस के उपखण्डो के रूप मे पचास से लेकर छाछट घटियो तक हो सकती है। तिथि शब्द के अग्रेजी रूपान्तरण की आवश्यकता पडने पर इसे सर्वधिक उपयुक्त रूप में 'ल्यूनर डे' (चान्द्र दिवस) कहा जा सकता है। प्रत्येक मास मे तीस तिथिया होती हैं जिनमे पन्द्रह तिथिया शुक्ल पक्ष-अर्थात् वर्धमान चन्द्र की अवधि-के अन्तर्गत तथा पन्द्रह कृष्ण पक्ष-अर्थात् क्षीयमाण चन्द्र की अवधि-के अन्तगत आती है। शुक्ल पक्ष की पन्द्रहवी तिथि पूर्णिमा, पूर्णमासी, अथवा पौर्णमासी—शाब्दिक अथ 'पूर्ण-चन्द्रमा से युक्त तिथि' अथवा 'वह तिथि जिसके साथ मास पूर्ण होता है' कहलाती है, कृष्ण पक्ष की पन्द्रहवी तिथि अमावस्या शाब्दिक अर्थ 'वह तिथि जिस पर (सूर्य तथा चन्द्र का) सहवास होता है'—कहलाती है। अमावस्या की समाप्ति के समय सूर्य तथा चद्रमा साथ होते हैं, अर्थात् उनका देशान्तर समान होता है।-पूर्व की ओर अग्रसर होते हुए, जब चन्द्रमा सूर्य को देशान्तर के बारह अश पीछे छोड देता है, तब पहली तिथि समाप्त होती है और इसे पारिभाषिक शब्दो मे प्रतिपद अथवा प्रतिपदा कहा जाता है। प्रतिपदा को अपवादस्वरूप छोड कर, सभी तिथिया क्रमवाचक अको द्वितीया, तृतीया इ० से लेकर चतुर्दशी-अर्थात् 'चौदहवी' तक-द्वारा निर्दिष्ट होती हैं। पूर्णिमा तथा अमावस्या तिथिया कभी कभी अपने इन विशिष्ट नामो से और कभी कभी पचदशी (=पन्द्रहवी) के अभिधान से निर्दिष्ट होती हैं, किन्तु अमावस्या को सामान्यतया पचागो मे तीसवी तिथि के रूप मे लिखा जाता है—यहा तक कि उत्तरी भारत मे भी

जहा मास का कृष्ण पक्ष शुक्ल पक्ष के पहले आता है, अमावस्या का लेखन इसी प्रकार किया जाता है।[1] पचागों मे तिथियो की घटियां तथा पल दिये रहते है, तथा उनके अनुसार यह जानना होता है कि तिथिया सूर्योदय के पश्चात् इतनी घटियों और पलो पर समाप्त हुई। सामान्यतया, तिथि शब्द तिथि की समाप्ति का सूचक होता है, इसके प्रारम्भ अथवा अवधि का नही।

तिथि-शुद्धि शब्द-शाब्दिक अर्थं 'तिथियो का व्यवकलन'—चैत्र मास (मार्च-अप्रैल) के प्रारम्भ से मेष-सक्रान्ति के समय तक की अवधि मे आनेवाली तिथियो की सख्या का निर्देश करता है। प्रो० के० एल० छत्रे की सारणियो मे, यह शब्द, चन्द्र के माध्य देशान्तर तथा सूर्य के स्पष्ट देशान्तर के बीच स्थित अन्तर से सगणित, उन तिथियो की सख्या प्रदर्शित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है जो कि चैत्र के प्रारम्भ से लेकर सूर्य के स्पष्ट मेष सक्रान्ति के समय तक व्यतीत होती है।[2] इस प्रकार अवसित शक सवत् ० मे, मेष-सक्रान्ति के समय सूर्य का माध्य देशातर ११ राशि, २० अश तथा ४६ १ मिनट (पृ० ४६) था, तथा प्रो० के० एल० छत्रे द्वारा निर्दिष्ट विधि के अनुसार इससे प्राप्त स्पष्ट देशान्तर ११ राशि, २२ अश, ३८ ६ (पृ० ८७) है। अतएव सूर्य तथा चन्द्रमा के देशान्तरो के बीच का अन्तर—सूर्य का देशान्तर चन्द्र के देशान्तर से व्यवकलित होने पर-५ राशि, ३ अश (= १५३ अश) ३ ५ मिनट है। तब १५३° ३'५--१२=१२+(९°३'—१२) तिथिया, अर्थात् १२ तिथिया लगभग ४५ घटियां तथा १४ पल व्यतीत हो चुके थे। अत यह अवसित शक सवत्०की तिथि-शुद्धि के रूप मे दिया गया है। एक सौर वर्ष मे ३७१ माध्य तिथिया तथा ३ घटिया, ५३ ४ पल होते हैं।३७१ को ३६० से विभाजित करने पर शेषफल--११ तिथिया, ३ घटिया, ५३ ४ पल को एक वर्ष मे हुए तिथि शुद्धि मे अन्तर के रूप मे दिया गया है (पृ० १०, स्तम्भ ८)।

सूर्य और चन्द्र दोनो की माध्य स्थितियो तथा माध्य गतियो से प्राप्त तिथिया मध्यम अथवा 'माध्य' तिथिया होती है। इसी प्रकार, सूर्य की स्पष्ट स्थिति तथा गति से एव चन्द्र की माध्य स्थिति तथा गति से सगणित तिथियो को—जैसा कि, सारणी ३, पृ० १३–१९ मे दी गई तिथि-शुद्धि तथा तिथियों के माध्य सौर समरूपो के प्रसग मे है—स्पष्ट तिथियो के स्थान पर माध्य तिथिया कहा जा सकता है। किन्तु हमारे पचागो मे दी गई तिथिया इत्यादि सदैव स्पष्ट होती हैं[3] अर्थात् वे सूर्य और चन्द्र की स्पष्ट स्थितियो और गतियो से सगणित होती हैं। स्पष्ट तिथि तथा मध्यम तिथि के बीच कभी कभी लगभग पचीस घटियो का अन्तर होता है, और यह मुख्यत इस कारण है कि चन्द्र का स्पष्ट देशान्तर अपने माध्य देशान्तर से कभी कभी लगभग पाच अश के अन्तर पर होता है[4]। चन्द्रमा की स्पष्ट स्थिति पाने के लिए उसकी माध्य स्थिति के प्रति बहुतेरे दोष-गुण-विचार व्यवहृत

---

१ ज्योतिषीय कृतियो मे गणनाओ के लिए वस्तुत सदैव चांद्र पक्षो की अमान्त दक्षिणी व्यवस्था को व्यवहार मे लिया जाता है।

२ सिद्धान्त-शिरोमणि तथा अन्य कृतियों मे तिथि-शुद्धि शब्द का प्रयोग, सूर्य तथा चन्द्र की माध्य स्थितियों से सगणित, उन तिथियो की सख्याओ के अर्थ मे हुआ है जो कि चैत्र के प्रारम्भ से सूर्य के मध्यम अथवा 'माध्य' मेष-सक्रान्ति के समय तक की अवधि मे व्यतीत होती है।

३ यद्यपि सदैव सर्वथा अपवादरहित अर्थ में नहीं। मैं ऐसा इसलिए कहता हू क्योकि, व्यवहार में, अतिपूर्ण शुद्धता पाने का प्रयत्न न तो किया जाता है और न किया जा सकता है। किन्तु सिद्धान्त मे, उनका अतिपूर्ण अर्थ मे 'स्पष्ट' होना अपेक्षित है।

४ योरोपीय सारणियों के अनुसार, यह अन्तर कभी कभी आठ अशों का होता है।

करने होते है, किन्तु, हिन्दू ज्योतिषियो द्वारा इनमें से केवल एक का प्रयोग किया जाता है,[1] जिसे फल-सस्कार कहते हैं तथा जो 'केन्द्र का समीकार' होता है, तथा, यह–जिस रूप मे वे इसे प्रस्तुत करते हैं–अधिक से अधिक पाच अशो से कुछ अधिक के बराबर होता है। चन्द्रमा के केन्द्र के अनुसार यह शोधन पृथक् पृथक् होता है, केन्द्र भूम्युच्च (apogee) से चद्रमा की दूरी को कहते हैं।[2] इस दोष-गुण-विचार से माध्य तिथि के प्रति प्रयुक्त होने वाले समय से सम्बन्धित दोष-गुण-विचार की गणना की जाती है, इसे पराख्य कहते हैं। यह पृ० २० पर सारणी ४ मे पराख्य शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत दिया गया है। चन्द्रमा के केन्द्र का एक आवर्त्तन २७ दिनो, ३३ घटियो और १६.५६ पलो मे पूरा होता है। इस अवधि को नीचोच्च-मास कहते है।[3] अग्रेजी ज्योतिषियो द्वारा यह 'अपवाद-मास' ('एनामलिस्टिक मन्थ') नाम से जाना जाता हैं। तिथियो मे रूपान्तरित किए जाने पर[4] यह अवधि २७ तिथियो ५६ घटियो और ३३.३६ पलों के बराबर होता है, अर्थात्, लगभग तथा व्यवहार मे, २८ तिथियो के बराबर। तिथियो मे इसका रूपान्तरण सुविधा के लिए किया जाता है, क्योकि केन्द्र मे अन्तर समय की एक तिथि मे केन्द्र की एक तिथि होता है, और यह तिथि-केन्द्र कहलाता है, अर्थात् 'तिथियो मे अभिव्यक्त, तिथि की विसगति'। अवसित शक सवत् ० की मेष-सक्रान्ति के समय चद्रमा का माध्य केन्द्र १० राशि, १६ अश, ५८.८ मिनट (पृ० ८७) था। तिथियो मे रूपान्तरित होने पर यह २४ तिथि, ५२ घटी और ५० पलो के बराबर होता है[5], तथा इसे अवसित शक सवत् ० की मेष-सक्रान्ति के समय तिथि-मध्यम-केन्द्र अर्थात् 'तिथि की माध्य विसगति' के रूप मे दिया गया है (पृ० १०)। इससे ज्ञात होता है कि चद्रमा के अपने भूम्युच्च (apogee) के स्थान पर हुए पूर्ववर्ती आगमन के समय से उस मेष-सक्रान्ति तक कई तिथिया और एक तिथि के कुछ भाग व्यतीत हो चुके थे। एक वर्ष के भीतर चद्रमा के केन्द्र में अन्तर ३ राशियो, २ अशो तथा ६.२ मिनटो का होता है (पृ० ८७, स्तम्भ ३)। तीन के नियम के अनुसार तिथियो मे रुपान्तरित होने पर—अर्थात् ३६०° ९२° ६'२ ति० २७ घ० ५६, प० ३३.३६ ति० ७, घ० ६, प० ४२—यह इस कारण एक वर्ष मे हुए तिथि केन्द्र में अन्तर के रूप मे दिया गया है (पृ० १०, स्तम्भ ५)।

निम्न लिखित उदाहरण की चर्चा के प्रसग मे कुछ अन्य विचार्य-विषयो और शब्दो की व्याख्या की जाएगी।

---

१ अपनी काल-साधना सारणियों मे (उनकी पुस्तक का पृ० १ से लेकर पृ० ३१ तक) तिथियो की प्राप्ति-करण मे प्रो० के० एल० छत्रे द्वारा स्वीकृत इस शोधन का योगफल लगभग वही है जो प्राचीन हिन्दू ज्योतिषियों द्वारा स्वीकृत है। अत उपरोक्त उपाय से प्राप्त तिथियो को, अत्यन्त घनिष्ठ रूप से, सस्कृति कृतियो में बताई गई विधियो से प्राप्त तिथियों के अनुरूप होना चाहिए। किन्तु, अक्षय तथा अन्य बातो मे सूर्य-सिद्धान्त तथा अन्य कृतियो मे परस्पर कुछ भेद है। और, तदनुसार, कभी कभी यह अन्तर पांच अथवा छ घटियों का होता है। अन्तर के कुछ अन्य सूक्ष्म कारण भी हैं।

२ योरोपीय ज्योतिषीय कृतियों में विसगति की गणना 'भूसमीपक' अथवा 'सूर्यसमीपक' से होती हैं, किन्तु, हिन्दू-कृतियों मे यह गणना भूम्युच्च अथवा सूर्योच्च से होती है।

३ इस शब्द मे नीच का अर्थ है 'भूसमीपक' (perigee) तथा उच्च का अर्थ है 'भूम्युच्च' (apogee), नीचोच्च मास की उस अवधि को कहते हैं जिसमें चद्रमा 'भूसमीपक' (perigee) अथवा 'भूम्युच्च' (apogee) से पुन-उसी बिन्दु पर आता है।

४ एक तिथि एक माध्य सौर दिन के ०.९८४३५२९५७२ के बराबर होता है।

५ ३६०° ३१६° ५८'८ ति० २७, घ० ५९, प० ३३.३६ ति० २४, घ० ५२, प० ५०।

किसी प्रदत्त तिथि का वार प्राप्त करना

यदि हम किसी दृष्टान्त विशेष को व्यवहार मे लें तो यह प्रक्रिया तथा इसकी कार्य-विधि की सभी अवस्थाएं सर्वाधिक ठीक प्रकार से समझी जा सकेंगी। तथा, श्री फ्लीट की प्रार्थना पर, मैं अपने दृष्टान्त के रूप मे यह तिथि लेता हूँ :—**अवसित शक संवत् ४०६ (ईसवी सन् ४८४–८५), आषाढ मास** (जून–जुलाई), **शुक्ल पक्ष, द्वादशी तिथि।**

सारणी १, पृ० १० से (द्र० नीचे पृ० १४९-५० पर सारणी ५) अवसित शक सवत् ० के लिए, तीन पृथक् स्तभो के अन्तर्गत तीन सख्याए—जिन्हे पारिभाषिक शब्दो मे क्षेपक अथवा 'योगात्मक सख्याए' कहते हैं—लिखें, अर्थात् (अ) अब्दप के अन्तर्गत वार १, घटी १०, पल १० लिखें, (ब) तिथि-शुद्धि के अन्तर्गत, तिथि १२, घटी ४५, पल १४ लिखे, और (स) तिथि-मध्यम-केन्द्र के अन्तर्गत, तिथि २४, घटी ५२, पल ५० लिखे। इनमे से क्रमश प्रत्येक के नीचे उपयुक्त स्तम्भ के अन्तर्गत पूर्वोक्त सारणी से ही प्रदत्त शक वर्ष के सघटक भागो के भेद लिखे[1] अर्थात् ४०० के लिए (अ) मे, वार ६, घ० ३०, प० ९ ३, (ब) मे तिथि १५, घ० ५५, प०, ४९ २ तथा (स) मे तिथि ९, घ० २४, प० ४५, तथा ६ वर्षों के लिए (अ) मे वार ०, घ० ३३, प० ९ १ (ब) मे तिथि ६, घ० २३, प० २० २, तथा (स) मे तिथि १४, घ० ५८, प० ३९।

अब, चू कि प्रदत्त वर्ष शक सवत् १६२२ से पूर्व का है, अत सारणी २, पृ० १२ द्वारा प्राप्त कोई भी शोधन तिथि-शुद्धि तथा तिथि-मध्यम-केन्द्र के सबध मे व्यवहृत होगा और सदैव जोड़ा जाएगा। इस शोधन का कारण यह है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, तिथि-शुद्धि तथा तिथि-मध्यम-केन्द्र क्रमश चन्द्रमा के माध्य देशान्तर तथा उसकी माध्य विसगति पर आश्रित होते हैं। किन्तु, चन्द्रमा की माध्य गति सदैव समान नही होती। अतएव, चन्द्र के देशान्तर तथा विसगति के वर्षगत अन्तर की सामान्य सारणी (सारणी ३, पृ० ८७ इ०, स्तम्भ २, ३) से प्राप्त उसके मध्य देशान्तर तथा माध्य विसगति के प्रति एक शोधन (सारणी ४, पृ० ८९ इ० स्तभ २, ३) प्रयुक्त करना होगा। इस प्रकार, अवसित शक सवत् ० के लिए, चन्द्रमा के माध्य देशान्तर मे शोधन ४४ सेकन्ड है तथा केन्द्र मे २ अश, ५५ सेकन्ड (पृ० ९०) है। तिथियो मे रूपान्तरित किए जाने पर ये, तिथि-शुद्धि के सबध मे, ३ घटी, ४० पल, हैं, तथा तिथि-केन्द्र के प्रसग मे ये १४ घटी हैं। अतएव ये अक अवसित शक सवत् ० के लिए, क्रमश तिथि-शुद्धि तथा तिथि-केन्द्र मे शोधन के रूप मे दिए गए है। सारणी मे, यह शोधन प्रत्येक १००० वर्ष के अन्तराय के लिए दिया गया है। पहले तिथि-शुद्धि को लें, अवसित शक संवत् ० के लिए शोधन घटी ३, पल ४० है, अवसित शक सवत् १००० के लिए शोधन पल ३२ है। अतएव, दूसरे अक को प्रथम अक मे से घटाने पर हम पाते हैं कि ३ घटी, ८ पलो, अथवा १८८ पलो का अन्तर १००० वर्षो मे शोधन का अन्तर है।[2] तब, तीन के नियम के अनुसार,—१००० वर्ष ४०६ वर्ष १८८ पल ७६ पल। तथा, ७६ पल बराबर है १ घटी, १६ पल। चू कि ये अक कम होते हुए अक हैं, अवसित शक सवत् ० के लिए, इसे ३ घटी ४० पल मे से घटाना है। और शेषफल हमे, अवसित शक सवत् ४०६ के लिए लगभग ठीक-ठीक शोधन के रूप मे, २ घटी २४ पल प्रदान करता है जिसे (ब) मे जोड़ना

---

१ (अ) अब्दप के पलो मे प्रयुक्त दशाश स्तम्भ २ मे दिए गए अहर्गण अर्थात् सौर वर्ष के सौर दिवसो की पूर्ण सख्या से लिए गए हैं।

२ यदि ठीक-ठीक कहा जाय तो यह अन्तर शक सवत् ० तथा १००० के ठीक बीच मे स्थित अवसित शक सवत् ५०० के लिए है। इस अन्तर को शक सवत् ० तथा प्रदत्त वर्ष—जो इस उदाहरण मे ४०६ है—के बीच के वर्षों के लिए निकालना चाहिए। किन्तु इस प्रकार की पूर्णतम परिशुद्धि की कोई अनिवार्य आवश्यकता नही है।

सारणी ५

अवत्त तिथि के वार की गणना

अवसित शक सवत् ४०६=प्रचलित ईसवी सन् ४८४–८५।
आषाढ (जून-जुलाई), शुक्ल पक्ष, द्वादशी तिथि, सुरगुरुवार (वृहस्पतिवार)

(अ) अब्दप	वार	घ०	प०	(ब) तिथि-शुद्धि	तिथि	घ०	प०	(स) तिथि-मध्यम-केन्द्र	तिथि	घ०	प०
अवसित शक सवत् (पृ० १०)	१	१०	१०	.... .	१२	४५	१४	. . ...	२४	५२	५०
४०० शाक वर्षों का अतर जोड़ें (पृ० ११) ...	६	३०	९३	.. . ..	१५	५५	४९२	... .	९	२४	४५
६ शक वर्षों का अतर जोड़ें (पृ० १०) ..	०	३३	९१	.. ..	६	२३	२०२	.. .. ..	१४	५८	३९
अवसित शक सवत १६२२ के पूर्व की तिथि का शोधन जोड़ें	...		..	... .	०	२	२४	.... . .	०	९	८
अवसित शक सवत् ४०६ की मेष-सक्रान्ति का वार तथा समय.... ..	१	१३	२८४	तिथि-ध्रुव और भुक्त तिथि .	५	६	४७४				
ऊपर से, केवल घटियाँ और पल .	०	१३	२८	एक तिथि मे से युक्त तिथि घटावें...	०	६	४७				
				भोग्य तिथि ...	०	५३	१३				
(ब) से माध्य सौर दिवस जोड़ें	०	५२	२०	भोग्य तिथि मे जितनी घटिया हैं, उतने पल घटावें	०	०	५३	(ब) से भोग्य तिथि जोड़े .	०	५३	१३
तिथि-भोग ..	१	५	४८	माध्य सौर दिवस	०	५२	२०	तिथि-स्पष्ट-केन्द्र ..	२२	१८	३५

जोड़ें—
अवसित तिथियाँ —
चैत्र....१५
वैशाख....३०
ज्येष्ठ ...३०
आषाढ .२६
१०१
व्यवकलित करें (व) से
तिथि-ध्रुव ५
चैत्र शुक्ल ५ से अवसित तिथिया ९६

९६ तिथियो का सौर समरूप (पृ० १४)....	९४	१७	३६
	९५	२३	२४
(स) आषाढ शुक्ल १२ के तिथि-स्पष्ट-केंद्र से प्राप्त पराख्य को जोड़ें	०	२४	१९
स्पष्ट आषाढ़ शुक्ल १२ की समाप्ति तक व्यतीत दिन	९५	४७	४३

अवसित शक सवत् ४०६ की मेष-संक्रान्ति का दिन जोड़ें १

सप्ताहो मे परिवर्तित करें .. ७)९६(१३
९१
शेपफल, ५ वा दिन, वृहस्पतिवार है.... ५

निष्कर्ष वृहस्पतिवार

(अ) ९६ तिथियो का तिथि-केन्द्र जोड़ें (पृ० १८)	१२	१	२०
आषाढ शुक्ल १२ की समाप्ति के समय तिथि-स्पष्ट-केन्द्र	०	१९	५५

होगा। इसी प्रकार, इसी ढग से प्राप्त किया गया तिथि-मध्यम-केन्द्र का शोधन ६ घटी ८ पल है जिसे (स) में जोडना होगा।

अब (अ) (ब) तथा (स) मे तत्सबधी सख्याओ को साथ साथ जोडें—यह ध्यान मे रखते हुए कि ऐसा करने मे जब (अ) अब्दप मे वार ७ अथवा ७ के किसी गुणाज से अधिक होते हैं तब केवल शेषफल—७ अथवा इसके गुणाज के ऊपर—को ध्यान में रखना होता है क्योकि प्रत्येक सप्ताह में सात वार होते हैं तथा यह कि जब (अ) तिथि-शुद्धि मे एव (स) तिथि-मध्यम-केन्द्र में तिथिया क्रमश: ३० और २८ से अधिक होती हैं तब केवल ३० और २८, अथवा उनके गुणाजो से ऊपर, शेषफल को ध्यान में रखना होता है क्योकि एक चान्द्रमास मे ३० तिथिया होती हैं, तथा सामान्यतया तिथि-केन्द्र के एक परिक्रमण में २८ तिथिया होती हैं।

इस प्रकार (अ) अब्दप में हम वार १, घटी १३, पल २८ ४ पाते हैं। दिवसो की पहली सख्या से यह ज्ञात होता है कि प्रदत्त वर्ष, अवसित शक सवत् ४०६, में जिस दिन मेष-सक्रान्ति घटित हुई, वह दिन रविवार था। और शेप सख्याओ से यह ज्ञात होता है कि मेष-सक्रान्ति रविवार को सूर्योदय के पश्चात् १३ घटी, २८ ४ पल पर घटित हुई। प्रक्रिया के निम्नाकित चरणो में सप्रति दिए गये दशाश और (ब) तिथि-शुद्धि में पलो के नीचे दिए गए दशाश पर ध्यान नही देना चाहिए।

(ब) तिथि-शुद्धि में हम तिथि ५, घटी ६, पल ४७ ७ पाते है। इससे हमें यह ज्ञात होता है कि जिस समय प्रदत्त वर्ष, अवसित शक सवत् ४०६, की मेष-सक्रान्ति घटित हुई, उस समय चैत्र मास की ५ माध्य तिथिया पूर्ण हो चुकी थी तथा छठी तिथि की ६ घटिया और ४७ पल व्यतीत हो चुके थे। पूर्ण हो चुकी तिथियो की सख्या—प्रस्तुत उदाहरण में ५—को पारिभाषिक शब्दो में तिथि-ध्रुव, अथवा, 'तिथि का स्थिराक,' कहते हैं, क्योकि किसी प्रदत्त वर्ष के प्रसग में इसके निश्चित हो जाने के उपरान्त यह उस वर्ष के किसी उदाहरण के सदर्भ में अभिन्न और निश्चित रहता है। तथा शेष को—प्रस्तुत उदाहरण मे घटी ६, पल ४७— भुक्त-तिथि, अथवा '(प्रचलित) तिथि का व्यतीत अश,' कहते हैं।

भुक्त-तिथि घटी ६, पल ४७, को १ तिथि अथवा ६० घटियो में से व्यवकलित करने पर शेषफल, घटी ५३, पल १३ से हमें छठी तिथि का वह अश मिलता है जिसे अभी आना है। पारिभाषिक रूप मे इसे भोग्य-तिथि कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है—'तिथि (का वह अश) जिसका भोग अभी शेप है।'

(स) तिथि-मध्यम-केन्द्र में हम तिथि २१, घटी २५, पल २२ पाते हैं। यह अवसित शक सवत् ४०६, जो कि दत्त समय है, कि मेष-सक्राति के समय चन्द्रमा का केन्द्र तिथियो में प्रदान करता है।

इसमें भोग्य-तिथि अर्थात् घटी ५३, पल १३ को जोडना होता है और प्राप्त निष्कर्ष-तिथि २२, घटी, १८, पल ३५—चैत्र मास की छठी तिथि की समाप्ति के समय का केन्द्र होता है। इसे तिथि-स्पष्ट-केन्द्र अथवा "तिथि का स्पष्ट केन्द्र' कहते हैं।

पुन, भोग्य-तिथि अर्थात् घटी ५३ पल १३, में से उतने ही पल जितनी कि इसमें घटिया हैं, घटाने पर[1] यह घटी ५२, पल २० के परिणाम से युक्त एक माध्य सौर दिवस में रूपान्तरित हो जाता है।

---

१ अर्थात्, साठवें भाग को व्यकलित करने पर। इस अनुपात को गणना में सुविधा के उद्देश्य से लिया गया है। यदि ठीक-ठीक कहा जाय तो किसी तिथि को सौर दिवस में रूपान्तरित करने के लिए चौसठवें भाग का व्यकलन होना चाहिए, क्योकि, एक माध्य तिथि एक सौर दिवस के ९८४३५३ के बराबर होती है, अर्थात् एक सौर दिवस का लगभग तिरसठवा-चौसठवा भाग। किन्तु इस अन्तर से कोई तात्विक त्रुटि नहीं उत्पन्न होती।

इस घटी ५२, पल २० को केवल (अ) अव्दप की घटियो और पलो मे जोडें। प्राप्त परिणाम, वार १, घटी ५, पल ४८, से यह ज्ञात होता है कि चैत्र मास की छठी तिथि मेष-सक्रान्ति घटित होने वाले दिन, रविवार, के बाद आगामी दिन सोमवार को सूर्योदय के पश्चात् घटी ५, पल ४८ पर समाप्त हुई। इस संख्या, वार १, घटी ५, पल ४८, को तिथि-भोग-शाब्दिक अर्थ, "तिथि की अवधि का भोग"—कहते हैं, और यह एक तिथि से बढे हुए तिथि-ध्रुव का अन्त होता है। स्पष्टत यह एक माध्य तिथि होती है। और यह प्रदर्शित करता है कि मेष-सक्रान्ति के दिन सूर्योदय के समय से लेकर माध्य तिथि के रूप में चैत्र शुक्ल ६ की समाप्ति तक दिन १, घटी ५, पल ४८ व्यतीत हो चुके थे।

अव हमें प्रदत्त तिथि के प्रारम्भ तक व्यतीत हो चुकी तिथियो की सख्या पर विचार करना है। और ऐसा करते समय हमें, निश्चितरूपेण, प्रदत्त तिथि के पूर्व यदि कोई अधिकमास है तो उस पर ध्यान देना चाहिए।

किन्तु, हमारे दृष्टान्त में, (व) तिथि-शुद्धि मे प्राप्त परिणाम उन्नीस तिथियो से कम है। तथा सारणी ६, पृ० २२—जो कि यदि कोई अधिकमास था तो उसके लगभग निर्धारण मे सहायक है—के निरीक्षण से यह ज्ञात होता है कि प्रदत्त वर्ष, अवसित शक सवत् ४०६, में कोई अधिकमास नही था। इसका स्पष्टीकरण यह है कि तिथि-शुद्धि के उन्नीस से कम होने पर यह प्रदर्शित होता है कि चैत्र की संक्रान्ति उस मास की उन्नीस तिथियो के भीतर ही घटित हुई। और, चू कि सामान्यतया सौर मास चान्द्र मास की अपेक्षा बडे होते हैं, सूर्य की सक्रान्तिया—अर्थात् सूर्य का राशिमण्डल की एक राशि से दूसरी राशि मे प्रवेश—प्रत्येक अनुक्रमिक चाद्रमास मे पहले की अपेक्षा बाद मे घटित होती हैं। किन्तु, जब चैत्र की सक्रान्ति प्रथम उन्नीस तिथियो के भीतर पडती है, उस अवस्था मे कोई भी सक्रान्ति वर्ष की समाप्ति तक किसी भी चाद्रमास की तीसवी तिथि के बाद नही पड सकती, और इस कारण कोई भी मास अधिकमास नही होगा।

परिणामत, चैत्र के प्रारम्भ से लेकर प्रदत्त तिथि, आषाढ शुक्ल १२, के, प्रारम्भ तक केवल एक सौ एक तिथियो की सामान्य सख्या बीती थी, अर्थात्, चैत्र शुक्ल पक्ष मे १५, वैशाख मे ३०, तथा आषाढ मे कृष्ण पक्ष के १५ तथा शुक्ल पक्ष के ११।[1] तिथियो की इस सख्या, १०१, मे से हम तिथि-ध्रुव, ५, को घटावें। और शेषफल, ९६, चैत्र शुक्ल ५ की समाप्ति से लेकर आषाढ शुक्ल ११ की समाप्ति तक व्यतीत हुई तिथियो की सख्या है। किन्तु तिथि-भोग, जिसे हम पहले निकाल चुके हैं, चैत्र शुक्ल ६ का अन्त है, तथा चैत्र शुक्ल ६ की समाप्ति से आषाढ शुक्ल १२ की समाप्ति तक तिथियो की वही सख्या, ९६, व्यतीत होती है। अतएव, तिथि-भोग मे सौर समरूप—जिस पर अब चर्चा की जाएगी—जोडने पर प्राप्त निष्कर्ष हमे प्रदत्त तिथि, आषाढ शुक्ल १२, की समाप्ति पर पहुँचाएगा।

सारणी ३, पृ० १४ का निरीक्षण करने पर हम पाते हैं कि ९६ तिथियो का, माध्य सौर दिवसो मे, समरूप होगा दिन ९४, घटी १७, प० ३६। तथा इसे तिथि-भोग मे जोडने पर प्राप्त निष्कर्ष, दिन ९५, घटी २३, पल २४, हमे वह कालान्तराल प्रदान करता है जो मेष-सक्रान्ति के दिन के सूर्योदय-काल से माध्य तिथि के रूप मे गृहीत आषाढ शुक्ल १२ की समाप्ति तक व्यतीत हुआ था।

अव हमे स्पष्ट-तिथि का निर्धारण करना है। इसके लिए पराल्य-शोधन अपेक्षित है, जिसे तिथि-केन्द्र की सहायता से अभिनिश्चित करना होता है।

---

१ यहा हम एक उत्तरी तिथि का प्रयोग कर रहे हैं और इसी कारण तिथियो की गणना इस प्रकार की गई है। यदि हम दक्षिणी तिथि का प्रयोग कर रहे होते, तो गणना इस प्रकार होती चैत्र मे ३०, वैशाख में ३०, ज्येष्ठ में ३०, तथा आषाढ शुक्ल पक्ष मे ११। योगफल वही १०१ है क्योकि तिथि शुक्ल पक्ष की है।

सारणी ३, पृ० १४ का पुन निरीक्षण करने पर हम पाते हैं कि ६६ तिथियो के प्रसंग मे तिथि-केन्द्र का अन्तर है तिथि १२, घटी १, पल २० । इसे (स) में तिथि २२, घटी १८, पल ३५—जिसे कि हम पहले ही चैत्र शुक्ल ६ की समाप्ति के समय के तिथि-केन्द्र के रूप मे प्राप्त कर चुके है—के नीचे लिखे । दोनो सख्याओ को एक मे जोडें, प्राप्त निष्कर्ष—पहले के समान, २८ तिथिया छोड कर—होगा तिथि ६, घटी १६ पल ५५, और यह, प्रदत्त तिथि, आषाढ शुक्ल १२, की समाप्ति के समय तिथि-स्पष्ट-केन्द्र है ।

इस विवेचन के साथ हम पराख्य-शोधन के लिए सारणी ४, पृ० २० को लेते है । इस सारणी मे, तिथियो और घटियो के शोधन को दस घटियो के अन्तर पर रखा गया है । इस प्रकार, तिथि-स्पष्ट-केन्द्र ६ तिथियो, १० घटियो के लिए पराख्य है २४ घटियो १० पल, तथा ६ तिथियो, २० घटियो के लिए पराख्य है २४ घटिया, १६ पल । अन्तर, ६ पल, को सारणी के अन्तिम स्तम्भ मे दिखाया गया है, तथा यह तिथि-स्पष्ट-केन्द्र के लिए पराख्य की ठीक-ठीक गणना मे सहायक है । किन्तु, यहा घटी २४, पल १६ को पराख्य के रूप मे लेना हमारी अपनी आवश्यकताओ के लिए पर्याप्त है ।

(अ) अब्दप के अन्तर्गत इस पराख्य को तिथि-भोग तथा ६६ तिथियों के सौर समरूप के योग के नीचे लिखे, और—जैसा कि सारणी ४ मे स्तम्भ १ के एकदम ऊपर धन (+) चिन्ह द्वारा निर्देशित किया गया है—इसे उस सख्या मे जोडें ।

प्राप्त निष्कर्ष—वार ६५, घटी ४७, पल ४३—उन दिनो तथा एक दिन के भागो की सख्या प्रदान करता है जो मेष-सक्रान्ति घटित होने वाले दिन के सूर्योदय-काल से स्पष्ट आषाढ शुक्ल १२ की समाप्ति तक व्यतीत हुए थे । दिनों की सख्या, ६५, मे मेष-मक्रान्ति के दिन, १ को जोडें । प्राप्त योग ६६ को ७ से विभाजित करें और ऐसा करने पर निष्कर्ष प्राप्त होता है—१३ सप्ताह और ५ दिन, जिसमे यह प्रदर्शित होता है कि आषाढ शुक्ल १२ पर प्रचलित दिन सप्ताह का पाचवा दिन, अर्थात् वृहस्पतिवार, था । शेष सख्याए, घटी ४७, पल ४३, उस वृहस्पतिवार के दिन—जिस दिन कि प्रदत्त तिथि, आषाढ शुक्ल १२, समाप्ति हुई—सूर्योदय के पश्चात् का समय सूचित करती है ।

किन्तु, प्रो० के० एल० छत्रे की पुस्तक मे दी गई सारणिया वम्बई की मध्यान्ह-रेखा (Meridian) के अनुरूप हैं । अतएव, उपरोक्त विधि से सगणित किसी तिथि की घटियां और पल वम्बई के लिए हैं तथा उनकी गणना वम्बई के माध्य सूर्योदय से होगी । किसी अन्य स्थान के लिए तिथि निकालने के लिए उस स्थान की स्थिति वम्बई के पूर्व में है अथवा पश्चिम मे—यह देखते हुए समय के रूप में देशान्तर के अन्तर को (एक अश=१० पल) जोडना अथवा व्यवकलित करना होगा । जैसा कि मुझे इसकी गणना करने के पश्चात् ज्ञात हुआ, उपरोक्त शक तिथि को सोद्देश्य—इस कारण चुना गया क्योकि यह मध्य-भारत से प्राप्त वुधगुप्त के एरण अभिलेख मे दी गई गुप्त सवत् १६५ से घटित तिथि की समरूप तिथि है । अतएव, हमे, एरण के प्रसग मे इस तिथि का निर्धारण करना है । वम्वई का देशान्तर ७२° १ है तथा एरण का देशान्तर ७८° १५ है, दोनो ग्रीनविच के पूर्व मे हैं । इस प्रकार एरण वम्बई से पूर्व ५ अश २४ मिनिट पर है । (५° २४′ × १० =) ५४ पलो को ४७ घटी तथा ४३ पल—जो कि हमे वम्बई के सदर्भ मे मिला है—मे जोडने पर, इसी दिन अर्थात् वृहस्पतिवार को माध्य सूर्योदय से गणना करने पर, एरण मे तिथि ४८ घटी, ३७ पल होगी ।

उपरोक्त निष्कर्ष सभी व्यावाहारिक आवश्यकताओ के लिए पर्याप्त है । किन्तु यह और ध्यान मे रखना है कि हमारे पचागो की तिथिया स्पष्ट सूर्योदय से दी गई मानी गयी हैं । किन्तु व्यवहार मे, सदैव तथा सर्वत्र—कम से कम आजकल दक्कन मे—इतने विस्तृत विवेचन का प्रयास नही किया जाता । ऐसा प्रतीत होता है कि इसी कारण प्रो० के० एल० छत्रे ने ऊपर प्रदर्शित अपनी गणना-विधि

मे इस बात पर ध्यान नही दिया है। किन्तु अब मैं विचाराधीन तिथि को एरण मे घटित स्पष्ट सूर्योदय से दूगा। पूरी प्रक्रिया को न देकर—जो कि बहुत अधिक जटिल है तथा इस लेख मे जिसका दिया जाना समीचीन नही है—मैं केवल निष्कर्ष दूगा कि विचाराधीन दिन पर एरण मे स्पष्ट सूर्योदय माध्य सूर्योदय के पूर्व १ घटी, ५६ पल पर घटित हुआ, इस प्रक्रिया मे एरण का अक्षाश २४°५' लिया गया है। अतएव, माध्य सूर्योदय से प्राप्त उपरोक्त निष्कर्ष मे १ घटी, ५६ पल जोडने पर हम स्पष्ट सूर्योदय से सगणित ५० घटी, ३३ पल की सख्या को उस समय के रूप मे पाते है जबकि प्रदत्त तिथि, आषाढ शुक्ल १२, बृहस्पतिवार के दिन एरण मे समाप्त हुई।

विषय के इस अश पर विचार-विमर्श का समापन करने के पूर्व मे इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हू कि उपरोक्त विधि से किसी तिथि की गणना अनिवार्यत आधुनिक सूर्य तथा चन्द्र की सर्वथा शुद्ध योरोपीय सारणियो के अनुसार की गई गणना के समान पूर्णतम शुद्ध गणना नही होगी। इस अर्थ मे पूर्णतम शुद्धि तभी सुनिश्चित हो सकती है जबकि सूर्य तथा चन्द्र की वास्तविक स्थितियो और देशान्तरो से गणना की जाए, जिनका निर्धारण तद्‌विषयक नियमो के दृढ अनुसरण द्वारा होना चाहिए। ऊपर प्रदर्शित विधि से प्राप्त तिथि मे तथा प्रो० के० एल० छत्रे की सारणियो के आधार पर सगणित सूर्य तथा चन्द्र की स्पष्ट स्थितियो से सगणित तिथि मे कभी कभी १० घटियो तक का अन्तर होगा। किन्तु, पूर्णिमा तथा अमावस्या के समय यह अन्तर बहुत कम होगा-अधिक से अधिक १ घटी का, तथा यह अन्तर सबसे अधिक शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि पर होता है किन्तु प्रो० के० एल० छत्रे की इस दूसरी सभव विधि के विषय मे यह कहना आवश्यक है कि हिन्दू तिथियो की गणना में हमारा इस विधि के साथ कोई सरोकार नही है, इसका कारण यह है कि—फल-सस्कार को छोड कर—चन्द्रमा का स्पष्ट देशान्तर पाने के लिए जिन शोधनो को उन्होने दिया है वे प्राचीन हिन्दू ज्योतिषियो द्वारा व्यवहृत नही हुए थे।

तथा, दूसरी ओर, चू कि ऊपर प्रदर्शित की गई विधि हिन्दू कृतियो मे घनिष्टरूपेण सगत है, अत यह दावा किया जा सकता है कि इसके आधार पर प्राप्त तिथि सूर्य-सिद्धान्त तथा अन्य कृतियो द्वारा निर्धारित विधि के अनुसार प्राप्त तिथि से अत्यल्प मात्रा मे ही भिन्न होगी। यह अन्तर[1] अधिक से अधिक पाच अथवा छ घटियो का होगा, और वह भी बहुत थोडे से उदाहरणो से।

किन्तु, सदेह के लिए कोई स्थान न रह जाय इस उद्देश्य से, मैंने वर्तमान दृष्टान्त में ली गई तिथि की गणना वस्तुत' आर्यभटीय अथवा प्रथम आर्यभट के **आर्य-सिद्धान्त**, ब्रह्मगुप्त के **ब्रह्म-सिद्धान्त**, **सूर्य-सिद्धान्त**, **सिद्धान्त शिरोमणि** तथा द्वितीय आर्य भट्ट के **आर्य-सिद्धान्त**[2] के अनुसार की है। मैंने

---

१ द्र० ऊपर पृ० १४९, टिप्पणी १।

२ अर्थात् वह पुस्तक जो सामान्यतया लघु-आर्य-सिद्धान्त नाम से अभिहित होतीहै। आर्यभट नामक व्यक्ति के ही नाम से दो भिन्न पुस्तके हैं। इनमें से एक, जिसे डा० बर्न ने प्रकाशित किया है, मे आर्या छन्द मे एक सौ अठारह श्लोक हैं, और यह सामान्यतया, तथा स्वयं अपने लेखक द्वारा, आर्यभटीय नाम से जानी जाती है, किन्तु इसे—और यह उचित भी है—आर्य-सिद्धान्त भी कहा जा सकता है और कई हिन्दू ज्योतिषियों ने इसे यह अभिधान दिया है। इस पुस्तक की तिथि अवसित शक सवत् ४२१ (ईसवी सन् ४९९-५००) है। दूसरी पुस्तक—जो जहां तक मुझे ज्ञात है अभी प्रकाशित नहीं हुई है—में आर्या छन्द में लगभग छ सौ पचीस श्लोक हैं जो अठारह खण्डो में विभाजित हैं। इसकी तिथि नहीं दी गई है किन्तु पुस्तक के आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि यह ब्रह्मगुप्त के **ब्रह्म-सिद्धान्त** (अवसित शक सवत् ५५०, ईसवी सन् ६२८-२९) से बाद की है, तथा **सिद्धान्त-शिरोमणि** (अवसित शक सवत् १०७२, ईसवी सन् ११५०-५१)

पहले इसकी गणना-तत्स्थानीय माध्य सूर्योदय से गणना करते हुए-उज्जैन के लिए, अर्थात् हिन्दू मध्यान्ह -रेखा के लिए, की और तत्पश्चात् इसे एरण की तिथि में रूपान्तरित किया। उज्जैन का देशान्तर ग्रीनविच के पूर्व मे ७५°४३ है। मैंने एरण मे स्पष्ट सूर्योदय के समय से घटियो तथा पलो की भी गणना की है, और सभी निष्कर्ष नीचे पृ० १५६ के पर सारणी ६ मे दिए गए हैं। उनसे हम पाते है कि सभी साक्ष्यो के अनुमार तिथि किसी वृहस्पतिवार[1] के दिन पडी थी।

यदि ऊपर की गई गणनाओ के अनुसार हम यह पाते हैं कि कोई तिथि किसी हिन्दू दिन के लगभग अन्त के समय समाप्त हुई-उदाहरणार्थ, किसी रविवार के दिन सूर्योदय के सत्तावन घटिया पश्चात्, अर्थात् सोमवार के दिन सूर्योदय से तीन घटिया पूर्व-जव इस बात की सभावना हो सकती है कि यह वस्तुत आगामी दिन, सोमवार, को सूर्योदय के थोडे समय पश्चात् समाप्त हुई। और दूसरी और यदि हमारे निष्कर्ष यह प्रदर्शित करते हैं कि कोई तिथि किसी हिन्दू दिन के प्रारभ के थोडे समय पश्चात्

मे इसका उल्लेख मिलता है। अतएव, इसकी तिथि इन दो समय-सीमाओं के बीच मे कहीं होगी। पुस्तक के प्रथम श्लोक मे लेखक स्वय को आर्यभट कहता है तथा अपनी कृति को, इसके साथ 'लघु' अथवा अन्य किसी विशेषण का प्रयोग किए बिना, एक सिद्धान्त कहता है। इस पुस्तक की एक पाण्डुलिपि मे मैंने पाया है कि *कुछ अध्यायो के अन्त में इसे महा-सिद्धान्त तथा कुछ अन्य अध्यायों के अन्त मे लघु आर्य-सिद्धान्त कहा गया* है। पृथकत्व स्पष्ट करने के उद्देश्य से तथा सुविधा के लिए यह अधिक उपयुक्त है कि दोनो लेखकों का क्रमश प्रथम आयभट और द्वितीय आर्यभट कहा जाय। रेवरेण्ड ई बरजेस (E Burgess) के सूर्य-सिद्धान्त के अनुवाद मे आर्य सिद्धान्त से सबधित ग्रहो के परिक्रमणों की सख्याओ का जो उल्लेख है तथा प्रिंसेप ने इसी साक्ष्य से जिन कुछ दृष्टान्तो को उद्धृत किया है (प्रिंसेप्स एसेज जि० २, यूजफुल टेबल्स, पृ० ११३), वे सभी वस्तुत द्वितीय आर्यभट से सबद्ध हैं। सभवत जब इन विद्वानो ने लिखा था, उस समय उन्होंने प्रथम आर्य-भट के सिद्धान्त को नहीं देखा था। ऐसा जान पड़ता है कि जब जनरल कनिंघम ने यह लिखा (इण्डियन एराज, पृ० ८८) कि "वारेन के अनुसार, आर्यभट ने एक ४३२०००० वर्षों पहले महायुग में दिनो की जो सख्या निश्चित की है वह दक्षिण भारत में १५७७९१७५०० है तथा बगाल में सुरक्षित एक पाण्डुलिपि मे यह सख्या उपरोक्त सख्या से ४२ अधिक है", उस समय वे दो भिन्न आर्यभटो के अस्तित्व से परिचित नहीं थे। ऊपर दी गई दोनों सख्याओ मे एक प्रथम आर्यभट से और दूसरी द्वितीय आर्यभट से सबद्ध है।

[1] अर्थात् हिन्दू वृहस्पतिवार। यह ध्यान में रखना चाहिए कि-जैसा कि ऊपर पृ० १४४ इ० में कहा गया है-हिन्दू वार की गणना सौर दिवस तथा रात्रि से, तथा सूर्योदय तक, होती है, किन्तु अंग्रेजी वार, और इसके साथ सलग्न लोकप्रयुक्त तिथि (civil date) की गणना मध्य रात्रि तक होती है। हिन्दू और अग्रेजी तिथियों की तुलना करने में जो एक उपाय है वह यह है कि माध्य सूर्योदय तथा माध्य मध्यरात्रि (क्रमश प्रात ६ बजे और रात्रि के १२ बजे) लिया जाय और अग्रेजी समरूप के रूप मे वह वार-तथा इसकी लोकप्रयुक्त तिथि-लिया जाय जो वास्तव मे इन अठारह घटो की अवधि मे प्रचलित है-अर्थात् वह वार जिसका अपेक्षाकृत बड़ा भाग हिन्दू और अग्रेजी दोनो गणनाओ मे समान है। और, यदि ग्रीनविच तथा उज्जैन के बीच के माध्य समय का अन्तर-अर्थात् ५ घटे, २ मिनट, ५२ सैकन्ड-(उज्जैन के लिए उसी अक्षांश, ७५°४३', का प्रयोग करते हुए, जो कीथ जान्सटन के एटलस में दिया गया है, और श्री श० व० दीक्षित ने इस लेख मे तथा सायन-पचांग मे की गई अपनी गणनाओं के लिए जिसे व्यवहार में लिया है) को लिया जाय तो दोनों स्थानों के वार एकदम समान बैठते हैं, और हिन्दू वार के अन्त मे केवल ५७ मिनट, ८ सेकन्ड, अथवा २ घटी, २२.८ पलों का अन्तर पडता है, इस अवधि मे जबकि उज्जैन मे अभी हिन्दू वृहस्पतिवार चल रहा होता है, ग्रीनविच मे यह शुक्रवार का दिन होगा। इस कारण किसी प्रदत्त तिथि के लिए प्राप्त अग्रेजी वार मे कुछ विसगति हो सकती है, किन्तु, ऐसे दृष्टान्त बहुत कम होंगे और उनमेंपरस्पर दीर्घकालीन अन्तर होगा

सारणी ६

सूर्योदय के पश्चात् किसी प्रदत्त तिथि के अन्तिमांश के काल।

अवसित शक संवत ४०६=प्रचलित ईसवी सन् ४८४–८५।

आषाढ (जून–जुलाई), शुक्ल पक्ष, द्वादशी तिथि, सुरगुरुवार (बृहस्पतिवार)।

सूर्योदय के पश्चात् तिथि की समाप्ति का समय	ऊपर प्रदर्शित के० एल० छत्रे की पद्धति के अनुसार		प्रथम आर्यभट के आर्य–सिद्धान्त के अनुसार		ब्रह्मगुप्त के ब्रह्म-सिद्धान्त के अनुसार		सूर्य–सिद्धांत के अनुसार		सिद्धांत–शिरोमणि के अनुसार		द्वितीय आर्यभट के आर्य-सिद्धात के अनुसार	
	घ०	प०	घ०	प०	घ०	प०	घ०	प०	घ०	प०	घ०	प०
माध्य सूर्योदय से बम्बई मे सगणित	४७	४३	४९	१९	४९	४६	५०	४२	५२	५२	५२	२४
माध्य सूर्योदय से उज्जैन में सगणित....	४८	१२	४९	४८	५०	१५	५१	११	५३	२१	५४	५३
माध्य सूर्योदय से एरण मे सगणित.	४८	३७	५०	१३	५०	४०	५१	३६	५३	४६	५५	१८
स्पष्ट सूर्योदय से एरण मे सगणित	५०	३३	५२	९	५२	३६	५३	३२	५५	४२	५७	१४

सारणी ७

किसी प्रदत्त तिथि के अंग्रेजी वार की गणना

अवसित शक संवत् ४०६=प्रचलित ईसवी सन् ४८४–८५। आषाढ (जून–जुलाई), शुक्ल पक्ष, द्वादशी, तिथि, सुरगुरुवार (बृहस्पतिवार)

		दिन	घ०	प०
ईसवी सन् ० के मार्च में मेष-सक्रान्ति की तिथि (पृ० ३०)		१३	५६	२०
ईसवी सन् के ४०० वर्षों का अन्तर जोड़ें (पृ० ३०)		३	३०	६
ईसवी सन् के ८४ वर्षों का अन्तर जोड़ें (पृ० २७)		०	४४	७
ईसवी सन् ४८४ के मार्च मे मेष-सक्रान्ति की तिथि		१८	१३	२६
पूर्ववर्ती प्रक्रिया के स्तम्भ (अ) से, मेष-सक्रान्ति से ले कर प्रदत्त तिथि के बीच व्यतीत हुए दिनो को जोड़ें	९५			
	११३			
१ मार्च से पूर्ण हुए मासो के दिनो की सख्या घटाए मार्च——३१ अप्रेल——३० मई——३१—	९२			
शेषफल आगामी मास का प्रचलित दिन है, तथा प्रदत्त तिथि का प्रचलित दिन है	२१			

निष्कर्ष—२१ जून ईसवी सन् ४८४

समाप्त हुई-उदाहरणार्थ, किसी रविवार के दिन सूर्योदय के तीन घटिया पश्चात्-तो यह सभावना हो सकती है कि यह वस्तुत पूर्ववर्ती दिन, शनिवार, की समाप्ति के थोड़े समय पूर्व समाप्त हुई।

यदि हम किसी ऐसे लेख पर विचार कर रहे है जिसमे यह कहा गया है कि किसी दिन विशेष पर कोई तिथि विशेष पडी थी, तो तद्विषयक अपने निष्कर्षो के पूर्णरूपेण शुद्ध होने के विषय मे हम तभी निश्चित हो सकते हैं यदि हम यह जान सके कि इसके रचयिता ने लेख तैयार करते समय जिस पचाग को काम मे लिया था उसके लेखक ने पचाग के लिए किस प्रमाण तथा पद्धति को व्यवहृत किया था। किन्तु सभी व्यावहारिक कार्यों मे ऊपर प्रदर्शित पद्धति पर निश्शक हो कर भरोसा किया जा सकता है।

किसी प्रदत्त तिथि के अंग्रेजी वार को प्राप्त करना

इस प्रक्रिया के लिए अपेक्षित उपकरण प्रो० के० एल० छत्रे की पुस्तक मे पृ० २७ पर सारणी ६ मे तथा पृ० ३० पर सारणी ११ मे उपलब्ध है।

वर्तमान उदाहरण मे, प्रदत्त हिन्दू तिथि मे सगति रखने वाली अग्रेजी तिथि को स्पष्टत, जूलियन कैलेन्डर अथवा प्राचीन पद्धति के अनुसार गणना करके निकालना होगा, क्योकि यह तिथि ईसवी सन् १७५२-जबकि ग्रेगोरियन कैलेन्डर अथवा नवीन पद्धति का प्रचलन हुआ था-के बहुत पहले की तिथि है।

सारणी ११, पृ० ३० के शीर्षक से हम पाते हैं कि ईसवी सन् ० मे हिन्दू मेष-सक्रान्ति १३ मार्च को, ५६ घटी १२ पल पर सूर्योदय के पश्चात् (सिविल टाइम) घटित हुई। इन सख्याओ को लिखे (द्र०, ऊपर सारणी ७)। और उनके नीचे प्रदत्त ईसवीय तिथि-जो इस उदाहरण मे ईसवी सन् ४८४ (८५) है तथा जो सदैव प्रदत्त अवसित शक वर्ष मे ईसवी सन् ७८ (७६) जोडने से प्राप्त होती है—के घटक अगो के भेद अथवा अन्तर को लिखें अर्थात्, सारणी ११ से, ४०० के लिए ३ दिन, ३० घटी, ६ पल, तथा सारणी ६ से, ८४ के लिए ० दिन, ४४ घटी, ७ पल।

इन सभी सख्याओ को साथ जोडें। ईसवी सन् ४८४ के लिए निष्कर्ष होगा—१८ दिन, १३ घटी २६ पल। और इससे यह प्रदर्शित होता है कि ईसवी सन् ४८४ मे, हिन्दू मेष-सक्रान्ति १८ मार्च को तथा १३ घटी २६ पल पर[1] सूर्योदय के पश्चात् घटित हुई।

इसमे ६५ जोडें जिसके विषय मे पूर्ववर्ती प्रक्रिया मे, (अ) अब्दप के अन्तर्गत, हम जान चुके है कि यह मेष-सक्रान्ति के दिन सूर्योदय से प्रदत्त तिथि समाप्त होने वाले दिन के सूर्योदय तक की अवधि मे व्यतीत हुए दिनो की सख्या है। योगफल ११३, १ मार्च से लेकर प्रदत्त तिथि-जिसमे दोनो तिथिया सम्मिलित है-तक की अवधि मे आए हुए दिनो की सख्या प्रदान करता है।

क्योकि सूर्योदय के इतने बाद समाप्त होने वाली तिथिया बहुत कम पाई जाएगी, तथा यह विसगति वृहस्पति के सह-सूर्य-उदय के समान के कुछ दृष्टान्तो तक सीमित रहेगी (उदाहरण के लिए, द्र० दुहरी तिथियां जिन्हें ऊपर पृ० १०४ इ० मे उद्धृत करना आवश्यक हो गया है)। वर्तमान उदाहरण मे, प्रदत्त तिथि के अ तिम-बिन्दुओ मे से कोई भी विवादास्पद अवधि मे नही पडता है-न तो उज्जैन के प्रसग मे और न ही एरण के प्रसग मे जो कि उज्जैन से काफी पूर्व मे है। - जे० एफ० एफ०)

१ इन घटियो और पलों को, पहले की प्रक्रिया के स्तम्भ (अ) मे, अवसित शक सवत् ४०६ के अब्दप की घटियो और पलो के अनुरूप होना चाहिए। यहा हम २४ पलो का अन्तर पाते हैं जो यह प्रदर्शित करता है कि सारणियो मे कहीं कुछ अशुद्धि है।

इस सख्या में से उन सभी मासो के दिनो की सख्या व्यवकलित करें जो कि ११३ दिन के भीतर पूर्ण हुए हैं, अर्थात्, वर्तमान उदाहरण मे–मार्च मे ३१ दिन, अप्रैल में ३० दिन, और मई मे ३१ दिन, योमफल ९२ ।

शेषफल–वर्तमान उदाहरण मे २१–आगामी मास का प्रचलित वार प्रदान करता है जो कि प्रदत्त तिथि के बराबर होता है। अतएव, वर्तमान उदाहरण मे निष्कर्ष है २१ जून, ईसवी सन् ४८४ (प्राचीन पद्धति) । इस तिथि तथा प्रदत्त तिथि के लिए पहले प्राप्त किए वार की अभिन्नता की परीक्षा उपलब्ध सामान्य उपायो में किसी एक से हो सकती है। उदाहरणार्थ, जनरल सर ए० कनिंघम की पुस्तक इन्डियन एराज सारणी २, पृ० ९८ से हम पाते हैं कि १ जनवरी ईसवी सन् ४८४ (प्राचीन-पद्धति) को रविवार था। और पुन –चूकि प्रदत्त वर्ष एक वृद्धिवर्ष था–उनकी सारणी १, पृ० ९७ की दाहिनी ओर दृष्टिपात करने पर हम पाते हैं कि उसी वर्ष मे २१ जून को, अपेक्षानुसार, वृहस्पतिवार का दिन था।

परिशिष्ट ३

बृहस्पति का द्वादशवर्षीय चक्र

द्वारा—शकर बालकृष्ण दीक्षित, बम्बई शिक्षा विभाग

बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र के सवत्सरो अथवा वर्षो के नामो का निर्धारण वराहमिहिर की बृहत्-संहिता, अध्याय ८, श्लोक १ मे दिए गए इस नियम से होता है · नक्षत्रेण सहोदयम् उपगच्छति येन देवपतिमत्री[1] । तत्सज्ञा वक्तव्य वर्ष मासक्रमेणैव ॥—"जिस नक्षत्र के साथ देवताओ के अधीश्वर (इन्द्र) का मत्री (बृहस्पति) (अपने) उदय को प्राप्त करता है, वर्ष को, मासो के क्रम के अनुसार, उस (नक्षत्र) की सज्ञा से ही अभिहित करना चाहिए।"

यहा उदय शब्द से हमे बृहस्पति का दैनिक उदय नही अपितु सूर्यसापेक्ष उदय समझना चाहिए। बृहस्पति सूर्य के साथ अपना सयोग होने के पूर्व और पश्चात् कुछ दिनो के लिए अदृष्ट हो जाता है। अत, जब सूर्य अपने गतिक्रम मे बृहस्पति के निकट आता है, उस समय बृहस्पति क्षितिज के पश्चिमी भाग की ओर अदृष्ट हो जाता है; और उस समय उसे अस्त हुआ कहते हैं। वह पचीस से लेकर तीस दिनो तक इस अदृश्यता की स्थिति मे रहता है और जब सूर्य उसे पीछे छोड कर अग्रसर हो जाता है,

---

१ यहां दिया गया पाठ मेरे अपने पास पडी हुई एक प्राचीन पाण्डुलिपि से उद्धृत किया गया है। किन्तु, टीकाकार उत्पल ने इस श्लोक की व्याख्या इस पाठ के साथ किया है नक्षत्रेण सहोदयम् अस्तवा येन याति सुरमत्री,—"जिस नक्षत्र के साथ देवताओ का मत्री (बृहस्पति) (अपने) उदय अथवा अस्त को प्राप्त करता है।" यह आश्चर्यजनक है कि मेरी पाण्डुलिपि मे मूलपाठ भिन्न रूप मे दिया गया है। प्रतिलिपिक सामान्य अनुकरण मे कितने भी असावधान क्यो न रहे हो, वे—जब तक कि वे ऐसा चाहते न हो—अस्तम् वा येन याति सुर को मुपगच्छति येन देवपति मे नही परिवर्तित कर सकते थे। और स्वय उत्पल ने यह टिप्पणी की है · ऋषिपुत्रादिभि उदयनक्षत्रमाससज्ञाक्रमेण वर्ष ज्ञातव्यम् इत्युक्तम्—"ऋषिपुत्र तथा अन्यो द्वारा यह कहा गया है कि वर्ष को (बृहस्पति के) उदय के नक्षत्र के मास के नाम के क्रमानुसार जानना चाहिए।" इसके अतिरिक्त, अन्य सभी साक्ष्य—जिन्हें मैं चक्र के वर्षो के नामकरण की विधि को बृहस्पति के उदय के अनुसार देते हुए पाता हूँ—प्रत्येक वर्ष को नक्षत्र के उदय से अपना नाम ग्रहण करते हुए दिखाते हैं, नक्षत्र के अस्त से नही। [ऊपर मूल मे दिया गया पाठ वही है जिसे कर्न ने स्वसपादित बृहत्-सहिता, पृ० ४७ मे ग्रहण किया है। उनका अनुवाद (जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S जि० ५, पृ० ४५) यह है "प्रत्येक वर्ष (जिसमे बृहस्पति अपने परिक्रमण का बारहवा भाग पूरा करता है) उस नक्षत्र का नाम ग्रहण करेगा जिसमे वह उदित होता है, वर्षो का पूर्वापर क्रम चान्द्रमासो के पूर्वानुपर क्रम के अनुरूप होता है।" अपनी वैरियस रीडिंग्स, पृ० ६ तथा अनुवाद की टिप्पणी दोनो मे उन्होने सहोदयम् अस्त वा येन याति सुर-मत्री पाठ पर अवधान दिया है। किन्तु, उन्होने लिखा है कि पाण्डुलिपियो की तुलना से इसमे कोई सदेह नही रह जाता कि यह पाठ एक सशोधन है जिसकी प्रेरणा का स्रोत उत्पल का यह अभिकथन है कि यदि ग्रह एक नक्षत्र मे अस्त तथा दूसरे मे उदित होता है तो वही नाम लिया जाना चाहिए, जो कि मास के क्रम से मेल खाता है।–जे० एफ० एफ०]

तब यह पूर्व मे पुन दृष्टिगोचर होता है, और तब उसे उदित हुआ कहते हैं। सामान्यतया, भारत मे जब सूर्य तथा बृहस्पति के दैनिक अस्तगमनो और उदयो का अन्तराल पैंतालीस मिनट (का समय) होता है, उस समय बृहस्पति का तथाकथित अस्तगमन और उदय—अर्थात् उसका सूर्य-सापेक्ष उदय और सूर्य-सापेक्ष अस्त—घटित होता है।

बृहस्पति के सह-सूर्य-उदय से द्वादशवर्षीय चक्र के किसी संवत्सर के प्रारम्भ का तथा उसके नामकरण का निर्धारण करने वाली इस प्रकार की पद्धति को—जो कि वराहमिहिर के उपरोक्त श्लोक और ग्यारह अन्य साक्ष्यो मे बताई गई है—मैं सूर्य-सापेक्ष-पद्धति की सज्ञा दूंगा ताकि यह उस दूसरी पद्धति से भिन्न की जा सके जिसमे द्वादशवर्षीय चक्र के किसी सवत्सर की अवधि और नाम का निर्धारण राशिमण्डल के राशिविशेष से होता है जिसमे कि बृहस्पति अपने माध्य देशान्तर के सापेक्ष होते हुए स्थित हैं, इस दूसरी पद्धति, जिस पर आगे और विस्तार से विचार किया जाएगा, को मैं मध्यक-राशि-पद्धति की सज्ञा देता हूँ।

मध्यक-राशि-पद्धति के अनुसार बृहस्पति के षष्ठिवर्षीय चक्र के तथा द्वादशवर्षीय चक्र के वर्षों का निर्धारण उसके माध्य देशान्तर[1] से होता है, जो कभी कभी उसके स्पष्ट देशान्तर से पद्रह अशो तक का वैषम्य प्रदर्शित करता है। किन्तु, बृहस्पति का अन्तर्धान तथा पुनर्प्रकटीकरण काल्पनिक वस्तु नही है, यह स्पष्ट है कि इसकी गणना बृहस्पति की वास्तविक स्थिति, अर्थात् उसके स्पष्ट देशान्तर, मे ही हो सकती है और होनी चाहिए, उसके माध्य देशान्तर से नही। और, तदनुसार, सूर्य-सापेक्ष-पद्धति के अनुसार द्वादशवर्षीय चक्र के प्रत्येक सवत्सर का प्रारम्भ इस पर निर्भर करता है कि अपने सूर्यसापेक्ष-उदय के समय बृहस्पति का स्पष्ट देशान्तर क्या है।

राशिमण्डल में बृहस्पति का एक परिक्रमण लगभग बारह वर्षों मे पूर्ण होता है, और, बारह वर्षों मे सूर्य के बारह परिक्रमण (अर्थात् पृथ्वी की परिक्रमा) होते हैं। और इस प्रकार, बारह वर्षों की अवधि मे सूर्य और बृहस्पति के केवल ग्यारह योग होते हैं। इस कारण, बारह वर्षों मे बृहस्पति के केवल ग्यारह सूर्यसापेक्ष-उदय होते हैं।[2] दो उदयो के बीच सामान्यतया ३९९ दिनों का अन्तराल पडता है। और इस प्रकार सूर्य-सापेक्ष-पद्धति के प्रत्येक चक्र मे बारह वर्षों की अवधि के अन्तर्गत केवल ग्यारह सवत्सर होते हैं, प्रत्येक चक्र की अवधि लगभग ४०० दिनों की होती है, तथा एक सवत्सर-जिसका निर्धारण उस चक्र विशेष की परिस्थितियो द्वारा होता है—का सर्वथा विलोपन हो जाता है।

चान्द्रमासो के नामो को बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र के सवत्सरो के नामो के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। तथा, सवत्सरो को मासो के ये नाम उस नक्षत्र विशेष के अनुसार दिए जाते हैं जिसमे कि बृहस्पति का सूर्यसापेक्ष-उदय घटित होता है। नक्षत्रो की सख्या सत्ताइस है, बारह मासो मे से गृहीत नौ मासो मे प्रत्येक के साथ दो दो नक्षत्र नियोजित किए जाते हैं, और शेष तीन नक्षत्र शेष तीन मासो के साथ नियोजित किए जाते हैं। इसके लिए बृहत्-सहिता, ८, २ मे यह नियम दिया

---

1 एक नक्षत्र का माध्य देशान्तर उसी नाम के एक कल्पित नक्षत्र का देशान्तर है, दोनो को ही वास्तविक नक्षत्र की माध्य गति के साथ गतिमान होते हुए कल्पित किया जाता है।

2 सूर्य-सिद्धांत, १४, १७ पर अपनी टिप्पणी में (द्र० रेवरेण्ड ई० बरजेस का अनुवाद, पृ० २७१) प्रो० ह्विटनी लिखते हैं कि बृहस्पति का "प्रत्येक परिक्रमण मे बारह बार सूर्यसापेक्ष अस्तगमन और उदय होगा, और प्रत्येक बार यह पहले की तुलना मे एक मास बाद होगा।" किन्तु, यह स्पष्टरूपेण एक अशुद्ध निष्कर्ष है।

सारणी ८

नक्षत्रो से सवत्सरों के नामों का नियम

नक्षत्रो के नाम और उनका समूहीकरण	सवत्सरो को दिए गए मासो के नाम
कृत्तिका, रोहिणी ..	कार्त्तिक
मृग, आर्द्रा . .	मार्गशीर्ष
पुनर्वसु, पुष्य .	पौष
अश्लेषा, मघा ..	माघ
पूर्वा-फल्गुनी, उत्तरा-फल्गुनी, हस्त. .. .	फाल्गुन
चित्रा, स्वाति ..	चैत्र
विशाखा, अनुराधा . . .	वैशाख
ज्येष्ठा, मूल. .	ज्येष्ठ
पूर्वा अषाढा, उत्तरा अषाढा, (अभिजित्). .	आषाढ
(अभिजित्), श्रावण, धनिष्ठा.... .	श्रावण
शततारका, पूर्वा-भाद्रपदा, उत्तरा-भाद्रपदा ...	भाद्रपद
रेवती, अश्विनी, भरणी	आश्विन (आश्वयुज)

गया है वर्षाणि कार्त्तिकादीन्याग्न्येद् भद्वयानुयोगिनी। क्रमशस् त्रिभ तु पञ्चमम् अन्त्य च यद् वर्षम् ॥—"कार्त्तिक तथा अन्य (अनुवर्ती) वर्षों मे, (प्रारंभिक विन्दु के रूप में) अग्नि से[1] सवधित (नक्षत्र) से नियमित अनुक्रम में, दो दो नक्षत्र होते हैं, किन्तु वह वर्ष जो पाचवा होता है, (अथवा) अंतिम से पहला होता है, अथवा अंतिम होता है—(इनमे से प्रत्येक मे) तीन नक्षत्र होते हैं।"[2] इससे तथा अन्य समान साक्ष्यो द्वारा हमे नक्षत्रो से सवत्सरो के नामकरण विषयक निष्कर्ष प्राप्त होते है, जिन्हें सारणी ८ मे दिखाया गया है।[3]

क्रान्तिवृत्त (ecliptic circle) का सत्ताइसवा भाग नक्षत्र कहलाता है। २७ द्वारा विभाजित होने पर ३६० अश हमे (चाप का) १३ अश २० मिनट देता है। अतएव, समान भागो मे चक्र के इस प्रकार विभाजन के अनुसार एक नक्षत्र के प्रारम्भ से लेकर अगले नक्षत्र के प्रारम्भ तक की अवधि मे इतना अन्तर होता है तथा जब किसी नक्षत्र का देशान्तर शून्य से अधिक होता है किन्तु १३ अश, २० मिनट से अधिक नही होता, तब उसे अश्विनी मे स्थित मानते हैं, और इसी विधि से आगे की गणना की जाती है। नीचे पृ० १६५ पर सारणी ६ मे अन्तिम सिरे से चलने पर तृतीय स्तम्भ मे समान अन्तरालो की इस पद्धति के आधार पर सभी नक्षत्रों के अन्तिम-विन्दुओ के देशान्तर दिए गए हैं।

किन्तु, नक्षत्रो को स्थितियों की सापेक्षता मे नक्षत्रो के निर्धारण की एक दूसरी पद्धति भी है। और, यद्यपि अब इसका प्रयोग नही होता किन्तु प्राचीन काल मे यह असदिग्धरूपेण वहुत अधिक प्रचलित था, तथा कम से कम धार्मिक महत्व के अवसरों पर इसका काफी प्रयोग होता था। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि क्रान्तिवृत्त पर प्रत्येक नक्षत्र के लिए निर्धारित अवधि समान नही है। पन्द्रह नक्षत्रो को वरावर औसत अवधि दी गयी है किन्तु छ, नक्षत्रो को औसत से डेढ गुनी अधिक और छ को औसत की केवल आधी अवधि प्रदान की गई है।

इस विधि के अनुसार, असमान अवधियो की एक पद्धति का उल्लेख गर्ग-सहिता के कुछ श्लोको मे हुआ है, जिन्हे उत्पल ने बृहत्-सहिता पर की गई अपनी टीका मे उद्धत किया है। उद्धृत अवतरण से युक्त टीका इस प्रकार है तथा च गर्ग । उत्तराश्च तथादित्य विशाखा चैव रोहिणी। एतानि षट् अध्यर्धभोगानि ॥ पौष्णाश्विकृत्तिकासोमतिष्यपित्र्यभगाह्वया सावित्रचित्रानुराधा मूल तोय

---

1 अर्थात् कृत्तिका से। अग्नि कृत्तिका नक्षत्र—जो एक समय नक्षत्रो के पूर्वानुपर क्रम मे प्रथम था—का स्वामी है।

2 कर्न (Kern) का भी पाठ यही है। उनका अनुवाद यह है 'पाचवें, ग्यारहवें और वारहवें वर्षों को छोड कर जिनमें तीन नक्षत्र होते हैं, कार्त्तिक तथा अन्य अनुवर्तो वर्षों मे नियमित पूर्वानुपर क्रम से कृत्तिका से प्रारम्भ होते हुए दो दो नक्षत्र होते हैं।'

3 किन्तु, मैं यहां यह वता दू कि इस विषय पर थोडा मतवैभिन्य है। बृहत्-सहिता के टीकाकार उत्पल ने इस पर विस्तार से विचार किया है। उनके द्वारा प्राप्त निष्कर्षों को सारणी ८ मे प्रदर्शित किया गया है। जिन प्राचीन तथा आधुनिक कृतियो का मैंने उल्लेख किया है, मैंने यह पाया है कि उनमें दस साक्ष्य—जिनमें वृद्ध-गर्ग तथा कश्यप जैसे प्राचीन नाम हैं—द्वादशवर्षीय चक्र के सवत्सरों के नामो का नक्षत्रो द्वारा नियमन होने का नियम प्रदान करते हैं। इन दस मे, उत्पल के उद्धरणानुसार गर्ग (वृद्ध-गर्ग नहीं) और पराशर—किन्तु केवल यही दो—का यह मत है कि दसवें तथा ग्यारहवें मासो, अर्थात् श्रावण और भाद्रपद, मे प्रत्येक में तीन तीन नक्षत्र होते हैं —अर्थात् श्रवण, धनिष्ठा और शततारका श्रावण के प्रति नियोजित किए जाते हैं, पूर्वा-भाद्रपदा, उत्तरा-भाद्रपदा तथा रेवती भाद्रपद के प्रति नियोजित किए जाते हैं, और, परिणामस्वरूप, आश्विन मे केवल अश्विनी और भरणी नक्षत्र होते हैं।

च वैष्णव धनिष्ठाजैकपाच् चैव समवर्ग प्रकीर्तित एतानि पञ्चदश समभोगानि ।। याम्यैन्द्ररौद्र-वायव्यसार्पवारुणसञ्ज्ञिता । एतानि षट् अर्धभोगानि ।।—"और गर्ग ऐसा (कहते हैं)—'सभी उत्तरा नक्षत्र (अर्थात्, उत्तरा-फाल्गुनी, उत्तरा-आषाढा तथा उत्तरा-भाद्रपदा), और आदित्य (पुनर्वसु) विशाखा और रोहिणी भी,' ये छ (औसत से) डेढ गुना अधिक देशान्तर के (हैं)। (वे नक्षत्र) जिनके नाम पौष्ण (रेवती) अश्वि (अश्विनी), कृत्तिका, सोम (मृग), तिष्य (पुष्य), पित्र्य (मघा) और भग (पूर्वा-फल्गुनी), (तथा इनके अतिरिक्त) सावित्र (हस्त), चित्रा, अनुराधा, मूल, तोय (पूर्वा-आषाढा) तथा वैष्णव (श्रावण) तथा धनिष्ठा, और अजैकपाद् (पूर्वा-भाद्रपदा) भी, (नक्षत्रो का यह वर्ग) समान वर्ग कहलाता है,' ये पन्द्रह समान (औसत) देशान्तर के होते है। '(वे नक्षत्र) जिनके नाम याम्य (भरणी), ऐन्द्र (ज्येष्ठ), रौद्र (आर्द्रा), वायव्य (स्वाति), सार्प (अश्लेषा), तथा वारुण (शततारका) है,' ये छ (औसत से) आधे देशान्तर के होते है।" इस पद्धति मे, जिसे मैं असमान अवधियो की गर्ग-पद्धति नाम दूगा, नक्षत्रो की सख्या, सामान्य रूप मे, सत्ताइस है। अत एक नक्षत्र की औसत अवधि १३ अश २० मिनट है, इनकी डेढ गुनी अवधि होगी २० अश, तथा औसत की आधी अवधि होगी ६ अश ४० मिनट। इस पद्धति के अनुसार, सभी नक्षत्रो के अतिम-बिन्दुओ के देशान्तर नीचे पृ० १६५ पर सारणी ६ मे अन्तिम स्तम्भ से पूर्ववर्ती स्तम्भ मे दिए गए हैं, तथा लघु-स्तम्भो मे ½ तथा 1½ का लेखन उस अवधि के परिचायक हैं जो औसत से भिन्न है। नारद और वशिष्ठ ने इस पद्धति को गर्ग के समान ही प्रस्तुत किया है। इसका उद्भव इस तथ्य विशेष से हुआ प्रतीत होता है कि विभिन्न नक्षत्रो के मुख्य तारो—जिन्हे योग-तारा कहते है—के बीच के अन्तराल समान नही है। स्वाभाविक रूप से यह आशा की जाती है कि यह अन्तराल १३ अश २० मिनट होगा। किन्तु कुछ उदाहरणो मे यह ७ अश से कम है, तथा कुछ अन्यो मे यह २० अश से भी अधिक है। किन्तु इसका कारण कुछ भी हो इसमे कोई सदेह नही है कि प्राचीनकाल मे यह बहुत अधिक प्रचलित था। तथा, कन्नौज के भोजदेव के देवगढ अभिलेख से यह प्रमाणित होता है कि या तो यह पद्धति अथवा, नीचे व्याख्यायित, इससे अत्यधिक मिलती हुई ब्रह्म-सिद्धांत की पद्धति, कम से कम महत्वपूर्ण अवसरो पर, ईसवी सन् ८६२ तक व्यवहृत होती थी, इस लेख की तिथि की गणना मे प्रसग मे मेरे द्वारा प्राप्त निष्कर्षों को श्री फ्लीट ने ऊपर पृ० १०७ पर टिप्पणी १ मे प्रस्तुत किया है।

असमान अवधियो की एक अन्य पद्धति ब्रह्म सिद्धान्त[1] अध्याय १४, श्लोक ४५ से ५३ मे दी हुई है। अपनी मुख्य विशिष्टताओ मे यह गर्ग-पद्धति के ही समान है, किन्तु यह गर्ग-पद्धति से इस अर्थ मे थोडी भिन्न है कि सत्ताइस नक्षत्रो के अतिरिक्त यह अभिजित् का भी समावेश करता है। चन्द्रमा की दैनिक माध्य गति-१३ अश, १० मिनट, ३५ सेकन्ड-को एक नक्षत्र की औसत अवधि के रूप मे लिया गया है। और, चू कि, असमान अवधियो की समान व्यवस्था के अनुसार इस प्रकार सत्ताइस नक्षत्रो के प्रति नियोजित अवधियो का योग केवल ३३५ अश, ४५ मिनट, ४५ सेकन्ड होता है, अत बची हुई अवधि-४ अश, १४ मिनट, १५ सेकन्ड-को अभिजित् के प्रति नियोजित किया गया जिसे कि एक अतिरिक्त नक्षत्र के रूप मे लिया गया और उत्तरा-अषाढा और श्रावण के बीच मे रखा गया। यह पद्धति, जिसे मैं असमान अवधियो की ब्रह्म सिद्धान्तपद्धति कहूगा, सर्वोत्तम ढंग से भास्कराचार्य[2] द्वारा अपनी पुस्तक सिद्धान्त शिरोमणि, भाग ३, अध्याय २ (ग्रहगणितस्पष्टाधिकार), श्लोक ७१ से ७४ मे व्याख्याति हुई हैं। उनका मूल तथा उस पर अपनी स्वय की टीका इस प्रकार है स्थूल कृत

१ लेख मे जहा कहीं भी यह नाम दिया गया है, इसे ब्रह्मगुप्त का सिद्धान्त समझना चाहिए।

२ भास्कराचार्य द्वारा व्याख्यायित जो पद्धति यहा दी गई है, वह ब्रह्म-सिद्धान्त मे दी गई पद्धति से सर्वथा अभिन्न है। अत, स्वयं सिद्धान्तों से श्लोको का उद्धरण अनावश्यक प्रतीत होता है।

सारणी ६

नक्षत्रो के अंतिम-बिन्दुओ के देशान्तर

नक्षत्रो का क्रम	समान अवधियो की पद्धति				असमान अवधियो की पद्धति					
					गर्ग-पद्धति			ब्रह्म-सिद्धात-पद्धति		
	अश	मिनट	से०		अश	मिनट	से०	अश	मिनट	से०
आश्विनी .	१३°	२०′	०″	...	१३°	२०′	०″	१३°	१०′	३५″
भरणी .	२६	४०	०	½	२०	०	०	१९	४५	५२½
कृत्तिका	४०	०	०	.	३३	२०	०	३२	५६	२७½
रोहिणी	५३	२०	०	१½	५३	२०	०	५२	४२	२०
मृग .	६६	४०	०	.	६६	४०	०	६५	५२	५५
आर्द्रा. .	८०	०	०	½	७३	२०	०	७२	२८	१२⅓
पुनर्वसु .	९३	२०	०	१½	९३	२०	०	९२	१४	५
पुष्य	१०६	४०	०	.	१०६	४०	०	१०५	२४	४०
अश्लेषा. .	१२०	०	०	½	११३	२०	०	१११	५९	५७½
मघा	१३३	२०	०	..	१२६	४०	०	१२५	१०	३२½
पूर्वा-फल्गुनी	१४६	४०	०		१४०	०	०	१३८	२१	७½

उत्तरा–फल्गुनी .	१६०	०	०	१ १/२	१६०	०	०	१५८	७	०
हस्त .	१७३	२०	०	...	१७३	२०	०	१७१	१७	३५
चित्रा .	१८६	४०	०	..	१८६	४०	०	१८४	२८	१०
स्वाति	२००	०	०	१/२	१९३	२०	०	१९१	३	२७ १/२
विशाखा	२१३	२०	०	११	२१३	२०	०	२१०	४९	२०
अनुराधा	२२६	४०	०		२२६	४०	०	२२३	५९	५५
ज्येष्ठा.. .	२४०	०	०	१/२	२३३	२०	०	२३०	३५	१२ १/२
मूल .	२५३	२०	०		२४६	४०	०	२४३	४५	४७ १/२
पूर्वा–अषाढा....	२६६	४०	०	.	२६०	०	०	२५६	५६	२२ १/२
उत्तरा–अषाढा.. .	२८०	०	०	१ १/२	२८०	०	०	२७६	४२	१५
(अभिजित्) ..		.		(साम्य)		...		२८०	५६	३०
श्रावण	२९३	२०	०	....	२९३	२०	०	२९४	७	५
धनिष्ठा ..	३०६	४०	०	....	३०६	४०	०	३०७	१७	४०
शततारका .	३२०	०	०	१/२	३१३	२०	०	३१३	५२	५७१
पूर्वा–भाद्रपदा .	३३३	२०	०	. .....	३२६	४०	०	३२३	३	३२ १/२
उत्तरा–भाद्रपदा. .	३४६	४०	०	१ १/२	३४६	४०	०	३४६	४९	२५
रेवती....	३६०	०	०	....	३६०	०	०	३६०	०	०

भानयन यद् एतज्ज्योतिर्विदा सव्यवहारहेतो ॥७१॥ सूक्ष्म प्रवक्ष्येऽथ मुनिप्रणीत विवाहयात्रादि फलप्रसिद्धयै । अध्यर्धभोगानि षडत्र तज्ज्ञा प्रोचुर् विशाखादितिभध्रुवाणि ॥७२॥ षडर्धभोगानि च भोगिरुद्रवातान्तकेन्द्राधिपवारुणानि । शेषाण्यत पञ्चदशैकभोगान्युक्तो भोग शशिमध्यभुक्ति ॥७३॥ सर्वर्क्षभोगोनितचक्रलिप्ता वैश्वाग्रत स्याद् भिजिद्भभोग ॥७४॥ टीका-इह यन्नक्षत्रानयन कृत तत् स्थूल लोकव्यवहारार्थ मात्र कृत ॥ अथ पुलिशवसिष्ठगर्गादिभिर्यद् विवाहयात्रादौ सम्यक्फलसिद्धयर्थं कथितं तत् सूक्ष्ममिदानी प्रवक्ष्ये ॥ तत्र षड् अध्यर्धभोगानि । विशाखा पुनर्वसु रोहिण्युत्तरात्रय । अथ षडर्धभोगानि । अश्लेषार्द्रा स्वाति भरणी ज्येष्ठा शतभिषकेभ्य शेषाणि पञ्चदशैकभोगानि ॥ भोगप्रमाण तु शशिमध्यभुक्ति ७९० ३५। अध्यर्ध-भोग ११८५ ५२॥ । अर्धभोग ३९५ १७॥ ॥ सर्वर्क्षभोगैरूनिताना चक्रकलाना यच्छेष सोऽभिजिद्भोग २५४ १५॥ अनुवाद-"नक्षत्रो का यह प्रकाशन (अर्थात् नक्षत्रो को उनकी घटियो और पलो के साथ निकालना), जो (पूर्ववर्ती श्लोको मे) किया गया है, स्थूल (है) (तथा केवल) ज्योतिषियो की व्यावहारिक आवश्यकताओ के लिए (है) । अब मैं (पुलिश, वसिष्ठ, गर्ग तथा अन्य) ऋषियो द्वारा, विवाह, यात्रा आदि मे (शुभ) परिणाम की प्राप्ति के लिए बताई गई सम्यक् (विधि) की व्याख्या करुगा । इस विषय पर जो (ज्ञान की इस शाखा मे) दक्ष हैं उनका कहना है कि छ (इन छ नक्षत्रो मे प्रत्येक) (औसत अवधि से) डेढ़गुनी अधिक अवधि लेते हैं, (वे हैं) विशाखा, अदितिभ (पुनर्वसु), तथा ध्रुव नक्षत्र (रोहिणी, उत्तरा-फल्गुनी, उत्तरा-अषाढा, तथा उत्तरा-भाद्रपदा) । तथा छ (मे प्रत्येक) आधी अवधि घेरते हैं, (वे हैं) वे नक्षत्र जिनके स्वामी योगिन्, रुद्र, वात, अन्तक, इन्द्र और वरुण हैं । (अश्लेषा, आर्द्रा, स्वाति, भरणी ज्येष्ठा) (और) शतभिषज् (शततारका) शेष पन्द्रह (नक्षत्र) (इनमे प्रत्येक) एक अवधि घेरते है । एक नक्षत्र की (औसत) अवधि चन्द्रमा की (दैनिक) माध्य गति के बराबर बताई जाती है (७९०' ३५" (=१३°१०' ३५))। (डेढगुनी अवधि (है) ११८५'५२½"(=१९°४५'५२½"))। आधी अवधि है ३९५' १७½" (=६° ३५' १७½") । अभिजित् नक्षत्र ,(जो) वैश्व (उत्तरा-अषाढा) के तुरन्त बाद आता है, की अवधि है पूर्ण चक्र मे से (अन्य) सभी नक्षत्रो की अवधियो को व्यवकलित करने पर प्राप्त (शेषफल २५४'१५" (=४°१४'१५")) ।" ऊपर पृ० १६५ पर सारणी ९ के अन्तिम स्तम्भ मे, इस पद्धति के अनुसार, सभी नक्षत्रो के अन्तिम-विन्दुओ के देशान्तर दिए गए हैं । और पहले के समान, पूर्ववर्ती लघु-स्तम्भ में लिखित ½ तथा १½ सख्याए औसत अवधि से भिन्न अवधि-अन्तरालो को सूचित करती हैं ।

इस पद्धति मे,समाविष्ट अतिरिक्त नक्षत्र अभिजित् उन नक्षत्रों मे नही रखा गया है जिनसे मास के नाम लिए गए हैं[1] ।अतएव, यह प्रश्न उठता है-जब बृहस्पति अभिजित् मे उदित होता है, तब उस सवत्सर को क्या नाम दिया जाय ? इस का इस प्रकार समाधान किया जा सकता है । अभिजित् को उत्तरा-अषाढा के अन्तिम चतुर्थांश तथा श्रावण के प्रथम पन्द्रहवें अश से निर्मित माना जाता है । यह वसिष्ठ के निम्न श्लोक में मिलता है, जो कि मुहूर्त्त-चिन्तामणि पर की गई टीका पीयूषधारा मे उद्धत किया गया है-अभिजिद्भभोगमेतद्, विश्वेदेवमान्त्यपादमखिल तत् । आद्यचतस्रो नाड्यो हरिभस्य-"यह अभिजित् का देशान्तर (है), विश्वेदेव (उत्तरा-अषाढा) का सपूर्ण अतिम चतुर्थांश, (तथा) हरिभ (श्रावण) की प्रथम चार घटियाँ (अर्थात् पन्द्रहवा भाग) ।" बाद के अन्य साक्ष्य भी यही नियम देते हैं । एक नक्षत्र का चतुर्थांश है ३ अश, २० मिनट, और पन्द्रहवा भाग है ५३ मिनट २० सेकन्ड । इन दोनो का योग होता है ४ अश, १३ मिनट २० सेकन्ड, दूसरे शब्दो मे, अभिजित् मे उन्नीस भाग होते हैं, जिनमे से प्रथम पन्द्रह उत्तरा-आषाढा से प्राप्त होते हैं और उसी से सबद्ध होते हैं तथा अन्तिम

---

१ द्र०, ऊपर पृ० १६३ पर वर्षाणि कार्तिकादीनि इत्यादि श्लोक ।

४ श्रावण से आते है और उसी से सबद्ध होते हैं। और सवत्सर का नाम, यह देखते हुए कि अभिजित् के किस भाग विशेष मे बृहस्पति उदित होता है, आषाढ अथवा श्रावण निर्धारित होगा।

इन नियमो के प्रयोग के एक व्यावहारिक निदर्शन के रूप मे मैं ऊपर सारणी १० मे एक सूची दे रहा हू जिसमे (अवसित) शक संवत् १७८० से लेकर १८०३ तक[1] के चौबीस वर्षो के लिए बृहस्पति के सूर्यसापेक्ष-उदयो की तिथिया दी गई हैं, और साथ ही बृहस्पति का तत्कालीन स्पष्ट देशान्तर और उन देशान्तरो से निर्धारित उसके नक्षत्रो के नाम भी दिए गए हैं। बृहस्पति के उदय की तिथिया विभिन्न स्थानो पर विभिन्न मुद्रणालयो से प्रकाशित सामान्य पचागो से ली गई हैं जो कि मुझे उपलब्ध हैं। वे चान्द्रमास जिनमे उदय घटित हुए हैं, अमान्त दक्षिणी गणना-विधि के अनुसार दिए गए हैं।[2] प्रत्येक उदय के समय का बृहस्पति का देशान्तर, पचागो म उल्लिखित किसी अन्तराल विशेष-उदाहरणार्थ, सात अथवा पन्द्रह दिनो का—के समय स्थित उसके देशान्तर से सगणित हुआ है। नक्षत्रो के नामकरण में ऊपर पृ० १६५ पर सारणी ६ के अतिम स्तम्भ में दी गई असमान अवधियो की ब्रह्म-सिद्धांत-पद्धति का प्रयोग किया गया है। अतिम स्तम्भ में सात अर्थात् उस समय प्रारम्भ होने वाले सवत्सरो के नाम दिए गए हैं। यहा यह देखा जाएगा कि दोनो चक्रो में मार्गशीर्ष का विलोपन है। चक्रविशेष की परिस्थितियो के अनुसार अन्य सवत्सरो का भी विलोपन हो सकता है।

सारणी १० से ज्ञात होगा कि एक उदय से दूसरे उदय तक बृहस्पति की गति ३० से ३६ अशो तक होती है। असमान अवधियो की पद्धतियो के अनुसार, कुछ मास, और उनके आधार पर नामांकित सवत्सर, डेढ नक्षत्रो की औसत अवधि घेरते हैं, अर्थात् केवल २० अशो की, वे हैं मार्गशीर्ष, माघ, चैत्र और ज्येष्ठ, और कुछ संवत्सर ऐसे होते हैं जिनका अनिवार्यत विलोपन होता है। उदाहरण के लिए, अवसित शक सवत् १७८० मे अपने उदय के समय बृहस्पति रोहिणी मे था। आगामी उदय पुनर्वसु मे हुआ, अर्थात् प्रथम उदय के पश्चात् आगामी उदय होने के पूर्व उसे सम्पूर्ण मृग और आर्द्रा को पार करना पड़ा। और, इस कारण, मार्गशीर्ष का विलोपन अनिवार्य था। पुन- इन दो पद्धतियो के अनुसार, श्रावण दो नक्षत्रो की औसत अवधि घेरता है, अर्थात् लगभग २६ अश, ४० मिनट की, और, इस कारण, इसका भी विलोपन हो सकता है। कार्तिक, पौष, वैशाख, आषाढ और आश्विन मे प्रत्येक ढाई नक्षत्रो की औसत अवधि घेरता है, अर्थात् ३३ अशो की, और ये यदाकदा ही विलोपित होगे। तथा, फाल्गुन और भाद्रपद, जिनमे से प्रत्येक ४० अशो से कम अवधि नहीं घेरता है, कही भी नहीं विलोपित होंगे। इसी प्रकार समान अवधियो की पद्धति से भी वे नौ मास—जिनमे से प्रत्येक मे दो नक्षत्र (अभिजित् छोड कर) होते हैं—कभी कभी विलोपित हो सकते हैं। किन्तु, शेष तीन—अर्थात् फाल्गुन भाद्रपद और आश्विन—जिसमे प्रत्येक मे तीन नक्षत्र होते है, कभी भी विलोपित नही होंगे।

दूसरी ओर, कभी कभी यह सभव है कि किसी संवत्सर की पुनरावृत्ति होवे। असमान अवधियो की पद्धतियो मे प्रत्येक के अनुसार यह कार्तिक, पौष, फाल्गुन, वैशाख, आषाढ, भाद्रपद और आश्विन के प्रसग मे घटित हो सकती है। और, जब भी किसी सवत्सर की पुनरावृत्ति होती है, तब उसी चक्र मे दो सवत्सरो का विलोपन होता है. एक विलोपन तो सामान्य परिस्थितियो के अन्तर्गत और दूसरा विलोपन पुनरावृत्ति के कारण।

ऊपर की गई चर्चा मे मेरा उद्देश्य अपने सूर्यसापेक्ष-उदयो पर आधारित बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र की पद्धति, तथा सूर्यसापेक्ष—उदय से सबद्ध नक्षत्र का निर्धारण करने वाली तीन

---

१ इन वर्षो मे, अवसित शक सवत् १७८९ मे तथा पुन अवसित १८०२ मे कोई सूर्यसापेक्ष-उदय नहीं घटित हुआ।

२ द्र०, ऊपर पृ० १४६, टिप्पणी १।

सारणी १०

वृहस्पति के दो द्वादशवर्षीय चक्र के विवरण

अवसित	शक संवत्	अंग्रेजी तिथि	वृहस्पति का देशान्तर		नक्षत्र	मास, और संवत्सर का नाम
			अंश	मिनट		
१७८०	अधिक-ज्येष्ठ शुक्ल १० ..	७ जून, १८५८	४१°	४७	रोहिणी..	कार्त्तिक
१७८१	आषाढ शुक्ल १४ .	१३ जुलाई, १८५९	७७	२	पुनर्वसु. . .	पौष
१७८२	श्रावण कृ० १३. . .	१५ अगस्त, १८६०	११०	२०	अश्लेषा .	माघ
१७८३	भाद्रपद शु० १३ .	१६ सितम्बर, १८६१	१४१	३८	उत्तरा-फल्गुनी	फाल्गुन
१७८४	आश्विन कृ० ९ ..	१७ अक्टूबर, १८६२	१७१	५५	चित्रा.	चैत्र
१७८५	कार्त्तिक शु० ६ .	१६ नवंबर, १८६३	२०१	३२	विशाखा . .	वैशाख
१७८६	मार्गशीर्ष कृ० ३ .	१६ दिसंबर, १८६४	२३२	३	मूल .	ज्येष्ठ
१७८७	माघ शु० २	१८ जनवरी, १८६६	२६३	४८	उत्तरा-अषाढा. . .	आषाढ
१७८८	माघ कृ० ४ . .	२२ फरवरी, १८६७	२९८	०	धनिष्ठा	श्रावण
१७९०	चैत्र शु० ५	२९ मार्च, १८६८	३३४	३	उत्तरा-भाद्रपदा . .	भाद्रपद

१७९१	अधिक-वैशाख कृ० १०	६ मई, १८६९	१०	२७	अश्विनी. . .	आश्विन
१७९२	ज्येष्ठ शु० १४ .	१२ जून, १८७०	४६	३९	रोहिणी .. .	कार्त्तिक
१७९३	श्रावण शु० १ ..	१८ जुलाई, १८७१	८१	४७	पुनर्वसु ...	पौष
१७९४	श्रावण कृ० १.	१९ अगस्त, १८७२	११८	४५	मघा.... .	माघ
१७९५	भाद्रपद कृ० १४ . .	२० सितवर, १८७४	१५५	५३	उत्तरा-फल्गुनी........	फाल्गुन
१७९६	आश्विन शु० ११..	२१ अक्टूबर, १८७३	१७५	५२	चित्रा. . ..	चैत्र
१७९७	कार्त्तिक कृ० ८.. . ..	२० नवम्बर, १८७५	२०५	३६	विशाखा .	वैशाख
१७९८	पौष शु० १.	१६ दिसम्बर, १८७६	२३५	२१	मूल .. .	ज्येष्ठ
१७९९	पौष शु० १५ .	१८ जनवरी १८७८	२६७	२२	उत्तरा-अषाढा	आषाढ
१८००	फाल्गुन शु० ६.... . .	२७ फरवरी, १८७९	३०२	४६	धनिष्ठा.	श्रावण
१८०१	फाल्गुन कृ० १०	४ अप्रेल, १८८०.	३३९	०	उत्तरा-भाद्रपदा...... .	भाद्रपद
१८०३	वैशाख शु० १२..... ..	११ मई, १८८१	१५	३०	भरणी...	आश्विन

पद्धतियो की व्याख्या करना रहा है। अब मैं अपेक्षाकृत अधिक सामान्य प्रकार के कुछ अवलोकनो को प्रस्तुत करना चाहता हू, तथा उन ग्यारह साक्ष्यो का परिचय देना चाहता हू, जिनके विषय मे मैंने पृ० १६१ में चर्चा की है। किन्तु यह करने के पूर्व उस अन्य पद्धति के विषय मे-प्रसगवश जिसका उल्लेख भी ऊपर हुआ है—अधिक विस्तार से विचार आवश्यक है जिसके अनुसार, द्वादशवर्षीय चक्र के सवत्सरो का नामकरण, अपने माध्य देशान्तर की सापेक्षता मे, वृहस्पति के राशिमण्डल की एक राशि से दूसरी मे सक्रमण के अनुसार निश्चित होता है।

यह नियम, जिसे मैंने मध्यक-राशि-पद्धति की सज्ञा दी है, आर्य भट्ट द्वारा आर्य-सिद्धान्त अथवा आर्यभटीय, कालक्रियापाद, श्लोक ४, मे इस प्रकार दिया गया है गुरुभगणाराशिगुणासत्वा-श्वयुजाद्या गुरोरब्दा –"(बारह) राशियों से गुणित वृहस्पति के परिक्रमण वृहस्पति के वर्ष होते हैं जिनमे पहला आश्वयुज है।" तथा, इसे, अत्यधिक मिलते जुलते शब्दो मे, ब्रह्मगुप्त द्वारा ब्रह्म-सिद्धान्त, अध्याय १३, श्लोक ४२, मे दिया गया है गुरुवर्षण्याश्वयुजाद् द्वादशगुणिता गुरोर्भगणा। इस नियम मे परिक्रमणो (भगण) को कल्प के अथवा एक महायुग के प्रारम्भ से लिया गया है। किन्तु, व्यवहार मे हमे इतने पीछे जाने की आवश्यकता नही है। एक द्वादशवर्षीय चक्र एक परिक्रमण मे पूरा होता है। और, इस कारण, किसी प्रदत्त वर्ष का अथवा इसमे दी गई किसी प्रदत्त तिथि का निर्धारण प्रचलित परिक्रमण के वृहस्पति की राशियो जिसमे प्रचलित राशि भी सम्मिलित है को लेकर और आश्वयुज से गणना करके ही सकता है। इस पद्धति मे राशियो का वृहस्पति के माध्य देशान्तर से लिया जाना अभीष्ट होता है और व्यवहार मे उन्हे इसी रूप मे लिया जाता है। अब, यह अनुमान करें कि किसी दिन विशेष पर वृहस्पति का माध्य देशान्तर ९ राशि और १२ अश है, अर्थात् वह अपनी दसवी राशि मे है। इस स्थिति मे, आश्वयुज से गणना करते हुए, हमे प्रदत्त दिन के लिए प्रचलित सवत्सर के रूप मे आषाढ प्राप्त होता है।[1]

---

१ द्वादशवर्षीय चक्र विषयक अपने निरूपण मे (इन्डियन एराज, पृ० २६ इ०), जनरल सर ए० कनिंघम इस विषय पर विचारम्भ कर्न द्वारा किए गए वृहत्-सहिता के उसी श्लोक के अनुवाद से करते हैं (द्र०, ऊपर पृ० १६०, टिप्पणी १) जिसे मैंने भी उसी उद्देश्य से उद्धृत किया है। किन्तु, अपनी चर्चा के शेष भाग मे उनका ध्यान इस पर नहीं जाता कि वृहस्पति के उदय के प्रश्न पर यह उद्धरण बडा महत्वपूर्ण है, तथा उन्होंने उस विषय पर इस ढग से विचार किया है मानों मैंने जिस सूय सापेक्ष-उदय पद्धति की विवेचना की है उसका कोई अस्तित्व ही नहीं था। इस श्लोक से उन्होंने केवल मध्यक राशि-पद्धति का निगमन किया है जिसका कि वस्तुत श्लाक में कोई उल्लेख नहीं है, साथ ही इस श्लोक के विषय मे उनका यह निश्चयन त्रुटिपूर्ण है कि इसके अनुसार द्वादश वर्षीय चक्र तथा षष्ठिवर्षीय चक्र दोनो मे सवत्सर चाद्र-सौर वर्षो से प्रारभ तथा समाप्त होते है। उनके द्वारा व्यवहृत नियम, अधिक से अधिक, मध्यक-राशि-पद्धति के अनुसार द्वादशवर्षीय चक्र के, तथा षष्ठिवर्षीय चक्र के, उन सवत्सरो को देता है जो प्रदत्त सौर वर्ष के प्रारभ के समय प्रचलित होते है, किन्तु उनसे दोनो चक्रो के अत्यावश्यक बिन्दु की प्राप्ति नही होती, अर्थात् उनसे किसी प्रदत्त वर्ष मे उस वार का ठीक ठीक निर्धारण नही होता जिस दिन इन दोनो मे से किसी भी चक्र का कोई प्रदत्त सवत्सर प्रारभ होता है। मुझे अभी इस पर डेविस(Davs)तथा वारेन(Warren)के विचारो को देखने का अवसर नही मिला है। किन्तु, मैं यह निरापदरूपेण कह सकता हू कि योरोपीय विद्वान् अभी तक सूय सापेक्ष पद्धति के अनुसार द्वादशवर्षीय चक्र से अपरिचित रहे हैं। यहां मैं यह भी बताना चाहता हू कि कर्न के अनुवाद म कोष्ठकों के अतर्गत दिए इन शब्दा— (जिस अवधि मे वृहस्पति अपने परिक्रमण का बारहवा भाग पूरा करता है)- का मुझे अभी तक कोई साक्ष्य नही मिल सका। वृहस्पति अपन परिक्रमण का बारहवां भाग (राशि) लगभग तीन सौ इकसठ दिनों मे पूण करता है, जब कि उसके दो उदयों के बीच का अन्तराल लगभग ४०० दिनो का होता है।

इस पद्धति के अनुसार-जिसे सामान्यतया उत्तरी पद्धति कहते हैं किन्तु वस्तुत जो उत्तर भारत की एकमात्र सही ज्योतिषीय पद्धति है तथा जो, जैसा कि विभिन्न आभिलेखिक उद्धरणों से ज्ञात होता है दक्षिणी भारत मे भी प्रचलित थी—षष्ठिवर्षीय चक्रो के भी सवत्सरो के नाम का निर्धारण बृहस्पति की माध्य स्थिति से होता है। तथा, तद्विषयक नियम सूर्य-सिद्धान्त १, ५५ मे इस प्रकार दिया गया है द्वादशघ्ना गुरोर्यातभगणा वर्तमानकै । राशिभि सहिता शुद्धाः षष्ट्या स्युर्विजयादय ॥–' बृहस्पति के व्यतीत हो चुके परिभ्रमण, बारह से गुणित होने पर, (तत्पश्चात्) (प्रचलित परिक्रमण के) प्रचलित राशियो के जोडने पर (और पुन) ६० से विभाजित होने पर, जो मिलता है (अर्थात् जो शेषफल है वह) प्रथम सवत्सर विजय (जिससे सवत्सरो की गणना प्रारम्भ होती है) है।" वास्तव मे, जहा तक प्रत्येक सवत्सर के प्रारम्भकर्त्ता दिन का प्रश्न है, षष्ठिवर्षीय चक्र तथा मध्यक-राशि-पद्धति के द्वादशवर्षीय चक्र मे पूर्ण सहमति है, और परिणामस्वरूप, सवत्सर की अवधि के प्रश्न पर भी इनमें पूर्ण सहमति है जो, सूर्य-सिद्धान्त मे दी गई बृहस्पति की माध्य गति के अनुसार, ३६१ दिन, १ घटी और ३६ पल है। अतएव, मध्यक-राशि-पद्धति के द्वादशवर्षीय चक्र से सबधित अन्य विवरणो पर विचार करते समय यह सर्वाधिक उपयुक्त होगा कि दोनो चक्रो का साथ साथ विवेचन किया जाय, इस पर मैं अन्य अवसर पर विस्तार से विचार करूँगा। यहा मैंने इसका सक्षिप्त उल्लेख केवल इस कारण किया है क्योकि नीचे दिये गये अवलोकनो के प्रसग मे इसका उल्लेख अपरिहार्य है।

सूर्यसापेक्ष-उदय पद्धति के प्रसग मे बृहत्-संहिता के अतिरिक्त जिन ग्यारह साक्ष्यो की मैंने चर्चा की है, वे ये हैं —१ पराशर कहते हैं. कृत्तिकारोहिणीपूदिते शुल्कस्त्राग्निवृष्टिव्याधिप्राबल्य चित्रास्वात्योरुदिते नृपसस्यवर्षक्षेमारोग्यकर । —२ गर्ग कहते है. प्रवासान्ते सहर्क्षेण ह्युदितो युगपच्चरेत। तस्मात् कालाद् ऋक्षपूर्वो गुरोरब्द प्रवर्तते ॥ ३.काश्यप कहते हैं ' सवत्सरयुगे चैव षष्ट्यब्दे' ऽङ्गिरससुत. यन्नक्षत्रोदय कुर्यात् तत्सज्ञ वत्सर विदुः॥—४ ऋषिपुत्र कहते हैं. यस्मिन् तिष्ठति नक्षत्रे सह येन प्रवर्धते। सवत्सरस्स विज्ञेयन् तन्नक्षत्राभिधानक ॥—५ निम्न श्लोक मे ऋषिपुत्र पराशर के अतिरिक्त-जिनका ऊपर अलग से उल्लेख किया गया है-वसिष्ठ और अत्रि को उद्धृत करते हैं तिष्यादिकयुग प्राहुर् वसिष्ठात्रिपराशर । बृहस्पतेस्तु सौम्यान्न सदा द्वादशवार्षिक ॥ उदेति यस्मिन् मासे तु प्रवासोपगतोऽङ्गिरा' । तस्माद् सवत्सर । —६ वराहमिहिर द्वारा लिखित एक छोटी पुस्तक, समास-संहिता मे हम पाते हैं[2] . गुरुरुदयति नक्षत्रे यस्मिन् तत्सज्ञितानि वर्षाणि ॥—७ किरणावली नाम से सूर्य-सिद्धान्त पर दादाभाई द्वारा की गई टीका मे दिए गए उद्धरण के अनुसार बृहस्पति कहते है यदा गुरूदयो भानोर्गुरोरब्दस् तदादित ।—८ नारद-संहिता, गुरुचाराध्याय, मे हम पाते हैं ' यद्धिष्ण्याभ्युदितो जीवस् तन्नक्षत्राह्ववत्सर' ।—९ मुहूर्त-तत्व, गुरुचार श्लोक ७ मे हम पाते हैं ' ह्यक्षोऽपनाग्ने' कार्तिकातृश्य-ऋक्ष इपुरविशिवोऽब्द. स येनोदितेज्य' ।—१० ज्योतिष दर्पण, अध्याय ५, मे हम पाते हैं यस्मिनभ्युदितो जीवस् तन्नक्षत्रस्य वत्सर' । इन दस उद्धरणो का अनुवाद देना अनावश्यक है क्योकि इन सभी का सामान्य आशय एक ही है- यह कि "सवत्सर का नामकरण उस नक्षत्र के नाम पर होना चाहिए जिसमे कि बृहस्पति का उदय होता है"। ११.

---

१ इससे यह प्रतीत होता है कि षष्ठिवर्षीय चक्र के भी सवत्सर मूलत ग्रह के सूर्यसापेक्ष उदयों से निर्धारित होते थे। तथा, आगे चलकर उद्धृत, वराहमिहिर के एक श्लोक से इसकी पुष्टि होती है। काश्यप का उपरोक्त श्लोक स्पष्ट. द्वादशवर्षीय चक्र पर भी लागू होता है।

२ इन तथा पूर्ववर्ती पाच उद्धरणों को मैंने बृहत्-संहिता पर की गई उत्पल की टीका से लिया है।

अवशिष्ट साक्ष्य सूर्य-सिद्धान्त मे यह नियम सामान्य विशिष्टताओ मे समान होने पर भी अन्य साक्ष्यों से कुछ भिन्न है। और इसी कारण तिथि मे प्राचीनतम होने पर भी इस साक्ष्य को मैंने सबसे अन्त मे उद्धृत किया है। नियम से सबद्ध श्लोक है वैशाखादिषु कृष्णे च योग पञ्चदशे तिथौ। कार्तिकादीनि वर्षाणि गुरोरस्तोदयात् तथा।। - "कार्तिक तथा अन्य (अनुवर्ती) वर्षो का, वैशाख तथा अन्य (अनुवर्ती मासो के) कृष्ण पक्ष पर पन्द्रहवी तिथि पर (कृत्तिका तथा अन्य नक्षत्रो के)[1] घटित होने के अनुसार, बृहस्पति के, अस्त होने के पश्चात्, उदय से[2] नामकरण करना चाहिए।" इस नियम का व्यवहार इस प्रकार प्रतीत होता है वर्षो को नाम इसके अनुसार दिया जाना चाहिए जिस प्रकार कृत्तिका तथा अन्य नक्षत्र–स्पष्टत वे नक्षत्र जिनमे सूर्य और चद्र स्थित हैं–वैशाख तथा अन्यो की अमावस्या पर घटित होते हैं, जो कि उस दिन के ठीक पहले अथवा तुरन्त बाद के दिन पर पडती है[3] जिस दिन बृहस्पति का उदय होता है, कहने का अर्थ यह हुआ कि जिस दिन भी बृहस्पति का उदय होता है सवत्सर का नाम उस दिन की पूर्ववर्ती अमावस्या पर पडने वाले नक्षत्र से लिया जाता है। उत्पल द्वारा इस नियम का–यद्यपि सूर्य-सिद्धान्त के नाम मे नही–परोक्ष निर्देश किया जाना प्रतीत होता है, किन्तु वे इसका निरास करते है। सभव है इसका यदाकदा प्रयोग होता रहा हो, किन्तु गुप्त लेखो पर यह निश्चित रूप से नही लागू होता।

उपरोक्त सभी उद्धरण विशिष्टरूपेण किसी न किसी रूप मे बृहस्पति के उदय का उल्लेख करते हैं, जिसका अर्थ उसके सूर्यसापेक्ष-उदय के अतिरिक्त और कुछ नही समझा जा सकता। और, यदि उल्लिखित उदय सूर्य सापेक्ष उदय है तो कोई भी ज्योतिषी इसे अस्वीकार नही कर सकता कि बारह वर्षो मे बृहस्पति का सूर्य के साथ योग केवल ग्यारह बार होता है और, परिणामस्वरूप, इसके केवल ग्यारह सूर्य सापेक्ष उदय सभव है। और, इस तथ्य के सुप्रतिष्ठित हो चुकने पर, दो पूर्वानुपर

---

१ योग के सबध मे प्रयुक्त ये शब्द पूर्ववर्ती श्लोक से लिए गए हैं जिसमे ऊपर पृ० १६२ पर सारणी ८ में प्रदर्शित निष्कर्ष दिए गए हैं।

२ मैं यहां बता दू कि रगनाथ, जो सूर्य-सिद्धान्त के टीकाकारो मे सर्वोत्तम है, ने इस श्लोक की व्याख्या इस अवबोध मे की है—और यहा वे बृहत्-सहिता, ८, १ पर उत्पल की टीका से प्रेरित प्रतीत होते है—कि अस्तोदयात का अर्थ है "अस्त अथवा उदय से"। किन्तु, उन्होंने आगे यह जोडा है इदानीम् उदयवर्षव्यवहारो गणकैर्गण्यते—"सप्रति उदय से वर्ष (को नाम देने) की प्रथा को ही ज्योतिषी व्यवहार मे लेते है।" एकरूपता के उद्देश्य मे यह अपेक्षित है कि अस्तोदयात् का अनुवाद उसी प्रकार किया जाय जैसा कि मैंने किया है और इस समासित शब्द के एकवचनात्मक स्वरूप के प्रयोग से मेरे अनुवाद की पुष्टि होती है। मैंने सूर्य सिद्धान्त पर अपनी टीका मे दादाभाई को भी इसकी इसी रूप में व्याख्या करते हुए पाया है, उनके अपने शब्द हैं तथास्ताद् उदयकाले गुरोस् तद्युक्तनक्षत्रसज्ञो गुरोरब्दो ज्ञेय —"अतएव बृहस्पति के वर्ष उस नक्षत्र के नाम से ज्ञातव्य है जिसके साथ वह, अस्तगमन के पश्चात् (अपने) उदय के समय, सलग्न होता है।"—(इसमे कोई सदेह नही हो सकता कि अस्तोदयात् का व्यवहार यहा "अस्तगमन के पश्चात् उदय से" के अर्थ मे हुआ है, इसकी इस प्रकार के समासों से तुलना करें, जैसे सुप्तोत्थित "निद्रा से उठने पर", शाब्दिक अर्थ —"सो चुकने के पश्चात् उठा हुआ।"—जे० एफ० एफ०)

३ इन दोनो मे कौन, यह सदर्भ से नहीं जाना जा सकता, और मैं किसी टीकाकार को नही जानता जिसने विषय का ठीक निरूपण किया हो। मेरा अपना विचार यह है कि यहां आगामी अमावस्या अभिप्रेत है। किन्तु ऐसा जान पडता है कि इस नियम का निर्देश करते समय उत्पल ने इसे पूर्ववर्ती अमावस्या के अर्थ में लिया है।

उदयो के बीच चार सौ वर्षों का अन्तराल, प्रत्येक सवत्सर की अवधि के लिए समान समय, बारह वर्षों के प्रत्येक चक्र मे एक सवत्सर का विलोपन तथा वे सभी अन्य बातें, जिनका मैंने विवेचन किया है, अपरिहार्यंत मान्य हो जाती है।

निस्सदेह, इस ओर ध्यान स्वाभाविक रूप से जाएगा कि सूर्यसापेक्ष पद्धति के समर्थन मे मैं प्रथम आर्यभट (जन्म, ईसवी सन् ४७६) अथवा ब्रह्मगुप्त (जन्म ईसवी सन् ५९८) से कोई उद्धरण नही दे सका हूँ। और इसके अस्तित्व के विरुद्ध इन आधारो पर यह तर्क किया जा सकता है। ये दो प्राचीन साक्ष्य—और जिन्हे भारत के तीन ज्योतिष-सम्प्रदायो मे से दो का प्रवर्तक कहा जा सकता है—इस विषय पर मौन हैं यद्यपि उन्होने मध्यक-राशि-पद्धति का उल्लेख किया है। किन्तु, ये तथ्य केवल मध्यक-राशि-पद्धति का प्राचीन अस्तित्व प्रमाणित करते हैं और मैं भी इसे अस्वीकार नही करता। उनसे न तो यह प्रमाणित होता है कि सूर्य सापेक्ष-उदय-पद्धति का अस्तित्व नही था और न यह कि इसका पहले अस्तित्व था किन्तु उनके समय मे इसका प्रचलन समाप्त हो गया था। एक दूसरा उदाहरण लें, आर्यभट और ब्रह्मगुप्त ने षष्ठिवर्षीय चक्र के सवत्सरो को पाने का कोई नियम नही दिया है, किन्तु यह कहना कि उनमे से कोई भी इससे परिचित नही था शायद ही युक्तियुक्त होगा। द्वादशवर्षीय चक्र के लिये मध्यक-राशि-पद्धति का प्रयोग निस्सदेह रूप से प्राचीन है। किन्तु, सूर्यसापेक्ष उदय पद्धति और भी प्राचीन है। ऊपर उद्धृत साक्ष्यो मे, सूर्य-सिद्धान्त[1], यदि यह आर्यभटीय से प्राचीन नही है तो भी, समानरूपेण प्राचीन कृति है। तथा, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि पराशर, गर्ग और काश्यप आर्यभट की अपेक्षा प्राचीन हैं। उत्पल ने गर्ग का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसे, कुछ प्रस्तावित सशोधनो के साथ मैं उसे उस रूप मे देता हू जिस रूप मे यह मेरी पाण्डुलिपि मे दिया हुआ है एवम् आश्वयुज चैव चैत्र चैव वृहस्पति। सवत्सरो (?र) नाम(?श)यतै सप्तंतेद (? सप्त्यब्द) शतेधिके॥[2] यह श्लोक मध्यक-राशि-पद्धति का उल्लेख करता प्रतीत होता है, किन्तु बिना सदर्भ देखे मैं इस विषय पर निश्चितरूप से कुछ नही कह सकता, और सम्प्रति मेरे पास इसके लिए समय नही है। किन्तु, यदि यह मान भी लिया जाय कि यह मध्यक-राशि-पद्धति का ही उल्लेख करता है तथापि यह सूर्य सापेक्ष-उदय-पद्धति के अनुकूल नही है, इसी के लिए उत्पल ने उसी गर्ग का एक श्लोक उद्धत किया है, जो ऊपर पृ० १७२ पर दिया गया है। इसमे गर्ग कहते है, "जब बृहस्पति, (सूर्य के) साथ निवास कर चुकने पर,[3] उदित होता है तथा किसी नक्षत्र के साथ चलता है तब बृहस्पति के वर्ष का प्रारम्भ होता है जिसके (नाम का) पहला भाग (उस) नक्षत्र (का नाम) है।"

केवल इतना ही नही कि सूर्यसापेक्ष-उदय-पद्धति अत्यन्त प्राचीन है, अपितु यह भी स्पष्ट है कि केवल यही द्वादशवर्षीय चक्र की मौलिक पद्धति है। बृहस्पति का सूर्यसापेक्ष उदय एक प्राकृतिक

---

१ यह कहना, कि सूर्य-सिद्धान्त वराहमिहिर की रचना है, त्रुटिपूर्ण है। इस समय इस प्रश्न पर विचार करना सभव नही है, किन्तु, जो यह विचार रखते हैं उनके लिए मैं वराहमिहिर की पच-सिद्धान्तिका तथा कर्न द्वारा स्वसपादित बृहत्-सहिता के प्राक्कथन का निरीक्षण प्रस्तावित करता हूँ।

२ [जनरल कनिंघम ने भी इस श्लोक को उद्धृत किया है (आर्क्यलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ११४), उनके साक्ष्य मे नश्यते पाठ है जबकि श्री श० ब० दीक्षित की पाण्डुलिपि मे नमयते मिलता है, कनिंघम ने इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि इसके अपरार्ध मे इसे निश्चितरूपेण नाशयते सप्त्युब्दशतै पढ़ना होगा। जे० एफ० एफ०]

३ प्रवासान्ते का अनुवाद हो सकता है—"यात्रा समाप्त कर चुकने पर", अर्थात् किसी प्रकार का परिक्रमण पूर्ण कर चुकने पर।

व्यापार है। इसके निरीक्षण के लिए किसी वैज्ञानिक उपकरण की आवश्यकता नही है और न ही कोई गणना अपेक्षित है[1]। किन्तु, बृहस्पति के राशि मण्डल की एक राशि से दूसरी राशि मे सक्रमण के साथ ऐसी बात नही है। किसी प्रकार के उपकरण से बृहस्पति के माध्य देशान्तर का निर्धारण नही हो सकता। यह केवल गणनाओं द्वारा जाना जा सकता है जिसके लिए नियमो की स्थापना दीर्घ-कालीन निरीक्षणों के पश्चात् हुई होगी। बृहस्पति की माध्य वार्षिक अथवा दैनिक गति के निर्धारण के उपाय निश्चित करना ऐसी वस्तु नही है जिसकी उपलब्धि कुछ वर्षों मे ही सभव हो। अतएव, यह अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है कि बृहस्पति के नक्षत्र विशेष मे उदित होने के आधार पर उस नक्षत्र पर सवत्सरो का नामकरण—अर्थात् सूर्यसापेक्ष-उदय-पद्धति—ही मौलिक पद्धति है।

इतना तो सूर्यसापेक्ष-उदय-पद्धति की प्राचीनता के विषय में कहा गया। अब हम इसका अपेक्षाकृत परवर्ती प्रयोग देखे। वराहमिहिर का समय आर्यभट से बाद का है। तथा उनका श्लोक, जिसके साथ मैंने द्वादशवर्षीय चक्र पर अपनी चर्चा आरम्भ की है, निस्सदेह रूप से इस पद्धति के प्रति निर्देश करता है। इसके अतिरिक्त बृहत्-सहिता, ८, २७ मे दिया गया उनका एक अन्य श्लोक इसी की ओर निर्देश करता है। यह श्लोक इस प्रकार है—आद्य धनिष्ठा सम्भिप्रपन्नो[2] माघे यदाया-त्युदयसुरेज्य। अप्ट्यब्दपूर्व प्रभाव स नम्ना प्रपद्यते भूतहितस् तदाब्द,॥—"जब बृहस्पति प्रथम (नक्षत्र) धनिष्ठा को प्राप्त हो माघ (मास) में (अपने) उदय को पाता है, तब,

---

१ इस बात पर भारतवर्ष म ादैर अधिक ध्यान दिया गया है। आज भी प्राय सभी हिन्दू पचांग बृहस्पति के सूर्यसापेक्ष उदय तथा अस्त की तिथिया देते हैं। ऐसा धार्मिक कारणो से हैं, क्योंकि बृहस्पति के अदृष्ट रहने पर यज्ञोपवीत, विवाह, तीर्थयात्रा इत्यादि कुछ अनुष्ठान और कर्म नही किए जाते हैं, तथा यह जानने के लिए कि कब वह दृष्ट है तथा कब दृष्ट नही रहता, विचाराधीन तिथियों का ज्ञान अपेक्षित है। महाराष्ट्र में प्रकाशित पचांगों मे मासा के ऊपर सवत्सरो का नाम देने का प्रचलन नहीं है, वास्तव मे अब सामान्यतया दक्कन में लोग द्वादशवर्षीय चक्र से अपरिचित हैं। किन्तु ज्वालापति सिद्धान्त द्वारा तैयार किए गए एव सूर्योदय प्रेस, मद्रास से प्रकाशित एक पचांग में मैंने पाया है कि लेखक ने सवत्सर-फल मे, उत्तरी तथा दक्षिणी गणना विधियों के अनुसार, षष्ठिवर्षीय चक्र के दो सवत्सरो को देने के पश्चात् आगे लिखा है (सवत्र गुर्व्दयवशाद् (चैत्र) नाब्दो ग्राह्य —' (भारत में) सवत्र एक (विशेष) वर्ष (अर्थात् ऐसे सवत्सर जैसे चैत्र इत्यादि), जो बृहस्पति के उदय पर आधारित होता है, लिया जाना चाहिए।' इससे यह स्पष्ट है कि मद्रास से प्रकाशित इस पचाग में उपरोक्त प्रकार की किसी उदय-पद्धति का व्यवहार किया गया है। इसके अतिरिक्त मारवाड मे जोधपुर की मध्यान्ह-रेखा के प्रसग में निर्मित, तथा वहा एव मारवाडियों द्वारा भारत के अन्य भागों में भी व्यवहृत, चण्डू-पचांग में सवत्सरो को इस प्रकार नाम दिया गया है जैसे चैत्र-वर्ष, वैशाख-वर्ष इत्यादि। किन्तु, सवत्सरों के नामकरण के लिए पचांग मे व्यवहृत पद्धति मध्यम-राशि पद्धति है।

२ यहा दिया गया पाठ मेरी पाण्डुलिपि के अनुसार है। किन्तु, स और श में भ्रान्ति की सभावना अधिक होने के कारण, अन्य मुद्रणप्रतिया मे दिया गया पाठ—आद्य धनिष्ठांशमभिप्रपन्नो—भी कुछ प्रामाणिक हो सकता है। किन्तु, गणना करने पर मैंने पाया है कि प्रभव सवत्सर के आरम्भ मे अपने उदय के समय बृह-स्पति सदैव धनिष्ठा के प्रारम्भ में नहीं स्थित रहता और, इस कारण, मेरा विचार है कि मेरे द्वारा दिया गया पाठ ही लेखक का मौलिक पाठ है। मैं आद्यम् को नक्षत्रम् शब्द, जो कि अवबुद्ध है, के विशेषण के रूप में लेता हू। वराहमिहिर विचाराधीन नक्षत्र को इस कारण 'प्रथम नक्षत्र' कहता है क्योंकि, जैसा कि मैं सोचता हूँ, उनका यह विचार था कि धनिष्ठा षष्ठिवर्षीय चक्र का प्रथम नक्षत्र है जिस प्रकार कि यह वेदाग-ज्योतिष के पचवर्षीय चक्र का प्रथम नक्षत्र है (इसका श्लोक देखें स्वराक्रमेते सोमार्कौ यदा साक सवासवौ स्यात्तदादियुग माघ,—"वासव (धनिष्ठा) (नक्षत्र) में स्थित सूर्य और चद्र जब साथ-साथ आकाश

प्राणियो का हितकारी, वह वर्ष प्रारम्भ होता है जिसे प्रभव नाम दिया जाता है, तथा जो साठ वर्षो मे प्रथम होता है।'[1] अस्तु, शक संवत् के प्रारम्भ से अठ्ठारह शताब्दियो मे प्रभव संवत्सर तीस बार घटित हुआ। और स्थूल गणनाओ के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि वराहमिहिर का निश्चयात्मक कथन यद्यपि एकदम शुद्ध नही है किन्तु, सूर्यसापेक्ष-उदय-पद्धति के अनुसार, लगभग ठीक है। इन तीस अवसरो मे, पक्षो की अनन्त दक्षिणी व्यवस्था के अनुसार ' बृहस्पति छब्बीस बार माघ मास मे, तीन बार फाल्गुन के प्रारम्भ मे और एक बार पौष के लगभग अन्त मे घटित हुआ। तथा यह अधिकांशत धनिष्ठा मे उदित हुआ और कुछ अवसरो पर श्रावण मे। किन्तु मध्यक-राशि-पद्धति के अनुसार यह निश्चय-कथन शुद्ध नहीं है। उस पद्धति के अनुसार, प्रभव संवत्सर के प्रारम्भ मे—जिसका कि प्रारम्भ तब होता है जब बृहस्पति अपने मध्य देशान्तर द्वारा कुम्भ मे प्रवेश करता है—यह स्पष्टरूपेण सदैव धनिष्ठा के मध्य मे स्थित होता है।[2] किन्तु प्रथम संवत्सर बारह मासो मे से किसी एक मे प्रारम्भ हो सकता है, और गणनाओ के बाद मैंने पाया है—जैसा कि षष्ठिवर्षीय चक्र पर विचार चर्चा के प्रसंग मे देखा जाएगा—यह हुआ भी है। अतएव यह स्पष्ट है कि विचाराधीन श्लोक सूर्यसापेक्ष-उदय-पद्धति का समर्थन करता है। श्लोक में स्वयं उदय शब्द का प्रयोग किया गया है। यह तर्क किया जा सकता है कि बृहस्पति का नक्षत्र पाने के लिए वराहमिहिर द्वारा निर्धारित नियम (बृहत्-संहिता, ८, २२: एकैकनव्देषु नवाहतेषु) उसके माध्यम देशान्तर की अपेक्षा रखता है, और, परिणाम-स्वरूप, यह कहा जा सकता है कि उसने मध्यक-राशि-पद्धति ही दिया है। किन्तु यह मानना सर्वथा अनुपयुक्त होगा कि उसके समान विद्वान् ज्योतिषी-यह नियम अभिव्यक्त करने के समय कि संवत्सर का नाम उस नक्षत्र पर होगा जिसमे कि बृहस्पति का उदय होता है—इस तथ्य से अनभिज्ञ था कि अपने उदय के समय नक्षत्र का निर्धारण केवल उसके स्पष्ट देशान्तर से हो सकता है। उन्होंने केवल माध्य देशान्तर को प्राप्त करने का ही नियम क्यो दिया है। इसका कारण मेरे विचार से यह है—हिन्दू गणितीय ज्योतिष से परिचित प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि अहर्गण—अथवा कल्प अथवा युग के प्रारम्भ से गिने जाने पर अवसित दिनो की संख्या—द्वारा किसी नक्षत्र का माध्य देशान्तर निकालना कितना कठिन है। किन्तु, एक बार इसकी प्राप्ति हो जाने पर इससे, सामान्य नियमो के अनुसार, स्पष्ट देशान्तर की गणना करना बहुत ही कम कठिन होता है। इस प्रकार, मेरे विचार से, वराह-

---

मे पहुचते हैं, तब युग (तथा) माघ (मास का) प्रारम्भ होता है)", वराहमिहिर इन दोनो में सामञ्जस्य स्थापित करना चाहते हैं। (ऐसा प्रतीत होता है कि कर्न को केवल आद्य धनिष्ठांश पाठ ज्ञात था। उनका अनुवाद (जर्नल ऑफ द रायल एशियाटिक सोसायटी N S जि० ५, पृ० ४९ इ०)—जो कि प्रपद्यते के स्थान पर प्रवर्तते पाठ का अनुसरण करता है—यह है—"जब बृहस्पति, धनिष्ठा के प्रथम चतुर्थांश तक पहुँच कर, माघ चान्द्रमास मे उदित होता है, तब सभी प्राणियो का हितकारी साठ के चक्र का प्रभव नामक प्रथम वर्ष प्रारम्भ होता हैं।" पुन उन्होंने यह अनुच्छेद जोडा है—"तु० डेविस, एशियाटिक रिसर्चेज, जि० ३, पृ० २२०। अंश शब्द का अर्थ अंग्रेजी का डिग्री (degree) शब्द भी होता है किन्तु यहा, उत्पल के अनुसार, जो इसकी व्याख्या करते समय 'पाद' शब्द का प्रयोग करते हैं, इसका अर्थ 'चतुर्थांश' किया गया है।'—जे० एफ० एफ०)।

१ द्र०, ऊपर पृ० १४६, टिप्पणी १।

२ कुम्भ राशि धनिष्ठा के मध्य मे प्रारम्भ होती है तथा पूर्वा-भाद्रपदा के तृतीय चतुर्थांश के अन्त मे समाप्त होती है।

मिहिर ने किसी प्रदत्त तिथि पर वृहस्पति का माध्य देशान्तर निकालने के लिए एक सरल नियम दे दिया है तथा स्पष्ट देशान्तर की गणना का कार्य उन्होने स्वय ज्योतिपी पर छोड दिया है। अथवा, यह भी कहा जा सकता है कि चू कि अपने सूर्यसापेक्ष उदय के समय वृहस्पति के माध्य देशान्तर तथा स्पष्ट देशान्तर के बीच अधिक अन्तर नही होता—जैसा कि मैंने बहुत सी गणनाए करके देखा है। यह अन्तर कभी कभी लगभग पाच अशो का होता है और कभी-कभी लगभग शून्य के बराबर ही रहता है—अत वराहमिहिर ने स्थूल गणनाओ के लिए ही नियम दिया है, चरमतम शुद्धि की अपेक्षा होने पर विस्तृत गणनाओ का उत्तरदायित्व उन्होने सवधित ज्योतिपी पर छोड दिया है। किन्तु, यह मान लेने पर भी कि वराहमिहिर का यह श्लोक मध्यक-राशि-पद्धति उपलक्षित करता है, तथापि इससे केवल यह प्रमाणित होगा कि उसने दोनो पद्धतियो को दिया है।

अव हम अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक काल को ले। सूर्यसापेक्ष-उदय-पद्धति के समर्थन मे उद्धृत उपरोक्त साक्ष्यो मे मुहूर्त-तत्त्व तथा ज्योतिष दर्पण अपेक्षाकृत आधुनिक है। प्रथम कृति के लेखक ग्रहलाघव के रचयिता सुप्रसिद्ध गणेश देव के पिता है, और, इस कारण, इसकी तिथि लगभग अवसित शक सवत् १४२० (ईसवी सन् १४९८-९९ है), तथा यह वम्वई से लगभग पैंतालीस मील दक्षिण पश्चिमी समुद्र तट पर नन्दगाव नामक स्थान पर लिखी गई। दूसरी पुस्तक की तिथि—जैसा कि मैंने इसमे अन्तर्निहित सूचनाओ के आधार पर निश्चित किया है—अवसित शक सवत् १४७९ (ईसवी सन् १५५७-५८) है तथा यह कर्नाटक प्रदेश मे कही स्थित कोण्डपल्ली नामक स्थान पर लिखी गई। तथा, इन दो के अतिरिक्त, सूर्यसापेक्ष-उदय-पद्धति का एक तीसरा उल्लेख ऊपर पृ० १७३, टिप्पणी १ मे द्रष्टव्य है जो कि सूर्य-सिद्धान्त पर रगनाथ की टीका से उद्धृत किया गया है। इस टीका की तिथि अवसित शक सवत् १५२५ (ईसवी सन् १६०३-१६०४) है तथा यह बनारस मे लिखि गई थी। इन विवरणो से यह स्पष्ट है कि सूर्यसापेक्ष-उदय पद्धति का उल्लेख देश के विभिन्न प्रदेशो से सवधित आधुनिक कालीन कृतियो मे मिलता है।

यह सत्य है कि द्वादशवर्षीय चक्र का प्रयोग बहुत कम होता है। यह इस तथ्य से ज्ञात होता है कि कुछ ज्योतिषीय कृतिया, किसी भी पद्धति मे, इसका उल्लेख नही करती यद्यपि ऐसा करना उनके सीमा-क्षेत्र के बाहर नही पडता, इस प्रसग मे यह तथ्य भी विचारणीय है कि सैकडो अभिलेखो में केवल सात अभिलेख इसके सवत्सरो का उल्लेख करते हुए पाए गए हैं।[1] किन्तु, यदि सूर्यसापेक्ष-उदय-पद्धति का प्रयोग विरल है, तो मध्यक-राशि-पद्धति का प्रयोग और भी विरल है। गणनाओ के लिए पूर्ण विवरण प्रदान करने वाले प्रारभिक गुप्त युग के चार अभिलेखो मे उल्लिखित सवत्सर सूर्यसापेक्ष-उदय-पद्धति से सबद्ध सिद्ध हुए है। और, जबकि मैं सूर्यसापेक्ष-उदय पद्धति का उल्लेख करने वाले ग्यारह साक्ष्यो को उद्धृत कर सकता हू, मध्यक-राशि-पद्धति का विशिष्ट उल्लेख केवल दो साक्ष्यो मे मिलता है—अर्थात् आर्यभट तथा ब्रह्मगुप्त मे, जिन्हे ऊपर उद्धृत किया गया है। यदि इसमे हम सिद्धान्त-शिरोमणि का एक प्रक्षिप्त श्लोक जोड दें और यह भी मान लें कि यह पद्धति गर्ग और वराहमिहिर द्वारा दी गई है, तो भी यह सख्या केवल पाच तक पहुचती है।[2] तथा ईसवी सन् १४७८

---

१ बापूदेव शास्त्री द्वारा सपादित सिद्धान्तशिरोमणि के संपादन के पृ० १३, टिप्पणी, मे इस पद्धति के उल्लेख से युक्त एक श्लोक दिया गया है और इसे श्रीपति से सबद्ध किया गया है, किन्तु श्रीपति द्वारा रचित रत्नमाला में मुझे यह श्लोक नहीं मिलता।

२ द्र०, ऊपर पृ० १७५, टिप्पणी १।

के वाद की तिथि लगभग आठ ऐसी कृतियो मे, जिनमे इस पद्धति के उल्लेख की आशा की जाएगी, मुझे इस पद्धति का कोई उल्लेख नही मिलता।

वर्तमान समय को लेने पर, यदि देश के एक भाग मे मध्यक-राशि-पद्धति का प्रयोग होता है तो अन्य भाग मे सूर्यसापेक्ष-उदय-पद्धति का प्रचलन मिलता है[1], कुछ अन्य भागो मे दोनो ही पद्धतिया, यदि सर्वथा नही तो, लगभग अज्ञात है। इसमे सन्देह नही कि मध्यक-राशि-पद्धति इन दोनो पद्धतियो मे अपेक्षाकृत अधिक सुविधाजनक हैं, क्योकि, सवत्सर की अवधि, जो स्थूल-गणनानुसार तीन सौ इकसठ दिन है, सौर वर्ष की अवधि के अत्यन्त निकट है तथा किसी सवत्सर का विलोपन लगभग पचासी वर्षो मे केवल एक वार होता है। इसमे अन्तर्निहित सुविधा ही ज्योतिषियो द्वारा इस पद्धति के आविष्कार का कारण प्रतीत होती है। किन्तु, चू कि ज्योतिष-ग्रन्थो मे दोनो ही पद्धतिया दी हुई मिलती हैं अत वस्तुत दोनो का ही व्यवहार होता रहा होगा। तथा, जब तक इन गन्थो का अस्तित्व है तब तक ये दोनो पद्धतिया प्रयुक्त होती रहेंगी।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० १७५, टिप्पणी १।

परिशिष्ट ४

नेपाल के प्रारंभिक शासकों का तिथिक्रम

इस परिशिष्ट को वस्तु-सामग्री प्रदान करने वाले लेख काठमाण्डू तथा इसके निकट वर्ती स्थानो से पाए गए हैं। ये सख्या मे उन्नीस हैं। इनमे पन्द्रह लेखो का सग्रह स्वर्गीय डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने किया था तथा जो बाद मे उनके तथा डा० ब्यूलर (Buhler) द्वारा इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १६३ इ० मे प्रकाशित हुए, शेष चार लेख श्री बेन्डल (Bendall) द्वारा पाए गए थे जिनमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण लेख मूलरूप मे इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ६७ इ० मे प्रकाशित हुआ था तथा बाद मे यह उनकी पुस्तक, जरनी इन नेपाल एण्ड नर्दर्न इण्डिया, पृ० ७२ इ० तथा प्रतिचित्र ८ मे पुनप्रकाशित हुआ है, श्री बेन्डल द्वारा प्राप्त अन्य तीन लेख इसी पुस्तक के पृ० ७४ इ० मे तथा प्रतिचित्र ६, १० तथा ११ मे पहली बार प्रकाशित हुए हैं।

प्रथम वर्ग के ऐतिहासिक निष्कर्षों पर डा० भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा अपने "सम कन्सिडरेसन्स आन द हिस्टरी आफ नेपाल" शीर्षक लेख मे विस्तार से विचार किया गया, डा० ब्यूलर द्वारा सपादित यह लेख इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १३, पृ० ४११ इ० मे प्रकाशित हुआ था। दुर्भाग्यवश उनके निष्कर्ष एक गभीर त्रुटि से दूषित हैं वह यह है कि एक पूरी तिथि-शृ खला लगभग चार सौ वर्षों बाद के गुप्त सवत् के स्थान पर विक्रम सवत् से सबद्ध की गई है। यह त्रुटि अशत हर्ष सवत् १५३ की तिथियुक्त जयदेव द्वितीय के महत्वपूर्ण अभिलेख के एक श्लोक का अशुद्ध अर्थ करने के कारण हुई और अशत इस कारण कि उन्हें श्री बेन्डल द्वारा प्राप्त गुप्त सवत् ३१६ की तिथि से युक्त अभिलेख द्वारा उपलब्ध किए गए मुख्य तथ्य का ज्ञान नही था। और वास्तव मे इस अन्तिम लेख के प्रकाशन से ही मुझे इस विषय पर और सावधानी से सोचने का विचार आया, इस लेख की सहायता से ही मैं उस मूलभूत त्रुटि को बता सका जिसके अभिज्ञान के बिना अब भी यह तर्क किया जा सकता है कि शिवदेव प्रथम और अशुवर्मन् के लिए प्रयुक्त श्री बेन्डल की ३१६ की तिथि गुप्त सवत् मे अकित एकमात्र तिथि है, तथा यह कि, इसके होते हुए भी, डा० भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा अन्य तिथियो का विक्रम सवत् मे रखा जाना सर्वथा त्रुटिरहित है।

विचाराधीन लेखो को नियमित तैथिक क्रम मे रखने पर, इनकी तिथिया तथा अन्य महत्त्वपूर्ण सूचनाएं इस प्रकार है

[क] श्री बेन्डल का अभिलेख स० १, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ६७ इ० तथा जरनी इन नेपाल, पृ० ७२ इ० तथा प्रतिचित्र ८। अकित राजपत्र मानगृह नामक राजकुल अथवा राजप्रासाद से जारी किया गया है (पक्ति १)। अभिलेख भट्टार्क तथा महाराज विरुद वाले श्रीमान्[1] शिवदेव प्रथम (पक्ति २, इ०) का है जिसे लिच्छविकुल की पताका अथवा कीर्ति कहा गया है[2]। तथा,

---

१ थी।

२ लिच्छविकुलकेतु, पक्ति २।

इसमें महासामन्त अंशुवर्मन् की सलाह अथवा प्रार्थना[1] पर दिए गए एक दान का अंकन है (पंक्ति ६०)। दूतक का नाम स्वामिन् भोगवर्मन् है (पंक्ति १५)[2]। तिथि (पंक्ति १५)—जो यहाँ तथा इस श्रृंखला में सर्वत्र संख्यात्मक प्रतीकों में दी गई है—(गुप्त) संवत् ३१६ ज्येष्ठशुक्लदशम्याम् है जो कि ईसवी सन् ३१९-२० का संवत्-काल लेने पर, सन्निकटतः ३ मई, ईसवी सन् ६३५ के बराबर है।

(ख) डा० भगवानलाल इन्द्रजी का अभिलेख सं० ५०: इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १६८ इ०। यह राजभवन मानगृह से जारी किया गया है (पंक्ति १)। अभिलेख भट्टारक एवं महाराज विरुदधारी लिच्छवी-कुल-केतु श्रीमान् शिवदेव प्रथम का है (पंक्ति ८ इ०)। लेख में उनके द्वारा संपादित किसी कार्य का अंकन हुआ था जो कि, अभिलेख (क) के समान, महासामन्त श्रीमान् अंशुवर्मन् की सलाह अथवा प्रार्थना पर (पंक्ति ८ इ०) किया गया था[3]: इस कार्य के विवरण का अंश टूट गया है और अब उपलब्ध नहीं है। पंक्ति १५ इ० में अंकित तिथि तथा दूतक के नाम का अंश भी टूटा हुआ है और अब अप्राप्य है।

(ग) डा० भगवानलाल इन्द्रजी का अभिलेख सं० ६; इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० ९ पृ० १६९ इ०। यह राजभवन कैलासकूटभवन नामक राजकुल अथवा राजप्रासाद से जारी किया गया था (पंक्ति १)। अभिलेख महासामन्त विरुदधारी श्रीमान् अंशुवर्मन् का (पंक्ति २) है। दूतक का नाम महासर्व(दण्डना)यक विक्र(मसेन) है (पंक्ति १४)[4]। तिथि (पंक्ति १४) है (हर्ष) संवत् ३४, ज्येष्ठशुक्लदशम्याम्, इसका संवत्-काल ईसवी सन् ६०५-६०६ मानने पर[5] यह तिथि सन्निकटतः १८ मई, ईसवी सन् ६३९ के बराबर ठहरती है।

---

1 महासामन्तांशुवर्म्मणा विज्ञापितेन मया' पंक्ति ६-७।

2 यह व्यक्ति नीचे अभिलेख (ङ) में उल्लिखित भोगवर्मन् का भागिनेय जान पड़ता है। इसे शिवदेव द्वितीय के श्वसुर, मौखरी भोगवर्मन्, से सम्मिश्रित नहीं करना चाहिए जिसका नीचे अभिलेख (च) में उल्लेख हुआ है और जो कम से कम पूरी एक पीढ़ी बाद आता है। एक अन्य भोग... के इ०, नीचे इसी श्रृंखला के लेख सं० (घ) से संबद्ध टिप्पणी।

3 ऊपर पृ० १७७ टिप्पणी ३ के सदृश।

4 डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने नाम को इस रूप में पूरा किया है। किन्तु इसे शुद्ध मानने पर, हमें यह सावधानी बरतनी चाहिए कि इसे उस राजपुत्र विक्रमसेन से सम्मिश्रित न किया जाए जो नीचे दिए गए (ड) अभिलेख का दूतक था और जिसका समय दो सौ वर्षों से भी अधिक बाद का है। मैंने अभी तक इस लेख की मूल प्रतिलिपि नहीं देखी है।

5 यह संवत्-काल श्री शं० ब० दीक्षित द्वारा की गई महाराज महेन्द्रपाल के दिघवा-दुबौली दानलेख की तिथि की गणना से लिया गया है। लेख के अन्त में (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ११३, पंक्ति १४) संवत्-गत के अन्तर्गत की तिथि के रूप में हम वर्ष १५५ माघ सुदि १० पाते हैं; तथा, पंक्ति १२ से हमें ज्ञात होता है कि दान करते समय महाराज ने कुम्भ-संक्रान्ति अर्थात् सूर्य के कुम्भ में प्रवेश के अवसर पर स्नान किया था। इस संवत् का सन्निकटतः काल अल्बेरूनी के एक अभिकथन से (अल्बेरूनीज इण्डिया, अनुवाद, जि० २, पृ० ५) निश्चित होता है जिसका आशय यह है कि एक कश्मीरी पंचांग में उसने यह पढ़ा था कि हर्षवर्मन विक्रमादित्य के ६०० सौ चौसठ वर्ष बाद हुआ था। अल्बेरूनी ने यहाँ संवत् का काल बताया है अथवा संवत् का प्रथम प्रचलित वर्ष, अथवा, यह कि उनके द्वारा उल्लिखित विक्रम वर्ष अवसित वर्ष है अथवा प्रचलित वर्ष—ये सभी प्रश्न संदेह के विषय होने पर भी यह अभिकथन, करीब-करीब, अवसित शक संवत् ५२८ तथा प्रचलित ५२९ को (ईसवी सन् ६०६–६०७) इस संवत् का काल बताता है। अल्बेरूनी के अभिकथन के

(घ)—श्री वेन्डल का अभिलेख स० २, जरनी इन नेपाल, पृ० ७४ इ० तथा प्रतिचित्र ६। राजपत्र कैलासकूटभवन से जारी हुआ है (पक्ति १)। अभिलेख किसी श्रीमान् महासामन्त का है जिसका नाम मिट गया है किन्तु जिसे सतोपजनक निश्चितता के साथ अशुवर्मन् माना जा सकता है (पक्ति २)। तथा इसमे किसी भवन के जीर्णोद्धार के व्यय के निर्वाह के लिए दो खेतो के दान का अकन

आधार पर जनरल कनिंघम ने (इण्डियन एराज, पृ० ६४ इ०, १५७ इ०) इस सवत् काल को ही स्वीकार किया है। किन्तु, सूर्य-सिद्धान्त के आधार पर की गई गणनाओ के आधार पर श्री श० ब० दीक्षित इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि दिघवा-दुबौली लेख मे दी गई तिथि के विवरणो से सगति के लिए एक वर्ष पहले का सवत्-काल अपेक्षित है। इस प्रकार, हर्ष सवत् १५५ + अवसित शक सवत् ५२७ = अवसित शक सवत् ६८२ के आधार पर, कुम्भ-सक्रान्ति सोमवार, १९ जनवरी, ईसवी सन् ७६१ के दिन ४३ घटी, ४० पल पर घटित हुई, तथा माघ शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि उसी दिन, लगभग चार घटे बाद, ५३ घटी १५ पल पर समाप्त हुई। अथवा, आर्य-सिद्धान्त के अनुसार, सक्रान्ति का समय ४२ घटी ३० पल, तथा तिथि का समय ५२ घटी ४१ पल था। दोनो ही दृष्टान्तों में घटी और पल उज्जैन में माध्य सूर्योदय से लिए गए हैं। तथा, आगे उन्होंने यह जोडा है "सक्रान्ति के सबध में धार्मिक अनुष्ठानो के सम्पादन का पुण्य-काल अथवा शुभ समय, कुछ साक्ष्यो के अनुसार, सक्रान्ति मे सोलह घटी पूर्व और सोलह घटी पश्चात् है, अन्य साक्ष्यो के अनुसार, कुछ सक्रान्तियो के सबध मे यह समय सक्रान्ति के दस से सोलह अथवा यहा तक कि चालीस घटियो पहले से ले कर सक्रान्ति के समय तक है, तथा अन्य सक्रान्तियो के सबध मे यह समय सक्रान्ति के समय से लेकर दस से सोलह अथवा यहा तक कि चालीस घटियो बाद तक है। किन्तु, सामान्यतया, जब सक्रान्ति मध्य रात्रि में घटित होती है—जैसा कि वर्तमान दृष्टान्त में यह स्थूलत इस समय घटित हुई—तब पुण्यकाल अगला दिन माना जाता है। और वर्तमान दृष्टान्त में इस बात की सभावना अत्यन्त अधिक है कि स्नानादि कार्य अगले दिन, अर्थात् "माघ शुक्ल दशमी", को सपन्न हुआ। अन्य वर्षों को लेने पर प्रदत्त सक्रान्ति को प्रदत्त वार तथा प्रदत्त तिथि से सगत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, अवसित शक सवत् ६८० लेने पर सक्रान्ति, प्रदत्त तिथि के छ अथवा सात दिनों बाद, पूर्णिमान्त फाल्गुन कृष्ण २ पर घटित हुई, अवसित ६८१ लेने पर यह पूर्णिमान्त फाल्गुन कृष्ण ५ पर, अवसित ६८४ लेने पर माघ शुक्ल १ पर, तथा अवसित ६८५ लेने पर माघ शुक्ल १२ पर घटित हुई। अतएव, यह निश्चित है कि अवसित शक सवत् ६८२ के आधार पर प्राप्त अग्रेजी तिथि ही शुद्ध अग्रेजी समरूप है। तथा, प्रदत्त हर्ष वर्ष को प्रचलित वर्ष के रूप में लेने पर, तथा इसे उत्तरी शक योजना के सदृश योजना से युक्त मानने पर, सवत्-काल अवसित शक सवत् ५२७ अथवा प्रचलित ईसवी सन् ६०५–६०६ ठहरता है, तथा, प्रचलित हर्ष सवत् को प्रचलित शक सवत् में रूपान्तरित करने के लिए ५२८ वर्ष जोडे जाने चाहिए, और, गणनाओं के आधार के रूप में, प्रचलित हर्ष सवत् को अवसित शक सवत् मे रूपान्तरित करने के लिए ५२७ वर्ष जोडे जाने चाहिए। सवत् का प्रारभ अथवा प्रथम प्रचलित वर्ष प्रचलित ईसवी सन् ६०६–६०७ है। मैं यहा यह बता दू—और यह मैनें दानलेख को सपादित करते समय भी स्पष्ट किया था—कि इकाई के स्थान पर स्थित सख्या क्या है इस पर कुछ सदेह हो सकता है, मैंने इसे ५ माना है। तथा, इस सख्या को भिन्न मानने पर वास्तविक सवत्-काल भी भिन्न हो जाएगा। किन्तु हमें केवल ४, ५ एव ८—इन तीनों सख्याओं में ही चयन करना है। मेरे विचार से इसे ४ के रूप मे स्वीकार करने के लिए कोई भी साक्ष्य नही मिल सकता। तथा यदि इसे ८ माना जाए तो सवत् का काल ईसवी सन् ६०२–६०३ तथा इसका प्रचलित वर्ष ईसवी सन् ६०३-६०४ होगा, जिस वर्ष को हर्षवर्धन के शासनकाल का प्रारंभिक वर्ष मानने का कोई भी प्रमाण मिलता नहीं प्रतीत होता। इस प्रसग में मैं यह भी बता दू कि अगला लेख अर्थात् हर्ष सवत् ३४ की तिथियुक्त नीचे उल्लिखित लेख (घ) पौष मास की वृद्धि का उल्लेख करता है, तथा, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ३३८ (और इ०, जरनी इन नेपाल, पृ० ७६) में डा० ब्यूलर द्वारा दी गई सूचनानुसार, कैम्ब्रिज के प्रो० एडम्स (Adams) तथा विएना के प्रो० श्रैम (Schram) ने पौष मास की एक वृद्धि ईसवी सन् ६४० में

है। दूतक का नाम (पं० १७) महाबलाध्यक्ष विन्दुस्वामिन् है। तिथि (पं० १६) (हर्ष) संवत् ३४, प्रथमपौषशुक्लद्वितीयायाम् दी गई है जो सन्निकटत ३ दिसम्बर, ईसवी सन् ६३९ से मेल खाती है[1]।

(ङ) डा० भगवानलाल इन्द्रजी का अभिलेख स० ७, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९ पृ० १७० इ०। राजपत्र कैलासकूटभवन से जारी हुआ है (पं० १)। अभिलेख एक श्रीमान् अंशुवर्मन् (पं० ५) का है जिसके लिए किसी औपचारिक विरुद का प्रयोग नहीं किया गया है। यह अंशुवर्मन् की सहोदरा भोगदेवी का उल्लेख करता है जो कि राजपुत्र सूरसेन[2] की पत्नी तथा श्रीमान् भोगवर्मन्[3] तथा भाग्यदेवी की माता थी। इसमें भगवान ईश्वर अथवा शिव के तीन लिंग-स्वरूपों के नवंश में अंशुवर्मन् द्वारा पश्चिमी प्रान्त के अधिकारियों (पश्चिमाधिकरण-वृत्तिभुज.। पंक्तियां ५-६; तथा पश्चिमाधिकरण, पंक्ति १४) को सबोधित की गई आज्ञाएं अंकित है। दूतक युवराज उदयदेव है[4]। तिथि (पं० २२) (हर्ष)—संवत् ३९, वैशाखशुक्लदिवादशम्याम् है जो सन्निकटत. २४ अप्रैल, ईसवी सन् ६४४ से मेल खाती है।

(च) डा० भगवानलाल इन्द्रजी का अभिलेख स० ८, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० ९, पृ० १७१। यह किसी निर्दिष्ट स्थान से जारी किया गया औपचारिक राजपत्र नहीं है। इसमें केवल यह अंकित है कि श्रीमान् अंशुवर्मन् (पंक्ति २) की कृपा से वार्त[5] विन्दुवर्मन् द्वारा अपने पिता के धार्मिक उत्कर्ष

पाया है, इस निष्कर्ष से हमें अनिवार्यत. ईसवी सन् ६०६-६०७ को संवत्-काल के रूप में ग्रहण करना होगा। किन्तु इस वृद्धि का विस्तृत परीक्षण होना अभी शेष है और संप्रति मैं केवल श्री श० ब० दीक्षित का यह वक्तव्य देना चाहता हू कि मेषादित्ये सवितरि आदि श्लोक (द्र०, ऊपर पृ० ८८, टिप्पणी २) के अनुसार, वृद्धि वाली अवधि को मार्गशीर्ष कहना चाहिए, तथा यह कि इस अवधि को पौष कहने के लिए हमें उस प्रक्रिया का ठीक विपरीत करना पड़ता है जिससे कि हम ३२० वर्ष की तिथियुक्त धरसेन चतुर्थ के कैर दानलेख में उल्लिखित वृद्धि-काल के लिए मार्गशीर्ष नाम पाते हैं (द्र०, ऊपर पृ० ९३ इ०)। मुझे आशा है कि इस प्रश्न पर श्री श० ब० दीक्षित आगे कभी और विस्तार से विचार करेंगे। संप्रति अपनी वर्तमान आवश्यकताओं के लिए मैं ईसवी सन् ६०५-६०६ का संवत्-काल ग्रहण करता हूँ।

१ जहाँ तक समरूप अभ्रंशी तिथि का प्रश्न है, पूर्ववर्ती टिप्पणी में इस पौष मास के संकेतित अधिकमासीय स्वरूप के संबंध में दिए गए वक्तव्य को देखें।

२ मूल लेख अपेक्षाकृत हुवा हुआ है किन्तु इस नाम का प्रथम अक्षर अवदिग्वरपेण स है, श नहीं जैसा कि डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने अपने पाठ तथा अनुवाद में दिया है। इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १०, पृ० ३४ इ० में उनके द्वारा प्रकाशित सूरसेन वश से संबंधित एक अभिलेख की पंक्ति ३ में यही वर्तनी मिलती है। किन्तु यह अधिक संभव है कि श अधिक शुद्ध वर्तनी है, विशेष रूप से क्योंकि हमें वर्तमान अभिलेख की पंक्ति ८ में शूरसेनेश्वर नामक लिंग का उल्लेख मिलता है।

३ द्र०, ऊपर पृ० १७३, टिप्पणी ४।

४ इस व्यक्ति का नीचे अभिलेख (द) में उल्लिखित ठाकुरी वश के उदयदेव से समीकार करने में तिथियां बाधा डालती हैं। यह संभवत., जैसा कि डा भगवानलाल इन्द्रजी ने सुझाया है, लिच्छवि था। यदि यह ठीक है तो एक ठाकुरी राजपत्र के इस लिच्छवि दूतक में हम उस लिच्छवि दानलेख के सदृश स्थिति पाते हैं जिसमें कि—जैसा कि ऊपर पृ० १७७, टिप्पणी ४ में सुझाया गया है—ठाकुरी दूतक का उल्लेख है।

५ डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने वार्त को वशीय अथवा गोत्रीय नाम के रूप में लिया। किन्तु यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि—जैसा कि स्वयं उन्होंने सुझाया है—यह ऊपर अभिलेख (ङ) में उल्लिखित वृत्तिभुज के समान एक राजकीय उपाधि है, तथा यह कि इसका शुद्ध रूप वार्त्त (दुहरे 'त' के साथ) है जो वृत्ति से बना है।

की वृद्धि के लिए एक प्रणाली अथवा नहर का निर्माण कराया गया। तिथि (प० १) (हर्ष)—सवत्[1] ४४ अथवा ४५, ज्येष्ठ-शुक्ल है जिसका अग्रेजी समरूप मई अथवा जून, ईसवी सन् ६४६ अथवा मई, ईसवी सन् ६५० है।

(छ) डा० भगवानलाल इन्द्रजी का अभिलेख स० ६, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० ६, पृ० १७१ इ०। राजपत्र कैलासकूटभवन से जारी हुआ है (प० ३ इ०)। अभिलेख किसी श्रीमान् जिष्णुगुप्त का है (प० ४)। इसमे कहा गया है कि सामन्त चन्द्रवर्मन् की प्रार्थना पर जिष्णुगुप्त द्वारा एक तिलमक अथवा "जलमार्ग"–जिसका निर्माण भट्टारक तथा महाराजाधिराज विरुदधारी श्रीमान् अशुवर्मन् द्वारा कराया गया था (पक्ति ६ इ०)—के जीर्णोद्वार का कार्य चन्द्रवर्मन् को सौंपा गया। दूतक (प० २१) युवराज श्रीमान् विष्णुगुप्त है। तिथि (प० २१) (हर्ष) सवत् ४८, कार्त्तिक शुक्ल २ है जो सन्निकटत ३० सितम्बर, ईसवी सन् ६५३ के बराबर है। इस अभिलेख की पक्ति १ और २ मे मानगृह[2] का तथा इसके सबध मे भट्टार्क तथा महाराज विरुदधारी ध्रुवदेव का उल्लेख है, किन्तु, यह अवतरण अत्यन्त भग्नावस्था मे है, तथा केवल इससे ध्रुवगुप्त तथा विष्णुगुप्त के बीच क्या सबध था यह ठीक से ज्ञात होना कठिन है[3]।

(ज) डा० भगवान लाल इन्द्रजी का अभिलेख स० १०, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १७३ ई०। राजपत्र कैलासकूटभवन से जारी हुआ है (प० ६)। अभिलेख श्रीमान् जिष्णुगुप्त का है (प० ७)। लेख के विवरण भग्नप्राय हैं, किन्तु लेखाकन का विषय एक तिलमक अथवा 'जलमार्ग है जो महासामन्त, श्रीमान्[4] देव द्वारा निर्मित कराया गया था। दूतक का नाम तथा तिथि का अश टूट चुका है और अब अप्राप्य है। पक्ति ३ तथा ४ मे, पुन, मानगृह का तथा इसके साथ भट्टार्क तथा महाराज विरुदधारी लिच्छविकुल के केतु श्रीमान ध्रुवदेव का उल्लेख हुआ है। पक्ति ४ मे मानगृह तथा दितचित्त के बीच मे चार (और सभवत पाच) अक्षर मिलते है जो अत्यन्त भग्न अवस्था मे है तथा मूल प्रतिलिपि मे भी उन्हें निश्चित रूप से नही पढा जा सकता, किन्तु ह (हा नही) काफी स्पष्ट है, तथा, यह एवं सपूर्ण विन्यास यह प्रदर्शित करता है कि यहा पचमी विभक्ति का मानगृहात् नही अपितु प्रथमा विभक्ति का आधार शब्द मानगृह लिखा हुआ है जो श्री ध्रुवसेन को विशेषित करने वाले सन्तति शब्द के साथ समाप्त होता है तथा जिसका अर्थ कुछ इस प्रकार होता है "जो उस वश से सबद्ध था जिसके विचारो को मानगृह मे (निवास करने से आनन्द प्राप्त होता था)।" जहा तक ध्रुवदेव तथा जिष्णुगुप्त के बीच स्थित सबध का प्रश्न है, डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने पक्ति ५ में श्री ध्रुवदेव के बाद पुरस्सरे सकल पढ़ा और अवतरण की यह व्याख्या की कि इससे यह ज्ञात होता है कि जिष्णुगुप्त ध्रुवदेव को अपना अधीश्वर मानता था। यह व्याख्या संभवत शुद्ध है, किन्तु इस अवतरण से समानरूपेण यह अर्थ भी निकल सकता है कि इसमे जिष्णुगुप्त द्वारा अपने बराबर की स्थिति वाले किसी व्यक्ति के प्रति सम्मानपूर्ण उल्लेख के अतिरिक्त और कुछ नहीं अभिप्रेत है। वास्तव मे, पक्ति ४

---

१ दूसरी सख्या संदेहपूर्ण है, किन्तु यह ४ अथवा ५ मे से एक है। मैंने इस लेख की मूल प्रतिलिपि नहीं देखी है।

२ स्वस्ति के तुरन्त बाद आए हुए दो अक्षर मान मूल प्रतिलिपि मे पर्याप्त स्पष्ट हैं, यद्यपि शिलामुद्रण मे वे अदृष्ट से हैं तथा डा० भगवानलाल इन्द्रजी के पाठ मे ये नहीं मिलते।

३ जो भी हो, इस अवतरण का प्रयोजन यही रहा होगा जो कि अगले लेख (ज) मे प्राप्त होता है।

४ प्रतिलिपि मे पक्ति १४ के प्रारम में श्री अत्यन्त स्पष्ट है। इसके तथा देवेन के बीच स्थित दो अक्षर अपठनीय हैं।

में मानगृह से लेकर पंक्ति ५-६ में मानस तक यह पूरा अवतरण एक अविच्छिन्न समास है, जिसके अपरार्ध भाग का यह अर्थ है कि "प्रजा जिसका अग्रणी है उस समस्त प्रजा को विपत्ति से मुक्ति का उपाय खोज लेने से उसका चित्त सतोषावस्था को प्राप्त हुआ", इत्यादि। तथा, इसमें प्रयुक्त अभिव्यक्ति प्र वदेवपुरस्सरसकल जन का वही आशय है जो नीचे अभिलेख (ड) में लिखित सनृपतेर्जगतो (हिताय)— "राजा के साथ विश्व (अर्थात् समस्त प्रजा) के (हित के लिए)"—इस पद का है।[1]

(झ) श्री भगवान लाल इन्द्रजी का अभिलेख सं० १६, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० ९, पृ० १७४। यह किसी निर्दिष्ट स्थान से जारी किया गया औपचारिक राजपत्र नहीं है। इसमें केवल श्रीमान् जिष्णुगुप्त के विष्णोन्मुख शासनकाल में दिए गए कुछ दानों का अंकन किया गया है (पं० ६)। यदि संवत्-तिथि का कोई अंकन इस लेख में हुआ था तो वह प० २७ इ० के साथ नष्ट हो चुका है।

(ञ) श्री बेन्डल का अभिलेख नं० ३, जरनी इन नेपाल पृ० ७७ इ० तथा प्रतिचित्र १०। राजपत्र कैलासकूटभवन से जारी हुआ है (प० १)। शासक का नाम, जो प० २ से ७ के बीच में कहीं था, नष्ट हो चुका है। लेख में भगवान वज्रेश्वर की पूजा (प० १७) तथा अन्य विषयों की चर्चा है। दूतक का नाम (प० २८) भट्टार्क, युवराज स्कन्ददेव दिया गया है। तिथि (प० २९) (हर्ष)—संवत् ८२, भाद्रपदशुक्लदिवा ..दी गई है जिसकी समरूप तिथि अगस्त, ईसवी सन् ६८७ है।

(ट) डा० भगवानलाल इन्द्रजी का अभिलेख सं० १, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० ९, पृ१६३ इ०। इससे हमें यह संक्षिप्त वंशावली प्राप्त होती है. वृषदेव (प० ८), पंक्ति ९ तथा १० में, उसके अन्य पुत्रों के उल्लेख के साथ किन्तु जिनके नाम नहीं दिए गए हैं; उसका पुत्र शंकरदेव (प० १२); शंकरदेव का पुत्र धर्मदेव (प० १६) जिसने वंश-परम्परा से प्राप्त साम्राज्य पर (कुलक्रमागतम् ..राज्य महत्, पंक्ति १७) न्यायपूर्वक (शासन किया) तथा जिसकी पत्नी का नाम राज्यवती था; तथा धर्मदेव का पुत्र मानदेव (पंक्ति २०) जो अपने पिता की मृत्यु पर अपनी माता द्वारा शासन करने के लिए नियुक्त किया गया। इनके बाद लेख में यह कहा गया है कि मानदेव ने पूर्व दिशा में एक अभियान किया और वहाँ उसने कुछ 'दुष्ट', अशिष्ट एवं विद्रोही सामन्तों को आज्ञापालन करने पर विवश किया, वहाँ से वह पुनः पश्चिम की ओर लौटा जहाँ उसने किसी सामन्त के कुकृत्यों को सुना। दुर्भाग्यवश इस स्थान पर अभिलेख का उपलब्ध भाग समाप्त हो जाता है क्योंकि लेख का शेष भाग भूमि के नीचे दबा हुआ है। प्रदत्त तिथि (प०१) है '(गुप्त)—संवत् ३८६, ज्येष्ठमासशुक्लपक्षे प्रतिपदि १ रोहिणीनक्षत्रयुक्ते चन्द्रमसि मुहूर्ते प्रशस्तेऽभिजिति, जिसका समरूप जैसा कि हमने ऊपर पृ० ९४ इ० पर देखा है—मंगलवार, २८ अप्रैल, ईसवी सन् ७०५ है।

(ठ) डा० भगवानलाल इन्द्रजी का अभिलेख सं० १२, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १७४ इ०। राजपत्र कैलासकूटभवन (प० १) से जारी किया गया है। अभिलेख परमभट्टारक तथा महाराजाधिराज विरुदधारी श्रीमान् शिवदेव द्वितीय का है (पं० ३)। दूतक (पं० २३) का नाम राजपुत्र जयदेव है। तिथि (पं० २३) '(हर्ष)—संवत् ११९, फाल्गुनशुक्लदिवाद्वादश्याम्' दी गई है जो सन्निकटतः २० फरवरी, ईसवी सन् ७२५ से मेल खाती है।

(ड) डा० भगवानलाल इन्द्रजी का अभिलेख सं० २, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १६६ इ०। यह किसी निर्दिष्ट स्थान से जारी किया गया औपचारिक राजपत्र नहीं है। इसमें केवल यह लिखा है कि श्रीमान् 'राजा मानदेव की कृपा से (प० १) किसी जयवर्मन ने राजा के हित के साथ' विश्व (अर्थात् समस्त प्रजा) के हित के उद्देश्य से जयेश्वर नामक लिंग की स्थापना की और इसके

---

१ सनृपतेर्जगतो हिताय, पंक्ति २।

साथ एक स्थायी निधि[1] दान मे दिया। तिथि (प० १) (गुप्त)-सवत् ४१३, तदनुसार ईसवी सन् ७३२-३३ है और इसके साथ कोई विस्तृत विवरण नही दिया गया है।

(ढ) डा० भगवानलाल इन्द्रजी का अभिलेख स० १३, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १७६ इ०। यह अभिलेख अत्यन्त भग्नावस्था मे है[2]। जिस राजप्रासाद से राजपत्र जारी किया गया था उसका नाम अब अप्राप्य है। पक्ति ३ मे अकित राजा का नाम अपठनीय है, किन्तु चू कि इसके पहले परमभट्टारक तथा महाराजाधिराज उपाधिया अकित हैं अत यह नाम, जैसा कि हम ऊपर लेख (ठ) मे पाते हैं, सभवत शिवदेव द्वितीय का है, डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने रिक्त स्थान को इसी प्रकार पूरा किया था। यह एक बौद्ध लेख है। दूतक (प० ३६) का नाम भट्टार्क—श्रीमान्, अथवा सभवत श्रद्धास्पद—शिवदेव है। तिथि (प० ३७) कुछ सदेहपूर्ण है[3], किन्तु डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने इसे (हर्ष)—सवत् १४३, ज्येष्ठशुक्लदिवात्रयोदश्याम् पढा जो कि सन्निकटत २५ मई, ईसवी सन् ७४८ मे मेल खाता है। किन्तु, द्वितीय सख्या के ४० के स्थान पर २० अथवा ३० होने की सभावना है।

(ण) डा० भगवानलाल इन्द्रजी का अभिलेख स० १४, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १७७ इ०। उस राजप्रासाद का नाम, जहा से राजपत्र जारी हुआ, तथा शासक का नाम सन्निविष्ट करने वाला लेख का प्रारभिक अश टूटा हुआ है तथा अप्राप्य है। दूतक का नाम (प० १७) युवराज विजयदेव है। तिथि (प० १७) '(हर्ष)—सवत् १४५, पौषशुक्लदिवातृतीयायाम्' दी गई है जो सन्निकटत ६ दिसम्बर ईसवी सन् ७५० से मेल खाती है। डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने विजयदेव को जयदेव द्वितीय का "प्रतिरूपी" नाम माना है, और मुख्यत इसी आधार पर इस लेख को शिवदेव द्वितीय से सबद्ध किया है। तिथि को देखते हुए यह अभिलेख उसका अथवा जयदेव का "प्रतिरूपी" नाम नही हो सकता। ऐसे कादाचनिक दृष्टान्त उद्धृत किए जा सकते है जिनमे नामो के विशिष्ट अन्त्याक्षर भिन्न भिन्न होते हैं, इस प्रकार, नीचे उद्धृत लेख (त) का वसन्तसेन लेख (द) की पक्ति १० तथा वशावली में वसन्तदेव के रूप में उल्लिखित है, तथा, लेख (द) की पक्ति ७ मे उल्लिखित जयदेव प्रथम का वशावली मे सभवत जयवर्मन् के नाम से उल्लेख हुआ है। किन्तु यह भी बहुत ही कम होता है। तथा, विरुदो एव गौण उपाधियो का प्रतिस्थापन छोड कर, किसी शासक के नाम के प्रारभिक तथा विशिष्ट भाग में परिवर्तन का एकमात्र प्राभिलेख उदाहरण, जो मैं उद्धृत कर सकता हू, वह शक सवत् ९३० की तिथियुक्त पश्चिमी चालुक्य शासक विक्रमादित्य पचम के कौथें दानलेख[4] की पक्ति ४६ इ० मे प्राप्त है, जहा अन्य अभिलेखो के दशवर्मन को यशोवर्मन् कहा गया। किन्तु, वह उदाहरण बहुत सतोषजनक नही है[5]। और, सप्रति विचाराधीन उदाहरण मे किसी प्रकार की छद-सबधी अपरिहार्यता

---

१ प्रक्षयनीयो, पक्ति २।

२ मैंने इस लेख की मूल प्रतिलिपि को नहीं देखा है।

३ प्रचलित शक सवत् ६७२ अथवा अवसित ६७१ में ज्येष्ठ मास अधिक मास था (द्र०, इण्डियन एराज़, पृ० १६१, तथा क्रॉनॉलजी, पृ० १२६)। तथा, वर्तमान लेख मे इसके प्रति किसी सकेत का अभाव—यदि द्वितीय सख्या ४० पाठ सुप्रतिष्ठित हो सके—इस बात का समर्थन करता है कि यह वर्ष प्रचलित शक सवत् ६७१ अथवा अवसित ६७० था जो कि ईसवी सन् ६०५–६०५ के सवत्-काल से सगत बैठता है।

४ इण्डियन एन्टिक्वेरी, जि० १६, पृ० २३।

५ द्र०, वही, पृ० १९ इ०।

नही है जैसा कि हम उन स्थानो पर देखते हैं जहा कि दशवर्मन् के नाम का परिवर्तन उचित है। यदि यह अभिलेख शिवदेव द्वितीय का अभिलेख है तो विजयदेव उसका एक अन्य पुत्र है, यदि, जो अधिक सभव प्रतीत होता है, यह जयदेव द्वितीय का अभिलेख है तब विजयदेव इस अन्तोल्लिखित व्यक्ति का पुत्र था।

(त) डा० भगवान लाल इन्द्रजी का अभिलेख स० ३, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १६७। राजपत्र मानगृह से जारी हुआ है (प० १)। अभिलेख महाराज, श्रीमान् वसन्तसेन[1] का है। दूतक (प० २१) सर्वदण्डनायक तथा महाप्रतिहार रविगुप्त है। तिथि (प० २०इ०) '(गुप्त)-सवत् ४३५, आश्वयुजि शुक्ल-दिवा-१' है जो सन्निकटत २३ सितम्बर, ईसवी सन् ७५४ से मेल खाती है।

(थ) श्री बेन्डल का अभिलेख स० ४, जरनी इन नेपाल, पृ० ७६इ० तथा पतिचित्र ११। यह किसी निर्दिष्ट स्थान से जारी हुआ औपचारिक राजपत्र नही है और न ही यह किसी शासक का नाम देता है। यह केवल किसी अशासकीय व्यक्ति द्वारा एक पंचक अथवा समिति को दिए गए दान का उल्लेख करता है। तिथि (प० १) (हर्ष)-सवत् १५१, वैशाखशुक्लद्वितीयायाम् है जो सन्निकटत' ८ अप्रैल, ईसवी सन् ७५६ से मेल खाती है।

(द) डा० भगवान लाल इन्द्रजी का अभिलेख स० १५, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १७८ इ०। यह किसी निर्दिष्ट स्थान से जारी हुआ औपचारिक राजपत्र नही है। अभिलेख-जिसमे बहुत सी तिथि क्रमिक सूचनाए दी गई हैं जिन पर नीचे विचार किया जाएगा-जयदेव द्वितीय का है (प० १४) जिसका एक अन्य नाम अथवा विरुद 'परचक्रकाम' (प० १८) था। लेख का प्रयोजन यह अकित करना है कि उसने पशुपति नाम से शिव की पूजा के लिए एक रजत कुमुदिनी बनवाई, तथा यह कि उसकी माता वत्सदेवी ने इसकी पूजा तथा स्थापना की। तिथि (प० ३५) (हर्ष)-सवत् १५३, कार्त्तिकशुक्लनवम्याम् है, जो कि सन्निकटत. १६ अक्टूबर, ईसवी सन् ७५८ से मेल खाती है।

(ध) डा० भगवानलाल इन्द्रजी का अभिलेख स० ४, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १६८। अभिलेख का प्रारभिक अश, जिसमें राजपत्र की घोषणा का स्थान तथा शासक का नाम अकित था, टूटा हुआ है और अब अप्राप्य है। और इस कारण, लेख का महत्त्व केवल इसमें निहित है कि इससे यह ज्ञात होता है कि इसमें उल्लिखित सवत् कब तक प्रयोग में रहा। दूतक (प० १७) का नाम राजपुत्र विक्रमसेन[2] है। तिथि (प० १८) '(गुप्त)-सवत् ५३५, श्रावणशुक्लदिवासप्तम्याम्' है जो सन्निकटत १ जुलाई, ईसवी सन् ८५४ के बराबर है।

जब डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने तत्सबधी अपने विचारो के अनुसार इन अभिलेखो के ऐतिहासिक निष्कर्षों को प्रकाशित किया, उस समय श्री बेन्डल का अभिलेख स० १-अर्थात् ऊपर उद्धृत लेख (क)-नही ज्ञात था, एकमात्र उपलब्ध सूत्र (ख), (ग), (ङ), (च) तथा (छ) मे अशुवर्मन् के नाम का उल्लेख था, यह अशुवर्मन् स्पष्टरूपेण इस नाम के उस शासक से अभिन्न था जो कि ईसवी सन् ६३७ मे अथवा इसके लगभग ह्वेन साग के उत्तरी भारत की यात्रा के समय, अथवा इसके कुछ समय पूर्व, शासन कर रहा था। इसी समीकार को आधार बना कर उन्होने उचितरूपेण लेख (ग) की ३४, (ङ) की ३६, (च) की ४४ अथवा ४५, (छ) की ४८, (ठ) की ११६, (ढ) की १४३ (?), (ण) की १४५ तथा (द) की १५३ तिथियो को उस सवत् मे रखा जिसकी तिथि-गणना ईसवी सन् ६०६ (अथवा) ६०७ मे कन्नोज के हर्षवर्धन के शासनकाल के प्रारम्भ से होती थी।

---

१ नीचे उद्धृत लेख (द) की पक्ति १० मे उसे वसन्तदेव कहा गया है।

२ द्र०, ऊपर पृ० १७८, टिप्पणी २।

श्री बेन्डल की गोलमाढिटोल अभिलेख की खोज ने इस संपूर्ण विषय के स्पष्टीकरण के लिए एक स्थायी तथ्य प्रदान किया। क्योंकि, अंशुवर्मन् को शिवदेव प्रथम का समकालीन बनाते हुए और शिवदेव प्रथम के लिए ३१६ की तिथि प्रदान करते हुए, यह लेख यह प्रदर्शित करता है कि इस तिथि तथा समान एकरूप शृंखला की सभी तिथियों को ऐसे संवत् में रखना होगा जो हर्ष संवत् से लगभग तीन शताब्दियों पूर्व प्रारम्भ होता है, अर्थात् ईसवी सन् ३१९-२० के संवत्-काल वाले गुप्त संवत् में, क्योंकि तब वर्ष ३१६ ईसवी सन् ३१९-२०=ईसवी सन् ६३५-३६, जो कि अंशुवर्मन् की प्रथम अंकित तिथि, ईसवी सन् ६३८, से यथासंभव निकटरूपेण मेल खाता है।

किन्तु जब डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने लिखा, उस समय लेख (ट) की ३८६, (ड) की ४१३, (त) की ४३५ तथा (थ) की ५३५, इन बड़ी संख्याओं वाली तिथियों के विषय में इसके अतिरिक्त और कुछ निश्चित रूप से नहीं ज्ञात था कि सभी ज्ञात परिस्थितियां इस तिथि-शृंखला को हर्ष संवत् में अंकित छोटी तिथियों वाली शृंखला से अलग करती हैं। और, ७८ ई० से प्रारम्भ होने वाले शक संवत् का परीक्षण करने के बाद तथा उसे इस आधार पर तिरस्कृत करके कि यह संवत् भी अपेक्षानुसार प्राचीन है, डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने उन्हें अंततोगत्वा ५८ ईसवी पूर्व में प्रारम्भ होने वाले विक्रम संवत् से संबद्ध किया।

आश्चर्यजनक रूप से नेपाल वंशावली में यह कहा गया है कि विक्रमादित्य नेपाल आया और वहां उसने एक संवत् स्थापित किया। और जैसा कि हम ऊपर पृ० ७४ इ० में देख चुके हैं—विक्रम संवत् की एक शाखा निश्चित रूप से ईसवी सन् ८८० में नेपाल में प्रचलित की गई थी। किन्तु, वंशावली का अभिकथन अंशुवर्मन् के पूर्ववर्ती शासक के समय का, अर्थात् छठी शताब्दी ईसवी के अन्त अथवा सातवीं शताब्दी ईसवी के प्रारम्भ का, उल्लेख करता है। और डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने प्रदर्शित किया[1] कि शासक के नाम तथा अभिप्रेत संवत्विशेष के संबंध में यह अभिकथन निश्चित रूप से गलत है, तथा यह कि इस अभिकथन में संभवतः कन्नौज के हर्षवर्धन द्वारा उस देश की विजय एवं तत्परिणामस्वरूप हर्ष संवत् के प्रचलन की स्मृति अन्तर्निहित है। अतएव, उपरोक्त तिथियों को विक्रम संवत् की तिथियां मानने में वे इस अभिकथन से बहुत कम प्रभावित हुए होंगे।

उनके ऐसा करने के आधार-जिसका कि, शिवदेव प्रथम तथा अंशुवर्मन् के लिए (गुप्त) संवत् ३१६ की तिथि उपलब्ध होने पर भी, स्पष्टीकरण होना अब भी अपेक्षित है ताकि नेपाल के संपूर्ण प्रारंभिक तिथिक्रम को ठीक से व्यवस्थित किया जा सके—उनके लेख (द), अर्थात् (हर्ष)-संवत् १५३ की तिथियुक्त जयदेव द्वितीय के अभिलेख, के त्रुटिपूर्ण निरूपण में पाए जाएंगे।

यह लेख प्रारम्भ में पौराणिक वंशावली देता है, भगवान् ब्रह्मन् से (प० ३) इसका उद्भव बता कर यह तदुपरान्त सूर्य[2], मनु, इक्ष्वाकु तथा अन्य शासकों से होते हुए वंशपरम्परा को रघु, अज और दशरथ तक ले आता है (प० ६)। दशरथ के पश्चात् पिता-पुत्र के रेखीय अनुक्रम में आठ शासक हुए जिनके नाम नहीं दिए गए हैं, और फिर श्री सम्पन्न लिच्छवि शासक हुआ (प० ६)। तत्पश्चात् श्लोक ६ अंकित है जिसमें यह कहा गया है कि 'अब भी', इस अभिलेख के लिखे जाने के समय, 'एक ऐसा वंश है जो लिच्छवि का उपनाम धारण करता है'—स्वच्छं लिच्छवि नाम वि(बि)-भ्रदपरं वंशम्, (प० ७)। डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने अपने शिलामुद्रण, पाठ, तथा अनुवाद में

१ इण्डियन ऐंटिक्वेरी, जि० १३, पृ० ४२१ इ०।

२ इससे संगति रखते हुए, वंशावली ने इस अभिलेख के लिच्छवियों का सूर्यवंशी परिवार का कहा है।

अपरो वड्श ही रखा अर्थात् 'एक नया वश . . जो लिच्छवि का शुद्ध नाम धारण करता है।' किन्तु उनके मूल प्रतिलिपि का परीक्षण करने के उपरान्त मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हूँ कि शुद्ध पाठ अपरं (नाम) है, अर्थात् 'एक अन्य नाम एक दूसरा नाम', न कि अपरो (वंश), अर्थात् 'दूसरा वश या एक नया वंश।' अतएव, यह अभिलेख इस दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है कि इससे यह ज्ञात होता है कि 'लिच्छवि वश अथवा 'लिच्छविकुल संज्ञा' के अतिरिक्त—इनमे 'लिच्छविकुल' (क), (ख) तथा (ज) लेखो मे वास्तव मे प्रयुक्त होता है—इस वश का कोई अन्य मौलिक नाम था जो लेख मे नहीं अकित है। लिच्छवि के बाद पुनः कुछ ऐसे शासक हुए हैं जिनके नाम नही दिए गए हैं, तथा पक्ति ७ के अत मे और पक्ति ८ के प्रारभ मे दी गई जिनकी सख्या अपठनीय है[1], इसके बाद पुष्पपुर नगर मे[2] श्री-सपन्न शासक सुपुष्प (प० ८) का जन्म हुआ। उनके पश्चात् 'बीच के तेइस शासको (के नामो के उल्लेख) को छोडने के पश्चात् एक अन्य शासक[3], सुप्रसिद्ध जयदेव प्रथम (प० ८) हुआ, डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने इसे इस परिवार का प्रथम ऐतिहासिक शासक कहा है तथा इसको नेपाल शाखा का सस्थापक बताया है[4], विक्रम सवत् के सिद्धान्त के आधार पर उसको उन्होंने ईसवी सन् १ के लगभग रखा है। इस 'जयो' जयदेव प्रथम के पश्चात् और पुन 'बीच के ग्यारह' ''' शासको (के नामो के उल्लेख) को छोडने पर' यह लेख पहली बार नामो का यह अविच्छिन्न क्रम प्रदान करता है वृषदेव (प० ९), उनका पुत्र शकरदेव, उनका पुत्र धर्मदेव, उसका पुत्र मानदेव (प० १०), उसका पुत्र महीदेव और उसका पुत्र वसन्तदेव। इन नामो मे प्रथम चार ऊपर उद्धृत लेख (ट) द्वारा पहले से ही ज्ञात हो चुके हैं, तथा छठा नाम लेख (त) से वसन्तदेव के रूप मे ज्ञात हो चुका है। और ये छ नाम स्पष्टरूपेण उस कुल से सबद्ध हैं जिनकी वशावली का विवेचन अभिलेख के प्रारंभिक अश का विषय है, कहने का अभिप्राय यह है कि ये नाम लिच्छविकुल से संबद्ध हैं।

इसके उपरान्त पक्ति १० और ११ मे ग्यारहवां श्लोक आता है जिसे डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने सर्वथा अशुद्ध रूप मे समझा और इस अयथार्थ बोध के कारण ही उन्होंने अपने अभिलेखों की बडी सख्याओ वाली तिथियो को विक्रम सवत् में रखा। इस श्लोक को उन्होंने इस प्रकार पढा अस्यान्तरेऽप्युदयदेव इति क्षितीशाज्जातास्त्रयोदश [तत]श्च नरेन्द्रदेव मानोन्नतो नतसमस्तनरेन्द्र-मौलिमालारजोनिकटपंशुलपादपीठ'; और इसका यह अनुवाद किया' इसके बाद राजा उदयदेव (प० १०) से उद्भूत[5] तेरह (शासक) आए, और उसके बाद नरेन्द्रदेव आया (प० ११) जो स्वाभि-मानी था और जिसकी पादपीठिका प्रणाम करते हुए राजाओ द्वारा धारण किए हुए रत्नो की धूल

---

१ किन्तु चू कि द्विस्वार[चान्द्वादश] पाठ छन्द तथा प्रतिलिपि मे दृष्ट चिन्हो से सर्वाधिक मेल खाता है, अत यह सख्या सभवत बारह जान पड़ती है।

२ अर्थात पाटलिपुत्र या बिहार मे स्थित आधुनिक पटना, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १८०, टिप्पणी ४४। अतएव, लेख का यह अश यहा लिच्छवियों के नेपाल मे बसने के पूर्व की अवधि का उल्लेख कर रहा है।

३ चू कि लेख मे किसी पूर्ववर्ती जयदेव की चर्चा नहीं हुई है जिसके कि साथ इस जयदेव की तुलना की जाए, अतएव, अपर शब्द लिच्छवि वश के किसी अन्य वश का निर्देश करता प्रतीत होता है जिसकी वश-परंपरा सीधे लिच्छवि अथवा सुपुष्प से नहीं अवतरित हुई थी।

४ इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १३, पृ० ४२४।

५ अथवा, पुन —"उसके (वसन्तदेव) बाद तेरह शासक आए, जो कि पृथ्वी के स्वामी, उदयदेव से उद्भूत हुए थे, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, पृ० १३, पृ० ४२५, टिप्पणी।

से धूसरित थी।" सिवाय इसके कि मूल मे पसुल है पशुल नही, श्लोक के अपरार्ध का पाठ तथा अनुवाद दोनो मूल का सही प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु श्लोक का पूर्वार्ध ठीक प्रकार से नही समझा गया है। सबसे पहले तो **अस्यान्तरे** का अर्थ "इसके पश्चात्" अथवा "उसके उपरान्त" नही होता। अन्तर का शाब्दिक अर्थ "अन्तराल" होता है, तथा अनन्तरम् शब्द का अर्थ "इसके बाद", केवल "बाद में कोई मध्यावस्था नही—"इस आशय से होता है। किन्तु नकारात्मक उपसर्ग के प्रयोग के बिना अन्तर का अर्थ केवल अन्तराल ही हो सकता है, तथा, पक्ति ८ और ९ मे इसके प्रयोग के पूर्व लेख के रचयिता ने दो बार अत्यन्त स्पष्ट रूप मे इसका उपरोक्त अर्थ मे प्रयोग किया है। **अस्यान्तरे** का अर्थ केवल "इसके मध्यावकाश मे" हो सकता है, तथा इस प्रसग मे पक्ति ७ के वश से अस्य के अनुरूप वशस्य शब्द प्रदान करने पर इसका अर्थ होगा "(अभी अभी जिस वश का विवेचन हुआ है) इसके मध्यावकाश मे अर्थात् किसी मध्यवर्ती बिन्दु के समय।" यह पद स्पष्टरूपेण कुछ ऐसे नामो का समावेश करता है जिनके सबध मे यह सूचित करना अभिप्रेत है कि वे किसी अन्य वश अथवा शाखा के हैं, तथा यह कि इनमे से अन्तिम वसन्तदेव के नाम—जो कि ठीक पहले आने वाली क्रम परपरा मे अतिम हैं—के साथ अथवा उसके तुरन्त बाद आता है, तथा प्रथम वृषदेव एव वसन्तदेव के बीच मध्यावकाश मे किसी अनिर्दिष्ट समय पर आता है। इसके अतिरिक्त, डा० भगवानलाल इन्द्रजी का *क्षितीशाज्जातास्* पाठ नही स्वीकार किया जा सकता। *ज्जाता*—इन दो अक्षरो मे प्रतिलिपि मे यह दुहरा ज्ज सर्वथा स्पष्ट है यद्यपि शिलामुद्रण मे इसका निचला भाग अस्पष्ट दिखाई पडता है मानो यह सदेह-पूर्ण हो, किन्तु, दूसरा अक्षर, जहा तक शिलामुद्रण मे दिखाई पडता है, स्पष्ट रूप से त है, ता नहीं। त और अगले अक्षर के बीच में एक हल्का सा घर्षण-चिन्ह है जो कि शिला-मुद्रण मे नही दिखाई पडता, किन्तु प्रतिलिपि से यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि यह चिन्ह अर्ध-विलोपित (T) का चिन्ह नही है, तथा यह कि (T) की लकीर, जिसके लिए वास्तव मे अपेक्षित स्थान भी नही है, कभी भी नही अकित की गई थी। सक्षेप मे, यह शब्द कर्तृकारक प्रथमा विभक्ति का एकवचन जातस् है, प्रथमा विभक्ति का बहुवचन सूचक जातास् नही। जातास् के तुरन्त बाद **त्रयोदश्** "तेरह", रखने की अपेक्षाकृत गभीर गलती के प्रति यह पहली आपत्ति है। इस प्रसग मे एक दूसरी आपत्ति भी है, वह यह है कि आगे दिए गए **स्त्रयोदश**[नत] के रूप मे पढे जाने वाले छ अक्षरो में जिन अशो को कुछ निश्चितता के साथ पढा जा सकता वे हैं प्रथम अक्षर के रूप मे स् तथा पक्ति ११ के प्रारभ मे अकित तीसरा अक्षर **द** जो अत्यन्त सुरक्षित तथा असदिग्ध है। अन्य अश बुरी तरह टूटे हुए हैं और पहचाने नही जा सकते, तथा सिवाय *यह कहने के कि प्रथम अक्षर मे सभवत स् के नीचे एक त् था, तथा यह कि दूसरा अक्षर यो की अपेक्षा* था (तथा) अथवा दा (तदा), अथवा पो (तपो) के अधिक समान दिखाई पडता है—इनके विषय में यह कहना सर्वथा असभव है कि वे कौन से अक्षर हैं। किन्तु, त्रयोदश (तत)श्च पाठ के विरुद्ध जो सबसे बडी आपत्ति है वह यह है कि इस प्रकार पढे जाने पर इस अवतरण मे कोई इस प्रकार का शब्द, जैसे **व्यतीत्य, विहाय, हित्वा** अथवा **त्यक्त्वा** नहीं है जो पक्ति ४, ६, ८ और ९ में शासको की निर्दिष्ट सख्या के बीच चुकने पर दिए गए हैं। तथा छन्द-योजना भी इस प्रकार के किसी शब्द के समावेश की स्वीकृति नहीं देती। जैसा कि मैं पहले कह चुका हू, पक्ति १० के बाद तथा पक्ति ११ के प्रारभ के रिक्त अश के कारण मूल पाठ का निर्धारण करना असभव है। किन्तु, पूरे अवतरण के स्वरुप को देखने से इसमें कोई सदेह नही रहता कि मूल पाठ मे इस स्थान पर नरेन्द्रदेव के एक अथवा, सभवत, दो विरुदो को छोडकर और कुछ नही था, तथा उसके और उदयदेव के बीच मे तेरह शासकों का अन्तराल होने की बात तो दूर है, वह स्वय उदयदेव का पुत्र था।

नरेन्द्रदेव का पुत्र शिवदेव द्वितीय हुआ।(प० १२) जिसने वत्सदेवी से विवाह किया, जो कि बाहुबल मे बढे हुए[1] मौखरियो के परिवार की थी, जो श्रीमान् भोगवर्मन् की तथा मगधाधिपति "महान्" आदित्यसेन की पुत्री की पुत्री थी (प० १३)। तथा, इनसे उत्पन्न पुत्र श्रीमान् जयदेव द्वितीय था (प० १४), जिसका एक अन्य नाम परचक्रकाम भी था (प० १८), 'इसकी पत्नी राज्यमती थी जो राजा भगदत्त के-अथवा भगदत्त राजाओ के—परिवार की थी (प० १६) तथा जो गौण, ओड्र इत्यादि तथा कलिंग और कोशल के राजा हर्ष की पुत्री थी (प० १५)। लेख का शेष भाग जयदेव द्वितीय द्वारा बनवाई गई रजत-कुमुदनी की सुन्दरता का तथा उसकी माता द्वारा इसकी पूजा और स्थापना का विस्तृत विवरण देता है, और लेख के अन्त मे तिथि दी गई है।

डा० भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा उदयदेव को वसन्तदेव का उत्तराधिकारी मानने से तथा उसके एव नरेन्द्रदेव के बीच तेरह अन्य शासको को रखने से, उनके लिए लेख (ट) मे मानदेव की ३८६, तथा (ड) मे अकित ४१३ एव (त) मे वसन्तदेव के लिए दी गई ४३५ तिथियो को विक्रम सवत् मे रखना आवश्यक हो गया। उनकी गणनाओ की पूर्ण पुनरावृत्ति अनावश्यक है। किन्तु उनके मुख्य तर्को का सक्षिप्त ज्ञान अपेक्षित है। उन्होने तर्क किया कि वसन्तदेव तथा शिवदेव तथा द्वितीय के बीच पन्द्रह नाम आते हैं, अथवा मानदेव से लेकर शिवदेव द्वितीय तक उन्नीस नाम (प्रारभ तथा अत के नाम सम्मलित हैं) आते हैं और ये सभी "शासको की पीढियो का" निर्देश करते है, न कि "समवर्तियो के राज्यकालो का"[2], इन वशानुगत शासनकालो के लिए इक्कीस वर्षो का अल्पतम सभव औसत ग्रहण करने पर डा० भगवानलाल इन्द्रजी इस निष्कर्ष पर पहुचे कि विक्रम सवत् के बाद आने वाला कोई सवत् वर्तमान उदाहरण की अपेक्षाओ को पूरा नही करता, और यह कि विक्रम सवत् सभी अपेक्षाओ को पूरा करता है। क्योकि विक्रम सिद्धान्त को मानने पर मानदेव की प्रथम तिथि ईसवी सन् ३२९ होगी, तदनुसार इस तिथि तथा जयदेव द्वितीय की तिथि, ईसवी ७५९, के बीच ४३० वर्षों का अन्तराल था। इस सख्या को उन्नीस से विभाजित करने पर प्रत्येक पीढी के शासन-काल के लिए २२३ वर्षों का औसत प्राप्त होता है। उनके दृष्टिकोण से यह पर्याप्त सही निष्कर्ष था।

किन्तु हम सब इस प्रश्न पर सही दृष्टिकोण से विचार करे, अर्थात् इस मान्यता के साथ कि उदयदेव वसन्तदेव के बाद नही आया। यह हमे तुरन्त वसन्त तथा उसके पूर्वजो को इतने प्राचीन समय मे रखने की आवश्यकता से मुक्त कर देता है जिसके अतर्गत डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने अपना शोधकार्य किया था। साथ ही यह हमे अभिलेख (क) की समवृत्तिता को आधार बनाते हुए इसकी तथा मानदेव की तिथि को गुप्त सवत् मे रखने के लिए मुक्त कर देता है। परिणामस्वरूप, हम वसन्तसेन के लिए (लेख त) की तिथि इसवी सन् ७५४ पाते है जो कि जयदेव द्वितीय के लिए प्राप्त तिथियो-सभवत ईसवी सन् ७५० (लेख ण) तथा निश्चितरूप से ज्ञात ईसवी सन् ७५८ (लेख द)-की लगभग समकालिक है, ठीक वही निष्कर्ष जो कि लेख (द) को अभिप्रेत है, तथा, वसन्तसेन के पितामह मानदेव के लिए हम ईसवी सन् ७०५ (लेख ट) तथा ईसवी सन् ७३२-३३ (लेख ड) की तिथिया पाते है, जो कि जयदेव के पिता शिवदेव द्वितीय-जिसके लिए हमे ईसवी सन् ७२५ (लेख ठ) तथा सभवत ईसवी सन् ७४८ (?) (लेख ढ) की तिथिया प्राप्त हैं-से ठीक एक पीढी पहले की तिथि है।

---

१ मूल में देवी वा (बा) हुब(ब) लाढ्यमौखरिकुल श्रीवर्म्म इत्यादि है, कुलश्रीवर्म्म नही जैसा कि प्रकाशित पाठ मे मिलता है।

२ इन्डियन एन्टिक्वेरी, जि० १३, पृ० ४२५।

अब स्वभावत यह प्रश्न उठता है यदि उदयसेन और उसके वशज वसन्तसेन के उत्तराधिकारी और वशज नही थे, तो फिर वे कौन थे ? मैं सोचता हूँ कि उत्तर अत्यन्त स्पष्ट है वह यह है कि वे अशुवर्मन् के उत्तराधिकारी थे, तथा, उसके वशक्रमानुगत पैत्रिक उत्तराधिकारी न होने पर भी वे उसी वश से सबध रखते थे जिसे वशावली मे ठाकुरी वश कहा गया है।

वास्तव मे, अभिलेख (द) नेपाल मे दुहरे शासन प्रबध का एक अन्य दृष्टान्त प्रदान करता है जिसकी ओर डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने शिवदेव प्रथम तथा अशुवर्मन् के प्रसग मे ध्यान दिलाया था तथा जो इन सभी अभिलेखो मे अत्यन्त स्पष्ट रूप मे अकित हुआ है[1]। हम दोनो भिन्न वशो को एक ही समय मे तथा लगभग समान स्थिति के उपभोग के साथ शासन करते हुए, किन्तु अपनी विशिष्टताओ को सुरक्षित रखते हुए, पाते हैं।

एक ओर हम (द्र०, नीचे सारणी ११) अभिलेखो मे लिच्छविकुल के नाम से तथा वशावली मे सूर्यवशी नाम से उल्लिखित वश को देखते हैं जिसके राजपत्र मानगृह नामक भवन अथवा राजप्रासाद से जारी हुए हैं, तथा जिसने गुप्त सवत् का प्रयोग किया है। अभिलेख क, ख, ट, ड, त तथा ध इस वश से सबद्ध हैं, और इस वश मे ईसवी सन् ६३५ मे शिवदेव प्रथम, (ईसवी सन् ६५३ मे ध्रुवदेव),[2] ईसवी सन् ७०५ तथा ७३२–३३ मे मानदेव, तथा ईसवी सन् ७५४ मे वसन्तसेन अथवा वसन्तदेव–इन शासको के नाम मिलते हैं।

और दूसरी ओर, हम एक अन्य वश का अस्तित्व देखते हैं जिसका नाम अब तक प्राप्त अभिलेखो मे नही उल्लिखित हुआ है किन्तु वशावली ने जिसे ठाकुरी वश की सज्ञा प्रदान की है, इसके राजपत्र कैलासकूटभवन नामक भवन अथवा राजप्रासाद से जारी हुए हैं। और इन्होंने हर्ष सवत् का व्यवहार किया है। इस वश से सबद्ध अभिलेख है—ग, घ, ड, च, छ, ज, झ, ञ, ठ, ढ, ण, थ और द तथा इस वश का प्रतिनिधित्व ईसवी सन् (६३५)[3], ६३९, ६४४ और ६४९ तथा ६५० मे अशुवर्मन् द्वारा, ईसवी सन् ६५३ में जिष्णुगुप्त द्वारा, ईसवी सन् ७२५ तथा ७४८ (?) मे शिवदेव द्वितीय द्वारा, तथा ईसवी सन् ७५० (?) तथा ७५८ मे जयदेव द्वितीय द्वारा हुआ है।

इन दोनो वशो मे प्रत्येक ने अपने राजपत्र किसी नगर से न जारी कर एक राजप्रासाद से जारी किए, तथा ये सभी लेख या तो काठमाण्डू अथवा इसके निकटवर्ती स्थानो से मिलते हैं—इस तथ्य विशेष से ऐसा प्रतीत होता है कि मानगृह तथा कैलासकूटभवन ये दोनो राजप्रासाद एक ही राजधानी के दो भागो मे एक दूसरे के काफी निकट बने हुए थे। और यद्यपि अभिलेखो मे इसके विषय मे कोई स्पष्ट सूचना नही मिलती है तथापि लेख (ङ) एव लेख (ट) से प्राप्त कुछ तथ्यो से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि लिच्छविकुल अथवा सूर्यवशी कुल का शासन राजधानी के पूर्ववर्ती भाग पर था तथा ठाकुरी वश का शासन-क्षेत्र इसके पश्चिम मे था अभिलेख (ङ) में अकित अशुवर्मन् की

---

१ यह परवर्ती अभिलेखो मे भी द्रष्टव्य है। उदाहरणार्थ द्र०, नेपाल सवत् १२८ (ईसवी सन् १००७) मे तिथ्यकित अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता (वेन्डल की कैटेलाग आव बुद्धिस्ट मैनुस्क्रिप्ट्स, पृ० ४) की एक पाण्डुलिपि की एक पुष्पिका जिसमे निर्भय तथा रुद्रदेव के दुहरे शासन की चर्चा है, तथा नेपाल सवत् १३५ (ईसवी सन् १०१५) मे तिथ्यकित समान शीर्षक धारण करने वाली (वही, पृ० १५१) एक अन्य पाण्डुलिपि जिसमें आधे शासन का भोग भोजदेव तथा रुद्रदेव द्वारा और आधे का भोग लक्ष्मीकामदेव द्वारा किया जाते हुए बताया गया है।

२ जिष्णुगुप्त के अभिलेख (छ) से।

३ शिवदेव प्रथम के अभिलेख (क) से।

सारणी ११

नेपाल के प्रारंभिक शासकों की तालिका

मानगृह का लिच्छवि अथवा सूर्यवंशी वंश		कैलासकूटभवन का ठाकुरी वंश	
	१ जयदेव प्रथम। लगभग ईसवी सन् ३३०–३५५।		
	२, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२ } अभिलेखों में नाम नहीं दिए गए हैं। } ईसवी सन् ३५५–६३०।		
शिवदेव प्रथम, महाराज। ईसवी सन् ६३५	१३ वृषदेव। लगभग ईसवी सन् ६३०-६५५	अंशुवर्मन्, महासामन्त और बाद में महाराजाधिराज। ईसवी सन् ६३५, ६३९, ६४४, तथा ६४९ अथवा ६५०।	

मानगृह का लिच्छवि अथवा सूर्यवंशी वंश		कैलासकूटभवन का ठाकुरी वंश	
ध्रुवदेव, महाराज। ईसवी सन् ६५३	१४ पूर्ववर्ती का पुत्र शङ्करदेव। लगभग ईसवी सन् ६५५–६८०।	जिष्णुगुप्त। ईसवी सन् ६५३	
	१५ पूर्ववर्ती का पुत्र धर्मदेव। लगभग ईसवी सन् ६८०–७०४।		उदयदेव। लगभग ईसवी सन् ६७५–७००।
	१६ पूर्ववर्ती का पुत्र मानदेव। ईसवी सन् ७ ५ और ७३२।		पूर्ववर्ती का पुत्र नरेन्द्रदेव। लगभग ईसवी सन् ७००–७२४।
	१७ पूर्ववर्ती का पुत्र महीदेव। लगभग ईसवी सन् ७३३–७५३।		पूर्ववर्ती का पुत्र शिवदेव द्वितीय, महाराजाधिराज। ईसवी सन् ७२५ तथा ७४८ (?)।
	१८ पूर्ववर्ती का पुत्र वसन्तसेन अथवा वसन्तदेव, महाराज। ईसवी सन् ७५४।		पूर्ववर्ती का पुत्र जयदेव द्वितीय, राजा। ईसवी सन् ७५० (?) तथा ७५८

आज्ञा पश्चिमी प्रान्त के राज्यकर्मचारियों के लिए निकाली गई है, तथा, अभिलेख (ट) में मानदेव को पूर्व की ओर अभियान करते हुए तथा वहां के विद्रोही सामन्तों को अधीनता स्वीकार करने पर विवश कर पुनः पश्चिम की ओर लौटते हुए बताया गया है।

डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने अंशुवर्मन् को इस रूप में लिया है मानों वह पहले शिवदेव प्रथम का सामन्त रहा हो। किन्तु, अभिलेख में इसके समर्थन के लिए कुछ भी नहीं मिलता। यह सत्य है कि शिवदेव प्रथम के अभिलेखों में उसके द्वारा ऐसे कार्यों के उल्लेख हैं जो अंशुवर्मन् की 'सलाह पर' अथवा 'प्रार्थना पर' किए गए थे. किन्तु, यद्यपि इस अभिव्यक्ति का प्रायः सामन्तों और राज्यकर्मचारियों के संबंध में प्रयोग होता है यह अनिवार्यतः पराधीनता की स्थिति का परिचायक नहीं है। तथा, जबकि शिवदेव प्रथम अपने संबंध में केवल सामन्तीय विरुद महाराज का प्रयोग करता है, अपने अभिलेखों में वह अंशुवर्मन् को महासामन्त का समरूपी विरुद प्रदान करता है; वह उसे केवल सामन्त नहीं कहता जैसा कि डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने लगभग प्रारम्भ से अंत तक दिखाया है। शिवदेव प्रथम तथा अंशुवर्मन् दोनों ही एक अन्य प्रभुतासम्पन्न शासक कन्नौज के हर्षवर्धन के सम्भवतः सामन्त थे। उस अवधि में जबकि—जैसा कि लेख (छ) में अंकित है—अंशुवर्मन् महाराजाधिराज अथवा एक प्रभुतासंपन्न शासक था उस समय लिच्छवि लोग उसके सामन्त के रूप में रहे होंगे। यह स्थिति उसके ईसवी सन् ६३९ की तिथि से युक्त लेख (ग) के बाद थी। उसके अन्य दो अभिलेख (ङ) और (च), जिनमें उनके लिए श्री (ऐश्वर्यसम्पन्न) के अतिरिक्त अन्य किसी विरुद का उपयोग नहीं हुआ है संभवतः संक्रमण काल के अभिलेख हैं क्योंकि वह सर्वोच्च शासक की स्थिति के परिचायक विरुद को धारण करने में हिचकचा रहा था किन्तु साथ ही वह सामन्तीय विरुद को धारण करने के प्रति अनिच्छुक था। संभवतः, हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उसने सर्वोच्च शासक की स्थिति और उपाधि ग्रहण की; उस समय क्योंकि—जैसा कि मा त्वान-लिन से ज्ञात होता है[1] कन्नौज साम्राज्य में अराजकता की स्थिति आ गई थी और राज्य-सत्ता न-फो-ति-अ-ल-न-शुन नामक मंत्री द्वारा हड़प ली गई थी। और संभवतः अंशुवर्मन् ही नेपाल का वह शासक है जो सात हजार अश्वारोहियों के साथ चीनी सेनापति वाग-हिउेन-त्सेह-जिसने कि इस अधिकारापहारी मंत्री को पराजित किया-की सहायता को आया था। यह संभव है कि ध्रुवदेव तथा जिष्णुगुप्त के समय में ठाकुरी वंश कुछ सीमा तक अपने ऊपर लिच्छवियों की वरिष्ठता स्वीकार करता रहा हो। किन्तु शिवदेव द्वितीय ने पुनः सर्वोच्च शासक की स्थिति और उपाधि ग्रहण किया, और उस समय लिच्छवि निश्चिततया ठाकुरी वंश के अधीन हो गए। अन्ततोगत्वा, हम देखते हैं कि ठाकुरी अभिलेख (द) में लिच्छवि वंशावली दी गई है, तथा जयदेव द्वितीय ने इस लेख में स्वयं को केवल राजा (प० १४) कहता है एवं केवल श्री का विरुद धारण करता है, ये तथ्य संभवतः यह निर्देश करते हैं कि इस परवर्ती काल में ठाकुरी वंश कुछ सीमा तक लिच्छवियों की वरिष्ठता स्वीकार करता था। यह दोनों वंशों के पारस्परिक सौजन्य-जो कि शिवदेव, प्रथम तथा जिष्णुगुप्त के लेखों में पहले ही प्रदर्शित हो चुका है-का एक अन्य प्रदर्शन मात्र हो सकता है।

लिच्छवि वंश में प्राचीनतम नाम, जिसकी निश्चित तिथि हमें ज्ञात है, ईसवी सन् ६३५ के शिवदेव प्रथम का है। तथा, ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्यवंशी कुल की वंशावली-तालिका में उल्लिखित श्रीवृद्धिवर्मन्-तालिका में जो १४वां है-अथवा तालिका का १६वां नाम, अर्थात् शिववर्मन् इनमें से किसी एक के द्वारा यह शासक हो अभिप्रेत है। दूसरा नाम ईसवी सन् ६५३ के ध्रुवदेव का है जिसका नाम अथवा प्रतिलिपित्व वंशावली में नहीं मिलता है। शिवदेव प्रथम तथा ध्रुवदेव के बीच स्थित संबंध अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। किन्तु वे दोनों संभवतया वंश की एक ही शाखा के

---

१ इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० २०।

थे, यद्यपि, अभिलेख (द) मे उनके अनुल्लेख के कारण यह निश्चित है कि वे उस शाखा के नही है जिसमे वसन्तदेव तथा उसके उत्तराधिकारी हुए थे। ठाकुरी वश के इनके समकालिक क्रमश अशुवर्मन् और जिष्णुगुप्त थे। इनके वाद इसी वश की एक अन्य शाखा आयी जिसका प्रारम्भ ईसवी सन् ६३० के लगभग (ईसवी सन् २६० मे नही जैसा कि डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने प्रस्तावित किया था) वृषदेव द्वारा हुआ जो कि शिवदेव प्रथम का समकालीन था, और जहा तक निश्चित तिथियो का प्रश्न है, इसका प्रतिनिधित्व ईसवी सन् ७०५ तथा ७३२-३३ मे (ईसवी सन् ३२९ एव ३५६ में नही) मानदेव द्वारा, तथा ईसवी सन् ७५८ मे (ईसवी सन् ३७८ नही) वसन्तसेन अथवा वसन्तदेव द्वारा हुआ। वृषदेव से लेकर वसन्तसेन तक के छ नाम शुद्धरूपेण वशावली में सूर्यवशी कुल के स० १८ से २३ तक के रूप में दिए गए है। यदि अभिलेख (द) को पूर्णतया स्वीकृत किया जाए तो इस शाखा की स्थापना जयदेव प्रथम द्वारा हुई थी। यह निस्सदेह रूप से वही व्यक्ति है जिसे सूर्यवशी कुल की वशावली-तालिका मे जयवर्मन् कहा गया है और सूची मे जिसका स्थान तीसरा है। तथा, प्रत्येक शासन-पीढी के लिए पच्चीस वर्षों की औसत अवधि को स्वीकार करते हुए, मानदेव के समय से-जिसका वशानुगत स्थान उसकी अकित तिथियो से ज्ञात होता है-पन्द्रह पीढियो तक पीछे की ओर गणना करने पर हम जयदेव प्रथम के लिए ईसवी सन् ३३० की (ईसवी सन् १ नही) प्रारभिक तिथि पाते हैं। किन्तु यदि वृषदेव जयदेव प्रथम का वशानुगत पैत्रिक उत्तराधिकारी था, तो यह विचित्र लगता है कि लेख (द) का रचयिता, जो कि उसके केवल पाच पीढियो वाद लिख रहा था, उसके पूर्व तथा जयदेव प्रथम के वाद आने वाले सदस्यो के नाम नहीं दे सका जिनकी सख्या केवल ग्यारह थी। अतएव, ऐसा जान पडता है कि यद्यपि पीढियों की सख्या स्वीकार की जा सकती है, किन्तु इस विन्दु पर वशानुगत परम्परा में विच्छेद हुआ था।

ठाकुरी वश में, प्राचीनतम नाम अशुवर्मन् का है जिसके लिए ईसवी सन् ६३५ तथा ६४९ अथवा ५० की परस्पर दूरवर्ती तिथिया मिलती हैं, दूसरा नाम ईसवी सन् ६५३ के जिष्णुगुप्त का है। वशावली मे अशुवर्मन् का उल्लेख इसी नाम से ठाकुरी वश के सस्थापक के रूप मे हुआ है, किन्तु जिष्णुगुप्त का नाम नही दिया गया है और न किसी अन्य नाम मे इसका प्रतिनिधित्व हुआ है। इनके बीच क्या सवध था, यह अभी निश्चितरूप मे नही ज्ञात है। इनके वाद उदयदेव (लगभग ईसवी सन् ६७५, ईसवी सन् ४०० नही) तथा उसके उत्तराधिकारी आए, तथा, चू कि अभिलेख (द) मे अशुवर्मन् और जिष्णुगुप्त का कोई उल्लेख नही है, अत वह स्पष्टत इस वश की किसी अन्य शाखा मे उत्पन्न हुआ था। उदयदेव लिच्छवि वश के धर्मदेव का समकालीन था, यह निश्चितरूपेण सूर्यवशी कुल की वशावली-तालिका में दिए गए २४वें नाम, उदयदेववर्मन्, से भिन्न है और, इस प्रकार, वशावली मे इसका उल्लेख नही मिलता। उसका पुत्र नरेन्द्रदेव सभवत ठाकुरी वश की वशावली-तालिका स० ७मे उल्लिखित नरेन्द्रदेव नामक व्यक्ति ही है। उसके पुत्र शिवदेव द्वितीय-जिसके लिए ईसवी सन् ७०५ तथा ७४८ (?) की तिथिया मिलती है-का वशावली मे नही उल्लेख हुआ। उसका पुत्र जयदेव द्वितीय, ईसवी सन् ७५० (?) तथा ७५८, ही सभवत वह व्यक्ति है जो ठाकुरी वश की वशावली-तालिका के स० ११ के जयदेव द्वारा अभिप्रेत है।

गुप्त अभिलेख

मूल एव अनुवाद

स० १, प्रतिचित्र १

समुद्रगुप्त का इलाहाबाद मरणोपरान्त लिखित प्रस्तर-स्तम्भ-लेख

जनसामान्य को इस अभिलेख का ज्ञान १८३४ मे हुआ प्रतीत होता है जबकि जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३, पृ० ११८ इ० मे कैप्टेन ए० ट्रोएर (A Troyer) ने तद्विपयक अपना पाठ तथा उसका अनुवाद प्रकाशित किया, जिनके साथ ही एक शिलामुद्रण भी दिया गया था (वही, प्रतिचित्र ६) जिसे श्री जेम्स प्रिंसेप (James Prinsep) ने अभियान्त्रिकी विभाग के लेफ्टीनेन्ट टी० एस० वर्ट (T S Burt) के एक भाई द्वारा आरम्भित, किसी मुशी द्वारा समापित तथा स्वय लेफ्टीनेन्ट वर्ट द्वारा सशोधित प्रतिलिपि से तैयार किया था। पत्रिका के उसी जिल्द के पृ० २५७ इ० मे रेवेरेण्ड डा० डब्लू० एच० मिल (W.H Mill) ने, उसी शिलामुद्रण के आधार पर, मूल का एक सशोधित पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया, पुन, पृ० ३३९ इ० मे उनका एक अनुलेख प्रकाशित हुआ जिसमे पहली बार इस राजवश की वशावली दी गई थी। कैप्टेन ट्रोएर के पाठ की अपेक्षा अधिक परिष्कृत होने पर भी उनका पाठ मूल के पूर्ण तथा शुद्ध प्रस्तुतीकरण से काफी दूर था, विशेपत इस दृष्टिकोण से कि कैप्टेन ट्रोएर के समान वे भी यह समझने मे असमर्थ रहे हैं कि यह एक मरणोपरान्त लिखित अभिलेख है, पक्ति ११ तथा पक्ति २१ के अपने अशुद्ध पाठ के कारण उन्होंने, मूल मे तत्सबधी किसी आधार के विना, अपने अनुवाद तथा वशावली मे सहारिका नामक रानी, उसकी एक अज्ञातनामा पुत्री जो कि समुद्रगुप्त की पत्नी थी, समुद्रगुप्त की अन्य श्वश्रुओ का, तथा अभिलेख की तिथि के समय अपेक्षित एक राजपुत्र-जन्म का समावेश किया है, इसी प्रकार पक्ति ३० मे उन्होंने 'आचक्षाण इव भुवो वाहुरयमुच्छ्रित स्तभ', "(समुद्रगुप्त के यश की) घोपणा करते हुए, यह उच्च स्तम्भ मानो पृथ्वी की एक भुजा के समान (है)", के स्थान पर उन्होंने 'रोमचर्मण रविभुवो वाहुरयमुच्छ्रित स्तभ' पाठ किया और इनका अनुवाद किया-"इस-यद्यपि यह रोमचर्मा है-सूर्य के पुत्र की यह उच्च स्तभ एक भुजा है', इस अशुद्ध पाठ के कारण उन्होने समुद्रगुप्त तथा उसके वश को सूर्यवशी माना, और यह गलती अभी पूर्णतया समाप्त हुई नही जान पडती। १८३७ मे इसी पत्रिका के जिल्द ६, पृ० ९६९ इ० मे श्री जेम्स प्रिंसेप ने अभियान्त्रिकी विभाग के कैप्टेन एडवर्ड स्मिथ (Edward Smith) द्वारा तैयार की गई वस्त्र तथा कागज पर अकित छाप के आधार पर इस अभिलेख तथा इसकी लिपि का एक ताजा और अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत शिलामुद्रण प्रकाशित किया, तथा इसके साथ मूल का अपना पाठ और अनुवाद दिया[1]। उनका पाठ मूल का शुद्ध और पूर्ण प्रतिनिधित्व करने मे असफल रहा, विशेपरूप से, यह ऊपर बताई गई डा० मिल की प्रमुख गलतियो से मुक्त न हो सका। सिवाय इसके कि १८७२ मे, जर्नल आफ द वाम्बे ब्रान्च

---

१ श्री टामस द्वारा सपादित प्रिंसेप लिखित एसेज आन इण्डियन ऐन्टिक्विटीज, जि० १, पृ० २३३ इ० में यह अनुवाद पुनर्प्रकाशित हुआ है।

आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ९, पृ० १९६ इ० मे डा० भाऊदाजी ने, डा० भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा तैयार की गई वस्त्र पर ली गई छाप के आधार पर, समुद्रगुप्त द्वारा विभिन्न राजाओ और प्रदेशो के नामो के सबध मे इस लेख के ऐतिहासिक अश मे कुछ सशोधनो की सूचना दी,[1] अब तक प्रिंसेप का पाठ ही प्रामाणिक पाठ के रूप मे स्वीकृत होता रहा है।

जैसा कि इस पर अकित अशोक की राजविज्ञप्तियो से प्रदर्शित होता है, पैंतीस फीट ऊचे इस वृत्ताकार अखण्ड बालुकाश्म-स्तम्भ-जिस पर यह लेख अकित है-की तिथि तृतीय शताब्दी ई० पू० है। सम्प्रति यह नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज के शासन-पीठ अल्लाहाबाद (ठीक ठीक उच्चारण, इलाहाबाद) मे किले के अन्दर एक विशिष्ट स्थिति मे खडा है। किन्तु, यह सदिग्ध है कि स्तम्भ अपने मौलिक रूप मे यही खडा किया गया अथवा, जैसा कि जनरल कर्निघम ने सुझाया है,[2] यह मूलत प्राचीन कौशाम्बी मे स्थापित किया गया था, जिसका प्रतिनिधित्व आधुनिक काल मे इलाहाबाद से अट्ठाइस मील पश्चिम की दूरी पर यमुना नदी के बाए तट पर बसे हुए कोसम नामक गाव[3] द्वारा होता है, तथा यह कि विचाराधीन अभिलेख के अकन के समय यह उसी स्थान पर तथा कालान्तर मे दिल्ली के किसी प्रारभिक मुसलमान शासक द्वारा यह इलाहाबाद मे स्थानान्तरित करवाया गया था—ठीक उसी प्रकार जैसे दिल्ली के दोनो अशोक स्तम्भ अपने मूल स्थानो—मेरठ और शिवालिक पहाडियो—से यहा स्थानान्तरित किए गए थे। इस मान्यता के पक्ष मे ये तथ्य हैं १ इस स्तम्भ पर अशोक की एक सक्षिप्त राजविज्ञप्ति कौशाम्बी के शासको को सबोधित की गई है[4], तथा, २ पो—लो—ये—किया अथवा प्रयाग या इलाहाबाद के अपने विवरण मे चीनी यात्री ह्वेनसाग इस स्तम्भ का कोई उल्लेख नही करता[5]।

लेख जो कि लगभग ६' ८" चौडा तथा ५' ४" ऊचा क्षेत्र घेरता है, स्तम्भ के उत्तरी भाग मे उत्तर-पूर्व की ओर हट कर प्रारम्भ होता है तथा इसकी सबसे लम्बी पक्ति—पक्ति ३०—केवल १' ९" के क्षेत्र को छोड कर स्तम्भ की पूरी गोलाई मे दौडती है। अभिलेख की सबसे नीचे की पक्ति स्तम्भ के वर्तमान पीठिका-स्तर से ६' ०" की ऊचाई पर है। स्तम्भ मे प्रथम पक्ति के प्रथम शब्द से प्रारम्भ हो कर चौदहवी पक्ति के प्रारम्भ तक एक लम्बी दरार है। आशिक रूप से कुछ

---

१ यह सूचना १८७२ में प्रकाशित हुई, किन्तु सोसायटी के सामने इसे दो वर्ष पूर्व अर्थात् ११ अगस्त १८७० ई० को पढा गया था। यहा यह कहा गया है कि डा० भाऊदाजी ने सोसायटी को एक सशोधित प्रतिकृति, मूल तथा अनुवाद अर्पित किया, किन्तु ऐसा नहीं जान पडता कि उनका कभी भी प्रकाशन हुआ, अथवा निकट भविष्य मे उनका प्रकाशन होने वाला है। सभवत, उनके द्वारा प्रस्तावित सुझाव, जिस रूप में वे पत्रिका मे प्रकाशित हुए हैं उसकी अपेक्षा, उनके अपने परिपत्र मे अधिक शुद्ध रूप मे दिए गए थे।

२ कार्पस इन्सक्रिप्शन इण्डिकेरम, जि० १, पृ० ३९।

३ मानचित्रो का 'कोसम और कोसिम खेरज', इलाहाबाद जिले के मन्झनपुर अथवा मानझन्दपुर तहसील में करारी परगना के मुख्य नगर करारी से आठ मील दक्षिण की दूरी पर स्थित, इण्डियन एटलस, फलक पत्र स० ८८। अक्षाश २५°२०' उत्तर, देशान्तर ८१°२७' पूर्व।

४ कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकेरम, जि० १, पृ० ३९, ११९, १४१ तथा प्रतिचित्र २२, सम्प्रति प्रकाशित प्रतिचित्र मे इस अभिलेख की पक्ति १० के अन्त मे भी द्रष्टव्य।

५ बील, बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, जि० १, पृ० २३० इ०, स्टेनिसलेप जूलिऐन, ह्वेन सांग जि० २, पृ० २७९ इ०। साथ ही यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि ह्वेन सांग तुरन्त बाद मे दिये गये अपने किआऊ-शग-अर्थात् कोशाम्बी के विवरण मे भी इस प्रकार के किसी स्तभ का उल्लेख नही करता।

मध्य कालीन अभिलेखो के अ कन के कारण, जो कि लेख मे पक्तियो के ऊपर तथा बीच मे अधिक मात्रा मे लिखे हुए मिलते हैं, तथा, अ शत कई स्थानो पर पत्थर की सतह छूट जाने के कारण, अभिलेख के ऊपरी भाग को बहुत अधिक हानि पहुची है। किन्तु, ऐसा प्रतीत होता है पक्ति १३ मे नागसेन के उल्लेख के पश्चात् तथा पक्ति १४ मे पुष्पपुर के सबध मे कुछ लुप्त तथ्यो को छोड कर ऐतिहासिक महत्व की कोई अन्य सूचना नही नष्ट हुई है। पक्ति २३ के प्रारम्भ मे तथा पक्ति सख्याओ २३, २४, ३१ और ३२ के बीच मे पत्थर छूट जाने के कारण कुछ शब्द नष्ट हो गए हैं, किन्तु पक्ति ३२ को छोड कर अन्य सभी पक्तियो के शब्दों को यथाभूत रखा जा सकता है। अभिलेख का वस्तुत महत्वपूर्ण अ श, अर्थात् पक्ति १६ से प्रारम्भ हो कर पक्ति ३० तक चलने वाले ऐतिहासिक तथा वशावली विषयक अवतरण, सौभाग्य से अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है और ये आद्यन्त विना किसी सन्देह के पढे जा सकते हैं। अक्षरो का आकार (जिससे मेरा तात्पर्य—यहा और अन्य स्थलो पर भी—च, द, प, म, व, और व, इत्यादि ऐसे अक्षरो की ऊ चाई से है जिन्हे ऊपर अथवा नीचे, विना किन्ही प्रक्षेपणो के, पूर्णरूपेण लिखावट की पक्तियो की सीमाओ के अन्दर बनाया जाता है) ⅜" से लेकर ½" तक है। जहा तक इस अभिलेख तथा वर्तमान पुस्तक मे सन्निहित अन्य अभिलेखो की लिपि का प्रश्न है, यह विषय-पक्ष इतने अधिक विस्तार की अपेक्षा करता है कि इसके लिए पृथक् ग्रन्थ की आवश्यकता है, सम्प्रति मै केवल कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण विषयो की सामान्य चर्चा मात्र कर सकता हूँ। वर्तमान अभिलेख के अक्षर गुप्त लिपि नाम से अभिहित होने वाली लिपिविशेष से सवद्ध है।[1] किन्तु, इस

---

१ अनियमित प्रयोग के उन कुछ दृष्टान्तो को छोड़ कर जो, मेरे विचार से, मुद्राओ तक ही सीमित हैं, केवल यह अक्षर ही प्रस्तुत पुस्तक मे आए लेखो द्वारा व्याप्त सपूर्ण अवधि के प्रसग मे यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है कि कोई लेख विशेष उत्तरी वर्ग लिपि से सबद्ध है अथवा दक्षिणी वग की लिपि से। भारतीय शक अभिलेखों का म, जिसका एक सुन्दर उदाहरण ३६ वर्ष की तिथियुक्त हुविष्क के मथुरा अभिलेख के प्रारभ मे महाराजस्य शब्द मे देखा जा सकता है (**आरक्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया**, जि० ३, प्रतिचित्र १४, स० १), अशोककालीन म का लोचरहित कोण प्रधान के रूप में विकास मात्र है। किन्तु यह विशिष्ट स्वरूप केवल भारतीय-शक लेखो तक ही सीमित नहीं था। सांची स्तम्भ लेख (नीचे, स० ७३, प्रतिचित्र ४२ क) के स्वामि शब्द में हम इसे इसको पूरी कोणात्मकता के साथ देखते हैं, तथा, **आरक्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया**, जि० ४, प्रतिचित्र ४४ इ० मे प्रकाशित नासिक तथा निकटवर्ती प्रदेशों से पाए गए प्राचीन अभिलेखो में यह थोडे से परिवर्तन के साथ दिखाई पडता है। तथा, थोडे से परिवर्तित रूप में—जिसमें कोने कुछ चक्रिल हो गए हैं जैसा कि दक्षिणी लिपियो विकास की प्रारभिक अवस्थाओ मे इसका स्वरूप रहा होगा—यह निम्नलिखित सभी लेखो मे आद्यन्त दिखाई पडता है। सप्रति, उदाहरण स्वरूप, चन्द्रगुप्त द्वितीय के सांची अभिलेख (नीचे, सं० ५, प्रतिचित्र ३ ख) की पक्ति १ मे महाविहारे म, विश्ववर्मन के गगधार अभिलेख (नीचे, स० १७, प्रतिचित्र १०) की पक्ति ४ मे अप्रतिमेन में तथा कुमारगुप्त और बन्धुवर्मन् के मन्दसोर अभिलेख (नीचे, स० १८, प्रतिचित्र ११) की पक्ति २३ में भवनमिदमुदार मे। कुछ और परिवर्तन के साथ जो परवर्ती काल का विकास रहा होगा, यद्यपि इस पुस्तक में दिए गए उदाहरण प्राचीन तिथियो के हैं—हम इन दो लेखो मे आद्यन्त प्रयुक्त पाते हैं सप्रति उदाहरण के लिए, समुद्रगुप्त के एरण अभिलेख (नीचे स० ६, प्रतिचित्र २ क) की पक्ति २१ मे समर मे तथा ८२ वर्ष की तिथियुक्त चन्द्रगुप्त के उदयगिरि गुहालेख (नीचे स० ६ प्रतिचित्र २ ख) की पक्ति २ के प्रारभ मे महाराज मे। सप्रति विचाराधीन लेख का म भी अशोककालीन म का ही विकसित रूप जान पडता है, जिसे वर्तमान स्वरूप इस प्रकार का प्राप्त हुआ कि इसका वाई ओर का अश भिन्न प्रकार से, अर्थात एक अटूट सचलन द्वारा बनाया गया जिससे यह धीरे धीरे अपनी दाहिनी ओर के अश से पूर्णत अलग होता

प्रकार की अन्य सभी वशीय सज्ञाओ के समान यह सज्ञा भी असतोषपूर्ण एव भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि थोडे से ही परिवर्तनो के साथ —किन्तु जिनसे इनका मूल स्वरूप प्रभावित नही होता-ये अक्षर पजाव के भारतीय-शक शासको की मुद्राओ पर भी व्यवहृत हुए थे। यहा तक कि म के समान अत्यन्त महत्वपूर्ण अक्षर के सम्बन्ध मे भी यद्यपि कुछ मुद्राओ पर हम उत्तरी गुप्त अभिलेखो मे प्राप्य म के विपरीत तथाकथित भारतीय-शक प्रकार का म पाते है, तथापि एक मुद्राविशेप पर-जिसके परीक्षण का अवसर मुझे जनरल कनिंघम के सग्रह मे प्राप्त हुआ था जिस पर समुद्र[1] नाम अ कित है—बना हुआ म तथाकथित गुप्त म है, यह म वर्तमान लेख से कुछ बाद का है किन्तु (हम एक स्पष्ट उदाहरण लें) स्वरूप मे चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा अभिलेख (नीचे स० ४, प्रतिचित्र ३ क) की पक्ति ८ मे लिखित महाराज के म के समान है। और दूसरे, स्वय प्रारम्भिक गुप्तो के अभिलेख एकमात्र इसी लिपि मे लिखे हुए नही मिलते। समुद्रगुप्त की मुद्राओ पर अकित भारतीय-शक प्रकार के म— उदाहरणार्थ, जिसका प्रयोग श्री वी० ए० स्मिथ द्वारा जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ५३, भाग १, प्रतिचित्र २, ३, ७, ६, १० और ११ सख्या वाली मुद्राओ मे मिलता है—को छोड भी दिया जाय तो भी उनके अभिलेखो मे सप्रति विचाराधीन के अतिरिक्त दो अन्य भिन्न लिपियो का प्रयोग दिखाई पडता है। समुद्रगुप्त का एरण अभिलेख (नीचे, स० २, प्रतिचित्र २क) तथा ८२ वर्ष की तिथियुक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि गुहा—लेख (नीचे, स० ३, प्रतिचित्र २ख) मध्यभारतीय लिपि के 'चौकोर-शिर' प्रकार [box-headed] तथा 'कील— सदृश—शिर' प्रकार [nail-headed] के है, जिन्हे अब तक नर्वदा लिपि एव वाकाटक लिपि की सज्ञा दी जाती थी तथा जिनमे, म के विशिष्ट स्वरूप के अतिरिक्त, दक्षिणी लिपियो की सभी विशिष्टताए प्राप्त होती हैं। तथा, स्कन्दगुप्त का जूनागढ शिलालेख सौराष्ट्र अथवा काठियावाड लिपि—जिसकी प्रमुख विशिष्टताए उसी शिला पर अ कित रुद्रदामन् के अभिलेख मे प्रदर्शित हुई है जिसका एक शिलामुद्रण हमे आरक्यॉलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० २ पृ० १२८, प्रतिचित्र १४ मे मिलता है—के परवर्तीकालीन परिवर्तित स्वरूप मे अ कित है। यह एकदम स्पष्ट है कि लिपिया एक दूसरे से राजवशो के आधार पर नही अपितु क्षेत्रो के आधार पर भिन्न होती थी, तथा, तुलनात्मक पुरालिपिशास्त्र की कोई पद्धति स्थापित करते समय हमे स्थानीय नामो का चयन करना चाहिए, राजवशीय नामो का नही। सप्रति विचाराधीन अभिलेख की लिपि के लिए मैं 'चतुर्थ शताब्दी ई० की सामान्य उत्तर भारतीय लिपि' की सज्ञा प्रस्तावित करता हूँ। इसकी वर्णमाला मे दो अक्षर ऐसे हैं, जिसका, पालि-युग के बाद, दक्षिण भारतीय लिपियो मे प्रयोग बहुत दिनो का बन्द रहा तथा सप्रति विचाराधीन युग के पश्चात् भी काफी दिनो तक जो प्रचलन मे नही आए इनमे पहला है, दन्तस्थानीय द से भिन्न मूर्धस्थानीय ड का व्यवहार जिसे हम पक्ति १४ मे क्रीडता, पक्ति २२ मे डवाक तथा पक्ति २७ मे व्रीडित शब्दो मे प्रयुक्त होते पाते है, तथा दूसरा अक्षर है, मूर्धास्थानीय ढ जिसे हम पक्ति १८ के विरूढ शब्द मे

गया और दाहिने अश ने वक्र स्वरूप के स्थान पर एकदम खडा स्वरूप धारण किया। और, यद्यपि इस पुस्तक मे दिए गए उदाहरण बाद की तिथि के हैं, यह असदिग्ध है कि, उदाहरण के लिए, इस अक्षर का जो स्वरूप इस चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा अभिलेख (नीचे, स० ४, प्रतिचित्र ३ क) की पक्ति ८ मे महाराज शब्द मे मिलता है, वह सप्रति विचाराधीन लेख मे प्राप्त स्वरूप से पहले व्यवहार मे आया होगा।

१ नाम के तीनो अक्षर सम्मुख भाग पर ऊपर से नीचे की दिशा मे, भाले के अन्दर की ओर राजा के बाए हाथ की काख के नीचे लिखे हुए हैं, तथा ये श्री वी० ए० स्मिथ द्वारा जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ५३ भाग १ प्रतिचित्र २ स० ६ मे प्रकाशित समुद्रगुप्त की मुद्रा पर अकित इसी नाम के अक्षरों के सवथा समान है।

व्यवहृत होता देखते हैं। दूसरी ओर, इस वर्णमाला मे ळ का प्रयोग—जो पक्ति ८ मे व्यालुळित, पक्ति १६ मे कैरळक के स्थान पर प्रयुक्त कौराळक, पक्ति २३ मे सं हृळक तथा पक्ति २७ और ३० मे लक्षित शब्दो मे व्यवहृत हुआ है—एक ऐसे अक्षर का प्रयोग है जो विशिष्ट रूप से केवल दक्षिणी वर्णमालाओ और भाषाओ मे मिलता है, तथा, इसका प्रयोग इस तथ्य का एक अनायास प्रमाण प्रदान करता हुआ प्रतीत होता है कि लेख मे समुद्रगुप्त को दक्षिण भारत की जिन विजयो का श्रेय दिया गया है, उनमे से कम से कम कुछ तो अवश्य ही हुई थी, इस पुस्तक के अन्य अभिलेखो मे यह शब्द केवल तुसाम शिलाभिलेख (नीचे, स० ६७, प्रतिचित्र ४०क) के भ्रळि, 'मधुमक्षिका', शब्द मे मिलता है। पक्ति १८ मे शोभा, पक्ति १६ मे विष्णुगोप तथा पक्ति २५ मे गोशित शब्दो मे 'ओ' [ो] की मात्रा कुछ विचित्र प्रकार से बनी मिलती है। और जहा तक दाहिनी ओर की रेखा का सबध है, यह उन्ही व्यजनो के साथ जुटी 'आ' (ा) की मात्रा मे भी इसी प्रकार बनी मिलती है, उदाहरण के लिए, पक्ति २३ और २४ में शासन तथा पक्ति ३१ मे गाङ्ग शब्दो मे। यदि र आगे आने वाले य के साथ मिलकर सयुक्ताक्षर बनता है, उस स्थिति मे यह द्रष्टव्य है कि—जैसा कि अन्य व्यजनो के साथ है—य दुहरा हो जाता है और र पक्ति के ऊपर लिखा जाता है, उदाहरण के लिए पक्ति १३ मे वीर्य्य शब्द मे, जब कि मध्यभारत मे इस वर्णमाला के अपेक्षाकृत परवर्ती विकसित रूप मे यह प्रवृत्ति प्रचलित हुई कि—जैसा कि य का अन्य अक्षरो के साथ मिल कर सयुक्ताक्षर बनने मे दिखाई पडता है—पक्ति के ऊपर लिखे र के नीचे एक अकेला य जोड दिया जाने लगा, उदाहरणार्थ, महाराज हस्तिन् के मझगवा लेखो (नीचे स० २३, प्रतिचित्र १४) के पक्ति ६–७ मे मर्यादया तथा पक्ति १२ मे कुर्यात् शब्दो मे। लेख मे श्लोको की सख्या देने मे ३, ४ और ८ के सख्यात्मक चिन्ह भी मिलते हैं, बीच के चिन्ह नष्ट हो गए हैं। भाषा सस्कृत है, पक्ति १६ तक यह अभिलेख श्लोको मे लिखा गया है और उसके पश्चात् शेष भाग गद्यात्मक है। वर्णविन्यास शास्त्र के सबध मे जो बातें ध्यान मे रखने की हैं वे ये हैं १ बाद मे आने वाले र के साथ सयुक्ताक्षर बनाने पर क का दुहरा हो जाना, उदाहरणार्थ, पक्ति १७ मे पराक्क्रम, पक्ति २७ और २८ मे क्क्रिया तथा पक्ति ३० मे विक्क्रम, २ बाद मे आने वाले य अथवा व के साथ सयुक्ताक्षर बनाने पर ध का दुहरा हो जाना (जैसा कि नियमो के अनुसार अपेक्षित है, यह द द्वारा द्विगुणित होगा), उदाहरण के लिए, पक्ति १६ मे अद्ध्येय, पक्ति २५ मे साद्ध्वसाधु, तथा ३ दक्षिणी ळ का प्रयोग जिसके उदाहरण कुछ ही पहले उद्धृत किए जा चुके हैं।

इस लेख का अभिप्राय केवल प्रारभिक गुप्त शासक समुद्रगुप्त की कीर्ति, विजयो और वश का वर्णन करना है तथा यह किसी सम्प्रदाय विशेष से सबधित नही है। यह तिथि रहित है किन्तु चू कि यह समुद्रगुप्त का मृत के रूप मे उल्लेख करता है अतएव यह उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय का है तथा इसका अकन उसके सिहासनारोहण के शीघ्र बाद हुआ होगा। इसका प्रमुख महत्व इस बात मे निहित है कि समुद्रगुप्त के विजयो के प्रसग मे यह लगभग चौथी शताब्दी के मध्य मे भारत के विभिन्न विभाजनो, गणो और शासको के विषय मे भरपूर सूचनाए प्रदान करता है किन्तु यह एक ऐसा विषय है जिस पर इतिहास-संबधी अध्यायों में अधिक विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है, जो कि इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग की वस्तु-सामग्री है।

समुद्रगुप्त के सबध मे पक्ति १४ मे पुष्पपुर नामक नगर का उल्लेख हुआ है, इसकी चर्चा जिस रूप मे हुई है उससे यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि यह उसकी राजधानी थी। पुष्पपुर, पुष्पपुरी और कुसुमपुर, जिन सभी का शाब्दिक अर्थ "पुष्पो का नगर होता हैं, ये सभी पाटलिपुत्र के नाम है और इसका प्रतिनिधित्व बिहार प्रान्त मे गगा के तट पर बसे आधुनिक पटना द्वारा होता है। पाटलिपुत्र का मूल नगर गगा नदी के दक्षिणि तट की ओर उस स्थान पर बसा हुआ था जहां सोण

नदी इसमे मिलती थी। कुसुमपर नाम की प्राचीनता ह्वेन साग[1] द्वारा प्रमाणित होती है, जो कि इसका उल्लेख दोनो नामो से करता है —कु-सु-मो-पु-लो अथवा केउ-सु-मो-पु-लो जिसे वह चीनी शब्द ह्वा-कोग अथवा ह्वा-कु ग (='पुष्प-प्रासाद") तथा हिअग-हु-कोग शिग (="सुवासित पुष्प का नगर अथवा राजप्रासाद") से व्याख्यायित करता है, तथा पो-छा-लि-त्सु छिग (="पाटलीपुत्र नगर")। उसके अनुसार इन दोनो नामो मे कुसुमपुर प्राचीनतर है। और यद्यपि इसके समर्थन में मेरे पास प्रस्तुत अवतरण के अतिरिक्त अन्य कोई प्राचीन साक्ष्य नही है, किन्तु इसमे अविश्वास का कोई कारण नही दिखाई पडता कि इस नगर के लिए पुष्पपुर पर्याय प्राचीन काल मे उतना ही अधिक प्रयोग मे था जितना कि उस समय जब कि दशकुमारचरित तथा अन्य वे पुस्तकें, जिनमे कि यह पर्याय तथा पुष्पपुरी नाम मिलता है, लिखी गई थी। इस प्रकार, यह अवतरण पाटलिपुत्र को समुद्रगुप्त की राजधानी निर्धारित करने मे एक प्रामाणिक आधार बन सकता है। इसके साथ ही, इस समस्या का समाधान खोजते समय मैं इन तथ्यो की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हू १ स्कन्दगुप्त के समय से पूर्व का इस वश का कोई अभिलेख पाटलिपत्र के किसी निकटवर्ती प्रदेश से नही मिलता[2]। २ यद्यपि चन्द्रगुप्त के दो अभिलेखो मे[3] पाटलिपुत्र का उल्लेख उसके इसी काम द्वारा हुआ है किन्तु किसी एक मे भी पाटलिपुत्र को उसकी राजधानी नही कहा गया है। तथा ३ ह्वेनसाग[4] ने पाटलिपुत्र से अत्यन्त दूर स्थित एक अन्य प्राचीन कुसुमपुर का उल्लेख किया है जिसके लिए भी पुष्पपुर का पर्याय समानरूपेण स्वीकार्य होगा। उसके विवरण से हमे ज्ञात होता है कि प्राचीन राजधानी कन्याकुब्ज अथवा कन्नौज को प्रारभ मे कुसुमपुर कहा जाता था। और, यद्यपि वह इस विषय पर पूर्ण स्पष्टता के साथ कुछ नही कहता, तथापि, जिस प्रकार उसने इस बात का वर्णन किया है कि कैसे इस नगर का नाम कान्याकुब्ज पडा, उससे ऐसा जान पडता है कि कुसुमपर के प्राचीन नाम से वही स्थान अभिप्रेत है जो उसके समय मे कन्याकुब्ज नाम से प्रसिद्ध था। इस स्थान पर अथवा इसके निकटवर्ती किसी स्थान पर राजधानी का होना उन सभी स्थानो के पर्याप्त अनुरूप बैठता है जहा से इस वश के अपेक्षाकृत प्राचीन अभिलेख पाए गए हैं, इससे इस तथ्यविशेष का भी स्पष्टीकरण होता है कि समुद्रगुप्त—जिसके अन्तर्गत इस वश की शक्ति परिपक्वता को प्राप्त हुई तथा विस्तृत भूभाग पर प्रतिष्ठित हुई—की विजयो के उल्लेख से युक्त स्तम्भ के लिए इलाहाबाद अथवा कौशाम्बी का स्थान क्यो चुना गया। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि पुष्पपुर का उल्लेख करने वाले श्लोक का अन्तिम पाद अत्यन्त अपठनीय है, स्पष्टत, इसमे किसी नदी का उल्लेख था जिससे सभवत यह बात काफी स्पष्ट हो जाती। वर्तमान स्थिति मे हमे उसी श्लोक मे उल्लिखित कोट नामक कुल, गण अथवा राजवश के समीकार मे इस प्रश्न के सूत्र की अपेक्षा करनी चाहिए। किन्तु इस नाम के लिए मुझे अभी तक कोई अन्य उद्धरण नही मिल सका।

---

१ बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, जि० २, पृ० ८३ इ०।

२ मैं यहाँ जानबूझ कर समुद्रगुप्त के जाली गया दानलेख (नीचे, स० ६०, प्रतिचित्र ३७) को इनसे अलग रखता हू।

३ उदयगिरि गुहाभिलेख (नीचे स० ६, प्रतिचित्र ४ क, प० ४), तथा ८८ वर्ष की तिथियुक्त गढवा अभिलेख (स० ७, प्रतिचित्र ४ ख, प० १२)।

४ बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, जि० १, पृ० २०७।

मूल[1]

१ [य][2] कुल्यै स्वै · तस

२ य (?) स्य(?)

[॥*] (१)

३ पु (?) व्
अ

४ स्फा (?) रद्व (?) क्ष स्फुटोद्ध्व [ ] सित
प्रवितत [॥*] (२)

५ यस्य[3] प्रज्ञानुषङ्गोचितसुखमनस शास्त्रतत्वार्थभर्त्तुः [— —] स्तब्धो [⏑———⏑]नि [⏑⏑
⏑——] नोच्छ [———⏑——]

६ [म] त्काव्यश्रीविरोधान्बुधगुणितगुणाज्ञाहतानेव कृत्वा [f] वद्वल्लोके वि (——) स्फुतवहु-
कविताकीर्त्तिराज्य भुनक्ति [।।*] ३

७ [आ] र्य्यो[4] हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्ण्णितै रोमभि सम्येच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननो-
द्वीक्षि [त]

८ स्न (`) हव्यालुलितेन वाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुणा य पित्राभिहितो नि [र] ी क्ष [य]
निखि [ला पाह्ये व] म [॒] वृ [व] ी मिति [।।*] ४

९ [दृ] ष्ट्वा[5] कर्म्माण्यनेकान्यमनुजसहशान्यद्भुतोद्भिन्न हर्षा भ[ा*]वैरास्वादय (—⏑⏑⏑⏑
⏑⏑——⏑———⏑) [के] चित्

१० वीर्य्योत्तप्ताश्च केचिच्छरणमुपगता यस्य वृत्ते प्रणामेप्यर्त्त [त्] ` (?)
(——————⏑⏑⏑———⏑———) [॥*] [५]

११ सग्रामेषु[6] स्वभुजविजिता नित्यमुच्चापकारा श्व श्वो मानप्र [⏑⏑⏑⏑——⏑———⏑——]

१२ तोषोतुङ्गै स्फुटवहुरसस्नेहफुल्लैर्म्मनोभि पश्चात्ताप व [⏑⏑⏑⏑———] म [(?)]
स्य[ा]द्वस(?)न्त[मृ(?)] [॥*] [६]

१३ उद्वेलोदित[7]वाहुवीर्य्यरभसादेकेन येन क्षणादुन्मूल्याच्युतनागसेनग् [⏑⏑———⏑———⏑——[

१४ दण्डैर्ग्राहयतैव कोटकुलज पुष्पाह्वये क्रीडता सूर्य्ये ने [⏑⏑—⏑—] तट [⏑———⏑—
———] [॥*] [७]

---

१ मूल स्तम्भ से ।

२ प्रथम दो श्लोकों को अन्तर्निहित करने वाली प्रथम चार पंक्तिया लगभग पूर्णतया नष्ट हो चुकी हैं, तथा उनके बचे हुए कुछ शब्द छन्द निर्धारण के लिए पर्याप्त नहीं है ।

३ छन्द, स्रग्धरा ।

४ छन्द, शार्दूल विक्रीडित ।

५ छन्द, स्रग्धरा ।

६ छन्द, मन्दाक्रान्ता ।

७ छन्द, शार्दूलविक्रीडित ।

१५ धर्म्म[1]प्राचीरबन्ध शशिकरशुचयः कीर्त्तय सप्रताना वैदुष्य तत्त्वभेदि प्रशम [⏑⏑⏑], कु [—] य् क [⏑] मु (?) द् [—⏑] तार्थम् (?)

१६ अद्ध्येय सूक्तमार्ग्ग कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्य को नु स्याद्योस्य न स्याद्गुणमति [f]-वदुषा ध्यानपात्र य एक ॥ ८

१७ तस्य विविधसमरशतावतरणदक्षस्य स्वभुजबलपराक्कमैकबन्धो. पराक्क्रमाङ्कस्य परशुशरशकु शक्तिप्रासासितोमर—

१८ भिन्दिपालन[ा]राचवैतस्तिकाद्यनेकप्रहरणविरूढाकुलव्रणशताकशोभासमुदयोपचितकान्ततर-वष्र्म्मण

१९ कौसलकमहेन्द्र माह [ा*] कान्तारकव्याघ्रराजकौराळक[2]मण्टराजपैष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकोट्टूरक-स्वामिदत्त[3]रेण्डपल्लकदमनकाचेयकविष्णुगोपावमुक्तक—

२० नीलराजवैङ्गेयकहस्तिवर्म्मपालक्कोग्रसेनदेवराष्ट्रककुबेरकौस्थलपुरकधनञ्जयप्रभृतिसर्व्वदक्षिणा-पथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमाहाभाग्यस्य

---

१ छन्द, स्रग्धरा।

२ इसे कैरळक पढ़ना चाहिए, मूल मे इसके लिए प्रयुक्त रूप स्पष्टरूपेण अशुद्ध है। मूल मे लिखित शब्द का अर्थ होगा—"कुराळ का देश अथवा नगर"; किन्तु यद्यपि कुराळ का अर्थ "काले पैरो वाला हल्के लाल रग का घोडा" होता है, तथापि यह किसी देश अथवा नगर के नाम के रूप मे सर्वथा अज्ञात है। इसके विपरीत केरल दक्षिण भारत के प्रदेशो मे इतना सुविख्यात है कि वर्तमान अवतरण के सदृश अवतरण मे इसका अनुल्लेख आश्चर्यजनक होगा, और, यह अनायास ही देखा जा सकता है कि कैसे तक्षणकार ने—अथवा सभव है उस लेखक ने जिसके पाण्डुलेख से उसने नकल किया था—कै मे क की दाहिनी ओर एक लकीर लगा कर तथा र की दाहिनी ओर एक ओर एक लकीर लगा कर, गलती से कैरळक का कौराळक बना दिया।

३ इस अवतरण का निरूपण कठिन है। सबसे पहले, पिष्टपुर नगर—जो आधुनिक पिट्ठापुरम् (इण्डियन एटलस, पत्रफलक स० ९४, का Pittapooram, अक्षाश १७°६' तथा देशान्तर ८२°१८' है) है, पिट्ठापुरम् मद्रास प्रेसीडेन्सी के गोदावरी जिले मे 'कोकनद' नामक स्थान से बारह मील उत्तर-पूर्व मे स्थित पित्तापुरम् जमीन्दारी का प्रमुख नगर है—के तुरन्त बाद आने वाले अक्षर, महेन्द्रगिरि, तत्क्षण पूर्वी घाट प्रदेश के गजम जिले मे स्थित महेन्द्र पर्वत की याद दिलाते हैं (मानचित्रो का Mahendragiri, इण्डियन एटलस, पत्र-फलक स० १०८, अक्षाश १८°५८' उत्तर, देशान्तर ८४°२६' पूर्व) जिसका अन्य प्राचीन अभिलेखो मे भी उल्लेख हुआ है, उदाहरणार्थ, महाराज इन्द्रवर्मन् के दो 'चिकाकोल' दानलेखो की क्रमश पक्ति १ तथा ३ मे महेन्द्राचल के रूप मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १३, पृ० १२०, २३)। और यह हमे अवतरण को इस प्रकार विभाजित करने तथा अनुदित करने को प्रेरित करता है पैष्टपुरक-महेन्द्रगिरिकौट्टूरक-स्वामिदत्त-पिष्टपुर का तथा 'महेन्द्रगिरि पर स्थित कोट्टूर का स्वामिदत्त।' एक अन्य निरूपण जो विचार मे आता है वह है "पिष्टपुर, महेन्द्रगिरि तथा कोट्टूर का स्वामिदत्त", कोट्टूर को कुट्टूर मानने की गलती को छोड कर, डा० भाऊदाजी ने उपरोक्त निरूपण को ही स्वीकार किया है (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ९, पृ० १९८)। किन्तु यह स्वीकार्य नही है क्योंकि इसके लिए मूल मे महेन्द्र-गिरि के स्थान पर महेन्द्रगिरिक की अपेक्षा होगी। यद्यपि मूल के वर्तमान स्वरूप मे भी इस अतिम क के लिए स्थान है किन्तु उस स्थिति मे आगामी शब्द को कोट्टूर—जो बहुधा उल्लिखित द्रविड भाषा का नाम है—के स्थान पर ओट्टूर (जिसके लिए मुझे कोई साक्ष्य नही मिलता) अथवा (यदि यहाँ आरंभिक ह ध्वनि

२१ रुद्रदेवमतिलनागदत्तचन्द्रवर्म्मगणपतिनागनागसेनाच्युतनन्दिवलवर्म्माद्यनेकार्य्यावर्त्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहत परिचारकीकृतसर्व्वाटविकराजस्य

२२ समतटडवाककामरूपनेपालकर्त्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपतिभिर्म्मालवार्जुनायनयौधेयमाद्रकाभीरप्रार्जुनसनकानीक[1]काकखरपरिकादिभिश्च सर्व्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमन—

२३ परितोषितप्रचण्डशासनस्य अनेकभ्रष्टराज्योत्सन्नराजवशप्रतिष्ठापनोद्भूतनिखिलभ [ुव] नविचरणशान्तयशस दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डै सैंहलकादिभिश्च

२४ सर्व्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्ति शासन [य्] ाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्य्यप्रसरधरणिवन्धस्य प्रि (पृ) थिव्यामप्रतिरथस्य

२५ सुचरितशतालङ्कृतानेकगुणगणोत्सिक्तिभिश्चरणतलप्रमृष्टान्यनरपतिकीर्त्ते साद्ध्वसाधूदयप्रलयहेतुपुरुषस्याचिन्त्यस्य भक्त्यवनतिमात्रग्राह्यमृदुहृदयस्यानुकम्पावतोऽनेकगोशतसहस्रप्रदायिन[2]

२६ कृपणदीनानाथातुरजनोद्धरणस(म)न्त्रदीक्षाद्युपगतमनस समिद्धस्य विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य घनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य स्वभुजवलविजितानेकनरपतिविभवप्रत्यर्प्पणानित्यव्यापृतायुक्तपुरुपस्य

का विलोपन मान लिया जाय) होट्ट्र पढना होगा (जिसका उल्लेख मिलता है, किन्तु किसी महत्त्वपूर्ण स्थान के मबध मे नहीं) । यदि महेन्द्रगिरि को एक शब्द माना जाय तथा इससे किसी पर्वत का निर्देश समझा जाय तो ऊपर मैंने जो अर्थ दिया है, वह सर्वाधिक ग्राह्य होगा । और इसका इस तथ्य से समथन होता है कि कोट्टूर उसी पवत-माला मे पडता है जिसमे महेन्द्रगिरि स्थिति है—अर्थात् मानचित्र का Kailaskotta तथा Kylaseottah (इण्डियन एटलस, पत्र-फलक स० १०७, अक्षांश १९°१८' तथा देशान्तर ८३°३९' पूव), जो कि कैलास-कोट्ट अथवा कैलास-कोट्टूर का प्रतिनिधित्व करता है तथा एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रतीत होता है । किन्तु, इसके विरुद्ध यह आपत्ति उपस्थित होती है कि अभिलेख मे उल्लिखित अन्य शासकों के नामो मे किसी भी नाम के साथ एक से अधिक भूप्रदेश को नहीं सबद्ध किया गया है । परिणाम-स्वरूप, स्वामिदत्त को केवल कोट्टूर के साथ सबधित किया जाएगा तथा पिष्टपुर के लिए किसी अन्य शासक का नाम ढूढना होगा । इस स्थिति मे, जो सबसे पहला विचार मस्तिष्क मे आएगा वह मूल को इस प्रकार विभाजित तथा अनुदित करना होगा पैष्टपुरक–महेन्द्रगिरि-कौट्टूरक–स्वामिदत्त-"पिष्टपुरक का महेन्द्रगिरि तथा कोट्टूर का स्वामिदत्त ।" किन्तु यद्यपि आजकल गिरि अथवा गिर में नामान्त पर्याप्त प्रचलित है, किन्तु मेरा अनुभव है कि यह एक साम्प्रदायिक उपाधि मात्र है तथा केवल गोसावीं लोगों मे प्रचलित है, उनमे भी यह केवल एक उपभाग, दशनामी-गोसावियो, मे हो प्रयुक्त होता है (द्र० एच० एच० विलसन्स वर्क्स, राम्ट का सस्करण, जि० १, पृ० २०२, मोल्सवथ के मराठी शब्दकोश मे गिर शब्द, तथा मोनियर विलियम के सस्कृत शब्दकोश मे गिरि शब्द) । अतएव मेरे विचार से, किसी सदृश उदाहरण के अभाव मे इसे किसी राजा के नाम के रूप मे ग्रहण करना सम्भवत, ठीक नही होगा । तदनुसार, मैं इस अवतरण को इस प्रकार विभाजित एव अनूदित करूंगा पैष्टपुरक-महेन्द्रगिरिकौट्टूरक-स्वामिदत्त—"पिष्टपुर का महेन्द्र तथा पवताश्रयी कोट्टूर का स्वामिदत्त ।" और, इस गिरि-कोट्टूर, अथवा 'पर्वताश्रयी कोट्टूर' को या तो उपरोक्त कैलासकोट में ढूढना चाहिए अथवा-चूकि कोट्टूर (कोट्टपुर से) द्रविड भाषा मे अत्यन्त प्रचलित नाम है—इसे दक्षिणी भारत के पर्वतीय प्रदेश मे स्थित किसी महत्त्वपूण कोट्टूर नाम वाले स्थान मे ढूढा जा सकता है । उदाहरणार्थ, 'कोएम्बटूर' जिले मे 'अन्नमलाई' पहाडियों की एक दरी की तलहटी मे स्थित कोट्टूर (इण्डियन एटलस, पत्र-फलक स० ६१ अथवा ६२, अक्षांश १०°३०' उत्तर, देशान्तर ७७°२' पूर्व) ।

१ ८२ वर्ष की तिथियुक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि गुहाभिलेख (नीचे स० ३, प्रतिचित्र २ ख) मे यह नाम अपने चौथे अक्षर में ह्रस्व इ सूचक मात्रा (नि) के साथ आता है ।

२ उत्कीर्णक द्वारा ऊपरी विन्दु छूट जाने के कारण यह विसर्ग पूर्ण नहीं है ।

२७ निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बरुनारदेर्विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रि—
याभि प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य सुचिरस्तोतव्यानेकाद्भूतोदारचरितस्य

२८ लोकसमयक्रियानुविधानमात्रमानुषस्य लोकधाम्नो देवस्य महाराजश्रीगुप्त[1]प्रपौत्रस्य महाराज-
श्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य

---

१ श्री वी० ए० स्मिथ (जर्नल आफ द बंगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ५३, भाग १, पृ० ११९, तथा टिप्पणी) ने यह प्रस्तावित किया है कि यह नाम, जैसा कि सामान्यतया माना जाता है, केवल गुप्त नहीं है अपितु श्रीगुप्त है, उन्होंने सदैव नाम के इसी रूप का प्रयोग किया है। अर्थात् उनके अनुसार श्री नाम का अभिन्न भाग है, केवल आदरसूचक उपपद नही। इस मत के समर्थन मे उनके तर्क ये हैं १ भूतकालिक कृदन्त 'गुप्त'-अर्थात् 'रक्षित'—सर्वथा अकेले व्यक्तिवाचक सज्ञा नही हो सकता जबकि 'श्रीगुप्त'—अर्थात् 'लक्ष्मी द्वारा रक्षित'—एक पूर्ण नाम होगा तथा जिसका एक उपयुक्त अर्थ होगा, तथा, २ चीनी यात्री इ-त्सिग ने (भारत मे ६७३ ई० से लेकर ६९३ ई० तक) श्रीगुप्त नामक एक महाराज का उल्लेख किया है जो उससे पांच सौ वर्ष पूर्व हुआ था (जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S जि० १३, पृ० ५७१, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १० पृ० ११०) और जिसका समीकार कुछ लोगो ने गुप्त वश के सस्थापक के साथ किया है। उपरोक्त उद्धृत दृष्टान्त के अतिरिक्त श्री गुप्त नाम बुद्ध के एक उत्पीडक के नाम के रूप मे (बील, बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, जि० २, पृ० १५१ इ०), एक जैन साधु के नाम के रूप में इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० २५२) तथा एक व्यापारी के नाम के रूप मे (नेपाल इन्सक्रिप्शन, स० १३ पक्ति, १२, वही, जि० ९, पृ० १७६) प्राप्त होता है। किन्तु, वर्तमान अवतरण के प्रसग मे मुझे यह कहना है १ चूकि अब यह निश्चित है कि प्रारभिक गुप्तों द्वारा प्रयुक्त सवत् का प्रारभ ईसवी सन् ३१९-२० मे हुआ था, अत इ-त्सिग द्वारा उल्लिखित तथा ईसवी सन् १७५ मे रखे जाने वाले महाराज श्रीगुप्त को चौथी शताब्दी ई० मे निवास करने वाले प्रारभिक-गुप्त-वश के सस्थापक से नहीं समीकृत किया जा सकता, २, बौद्ध साधु उपगुप्त का सुविख्यात नाम (उदाहरणार्थ, बील, बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, जि० १, पृ० १८२, जि० २, पृ० ८८, ९३, २७३) ऐसा ही एक दृष्टान्त है जिसमे भूतकालिक कृदन्त—जिसका शाब्दिक अर्थ है 'सगुप्त' अथवा 'छिपा हुआ'—ही व्यक्तिवाचक सज्ञा है और इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण हम मव्ववर्मन् के असीरगढ-मुद्रालेख (नीचे, स० ४७, प्रतिचित्र ३० क) की पक्ति ५ में उद्धृत इस शब्द के स्त्रीलिंग-सूचक उपगुप्ता नाम मे पाते हैं, ३ यदि श्री किसी महत्वपूर्ण नाम का अभिन्न अग होता था, उस स्थिति मे इस तथ्यविशेष पर बल देने एव किसी प्रकार का सदेह शेष न रहने देने के उद्देश्य से इसके पहले सदैव आदरसूचक उपपद श्री रखा जाता था . तदनुसार, जीवितगुप्त द्वितीय के देव-बरणार्क अभिलेख (नीचे, स० ४६, प्रतिचित्र २९) की पक्ति २ मे महादेव्या श्रीश्रीमत्यामुत्पन्न – 'महादेवी ऐश्वर्यसम्पन्ना श्रीमती ने जिसे जन्म दिया", विक्रम सवत् ११०० मे तिथ्यकित बयाना अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० १०) की पक्ति ६ में उद्धृत श्लोक मे श्रीश्रीपथायां पुरि- "श्रीपथा के प्रसिद्ध नगर मे", तथा विक्रम सवत् १५०३ मे तिथ्यकित बयाना अभिलेख (वही, जि० १५ पृ० २३२) मे गद्यरूप मे लिखित श्रीश्रीपथाया—"प्रसिद्ध श्रीपथ में।" इन उदाहरणों की समवृत्तिता के आधार पर वतमान प्रसग मे भी महाराजश्रीश्रीगुप्तप्रपौत्रस्य इस पाठ की अपेक्षा होगी किन्तु यह प्रारभिक गुप्त अभिलेखो मे एक बार भी नहीं आता। तथा, ४ दूसरी पीढ़ी के घटोत्कच के नाम मे गुप्त शब्द का सर्वथा अभाव है, हम उसके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम एव उसके उत्तराधिकारियो के प्रसग में ही यह पाते हैं कि यह एक अपेक्षाकृत और बडे नाम का एक अनिवार्यत प्रयुक्त अभिन्न अगमात्र है। अतएव, इस नाम को केवल गुप्त पढने के विरोध मे कोई आपत्ति नहीं दिखाई पडती, अपितु सभी ज्ञात तथ्य उसके पक्ष मे हैं। किन्तु, इस बात की सभावना शेष रहती है कि यह श्रीगुप्त के अतिरिक्त किसी अन्य बडे नाम का सक्षिप्त

२९ लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्या कुमारदेव्यामुत्प(त्प)न्नस्य महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्य सर्व्व-पृथिवीविजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितला कीर्त्तिमितस्त्रिदशपति—

३० भवनगमनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रित स्तम्भ [।*] यस्य[१] । प्रदानभुजविक्रमप्रशमशास्त्रवाक्योदयैरुपर्युपरिसञ्चयोच्छ्रितमनेकमार्गं यश

३१ पुनाति भुवनत्रय पशुपतेर्ज्जटान्तर्गतगुहानिरोधपरिमोक्षशीघ्रमिव पाण्डु गाङ्ग प[य] [।।] एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारकपादाना दासस्य समीपपरिसर्प्पणानुग्रहोन्मीलितमते

रूप हो । और इस प्रसग मे मैं डा० ब्यूलर का एक टिप्पण प्रस्तुत करूगा जो कृपा करके उन्होंने मुझे दिया है "मेरे विचार स इस वश के सस्थापक का नाम 'गुप्त' था, श्रिया गुप्त ('देवी लक्ष्मी द्वारा रक्षित") के अथ में श्री गुप्त नही । 'रक्षित' नाम ब्राह्मणो और बौद्धो दोनों मे अत्यन्त प्रचलित नाम है और इसका समान अर्थ होता है । 'दत्त', 'गुप्त, 'रक्षित' इत्यादि नामो का उद्भव (इनमे प्रथम दो आधुनिक काल मे बगाल के अत्यन्त प्रचलित उपनाम हैं), मेरे विचार से, हिन्दुओं की नाम केवल प्रथम भाग अथवा द्वितीय भाग देकर नाम का छोटा बनाने की प्रवृत्ति मे ढूढना चाहिए । नाम का प्रथम भागमात्र व्यवहृत करके नाम के सक्षेपन का उल्लेख पाणिनि, ७, ३, ४५ पर कात्यायन के वार्त्तिक मे हुआ है, जहाँ उन्होने कहा है कि सयुक्त शब्द के द्वितीय भाग के छोड दिए जाने पर, स्त्रीलिंग सूचक आ प्रत्यय के पूर्व का अ अपरिवर्तित रहता है, उदाहरण के लिए देवदत्तक का स्त्रीलिंग-सूचक रूप देवदत्तिका होगा, किन्तु देवदत्तक के स्थान पर देवक रूप ग्रहण करने पर उसका स्त्रीलिंग-सूचक रूप देवका होगा, देविका नही । द्वितीय भाग के व्यवहार द्वारा शब्द का सक्षेपन भी अत्यन्त सामान्य है, उदाहरण के लिए, मृगनाभि (=कस्तूरी) के लिए नाभि, हरिताल (= एक वृक्षविशेष) के लिए ताल, श्लेवाली, (=गलिहान का स्तभ) के लिए वाली, तथा सत्यभामा (=एक व्यक्तिवाचक सज्ञा) के लिए भामा शब्द का उपयोग । उपरोक्त तथ्यो से यह प्रतीत होता है कि दत्त, गुप्त इत्यादि अपेक्षाकृत बडे नामों के सक्षिप्त रूप हैं ।" व्यक्तिवाचक नाम के प्रथम भाग के विलोपन का एकमात्र दृष्टान्त जो मै उद्धृत कर सकता हू, वह कुमारगुप्त के बिलसड अभिलेख (नीचे स० १०, प्रतिचित्र ५) की पक्ति ११ म प्रशमन के लिए 'शमन्' का प्रयोग । किन्तु, नाम के द्वितीय भाग के विलोपन के दृष्टान्त भारी मात्रा मे मिलते हैं । तदनुसार, समुद्रगुप्त की कुछ सुवर्ण मुद्राओ पर केवल समुद्र (उदाहरणाय, जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ५३, भाग १, प्रतिचित्र २, स० ३, ४, ५ तथा पृ० १७३) तथा उसी शृखला से सबद्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा कुमारगुप्त की कुछ सुवर्ण मुद्राओं पर केवल चन्द्र तथा कुमार लिखा हुआ मिलता है, अन्तिम दो शासको की पूर्ण उपाधियों 'विक्रमादित्य' तथा 'महेन्द्रादित्य के लिए विक्रम तथा महेन्द्र सक्षेपनो के प्रयोग का उदाहरण कुछ तो उपरोक्त शृखला से सबद्ध मुद्राओ मे दीख पडता है और कुछ कुमारगुप्त की रजत मुद्राओं में दिखाई पडता है (इण्डियन, ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ६६) इसी प्रकार, बराबर तथा नागार्जुनी पहाडियों से प्राप्त अभि-लेखों (नीचे, स० ४८, प्रतिचित्र ३०अ पक्तियाँ १, ४, ५ तथा स० ४९, प्रतिचित्र ३१क, प० १ तथा ८) मे शार्दूलवमन् तथा अनन्तवमन् के लिए शार्दूल तथा अनन्त का, हल्मी लेखों मे से एक (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० २८, प० ३, ४) मे काकुस्थवमन् तथा मृगेशवमन् के लिए काकुस्थ तथा मृगेश का, विक्रमादित्य पचम् के कौथें दानलेख मे (वही, जि० १६, पृ० २२, प० २६) कनौज के हर्षवर्धन के लिए हर्ष का, नरेगल अभिलेखो में से एक मे (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ११, पृ० २२६, प० २४) पश्चिमी चालुक्य शासक विक्रमादित्य षष्ठ के लिए विक्रम का, तथा महीपाल के ग्वालियर अभिलेख मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० १५, पृ० ३६६०, प० १, ६, २२, ५८) पद्मपाल तथा सूर्यपाल के लिए पद्म तथा सूर्य का प्रयोग द्रष्टव्य है ।

१. यह विरामचिन्ह अनावश्यक है ।

३२ खाद्यतपाकिकस्य महादण्डनायकध्रुवभूतिपुत्रस्य सन्धिविग्रहिककुमारामात्यम [हादण्डनाय] कहरि-
षेणस्य सर्व्वभूतहितसुखायास्तु । (॥)
३३ अनुष्ठितं च परमभट्टारकपादानुध्यातेन महादण्डनायकतिलभट्टकेन । (॥)

अनुवाद

(पंक्ति २९)—पृथिवी की एक भुजा के समान[1] यह ऊँचा स्तम्भ महाराजाधिराज[2] श्री[3]

---

१ उच्छ्रत का एक अन्य अर्थ करते हुए हम इसका यह अनुवाद कर सकते हैं "यह स्तम्भ खड़ा किया गया है मानो यह पृथ्वी की एक भुजा हो" इत्यादि । किन्तु, तब यह मानना होगा कि स्तम्भ गिर गया था तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मे इसे पुन खडा किया गया, और उस स्थिति मे उच्छ्रत के स्थान पर स्थापित शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त होता, तथा यह शब्द स्तम्भ के पहले न होकर बाद मे होता । किन्तु, सबसे उपयुक्त यह प्रतीत होता है कि ऐसा अनुवाद ग्रहण किया जाए जिससे हम किसी ओर बधे नहीं । प्रिंसेप ने इसे सिद्ध सा मान लिया कि स्तम्भ गिर गया था तथा इसे, विशेष रूपेण वर्तमान अभिलेख के प्रदर्शन के उद्देश्य से, फिर खडा किया गया । इस मत के पक्ष मे उनका आधार (जर्नल आफ द बंगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ६, पृ० ९६७ इ०) यह है कि इस पर बहुत से ऐसे नाम उत्कीर्णित हैं जिनमे अक्षरो के ऐसे प्रकार का व्यवहार हुआ है जिसका समय, उनके विचारानुसार, अशोककालीन अभिलेखो तथा गुप्त अभिलेखो के बीच मे पडेगा, और उनमे कम से कम एक नाम ऐसा है जिसका स्तम्भ के खडा रहते हुए उत्कीर्णन असभव नही तो अत्यन्त असुविधाजनक अवश्य रहा होगा । किन्तु यह नामविशेष—तथा इसके साथ उनके द्वारा बताए गए अन्य नाम भी—ऐसे अक्षरो मे है जिनका समय निश्चित रूप से गुप्त अभिलेख के बाद का है और कोई भी नाम ऐसे अक्षरो मे नहीं है जो इस अभिलेख के पूर्व के समय मे पडते हो ।

२ महाराजाधिराज, शाब्दिक अर्थ . 'महाराजाओ का अधीश्वर', (द्र०, नीचे महाराज शब्द पर की गई टिप्पणी) सर्वोपरि प्रभुसत्ता सूचक उपाधियो मे एक है, तथा यह एकमात्र ऐसा पद है जो सही अर्थो मे और पूर्णरूपेण राजत्व की हमारी धारणा के अनुरूप है । मैंने इस तथा अन्य पारिभाषिक उपाधियो और शब्दो को बिना अनूदित किए उनके मौलिक रूप मे रखा है क्योकि यह उनका अंग्रेजी अनुवाद करने की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है इन शब्दो के अनुवाद अनुवादको के भिन्न भिन्न दृष्टिकोणो के अनुसार परस्पर भिन्न होंगे और वे कभी भी मूल उपाधियो का सर्वथा शुद्ध और समानार्थी समरूप नहीं दे सकते । अपेक्षाकृत परवर्ती काल मे महाराजाधिराज की वर्तमान उपाधि दो अन्य उपाधियो-परमेश्वर 'सर्वोच्च स्वामी' तथा परम-भट्टारक 'सर्वाधिक पूजनीय'—के साथ सलग्न हो कर व्यवहृत होती है, उदाहरणार्थ, शीलादित्य सप्तम के अलीन दानलेख (नीचे, स० ३९, प्रतिचित्र २५) की प० ५० इ० मे । तथा इन तीनो उपाधियो का पारस्परिक सबध इस प्रकार नियत था कि विक्रम सवत् १२९७ मे तिथ्यकित त्रैलोक्यमल्ल के (अप्रकाशित) रीवा दानलेख मे इन तीनो उपाधियो को पूर्ण रूप मे देना अनावश्यक समझा गया है तथा उसका केवल यह विवरण पर्याप्त समझा गया है परमभट्टारकेत्यादि-राजावलित्रयोपेत—"परमभट्टारक से प्रारम्भ होने वाली राजकीय उपाधियो (शाब्दिक अर्थ—क्रम-परम्परा) से अधिष्ठित ।" इस शृखला में आने वाली सर्वोपरि-प्रभुसत्ता-सूचक अन्य उपाधिया राजाधिराज और चक्रवर्तिन् हैं ।

३ श्री = 'ऐश्वर्य, महिमा, विभूति', तथा श्रीमत् = 'ऐश्वर्य, महिमा तथा विभूति से अधिष्ठित' ऐसे शब्द हैं जो व्यक्तियो, देवताओ तथा स्थानो इत्यादि नामों के पूर्व, आदरसूचक उपपदो के रूप मे, निरन्तर व्यवहृत होते हैं । मैंने इन शब्दो का अनुवाद प्रभुतासम्पन्न शासको तथा उनकी पत्नियो के प्रसग में 'कीर्तिमान् अथवा कीर्तिमती' (glorious) से, सामन्तो तथा अन्य सामान्य व्यक्तियो के प्रसग में 'सुविदित' (illustrious) से, पुरोहितो तथा आचार्यो इत्यादि के प्रसग मे 'पुण्यशील' (saintly) से, तथा नारी इत्यादि के प्रसग मे

समुद्रगुप्त का मरणोपरान्त लिखित इलाहाबाद स्तम्भ-लेख
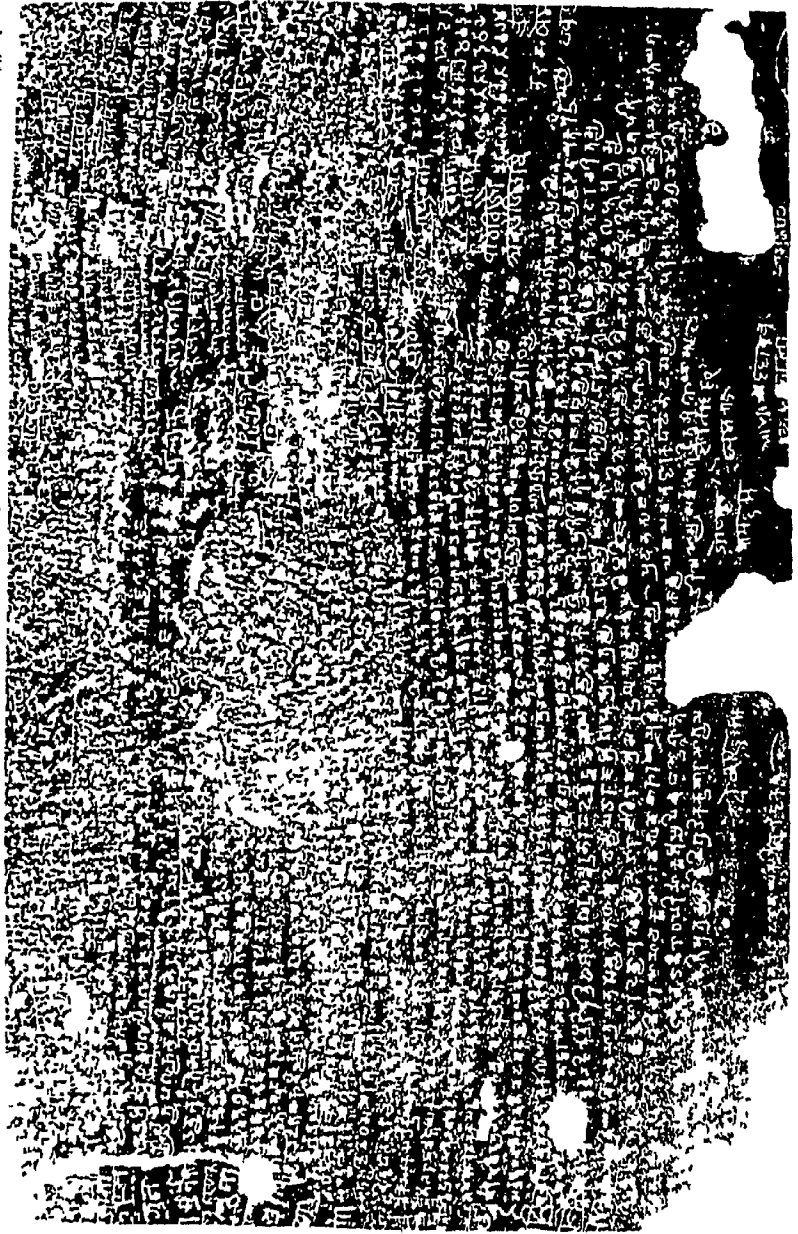
समुद्रगुप्त[1] के यश—जो, (उनके) सम्पूर्ण पृथ्वी विजय से उत्पन्न उदय के साथ सम्पूर्ण पृथ्वी तल पर परिव्याप्त होकर, यहा से (दिवगत हो चुका है), तथा, (अब), (उनके) देवताओ के अधीश्वर (इन्द्र)

'प्रसिद्ध' से किया है। सामान्य नियम यह जान पडता है कि व्यजन के पूर्व श्री का तथा स्वर के पूर्व श्रीमत् का प्रयोग किया जाता था, तदनुसार राजा तीवरदेव के राजिम दानलेख (नीचे, स० ८१, प्रतिचित्र ४५, प० १६इ०) में श्रीमदिन्द्रबलसूनोर् श्रीनन्नदेवस्य तनयप्राप्त श्रीमहाशिवतीवरराज द्रष्टव्य है। किन्तु इस नियम के अतिक्रम भी मिलते है, उदाहरणार्थ, शापर मूर्ति अभिलेख (नीचे स० ४३, प्रतिचित्र २६क, प० २इ०) में बिना सधि का प्रयोग किए हुए श्रीआदित्यसेन देव का, जीवित गुप्त द्वितीय के देव-वरणार्क अभिलेख (नीचे, स० ४६, प्रतिचित्र २६ख, प० २इ०तथा ४ इ)में श्रीआदित्यसेनदेवस् एव श्रीइज्जा-देव्याम् का लिखा जाना, तथा, दूसरी ओर, राष्ट्रकूट शासक गोविन्द पच के सबध मे उसके सांगली दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० २५१, प० ३६इ०) में परमभट्टारकमहाराजाधिराज-परमेश्वरश्रीमत्-सुवर्णवर्षदेवपृथ्वीवल्लभश्रीमद्वल्लभनरेन्द्रदेव का लिखा जाना द्रष्टव्य है। इस प्रकार के अन्य बहुत से दृष्टान्त मिलते हैं। यह सुझाव प्रस्तुत किया गया है कि प्रभुता-सम्पन्न शासको के लिए केवल श्री का प्रयोग किया जाता है, श्रीमत् का नहीं। किन्तु ऐसी बात नही है। गोविन्द पच से सबधित उपरोल्लिखित अवतरण के अतिरिक्त हम देववरणार्क अभिलेख की पक्ति १५ मे परमेश्वरश्रीमदवन्तिवर्मणा, पश्चिमी चालुक्य शासक आदित्यवर्मन् के प्रसग मे उसके कनूल दानलेख (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १०, पृ० २३४, प० १२ इ०) में श्रीमदादित्यवर्मपृथ्वीवल्लभमहाराजाधिराज-परमेश्वर, राष्ट्रकूट शासक ध्रुव के प्रसग मे गोविन्द तृतीय के वनी दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० १५६, प० ३३ इ०) मे परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीमद्धारावर्षदेव, उसी वश के अमोघ-वर्ष प्रथम के प्रसग में उसके शिरूर अभिलेख (वही, जि० १२, पृ० २१६, प० १६) श्रीमदमोघवर्षनृपतुंग, तथा पश्चिमी चालुक्य शासक विक्रमादित्य पच के लिए कौथेँ दानलेख (वही, जि० १६, पृ० २४, प० ७३) मे श्रीमद्विक्रमादित्य श्रीमत्त्रिभुवनमल्लदेव लिखा हुआ पाते है, इस प्रकार के प्रयोग के अन्य और भी दृष्टान्त मिलते हैं।

१ जहा तक गुप्त नामान्त का प्रश्न है, विष्णुपुराण ३, १०, ९ मे कहा गया है कि "शर्मन् नामान्त ब्राह्मणों के लिए विहित है, वर्मन् नामान्त क्षत्रियों द्वारा व्यवहृत होता है तथा गुप्त एव दास मे अन्त होने वाले क्रमश वैश्यो और शूद्रो के लिए बताए गए हैं।" बाम्बे सस्करण की टीका में उदाहरण स्वरूप सोमशर्मन्, इन्द्रवर्मन्, चन्द्रगुप्त तथा शिवदास नाम दिए गए हैं (एफ० ई० हाल के सस्करण में एच० एच० विल्सन कृत अनुवाद, जि० ३, पृ० ९९ इ० भी द्रष्टव्य)। इसी प्रकार, मानवधर्मशास्त्र,२ ३१ (बर्नेल कृत अनुवाद, पृ० २०) में भी इसी आशय का एक श्लोक दिया गया है यद्यपि नामान्तविशेष नही निर्देशित हुए हैं। इस साक्ष्य के आधार पर यह सुझाव रखा गया है कि गुप्त शासक उच्चजातीय नहीं थे और अधिक से अधिक वे वैश्य जाति के थे, तथा यह कि इसी कारण उन्हें लिच्छवियों के साथ सबध होने मे इतने गर्व का अनुभव होता था जैसा कि चन्द्रगुप्त प्रथम की कुछ सुवर्ण मुद्राओं पर कुमारदेवी तथा उसके पैत्रिक वश के नाम के अकन से तथा वशावली-सबधी अवतरणों में समुद्रगुप्त के लिए 'लिच्छवि-दौहित्र' विरुद के प्रयोग से स्पष्ट होता है। निस्सदेह विष्णु पुराण तथा मानव धर्मशास्त्र मे दिए गए इस प्रकार के नियमों का कुछ सीमा तक पालन होता था। किन्तु अपवाद स्वरूप दृष्टान्त के रूप मे हमे सुविख्यात ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त का नाम प्राप्त है जिसके ब्राह्मण होने में किसी प्रकार का सदेह नहीं हो सकता, शक सवत् ६२७ में तिथ्यंकित विजयादित्य के नेरूर अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १२९, इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स, स० २०) की पक्ति ३६ मे दशवर्मन् का एक ब्राह्मणों के रूप मे उल्लेख हुआ है, तथा, इसमे संदेह नहीं कि उपयुक्त अनुक्रमणियो के उपलब्ध होने पर इस प्रकार के बहुतेरे दृष्टान्त प्राप्त हो सकते हैं।

के निवास स्थान को प्राप्त होने पर[1], सुन्दर सुख का अनुभव कर रहा है—की घोषणा करते हुए,—

(प० १)—[जिन्होंने] . . अपने सकुल्यो द्वारा . ... . .
. . . . . . ,—जिनका . . . .

(प० ३)—[जिन्होने] . . . .

(धनुष का) टकार ... ... बलपूर्वक तोड दिया और
तितर बितर कर दिया . ... व्यग्र कर दिया ... ,—

(प० ५)—जिनका सुखी मन विद्वानो का अनुपगी बनने का अभ्यस्त था, —जो शास्त्रो के तत्व के समर्थक थे, ... दृढता पूर्वक प्रतिष्ठित ... , जो (अपने) विद्वानो के सामूहिक गुणो की आज्ञा (की शक्ति) से सत्काव्य के सौन्दर्य मे बाधा स्वरूप वस्तुओ को अभिभूत कर, (अब भी) अत्यधिक कविता से (उद्भूत) कीर्ति-साम्राज्य का तथा स्पष्ट अर्थ का भोग करते हैं,—.

(प० ७)—जो, (अपने अस्वीकरण के कारण) सकुल्यो द्वारा (ईर्ष्या के कारण) म्लान मुखो से देखे जाते हुए, जब कि सभासदो ने (हर्ष के) उछ्वास लिए, अपने पिता द्वारा—जिन्होने '(यह) योग्य है" ऐसा कह कर (हर्ष के कारण) रोमाचित होते हुए (और इस प्रकार अपनी) भावनाओ को व्यक्त करते हुए उनका आलिगन किया तथा स्नेह से चचल एव (हर्ष के) अश्रुओ से भारी (तथा) (उनके श्लाघ्य) स्वभाव को समझने वाले नेत्रो से उसे देखा—[सपूर्ण पृथ्वी पर निश्चयतापूर्ण शासन करने के लिए] कहे गए[2],—

(प० ९)—जिनके कुछ लोग, (उनके) बहुतेरे अममुजीय अद्भुत कर्मो को देखने पर प्रसन्नता का प्रदर्शन करते हुए, स्नेहपूर्वक आस्वादन करने को (अभ्यस्त थे), (और) समान-प्रदर्शन करते हुए, जिनकी सुरक्षा, (उनकी) शक्ति से अभिभूत होकर, अन्य लोग पाने के इच्छुक थे,—

(प० ११)-[जिनके] अत्यधिक उपकार करने वाले, युद्ध मे उनकी भुजा से सर्वदा विजित हो कर कलऔर कल अभिमान पश्चात्ताप, सतोषपूर्ण मस्तिष्क से युक्त(तथा)अत्यन्त स्पष्टत प्रदर्शित सुख तथा स्नेह के साथ प्रसारित होते हुए वसन्त (?),—

---

१ अर्थात्, उसकी मृत्यु होने पर। इसकी शक सवत् ८९४ मे तिथ्यकित कक्क तृतीय के करदा दानलेख की पक्ति २३ इ० मे अकित अभिव्यक्ति से तुलना करें—"और जब मानो इन्द्र के साम्राज्य को जीतने की इच्छा से, (उसके) ज्येष्ठ भ्राता कृष्णराजदेव ने आकाशारोहण किया" (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० २५६,-२६८), विक्रम सवत् ११५० मे तिथ्यकित महीपाल के ग्वालियर अभिलेख (वही, जि० १५, पृ० ३७, ४३) की पक्ति १४, श्लोक ३० से तुलना करें—"दुर्भाग्य के कारण पद्मपाल ने, जो अभी युवा ही था, सक्रन्दन (इन्द्र) (की गोद मे) स्थान प्राप्त किया।"

२ इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने उसके कई भाइयो मे से समुद्रगुप्त को विशेष रूप से अपना उत्तराधिकारी चुना। इस प्रकार से उत्तराधिकारी चुनने की प्रथा का अस्तित्व तत्परिगृहीत विरुद "उसके (समुद्रगुप्त) द्वारा (अपने स्नेहभाजन पुत्र तथा उत्तराधिकारी के रूप मे) अभिस्वीकृत" से सिद्ध होता है जो वशावलीयुक्त अवतरणो मे सदैव चन्द्रगुप्त के द्वितीय के लिए व्यवहृत हुआ है, उदाहरणार्थ, उसके मथुरा अभिलेख (नीचे, स० ४, प्रतिचित्र ३ क) की प० ९—१० मे। और, कुछ अवसरो पर, राजा की मृत्यु के पश्चात् विधवा रानी द्वारा उत्तराधिकारी के चयन का दृष्टान्त एक नेपाल अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १६४ प० १८ इ० तथा १६५, श्लोक ८ इ०) जिसमे धर्मदेव की विधवा रानी पति की मृत्यु के पश्चात् अपने जीवन की निरर्थकता का क्रन्दन करती हुई अपने पुत्र मानदेव को शासन करने को कहती है, ताकि वह स्वय मृत पति का अनुगमन कर सके।

(प० १३)—जिनमे,—मानो सभी मर्यादाओ का अतिक्रम करने के उद्देश्य से उठी अपनी भुजा की शक्ति से बिना सहायता प्राप्त किए अच्युत और नागसेन का उन्मूलन कर , (जिनकेद्वारा) कोट कुल मे उत्पन्न हुए को (अपनी) सेनाओ द्वारा पकडवा कर (तथा), पुष्प नाम धारण करने वाले (नगर) मे क्रीडा करके, जबकि सूर्य तटो ,—

(प० १५)—(जिनके विषय मे यह कहा जाता था) धर्म रूपी प्राचीर का बन्ध, चन्द्रमा की किरणो के समान शुभ्र कीर्त्ति, (तथा) दूर दूर तक फैलती हुई तत्वभेदिनी विद्वत्ता, प्रशान्तता , अध्ययन योग्य सूक्ति-मार्ग, तथा कवियो के मस्तिष्क की शक्ति को मुक्त निर्गमन प्रदान करने वाला काव्य, (ये सभी उनके हैं), (सक्षेप मे) इस विश्व मे कौन (गुण) है जो उनमें-जो कि गुण तथा बुद्धि को पहचानने मे सक्षम लोगो के ध्यान के एकमात्र पात्र हैं—नही हैं ?"—

(प० १७)—जो विविध प्रकार के सैकडो युद्धो के सचालन मे दक्ष थे[1], जिनका एकमात्र सहायक उनकी अपनी भुजा की शक्ति का पराक्रम था,—जो पराक्रम के लिए विख्यात थे[2],—जिनका सुन्दरतम शरीर परशु, शर, शकु, शक्ति, प्रास, असि, तोमर, प्रक्षेपणीय भाले, लौह-शरो, वैतस्तिक[3] तथा कई अन्य हथियारो के प्रहारो से उत्पन्न सैकडो अव्यवस्थित घावो की शोभा से युक्त था,—

(प० १९)—जिनका उच्च भाग्य कोसल के महेन्द्र, महाकान्तार के व्याघ्रराज, केरल के मण्टराज[4], पिष्टपुर के महेन्द्र,[5] पर्वताश्रयी कोट्टूर के स्वामिदत्त[6], एरण्डपल के दमन, काचीके विष्णुगोप, अवमुक्त के नीलराज वेंगी के हस्तिवर्मन पलक्क[7] के उग्रसेन, देवराष्ट्र के कुबेर, कुस्थलपुर के धनजय तथा दक्षिणावर्त्त[8] के अन्य सभी राजाओ को अधिकृत करने तथा तदनन्तर उन्हे मुक्त करने की कृपा से उत्पन्न प्रताप के साथ समिश्रित था,—

---

१ इस पद के साथ समुद्रगुप्त की कुछ सुवर्ण मुद्राओ पर अकित—समरशतवितत विजयी जित देवो जयति—इस लेख की तुलना करें, उदाहरणार्थ, द्र० जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ५३ भाग १ प्रतिचित्र २, स० ३, ४, ५ ।

२ इस पद तथा पूववर्ती पद के साथ तुलनीय है पूववर्ती टिप्पणी मे उद्धृत मुद्राओ के पृष्ठ भाग पर अकित पराक्रम शब्द ।

३ शब्दकोशों मे इस शब्द की व्याख्या नहीं की गई है । इसकी व्युत्पति वितस्ति—"फैली हथेली के अगूठे से लेकर कनिष्ठिका तक माप"—से होनी चाहिए ।

४ द्र०, ऊपर पृ० ७ टिप्पणी १ ।

५ तथा ६ द्र०, ऊपर पृ० ७, टिप्पणी २ । जहां तक इस अवतरण में महेन्द्रगिरि पवत के समावेश का प्रश्न है, जनरल कनिंघम (आर्कयॅलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ६, पृ० १०) ने इसे स्वीकार किया है, और इसका महियर (मानचित्रो का Maihar Meyhar Meyhere Myhere तथा Myhir इत्यादि अक्षाश २४°१६' उत्तर, देशान्तर ८०°४७' पूव)—जो कि मध्य भारत मे बघेलखण्ड क्षेत्र मे, उचहरा से थोडा दक्षिण में स्थित, महियर राज्य का मुख्य नगर है—से सटी हुई नुकीली पहाडी युक्त पर्वत से समीकार किया है सभवत महियर की व्युत्पत्ति महेन्द्रगिरि से हो सकती है, किसी भी स्थिति में, इस समीकार को नहीं ग्रहण किया जा सकता ।

७ अथवा सभव है कि प्रथम अक्षर में आ (ा) की मात्रा हो और यह शब्द पलक्क न हो कर पालक्क हो ।

८ दक्षिणापथ का शाब्दिक अथ है, "दक्षिण का मार्ग, दक्षिणी मार्ग", यह दक्षिण भारत के लिए व्यवहृत पारिभाषिक पद था । उत्तरी भारत के लिए इसी प्रकार का पारिभाषिक पद उत्तरापथ ("उत्तरी भारत का मार्ग, उत्तरी मार्ग") था । वतमान लेखमाला मे इसका प्रयोग नहीं हुआ है । किन्तु, कन्नौज के महान शासक हषवर्धन के प्रसग मे इसका निरन्तर प्रयोग हुआ है, उदाहरण के लिए, शक सवत् ६२२ में तिथ्यकित

प० २१—जो रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नन्दिन्, बलवर्मन् तथा आर्यावर्त्त[1] (प्रदेश) के बहुतेरे अन्य शासको के प्रचण्ड उन्मूलन से बढे हुए प्रभाव से शोभित थे,—जिन्होने आटविक राज्यो[2] के शासको को (अपना) सेवक बनाया।

प० २२—जिनका प्रचण्ड शासन समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर तथा अन्य (प्रदेशों) के सीमान्त शासको[3] तथा मालवो, आर्जुनायनो, यौधयों, माद्रको, अभीरो, प्रार्जुनो सन-

---

पश्चिमी चालुक्य शासक विजयादित्य के नेरूर दानलेख की प० ८ (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १२७) में समरससक्तसकलोत्तरापथेश्वरश्रीहर्षवर्धन—"समस्त उत्तरापथ का युद्धरूप देवता श्री हर्षवर्धन", इसी दानलेख की पक्ति २० इ० मे इसका दक्षिणापथ – जिसका उल्लेख यहाँ इसके पर्यायवाची शब्द दक्षिणाशा (="दक्षिणी प्रदेश अथवा क्षेत्र") के माध्यम से हुआ है—के साथ विपर्यय दिखाया गया है। उत्तरी भारत का समवत अधिक प्रसिद्ध नाम आर्यावर्त्त (="आर्यों अथवा श्रेष्ठ जनो का निवास स्थान") है, जो वर्तमान अभिलेख की पक्ति २१ मे आया है। मानवधर्मशास्त्र, २ २२ (बर्नेल का अनुवाद, पृ० १८) मे आर्यावत को उस क्षेत्र के रूप मे परिभाषित किया गया है जो हिमालय तथा विन्ध्य पर्वतो के बीच मे स्थित है एव पूर्व और पश्चिम मे समुद्र तट तक विस्तृत है। किन्तु उत्तरापथ एव दक्षिणापथ का और समुचित विभाजन कवि राजशेखर द्वारा प्रस्तुत किया गया है जिसने बालरामायण, अक ६, (द्र० व० श० आप्टे का राजशेखर हिज लाइफ एण्ड राइटिंग्स, पृ० २१) मे नर्मदा नदी को जो विन्ध्य पर्वत मे उद्भूत होती है तथा विन्ध्य पहाडियो से घटी हुई दक्षिण की ओर बहती है—"आर्यावर्त तथा दक्षिणापथ की विभाजक रेखा" कहा है।

१ अर्थात् "उत्तरी भारत", पूर्ववर्ती टिप्पणी देखें।

२ तुलनीय महाराज सक्षोभ के खोह दानलेख (नीचे, स० २५, प्रतिचित्र १५ ख) की पक्ति ८ मे अकित अवतरण जिसमें उसने अपने पूर्वज हस्तिन् को अपने पैत्रिक साम्राज्य के साथ अठ्ठारह आटविक राज्यो पर शासन करते हुए बताया है। मुझे अभी तक आटविक-राज(= 'जगलों के शासक' अथवा 'जगली प्रदेशो के शासक') तथा अटवी-राज्य (='जगली—साम्राज्य') शब्दो की कोई परिभाषा नहीं प्राप्त हुई है, स्पष्ट है कि महाराज हस्तिन् के प्रसग मे उल्लिखित अठ्ठारह आटविक-राज्यो का स्पष्ट निर्देश पाने का कोई प्रश्न ही नही उठता। किन्तु, हस्तिन् के अधिकार क्षेत्र बुन्देल खण्ड, बघेलखण्ड रीवा की ओर तथा विन्ध्य पहाडी के अन्य निकटवर्ती प्रदेशो मे थे। तथा मैंने यह पाया है कि विन्ध्याटवी शब्द = "विन्ध्य—पहाडियो के जगल", (अभिलेखो मे प्रयुक्त चिरप्रचलित अभिशापात्मक श्लोको मे से एक मे जिनका प्राय उल्लेख हुआ है) मोनियर विलियम्स द्वारा उनके सस्कृत शब्दकोष मे इस रूप मे दिया गया है मानो मूलत यह शब्द मथुरा के निकट से लेकर नर्मदा तक विस्तृत समस्त भूभाग का निर्देश करता था। यह भूभाग आधुनिक मध्य भारत के अतर्गत आने वाले भूभाग से अत्यन्त निकटरूपेण मेल खाता है, तथा, इसके विभिन्न विभाजनो का प्रतिनिधित्व उपयुक्तत. जगल-प्रदेशो अथवा 'जंगल—साम्राज्यो' की सामान्य सज्ञा द्वारा होगा। बृहत्सहिता, १४, श्लोक २९, ३० में वन-राष्ट्र, तथा वन-राज्य, आदि समानार्थी शब्द प्राप्त होते है। किन्तु, यहाँ उद्धत प्रदेश, वराहमिहिर के मापन के अनुसार, भारतवर्ष के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र मे थे और ये किसी भी स्थिति मे महाराज हस्तिन् से सबद्ध प्रदेश नही हो सकते।

३ अत्यन्त-नृपति। इसका तात्पर्य समतट तथा अन्य उल्लिखित प्रदेशो की सीमाओ के भीतर शासन करने वाले राजाओं—अर्थात् उन प्रदेशो के 'पडोसी राजाओ'— से हो सकता हैं अथवा उनकी सीमाओ के बाहर स्थित राजाओं से हो सकता है। इस पद के निरूपण के ऊपर ही इस प्रश्न का उत्तर निर्भर करता है कि समुद्रगुप्त के साम्राज्य में ये प्रदेश सम्मिलिति थे अथवा इन प्रदेशों तक ही उसके साम्राज्य का विस्तार था तथा उसका साम्राज्य इनकी सीमाओ द्वारा सीमित होता था।

कानिको,[1] काको, खरपरिको तथा अन्य (गणो) द्वारा (सभी प्रकार के) कर देने तथा (उनकी) आज्ञाओ का पालन करने तथा सम्मानप्रदर्शनार्थं आगमन से परितोषित हुआ था ,--

प० २३--जिनका समस्त विश्व को व्याप्त करने वाला शान्त यश विविध पतित तथा प्रभुसत्ता-च्युत राजवशो के पुनर्स्थापन से उद्भूत हुआ था,—जिनका (अपनी) भुजा के पराक्रमाधिक्य से (समस्त) पृथ्वी को एकीकृत करके बाधने का कार्य देवपुत्रो, शाहियो, शाहानुशाहियो, शको और मुरुण्डो तथा सिंहलवासियो और (अन्य) सभी द्वीपवासियो द्वारा (प्रस्तुत किए गए) आत्म-निवेदन, कन्याओ का उपहार, गरुड चिन्हो[2] (को देने), अपने अधिकार--क्षेत्रो का समर्पण, (उनके) शासन की अभ्यर्थना से सम्पन्न हुआ था,—विश्व में जिनका (समान शक्तिवाला) विरोधी नहीं था[3], जिन्होंने सैकडो सुन्दर कर्मों से अलकृत (अपने) विविध गुण-समूहो के उपरिप्रवाह से अन्य शासको के यश को अपने पादतलो से मिटा दिया था,—अज्ञेय जो साधु के उद्भव तथा असाधु के विनाश के हेतु थे,—करुणासम्पन्न तथा मृदुहृदय जो भक्ति तथा सम्मानप्रदर्शन मात्र द्वारा वश मे किये जा सकते थे,—जिन्होने सैकडो--हजारो गायो का दान दिया था,—

प० २६--जिनका मन विपन्नो, दीनो, असहायो और शोकार्त्तों को सहारा देने और दीक्षित करने मे व्यस्त रहता था,—जो धनद वरुण, इन्द्र तथा अन्तक[4] (देवताओ) के समान थे,—जिनके राजकर्मचारी सदैव उनके भुज-बल से विजित विविध राजाओ के विभव के पुनर्स्थापन मे लगे रहते थे,—

---

१ द्र० ऊपर, पृ० ८, टिप्पणी १ ।

२ गरुत्मदङ्क । यह पक्षी गरुड हो अथवा नही, मेरे विचार से हमें यहा उस "पक्षि-ध्वज" का स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है जो समुद्रगुप्त तथा उसके उत्तराधिकारियो की कुछ मुद्राओ पर बना मिलता है, उदाहरण के लिए, द्र० श्री वी० ए० स्मिथ द्वारा जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ५३, भाग १, प्रतिचित्र २, स० ३, ४, ५, १४, प्रतिचित्र ३, स० १, २, ३, ९, १०, ११, प्रतिचित्र ४, स० ४, ५, ७, मे दी गई मुद्राए, और भी द्र० वही, पृ० १३१ इ० तथा इण्डियन ऐन्टियक्वेरी, जि० १४, पृ० ९३, १७९ । शब्दकोशों में गरुत्मत्, का 'सामान्यत सभी पक्षी' तथा 'पक्षिविशेष गरुड'-दोनो अर्थ मिलता है । किन्तु इसका सर्वप्रच-लित तथा विशिष्ट अर्थ 'गरुड' है, उदाहरणार्थ, राजा तीवरदेव के राजिम दानलेख (नीचे, स० ८१, प्रति-चित्र ४५) की प० ७ मे ।

३ प्रारम्भिक गुप्त अभिलेखो में समुद्रगुप्त के लिए सदैव-तथा मात्र उसके लिए-जिन तीन पदावलियो का सन्तत प्रयोग हुआ है—अर्थात्, वर्तमान पद का इसी अभिलेख की पक्ति २६ मे 'जो धनद, वरुण, इन्द्र, अन्तक (देवताओ) के समान था', इस पद का, तथा स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ-लेख (नीचे, स० १३, प्रतिचित्र ७) मे अकित 'जिसका यश चारो समुद्रो के जलो द्वारा आस्वादित हुआ था' इस पद का-यह आश्चर्यजनक है कि वे सभी चालुक्य सेनानायक गुजरात के विजयराज के ३९४ वर्ष में तिथ्यकित कैर दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ७, पृ० २४८) की पक्ति ५ इ० मे उसके लिए व्यवहृत हुई है । जो एकमात्र अन्तर मिलता है, वह यह है कि दूसरी पदावली मे केवल सम के स्थान पर सम प्रभाव लिखा हुआ है । वर्तमान विरुद का अपरार्ध, अप्रतिरथ, का प्रयोग समुद्रगुप्त की कुछ मुद्राओ मे भी किया गया था, उदाहरणार्थ, जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ५३, भाग १, प्रतिचित्र २, स० ६ ।

४ द्र०, पूर्ववर्ती टिप्पणी ।

प० २७—जिन्होने (अपनी) तीक्ष्ण तथा परिष्कृत बुद्धि, गायन-दक्षता तथा सगीत-प्रवीणता से[1] देवो के अधीश्वर (इन्द्र) के गुरु (कश्यप) को तथा तुम्बरु एव नारद को लज्जित कर दिया था,—जिन्होने विद्वान् कवियो की जीविका के साधन होने योग्य विविध काव्यात्मक रचनाओ द्वारा (अपनी) 'कविराज' उपाधि को प्रतिष्ठित किया[2],—जिनके विविध अद्भुत तथा उदार कर्म दीर्घकाल तक प्रसशित होने योग्य है,—

प० २८—जो मनुष्योचित क्रियाओ को सम्पादित करते समय मात्र ही मनुष्य थे, (किन्तु, अन्यथा) पृथ्वी पर निवास करने वाले देवता थे,—जो महाराज[3] श्री गुप्त[4] के प्रपौत्र[5] थे,—जो

---

१ नारद को वीणा का आविष्कारक माना जाता है, यहा नारद तथा समुद्रगुप्त की सगीत-प्रवीणता का उल्लेख समुद्रगुप्त की 'वीणा प्रकार' की मुद्राओ से तुलनीय है (उदाहरणार्थ, द्र०, जर्नल आफ द बंगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ५३, भाग १, प्रतिचित्र २, स० ७, ८) जिनमे समुद्रगुप्त को वीणा बजाते हुए दिखाया गया है।

२ तुलनीय, वर्तमान अभिलेख की पक्तिया ६ और १६। कविराज, अर्थात् कवियो का राजा, उपाधि-जो राजकवि (poetlaureate) की समानार्थी उपाधि है-देशी राज्यो मे अभी भी प्रचलित है।

३ महाराज (शाब्दिक अर्थ 'बडा राजा') अपेक्षाकृत प्राचीनतर काल मे प्रभुता सम्पन्न शासको की उपाधियों मे एक जान पडता है। उनके क्रमश ६, ३८ तथा ८३ वर्षों मे तिथ्यकित अभिलेखो मे (आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ३, पृ० ३१, प्रतिचित्र १३, स० ४, पृ० ३२, प्रति० १४, स० ९, तथा पृ० ३४, प्रति० १५, स० १६) कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के लिए इस उपाधि का सर्वथा अकेले ही प्रयोग हुआ है जिनके प्रभुता-सम्पन्न शासक होने मे किसी प्रकार का सन्देह नही है, तथा इन्ही तीनो शासको के क्रमश ११, ४७ तथा ८७ वर्षों मे तिथ्यकित अभिलेखो मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १०, पृ० ३२६; आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया, जि० ३, पृ० ३३, प्रति० १४, स० १२, तथा पृ० ३५, प्रति० १५, स० १८) इसका और बडी उपाधि राजातिराज (="राजाओ मे श्रेष्ठ राजा") के साथ पयोग हुआ है और इसी प्रकार अपेक्षाकृत प्राचीन तिथि की द्विभाषी मुद्राओ पर यह, प्राकृत भाषा मे, कभी राजातिराज के साथ और कभी राजराज (="राजाओ का राजा") के साथ—जो दोनो एक साथ मिल कर यूनानी उपाधि बेसीलियस बेसीलिअन (basileus basileon) के प्रतिरूपी हैं—व्यवहृत हुआ दिखाई पडता है, उदाहरण के लिए, हेमोकैडफिसेज की मुद्राओ पर राजातिराज के साथ (गार्डनर तथा पूल, कैटलाग आफ क्वाइन्स आव द ग्रीक ऐण्ड सीथिक किंग्स आफ बेक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया, पृ० १२४ इ०) एजेज की मुद्राओ पर राजराज के साथ (वही पृ० ७३ इ०)। तथा, इसके पूर्व-स्पष्टत जब कि बेसीलियस बेसीलियन की पूर्ण उपाधि का प्रचलन नही हुआ—य बेसीलियस का प्रतिरूपण करने के लिए अकेले ही प्रयुक्त होना था, उदाहरणार्थ हरमेयस की मुद्राओं पर (वही, पृ० ६२ इ०)। किन्तु, प्रारभिक गुप्त तथा परवर्ती कालो मे महाराज का सामान्यत एक विशिष्ट राजकीय उपाधि के रूप मे प्रयोग होता था जो निस्सन्देह एक उच्च तथा महत्वपूर्ण पद का द्योतक था किन्तु जिसका व्यवहार केवल सामन्तो के लिए किया जाता था प्रभुता-सम्पन्न शासको के लिए नही। निर्मण्ड दानलेख (नीचे, स० ८०) मे समुद्रसेन तथा उसके पूर्वजो के लिए जिस रूप मे निम्न दोनो उपाधिया निरतर व्यवहृत हुई हैं, उससे महासामत (शाब्दिक अर्थ "एक जिले का महाप्रमुख"), उपाधि महाराज के सर्वथा समकक्ष प्रतीत होती है। एक तीसरी उपाधि महासेनापति (शाब्दिक अर्थ 'सेना का महान् स्वामी) उपाधि इन दोनो के समकक्ष पद का परिचायक जान पडता है, क्योकि यौधेयो के भग्न विजयगढ अभिलेख (नीचे, स० ५८, प्रति० ३६ ख) मे तथा पुष्येण की वला से प्राप्त मिट्टी की मुहर मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० २७४ इ०) इसका महाराज के साथ प्रयोग प्राप्त होता है। तथा ऐसा प्रतीत होता है कभी कभी महाप्रतिहार, महादण्डनायक एव महाकार्ताकृतिक नामक तीन अन्य पद भी महाराजो तथा महासामन्तो द्वारा धारण किए जाते थे, क्योकि गुप्त सवत् २१६ मे तिथ्यकित वला दानलेख की पक्ति १३ इ० मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० ४, पृ० १०५) वलभी के ध्रुवसेन प्रथम के हम इन सभी पाचो उपाधियो को व्यहृत पाते हैं।

४ इस नाम के लिए द्र० ऊपर पृ० ८, टिप्पणी ३।

५ अग्रेजी भाषा मे पुत्र-पक्ष तथा पुत्रि-पक्ष की सन्तानो के लिए भिन्न-भिन्न शब्द नही है और दोनो पक्षो के लिए "ग्रैन्डसन" तथा "ग्रेट-ग्रैन्डसन" शब्द व्यहृत होते हैं, अतएव सस्कृत से अनुवाद करने मे इनका प्रयोग ठीक

महाराज श्री घटोत्कच के पौत्र थे, जो महादेवी[1] कुमारदेवी से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त (प्रथम) के पुत्र (एव) लिच्छवि[2] के दौहित्र थे,—

प० ३०—(और) (उनकी) उदारता तथा बाहु-बल तथा धैर्य एव शास्त्रवाक्यों (के अध्ययन) के उदय से निरन्तर सचित होता हुआ जिनका यश, विभिन्न मार्गों से सचरित होता हुआ, तीनो लोको को पवित्र करता है, मानो यह (भगवान्) पशुपति की जटारूपी गुहा मे निरोधित और फिर मुक्त हुई गगा (नदी) का पीत वर्ण का जल हो[3]।

नही है। हिन्दू लोग इस विषय मे सदैव अधिक सावधानी का परिचय देते हैं और उन्होंने पृथक्त्व सूचक 'पौत्र' (पुत्र के पुत्र के लिए) तथा 'दौहित्र' (पुत्री के पुत्र के लिए) शब्दो का व्यवहार किया है। इन दोनो पक्षो के वशानुक्रमों की स्थिति में भी योरोपीय देशो की अपेक्षा काफी अन्तर है, अतएव अनुवाद करते समय इनके पृथक्त्व का ठीक ठीक निर्देश आवश्यक है। यहां मैं प्रमाणस्वरूप एक दृष्टान्त उद्धृत करता हू। अपने नेपाल अभिलेख, स० १७, प० १२६० का अनुवाद करते हुए डा० भगवानलाल इन्द्रजी (इण्डियन ऐंटिक्वेरी, जि० ९, पृ० १८१) ने वत्सदेवी को श्री भोगवमन की पुत्री"" तथा मगध के प्रतापी शासक महान् आदित्यसेन की "ग्रेन्ड-डाटर" बताया। इसके परिणामस्वरूप जनरल कनिंघम (आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १५, पृ० १६३) ने भोगवर्मन को—जो वस्तुत मौखरी वश का था – आदित्यसेन का जमाता समझने के स्थान पर उसका पुत्र समझा। यदि दौहित्री के लिए 'डाटर्स डाटर' (daughter's daughter) अनुवाद किया जाता, द्विविधाजनक 'ग्रेन्ड डाटर' (grand-daughter) नहीं, तो यह गलती नही होती। 'नप्तृ' तथा 'प्रनप्तृ' शब्दों का भी अंग्रेजी 'ग्रेन्डसन' और 'ग्रेट ग्रेन्डसन' द्वारा अनुवाद हो सकता है। ये दोनो शब्द महाराज हस्तिन् तथा महाराज सक्षोभ के दानलेखों में (नीचे स० २१ से २३ तक तथा स० २५) आते हैं, 'नप्तृ' शब्द भुमरा स्तम्भ-लेख (नीचे, स० २४, प्रति० १५क) की पक्ति ५ म आता है। किन्तु, इनका प्रयोग बहुत कम हुआ है।

१ महादेवी प्रभुतासम्पन्न शासको की पत्नियों के लिए प्रयुक्त होने वाली एक पारिभाषिक उपाधि जान पड़ती है, यद्यपि वर्तमान लेख के बाद के समयों मे इसका प्रयोग महाराजों की पत्नियो के लिए भी हुआ है, उदाहरणार्थ, जयनाथ के कारीतलाई दानलेख (नीचे, स० २६, प्रति० १६) मे। प्रभुतासम्पन्न शासको की पत्नियों के लिए इसका प्रयोग हम प्रस्तुत पुस्तक मे परमभट्टारिका तथा राज्ञी के साथ हुआ पाते हैं, द्र० आदित्यसेन के मदार पर्वताभिलेखों (नीचे, स० ४४ तथा ४५) तथा जीवित गुप्त द्वितीय के देव-बरणार्क अभिलेख (नीचे, स० ४६, प्र० २९ग) मे। अन्य शृखलाओं म, उदाहरणार्थ पश्चिमी चालुक्य शासक विक्रमादित्य द्वितीय के कुछ पट्टदकल अभिलेखो (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० १०, पृ० १६४इ०) में यह शब्द उसकी रानी लोकमहादेवी के नाम के भाग के रूप मे मिलता है, तथा शक सवत् ७२६ मे तिथ्यकित दानलेख की पक्ति ५ मे (वही जि० ११, पृ० १२७) यह राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय की पत्नी गामुण्डब्बे की उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

२ अथवा 'एक लिच्छवि (शासक) का।' इस सज्ञा का वर्तमान रूप अपेक्षाकृत प्रचलित रूप है। किन्तु इसका एक भिन्न रूप लिच्छिवि (अर्थात् दूसरे अक्षर मे अ स्वर के स्थान पर इ स्वर का प्रयोग) स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख (नीचे, स० १३, प्रति० ७) की पंक्ति ३ मे तथा समुद्रगुप्त के जाली गया-दानलेख (नीचे, स० ६०, प्रति० ३७) की पंक्ति ५ मे प्राप्त होता है, लिच्छिवि रूप मानवधर्मशास्त्र १०, २२ (बर्नेल का अनुवाद, पृ० ३०८) मे भी आता है, जहा कि अन्यो के साथ लिच्छिवि को क्षत्रिय जाति से च्युत व्यक्ति के पुत्र के रूप मे परिभाषित किया गया है।

३ उन परिस्थितियों के अन्तर्गत, जिनकी चर्चा यशोधर्मन् तथा विष्णुवर्धन के मन्दसोर अभिलेख (नीचे, स० ३५, प्रति० २२) की पक्ति ३ इ० पर दी गई टिप्पणी मे की गई है, जब गगाजी स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरने

३१—खाद्यटपाकिक[1], महादण्डनायक[2] ध्रुभूति के पुत्र, सधिविग्रहिक[3] तथा कुमारामात्य[4], महादण्डनायक हरिषेण—जो कि भट्टारक[5] के इन्ही चरणो का सेवक है तथा जिसकी बुद्धि निरन्तर

वाली थी तब उनकी अवपात-तीव्रता को कम करने के उद्देश्य से उन्हे सर्वप्रथम भगवान शिव (पशुपति) ने अपने ललाट पर शृ ग सदृश ऊपर निकली हुई अपनी जटा मे ग्रहण किया, अन्ततोगत्वा पृथ्वी पर पहुचने के पूर्व गगाजी एक सहस्र वर्षों तक वही चक्कर लगाती रही।

१ यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि यह गण का नाम है अथवा कुल का नाम है, अथवा कोई राजकीय उपाधि है। इस शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट नही है।

२ महादण्डनायक (शाब्दिक अर्थ, 'सेनाओ का महानायक') एक पारिभाषिक सैनिक उपाधि है। इस पद को धारण करने वाला अधिकारी दण्डनायको के ऊपर होता था। यह दूसरी उपाधि, उदाहरणार्थ, सकमदेव के वळगावे अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ५, पृ० ४६) की पंक्ति १७इ० मे (प्रियदण्डनायक के साथ जो कि स स्कृत महादण्डनायक का प्राचीन कन्नड भाषा का अनुवाद है) उल्लिखित हुई है। दण्डनाथ, दण्डाधिनाथ, दण्डाधिप, दण्डाधिपति, दण्डेश तथा दण्डेश्वर आदि शब्द हम प्राय दण्डनायक के पर्यायों के रूप मे पाते हैं। प्रिंसेप ने वर्तमान अभिलेखो मे महादण्डनायक का अनुवाद 'दण्ड से स बधित राजकीय कर्मचारी (मजिस्ट्रेट)' तथा 'आपराधिक दण्डाधीश' (Criminal magistrate) से किया और कभी कभी अन्य अनुवादको द्वारा यही अर्थ ग्रहण किया गया है। चू कि दण्ड का अर्थ 'अर्थदण्ड' तथा '(दण्ड देने के लिए प्रयुक्त की जाने वाली) यष्टि' के साथ साथ 'सेना' भी होता है, अत इससे सलग्न उपाधिया न्यायसबधी अथवा सैनिक दोनो ही रूपो मे व्याख्यायित की जा सकती है। किन्तु, अभिलेखो मे इनका प्रयोग सैनिक-उपाधि के अर्थ मे हुआ है यह निम्न तथ्यों से सिद्ध होता है १ चमूनाथ, चमूप, चमूपति इत्यादि उपाधिया जिनमे चमू का अर्थ सेना मात्र से है कभी कभी दण्डनायक आदि के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त हुई मिलती हैं, उदाहरणाथ, विक्रमादित्य पष्ठ तथा तैलप द्वितीय के कगुंदरी अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १०, पृ० २५२) की पक्ति ३३इ० जहां दण्डाधिनाथ तथा दण्डाधिप ईश्वरय्य को चमूप कहा गया हैं, तथा २ ऊपर उद्धृत वळगावे अभिलेख मे दण्डनायक कावणय्य को समस्त सेनाप्रेसर 'सपूर्ण सेना का नायक' कह कर परिभाषित किया गया है।

३ सन्धिविग्रहिक (शाब्दिक अर्थ 'शान्ति तथा युद्ध से सबधित राजकीय कर्मचारी') कोई पारिभाषिक पदाधिकारी अथवा सैनिक उपाधि है। इसकी अन्य पर्यायवाची उपाधियाँ हैं सधिविग्रहाधिकृत (उदाहरणार्थ, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ७ पृ० ७०, प० १७ इ०), सधिविग्रहाधिकरणाधिकृत (उदाहरणार्थ, वही, जि० ४, पृ० १७५, प० १८) तथा सधिविग्रहिन् (उदाहरणार्थ, वही, जि० ८, पृ० २०) जहा इसे महाप्रधान एव दन्डनायक के साथ रखा गया है)। इसके ऊपर अगला पदाधिकारी महासधिविग्रहिक होता था। जो उपाधि, उदाहरणार्थ, १६३ वर्ष मे तिथ्यकित महाराज हस्तिन के खोह दानलेख (नीचे, स० २२, प्रति० १३) की पक्ति २१ इ० मे उल्लिखित हुई।

४ कुमारामात्य (शाब्दिक अर्थ, 'राजकुमार का परामर्शदाता') एक अन्य पारिभाषिक राजकीय उपाधि है। इसके ऊपर अगला पदाधिकारी महाकुमारामात्य होता था जो, उदाहरणार्थ, नारायणपाल के भागलपुर दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० १५, पृ० ३०६) की प० ३२ मे उल्लिखित हुआ है।

५ यह थोडा सा सदेहास्पद है कि यह उपाधि यहा पर समुद्रगुप्त का निर्देश करता हैं अथवा उसके उत्तराधिकारी का, किन्तु, कुल मिला कर, तेषाम् (= वे) का प्रयोग न किया जा कर एषाम् (=ये) का प्रयोग होने से ऐसा प्रतीत होता है कि अवतरण सर्वथा वर्तमान कालिक अथ का द्योतक है तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय का निर्देश करता है, इसके विपरीत ऊपर पक्ति १७ में समुद्रगुप्त के प्रसग मे तस्य (= उसका का प्रयोग द्रष्टव्य है, किन्तु जिसे, सुविधा के उद्देश्य से, मैने अनुवाद मे सबधवाचक सर्वनाम के रूप मे भाषान्तरित किया है। भट्टारक (शाब्दिक अर्थ, 'जो श्रद्धा एव पूजा का अधिकारी है') एक अन्य पारिभाषिक राजोचित उपाधि है। अपेक्षाकृत परवर्ती कालो मे यह सामन्तीय महाराजो की उपाधि बन गई प्रतीत होती है, इस प्रकार दो नेपाल अभिलेखो मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १६८, स० ५, प० २, तथा जि० १४, पृ० ९८, प० २) यह महाराज शिवदास प्रथम के नाम के साथ सलग्न कीगई है तथा उसी लेख-शृ खला मे (वही, जि० ९, पृ० १७३, स० १० प० ४ जहा कि पक्ति के अन्त मे आए हुए महा अक्षर विलोपित हो गए हैं और प्रकाशित मूल मे छोड दिए गए है) यह महाराज ध्रुवदास के नाम के साथ सलग्न मिलती है। इसी प्रकार, हम महाराजो की पत्नियो के नामो के अन्त मे इसके स्त्रीलिंग-सूचक रूप भट्टारिका का प्रयोग देखते

(इनकी) उपस्थिति मे बने रहने की विशेष कृपा से उन्मीलित हुई है–की यह काव्य–रचना सभी प्राणियो के हित तथा सुख के लिए हो।

प ३३—तथा यह सब परमभट्टारक[1] के चरणो[2] का ध्यान करने वाले महादण्डनायक तिलभट्टक द्वारा अनुष्ठित हुआ करता है।

हैं, उदाहरणार्थ, सर्ववर्मन् के असीरगढ़ मुहर (नीचे, स० ४७, प्रति० ३० क) की प० ३ इ० में तथा महाराज एवं महासामन्त समुद्रसेन के निमण्ड दानलेख (नीचे, स० ८०, प्रति० ४४) की पक्ति ४ मे। प्रभुता-सपन्न शासकों के लिए इसका और बडा तथा अधिक प्रचलित रूप परमभट्टारक प्रयुक्त होता है जैसा कि हम वर्तमान लेख की प० ३३ मे पाते हैं,(इसके अतिरिक्त द्र० ऊपर पृ० १०, टिप्पणी ३)। किन्तु सक्षिप्त रूप के प्रयोग के भी दृष्टान्त मिलते हैं; उदाहरणार्थ नेपाल अभिलेखो मे स० ६ की पक्ति ६ (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १७२) में अशुवर्मन् ने भट्टारक तथा महाराजाधिराज की उपाधिया धारण की हैं, कीर्तिवर्मन् द्वितीय के वोक्कलेरि लख मे (वही, जि० ८, पृ० २६ इ०।) विक्रमादित्य प्रथम तथा उसके उत्तराधिकारियो से लेकर कीर्तिवर्मन द्वितीय तक सभी पश्चिमी चालुक्य शासको के लिए महाराजाधिराज, परमेश्वर तथा भट्टारक उपाधिया प्रयुक्त हुई हैं। एव प्राचीन कन्नड-मापीय अभिलेखों मे हम इसी उपाधि को इसके सक्षिप्त अथवा मौलिकरूप मे भट्टार तथा भटार अभिधान से प्रयुक्त हुआ पाते हैं, उदाहरणार्थ, पश्चिमी चालुक्य शासक विजयादित्य के महाकूट अभिलेख (वही, जि० १०, पृ० १०३) की पक्ति २ ० मे जिसमे उसने महाराजाधिराज, परमेश्वर तथा भट्टार की उपाधिया धारण की हैं, तथा राष्ट्रकूट शासक ध्रुव के पटटदकल अभिलेख (वही, जि० ११, पृ० १२४) की पक्ति २ जिसमे महाराजाधिराज, परमेश्वर एव भट्टार की उपाधियां उल्लिखित हैं। "श्रद्धास्पद" के अर्थ मे भट्टार्क उपाधि धर्माचार्यों के लिए भी व्यवहृत होती थी, उदाहरणाथ नेसागि अभिलेख (वही, जि० १०, पृ० १८९, टिप्पणी १६) की पक्ति ५ मे यह जैन धर्माचाय कुमुदचन्द्र के लिए, व्यवहृत हुई है, तथा 'पूजनीय' एव 'पावन' के अर्थ मे इसका प्रयोग देवताओ लिए भी हुआ है, उदाहरणार्थ नेपाल अभिलेखों में स०६ की पक्ति १ (वही, जि० ६ पृ० १६९) में इसका प्रयोग पशुपति (शिव) के लिए महाराज सर्वनाथ के खोह दानलेख (नीचे, स० २८ प्रति० १८) की पक्ति १५ में सूर्य के लिए तथा जीवितगुप्त द्वितीय के देव-बरणार्क अभिलेख (नीचे, स० ४६, प्रति० २९ ख) की पक्ति १३ मे वरुणवासिन् (सूय) के लिए हुआ है।

१ पादानुध्यात् यह एक रूढ़िगत पारिभाषिक शब्द है जो प्रभुतासपन्न शासक तथा उसके सामन्त शासकों, राजकीय कर्मचारियो इत्यादि के बीच सबध के प्रसग मे प्रयुक्त होता था, उदाहरणार्थ, उदयगिरि गुहाभिलेख मे (नीचे, स० ३, प्रति० २ ख) मे जिस महाराज ने दान दिया है उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय के चरणों का ध्यान लगाते हुए कहा गया हैं। इसका प्रयोग माता पिता तथा उनकी सतानों के सबध के प्रसग मे भी हुआ है, चाहे उनका सबध माता पिता और पुत्र का हो अथवा अग्रज एव अनुज का, उदाहरणाथ, महाराज जयनाथ के कारीतलाई दानलेख (नीचे, स० २५, प्रति० १६) में आद्यन्त, तथा महाराज विनायकपाल के दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० १४०, १४१) की पंक्ति ० तथा प० ८ में, जिसे अपने पिता महेन्द्रपाल एव अग्रज भोज द्वितीय के चरणो का ध्यान करते हुए कहा गया है। इसका प्रयोग देवताओ की पूजा के प्रसग मे भी हुआ है, उदाहरणाथ पूर्वी चालुक्य शासक अम्म द्वितीय के दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १३, पृ० २४९) की पक्ति ३ मे चालुक्यों को स्वामी-महासेन के चरणों का ध्यान करते हुए बताया गया है। शक सवत् ९३० मे तिथ्यकित खारेपाटन दानलेख (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १३, पृ० २१८) अकेला ऐसा दृष्टान्त है जिसमें केवल अनुध्यात् शब्द अपने पूर्व मे पाद शब्द के बिना दिया गया है, इसमे शिलाहार प्रमुख रट्टराज को श्रीसत्याश्रयदेवानुध्यात् (= "(राजा) श्री सत्यदेव का ध्यान करते हुए") कहा गया है। किन्तु, सभवत यहाँ पाद का अनुल्लेख लेख के प्रारूपकार की असावधानी के कारण है।

२ अर्थात् चन्द्रगुप्त द्वितीय परमभट्टारक (शाब्दिक अथ, 'वह जो श्रद्धा तथा पूजा का परम अधिकारी है') प्रभुसत्तासपन्नता सूचक एक पारिभाषिक उपाधि है (द्र० ऊपर, पृ० १०, टिप्पणी ३)। मुझे एक ऐसा दृष्टान्त भी मिला है जिसमें यह धर्माचार्य के लिए व्यवहृत हुई है बेलगाम जिले मे ममदापुर नामक स्थान से प्राप्त ११७२ शक सवत् मे तिथ्यकित अभिलेख (इण्डियन इन्सक्रिप्सन्स, स० १) की प० ४३ जहां इसका प्रयोग विमलशिव अथवा विमलशम्भु नामक शैव धर्माचाय के लिए हुआ है। परमभट्टारिका उपाधि प्रभुतासपन्न शासकों की पत्नियों के लिए प्रयुक्त होने वाली उपाधियों में एक थी, उदाहरण के लिए, द्र० आदित्यसेन के मन्दार पवताभिलेख (नीचे, स० ४४ और ४५)।

सं० २; प्रतिचित्र २ क

समुद्रगुप्त का एरण प्रस्तर-अभिलेख

इस अभिलेख का अब तक सपादन नही हुआ है। यह १८७४–७५ अथवा १८७६–७७ मे भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण विभाग (Archacolorical Survey of India) के तत्कालीन महानिदेशक जनरल अलेक्जेंडर कनिंघम, आर० ई० सी० एस० आइ०, सी० आइ० ई० को प्राप्त हुआ था। जन-सामान्य को इसका ज्ञान १८८० मे हुआ जबकि उन्होने **आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ् इ डिया**, जि० १०, पृ० ८९ मे इसका प्रकाशन किया।

एरण[1] अथवा प्राचीन ऐरिकिण,[2] सेन्ट्रल प्राविन्सेज के सागर[3] जिले मे स्थित खुराई तहसील के प्रमुख नगर खुराई[4] से ग्यारह मील पश्चिमोत्तर दिशा मे, बीना नदी के बाए तट पर बसा हुआ, एक गाव है। अभिलेख चतुर्भुजाकार कटे हुए एक लाल रग के बालुकाश्म-खण्ड पर अंकित है। यह उस प्रसिद्ध भग्नावशेष वराह-मदिर[5] से थोडी दूरी पर प्राप्त हुआ था जिसमे तोरमाण का अभिलेख (नीचे स० ३६) अकित मिलता है। यह प्रस्तर-खण्ड अब कलकत्ता स्थित इम्पीरियल म्यूजियम मे रखा है।

यह अभिलेख ६३" चौडे तथा ३'१" ऊचे प्रस्तर-खण्ड के सम्पूर्ण भाग पर अकित है, तथा काफी सुरक्षित अवस्था मे है, किन्तु, सम्पूर्ण धरातल पर बहुत से न्यूनाधिक बडे छिद्र होने के कारण

---

१ मानचित्रो का 'Airan, Ehrin, Eran, Erun |' इण्डियन एटलस, पत्र-फलक स० ५२। अक्षाश २४°५' उत्तर, देशान्तर ७८°१५' पूर्व। आजकल इसे एरण (Eran) तथा एरन (Eran) दोनो रूपो मे लिखा तथा पुकारा जाता है, किन्तु जैसाकि इसके प्राचीन नाम ऐरिकिण से प्रदर्शित होता है, इसका प्रथम रूप शुद्ध है। यह कोई असामान्य नाम नही है, क्योकि मानचित्रो मे हम भिलसा से ठीक पश्चिम मे सात मील की दूरी पर एक अन्य 'एरन' पाते हैं तथा भिलसा से उत्तर-पूर्व मे तेरह मील की दूरी पर एक अन्य 'एरन' दिखाई पडता है।

२ जहां तक वर्तमान अभिलेख की पंक्ति २५ मे अकित उद्धरण का सबध है, विषय के अन्त मे आने वाले 'अ' के साथ सधि होने के परिणामस्वरूप हम इस नाम को ऐरिकिण अथवा एरिकिण दोनो पढ सकते हैं। किन्तु इस नाम का सही रूप तोरमाण के वराह-अभिलेख (नीचे, स० ३६ प्रति० २३ क) की तक्ति ७ से ज्ञात होता है, जिसमे बिना सधि किए हुए विषयेस्मिन्नैरिकिणे लिखा हुआ मिलता है। एरण से प्राप्त अशोककालीन स्वतत्र ताम्र-मुद्राओं से हमें इस स्थान के नाम का और भी प्राचीन पाली अथवा प्राकृत रूप प्राप्त होता है, जो 'एरकन' अथवा 'एरकण' है, किन्तु परीक्षण हेतु नमूने के तौर पर प्राप्त मुद्राओ पर अतिम अक्षर स्पष्ट नही है (**आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया**, जि० १४, पृ० १४९, तथा प्रति० ३२, स० १७ और १८)।

३ मानचित्रों इ० का 'Sagar' अथवा 'Saugor'।

४ मानचित्रो इ० का 'Khorye, Khurai, Kurai' तथा 'Korai'।

५ **आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया**, जि० १० प्रति० ३० क तथा २९ क।

इसका स्पष्ट शिलामुद्रण नही बन पाता। अभिलेख हमे अशत ही प्राप्त होता है। जैसा कि श्लोक-सख्याओ से पता चलता है प्रस्तर-खण्ड के ऊपरी भाग पर अकित छ पक्तिया पूर्णत नष्ट हो चुकी हैं, नीचे के भाग मे नष्ट हो चुकी पक्तियो की सख्या का निश्चयन नही हो सकता, साथ ही पक्ति २५, २६ और २७ में प्रत्येक पक्ति के प्रारभ मे आने वाले श्लोको मे प्रत्येक का एक सम्पूर्ण पाद नष्ट हो चुका है। इसके अतिरिक्त पक्ति २४ तक प्राप्त सभी पक्तियो मे, तेज करने के उद्देश्य से प्रस्तर-खण्ड के किनारे पर औजारो को रगडने के कारण, एक से लेकर तीन अक्षर तक नष्ट हो गए हैं। पक्ति २४ तक प्रत्येक पक्ति मे श्लोक का एक पाद अकित हुआ है, किन्तु अनुवर्ती पक्तियो मे मूलत प्रत्येक पक्ति में दो पाद अकित थे। इससे यह ज्ञात होता है कि यह लेख अनियमित स्वरुप का था, तथा सभवत २४ इ० पक्तियो के प्रथमार्धों के ऊपर प्रस्तर-खण्ड के ठीक दाहिने भाग मे कुछ मूर्तिया बनी हुई थी। अक्षरो का औसत आकार लगभग ३/" है। जैसा कि विशेषरुपेण म अक्षर से निर्दशित होता है, इसके अक्षर दक्षिणी वर्णमाला से सबद्ध हैं, तथा, मैं इसे इस समय मध्य भारत मे प्रचलित एक विशिष्ट वर्णमाला मानता हू जो दक्षिण भारतीय वर्णमाला की विशिष्टताओ से युक्त थी। इस प्रकारविशेष का प्रयोग हमे, वर्तमान पुस्तक मे उद्धत, ८२ वर्ष की तिथियुक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि गुहा-भिलेख (नीचे, स० ३, प्रति० २ख), महा-जयराज के आरग-पट्टिकाओ, (स० ४० प्रति० २६), महा-सुदेवराज के रायपुर पट्टिकाओ (स० ४१, प्रति० २७), स० ५३ से लेकर स०५६ तक के वाकाटक अभिलेखो (प्रति० ३३, ३४ तथा ३५), एव तीवरदेव की राजिम-पट्टिकाओ (स० ८१, प्रति० ४५) मे भी मिलता है। इसकी प्रमुख विशिष्टता इसके अक्षरो के चौकोर शिरोभाग (box head) में है। इस विशिष्टता से युक्त वर्णमाला का हम अन्य प्रकार भी पाते हैं—इस पुस्तक में जिसका प्रतिनिधित्व १६१ वर्ष की तिथियुक्त महाराज हस्तिन् के मझगवा दानलेखो (स० २३, प्रति० १४) में होता है—जिसमें अक्षरो के चौकोर शिरोभाग (box-head) के स्थान पर कीलाकार शिरोभाग (Nail-head) मिलता है अर्थात् एक त्रिकोणात्मक शिरोभाग जिसकी मुख्य रेखा-नीचे हो[1]। वर्तमान अभिलेख इन दोनो प्रकारो का मिश्रण दिखाता है, उदाहरणार्थ, 'कीलाकार', शिरोभाग-प्रकार पक्ति ८ में अकित **पृथुराघवाद्या** तथा पक्ति १० मे अकित **समुद्रगुप्त** मे देखा जा सकता है, तथा 'चौकोर-शिरोभाग-प्रकार' पक्ति १६ मे अकित **बहुपुत्रपौत्र** तथा पक्ति २१ मे अकित **समरकर्म्मपराक्रमेद्ध** में देखा जा सकता है। प्रस्तर शिलाखण्डो पर उत्कीर्ण किए गए इन अभिलेखो मे अक्षरो के उभरे शिरोभागो-सिवाय उनके जिनका आकार बहुत बडा है-का उत्कीर्णन-प्रक्रिया मे तथा समय-अन्तराल के कारण हुए टूट-फूट के कारण नष्ट हो जाना स्वाभाविक है। परिणामस्वरुप, यद्यपि ताम्रपत्रो पर अकित लेखों मे ये दोनो प्रकार सामान्यतया काफी सुरक्षित तथा अभिज्ञेय अवस्था मे मिलते हैं, किन्तु प्रस्तर अभिलेखो मे ये केवल महाराज पृथिवीषेण के नचने-की-तलाई अभिलेखो (स० ५३, तथा ५४, प्रति० ३३क तथा ख) मे ही इतनी सुरक्षित अवस्था मे प्राप्य हैं कि इनका अभिधान हो सके। वर्तमान अभिलेख मे मुझे एक भी ऐसा दृष्टान्त नही मिलता जिसमे ऊपरी त्रिकोणात्मक अथवा चौकोर भाग इतना अधिक बचा हो कि शिलामुद्रण मे देखा जा सके। वस्तुत यह भी हो सकता है कि इस आकार

---

१ श्री सी० बेन्डल को त्रिकोणात्मक शिरोभाग वाली वर्णमाला के दो नमूने प्राप्त हुए हैं। इनमे से एक नेपाल में मिला है जिसमे त्रिकोण की आधार रेखा सबसे ऊपर है, द्र०, जरनी इन नेपाल, पृ० ५४ इ०। वे इस प्रकार को 'सूचि-मुख-शिरोभाग प्रकार' (point head) अथवा 'शर-मुख-शिरोभाग-प्रकार' (arrow-head) नाम देते प्रतीत होते हैं। अभी हाल में गया से श्री जे० रोबिन्सन, सी० आई० ने इसी वर्णमाला के प्रकार-विशेष का नमूना मेरे पास परीक्षण के लिए भेजा है जो कि कांस्य बुद्ध प्रतिमा की निचली पट्टिका पर अकित है।

के अभिलेखो मे उत्कीर्णक शिरोभग के उभार को बनाने को बहुत आवश्यक न समझता रहा हो, इस प्रकार की उदासीनता महाराज प्रवरसेन के चम्मक दानलेखो (स० ५५, प्रति० ३४) मे स्पष्टतया देखी जा सकती है जिसमे प्रारभ से लेकर अन्त तक अक्षरो के शिरोभाग पूर्णतया रिक्त है और उनमे उभार नही निर्मित हुआ है। इन अक्षरो मे श्लोको की गणना के प्रसग मे २, ३, ४, ५, ६ और ७ के लिए सख्यात्मक प्रतीकों का व्यवहार भी सम्मिलित है। भाषा सस्कृत है तथा अभिलेख आद्यन्त पद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे केवल यह द्रष्टव्य है कि १ पक्ति २६ से अकित परिबृंहण मे अनुस्वार के स्थान पर कण्ठस्थानीय अनुनासिक का प्रयोग हुआ है, तथा २ पक्ति १ मे अकित विक्क्रम मे, पंक्ति १७ तथा २१ मे अकित पराक्क्रम मे, तथा पक्ति १२ मे अकित द्धृतम् मे अनुवर्ती र के साथ सहयोग होने पर पूर्ववर्ती क और ध का द्वित्व हो गया है।

अभिलेख प्रारभिक गुप्त शासक समुद्रगुप्त का है जिसका नाम पक्ति १० मे मिलता है। पक्ति ६ मे बभूव शब्द के अकन से ऐसा ज्ञात होता है कि लेख के प्रथम भाग मे उसके कुछ पूर्वज शासको का उल्लेख हुआ था। किन्तु, लेख उसके बाद आने वाले शासको मे से किसी का उल्लेख नही करता, यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि उनमे से किसी का नाम पक्ति ११ सेपक्ति २४ तक के बीच मे आए, किन्तु अब अस्पष्ट हो गए, अक्षरो मे नही बिठाया जा सकता, परिणामस्वरुप, इन पक्तियो मे वर्णित 'शक्ति' इ० की चर्चा समुद्रगुप्त के सबध मे है, और इस विवरण के पश्चात् ऐरिकिण अर्थात् एरण मे किसी निर्माण-कार्य के होने का उल्लेख है। यह अभिलेख या तो उस निर्माण-कार्य का ही एक भाग था अथवा तद्विषयक एक स्वतत्र लेख था। किन्तु, इस स्थान पर हुए अक्षरो के विलोपन के कारण इस बात का कोई सूत्र नही मिल पाता कि किस वस्तु का निर्माण हुआ था और यह किस सम्प्रदाय से सबधित था। किन्तु इसके आकार तथा प्रकट रूप को देखते हुए, यह प्रस्तर-खण्ड किसी मदिर का भाग जान पडता है। तथा, जनरल कनिंघम ने सुझाया है कि यदि यह पक्ति वर्तमान भग्नावशेषो मे से किसी के साथ सबद्ध था तो इस बात की सर्वाधिक सभावना है कि यह वराह मदिर के तुरन्त बाद, उसके उत्तर मे स्थित, विष्णु की महाकायप्रतिमा से सबद्ध रहा होगा[1]। यदि लेख मे किसी तिथि का अकन हुआ था तो अब वह नष्ट हो चुका है और अप्राप्य है।

मूल पाठ[2]

(सम्पूर्ण पथम श्लोक तथा द्वितीय श्लोक के प्रथमार्घ को सन्निहित करने वाली प्रथम छ पक्तिया पूर्णतया टूटी हुई और अप्राप्य हैं।)

७ [——[3]—⏑⏑ ⏑—⏑]सुवर्णदाने
८. [——]रिता नृपत पृथुराघवाद्या [।।*] २
६ [——] बभूव धनदान्तकतुष्टिकोपतुल्य[4]
१० [⏑——] मनयेन समुद्रगुप्त [।*]
११ [——] प्य पार्त्थिवगणास्सकल. पृथिव्याम्

---

१ आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया, जि० १० पृ० ८६, तथा प्रतिचित्र २२ ब तथा २६ ब।

२ मूल शिलाखण्ड से।

३ छन्द आद्यन्त वसन्ततिलक है।

४ इस अपवाद को छोडकर पक्ति २४ तक इस अभिलेख की प्रत्येक पक्ति मे श्लोक का एक पाद अकित हुआ है। पक्ति २५ से आगे की पक्तियो मे प्रत्येक श्लोक के दो पादो का लेखन हुआ था।

१२ ——] स्त (?स्व) राज्यविभवद्ध्रुतमास्थितोऽभूत् [।।*] ३
१३ ——] न भक्तिनयविक्रमतोषितेन
१४ [यो] राजशब्दविभवैरभिषेचनाद्यैः [।*]
१५, ——] नित परमतुष्टिपुरस्कृतेन
१६ ——–] वो नृपतेरप्रतिवार्य्यं वीर्य्यं [।।*] ४
१७ ——] स्य पौरुषपराक्क्रमदत्तशुल्का
१८ ह स्त्य]श्वरत्नघनधान्यसमृद्धियुक्ता [।*]
१६ ——]ङ्गृहेषु मुदिता वहुपुत्रपौत्र—
२० स] ङ्क्रामिणी कुलवधु व्रतिनी निविष्टा [।।*] ५
२१ यस्]योर्ज्जितम् समरकर्म्म पराक्क्रमेद्ध
२२ ——] यश सुविपुलम्परिवम्भ्रमीति [।*]
२३ ——] णि यस्यरिपवश्च रणोर्ज्जितानि[1]
२४ [स्व]प्नान्तरेष्वपि विचिन्त्य परित्रसन्ति [।।* ६]
२५ [———————————————] [—]प्त (?) स्वभोगनगरैरिकिणप्रदेशे ।
२६] ———————————————— –] [स]स्थापितस्स्वयशस परिवृहन(ण)ार्त्थम् [।।*]७
२७ [———————————————] वो नृपतिराह यदा [——] [।*]

(शेष अभिलेख पूर्णतया टूटा हुआ और अप्राप्य है।)

अनुवाद

(सम्पूर्ण प्रथम श्लोक, तथा द्वितीय श्लोक के प्रथमार्घ को सन्निहित करने वाली प्रथम पक्तिया पूर्णतया टूटी हुई और अप्राप्य हैं।)

पक्ति ७— सुवर्ण-दान करने मे (जिनके द्वारा) पृथु एव राघव एव अन्य राजा (लघुत्तर वना दिए गए थे।)

पक्ति ६— समुद्रगुप्त जो कि प्रसन्नता और क्रोध मे[2] (क्रमश) धनद और अन्तक (देवताओ) के समान थे, नीति के अनुसार, (तथा) (जिनके द्वारा) पृथ्वी पर स्थित सपूर्ण राज-कुल (पराभूत कर दिऐ गए थे) तथा उनके सार्वभौमता रूपी धन का अपहरण कर दिया गया था।

पक्ति १३—(जो) से, भक्ति, नीति तथा पराक्रम से–'राजा' की उपाधि से सवद्ध अभिषेक इत्यादि क्रियाओ को सन्निविष्ट करने वाली कीर्ति से सतुष्ट हो कर–(तथा) परम तुष्टि से सयुक्त से, अप्रतिवार्य पराक्रम वाले राजा (थे),—

पक्ति १७—(जिनके द्वारा) एक गुणशीला एव पतिपरायणा पत्नी[3] व्याही गई थी, जिसका स्त्रीधन (उसके) पौरुष तथा पराक्रम द्वारा प्रदान किया गया था, जो भारी परिमाण में (हाथी),

---

१ अथवा सभवत धरणार्ज्जितानि ।

२ ऊपर पृष्ठ ८ पर स० १ की पक्ति २६ मे अकित 'धनद, वरुण, इन्द्र तथा अन्तक (देवताओं) के समान' इस इङ्गित पद से तुलनीय । और भी द्र०, ऊपर पृष्ठ १४, टिप्पणी ४ ।

३ समुद्रगुप्त की पत्नी दत्तदेवी थी, किन्तु, प्रस्तुत छन्द में ठीक न वैठ सकने के कारण उसका नाम अनुल्लिखित है ।

अश्व, धन-धान्य की स्वामिनी थी, जो.... .के गृहो मे उल्लसित होती थी, (तथा) जो बहुतेरे पुत्रो और पौत्रो से युक्त थी,—

पंक्ति २१—युद्ध मे जिनके कार्य शक्ति से प्रकाशमान (हैं), (जिनका)........अत्यन्त प्रबल यश सर्वत्र भ्रमण कर रहा है, तथा जिनके शत्रु-जब वे स्वप्नान्तरालो मे भी (उनके) . जो कि युद्ध मे ओजपूर्ण हैं . मे सोचते हैं-आतंकित रहते हैं,

२५— अपने[1] आनन्द भोग के नगर ऐरिकिण[2]-प्रदेश मे.... . .उनकी कीर्ति की वृद्धि के लिए स्थापित किया गया है।

पंक्ति २७—जबकि राजा ने कहा. ....

(शेष अभिलेख पूर्णतया टूटा हुआ और अप्राप्य है।)

---

१ इस श्लोक में रिक्तता के कारण यह बताना सम्भव नहीं है कि इस स्थान पर, और नीचे भी, अंकित स्व (=अपना) समुद्रगुप्त के लिए है, अथवा उसके किसी सामन्त शासक के लिए है जिसका संभवत यहा उल्लेख रहा होगा।

२ द्र०, ऊपर पृ० १८, टिप्पणी २।

स० ३; प्रतिचित्र २ ख

चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि गुहाभिलेख

पंच ८२

जहा तक मुझे ज्ञात है, इस अभिलेख की ओर सर्वप्रथम जनरल कनिंघम ने अपनी पुस्तक भिलसा टोप्स मे ध्यान आकर्षित किया जिसमे उन्होंने इस लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद प्रस्तुत किया तथा साथ ही इसका शिलामुद्रण (वही, प्रति० २१, स० २००) भी दिया। १८५८ मे श्री टामस ने स्व-सपादित प्रिंसेप की एसेज जि० १, पृ० २४६इ०, टिप्पणी ४ मे प्रो० एच० एच० विल्सन कृत अनुवाद के साथ इस लेख विषयक अपना पाठ प्रकाशित किया। तथा, अन्तत १८८० मे, आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इ डिया, जि० १०, पृ० ५० में जनरल कनिंघम ने इस लेख का अपना सशोधित पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया और साथ में इसका एक नवीन शिलामुद्रण (वही, प्रति० १६) दिया।

उदयगिरि[1] एक सुविज्ञात पहाडी है जिसके पूर्व मे इसी नाम का एक छोटा सा गाव भी मिलता है। यह सेन्ट्रल इण्डिया मे सिन्दिया (ठीक स्वरूप शिन्दे) द्वारा शासित क्षेत्र मे ईसागढ[2] जिले के भेलसा तहसील के प्रमुख नगर भेलसा[3] मे लगभग दो मील उत्तर पश्चिम मे स्थित है। पहाडी के पूर्व मे, गाव से दक्षिण की ओर थोडी दूर पर तथा लगभग भूमि-स्तर पर ही, एक गुहा-मन्दिर मिलता है, उसमे यह अभिलेख मिलने के कारण, जनरल कनिंघम ने इसे 'चन्द्रगुप्त-गुहा' का नाम दिया है[4]। अभिलेख दो आकृतियो के ऊपर स्थित ७' ४१" चौडे तथा १' ६" ऊचे एक श्लक्ष्णीकृत तथा अन्दर धसे हुए चौखट के ऊपरी भाग मे अकित हुआ है, इन आकृतियो मे एक अपनी दो पत्नियो से सेवित चतुर्भुज विष्णु की आकृति है, दूसरी किसी बारह भुजाओ वाली देवी की आकृति है जो कि विष्णु की पत्नी लक्ष्मी का ही कोई रूप होना चाहिए, महिषासुरी अर्थात् शिव की पत्नी दुर्गा का नही जैसा कि जनरल कनिंघम ने सुझाया है। ये आकृतिया गुहा के बाहरी भाग मे प्रवेश द्वार से कुछ फीट उत्तर की ओर हट कर शिला-भित्ति पर काट कर बनाई गई हैं।

लिखिताश, जो २' ३½" चौडा एव ४¾" उचा स्थान घेरता है, काफी सुरक्षित अवस्था मे है, चट्टान की सतह कुछ स्थानो पर छूट गई है, किन्तु, पक्ति १ मे अकित चन्द्रगुप्त के ग, तथा पक्ति २ मे उस महाराज, जिसके दान का इसमे उल्लेख है, के नाम के प्रथम अक्षर को छोड कर, कोई भी अक्षर पूर्णतया नहीं नष्ट हुआ है। अक्षरो का औसत आकार⅙" है। वर्ण दक्षिणी लिपि-प्रकार से सबद्ध है, तथा विशिष्टरूपेण मध्य भारत मे पाए जाने वाले 'चोकोर-शिरोभाग-प्रकार'—जिस पर मैंने ऊपर पृ० १८इ० पर अपना विचार व्यक्त किया है—का एक अन्य नमूना प्रस्तुत करते हैं, किन्तु

---

१ मानचित्रों इ० का 'udaygiri' अथवा 'udegiri', इण्डियन एटलस, पत्र-फलक स० ५३। अक्षांश २३°२' उत्तर, देशान्तर ७७°५०' पूर्व।

२ मानचित्रो का 'Isagarh'।

३ मानचित्रो का 'Bhilsa' तथा 'Bhelsa'।

४ आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ४६ इ० तथा प्रति० १६ तथा १७।

इस लेख मे भी ऐसे दृष्टान्त नही मिलते जिनमे अक्षरो के शिरोभाग का वर्गाकार अश पर्याप्त रूप मे शेष हो जिससे यह शिलामुद्रण मे साफ साफ देखा जा सके। पक्ति १ मे अकित आषाढ मे यहा उत्तरी भारतीय लिपियो से अभिग्रहण दिखाई पडता है—वह है मूर्धास्थानीय ढ के लिए भिन्न प्रतीक का प्रयोग, प्रारभिक दक्षिणी लिपियो मे ढ का प्रतिनिधित्व महाप्राणोच्चारण हीन ड के साथ दन्त्य द द्वारा भी होता था। पक्ति १ मे २ तथा ८० के लिए सख्यात्मक प्रतीको का प्रयोग मिलता है। भाषा सस्कृत है तथा लेख गद्यात्मक है। वर्णविन्यास के प्रसग मे केवल एक बात विचारणीय है पक्ति १ मे अकित अनुद्ध्यात् के प्रसग मे अनुवर्ती य के साथ पूर्ववर्ती ध का द्वित्व।

अभिलेख स्वय को प्रारभिक गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल मे रखता है। यह अशत सख्यात्मक प्रतीको तथा अशत शब्दो मे, वर्ष ८२[1] (ईसवी सन् ४०१–२) के आषाढ शुक्ल

---

१ यह स्पष्टत नही कहा गया है कि अकित वर्ष 'प्रचलित' वर्ष है अथवा 'अतीत' वर्ष। किन्तु सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होने से तथा इसके साथ 'अतीत' शब्द के न होने से जो स्वाभाविक अर्थ निकलता है, वह है 'वर्ष ८२ मे' मे अर्थात् जबकि वर्ष ८२ प्रचलित था'। प्राय यह कहा जाता है कि प्राचीन हिन्दू लोग अपनी तिथियो को अतीत वर्षो मे अकित करते थे। और, तदनुसार, हमे इस अवतरण मे भी सवत्सरे के साथ अतीत (="व्यतीत हो चुकने पर") अथवा उसके समान कोई शब्द समझना चाहिए और उसी के अनुसार इसका अनुवाद करना चाहिए। निस्सदेह, गणना करने मे प्राचीन हिन्दू लोग—जैसा कि योरोपियो को करना चाहिए—व्यतीत हो चुके वर्षों की सख्याओ को आधार बनाते थे। किन्तु, यह उनकी तिथ्यकन की विधि से सर्वथा भिन्न प्रश्न है, जैसे कि यह प्रश्न भी कि क्या उन्होने कभी कभी गलती से वस्तुत व्यतीत हो चुके वर्षो को प्रचलित तथा प्रचलित वर्षों को व्यतीत वर्षो के रूप मे—और यहा तक कि अभी आने वाले वर्षो को प्रचलित अथवा, यहा तक कि, व्यतीत हो चुके वर्ष के रूप मे—नही उद्धृत किया है। तथा, प्रचलित वर्ष मे तिथ्यकिन का एक सुस्पष्ट एव प्रत्यक्ष दृष्टान्त हमे विक्रम सवत् ११५० मे तिथ्यकित ग्वालियर स्थित सासबहू मदिर-अभिलेख मे मिलता हैं, इसमे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ४१, श्लोक १०७, १०८, पक्ति ४०) पहले शब्दो मे व्यतीत हो चुके वर्षो की सख्या दी गई है, और फिर, शब्दो में अशत और सख्याओ मे पूर्णत, प्रचलित वर्ष अकित है एकादशस्वतीतेषु सवत्सरशतेषु च। एकोनपञ्च-शति च गतेष्वब्देषु विक्रमात्॥ पञ्चाशे चाश्विने मासे कृष्णपक्षे नृपाज्ञया रचिता मणिकण्ठेन प्रशस्तिरिय-मुज्ज्वला॥ अङ्कितोऽपि ११५०॥ आश्विनबहुलपञ्चम्याम्—"और जब कि विक्रम (के समय से) ग्यारह सौ वर्ष तथा (इसके अतिरिक्त उन्चास) वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, तथा पचासवें (वर्ष) मे, आश्विन मास मे, राजा की आज्ञा से यह उज्जवल प्रशस्ति मणिकण्ठ द्वारा रची गई, अथवा, यदि अकों मे कहा जाए, ११५० (वर्ष मे), आश्विन मास के कृष्ण पक्ष के पाचवें चाद्र दिवस पर।" कुछ असामान्य दृष्टान्तो को छोड कर, अभिलेखो मे तिथ्यकन के प्रसग मे निम्न सामान्य तथा नियमित विधान दिखाई पडता है: १. बिना किसी क्रिया अथवा कृदन्त के कर्तृकारक एक वचन अथवा बहुवचन का प्रयोग। इसके दृष्टान्त अपेक्षा-कृत कम हैं। किन्तु मैं निम्नाकित को उद्धृत कर सकता हू (क) मथुरा प्रतिमा-लेख (नीचे, स० ७०, प्रति० ४० घ, प० २) सवत्सर २०० ३०, (ख) सत्याश्रयध्रुवराजइन्द्रवर्मन् का गोआ दानलेख (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १०, पृ० ३६५, प० १७ ६०), प्रवर्धमान विजयराज्यसवत्सर विंशतितम शककाल पचवर्षशतानि द्वात्रिंशानि, (ग) महाराज महेन्द्रपाल का दिघवा-दुवौली दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ११३, प० ४) सम्वत्सरा (अर्थात्, सवत्सरा) १०० ५० ५ माघ शु दि ˚, (घ) महाराज विनयकपाल का बगाल एशियाटिक सोसायटी का दानलेख (वही, जि० १५, पृ० १४१, प० १७), सम्वत्सरो (अर्थात् सवत्सरो=सवत्सर अथवा सवत्सरा) १०० ८० ८ फाल्गुन ब दि ६, तथा (ङ) विक्रम सवत् ९१६ तथा शक सवत् ७८४ मे तिथ्यकित, ग्वालियर के भोजदेव के

के ग्यारहवें चान्द्र दिवस मे तिथ्यकित है। गुहा वैष्णव सम्प्रदाय से सबधित प्रतीत होती है, और, अतएव, इस लेख को भी वैष्णव सप्रदाय से सबद्ध मानना चाहिए। इस लेख का प्रयोजन

देवगढ़ अभिलेख मे दूसरी तिथि आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ़ इण्डिया, जि० १०, पृ० १०१, तथा प्रति० ३३, स० २, पृ० १०), शककालाब्दसप्तशतानि चतुरशीत्यधिकानि ७८४। तथा–प्राचीन कालो के लिए यद्यपि ये सवतों का निर्देश न करके शासकीय वर्षों का निर्देश करते हैं, हम इनसे तुलना कर सकते हैं (च) हारीतिपुत्र-शातकर्णि के वनवासी प्राकृत अभिलेख में कर्तृकारक (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ३३३, प० १), रञो हारितिपुतस सातकणिस 'सवच्छर १० २ हेमतान परवो ७ दिवस १, (छ) राज तीवरदेव के राजिम दानलेख में कर्तृकारक (नीचे, स० ८१, प्रति ४५, प० ३५ इ०), प्रवर्धमानविजयराज्य-सवत्सर ६ कार्तिक दिवसु अष्टमु ८, तथा, अपरिष्कृत रूप से (ज) राज महा-जयराज के आरगदान लेख मे (नीचे स० ४०, प्रति० २६, प० २४), प्रवधमानविग्यसवत्सर ५ मार्गशिर २० ५ तथा (झ) राज महा-सुदेवराज का रायपुर दानलेख (नीचे, स० ४१, प्रति० २७, पक्ति २७), प्रवर्धमानविजयसवत्सर १० माघ ६। परवर्ती कालो के प्रसग में, इसके अपरिष्कृत रूप के लिए तुलनीय (ञ) छिन्द वश के लल्ल का देवल अभिलेख (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १, प्रति० ५१, प० २४) सवत्सर सहस्र १०४६ माघ व दि ३ गुरुदिने, (ट) सिंघण द्वितीय का एक कोलापुर लेख (इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स, स० ४७, प० १ इ०) श्रीशक ११५७ मन्मथसवत्सरे श्रावण बहुल ३० गुरौ, तथा अन्य बहुतेरे दृष्टातो में। २ क्रमसूचक विशेषण के साथ कर्तृवाचक एकवचन अथवा बहुवचन का प्रयोग जो, पुन, सामान्यतया सबध कारक मे षष्ठिवर्षीय चक्र के सवत्सर के नाम को विशेषत करता है। यह द्रविड पद्धति है जिसका दक्षिण भारत मे निरतर व्यवहार होता रहा है। कर्तृवाचक एकवचन के सबध मे मैं विशिष्ट तथा प्रमुख दृष्टान्तो के रूप मे इन लेखो को उद्धृत करूगा (क) विज्जल का एक वळगांवे अभिलेख (पालि, सस्कृत एन्ड ओल्ड कनारीज इन्सक्रिप्शन्स, स० १८३, प० ६२), शकवर्ष १०८० नेय बहुधान्यसंवत्सरद पुष्यद पुण्णमि सोमवारवुत्तरायण सक्रान्तिव्यतीयातसोमग्रहणदन्दु, तथा, यदि भारी सख्या में प्राप्त उन दृष्टान्तों को उदाहरण देकर स्पष्ट किया जाय जिनमे कर्तृवाचक एकवचन के प्रतिनिधित्व के लिए अपरिष्कृत रूप का प्रयोग हुआ है (ख) सोमेश्वर द्वितीय का एक वळगावे अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ४, पृ० २०६, प० ३० इ०), शकवर्ष ९९७नेय राक्षससवत्सरद पुष्य शुद्ध १ सोमवारवन्दिनुत्तरायणसक्रान्तिपर्वनिमित्तदिं तथा कर्तृवाचक बहुवचन के प्रसग में (ग) गोविन्द तृतीय का दानलेख (वही, जि० ११, पृ० १२६, प० १ इ०), शकनृपकालातीत-सवत्सर-शतङ्गळेळ् नूरिर्प्पत्तारनेया सुभानु एम्बा वर्षदा वैशाखमासकृष्णपक्षपञ्चमि बृहस्पतिवा रमागि, तथा (घ) कोट्टिग अथवा खोट्टिग का अदरगु चि अभिलेख (वही, जि० १२, पृ० २५६, प० ७ इ०) शकनृपकाला-तीतसंवत्सरशतगळेण्टु नूर तोम्भत्त मूरनेय प्रजापतिसवत्सर ससुत्तमिरे तद्वर्षाभ्यन्तरदाश्वयुजदमवासे आदित्यवार सूर्यग्रहण। (ङ) अतिक्रान्त, अतीत, गत, निवृत्त, प्रयात, समातीत, व्यतीत, यात अथवा "व्यतीत हो चुके" अर्थ के सूचक किसी भी शब्द का अधिकारणकारक एकवचन अथवा बहुवचन का, तदनुसार अधिकरण कारक के साथ, प्रयोग। अधिकरणकारक एकवचन के सबध मे (क) कुमारगुप्त तथा बन्धुवर्मन् के मन्दसोर अभिलेख की प्रथम तिथि (नीचे, स० १८, प्रति० ११, प० १६) मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये। त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने॥ सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेह्नि त्रयोदशे, तथा, (ख) दन्तिदुग का सामानगढ अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० ११२, प० ३० इ०) पञ्चसप्तत्यधिकशककालसवत्सरशतष्टके व्यतीते सवत् ६७५ पै (? पो अथवा पौ) हच्छिकाया माघमासीरथसप्तम्यां तुलापुरुपस्थिते तथा, अधिकरणकारक बहुवचन के प्रसग में (ग) मगलीश का बादामि गुहाभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० ३६३, प० ६ इ०, ११), शकनृपतिराज्याभिषेकसवत्सरेष्वतिक्रान्तेषु पञ्चसु शतेषु महाकार्तिकपौर्णमास्याम्, तथा (छ)

सनकानिक[1] जनजाति अथवा वंश के एक महाराज द्वारा—जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का सामन्त था किन्तु पंक्ति २ में अंकित जिसका नाम अब अपठनीय है—नीचे उत्कीर्ण दोनों प्रतिमाओं के दान अथवा भेंट का उल्लेख करता है।

विक्रमादित्य पंचम् का कौथेम दानलेख (वही जि० १६, पृ० २४, प० ६१ इ०), शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेषु नवसु त्रिंशदधिकेषु गतेषु ६३० प्रवर्तमानसौम्यसंवत्सरे पौर्णमास्यां सोमग्रहणपर्वणि। (ङ) व्यतीत हो चुके अर्थसूचक किसी कृदन्त के बिना, सामान्य अधिकरणकारक एकवचन अथवा बहुवचन का प्रयोग जैसा कि वर्तमान दृष्टान्त में प्राप्त होता है। तदनुरूप अधिकरणकारक एकवचन के प्रसङ्ग में. (क) कच्छप सूर्यसिंह का सूंब अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १०, पृ० १२७, प० ३), वर्षे द्व युत्तरशते सं २००२ वैशाखशुद्ध-पञ्चमीस्यतिथौ अवलनक्षत्रमहूर्ते (ख) वासुदेव का एक मथुरा अभिलेख (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ़ इण्डिया, जि० ३ पृ० ३६, तथा प्रति० १६, सं० २० प० १) संवत्सरे ६० ८ वर्षामासे ४ दिवसे १०. (ग) महाराज हस्तिन् का मझगवां दानलेख (नीचे, सं० २३, प्रति० १६, पं० १ इ०), एकनवत्युत्तरेऽब्दशते गुप्तनृपराज्यभुक्तौ श्रीमति प्रवर्धमानमहाचैत्र संवत्सरे माघमासबहुलपक्षतृतीयायाम्; (घ) शीलादित्य सप्तम् का अलीन दानलेख (नीचे, सं० ३६, प्रति० २५, प० ७७ इ०), संवत्सरशतचतुष्टये सप्तचत्वारिंशदधिके ज्येष्ठशुद्धपञ्चम्यां अंकतः संवत् ४०० ४० ७ ज्येष्ठ शु ५। तथा, अधिकरणकारक बहुवचन के प्रसंग में : (ङ) गोविन्द तृतीय का वणि दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० ११ पृ० १५६, पं० ४६ इ०) शकनृपकालातीत-संवत्सरशतेषु सप्तसुत्रिंशदधिकेषु व्ययसंवत्सरे वैशाखस्तितपौर्णमासीसोमग्रहणमहापर्वणि तथा (च) भीम द्वितीय का पाटण दानलेख (वही, जि० ११, पृ० ७१ पंक्ति १३ इ०), श्रीमद्विक्रमादित्योत्पादितसंवत्सरशतेषु द्वादशसु षट्पञ्चाशदुत्तरेषु भाद्रपदमासकृष्णपक्षामावस्यायां सोमवारेऽत्रांकतोऽपि संवत् १२५६ लौकिक भाद्रपद ब दि १५ सोमे।—तथा (४) स तथा संवत् सदृश रूपों का सर्वथा एकाकी प्रयोग, तथा लेख में उनके द्वारा उनकी व्याख्या का न होना, जैसा कि ऊपर उद्धृत (२ख) तथा (४क, घ च) दृष्टान्तों में दिखाई पड़ता है। किन्तु इस पद्धति से विचाराधीन प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है, तथा इन संक्षिप्त रूपों के प्रयोग के विषय में अन्य टिप्पणी के अन्तर्गत विचार किया जाएगा। अब, जहां तक ऊपर ३ के अन्तर्गत व्याख्यायित दृष्टान्तों का प्रश्न है इनमें कदाचित् ही सन्देह हो सकता है कि यहां प्रचलित वर्ष अभिप्रेत है, वाक्य-संरचना से ही किसी अन्य व्याख्या की सम्भावना नहीं रह जाती—उदाहरण के लिए (३क) में, 'सोमवार, जिस दिन बृहस्पति संवत्सर के पुष्य (मास) की पूर्णिमा है, (जो कि) १००२वां चल वर्ष (है)'। तथा (१) के अन्तर्गत दिए गए दृष्टान्तों के प्रसंग में यह अचिन्तनीय है कि शब्दलोपीय वाक्य-संरचना की कल्पना किए बिना—जिसके लिए किसी वास्तविक प्रमाण को नहीं उद्धृत किया जा सकता—, सम्बन्धवाचक विभक्ति का प्रयोग प्रचलित वर्ष के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के वर्ष के लिए कैसे हो सकता है। इन दृष्टान्तों तथा ग्वालियर अभिलेख का स्पष्ट अभिकथन सामने होने पर, जब हम यह देखते हैं कि एक विशिष्ट दृष्टान्त-प्रकार में (३, क से लेकर ङ तक) अधिकरणवाचक विभक्ति का 'व्यतीत हो चुके' अर्थसूचक शब्द के साथ प्रयोग हुआ है जबकि एक अन्य दृष्टान्त-प्रकार में (४, क से लेकर च तक) इस प्रकार का कोई शब्द नहीं मिलता, तब यह मानने में कोई बाधा नहीं रह जाती—अपितु इसे मानने के पक्ष में सभी कारण दिखाई पड़ते हैं—कि अंतिम दृष्टान्त-प्रकार में स्वाभाविक अर्थ लिया जाना चाहिए : 'अमुक वर्ष में' अथवा "जब कि अमुक वर्ष प्रचलित था"। शब्दलोप विधियों के प्रसंग में व्यवहृत अधिकरणवाचक विभक्ति को यही अर्थ दिया जाता है तदनुरूप, नासिक अभिलेख में (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० ४, पृ० १०८ प० १, पृ० १०९), सिरिपुलमायिस संवत्सरे एकुनवीसे १९—"श्री पुळुमायि के उन्नीसवें (१९) वर्ष में।" यह कभी नहीं माना गया है कि इस प्रकार के किसी लेख का अर्थ 'उन्नीसवां वर्ष व्यतीत हो चुकने पर' होगा। और इसका कोई कारण दिखाई पड़ता कि किसी संवत् के वर्षों की संख्या बताने वाले सामान्य अधिकरण की यह असामान्य व्याख्या की जाय, विशेष रूप से जब कि हम जानते हैं कि प्रायः सभी संवतों का उद्भव शासकीय तिथियों के विस्तारण से ही हुआ है, तथा यह कि अतीत वर्षों की गणना पद्धति ज्योतिष-शास्त्र के व्यापक विकास के पश्चात् ही प्रयोग में आई होगी।

१　यहां, चौथे अक्षर के साथ ह्रस्व-स्वर-सूचक मात्रा का प्रयोग हुआ है ; किन्तु एलाहाबाद स्तम्भ लेख (ऊपर सं० १, पंक्ति २२, पृ० ८) में दीर्घ-स्वर-सूचक मात्रा का प्रयोग हुआ है।

क—समुद्रगुप्त का एरण लेख

माप ३६

ख—चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि गुफा लेख - वर्ष ८२

माप ३३

मूल-पाठ[1]
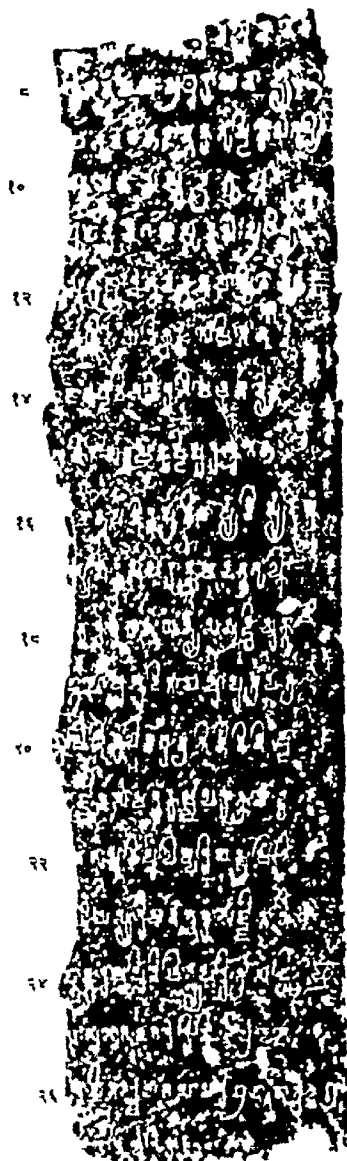
१ सिद्ध्म । । संवत्सरे ८० २ आपाढमासशुक्ले(लै)कादश्याम् । परमभट्टारकमहाराजाधि[2]श्रीचन्द्र-(गु)प्तपादानुद्धयातस्य[3] ।

२ महाराजछगलगपौत्रस्य महाराजविष्णुदामपुत्रस्य सनकानिकस्य महार [ाज] ढ(?) लस्याया देयधर्म' । ।

अनुवाद

सिद्धि प्राप्त की जा चुकी है[4] । वर्ष ८० (तथा) २ मे, आपाढ मास मे शुक्ल पक्ष के ग्यारहवें चाद्र दिवस पर, यह महाराज छगलग के पौत्र (तथा) महाराज विष्णुदास के पुत्र सनकानिक[5] महाराज ढल (?) का उपयुक्त धार्मिक दान[6] (है)—जो कि परमभट्टारक, महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के चरणो का ध्यान करता है ।

---

१ मूल शिलालेख से ।

२ महाराजाधिराज पढ़ें । इस अभिलेख के पाठ के साथ, जो सभवत उत्कीर्णक द्वारा की गई भूल न होकर पूर्ण उपाधि का रूढ़िगत सक्षेपन है, हम स्कन्दगुप्त की एक रजत मुद्रा पर महाराजाधिराज के लिए अ कित मरजध (अर्थात् महाराजाधि) की तुलना कर सकते हैं (इण्डियन एन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ६६६०) ।

३ यह विराम-चिन्ह अनपेक्षित है ।

४ सिद्धम् । —एक अभिलेख (आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ५, प्रति० ४१ एच०), जिसका प्रारभ सिद्धि श्री सवत् ३० से हुआ है, की समवृत्तिता के आधार पर—इसके साथ हम एक अन्य अभिलेख (जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० २६, पृ० १८ तथा जि० ३०, पृ० १३) जोड सकते है जिसका प्रारम्भ सिद्धि' सवत् ३० से हुआ है—डा० ब्यूलर ने (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १० पृ० २७३) अभिलेखों के प्रारम्भ मे आने वाले सिद्धम् को सवथा स्वतत्र कर्तृकारक विभक्ति के रूप मे लिया है और इसका अनुवाद 'सफलता' किया है । किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि यह सिद्ध भगवता (=दिव्य सत्ता द्वारा सिद्धि अथवा सफलता प्राप्त की जा चुकी है') के समान किसी वाक्यांश का अवशिष्ट भाग है जो कि, उदाहरण के लिए, कुमारगुप्त के गढवा अभिलेख (नीचे स० ८, प्रति० ४०ग) तथा पल्लव युव-महाराज विष्णुगोप-वर्मन् के दानलेख (इण्डियन एन्टिक्वेरी, जि० ५, पृ० ५१) में आए जित भगवता (='दिव्य सत्ता द्वारा विजय प्राप्त की जा चुकी है') के सदृश है । हम इसकी तुसम अभिलेख (नीचे स० ६७, प्रति० ४० क) मे आए जितं विष्णुना से तुलना कर सकते हैं। इसी प्रकार की एक अभिव्यक्ति हम, उदाहरण के लिए, महाराज प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक तथा सिवनी पत्रों के प्रारम्भ में (नीचे, स० ५५, तथा ५६, प्रति० ३४ तथा ३५) आए दृष्टम (='दिव्य सत्ता द्वारा दृष्टि (अर्थात् धार्मिक विषयों मे बोध की स्पष्टता) प्राप्त की जा चुकी है') मे पाते हैं । ऊपर उद्धृत अपनी टिप्पणी में डा० ब्यूलर ने बताया है कि महाभाष्य में (कीलहान का सस्करण, पृ० ५, ६) सिद्धम् मगलवचन के रूप मे उद्धृत हुआ है, उन्होंने इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ५, पृ० ३४६ मे प्रकाशित डा० आर० जी० भण्डारकर की कुछ टिप्पणियों का उद्धरण दिया है जिनसे इस बात का समर्थन होता है । मैंने सिद्धम् का अर्थ 'सिद्धि' किया है और इसके अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए मैं जैन लोगो द्वारा अपने सिद्धि (अथवा, कैवल्य) प्राप्त कर चुके सन्त पुरुषों के लिए सिद्ध शब्द के प्रयोग का उल्लेख करना चाहता हू , इन सन्त पुरुषों का, उदाहरण के लिए, १०६ वर्ष मे तिथ्यकित उदयगिरि अभिलेख (नीचे, स० ६१, प्रति० ३८क, प० १) में इसी उपाधि से स्मरण किया गया है ।

५ द्र०, ऊपर पृ० ८ टिप्पणी १ ।

६ देयधर्म, (शाब्दिक अर्थ, 'धर्म (का दान), जो दातव्य हैं') । अपने सस्कृत शब्दकोश मे मोनियर विलियम्म ने इसका अर्थ 'दान, दया का कत्तव्य' किया है, डाउसन ने इसका अथ 'व्रत-पालनार्थ दत्त दान' किया है (उदाहरणाथ, जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S जि० ५ पृ० १८४), ब्यूलर तथा भगवानलाल इन्द्रजी ने इसका अर्थ, 'श्लाघ्य दान अथवा धर्मदान' किया है (उदाहरण के लिए आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इ डिया, जि० ४, पृ० ८३) ।

सं० ४, प्रतिचित्र ३क

चन्द्र गुप्त द्वितीय का मथुरा प्रस्तर-अभिलेख

यह अभिलेख, जिसका अभी तक पूर्ण रूप से सम्पादन नही हुआ है, १८५३ मे जनरल कनिघम द्वारा प्राप्त हुआ था। स्वय कनिघम ने अपने पुरातात्विक विवरण मे लोगो का ध्यान इसके प्रति आकर्षित किया, यह विवरण मूलत· १८६३ मे जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३२ के पूरक के रूप मे (III-CXIX) प्रकाशित हुआ, और फिर १८७१ मे यह प्रतिचित्रो के साथ **आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया,** जि० १ मे पुनर्प्रकाशित हुआ (पृ० २३७)। कालान्तर मे १८७३ मे **आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया** जि० ३, पृ० ३७ पर (प्रति० १६, स० २४) उन्होने इस अभिलेख का शिलामुद्रण प्रकाशित किया जिसमे पक्तियो को उनकी व्यवस्था के अनुसार पूर्ण करके दिखाया गया।

अभिलेख लगभग १०" चौडे ११½" ऊचे एव दाहिने ओर के निचले भाग मे दरार से युक्त लाल रग के बालुकाश्म-खण्ड पर अकित है। यह लेख नार्थ-वेस्ट प्राविसेज के मथुरा जिले के प्रमुख नगर मथुरा[१] से प्राप्त हुआ, जहा यह कटरा[२] प्रवेश द्वार के ठीक बाहर फर्श के रूप मे उलटा पडा हुआ था। मूल प्रस्तर-खड अब लाहौर के प्रान्तीय सग्रहालय मे रखा हुआ है।

लेखन, जो कि १०" चौडे तथा ११½" ऊचे प्रस्तर खण्ड के पूर्ण सम्मुख-भाग पर मिलता है, अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है। प्राप्त लिखित भाग एक बडे लेख का एक अश मात्र है; प्रथम पक्ति लगभग पूर्णतया नष्ट हो चुकी है तथा नीचे के भाग मे अनिश्चित सख्या मे पक्तिया टूट कर नष्ट हो चुकी हैं, तथा, इसके अतिरिक्त, पक्ति ८ एव ६ को छोड कर अन्य सभी पक्तियो मे एक से नौ अक्षर तक तथा अन्त मे एक से पाच अक्षर तक नष्ट हो चुके हैं। अक्षरो का आकार ⅜" से लेकर ⅜" तक मिलता है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमालाओ से सबद्ध हैं। वे प्रमुखरूपेण उसी वर्ग के है जो हमे समुद्रगुप्त के (ऊपर स० १) मरणोपरान्त इलाहाबाद स्तम्भ-लेख मे मिलता है, किन्तु सूक्ष्मताओ मे जाने पर दोनो मे कुछ गम्भीर भिन्नताए दिखाई पडती है, इनमे सर्वाधिक उल्लेखनीय ये हैं १, म की बाई निम्नोन्मुखी रेखा मे विशेष घुमाव का होना, ऊपर पृ० ३ पर मैंने यह बताया है कि यह विशिष्टता म अक्षर के इलाहाबाद अभिलेख मे आए स्वरूप से प्राचीनतर स्वरुप मे मिलती है, २. स की बाई निम्नोन्मुखी रेखा के निचले भाग मे गोलाकार फदे के स्थान पर तिरछी ऋजु रेखा का होना, तथा ३ ह अक्षर के निचले भाग का, पहले थोडा दाहिनी ओर झुका हुआ हो कर फिर अत्यन्त स्पष्ट रूपेण बाई ओर मुडा हुआ होने के स्थान पर, पूर्णत दाहिनी ओर समाप्त होना। भाषा सस्कृत है, अभिलेख का प्राप्त भाग पूर्णतया गद्य मे है। वर्ण विन्यास मे ऐसी कोई विशेष बात नही मिलती जिसकी चर्चा की जाय।

---

१ मानचित्रो आदि का Matra, Muthra, Muttra' इत्यादि। इण्डियन एटलस पत्र-फलक, स० ५०। अक्षाश २७°३०' उत्तर, देशान्तर ७७°४३' पूर्व।

२ इस क्षेत्र मे 'प्राकार के अन्दर स्थित हाट' के अर्थ में 'कटरा' एक सामान्यत प्रयुक्त होने वाला शब्द है।

अभिलेख प्रारंभिक गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय का है। प्राप्त भाग मे उसका नाम नही मिलता। किन्तु, पंक्ति ९ मे सबंधकारक विभक्ति मे समुद्रगुप्त के उल्लेख के तुरन्त पश्चात् करणकारक विभक्ति पुत्रेण के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि वंशावली उसके पुत्र तथा निर्वाचित उत्तराधिकारी तक चलकर उसी के साथ समाप्त हुई थी, इसका नाम पंक्ति ११ अथवा १२ मे अंकित हुआ था, जो परवर्ती लेखो मे प्राप्त सूचना के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय है, तथा इस लेख का विषय उसका कोई कार्य है। लेख मे यदि तिथि का अंकन हुआ था तो तिथि तथा लेख का विषय, दोनो, उस भाग मे थे जो कि टूटा हुआ और अप्राप्य है।

मूलपाठ[1]

१ [सर्व्वराजोच्छेत्तु पृथिव्] य् [ामप्रतिरथ]—
२ [स्य चतुरुदधिसलि]लास्वादितय [शसो ध]—
३ [नदवरुणेन्द्रान्तकस] मन्य कृतान्त[परशो]
४ [न्यायागतानेकगो] हिरण्यकोटिप्रद [स्य चिरो]—
५ (त्सन्नाश्वमेधाहर्त्तुर्म्म) हाराजश्रीगुप्तप्रपौ (त्) र (स्य)—
६ [महाराजश्रीघटोत्क] चपौत्रस्य महाराजाधिर् [ाज]—
७ [श्रीचन्द्रगुप्तपु] त्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महा [दे]—
८ [व्या कुमार] द् [ ] व्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिरा—
९ [जश्री स] मुद्रगुप्तस्य पुत्रेण त्परिगृ—
१० [ही] त् [ ] न महादेव् [य्] ा दत् (त) देव् [य]ामु द्[प] न्[न]—
११ [न[2] परमभागवतेन महाराजाधिराजश्री]—
१२ [चन्द्रगुप्तेन] ....

(अभिलेख का शेष भाग पूर्णतया टूटा हुआ और अप्राप्य है।)

अनुवाद

प० ८—उनके द्वारा जो कि महाराजाधिराज [श्री] समुद्रगुप्त के—उनके द्वारा स्वीकृत[3] महादेवी दत्तदेवी से उत्पन्न—पुत्र थे।

प० १—[जो[4] सभी राजाओ के उन्मूलनकर्त्ता थे[5], जिनका] विश्व मे कोई (समान शक्ति-

---

१ मूल शिलाखण्ड से। टूटे हुए अवतरणो की-पूर्ति ऊपर पृ० ८ पर समुद्रगुप्त के मरणोपरान्त लिखित इलाहाबाद स्तम्भ-लेख (स० १) की प० २, २४, २६, २८ तथा २९ से एव स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ लेख (नीचे स० १३, प्रति० ७) की प० १ तथा ४ से की गई है।

२ मैं इन दो पंक्तियो को लेख की रचना की निरन्तरता दिखाने के उद्देश्य से जोड रहा हूँ।

३ द्र०, ऊपर पृ० १२, टिप्पणी १।

४ अर्थात् समुद्रगुप्त।

५ सर्वराजोच्छेतृ। कर्तृवाचक विभक्ति में सर्वराजोच्छेत्ता यह उपाधि कुछ सुवर्ण मुद्राओ—जिन्हें अब तक प्रारम्भिक-गुप्त-मुद्रा-शृ खला के अतर्गत रखा गया है—के पृष्ठ भाग पर अंकित मिलती है (द्र०, जर्नल आफ द बंगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ४३, भाग १, पृ० १६९ इ०, तथा प्रति० २, स० १, पुनश्च, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ द वेस्टर्न इण्डिया, जि० २, पृ० ३६, तथा प्रति० ७, स० १)। इन मुद्राओ पर जहां सामान्यतया राजा का नाम अंकित रहता है, उस स्थान पर काच का नाम मिलता है तथा किनारे पर

वाला) विरोधी नही था, जिनका यश चारो समुद्रो के जल से] आस्वादित था,[१] जो [धनद, वरुण, इन्द्र तथा अन्तक] (देवताओ के) समान थे, जो कृतान्त (नामक देवता) के [परशु स्वरूप][२] थे, जो [कई] कोटि [न्यायत प्राप्त गायो] और सुवर्ण का दान करने वाले थे, [जो चिरकाल से बन्द हो गए अश्वमेध यज्ञ[३] के पुनर्स्थापक थे],

---

काचो गामवजित्य कर्मभिरुत्तमैर्जयति (='काच, पृथ्वी का विजय कर चुकने पर, अपने उत्तम कर्मों से विजयशील है') लेख मिलता है। इन्हे सदैव समुद्रगुप्त के पितामह महाराज घटोत्कच की मुद्राए माना गया है। किन्तु, सर्वप्रथम यह विचारणीय है कि इन मुद्राओ पर केवल स्पष्टरूपेण अ कित काच शब्द ही मिलता है, और कुछ नहीं, तथा काच (= सीसा, तुला के पलडे की डोर, खारा नमक, काला नमक, मोम' इ०) उत्कच ='(प्रसन्नता से शरीर के) रोमो का खडा होना)' शब्द से—जो कि घटोत्कच के नाम का द्वितीय सघटक है—सर्वथा भिन्न शब्द है। दूसरे, केवल सामन्त महाराज होने के कारण घटोत्कच अपने नाम से मुद्राए नही प्रवर्त्तित कर सकता था। तीसरे, पृष्ठ भाग पर अ कित सर्वराजोच्छेत्ता उपाधि अभिलेखों मे समुद्रगुप्त के लिए—और केवल समुद्रगुप्त के लिए—ही व्यवहृत हुई है। इस विरद में ऐसी विशिष्टता नहीं है जो यह प्रदर्शित करने मे पर्याप्त हो कि यह केवल प्रारम्भिक-गुप्त शासन वश के नासको के लिए (और उस वश मे मात्र समुद्रगुप्त के लिए) प्रयुक्त हुआ है। न ही, मेरे विचार मे, यह सर्वथा निश्चित है कि ये मुद्राए प्रारम्भिक-गुप्त-मुद्रा-शृ खला की ही था। किन्तु, इनका सामान्य स्वरूप एव इन पर अ किन लेख इस प्रकार की मान्यता की न्याय्यता प्रमाणित करते हैं। तथा, इन्हें प्रारम्भिक-गुप्त मुद्रा मानने पर इन्हें समुद्रगुप्त की ही मुद्राए मानना होगा, घटोत्कच की नही। इस स्थिति में, काच समुद्रगुप्त का वैयक्तिक तथा कम औपचारिक नाम होना चाहिए ; तथा, इसके साथ ये दृष्टान्त तुलनीय हैं : शाव (='शववत विवर्ण, गहरा पीतवर्ण, कपिश, पशु-शावक') शब्द चन्द्रगुप्त द्वितीय के मत्री वीरसेन के द्वितीय नाम के रूप मे प्रयुक्त हुआ है (नीचे, स० ६, प्रति० ४क, प० ४), व्याघ्र (='बाघ') रुद्रसोम नामक एक जैन मतानुयायी के लिए व्यवहृत हुआ है (नीचे, स० १५, प्रति० ६क), पश्चिमी चालुक्य शासक विक्रमादित्य षष्ठ का एक नाम पेर्माडि (पर्माडि, पर्माण्डि तथा परमर्दि भी) बताया गया है (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ११, पृ० २२५, प० ६, २५३, प० १४, ब्यूलर का विक्रमाकदेवचरित, भूमिका, पृ० ३०, टिप्पणी २, तथा, राजतरगिणी, ७, ११२२, ११२४)। मुझे काच नाम के प्रयोग के केवल दो अन्य दृष्टान्त ज्ञात हैं अजन्ता गुफाओ से प्राप्त अभिलेखो में एक में काच प्रथम तथा काच द्वितीय नामक दो राजाओं अथवा सरदारो का उल्लेख मिलता है (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ४० पृ०, १२६, प० ४, ६), किन्तु यह लेख प्रत्येक स्थिति में प्रारम्भिक गुप्तो से काफी बाद के समय का है।

१ अर्थात 'जिसका यश चारो समुद्र-तटो तक व्याप्त था।' जम्बूद्वीप, अर्थात् विश्व का केन्द्रवर्ती भाग जिसमें भारत भी सम्मिलित था, के सबध मे यह मान्यता थी कि यह चारो ओर से समुद्र से घिरा है।

२ कृतान्तपरशु। यह एक अन्य औपचारिक विरुद है जिसका समुद्रगुप्त के लिए सदैव—और केवल उसके लिए—व्यवहार होता है। कर्त्तृकारक विभक्ति में कृतान्तपरशु का अकन उसकी कुछ सुवर्ण मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर मिलता है, उदाहरणार्थ द्र० जर्नल आफ द बंगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३, भाग १, पृ० १७७ इ०, तथा प्रति० २, स० ११।

३ एक अश्व केन्द्रित अनुष्ठान, जिसमे अश्व को एक वर्ष के लिए सशस्त्र पुरुषो के सरक्षण मे स्वेच्छापूर्वक विचरण के लिए छोड दिया जाता था। ऐसा लगता है कि अनुष्ठान का समापन कभी कभी अश्व की बलि से होता था, किन्तु कभी कभी इसे केवल अनुष्ठान पर्यन्त बाध कर रखा जाता था। सौ अश्वमेधों का सफलतापूर्वक सम्पादन यज्ञकर्त्ता को इन्द्र के स्तर तक उठा देता था, ऐसा विश्वास प्रचलित था। अश्वमेधाहर्त

प ५—जो[1] महाराज श्री गुप्त के प्रपौत्र, [महाराज श्री] घटोत्कच के पौत्र (तथा) महाराजाधिराज [श्रीचन्द्रगुप्त (प्रथम)] के पुत्र (तथा) लिच्छवि के दौहित्र थे, एव महादेवी से उत्पन्न हुए थे,

प० ११—[भगवत्[2] के परम श्रद्धालु भक्त महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के द्वारा[3]] .... .

(अभिलेख का शेष भाग पूर्णतया टूटा हुआ और अप्राप्य है।)

एक अन्य विरुद है जिसका सदैव समुद्रगुप्त के लिए—और केवल उसके लिए--प्रयोग होता है। इसके साथ हम एक अन्य विरुद अश्वमेधपराक्रम (='जिसने अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा अपनी शक्ति प्रदर्शित किया है') की तुलना कर सकते हैं, जो कि समुद्रगुप्त से सवद्ध की जाने वाली कुछ सुवर्ण मुद्राओं पर अकित मिलता है, उदाहरणार्थ द्र० जर्नल आफ द बंगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ५३, भाग १, पृ० १७५ इ०, तथा प्रति०, २, स० ६ , तथा आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ द वेस्टर्न इण्डिया, जि० २, पृ० ३७६०, तथा प्रति० ७, सं० ४ ।

१ अर्थात् समुद्रगुप्त ।

२ परमभागवत, शाब्दिक अर्थ 'भगवत् (देवता) का परम श्रद्धालु भक्त'। यह विरुद परवर्ती अभिलेखो तथा स्वय चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राओं से ग्रहण किया गया है। यह परममाहेश्वर (उदाहरणार्थ, नीचे स० ३८, प० २), परमसौगत (उदाहरणार्थ, नीचे स० ५२, प० ८), परमवैष्णव (उदाहरणार्थ, महाराज महेन्द्रपाल के दिघवा-दुबौली दानलेख की प० क तथा १, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ११२), परमपाशुपत (उदाहरणाथ, अर्जुनदेव के वेरावल अभिलेख की प० ८, वही, जि० ११, पृ० २४२) तथा परमदैवत (उदाहरणार्थ, वसन्तसेन के नेपाल अभिलेख की पृ० १, वही, जि० ६, स० ३) के समान एक सम्प्रदाय-विशेष से सवधित उपाधि है। यद्यपि इनकी रचना सर्वथा इस ढग से नहीं हुई है तथापि इस प्रकार के अन्य विरुद हैं परमब्रह्मण्य (उदाहरणार्थ, अम्म द्वितीय दानलेख की पक्ति ३६, वही, जि० ७, पृ० १६), परमादित्यभक्त (उदाहरणार्थ, नीचे स० ३८, प० १०),तथा, परमभगवतीभक्त (उदाहरणार्थ, ऊपर उद्धृत दिघवा-दुबौली दानलेख की पक्ति क, ङ, च, ३, ६, ७), पुनश्च द्र०, अत्यन्तमाहेश्वर तथा अत्यन्तस्वामिमहाभैरवभक्त (उदाहरणार्थ, नीचे सं० ५५, प० ६ तथा ४), तथा, अत्यन्तभगवद्भक्त (नीचे, स० १६, प० ६, तथा स० ३६ प० ४) । भगवत् ='श्रद्धास्पद, पूजार्ह, पावन, दैवी पवित्र') पुजारियो की उपाधि रूप मे प्रयुक्त होता था—उदाहरणार्थ, विजयादित्य तथा विक्रमादित्य द्वितीय के पट्टदकल अभिलेख की प० ५ और ६ मे जहां इसका दो आचार्यों के लिए व्यवहार हुआ है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० १०, पृ० १६५, स० १०१), यह किसी सन्त-पुरुष के लिए भी व्यवहृत होता था —उदाहरणार्थ, नीचे स० २३ की प १२ मे जहा कि यह वेदों के व्यवस्थापक व्यास के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग किसी देवता अथवा पूजा विषय के विरुद के रूप में भी होता था, इस प्रकार, यह नीचे स० ६२ की प० ६ में बुद्ध के लिए, नीचे स ३२ की प० ९ में विष्णु के लिए, नीचे स० ७ में स्वामी-महासेन (कार्त्तिकेय) के लिए, नीचे स० ४६ की प १३ मे वरुणवासिन् (सूर्य) के लिए, तथा पुलकेशिन् द्वितीय के ऐहोले मेगुटी अभिलेख की प० १ मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ८, पृ० २४१) जिनेन्द्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। किन्तु, यह विशेषत विष्णु से सवद्ध जान पडता है (उदाहरणार्थ, द्र०, विष्णुपुराण, ६ ५, विल्सन का अनुवाद, जि० ४, पृ० २११ इ०), तथा यदि सदभ से अन्यथा नहीं स्पष्ट होता है तो उसी का परिचायक प्रतीत होता है। इस शब्द के इस अर्थ-विशेष मे प्रयोग के लिए हम इन दृष्टान्तो का उद्धरण दे सकते हैं भगवद्गीता, जो कि, कृष्ण के रूप में विष्णु की पूजा से सवधित, महाभारत के एक प्रसग-विशेष का अभिधान है, भागवत-पुराण, जो कि विष्णु के गुणकीतन मे परायण एक पुराण-विशेष का नाम है, तथा भागवत जो १७७ वष में तिथ्यकित महाराज जयनाथ के खोह पत्र की प० ७ (नीचे स० २७, प्रति० १७) में आता है और वतमान युग तक वैष्णव सम्प्रदायो मे एक सम्प्रदाय का नाम है। अत , यह माना जा सकता है कि परम भागवत अनन्य रूप से एक वैष्णव उपाधि है।

३ द्र० ऊपर पृ० २७, टिप्पणी १ ।

सं० ५, प्रतिचित्र ३ ख

चन्द्रगुप्त द्वितीय का साची प्रस्तर-अभिलेख वर्ष ९३

इस अभिलेख के विषय मे सर्वप्रथम १८३४ मे पता चला कि जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३, पृ० ४८८ इ० मे इसका एक शिलामुद्रण प्रकाशित हुआ (वही, प्रति० २८); इसे श्री जेम्स प्रिसेप ने श्री बी० एच० हाजसन द्वारा तैयार की गई प्रतिलिपि से तैयार किया था। इस शिला-मुद्रण के साथ अभिलेख की विषय-वस्तु का कोई विवरण नही दिया गया था, इस प्रकार यह एक अत्यन्त अपरिष्कृत शिलामुद्रण है—विशेष रूप से इस दृष्टिकोण से कि समूचे अभिलेख मे प्रत्येक पंक्ति के प्रथम छ अथवा सात अक्षर दिखाई नही पडते। १८३७ मे उसी पत्रिका के जि० ६ पृ०, ४५१ इ० मे श्री प्रिसेप ने लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया[1] और साथ मे उन्होंने आभियान्त्रिकी के कैप्टेन एडवर्ड स्मिथ द्वारा कपडे तथा कागज पर तैयार की गई प्रतिलिपियो से समानीत शिलामुद्रण भी दिया (वही, प्रतिचित्र २५)।

साची अथवा साची[2] सेन्ट्रल इण्डिया के भोपाल[3] अथवा भूपाल नामक देशी राज्य मे दीवानगज तहसील के प्रमुख नगर दीवानगज से लगभग बारह मील उत्तर-पूर्व मे स्थित एक गाव है।

---

१ यह अनुवाद टामस द्वारा सपादित प्रिसेप की एसेज मे पुनर्प्रकाशित हुआ है।

२ इण्डियन एटलस, पत्र-फलक स० ५३। अक्षाश २३°२८′ उत्तर, देशान्तर ७७°४८′ पूर्व। मानचित्रो इ० का Sachi, Sacha kana kheyra' तथा 'Sachi Kanakera'। नाम का उच्चारण साची अथवा साची दोनो किया जाता है, किन्तु जहाँ तक मैंने ध्यान दिया है' अनुनासिक युक्त स्वरूप अधिक लोकप्रिय है। इसके अवर स्वरूपो की ओर जनरल कनिंघम द्वारा भिलसा टोप्स, पृ० १८१ मे पहले ही ध्यान आकर्षित किया जा चुका है जहा उन्होंने यह सुझाया है कि यह नाम सभवत सस्कृत शब्द शान्ति का बोला जाने वाला स्वरूप है, क्योकि साची के अशोक अभिलेख मे भी (भिलसा टोप्स, पृ० २५९ इ०, तथा प्रति० १९, स० १७७) शान्ति-सघ का उल्लेख हुआ है तथा चीनी भाषा में भी शान्ति का रूपान्तरण सा-चि में हुआ है। किन्तु, साची का प्राचीन नाम—कम से कम अशोक के समय से गुप्तयुग तक–काकनाद था (द्र० नीचे पृ० ३८,), और यह सूचित करता प्रतीत होता है कि साची नाम अपेक्षाकृत आधुनिक समय का है। इसके अतिरिक्त, यद्यपि मैं इन स्थानों को मानचित्र में नही पा सका किन्तु मुझे यह सूचना प्राप्त हुई कि पडोस मे ही साची अथवा साचि नाम के कम से कम दो अन्य गांव है जहा किसी प्रकार का बौद्ध अवशेष नही मिलता। इससे तथा सांचि के दक्षिण-पश्चिम मे लगभग डेढ़ मील पर स्थित इससे मिलती जुलती ध्वनि वाले गाव काचि-कानाखेडा (जिसमे काचि उर्दू अथवा रागडी कही जाने वाली क्षेत्रीय भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'माली') तथा पडौस मे ही स्थित गाव माचि—जिसे मैंने एक क्षेत्रीय भौगोलिक मानचित्र मे देखा जिसे अब मैं इण्डियन एटलस मे नहीं पाता—से यह निष्कर्ष निकलता है कि साची अथवा साची सभवत क्षेत्रीय भाषा का एक नाम है तथा यह किसी प्रकार सस्कृत भाषा से सबधित नही है।

३ मुसलमान इस नाम का लेखन तथा उच्चारण भोपाल तथा हिन्दू भूपाल करते हैं। यह सुझाव प्रस्तुत किया गया है कि यह भोज-पाल (='राजा भोज का ताल अथवा बाध') का बिगडा हुआ रूप है। किन्तु, मेरे

इस गाव के उत्तर मे सटा हुआ छोटा सा एक गाव है जिसके साथ मवद्ध करके इसे कभी-कभी साचिकानाखेडा नाम से भी पुकारा जाता है।

लेखन, जो लगभग २' ६½" चौडा एव १' ६" ऊचा स्थान घेरता है, महा-स्तूप[1] के पूर्वी तोरण-द्वार के बाहर तथा दाहिनी ओर स्थित द्वितीय प क्ति मे शीर्षपट्टिका के बाहरी भाग मे मिलता है। सिवाय इसके कि पक्ति ८ तक प्रत्येक पक्ति के प्रारभिक दो या तीन अक्षर नष्ट हो गए हैं और सर्वथा अपठनीय हैं, यह अभिलेख अत्यधिक सुरक्षित मिलता है। अक्षरो का औसत आकार ½" है। वर्णमाला दक्षिणी प्रकार की है तथा, प्रस्तुत ग्रन्थ मे, कुमारगुप्त तथा वन्धुवर्मन् के मन्दसौर अभिलेख (नीचे, स० १८, प्रति० ११) के तथा, एक अन्य स्थान पर प्रकाशित, शक सवत् ५५६ (ईसवी सन् ६३४-३५) में तिथ्यकित पश्चिमी चालुक्य शासक पुलकेशिन् द्वितीय के ऐहोले मेगुटी अभिलेख[2] के सर्वाधिक निकट है। पक्ति ११ मे, ३, ४ तथा ६० सख्यात्मक प्रतीक अकित हुए है। भाषा सस्कृत है एव लेख आद्यन्त गद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास मे एकमात्र विचारणीय वस्तु यह है कि पक्ति ४ मे यशस्-पताक में प के साथ विसर्ग अथवा उपध्मानीय के स्थान पर दन्त्य स का प्रयोग हुआ है।

अभिलेख स्वय को प्रारभिक गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल मे प्रतिष्ठित करता है। संख्यात्मक प्रतीको मे इसकी तिथि तिरानवे वर्ष[3] (ईसवी सन् ४१२-१३) है, इसमे भाद्रपद

विचार से इसका मूल तथा शुद्ध नाम भूपाल ही है जो कि सस्कृत शब्द भूपाल (='शासक') से निकलता है। सम्प्रति यह मुसलमानी राज्य है तथा सरकारी कार्यों में काफी लंबे समय से भोपाल नाम ही प्रयुक्त होता आया है।

१ स्तूप='मिट्टी का ढेर अथवा थूहा, किसी प्रकार का ढेर, थूहा अथवा टीला'। यह एक विशिष्ट प्रकार के बौद्ध स्मारक के लिए प्रयुक्त होने वाला पारिभाषिक शब्द है, इसका स्वरूप न्यूनाधिक बडे एक टीले के आकार का होता है जिसमे चिनाई का काम होता है अथवा नहीं भी किया जा सकता है, यह बुद्ध अथवा उनके शिष्यो के अस्थ्यावशेषों पर खडा किया जाता था। इसका अग्रेजी भाषा मे बिगडा रूप टोप इसके प्राकृत रूप थूप से लिया गया है। साची के निकटवर्ती प्रदेशों में स्तूप के लिए जनसामान्य मे प्रचलित शब्द बिटा (हिन्दी बिटौरा) है जिसका शाब्दिक अर्थ "ईंधन के रूप में प्रयुक्त होने वाले कडो का टीला" होता है। साची का महा-स्तूप सास-बहू का बिटा कहलाता है। इस नाम के साथ ग्वालियर मे स्थित सास-बहू का देहरा (= मदिर) कहा जाने वाले मदिर का नाम तुलनीय है जिसमें, विक्रम सवत् ११५० में तिथ्यकित, कच्छपघात शासक महीपाल का एक लम्बा सस्कृत अभिलेख मिलता है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ३३ इ०)।

२ इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ८, पृ० २४१ इ०, तथा साथ का प्रतिचित्र।

३ पाठ में सक्षिप्त रूप स आता है जो या तो सवत्सर (=वर्ष) का अपरिष्कृत रूप हो सकता है अथवा तिथि प्रकाशन हेतु प्रयुक्त किसी शब्द-विकार का रूप हो सकता है। (द्र०, ऊपर, पृ० २२ टिप्पणी ५)। यही अभिकथन सवत् रूप पर भी लागू होता है जो, उदाहरणार्थ, गोपराज के मरणोत्तरकालीन एरण लेख की पक्ति २ मे सवत् १०० ९० १ श्रावण ब दि ७ मे मिलता है (नीचे, स० २०, प्रति० १२ ख)। पहले यह विश्वास किया जाता था कि सवत् शब्द का प्रयोग केवल ५७ ई० पू० मे प्रारभ होने वाले विक्रम सवत् के साथ किया जाता था। किन्तु और व्यापक अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि ये दोनों रूप किसी भी सवत् के वर्षों के साथ प्रयुक्त हो सकते थे। कभी कभी इनका सवथा एकाकी प्रयोग हुआ है, जैसा कि हम प्रस्तुत अवतरण में तथा सवत् के प्रसग मे उद्धृत अवतरण में देखते हैं, और कभी कभी ये सवत् के नाम के साथ प्रयुक्त हुए हैं जैसा कि, उदाहरण के लिए, हम सरदार माम्वाणि के अम्बरनाथ अभिलेख (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ९, पृ० २१६ तथा जि० १२, पृ० ३२९, प० १)

(अगस्त-सितम्बर) मास के चतुर्थ दिवस का उल्लेख है किन्तु कौन का चान्द्र पक्ष चल रहा था, यह नही बताया गया है। यह एक बौद्ध अभिलेख है, तथा इसका विषय उन्दान के पुत्र अम्रकार्दव अथवा आम्रकार्दव, जो स्पष्टत चन्द्रगुप्त द्वितीय का एक राजकर्मचारी था, द्वारा काकनादवोट के आर्य सघ अर्थात् वहा स्थित विहार मे निवास करने वाले भिक्षुओ के भोजन तथा प्रकाश-व्यवस्था के निमित ईश्वरवासक नामक एक गाव का दान अथवा एक भूमिखण्ड का नियतन है।

काकनादवोट विहार निश्चितरूपेण स्वय महास्तूप है। प्रस्तुत अभिलेख मे नाम अशत नष्ट हो गया मिलता है, किन्तु, यह वर्ष १३१ मे तिथ्यकित एक अन्य सांची अभिलेख (नीचे स० ६२, प्रतिचित्र ३८ ख) की पक्ति २ मे पूर्णतया पढा जा सकता है। यह सर्वथा निश्चित नही है कि इस नाम मे बोट का क्या अर्थ है, किन्तु यह सभवत पोट (='घर की नीव')[1] का एक अन्य रूप है। नाम का शेष अश काकनाद (शाब्दिक अर्थ-'काक-ध्वनि') साची का ही प्राचीन नाम है। यह साची के निकट प्राप्त दो अशोककालीन अभिलेखो मे—जिनकी ओर मेरा ध्यान डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने आकर्षित किया—काकनाद नाम आने से सिद्ध होता है १, साची के महा-स्तूप के पूर्वी तोरण-द्वार के बाहरी

मे (शक सवत् ७८२ ज्येष्ठ शुद्ध ६ शुक्रे) तथा अन्हिलवाड के अर्जुनदेव के सोमनाथ-पायण अभिलेख (इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स, जि० ११, पृ० २४२, प० २ इ०) मे (मुहम्मद-सवत् ६६२ तथा श्रीनृप विक्रम स १३२० तथा श्रीमद्वलभी स० ९४५ तथा श्रीसिह सं० १५१ वर्षे आषाढ वदि १३ रवौ) पाते हैं। राष्ट्रकूट शासक कक्क तृतीय के कारदा दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० २६६, प० ४७ इ०) मे अकित शकनृप कालातीतसवत्सरशतेष्वष्टसु चतुर्नवत्यधिकेष्वङ्कत संवत् ८९४ इ० के समान अवतरणो ने सवत् रूप सबधकारक बहुवचन सवत्सराणाम् का प्रतिनिधित्व करता है, जो कि उसी वश के गोविन्द पचम् के सागली दानलेख (वही, जि० १२, पृ० २५१, प० ४४ इ०) मे अकित शकनृपकालातीतसवत्सरशतेष्वष्टसु पञ्च पञ्चाशदधिकेष्वङ्कतोऽपि सवत्सराणां ८५५ इ० के सर्वथा विपरीत है; यह दूसरा अवतरण एकमात्र ऐसा अवतरण है जो मुझे ज्ञात है जिसमे सख्याओ के साथ सबधकारक विभक्ति का पूर्ण रूप प्रयुक्त हुआ है। धारा के देवपाल के चाखा अभिलेख मे (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया के स्वतन्त्र प्रकाशन स० १० का पृ० १११, प० ४) अकित सवत् पञ्चसप्तत्यधिकद्वादशशताङ्के १२७५ इ० तथा सेउणचन्द्र द्वितीय के बसीन दानलेख में अकित शकसंवत् एकनवत्यधिकनवशतेषु संवत् ९९१ इ० जैसे अवतरणो मे यह स्पष्टरूप से क्रमश अधिकरणकारक एकवचन तथा बहुवचन के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। अपने सस्कृत शब्दकोश मे मोनियर विलियम्स ने सवत् को अविकारी बताया है और यह ठीक मत है। किन्तु, मैं आधुनिक तिथि के ऐसे दो आभिलेखिक दृष्टान्त दे सकता हू जिनमे यह विकारी के रूप मे प्रयुक्त हुआ है १. नेपाल-सवत् ७७८ मे तिथ्यकित (ईसवी सन् १६५८-५९) प्रतापमल्ल से सबद्ध डा० भगवानलाल इन्द्रजी के नेपाल अभिलेख स० १६ के श्लोक ३० में नेपाल सवतेऽस्मिन्हयगिरिमुनिभि• सयुते इ० (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १९१) तथा २ विक्रम-सवत् १९१५ (ईसवी सन् १८५८-५९) से प्रारभ होने वाली विक्रम सवत् तथा लोककाल की विभिन्न तिथियो से युक्त एक अप्रकाशित चम्बा अभिलेख, जिसकी प० ११ मे हम संवते ३४ श्रावण प्र० १७ लई सवते ३६ दा श्रावणशुद्ध' इ० अकित पाते है।

[1] अभिलेखो की वर्तमान शृ खला मे बोट अथवा वोट इन रूपो मे आता है १ नीचे स० २७ की पक्ति ८ (प्रति० १७) मे अकित रङ्कवोट मे व्यक्तिवाचक सज्ञा के अश के रूप मे, तथा, २ नीचे स० २९ की पक्ति ६ इ० (प्रति० १९ क) में अकित वोट सन्तिक मे क्षेत्रीय नाम के रूप मे। अपने सस्कृत शब्दकोश मे मोनियर विलियम्स ने पोटा, बोटा तथा वोटा को इन अर्थों मे लिया है 'ऐसी स्त्री जिसके दाढी है, नपुसक, दासी'। तथा, नीचे स० ३८ की पक्ति २५ (प्रति० २४) हम बोटक का व्यक्तिवाचक सज्ञा के रूप मे प्रयोग देखते हैं।

क-चन्द्रगुप्त द्वितीय का मथुरा लेख

मान २७

ख-चन्द्रगुप्त द्वितीय का सांची लेख—वर्ष ९३
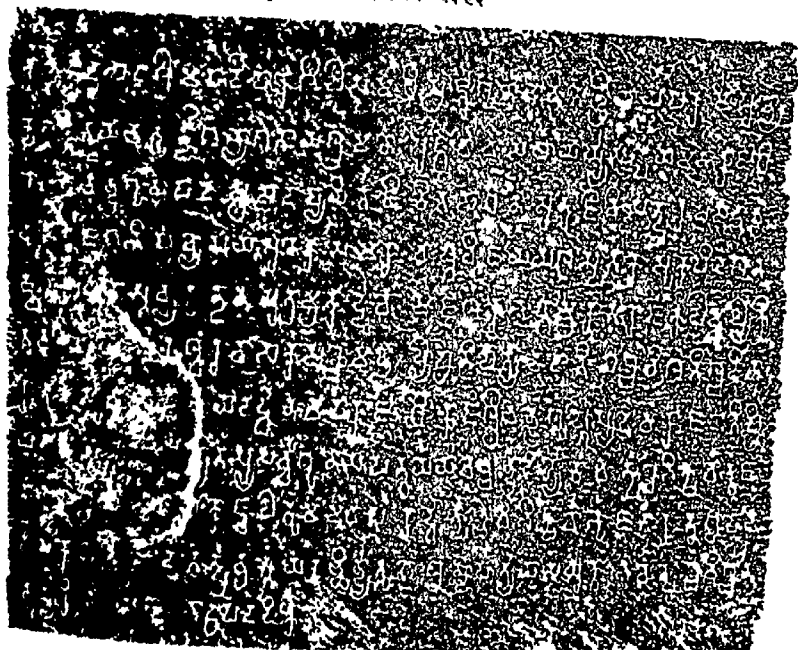
मान २६

और प्राप्त एक अभिलेख को (भिलसा टोप्स, पृ० २४१, तथा प्रति० १६, स० ३६) इस प्रकार पढना चाहिए . काकणाए भगवतो पमाणलठि='काकनाद मे भगवान (बुद्ध) की मापन-यष्टिका (?)', तथा २ अन्धेर के स्तूप स० २ मे सेलखरी निर्मित मजूषा के ढक्कन के शीर्ष भाग पर अकित लेख (वही, पृ० ३४७, तथा प्रति० २६ स० ७) को इस प्रकार पढना चाहिए सपुरिस गोतिपुतस काकनादपभासनस कोडिञगोतस='कौण्डिन्य गौत्र के गोतीपुत्र, काकनाद के पुण्यशील प्रभासन के (अस्थ्यवशेष)'।

मूलपाठ[1]

१ सिद्धम्[2] [।।*] का [कना[3]]दवोटश्रीमहाविहारे शीलसमाधिप्रज्ञागुणभावितेन्द्रियाय परमपुण्य—
२ कृ ' ताय चतुर्दिदगभ्यागताय श्रमणपुङ्गवास्थायार्य्यसघाय महाराजाधि—
३ रा(जश्) र् (ी) चन्द्रगुप्तपादप्रसादाप्यायितजीवितसाधन अनुजीविसत्पुरुषसद्भाव—
४ वृ [त्ति (?)] जगति प्रख्यापयन् अनेकसमरावाप्तविजययशस्पताक सुकुलिदेशन—
५ ष्टी वास्तव्य उन्दानपुत्राम्रकाद्र्दवो मजशरङ्गाअरातराजकुलमूल्यक्री—
६ तम् (?) य ईश्वरवासक पञ्च मण्डल्या [*] प्रणिपत्य ददाति पञ्चविंशतिश (त्) च दीना—
७ राम् [।।*] त(द्द) त्त ' यदर्द्धेन महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य देवराज इति प्रि—
८ यनाम् 'य् तस्य[4] सर्व्वगुणसपत्तए यावच्चन्द्रादित्यौ तावत् पञ्च भिक्षवो भुज—
६ ता रत्नगृहे [च दी] पको ज्वलतु [।*] मम चापरार्द्धात्पञ्चैवभिक्षवो भुंजता रत्नगृहे च
१० दीपक इति [।।*] तदेतत्प्रवृत्त य उच्छिन्द्यात्स गोब्रह्महत्यया सयुक्तो भवेत् पञ्चभिरनन्तर्य—
११ न्तर्य्यैरिति [।।*] (स०[5] ६० ३ भाद्रपद दि[6] ४ [।।*]

अनुवाद

सिद्धि प्राप्त की जा चुकी है। काकनादवोट के विहार में रहने वाले श्रद्धालुओ के सघ[7] को–जिसमे कि (इमके सदस्यो की) इन्द्रिया शील, समाधि तथा प्रजा के गुणो से दबा दी गई है, जो अत्यन्त उत्कृष्ट धार्मिक पुण्यकृत्यो " • , जो विश्व के चारो दिशाओ से आए हुओ से निर्मित हुआ है, (तथा) जो अत्यन्त श्रेष्ठ श्रमणो से निवमित है—पाच व्यक्तियो की

१ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

२ मूल में यह शब्द, जो बहुत अधिक क्षतिग्रस्त है तथा कठिनाई से ही पहचाना जा सकता है, पक्ति १ के प्रथम दो अक्षरों के ऊपर अकित है।

३ ये दो अक्षर १३१ वर्ष में तिथ्यकित साची अभिलेख (नीचे सं० ६२, प्रति० ३८ख) की पक्ति २ से लिए गए हैं, जहाँ कि वे पूर्णत स्पष्ट हैं।

४ हम इस रिक्ति की पूर्ति सतोपजनकरूपेण इन शब्दो से कर सकते हैं देवराज इति प्रिय नाम् (मास्यो भवर) य् [`] तस्य।

५ द्र०, ऊपर पृ० ३०, टिप्पणी ३।

६ अर्थात्, दिन, दिने, दिवस अथवा दिवसे। और सभवत यह शब्द सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक की अवधि वाले सौर दिवस का परिचायक है जिसके साथ सप्ताह के किसी वार का नाम रखा जाएगा, न कि चान्द्र तिथि का जो कि सौर दिवस तथा वार-विशेष से संगत अथवा असंगत दोनों हो सकती है।

[७] आर्यसंघ।

मडली[1] मे प्रणिपात करके उन्दान का पुत्र अम्रकार्दव[2]—जिसकी जीविका का साधन महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के चरणो की कृपा से सरल हो गया है, जो (राजा के) अनुजीवी सज्जन पुरुषो के सद्व्यवहार का सपूर्ण विश्व मे प्रकाशन कर रहा है, जिसने बहुतेरे युद्धो मे विजयी रूपी यश-पताका प्राप्त किया है, (तथा) जो सुकुलि देश[3] मे ' नष्टि नगर का निवासी है—ईश्वरवासक (गाव

---

१ पञ्चमण्डली स्पष्टत आधुनिक युगीन पचार्हत, पंचायत अथवा पाच के समान पाच सदस्यो से निर्मित ग्रामीण-न्यायालय के समान एक सस्था है जिसे किसी विषय को सुलझाने के लिए अथवा किसी कार्य के साक्षी के रूप मे अथवा अनुमोदन के लिए बुलाया जाता है। तुलनीय पाञ्चाली (जिसे सभवत उत्कीर्णक ने गलती से पञ्चाली के स्थान पर लिख दिया है) जो सभवत समान अर्थ मे भगवानलाल इन्द्रजी के नेपाल अभिलेख स० १० की पक्ति १६ मे आया है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १७३)। इसी प्रकार उसी शृखला के स० ४ की पक्ति ११ मे (वही, पृ० १६८) स० ७ की प० १३ तथा १५ मे (पृ० १७०) तथा स० १३ प० २० मे (पृ० १७७) पाञ्चालिक शब्द विभिन्न पचायतो के लिए प्रयुक्त हुआ है जिनके नाम भी बताए गए हैं।

२ अथवा, आम्रकादेव।

३ देश (='क्षेत्र', 'राष्ट्र', 'प्रान्त' इत्यादि) एक पारिभाषिक भूमि-विभाजन से सबधित शब्द है जिसका सही सही अर्थ अब तक नहीं जाना जा सका है। इसी प्रकार, खण्ड, मण्डल, राष्ट्र, तथा विषय हैं। देश शब्द कभी कभी मडल के पर्याय के रूप मे उल्लिखित हुआ है। उदाहरणार्थ, शक स० ८६७ अथवा ईसवी सन् ९४५-४६ मे तिथ्यकित अम्म द्वितीय के एक दानलेख की पक्ति ७ मे (इण्डियन एन्टिक्वेरी, जि० ७, पृ० १६), तथा उसी शासक के एक अन्य दानलेख की पक्ति ६ मे (वही, जि० ८, पृ० ७४) पूर्वी चालुक्यो के अधिकार क्षेत्र को वेंगी देश कहा गया है। दूसरी ओर, अम्म प्रथम के एक दानलेख की प० १७ मे (वही, जि० ८, पृ० ७६) तथा भीम द्वितीय के एक अन्य दानलेख की प० ८ मे (वही, जि० १३, पृ० २१३) इसे वेंगी मण्डल कहा गया है। इन राजपत्रो मे पेन्नातवाडी, गुद्रावार तथा पागुनवर विषयो मे दिए गए दानो का उल्लेख है जिससे यह अर्थ निकलता है कि विषय देश अथवा मण्डल का उपविभाजन होता था। तथा, यह महाभवगुप्त के कपिलेश्वर दानलेख की पक्ति ५ के अनुरूप है (वही, जि० ५, पृ० ५५ जिसमे शुद्धपाठ विषयीयरण्डाग्रामे है) जिसमे कि कोशल देश मे पोवा अथवा योवा विषय के अन्तर्गत स्थित रण्डाग्राम नामक गाँव के दान का उल्लेख हुआ है। इसके विपरीत, शक सवत् १०४६ अथवा ईसवी सन् ११२४-२५ मे तिथ्यकित तेरडाल-अभिलेख की पक्ति ४ मे (वही, जि० १४, पृ० १६) देश तथा विषय इन दोनो शब्दो का भरतखण्ड अथवा भरतक्षेत्र नामो से सुविख्यात भारत के भूमिभाग के लिए प्रयोग हुआ है, और इस प्रकार देश एव विषय पर्यायवाची शब्द ठहरते हैं। खण्ड शब्द महाभवगुप्त के एक अन्य (अप्रकाशित) दानलेख मे आता है, जिसमे कोशल देश मे तुलुम्ब खण्ड मे स्थित अंकिग्राम नामक गाव के दान दिए जाने का उल्लेख है, इस दानलेख से ऐसा ज्ञात होता है कि खण्ड देश के अन्तर्गत स्थित एक विभाजन था तथा सभवत विषय का पर्याय था। मडल शब्द हर्ष सवत् १५५ अथवा ईसवी सन् ७६१-६२ मे तिथ्यकित महेन्द्रपाल के दानलेख की पक्ति ८ मे भी आता है (वही, जि० १५, पृ० ११२) जिसमे वालयिका विषय में स्थित एक गाव के दान का उल्लेख है जबकि स्वय इस विषय को श्रावस्ती मण्डल मे बताया गया है और इस साक्ष्य के अनुसार भी मण्डल का विषयो मे विभाजन प्रमाणित होता है। जहा तक राष्ट्र तथा विषय का प्रश्न है, राष्ट्रपति (= राष्ट्र का स्वामी अथवा अधिपति) तथा विषयपति (= विषय का स्वामी अथवा अधिपति) नामक दो अधिकारियो का उल्लेख मिलता है। एक ओर जैसा कि कावी दानलेख के सम्पादन के प्रसग मे डा० ब्यूलर ने बताया है, वर्ष ३९४ मे तिथ्यकित विजयराज के कैर दानलेख की पक्ति ८९० (वही, जि० ७, पृ० २४८) तथा वर्ष ४८६ मे तिथ्यकित जयभट के कावी दानलेख की पक्ति ८ (वही, जि० ५, पृ० ११४) के समान अवतरण-

अथवा भू-भाग) का दान कर रहा है जो कि राजकीय कुटुम्ब[1] के मज तथा शरभग तथा अम्रराात[2] के नीवीदान[3] से खरीदा गया है, तथा पचीस दीनारो का (भी) दान देता है।

प ७—उसके द्वारा दिए गए [दीनारो के व्याज से[4]]—महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के, जिनका कि लोकप्रिय नाम देवराज[5] है, उसके समस्त गुणो के उत्कर्ष के लिए जब तक कि सूर्य तथा चन्द्र हैं तब तक इसके आधे से पाच भिक्षुओ को भोजन दिया जाय एव रत्न-गृह[6]

जिनमे पहले विषयपति, तत्पश्चात् राष्ट्रपति, और तत्पश्चात् ग्राम-महत्तर का उल्लेख मिलता है—यह सिद्ध करते हैं कि विषय राष्ट्र की अपेक्षा बडा विभाजन होता था, इसी प्रकार, ऊपर उल्लिखित लगभग शक सवत् ८६७ मे तिथ्यकित अम्म द्वितीय के दानलेख की पंक्ति ३६इ० मे अकित "पेद्यातवाडि विषय मे रहने वाले राष्ट्रकूट (= 'राष्ट्र का श्रेष्ठतम व्यक्ति') के नेतृत्व में स्थित कृपक"—इस प्रकार के अवतरणों से भी उपरोक्त मान्यता का समथन होता है। किन्तु इसके विपरीत निम्नाकित अवतरणों के सदृश अवतरणों द्वारा इसका ठीक उलटा सिद्ध होता है शक सवत् ६७५ अथवा ईसवी सन् ७५३-५४ मे तिथ्यकित दन्तिदुर्ग के सामानगढ दानलेख की पक्ति २८ इ० (वही, जि० ११, पृ० ११२), शक सवत् ७३० में तिथ्यकित गोविन्द तृतीय के वणि दानलेख की पक्ति ३५ इ० (वही, जि० ११, पृ० १५६), तथा शक सवत् ६३० मे तिथ्यकित विक्रमादित्य पचम् के कौथे दानलेख की प० ६०—जिनमे सर्वप्रथम राष्ट्रपति का और फिर क्रम से विषयपति तथा ग्रामकूट (= गांव का मुखिया) का उल्लेख किया गया है। और अन्तत इस प्रकार के पद—जैसे विष्णुवधन द्वितीय के दूसरे वप मे दिए गए दानलेख की पक्ति १२ मे अकित 'कमराष्ट्र विषय' (वही, जि० ७, पृ० १८७) तथा नागवधन के निरपण दानलेख की पक्ति १७ मे अकित 'गोपराष्ट्र विषय'—राष्ट्र तथा विषय की पर्यायवाचकता प्रमाणित करते है। इस प्रश्न पर और अधिक विचार की आवश्यकता है तथा राजकीय एव शासकीय उपाधियो के समान इस प्रसग में भी जिला, तालुका इत्यादि शब्दो का प्रयोग न करके—जो कि आधुनिक नाम हैं तथा मूल शब्दो के मिलते जुलते अर्थों के निकट होने पर भी जो सभवत उनके सतोपजनक समरूप नही हो सकते—मूल सस्कृत शब्दो का प्रयोग अधिक उपयुक्त है।

१ राजकुल।

२ अथवा आम्रराात।

३ मूल्य शाब्दिक अर्थ "मूल-धन"। यह 'अक्षय-नीवी' (शाब्दिक अर्थ—"असमाप्य मूलधन") का समरूप शब्द है जो प्राचीन अभिलेखो मे निरन्तर उल्लिखित मिलता है तथा जो, उदाहरण के लिए, नीचे स० १२, प्रति० ६ख, प० २६ तथा स० ६२, प्रति० ३८ख, प० ३ तथा ८ में आता है।

४ मूल मे नष्ट इन शब्दो को मैंने वर्ष १३१ मे तिथ्यकित (नीचे स० ६२, प्रति० ३८ख) साची अभिलेख की पक्ति ३ की समवृत्तिता के आधार पर दिया है।

५ प्रिसेप ने इस अवतरण का अनुवाद इस प्रकार किया है कि देवराज चन्द्रगुप्त द्वितीय का एक अन्य नाम प्रतीत होता है। यह ठीक हो सकता है। किन्तु हमारे पास कोई अन्य साक्ष्य नहीं है जिसके आधार पर उसे यह दूसरा नाम दिया जाय। तथा पक्ति में अक्षरो के नष्ट हो जाने के फलस्वरूप रिक्त स्थान के कारण यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह नाम उसके लिए प्रयुक्त हुआ है अथवा उसके किसी राजकर्मचारी के लिए। रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए यदि मेरे द्वारा प्रस्तावित सुझाव माना जाय (पृ० ३६, टिप्पणी ४) तो अनुवाद होगा 'उसके समस्त गणों के उत्कर्ष के लिए जो कि देवराज यह लोकप्रिय नाम धारण करता है एव महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त का मत्री है।'

६ रत्नगृह शब्द सभवत तीन रत्नो—बुद्ध, धर्म तथा सघ—के निवासगृह स्वरूप स्तूप के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

मे एक दीपक जलाया जाय, शेष आधे से भी, जो कि मेरा अपना है,[१] पांच भिक्षुओ को भोजन दिया जाय तथा रत्न-गृह मे एक दीपक (जले)।

पक्ति १०—जो भी इस व्यवस्था मे बाधा डालेगा, वह गोहत्या तथा ब्राह्मण-हत्या[२] (के पाप) का भागी होगा तथा तुरन्त परिणाम देने वाले पाच पापो (के दोष) का[३] भागी बनेगा।

प० ११—वर्ष ६० (तथा) ३, (मास) भाद्रपद, दिवस ४।

---

१ यहा यह नही स्पष्ट है कि कौन कह रहा है, किन्तु, सभवत अम्रकार्दव अभिप्रेत है।

२ ब्रह्मन्, द्र० चाइल्डर्स के पालि शब्दकोश में ब्रह्मा के अन्तर्गत।

३ ये हैं मातृहत्या, पितृहत्या, 'अर्हत्' की हत्या, किसी बुद्ध का रक्त बहाना, तथा सङ्घभेद (द्र० चाइल्डर्स का पालि शब्दकोश मे पञ्चानन्तरियकम्मम तथा अभिठाणम शब्द)।

स० ६, प्रतिचित्र ४ क

चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि गुहाभिलेख

यह अभिलेख जनरल कनिंघम द्वारा प्राप्त हुआ प्रतीत होता है तथा उन्होने सर्व प्रथम इसकी ओर ध्यानाकर्षण १८८० मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ५१ इ० मे किया, उन्होंने अभिलेख का अपना पाठ तथा राजा शिव प्रसाद कृत इसका अनुवाद प्रकाशित किया, जिसके साथ एक शिलामुद्रण भी दिया गया था (वही प्रतिचित्र १९)। अभिलेख का यह अनुवाद अब तक प्रामाणिक माना जाता रहा है, केवल १८८२ मे इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० ११, पृ० ३१२ मे डा० ई० हूल्श द्वारा अन्तिम पक्ति मे—जिस रूप मे यह प्रकाशित हुई थी—कुछ त्रुटिया दिखाई गई थी।

यह अभिलेख सेन्ट्रल इण्डिया मे सिन्दिया अधिकृत क्षेत्र मे स्थित उदयगिरि[1] की एक गुहा मे प्रवेश करते ही थोडी बाई ओर हट कर पीछे की दीवार पर है, जिस शिला-खण्ड मे यह अभिलेख अकित है उसके ऊपर स्थित बडे चपटे प्रस्तर-खण्ड का तवा (=जिस पर रोटिया सेकी जाती हैं) के समान आकार होने के कारण यह गुहा "तवा गुहा" नाम से जानी जाती है।

प्रस्तर-खण्ड की सतह टूट जाने के कारण, लिखित भाग, जो कि लगभग ३' ७"×१' २" स्थान घेरता है, पर्याप्त क्षतिग्रस्त हुआ है, किन्तु इसका सामान्य अभिप्राय सुरक्षित रह गया जान पडता है और ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक महत्व की कोई सूचना नही नष्ट हुई है। अक्षरो का आकार ३/४" से लेकर १ १/४" तक मिलता है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा मूलत समुद्रगुप्त के इलाहाबाद मरणोपरान्त लिखित स्तम्भलेख (ऊपर स० १, पृ० १ इ०, प्रति० १) के अक्षरो के समान हैं। इन अक्षरो मे श्लोको की सख्या बताने के प्रसग मे १, २, ३, ४ तथा ५ सख्याए भी सम्मिलित हैं। भाषा सस्कृत है तथा प्रथम शब्द सिद्धम् को छोड कर यह अभिलेख पूर्णत पद्यात्मक है तथा श्लोको की सख्या दी गई है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे एकमात्र उल्लेखनीय वस्तु पक्ति ४ मे अकित ज्ञ कवि पाटलि में जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का प्रयोग है।

अभिलेख स्वय को प्रारभिक गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल मे रखता है, जिसका नाम पक्ति १ मे आया है। तिथि न दी होने के कारण इस विषय मे थोडी शका हो सकती है कि उल्लिखित चन्द्रगुप्त चन्द्रगुप्त प्रथम है अथवा चन्द्रगुप्त द्वितीय। किन्तु कई बातो से यह प्रमाणित होता है कि इसमे उल्लिखित शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय है, उसका पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम नही इसके अक्षरो की इलाहाबाद अभिलेख—जो कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मे उत्कीर्ण हुआ था—के अक्षरो से तुलना करने पर उपर्युक्त निष्कर्ष निकलता है। अभिलेख मे वर्णित चन्द्रगुप्त द्वारा स्वय उदयगिरि तक आने के उल्लेख को यदि इस तथ्यविशेष के साथ रख कर देखा जाय कि उदयगिरि से वर्ष ८२ मे अकित एक अन्य अभिलेख भी मिला है (ऊपर स० ६,) जिसकी इसमे अकित तिथि से चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय का होना सिद्ध होता है, तो भी यही निष्कर्ष निकलता है। यह शैव अभिलेख है, इसका

---

१ द्र० ऊपर पृ० २७, तथा टिप्पणी १।

प्रयोजन चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक मन्त्री वीरसेन, जिसका उपनाम शाव था,[1] की आज्ञा से शम्भु नाम के अन्तर्गत भगवान शिव के मन्दिर के रूप मे एक गुहा—उत्कीर्णन का अकन है।

मूलपाठ[2]

१ सिद्धम्[3] [॥*] यद[4][']तज्ज्योतिरर्क्काभमुर्व्व्याम् [— —⏑—⏑— — — — —⏑—] व्यापि चन्द्रगुप्ताख्यमद्भुतम् [॥*]१

२ विक्रमावक्रयक्रीता दास्यन्यग्भूत पार्थिव् [।] [— — —] मानसरत्ता धर्म्म [— —⏑— ⏑—] [॥*]२

३ तस्य राजाधिराजर्षेरचिन्त्यो [—⏑—] र्म्मन अन्वयप्राप्तसाचिव्यो व्या [पृतसन्) [f] ध् [f] व् ग्रह् [॥*]३

४ कौत्सश्शाव इति ख्यातो वीरसेन कुलाख्यया शब्दार्थन्यायलोकज्ञ कवि पाटलिपुत्रक [॥*]४

५ कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागत भक्त्या भगवतश्शम्भोर्ग्गुहामेतमकारयत् [॥*] ५

अनुवाद

सिद्धि प्राप्त की जा चुकी है।' ''' ''जो, आन्तरिक ज्योति से प्रकाशमान होते हुए, पृथ्वी पर सूर्य[5] के समान भासित होते हैं[6] व्याप्त करते है'' ' '(तथा) चन्द्रगुप्त नामवाले हैं, (तथा) अद्भुत (है),

पक्ति २—[जिनकी] शक्ति रूपी क्रय-समर्थ-धन से खरीदी गई [पृथ्वी] जिस पर (अन्य सभी) राजा (उनके द्वारा अपने ऊपर आरोपित) दासत्व से अवमानित'''''' द्वारा सतुष्ट''''धर्म '' ''।

पक्ति ३—जो अचिन्त्य' ''' से युक्त उसी धार्मिक शासक[7] के पिता पुत्र परपरा से प्राप्त मन्त्रिपद का उपभोग करता है''''''(तथा जिसकी) शान्ति तथा युद्ध (व्यवस्थित करने के पद पर) [नियुक्ति हुई है), (अर्थात्]—

---

१ उपनामों के कुछ समान दृष्टान्तो के लिए, द्र० ऊपर, पृ० ३३ इ०, टिप्पणी ५।

२ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

३ मूल मे यह शब्द पक्ति ४ के प्रारभ के सामने किनारे पर अकित है।

४ छन्द माद्यन्त श्लोक (अनुष्टुभ)।

५ यहाँ 'सूर्य' और 'चन्द्र' के साथ—जिसमें दूसरा (चन्द्र) राजा के नाम का एक भाग है—शब्द–कौतुक अभिप्रेत जान पड़ता है।

६ पक्ति ५ असम्पन्न-भूतकालिक अकारयत्(=उसने बनवाया)के प्रयोग से तथा अभिलेख का अंकन हो सकने के पूर्व गुहा-उत्कीर्णन मे सामान्यतया लगने वाले समय को देखते हुए ऐसा मानना होगा कि राजा तथा उसके मत्री द्वारा इस स्थान पर आने एव अभिलेख के अकन के बीच काफी समय का अन्तर रहा होगा। किन्तु इस मान्यता के लिए कोई विशेष कारण नही दिखाई देता कि यह कार्य चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा वीरसेन के जीवन-काल मे पूर्ण नही हुआ। तदनुसार, मैने अनुवाद करते समय पक्ति १ से ४ तक के विषय-वस्तु को वर्तमान काल मे रखा है।

राजाधिराज (शाब्दिक अर्थ–'राजाओ का अधिपति राजा')। प्राचीनतर समयो मे यह एक सार्वभौमता सूचक पारिभाषिक उपाधि थी। इसका पालि तथा प्राकृत रूप रजधिरज यूनानी बेसीलियस बेसीलिआन (basileus basileon) का प्रतिनिधित्व करने वाली उपाधि के रूप मे, कभी कभी सर्वथा अकेले, मावीज के कुछ सिक्को पर आता है (गार्डनर तथा पूल का कैटेलाग आफ द क्वाइन्स आफ द ग्रीक एण्ड सीथिक किंग्स आफ इण्डिया

पक्ति ४—कौत्स (गौत्र) का जो शाव नाम से प्रसिद्ध है (किन्तु) (अपने) कुल–नाम से वोरसेन कहा जाता है, जो शब्दो का अर्थ, तर्कशास्त्र तथा लोक (व्यवहार) को जानता है, जो कवि है, तथा जो पाटलिपुत्र (नगर) का निवासी है—

पक्ति ५—वह सपूर्ण पृथ्वी के विजय में प्रवृत्त स्वय राजा के माथ यहा आया, तथा भगवान शम्भु (देव) के प्रति श्रद्धा होने के फलस्वरूप इस गुहा को वनवाया।

इन द ब्रिटिस म्यूजियम, पृ० ६८इ०, स० ४, ५, ६, ११ तथा १७), तथा, कभी कभी यह महरज (महाराज) के साथ अजेज् के कुछ सिक्कों पर आता है (वही, पृ० ८५इ०, स० १३८, १४० तथा १५७)लगभग इसी प्रकार की एक अन्य उपाधि राजातिराज (शाब्दिक अर्थ–'राजाओं का श्रेष्ठ राजा') भी सार्वभौमतासूचक उपाधि के रूप में प्रयुक्त होती है, किन्तु यह महाराज के साथ भी प्रयुक्त होती है–उदाहरणार्थ, वर्ष ४७ में तिथ्यकित हुविष्क के मथुरा अभिलेख में (आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ३, पृ० ३३, स० १२, तथा प्रति० १४) तथा वर्ष ८७ मे तिथ्यकित वासुदेव के मथुरा अभिलेख मे (वही, पृ० ३५, स० १८, तथा प्रति० १५)। किन्तु ऐसा जान पडता है कि विशिष्ट प्रयोजनों के दृष्टिकोण से प्रारभिक गुप्त युग तक ये दोनों उपाधिया अपेक्षाकृत वडे रूप महाराजाधिराज द्वारा अभिभूत कर ली गई थीं (द्र० ऊपर पृ०, टिप्पणी)। राजातिराज रूप के विषय में वताना कठिन है। राजाधिराज केवल छन्दात्मक अवतरणो में आता है जहा कि महा उपसग का सन्निवेश कठिन अथवा असभव था, इस प्रकार वर्तमान अवतरण के अतिरिक्त, यशोधर्मन् तथा विष्णु-वर्धन के मन्दसोर अभिलेख (नीचे स० ३५) की पक्ति ६ मे, शीलादित्य सप्तम् के अलीन दानलेख (नीचे स० ३९) की पक्ति ६२ मे, तथा स्कन्दगुप्त के जूनागढ शिलालेख (नीचे स० १४) की पक्ति २४ में हम राजाधिराज्य यह व्युत्पन्न रूप पाते हैं, और इसी अभिलेख की पक्ति २ में, छन्दात्मक उपयुक्तता के उद्देश्य से ही, हम इस उपाधि का एक अन्य रूप राजराजाधिराज का प्रयोग पाते हैं।

सं० ७, प्रतिचित्र ४ ख

चन्द्रगुप्त द्वितीय का गढवा प्रस्तर-अभिलेख

वर्ष ८८

यह तथा अनुवर्ती दो अभिलेख, जो कुमारगुप्त के हैं (स० ८ तथा ९), एक प्रस्तर-खण्ड पर अकित हैं जो १८७१-७२ मे राजा शिव प्रसाद द्वारा पाए गए थे। इनकी ओर सर्वप्रथम ध्यानाकर्षण जनरल कनिंघम द्वारा अपने पुरातात्विक विवरणो मे किया गया।

गढवा[1] का शाब्दिक अर्थ 'दुर्ग' ('किला') है तथा नार्थ-वेस्ट प्राविंसेज मे इलाहाबाद जिले के करछना तहसील के अरइल तथा बारा परगनो मे इस नाम के कई गाव मिलते हैं। जिस गढवा से ये अभिलेख पाए गए, वह बारा परगना मे,[2] बारा से पश्चिम-दक्षिण दिशा मे आठ मील की दूरी पर तथा भटगढ[3] गाव से दक्षिण दिशा मे डेढ मील की दूरी पर स्थित है। मानचित्र मे इसका उल्लेख केवल एक 'दुर्ग' लिख कर हुआ है[4]। जिस प्रस्तर-खण्ड पर ये लेख अकित हैं, वह दुर्ग-प्राचीर के अन्दर बने एक आधुनिक निवासगृह के एक कक्ष की दीवार पर पाया गया, यह एक आयताकार बालुकाश्म-खण्ड है जिसकी लम्बाई लगभग ६½", चौडाई ४" एव ऊचाई २' ६½" है। अब यह इम्पीरियल म्यूजियम, कलकत्ता मे रखा हुआ है।

ये लेख प्रस्तर-खण्ड के तीन फलको पर अंकित हैं—जिस रूप मे यह सग्रहालय मे रखा हुआ है उसमे सम्मुख भाग तथा दोनो पार्श्वों पर इसका अकन हुआ है, किन्तु इसका शीर्ष भाग, जिस पर दो अथवा तीन पक्तिया लिखी हुई थी, टूटा हुआ तथा अप्राप्य है। इसके अतिरिक्त, पार्श्वों पर अकित अभिलेखो मे प्रत्येक पक्ति का केवल लगभग आधा भाग मिलता है, इस तथ्य को प्रस्तर-खण्ड के वर्तमान अपरिष्कृत पृष्ठभाग के साथ रख कर देखने पर पता चलता है कि मूलत अभिप्रेत उद्देश्य से पृथक् किसी कार्य के अनुरूप बनाने मे इसका आधा भाग अलग हो चुका है।

प्रस्तर-खण्ड के सम्मुख भाग पर, ऊपर के भाग मे, ग्यारह पक्तियो के लेखन के चिन्ह मिलते हैं जिनमे से प्रत्येक मे लगभग तेरह अक्षर हैं, ये उसी समय की लिपि मे हैं जो कि उन अभिलेखो का है जिन्हे मैं यहा प्रकाशित कर रहा हू। इस लेख, जो पार्श्वों पर अकित लेखो से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है, का कोई भी भाग नही पढा जा सकता, तथा इसके उपलब्ध अवशेषो का शिलामुद्रण व्यर्थ है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का यह सम्प्रति प्रकाशित किया जाने वाला अभिलेख वर्तमान रूप मे स्थित प्रस्तर खण्ड के बाए पार्श्व पर अकित है तथा लिखित भाग लगभग ४" चौडा एव १' ४½" ऊचा

---

१ मानचित्रो इ० का 'Garhwa' तथा 'Gurhwa'।

२ मानचित्रो का 'Barah'।

३ मानचित्रो इ० का 'Badgarh, Bhatgarh,' तथा 'Budgudh'।

४ इण्डियन एटलस, फलक स० ८८। अक्षाश २५°१३' उत्तर, देशान्तर ८१°३८' पूर्व।

स्थान घेरता है। मूलत इसके प्रति ध्यानाकर्पण १८७३ में जनरल कनिंघम ने कराया, उन्होंने आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ३, पृ० ५५ मे लेख की पक्ति १० से पक्ति १७ तक का अपना पाठ प्रकाशित किया और साथ मे सपूर्ण अभिलेख का शिलामुद्रण भी दिया (वही, प्रति० २०, स० १)। प्रथम दो सपूर्ण पक्तिया तथा शेप पक्तियो मे प्रत्येक का अतिम अर्धभाग टूटा हुआ तथा अप्राप्य है। किन्तु, वचा हुआ भाग पर्याप्त सुरक्षित अवस्था मे है तथा सरलतापूर्वक पठनीय है। अक्षरो का औसत आकार ½" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला से सवद्ध हैं तथा समुद्रगुप्त के मरणोपरान्त लिखित इलाहावाद स्तम्भलेख (ऊपर स० १, प० १ इ०, प्रति० १) मे अकित अक्षरो के सदृश हैं। प० ७, ११ तथा १६ मे ८, १० तथा ८० सख्याए मिलती हैं। भाषा सस्कृत है तथा लेख आद्यन्त गद्यात्मक है। जहा तक वर्ण-विन्यास का प्रश्न है एकमात्र ध्यातव्य विषय यह है कि पक्ति ९ मे सय्युक्त में तथा पक्ति ११ मे सव्वत्सरे मे अनुस्वार के पश्चात् य तथा व का द्वित्व हो गया है।

अभिलेख के प्रथम भाग—प० १ से प० ९—मे तिथि तथा राजा का नाम पूर्णतया टूटे हुए तथा अप्राप्य हैं। तदेव, द्वितीय भाग मे नाम सर्वथा टूटा हुआ तथा अप्राप्य है। किन्तु, द्वितीय भाग—प० १० से प० १७—मे वर्ष ८८ सूचक सख्या (ईसवी सन् ४०७–०८) दी हुई है। इसे इन तथ्यो के साथ रख कर देखने पर, कि प० १० मे परमभागवत विरुद अकित है तथा इसके पश्चात् महाराजाधिराज उपाधि का प्रारभिक अश दिया हुआ है, यह ज्ञात होता है कि लेख निश्चितरूपेण प्रारभिक गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय का है। तथा लेख का प्रथम भाग इतने स्पष्ट रूप मे समान उत्कीर्णक द्वारा लिखा जान पडता है—अपरच यह द्वितीय भाग से किसी विभाजक रेखा से विभक्त नहीं है—कि इसे भी निश्चितरूपेण उसी शासक के समय में रखा जाना चाहिए। इस लेख के दोनो भागो का इतना कम अश मिलता है कि यह निश्चित नही किया जा सकता कि वे किस धार्मिक सम्प्रदाय-विशेप से सवद्ध थे, न ही इनका प्रयोजन वताया जा सकता है, केवल यह ज्ञातव्य है कि प्रत्येक भाग मे दस दीनारो के दान का उल्लेख है, प्रत्यक्षत जिसका प्रयोजन एक सत्र (दानशाला अथवा भिक्षा-गृह) का निरन्तर निर्वहण था।

प १२ मे हमे पाटलिपुत्र नगर-विहार मे आधुनिक पटना-का उल्लेख मिलता है किन्तु इसका कोई सकेत नही मिलता कि यह अनिवार्यत चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजधानी के रूप मे ही उल्लिखित हुआ है।

मूलपाठ[1]

प्रथम भाग

१ [परमभागवत[2] महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तराज्य]
२ [सव्वसरे][3]..... [अस्या]
३ दिवसपूर्व्वाया[4]
४ कमातृदासप्र [मुख] [पुण्या]—

---

१ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

२ प्रथम पक्ति पूणतया टूटी हुई तथा अप्राप्य है, किन्तु, प० ११ में दी गई तिथि मे इसमे कोई सदेह नही रह जाता कि पक्ति १० के समान इस रिक्त स्थान को भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के नाम तथा उपाधियों से भरना है। द्वितीय पक्ति मे प्रथम चार अथवा पाच अक्षरों के अवशेप दर्शनीय हैं जिनमे एक अथवा दो सख्याए सम्मिलित है, किन्तु ये अवशेप इतने पर्याप्त नही हैं कि इन सख्याओ का अभिधान हो सके।

३ राज्ये सवत्सरे मे सशोधनीय, द्र० नीचे, पृ० ४८, टिप्पणी ५।

४ तिथौ समायोजित किया जाय।

५ पायनार्त्थं रचि [त]" " " ' '[स]—
६. दासव् [व्] रसामाण्य (न्य) ब्राह्म [ण]"''' '
७ दीनारैर्द्दशभि १०' "'''[।।*]
८. यश्चैत धर्म्मस्कन्द (न्ध[1])]व्युच्छिन्द्यात्स पञ्चमहापातकैः सं]
९. य्युक्ता [ ] स्यादिति। [।।]

द्वितीय भाग

१० परमभागवतमहा [राजाधिराजश्री चन्द्रगुप्तरा]—
११ ज्यसम्वसरे[2] ८० ८''''''''''''''[अस्या दिवस]—
१२ पूर्व्वाया[3] पाटा (ट) लिपुत्[त्] र''''''''', ''''[गृ]—
१३ हस्थस्य भार्या यृ''''' ''''''''' ''''''''''''''
१४ आत्मपुण्योपचय्[ार्थं] '' ' ''' '' '
१५ सदासत्रसामान्यव् (राह्मण)' , '' '' ' '
१६ दीनार' दश १० ' ' '' '' [।।] [यश्चैन]
१७ धर्म्मस्कन्द (न्ध) व्युच्छिन्द्या [त्स पञ्च महापातकै, सयुक्त' स्यादिति [।।]

अनुवाद

प्रथम भाग

[परम भागवत् महाराजाधिराज (श्री चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के शासनकाल मे, वर्ष] जैसा कि ऊपर उल्लिखित दिन द्वारा [निर्दिष्ट है] '' ' '''' ''''''

[मैं इस] चाद्रदिवस (पर) (इ०) —

प० ३— ' मातृदास की अध्यक्षता मे '' [पुण्य] वृद्धि के उद्देश्य से '' '' 'निर्मित' ' सदा चलने वाले भिक्षागृह से सवद्ध ब्राह्मण' ''' ' दस (अथवा अको मे) १० दीनारो द्वारा '' '

प० ८—और जो भी धर्म की इस शाखा के प्रति [व्यवधान उपस्थित करेगा वह पाच पातको[4] के (अपराध का) भागी] होगा।

द्वितीय भाग

प० १०—परम भागवत, महाराजाधिराज [श्री चन्द्रगुप्त (द्वितीय)] के शासनकाल[5] मे वर्ष ८० (तथा) ८ मे,

---

१ नीचे प० १७ मे पुन स्कन्दम् अकित है। किन्तु यह निश्चित रूप से स्कन्धम् के स्थान पर गलती से लिखा गया है, क्योकि उसी अभिशासन मे गढ़वा अभिलेख, नीचे स० ६४, प्रति० ३९ ख, की पंक्ति १२ मे स्कन्म् लिखा हुआ पाते हैं। स्कन्दगुप्त के कहौम स्तम्भ लेख की पक्ति ९ मे (नीचे, स० १५, प्रति० ९क) हम इसी प्रकार की अभिव्यक्ति, पुण्यस्कन्धम्, पाते हैं।

२ पढ़ें राज्ये सवत्सरे; द्र० नीचे टिप्पणी ५।

३ तिथी समायोजित किया जाए।

४ 'पच महापातकानि' अथवा पाच गभीर पाप-कृत्य हैं ब्राह्मण-हत्या, मद्यपान, (ब्राह्मण के सुवर्ण की) चोरी, गुरु-भार्या-गमन, तथा इनमे से किसी एक भी पापकृत्य के करने वाले से ससर्ग, मानवधर्म-शास्त्र ९. २३५ तथा ११. ५५–५९, बरनेल कृत अनुवाद, पृ० २८७, ३३१।

५ मूल यथारूप स्वीकार करने पर अनुवाद होगा—"चन्द्रगुप्त के शासनकाल के ८८वें वर्ष में"। किन्तु यहा तथा, और भी अधिक स्पष्ट रूप मे, नीचे दिए गए अको से यह ज्ञात होता है कि ये शासकीय वर्षों के परिचायक

क-चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि गुहा-लेख
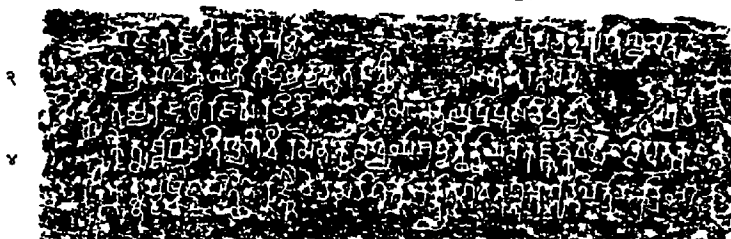
माल १४

ख-चन्द्रगुप्त द्वितीय का गढवा लेख
वर्ष ८८
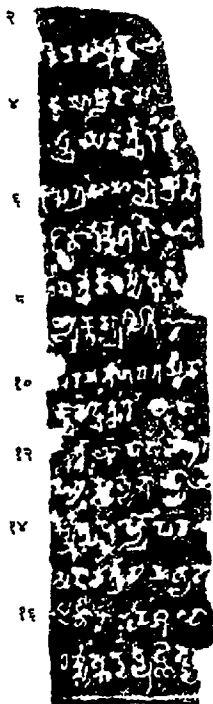
मान ३८

ग-कुमारगुप्त का गढवा लेख
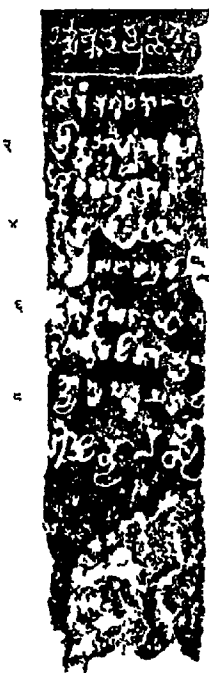
मान ३८

घ-कुमारगुप्त का गढवा लेख
वप ९८
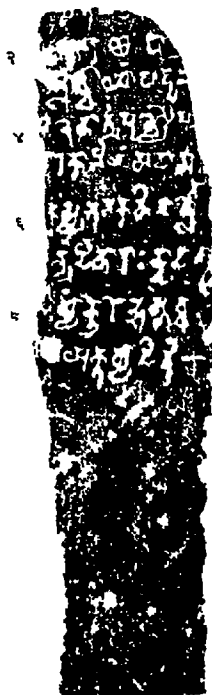
गान ३८

जैसा कि ऊपर उल्लिखित [दिन (इ०) द्वारा निर्दिष्ट है] [इस (चान्द्रदिवस) पर]—

प० १२—पाटलिपुत्र गृहस्थ की पत्नी (स्वय) अपने पुण्य मे वृद्धि [के उद्देश्य से] सदा चलने वाले भिक्षागृह से सवद्ध ब्राह्मण 'दस (अथवा अको मे) १० दीनारो

प० १६—[और जो भी इस] धर्म की शाखा के प्रति व्यवधान उपस्थित करेगा [वह पाच पातको के (अपराध का) भागी होगा।]

नहीं हो सकते। प्राचीनकाल मे इस प्रकार की अभिव्यक्ति बहुत सामान्य थी, सभवत यह इस कारण है कि अधिकाश सवतो के प्रारभिक वर्ष शासकीय वर्ष थे तथा प्रत्येक सवत् के सस्थापक की मृत्यु के पश्चात् यह अभिव्यक्ति उनके उत्तराधिकारियों के साथ स्वत जुट गई। समान दृष्टान्त के रूप मे हम वर्तमान अभिलेख-शृ खला में ये लेख पाते हैं १ कुमारगुप्त के बिल्सड स्तम्भ अभिलेख—(नीचे स० १० प्रति० ५) मे पक्ति ६—"कुमारगुप्त के विजयोन्मुख शासनकाल के छानवेवें वर्ष मे", २ स्कन्दगुप्त के इन्दौर दानलेख (नीचे स० १६, प्रति० ९ख) में प० ३—"जब कि स्कन्दगुप्त के विजयोन्मुख शासनकाल का एक सो छियालीसवां वर्ष प्रचलित है", ३ १४८ वर्ष की तिथियुक्त गढवा अभिलेख (नीचे स० ६६, प्रति० ३९घ) मे पक्ति १"

के विजयोन्मुख शासनकाल के एक सौ अडतालीसवें वर्ष मे।" इतर अभिलेख शृ खलाओं मे द्र०, ४ रुद्रसिह के गूद अभिलेख (इण्डियन ऐंटिक्वेरी, जि० १०, पृ० १५७) मे प० २—"महाक्षत्रप स्वामिन् रुद्रसीह के एक सौ दो अथवा अकों में १०२वें वर्ष में", वासुदेव के एक मथुरा अभिलेख (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ३, पृ० ३५, प्रति० १५, स० २०) में पं०—१ "राजा वासुदेव के ९० तथा ८वें वर्ष मे"। इस शृ खला मे आए हुए अवतरणो के समान प्रत्येक अवतरण मे राज्यसवत्सरे के स्थान पर राज्ये सवत्सर पढ़ने से तुरन्त ही एक उपयुक्त अभिव्यक्ति तथा अनुवाद की प्राप्ति होती है।

सं० ८ प्रतिचित्र ४ ग

कुमारगुप्त का गढवा प्रस्तर–अभिलेख

यह १८७१–७२ मे नार्थ–वेस्ट प्राविसेज मे इलाहाबाद जिले के गढवा[1] नामक स्थान से राजा शिव प्रसाद द्वारा प्रस्तर-खण्ड पर अ कित अभिलेखो मे एक अन्य अभिलेख है। सर्वप्रथम, १८७३ मे जनरल कनिघम ने इसके प्रति ध्यान आकर्षित किया, कनिघम ने आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ३ पृ० ५५ मे अपना पाठ प्रकाशित किया और साथ मे लेख का शिलामुद्रण भी दिया (वही, प्रति २०, स० १)।

यह अभिलेख प्रस्तर–खण्ड के बाए पार्श्व पर निचले भाग मे है तथा पूर्ववर्ती (ऊपर स० ७) चन्द्रगुप्त द्वितीय के अभिलेख के ठीक नीचे अ कित है। दोनो लेख एक दूसरे से बीच मे पडी एक प क्ति से पृथक् किए गए हैं।

प्रत्येक पक्ति का अपरार्ध टूटा तथा अप्राप्य है। लिखित भाग का अवशेष, जो कि लगभग ८" चौडा तथा १०" ऊ चा स्थान घेरता है, पर्याप्त सुरक्षित अवस्था है एव सरलतापूर्वक पठनीय है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ¼" है। अक्षर उत्तरी प्रकार के वर्णमाला से सवद्ध है तथा पूर्ववर्ती लेख के अक्षरो के सर्वथा सदृश हैं, अभिलेख स० ८ भी सभवत स० ७ के उत्कीर्णक द्वारा उत्कीर्ण किया गया होगा। प० ३ तथा ६ मे अ क १० का प्रयोग हुआ है। भाषा सस्कृत है तथा लेख आद्यन्त गद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास मे कोई वस्तु उल्लेखनीय नही है।

अभिलेख स्वय को प्रार भिक गुप्त शासक कुमारगुप्त के शासनकाल मे रखता है। दिन को छोड कर, तिथि टूटी हुई तथा अप्राप्य है। अभिलेख के बचे हुए अ श से यह निर्धारित कर पाना कठिन है कि यह किस धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बन्धित है, न ही इसके अ कन का प्रयोजन जाना जा सकता है; केवल यह दो दानो का उल्लेख करता प्रतीत है—एक दस दीनारो का तथा दूसरा जिसकी सख्या अनिश्चित है जिसका उद्देश्य एक सत्र अथवा दानशाला अथवा भिक्षागृह का निर्वहण था।

मूलपाठ[2]

१ जित भगवता। [परमभागवत[3]महाराजाधिराज]—
२. श्रीकुमारगुप्तराज्य[सवत्सरे[4]] ... .
३ दिवसे १० अस्या दिवसपूर्व्वाया
४ . . . . .

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ४६, टिप्पणी १।

२ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

३ यह विरुद कुमारगुप्त के बिल्सड स्तम्भ-लेख (नीचे, स० १०) की पक्ति ५ से तथा स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ-लेख (नीचे, स० १३) की पक्ति ५ इ० से पूरा किया गया है।

४ पढें, राज्ये [सवत्सरे], द्र० ऊपर पृ० ४८, टिप्पणी ५।

५ सदासत् [त्क्ष]रसा [मान्य] .
६ [द] त्ता दीनारा १० त (?) . .
७ ति सत्रे च दीनारास्त्रय्[1] ... . [॥]
[यश्चैन धर्मस्कन्ध व्युच्छि]—
८ न्द्यात्स पञ्चमहापा [तकै सयुक्त स्यादिति] [॥]
९ गोयिन्दा लक्ष्मा

अनुवाद

भगवान् द्वारा विजय प्राप्त की जा चुकी है। [परम भागवत महाराजाधिराज] श्री कुमार गुप्त के शासनकाल मे[2], . (वर्ष मे), दिवस १० पर [जैसा कि ऊपर उल्लिखित दिवस इ० द्वारा (निर्दिष्ट) है] इस (चान्द्रदिवस) पर —

प० ३—सदा चलने वाले भिक्षागृह [का सघ] दस दीनार दान दिए गए' तथा भिक्षागृह मे तीन दीनार

प० ७—[तथा जो भी धर्म की इस शाखा के प्रति व्यावधान उपस्थित करेगा] वह पाच महापातको (के अपराध) का [भागी होगा]।

प० ९—गोयिन्दा, लक्ष्मा

---

१ इसकी पूर्ति त्रय, त्रयोदश, त्रयोविंशति अथवा त्रयस् से प्रारभ होने वाली किसी भी सख्या से हो सकती है।

२ द्र० ऊपर पृ० ४८, टिप्पणी ५।

सं० ६; प्रति० ४घ

कुमारगुप्त का गढवा प्रस्तर-अभिलेख

वर्ष ६८

१८७१-७२ मे नार्थ-वेस्ट प्राविंसेज के इलाहाबाद जिले मे गढवा[1] नामक स्थान पर राजा शिव प्रसाद द्वारा पाए गए प्रस्तर-खण्ड पर अ कित अभिलेखो मे यह अन्तिम लेख है। प्रस्तर-खण्ड की प्राप्ति के समय इसका पता नही चल सका था किन्तु कालान्तर मे इसके ऊपर जमे चूने को हटाने पर जनरल कनिंघम को यह दृष्टिगत हुआ, जिन्होने १८८० मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ६ मे लेख का अपना पाठ इसके शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० ५, स० १) प्रकाशित किया।

यह लेख प्रस्तर-खण्ड के दाहिने पार्श्व के ऊपरी भाग पर अ कित है। प्रथम पक्ति लगभग पूर्णत तथा अवशिष्ट प क्तियो मे प्रत्येक का प्रथमार्ध सपूर्णत टूटा हुआ तथा अप्राप्य है। किन्तु, लेखन का अवशिष्ट भाग जो कि लगभग ४ इच चौडा तथा ६ इच ऊचा स्थान घेरता है, पर्याप्त सुरक्षित अवस्था मे है तथा सरलतापूर्वक पठनीय है। अक्षरो का आकार ¼" से लेकर ½" तक है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला से सबद्ध हैं तथा पूर्ववर्ती लेख स० ७ तथा स० ८ के सदृश ही हैं, एव सभवत समान व्यक्ति द्वारा उत्कीर्ण किए गए थे। इनमे, तिथि मे, ८ तथा ९० अक भी सम्मिलित हैं। भाषा सस्कृत है तथा लेख आद्यन्त गद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास मे कोई उल्लेखनीय बात नही है।

पक्ति २ के प्रथमार्ध मे राजा का नाम टूटा हुआ तथा अप्राप्य है। किन्तु लेख मे अको के माध्यम से अट्ठानवे तिथि (ई० सन् ४१७-१८) दी हुई है, और इससे ज्ञात होता है कि यह लेख प्रारम्भिक गुप्त शासक कुमारगुप्त के समय का होना चाहिए। अवशिष्ट अश यह जान पाने के लिए अपर्याप्त है कि यह किस धार्मिक सप्रदाय से सबद्ध था, अतिरिक्त इसके कि इसमे बारह दीनारो के दान का उल्लेख है, जो स्पष्टत. एक सत्र अथवा दानशाला अथवा भिक्षागृह के निर्वहण के लिए दिए गए थे, इस लेख का प्रयोजन भी बोधगम्य नही है।

मूलपाठ[2]

१ [जित भगवता ॥ पर]मभ् [ा] गवत[महाराजाधि]—
२ [राजश्रीकुमारगुप्तराज्यसवत्स] रे[3] ९० ८
३ · [अस्या दिवस] पूर्व्वाया[4] पट्ट
४ ने (?) नात्मपुण्योप [च]—
५ [यार्थं] ·· कालीय सदासत् [त्] र—

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ४६ तथा टिप्पणी १।

२ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

३ राज्ये सवत्सरे मे सशोधनीय, द्र० ऊपर पृ० ४८, टिप्पणी ५।

४ तिथौ समायोजित करें।

६ कस्य तलकनिवन्से (?)
७ त्य (?) दीनारा द्वादश
८ ... स्यांकुरोद्‌म (?) स्तच्छ
९ .. [स] युक्त [ॐ][1] स्यादिति।(॥)

अनुवाद

[भगवान द्वारा विजय प्राप्त की जा चुकी है!] परमभागवत [महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त] [के शासनकाल मे[2]], वर्ष ९० (तथा) ८ मे, जैसा कि ऊपर उल्लिखित दिवस इ० (द्वारा निर्दिष्ट है) (इस) (चान्द्र दिवस पर) —

प० ३–(स्वय) अपने पुण्य मे वृद्धि [के उद्देश्य से] द्वारा उसी समय मे (स्थिर रखने के लिए) सदा चलने वाले सत्र वारह दीनार ...

प० ९– का भागी होगा।

---

१ इस लेख की पक्तियो का माप यह प्रदर्शित करता प्रतीत होता है कि यहां पूर्ववर्ती लेख स० ७ तथा स० ८ मे अ कित वाक्य-पद नहीं दिया गया था।

२ द्र०, ऊपर पृ० ४८, टिप्पणी ५।

सं० १० ; प्रतिचित्र ५

कुमारगुप्त का बिल्सड प्रस्तर स्तम्भ-लेख

वर्ष ९६

यह अभिलेख जनरल कनिंघम को १८७७-७८ मे प्राप्त हुआ और सर्वप्रथम इसके प्रति ध्यानाकर्षण उन्होने ही, १८८० मे, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ११, पृ० १९ इ० मे इस लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित करके किया , साथ मे उन्होने शिलामुद्रण भी दिया (वही, प्रति० ८) ।

बिल्सड अथवा बिल्सण्ड[1] गाव नार्थ-वेस्ट प्राविंसेज के एटा[2] जिले के बिल्सड-पट्टी अथवा अलीगज[3] तहसील मे स्थित है ; इस गाव मे तीन टोले हैं जिन्हे क्रमशः बिल्सड-पुवाया अर्थात् पूर्वी बिल्सड, बिल्सड-पछाया अर्थात् पश्चिमी बिल्सड तथा बिल्सड पट्टी[4] कहा जाता है। बिल्सड-पुवाया के दक्षिण-पश्चिम कोने मे लाल बलुहे पत्थर के चार एकाश्मक स्तम्भ मिलते हैं—दो स्तम्भ, जो पश्चिम मे है, गोल हैं , शेष दो स्तम्भ, जो पूर्व मे हैं, चौकोर हैं। प्रत्येक स्तम्भ-युग्म ठीक दक्षिण-उत्तर की स्थिति मे है तथा पश्चिम मे स्थित दोनो स्तम्भ लेखाकित हैं। सप्रति प्रकाशित किया जाने वाला लेख पश्चिम मे स्थित स्तम्भ-युग्म के उत्तरी स्तम्भ के पूर्वी भाग मे अकित है ।

पश्चिम मे स्थित स्तम्भ-युग्म के दक्षिणी स्तम्भ के पूर्वी भाग पर भी एक लेख अकित है, और, जैसा कि उपलब्ध अश से ज्ञात होता है, यह उत्तरी स्तम्भ पर अकित लेख की ही प्रति थी, किन्तु यह लेख भिन्न प्रकार से व्यवस्थित किया गया था और इसमे तेरह पक्तियो के स्थान पर सोलह अपेक्षा-कृत छोटी पक्तिया थी। जनरल कनिंघम की स्याही की छाप से इस द्वितीय लेख का—केवल दूसरी तथा तीसरी पक्ति एव पक्ति १२ से लेकर १६ तक छोड कर—किंचित ही कोई उल्लेखनीय भाग शेष बचता है ; और ये इतनी सुरक्षित अवस्था मे नही हैं कि इनका शिलामुद्रण किया जाय यद्यपि इनकी इस दृष्टि से उपयोगिता है कि उत्तरी स्तम्भ मे अकित लेख मे अन्त मे दिए गए दो श्लोको मे जो कुछ अक्षर सदिग्ध हैं उन्हे इस लेख की सहायता से पढा जा सकता है। इस दूसरे लेख मे, पक्ति दो प्रथम लेख की पक्ति १ मे अकित स्वादित्यशसो से प्रारम्भ होती है , पक्ति ३ प्रथम लेख की पक्ति २ मे अकित गतावेक से प्रारम्भ होती है , पक्ति १२ प्रथम लेख की पक्ति ९ मे अकित पर्षदा से प्रारम्भ होती है , पक्ति १३ प्रथम लेख की पक्ति १० मे अकित कुबेरच्छन्द से प्रारम्भ होती है ; पक्ति १४

---

१ मानचित्रो इ० का 'Beelsur' और 'Bilasr' । इण्डियन एटलस, फलक स० ६८ । अक्षांश २७°३३' उत्तर, देशान्तर ७९°१६' पूर्व । नाम का लेखन तथा उच्चारण अनुनासिक ध्वनि से युक्त अथवा रहित दोनो प्रकार किया जाता है । तुलनीय, आदित्यसेन के अभिलेख के प्रसग मे (नीचे स० ४२) अफ्सड अथवा अफसण्ड ।

२ मानचित्रो इ० का 'Eeta', 'Etah' तथा 'Eytuh' ।

३ मानचित्रो इ० का 'Aliganj' तथा 'Ulleegunje' ।

४ मानचित्रो का 'Beelsurpowa', 'Beelsurpucha' तथा 'Beelsurputtee' ।

प्रथम लेख की पंक्ति ११ मे अंकित [स] अ से प्रारम्भ होती है, पंक्ति १५ प्रथम लेख की पं० १२ मे अंकित शुभा मे तथा पंक्ति १६ प्रथम लेख की पंक्ति १३ मे अंकित येनापूर्व्वं से प्रारम्भ होती है।

इस दो प्रतियो वाले लेख-युग्म के साथ हम मन्दसोर में दो स्तम्भो पर अंकित यशोधर्मन् के दो-प्रतियो वाले लेख-युग्म (नीचे, स० ३३ तथा ३४) की तुलना कर सकते हैं। किन्तु यशोधर्मन् के स्तम्भ जय-स्तम्भ थे तथा वे किसी भवन से सबद्ध नही थे, इसके विपरीत, बिल्सड से प्राप्त लेखाकित स्तम्भ एक मदिर से सबद्ध प्रतीत होते हैं, जो कि अब नष्ट हो चुका है तथा जिसके अवशेष इस स्थान पर इकट्ठी हो गई मिट्टी के नीचे दवे होंगे—यह अभिलेख में चर्चित स्वामि-महासेन अर्थात् कार्त्तिकेय का मदिर था।

सप्रति प्रकाशित किए जाने वाले लेख का लिखिताश २' १¾" चौडा तथा १' १०½" ऊंचा स्थान घेरता है। प्रथम चार पंक्तियां लगभग पूर्णतया नष्ट हो चुकी है एव लेख के शेष भाग को भी पर्याप्त हानि पहुँची है, किन्तु ऐतिहासिक महत्व की कोई सूचना नष्ट हुई नही प्रतीत होती। अक्षरो का औसत आकार लगभग ⅜" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला से सबद्ध हैं किन्तु ये समान-वर्गीय पूर्ववर्ती अभिलेखो में उत्कीर्ण अक्षरो से अपनी अत्यन्त विशिष्ट मात्राओ अथवा अक्षरो की दीर्घीकृत शीर्ष-रेखाओ के कारण विशिष्टरूपेण भिन्न हैं। भाषा सस्कृत है, पंक्ति ६ तक यह लेख गद्यात्मक है और शेष भाग पद्य मे है। वर्ण-विन्यास की दृष्टिकोण मे एकमात्र उल्लेखनीय वस्तु अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर त का द्वित्व हो जाना है—उदाहरणार्थ पंक्ति ४ मे पुत्त्रस्य।

अभिलेख स्वय को प्रारम्भिक गुप्त शासक कुमारगुप्त के शासनकाल मे रखता है। यह शब्दो मे वर्ष छियानवे (ईसवी सन् ४१५-१६) मे तिथ्यकित है किन्तु मास अथवा दिन का उल्लेख नहीं हुआ है। यह शैव सम्प्रदाय से सबद्ध है तथा इसका उद्देश्य स्वामी-महासेन के नाम से भगवान् कार्त्तिकेय के मदिर में किसी ध्रुवशर्मन् द्वारा कुछ निर्माण-कायो का उल्लेख करना है १ एक प्रतोली अर्थात् 'सोपानयुक्त प्रवेश द्वार' का निर्माण[1] २ एक सत्त्र अर्थात् दानशाला अथवा भिक्षागृह की सस्थापना, तथा ३ उपर्युक्त कृत्यो के लेखन के लिए इस लेख से युक्त स्तम्भ का निर्माण।

मूलपाठ[2]

१ [3][सर्व्वराजोच्छेत्तु पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुद] धिसलिलास्वादितयशसो

२ [धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य कृतान्तपरशोः न्यायागतानेकगोहि] रण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्स-न्नाश्वमेधाहर्त्तु

---

१ जैसा कि जनरल कनिंघम ने बताया है, शब्दकोशों में प्रतोली का अर्थ "एक प्रशस्त मार्ग, महा वीथ, नगर के बीच मे जाने वाला प्रमुख मार्ग" मिलता है। किन्तु "प्रवेश-द्वार" अर्थ उन्हें किसी पंडित द्वारा प्राप्त हुआ है। तथा, वर्तमान अभिलेख में इस शब्द का अर्थ "सोपानयुक्त प्रवेश-द्वार" है, यह प्रतोली की स्वर्ग-सोपान ='स्वर्ग तक ले जाने वाली सीढी' से की गई तुलना मे तथा इसके स्फटिक "मणि-खण्डो की प्रभा से शुभ्र" (जिनसे यह निर्मित हुआ था) होने के विवरण से निर्दिष्ट प्रतीत होता है।

२ जनरल कनिंघम की स्याही की छाप से, शिलामुद्रण भी। पंक्ति १ से पंक्ति ३ तक के अपठनीय अवतरण अभिलेख स० १ की पंक्ति २४, २६, २८ तथा २९ से तथा स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ-लेख (नीचे स० १३, प्रति० ७) की पंक्ति १ से लेकर पंक्ति ३ तक के उत्कीर्ण भाग से पूरे किए गए हैं।

३ सभवत यहा सिद्धम् अंकित था।

३, [महाराजश्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराजश्रीघटोत्कचपौत्रस्य म] हाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य

४ लिच्छविदौहि [त्र] र [स्य महादेव्या कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महारा] जाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तपुत्रस्य[1]

५ महादेव्या दत्तदेव्यामुत्पन्नस्य स्वय [म प्रतिरथस्य] [परम] भागवतस्य महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य[2]

६ महादेव्या ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तस्याभिवर्द्धमानविजयराज्यसवत्सरे[3] षण्णवते।

७ अस्यान्दिवसपूर्व्वायां[4] भगवतस्त्रैलोक्यतेजस्सभारसततादभुतमूर्त्तेर्ब्रह्मण्यदेवस्य

८ निवासिन स्वामिमहासेनस्यायतनेऽस्मिन्नकात्त् युगाचार सद्धर्म वर्त्मानुयायिन।

९ त [प] पंदा मानितेन ध्रुवशर्म्मणा कर्म्म महत्कृतेदम्[5]। (॥)

१० कृत्[व्] ा[6] [--ा]भिराम मुनिवसति [⏑--] स्वर्गसोपानर्[ ] पाम्।[7] कुबेराच्छन्दबिम्बा स्फटिकमणिदलाभासगौरा[8] प्रतोलीम्।

११ प्रासादाग्राभिरूप गुणवरभवन [धर्म्मस(?)] त्र यथावत्। पुण्यैष्वेवाभिराम व्रजति शुभमतिस्तातशर्म्मा ध्रुवोऽस्तु। (॥)

१२ [-] ा [-] ी [-] स्य[9] [⏑-] गुभामृतवरप्रख्यातलब्धा भुवि। [-] [-] भक्तिरहीनसत् [त्] वसमता कस्त न सपूजयेत।

१३ येनापूर्व्व[10] विभूतिसञ्चयचयै [-] ि [-] [⏑ ---⏑-]। तेनाय ध्रुवशर्म्मणा स्थिरवरस्[11] [स्त] भोच्‍ [छ्] य कारित। (॥)

---

१ यहा समुद्रगुप्तस्य पुत्रस्य पढना चाहिए, क्योकि प० ३ इ० मे प्रपौत्रस्य, पौत्रस्य, पुत्रस्य, दौहित्रस्य, मे समाप्त होने वाले सबधकारक शब्दो के सन्निधान में समुद्रगुप्तस्य, इस पृथक सबध-कारक की आवश्यकता है। यहा तथा प० ५ मे लेख के रचयिता द्वारा हुई गलती का यह कारण प्रतीत होता है कि उसने प० ३ के अत मे अकित चन्द्रगुप्त पुत्रस्य—जो वहां शुद्ध है—का अन्धानुकरण किया है।

२ यहां चन्द्रगुप्तस्य पुत्रस्य पढें क्योकि इस पक्ति मे अकित उत्पन्नस्य, अप्रतिरथस्य, परमभागवतस्य इन सबधकारक शब्दो के सन्निधान मे चन्द्रगुप्तस्य, इस पृथक सबध-कारक की आवश्यकता है। पूर्ववर्ती टिप्पणी देखें।

३ यहा राज्ये सवत्सरे पढें। द्र० ऊपर पृ० ४८, टिप्पणी ५।

४ यहा तिथौ जोडें।

५ इसे कृतमिदम् पढें।

६ छन्द, स्रग्धरा।

७ सप्रति तथा नीचे, प्रत्येक श्लोक के प्रथम तथा तृतीय पादो के अन्त मे विराम–चिन्ह अनावश्यक है।

८ दूसरे स्तम्भ पर अकित इस अभिलेख की मूल प्रतिलिपि मे भी सामान्य रूप गौरीं न होकर गौरां ही अकित है।

९ छन्द, शार्दूल विक्रीडित।

१० ये चार अक्षर इस अभिलेख की दूसरे स्तम्भ पर अकित स्याही की छाप से लिए गए हैं, जहा कि ये पर्याप्त स्पष्ट हैं।

११ यहां हमे स्थिरतरस् की अपेक्षा करनी चाहिए, किन्तु लेख की अन्य स्तम्भ पर अकित प्रतिलिपि मे भी स्थिरवरस् ही लिखा हुआ मिलता है।

कुमारगुप्त का बिलसड़ स्तम्भ-लेख — वर्ष ९६
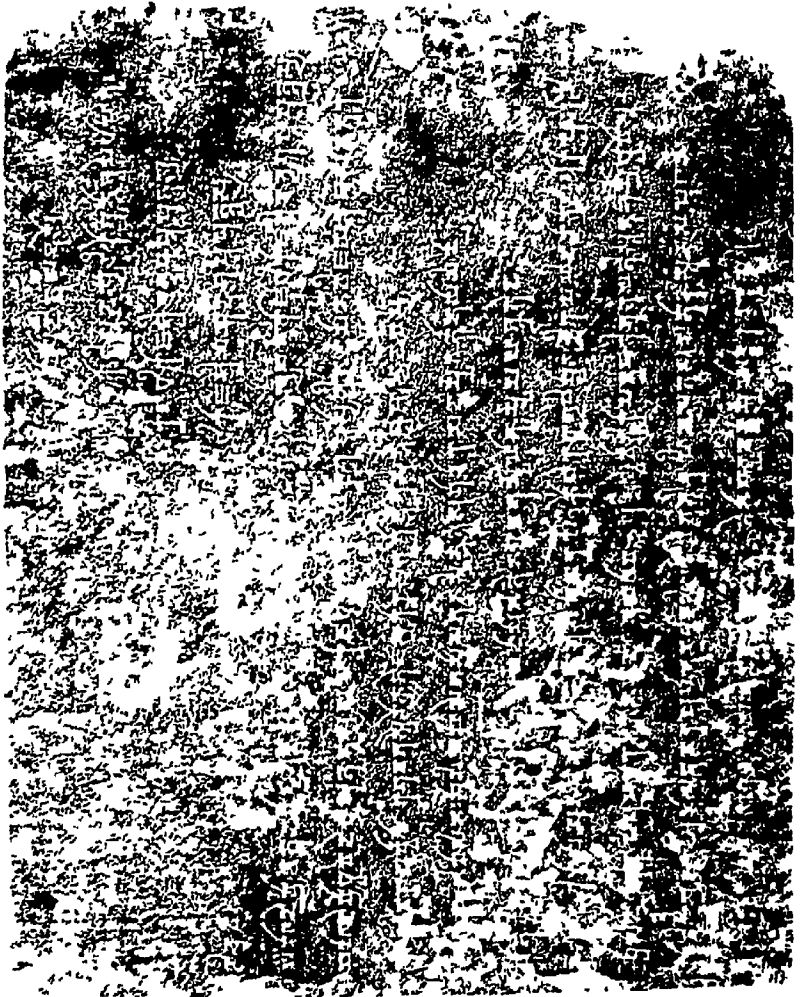
अनुवाद

पंक्ति ६—महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्त के छियानवेवें (तथा) विजयोन्मुखी शासनकाल[१] मे—

पंक्ति ५—जो कि अप्रतिरथ (जिनके समान शक्तिवाला अन्य कोई नही था) परम भागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के महादेवी ध्रुवदेवी से उत्पन्न पुत्र हैं,

पंक्ति ४—जो,[२] महादेवी दत्तदेवी से उत्पन्न, महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त के पुत्र थे—

पंक्ति १—[जो कि[३] सभी राजाओ के उन्मूलनकर्त्ता थे, विश्व मे जिनका विरोधी (अर्थात् जिनके समान शक्तिवाला) कोई नही था], जिनकी कीर्ति [चारो समुद्रो के] जलो से आस्वादित हुई थी, [जो धनद, वरुण, इन्द्र तथा अन्तक (देवताओ) के समान थे, जो कृतान्त (देवता) के परशुस्वरूप थे], जो [कई] कोटि [विधिपूर्वक आधिकृत गायो तथा]सुवर्ण का दान देने वाले थे, जिन्होंने बहुत दिनो से बन्द हो गए अश्वमेध यज्ञ का पुनरुद्धार किया था, (तथा)

पंक्ति ३—[जो कि[४] महाराज श्री गुप्त के प्रपौत्र, एव महाराज श्री घटोत्कच के पौत्र], (तथा) महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त (प्रथम) के महादेवी कुमार देवी से उत्पन्न पुत्र, (तथा) लिच्छवि-दौहित्र थे,

पंक्ति ७—ऊपर दिए गए दिन (द्र०)द्वारा (निर्दिष्ट) इस (चान्द्रदिवस=तिथि) पर—(भगवान्) स्वामि-महासेन(जिनकी अद्भुत मूर्ति तीनो लोको के प्रकाश-पुञ्ज से आवृत्त है, जो ब्रह्मण्य हैं (तथा) जो ' मे निवास करते हैं—के इस मन्दिर मे —यह महान् कार्य ध्रुवशर्मन् द्वारा सपन्न हुआ है, जो कृत युग के व्यवहार तथा सत्य-धर्म का पालन करता है (तथा) जो सभा मे आदर का पात्र है'

पंक्ति० १०—सुन्दर (तथा) 'साधुजनो का निवासगृह (तथा) स्वर्ग पहुचाने वाले सोपान स्वरूप (तथा) कुवेरच्छन्द नामक (मणि) माला के सदृश, (तथा) स्फटिक-मणि-खण्डो की प्रभा से शुभ्र प्रवेश-द्वार[५] का निर्माण करवा कर, (तथा) विधिपूर्वक, गुणियो मे प्रमुख लोगो का निवासगृह, आकार मे मन्दिर के सर्वोच्च भाग के स्वरूप वाला एक (धार्मिक) भिक्षागृह (?) (का निर्माण करवा कर), शुभ मति वाला वह (स्वय द्वारा इस प्रकार सगृहीत) पुण्यो मे मनोहारी ढग से विचरण करता है, पूज्य शर्मन् दीर्घजीवी हो[६] ।

पंक्ति १२—यह दृढ तथा उत्कृष्ट उच्च स्तभ[७] उसी ध्रुवशर्मन् द्वारा बनवाया गया है जिसकी भक्ति, पृथ्वी पर अमृत की उत्कृष्ट ख्याति प्राप्त करके' ' अब सभी प्राणियो द्वारा इतनी अधिक आदृत है कि ऐसा कोई भी नही है जो इसकी पूजा न करता हो, (तथा) जिसके (अपने) अपूर्व अति-मानवीय शक्तिसचय के आधिक्य द्वारा'

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ४८, टिप्पणी ५ ।

२ अर्थात् चन्द्रगुप्त द्वितीय ।

३ अर्थात् समुद्रगुप्त ।

४ अर्थात् समुद्रगुप्त ।

५ प्रतोली, द्र० ऊपर पृ० ५५, टिप्पणी १ ।

६ यह उसके नाम के प्रथम अश ध्रुव (=स्थिर,दृढ) के अर्थ पर शब्द-कौतुक है । दूसरे अश के प्रयोग द्वारा संपूर्ण नाम के निर्देशन के लिए, द्र० पृ० १०, टिप्पणी १ ।

७ शब्दत —"स्तभ की यह उच्चकायता" ।

सं० ११, प्रतिचित्र ६ क

कुमारगुप्त का मानकुमार प्रस्तर-प्रतिमा-लेख

वर्ष १२६

यह अभिलेख सर्वप्रथम १८७० मे डा० भगवानलाल इन्द्रजी को प्राप्त हुआ। इसके प्रति जनसामान्य का ध्यानाकर्षण १८८० मे **आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इडिया**, जि० १०, पृ० ७ पर जनरल कनिंघम द्वारा किया गया जिसमे उन्होने लेख का अपना पाठ प्रकाशित किया तथा साथ मे एक शिला-मुद्रण भी दिया (वही, प्रति० ४ स० २)। १८८५ मे डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने **जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी**, जि० १६, पृ० ३५४ पर लेख का अपना पाठ तथा उसका अनुवाद प्रकाशित किया।

मानकुवर[1] नार्थ-वेस्ट प्राविसेज मे, इलाहाबाद जिले के करछना तहसील मे, अरइल परगना के मुख्य नगर अरइल अथवा अरयल की दक्षिण-पश्चिम दिशा मे लगभग नौ मील की दूरी पर यमुना नदी के दक्षिणी तट पर स्थित एक छोटा सा गाव है। यह लेख एक बैठी बुद्ध प्रतिमा की पीठिका के सम्मुख भाग पर अकित है। कनिघम को इसकी जानकारी होने के समय यह प्रतिमा मानकुवर मे स्थित एक बाग मे थी जो कि देओरिया अथवा देवरिया[2] के गोसाई की सपत्ति था, यह अब भी वही स्थित प्रतीत होती है। किन्तु इस प्रतिमा के विषय मे यह प्रचलित था कि यह मानकुवर से थोडी दूर उत्तर-पूर्व मे स्थित पच-पहाड कथित पाच छोटी पहाडियो के बीच मे एक ईंट के टीले से प्राप्त हुई थी। यह एक बैठी बुद्ध प्रतिमा है, इसने शिर से एकदम सटी हुई एक टोपी पहन रखी है जिसके लबे-फीते दोनो ओर लटके हुए हैं, कटिभाग तक यह वस्त्र रहित है तथा नीचे टखनो तक लबा अधोवस्त्र मिलता है। लेख की प्रथम पक्ति प्रतिमा के ठीक नीचे पीठिका के ऊपरी भाग पर है, इसके पश्चात् मूर्तियो का भाग आता है जिसमे बीच मे बौद्ध चक्र बना हुआ है जिसके दोनो ओर सर्वथा सम्मुख मुख किए हुए ध्यान मुद्रा मे बैठी मानवीय आकृति बनी हुई है तथा प्रत्येक कोने मे एक सिंह बना हुआ है। तदुपरान्त, पीठिका के निचले भाग मे लेख की दूसरी पक्ति अकित हुई है।

लिखिताश, जिसकी प्रत्येक पक्ति लगभग १' ७' चौडा तथा प्रथम पक्ति मे ३/४" ऊचा एव द्वितीय पक्ति मे १" ऊचा स्थान घेरती है अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो का आकार १/४" से लेकर ७/१६" तक है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के है तथा समुद्रगुप्त के मरणोपरान्त लिखित इलाहाबाद स्तम्भ-लेख (उलपर स० १, पृ० १ इ०, प्रति० १) के अक्षरो से बहुत अधिक मिलते हैं। इनमे, पक्ति २ मे, ८, ९, १०, २० तथा १०० के अक सम्मिलित हैं। भाषा सस्कृत है तथा लेख गद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास मे कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नही मिलती।

---

१ मानचित्रो इ० का 'Mankuar' तथा 'Munhowar'। इण्डियन एटलस, पत्रफलक स० ८८। अक्षाश २५°१९' उत्तर, देशान्तर ८१°५२' पूर्व।

२ मानचित्रो इ० का 'Deoriya' तथा 'Deorya' जो कि मानकुवर मे उत्तर पश्चिम मे लगभग एक मील की दूरी पर है। भगवानलाल इन्द्रजी ने इसे "देवलिया" लिखा है।

अभिलेख स्वय को प्रारभिक गुप्त शासक कुमारगुप्त के शासनकाल मे रखता है। किसी कारणवश उसे सर्वोच्च प्रभुसत्ता सूचक महाराजाधिराज उपाधि के स्थान पर अधीनता सूचक सामन्तीय महाराज उपाधि दी गई है। किन्तु हमे कुमारगुप्त नामक किसी अधीनस्थ शासक का ज्ञान नही है, तथा अकित तिथि प्रारभिक गुप्त वश के शासक कुमारगुप्त की शासनावधि मे पूर्णतया ठीक बैठती है, अत इसमे कोई सदेह नहीं रह जाता कि यहा इसी कुमारगुप्त का उल्लेख है। अधीनता सूचक यह उपाधि सभवत लेख का प्रतिरूप तैयार करने वाले व्यक्ति की गलती अथवा अज्ञानता के कारण अकित हो गई। यह भी सभव है कि यह एक ऐतिहासिक तथ्य की ओर सकेत करता हो; अर्थात् अपने जीवनकाल के अतिम दिनो मे कुमारगुप्त पुष्यमित्रो तथा हूणो का—स्कन्दगुप्त के भीतरी अभिलेख मे (नीचे स० १३) गुप्त शक्ति पर जिनके आक्रमणो का विशिष्ट उल्लेख मिलता है—अधीनस्थमात्र रह गया था[1]। लेख की तिथि अको मे एक सौ उन्तीस (ईसवी सन् ४४८-४६) दी हुई है तथा पक्ष का नाम दिए हुए विना ज्येष्ठ मास के (मई-जून) के अठारवे दिवस का उल्लेख है। यह बौद्ध अभिलेख है, इसका उद्देश्य उस प्रतिमा विशेष की स्थापना का उल्लेख करना है जिसकी पीठिका पर यह अकित है।

मूलपाठ[2]

१ ॐ[3]नमो बुद्धान[4]। भगवतो[5] सम्यक्सम्बुद्धस्य स्वमताविरुद्धस्य इय प्रतिमा प्रतिष्ठापिता भिक्षु बुद्धमित्रेण।

---

१ हम इसकी स्कन्दगुप्त की एक मुद्रा पर अकित किंचित् सदिग्ध लेख महाराजकुमारपुत्रपरममाहावित्यमहाराजस्कन्द से तुलना कर सकते हैं।

२ स्याही की छाप से।

३ जैसा कि इस पुस्तक की सीमाक्षेत्र के अन्तर्गत आने वाली अवधि मे सदैव देखा जाता है, यह शब्द अक्षरों द्वारा न लिखा जा कर अपने विशिष्ट प्रतीक द्वारा लिखा गया है। बौद्ध अभिलेखो के प्रारभ मे ओम् का अकन बहुत कम मिलता है किन्तु सामन्त देवदत्त के शेरगढ़ (कोटा) अभिलेख की पक्ति १ में (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १०, पृ० ४५) हम इस प्रकार के अकन का एक अन्य दृष्टान्त पाते हैं।

४ यदि बुद्धान तथा अनुवर्ती भगवतो को असावधानी के कारण अकित प्राकृत रूप नही माना जाता तो यहा बुद्धानां पढ़ना चाहिए। नम के पश्चात् सामान्यतया सम्बन्धकारक विभक्ति नहीं आती। किन्तु हमें इसके अन्य दृष्टान्त मिलते हैं उदाहरणार्थ, खण्डगिरि शिलालेख मे जो कि नमो अरहतान नमो सवसिद्धान से प्रारभ होता है (कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकेरम, जि० १, पृ० ९८ तथा प्रति० १७), इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १०, पृ० २७३ मे ब्यूलर द्वारा उद्धृत दो प्राचीन अभिलेखो मे जिसमे प्रथम, जो कि अमरावती से प्राप्त हुआ है (फरगुसन, ट्री एन्ड सर्पेन्ट वर्शिप, प्रति० ९४, स० ३), सिध नमो भगवतो से तथा दूसरा, जो कि मथुरा से प्राप्त हुआ है (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ३, पृ० २५, तथा प्रति० ११, स० २०) सिद्धम् नमो अरहतो महावीरस्य से प्रारभ होता है, तथा अमरावती स्तूप अभिलेख मे जो कि सिध नमो भगवता सवसतुतमस बुधस (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ३, पृ० १२, स० १२ ख, तथा प्रति०३, अन्य दृष्टान्तो के लिए उसी जिल्द मे पृ० ८, १८, ४५, ४७, ५२,५३,५४ पर देखें) से प्रारम्भ होता है।

५ यहां भगवत पढ़ा जाना चाहिए।

२ संवत्[1] १०० २० ९ महाराजश्रीकुमारगुप्तस्य राज्ये ज्येष्ठमास दि १० ८ सर्व्वदु.क्ख[2]-प्रहाना (णा)र्त्थम्[।।*]

अनुवाद

ओम्[3] ! बुद्धों[4] को नमस्कार ! सम्यक्संबुद्ध (तथा) अनिराकृत मतवाले भगवान् की यह प्रतिमा-वर्ष १०० (तथा) २० (तथा) ९ (में) महाराज[5] श्री कुमारगुप्त के शासनकाल में, ज्येष्ठ मास (में) दिवस १० (तथा) ८ पर-सभी दु खो के निराकरण के उद्देश्य से भिक्षु बुद्धमित्र द्वारा प्रतिष्ठापित की गई है।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ३७, टिप्पणी ३।

२ यहाँ दु ख पढ़ा जाना चाहिए।

३ ओम् एक मांगलिक अभिव्यक्ति है जिसका पुस्तकों इ० के प्रारंभ में प्रयोग किया जाता है। यह अ, उ तथा म इन तीन अक्षरों से मिल कर बना है, परवर्ती काल में इसे हिन्दू देवताओं, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव, की त्रिमूर्ति का रहस्यात्मक नाम समझा जाता था, तथा यह इनका प्रतिनिधित्व करता था –अ विष्णु का, उ शिव का तथा म ब्रह्मन् का। मानवधर्मशास्त्र, २ ७४–८५ (बर्नेल का अनुवाद, पृ० २५ इ०) में विस्तारपूर्वक इस अभिव्यक्ति की शक्ति की चर्चा हुई है।

४ इस बहुवचन सूचक अभिव्यक्ति से तुलनीय है वर्ष १३१ में तिथ्यंकित साची अभिलेख में (नीचे सं० ६२, प्रति ३८ ख) चार बुद्धों का उल्लेख; इसके अतिरिक्त तुलनीय ध्रुवसेन के वला दानलेख की पंक्ति २२ में भगवतां संयकसबुद्धानां बुद्धानाम् "सम्यक संबुद्ध भगवान बुद्धों का (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ४, पृ० १०५)।

५ द्र० ऊपर पृ० ५९।

स० १२, प्रतिचित्र ६ ख

समुद्रगुप्त का विहार प्रस्तर-स्तम्भ-अभिलेख

ऐसा प्रतीत होता है कि यह लेख सर्वप्रथम श्री रैवेनशा (Ravenshaw) को प्राप्त हुआ तथा उन्होंने ही १८३९ मे जर्नल आफ द बगाल ऐशियाटिक सोसायटी, जि० ८, पृ० ३४७ मे इसके प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उनके अभिकथन से ऐसा प्रतीत होता है कि मूलत यह स्तम्भ विहार के प्राचीन दुर्ग के उत्तरी प्रवेश द्वार के सामने पाया गया था किन्तु बाद में इसे वहा से स्थानान्तरित करके उसी प्रवेश द्वार के पश्चिम में "उलटी स्थिति मे, नीचे का भाग ऊपर तथा ऊपर का भाग भूमि मे गाड करके" प्रतिष्ठापित किया गया, जहा कि कालान्तर मे यह जनरल कनिघम द्वारा गिरी हुई स्थिति मे पाया गया। १८६६ मे, जर्नल आफ़ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३५ पृ० २६९ इ० तथा २७७ इ० मे डा० राजेन्द्रलाल मिश्र ने लेख का अपना पाठ प्रकाशित किया और साथ मे एक शिलामुद्रण भी दिया, जो मेजर सी० हालिग्स द्वारा तैयार किए गए तथा सोसायटी को १८६१ में भेजे गए एक पक्की मिट्टी पर लिए गए छाप के आधार पर बनाया गया था। १८७१ मे, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ३७ इ० तथा प्रतिचित्त १७ मे जनरल कनिघम ने इस लेख का अपना शिलामुद्रण प्रकाशित किया।

विहार[1] बगाल प्रेसीडेन्सी मे पटना जिले के विहार तहसील का मुख्य नगर है। टूटा हुआ, लाल बलुकाश्म निर्मित यह स्तम्भ, जिस पर यह लेख मिलता है, विहार के मजिस्ट्रेट श्री ए० एम० ब्रोडले (A M Broadley) द्वारा हटवा कर विहार कचहरी के सामने एक ईंट-निर्मित अधिष्ठान पर स्थापित करवाया गया, जहा कि यह आज भी खडा है। श्री ब्रोडले ने भी स्तम्भ को उलटा ही खडा करवाया, उनके द्वारा अकित करवाए गए एक आग्ल-भाषीय अभिलेख से इसका विरूपण भी हुआ, जनरल कनिघम ने इस लेख को पूर्णत प्रकाशित किया तथा इसके कुछ अक्षर सप्रति प्रकाशित शिला-मुद्रण मे भी आ गए हैं। इसके अतिरिक्त, यह स्तम्भ, जैसा कि इसे ब्रोडले ने सस्थापित करवाया था, अब एक घर के बीच मे खडा है जिसकी छत इसके ऊपर आधारित है, इसके शीर्ष भाग पर, जो कि वस्तुत स्तम्भ का निचला भाग है, इसे छत से सबद्ध करने के लिए कुछ काष्ठकर्म हुआ है जिससे डा० राजेन्द्रलाल मिश्र तथा जनरल कनिघम के शिलामुद्रणो मे दृश्यमान अभिलेख की अतिम आठ पक्तिया अब पूर्णतया छिप गई हैं और अप्राप्य हैं।

---

१ मानचित्रों इ० मा 'Behar' और 'Bihar'। इण्डियन एटलस, पत्रफलक स० १०३। अक्षांश २५°११' उत्तर, देशान्तर ८५°३६' पूर्व। नाम का वास्तविक रूप-जो कि उत्तर तथा मध्य भारत मे गांवों का सामान्य नाम है-निश्चितरूपेण विहार है जो सस्कृत विहार (=बौद्ध (तथा) जैन) मन्दिर अथवा निवासगृह से व्युत्पन्न हुआ है, पटना जिले में रहने वाले इसी रूप का प्रयोग करते हैं। सस्कृत नाम, विहार सप्रति विहार स्थित सग्रह मे सगृहीत 'पेस्सेखा' अभिलेख की पक्ति ९-१० में आता है जहा पर इस स्थान को 'श्री यशोवर्मन् का नगर, विहार' कहा गया है (जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० १७, पृ० ४९२ इ०)।

प्रथम भाग मे पक्ति १ से पक्ति १३ तक, जैसा कि अवशिष्ट अश से ज्ञात होता है, लेखन स्तम्भ के चारो पक्षो पर हुआ था, दूसरे भाग मे पक्ति १४ इ० मे, जैसा कि प्रत्येक पक्ति मे नष्ट हुए अक्षरो से ज्ञात होता है, लेखन केवल तीन पक्षो पर हुआ था। अवशिष्ट अश, जिसका शिलामुद्रण सप्रति किया गया है, लगभग १' ४" चौडा तथा ३' ५" ऊचा स्थान घेरता है तथा पर्याप्त सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो का आकार ⅜" से लेकर ⅝" तक मिलता है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्ण-माला के हैं तथा समुद्रगुप्त के मरणोपरान्त लिखित इलाहाबाद स्तम्भ-लेख (ऊपर स० १, पृ० १ इ० प्रति० १) के अक्षरो से मिलते जुलते है। इनमे पक्ति ३ तथा ११ मे ३, ५ तथा ३० ये अक मिलते है। भाषा सस्कृत है, पक्ति १० तक लेख पद्यात्मक है तथा शेष भाग गद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे विचार्य विषय है १ प० ११ तथा १३ मे अकित अन्श मे श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर दन्त्य आनुनासिक का प्रयोग, २ अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर क तथा त का द्वित्व--उदाहरणार्थ, पक्ति १० मे अकित चक्क्रे मे (किन्तु, पक्ति ३ मे अकित विक्रमेण मे नही), तथा पं० १७ मे अकित पुत्त्रस्य मे, तथा ३ प० २२ मे अकित अनुद्ध्यात् मे अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर ध का द्वित्व।

अभिलेख के तिथि रहित प्रथम भाग मे प्रारभिक गुप्त शासक कुमारगुप्त का उल्लेख हुआ है, तथा ऐसा प्रतीत होता है कि इसमे कुमारगुप्त की पत्नी का नाम अकित था जो कि अन्य किसी भी लेख मे नही मिलता, किन्तु लेख के जिस भाग मे पत्थर की परत छूट गई है उसमे उसका नाम नष्ट हो गया है। किन्तु, प० ११ मे स्पष्टरूपेण स्कन्दगुप्तबट नामक एक गाव का उल्लेख मिलने से ऐसा प्रतीत होता है कि लेख के द्वितीय भाग के समान यह भाग भी उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त के समय मे अकित हुआ था। लेख के इस भाग मे प्रत्यक्षत किसी अमात्य, जिसकी बहन कुमारगुप्त की पत्नी बनी थी, द्वारा एक स्तम्भ के सस्थापन का उल्लेख हुआ है, जिसे प० १० मे यूप अर्थात् 'याज्ञिक स्तम्भ' का नाम प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त लेख मे स्कन्दगुप्तबट (?) ग्राम मे तथा एक अन्य अग्रहार मे, जिसका नाम नष्ट हो चुका है, कुछ अश-पूजियो का उल्लेख हुआ है। पक्ति ९ मे स्कन्द अथवा कार्तिकेय तथा देवी माताओ के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि लेख का यह सारा भाग शैव सप्रदाय के शाक्त अथवा तान्त्रिक शाखा से सबद्ध था।[1]

लेख का द्वितीय भाग, जो पहले के समान ही तिथि रहित है, स्कन्दगुप्त का लेख है। इस लेख का इतना कम भाग बचा है कि यह नही जाना जा सकता कि यह किस धार्मिक सप्रदाय से सबद्ध था और न ही स्पष्टत यह जाना जा सकता है कि इसके लेखन का प्रयोजन क्या था।

---

१ इसके असदिग्ध दृष्टान्त के लिए तुलनीय, इसी काल का विश्ववर्मन् का गगधार अभिलेख (नीचे स० १७)। मातर अथवा मातृगण (="देवी माताए',) "प्रमुख देवताओ की मानवीकरण की गई शक्तियां हैं।' उनका भगवान् शिव की पूजा से घनिष्ट सबध है। मूलत उनकी सख्या सात थी ब्राह्मी अथवा ब्रह्माणी, वैष्णवी, माहेश्वरी, कुमारी, वाराही, ऐन्द्री अथवा इन्द्राणी अथवा महेन्द्री तथा चामुण्डा, ये कृत्तिकाओ का प्रतिनिधित्व करती हैं जिन्हे शिव के पुत्र कार्त्तिकेय की सात माताए अथवा धायें माना गया है। कालान्तर मे यह सख्या बढ कर आठ, नौ, सोलह तथा अन्य कई अको तक हो गई। सप्रति शाक्त अथवा तान्त्रिक पूजा मे अधिष्ठात्री देवी शिव की पत्नी तथा शक्ति पार्वती, दुर्गा अथवा माहेश्वरी होती है--मुख्यत इन्हे जगदम्बा अथवा 'विश्व जननी' नाम से पूजा जाता है। इस काल के पश्चात अनतिदूर काल मे स्वामि-महासेन अथवा कार्त्तिकेय तथा देवी माताएँ (='मानवमात्र की सात माताए') विशेषरूपेण पूजनीय बनती दिखाई पडती हैं, तथा प्रारभिक कदम्बो (उदाहरणार्थ, इन्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० २७) एव प्रारभिक चालुक्यो द्वारा (उदाहरणार्थ, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ७, पृ० १६२, जि० ६, पृ० ७४, जि० १३, पृ० १३७ इ०) परि-रक्षक देवताओ के रूप मे स्वीकार किया गया है।

मूलपाठ[1]

१ [--] [2] नृ[3]चन्द्र इन्द्रानुजतुल्यवीर्य्यो गुणैर्तुल्य [⏑–⏑–⏑––] [॥]
२ [--] [त] स्या[4]पि सूनुर्भु वि[5] स्वामिनेय ख्यात स्वकीर्त्या (⏑–⏑–⏑––[॥]
३ [--] [स्व]सैव[6]यस्यातुलविक्रमेण कुमारगुप् [त्] [न] [⏑–⏑––] [॥]
४ [--] ि[पृ] त्रि(श्री) श्च देवाश्च हि हव्यकव्यैं सदा नृशस्यादि [⏑–⏑–
—] [॥]
५ [–⏑–] अचीकरद्दे व[7]निकेतमण्डल क्षितावनौपम्य–[⏑–⏑–⏑–]
६ ब (?) टे (?)[8] किल स्तम्भवरोच्छ्रि (च्छ्र)य प्रभासे तु मण्ड · [॥]
७ · भिद्धैक्षाणा कुसुमभरानताग्रशु (?) ग (?)—व्यालम्बस्तवक
८ [--] भद्रार्य्यया[9] भाति गृह नवाभ्र–निर्म्मोकनिर्मु [क्त⏑–⏑––] [॥]
९ [--] स्कन्दप्रधानैर्भु वि मातृभिश्च लोकान्स सु(?)ष्य(?) [⏑–⏑––] [।]
१० [--⏑] यूपोच्छ्रयमेव चक्रे [॥*] भद्रार्य्यादि—
११ (स्क (?) न्दगुप्तवटे अन्शानि ३० ५ ता(?)अर्कटाकु (?) कल
१२ पितु स्वभातुर्य्यश्चरित हि दुष्कृत भजतु तने ·
१३ काग्रहारे अन्शानि ३ अनन्तसेनेनोप

द्वितीय भाग

१४ [सर्व्व राजोच्छे] त्त[10] प्रि (पृ)थिव्यामप्रतिरथस्य
१५ [चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसो धनदवरुणे] न्द्रान्तकसमस्य कृतान्त-
१६ [परशो न्यायागतानेकगोहिरण्यकोटिप्रदस्य चिरो] त्सन्नाश्वमेधाहर्त्तु
१७ [महाराजश्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्रीघटो] त्कचपुत्रस्य महाराजा—

---

१ पंक्ति २५ तक स्याही की छाप से, शेष भाग अंशत जनरल कनिंघम के शिलामुद्रण से तथा अंशत डा० राजेन्द्रलाल मित्र के पाठ के साथ दिए गए शिलामुद्रण से।

२ अधिकांश श्लोकों के प्रथम दो पाद सपूर्णत तथा तृतीय पाद के अंश पत्थर की परत छूट जाने से नष्ट हो गए हैं।

३ छन्द, उपेन्द्रवज्रा।

४ छन्द, इन्द्रवज्रा।

५ भुवि की वि, जिसे ह्रस्व होना चाहिए, को अनुवर्ती स्व द्वारा दीर्घ बना दिए जाने से छन्द दोषपूर्ण हो गया है।

६ छन्द, उपेन्द्रवज्रा, तथा अनुवर्ती श्लोक में।

७ छन्द वंशस्थ।

८ छन्द, प्रत्यक्षत गीति, तथा अनुवर्ती श्लोक में।

९ छन्द, इन्द्रवज्रा, तथा अनुवर्ती दो श्लोकों में।

१० पंक्ति १४ से लेकर पंक्ति २२ तक के नष्ट हुए अवतरण लेख स० १ की प० २४, २६, २८, तथा २९ (ऊपर पृ० ८) से तथा स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ लेख (नीचे स० १३, प्रति० ७) की पंक्ति १ से लेकर ६ तक के अंश से लिए गए हैं। पंक्ति २३ में स्कन्दगुप्त का यह धार्मिक-सम्प्रदाय विशेष से सबद्ध विरुद प० २४ से तथा उसकी रजत-मुद्राओं से लिया गया है। (द्र० इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ६६ इ०)।

१८ [धिराजश्री चन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य म] हादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य
१९ [महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्र] स्तत्परिगृहीतो महादेव्या
२० [दत्तदेव्यामुत्पन्न स्वयमप्रतिरथ पर] मभागवतो महाराजा—
२१ [धिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्या] तो महादेव्यां ध्रुवदेव्याम्—
२२ [ुत्पन्न: पहमभागवतो महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तस्तस्य]पुत्रस्तत्पादानुध्यात
२३ [परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीस्क] न्दगुप्त [॥८]
२४ . . . परमभागवतो
२५ [महाराजाधिराजश्रीस्कन्दगुप्त] . . . . [वं] पथिकाजपुरकसा (?) मै (?)—
२६ . . ...ग्रा क(श्रक्)छयनीवी ग्रामक्षेत्र
२७ .... क्र . . उपरिककुमारामात्य—
२८ .... ज्ञिकुल (?) (?) वणि [ज*]कपादितारिक—
२९ [।] अहारिकाशौल्किकगौल्मिकासन्या श्र (?)—
३० . . वा [ि] सुकादीनस्मत्प्रासादोपजीविन
३१ [समाज्ञापयामि] ...वर्म्मणा विज्ञापितोऽस्मि मम पितामहेन
३२ . . . .नमे भट्टगुहिलस्वामिना भद्रा[र्]य्यका
३३ .... म् ग्, प् [र] ति । ग्रोकय नाकय—

[प्राप्ति काल के पूर्व ही लेख का शेष भाग टूट चुका था तथा अप्राप्त था]

अनुवाद

प्रथम भाग

मनुष्यो मे चन्द्रस्वरूप, शक्ति मे इन्द्र के अनुज (भगवान् विष्णु) के समान; गुणो मे अनुपम

प०२ — तदुपरि, पृथ्वी पर (अपने) स्वामी के प्रति भक्त, उसका पुत्र; अपने यश से सुविज्ञात

प० ३ —" जिसकी बहन अतुलनीय पराक्रम वाले कुमारगुप्त की [परिणीता थी] ।

प० ४ —मृत पूर्वज तथा देवता दोनो ही यथायोग्य आहुतियो से युक्त[1] . . सदैव . . मनुष्य के लिए हानिकर वस्तुए इ०

प० ५— मन्दिर-समूहो को बनवाया जिसकी विश्व मे किसी अन्य वस्तु [से तुलना] नही हो सकती थी ।

प० ६— निश्चित ही इसमे . . जो कि (इस) उत्कृष्टतम स्तम्भ की सस्थापना से सुन्दर है ।

स० ७—.... वृक्षो की . उदुम्बुर तथा एरण्ड वृक्षो के समूह जिनके शीर्ष भाग (अपने) पुष्पो के भार से झुके हुए थे ।

प० ८— भद्रार्या (की उपस्थिति) से . . गृह प्रकाशमान है, नूतन मेघो से आच्छादित आकाश.. ....

प० ९—... पृथ्वी पर (भगवान्) स्कन्द तथा देवी माताओ के नेतृत्व मे,....मनुष्य........

---

१ शब्दश —'हव्य (देवताओ के प्रति दी गई आहुति) तथा कव्य (मृत पूर्वजो के प्रति दी गई आहुति) से युक्त ।'

क—कुमारगुप्त का मानकुंवर प्रतिमा—लेख—वर्ष १२९

मान ५०

ख- स्कंदगुप्त का विहार स्तम्भ—लेख
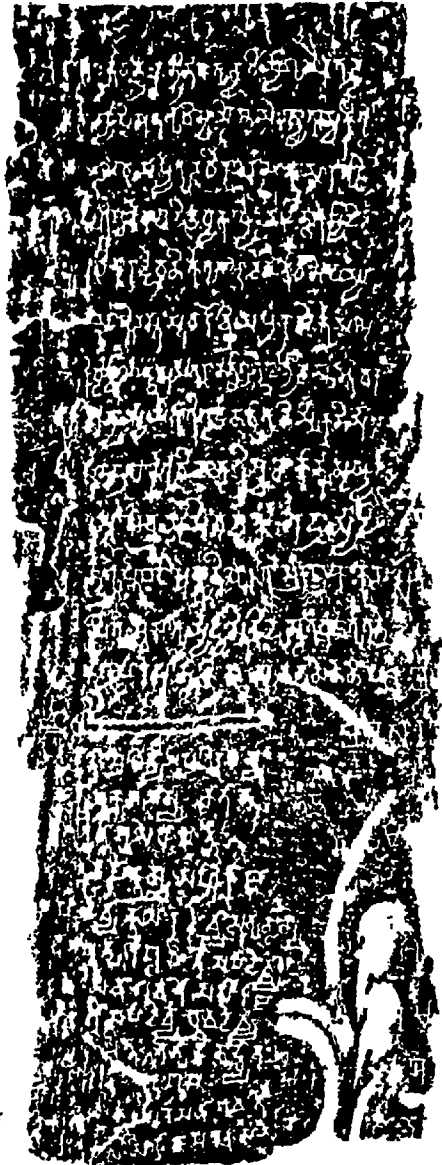
मान २५

प० १०–[उसने] (इस) यागीय स्तम्भ की स्थापना कराई भर्द्रार्य्या तथा अन्य स्कन्दगुप्तवट(?) नामक गाव (?) मे ३० (तथा) ५ अश-पू जियो

प० १२– यदि (उसके) पिता (अथवा) माता के द्वारा कोई दुष्कृत्य होता है, तो वह भागी हो।

प० १३– के अग्रहार मे ३ अश-पू जिया··· अनन्तसेन द्वारा

द्वितीय भाग

प० १४– महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त–जो [सभी राजाओ के] उन्मूलक थे, विश्व मे जिनका कोई विरोधी (जिनके समान शक्तिवाला) न था, [जिनके यश का आस्वादन चारो समुद्रो द्वारा किया गया था], जो [धनद तथा वरुण] तथा इन्द्र एव अन्तक (देवताओ) के समान थे, जो (भगवान्) कृतान्त के परशु [स्वरूप थे], [जो विधिवत, प्राप्त कई कोटि गायो तथा सुवर्ण का दान देने वाले थे], जो [चिरकाल से] समाप्त हो गए अश्वमेघ यज्ञ के पुनरुद्धारक थे, [जो महाराज श्री गुप्त के प्रपौत्र थे], जो [महाराज श्री] घटोत्कच के पौत्र थे, (तथा) जो महाराजाधिराज [श्री चन्द्रगुप्त (प्रथम) के महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न पुत्र थे तथा लिच्छवि दौहित्र] थे के पुत्र—

प० १६–उनके द्वारा[1] परिगृहीत परमभागवत महाराजाधिराज [श्री चन्द्रगुप्त (द्वितीय)] जो महादेवी [दत्तदेवी से उत्पन्न हुए थे] (तथा) [जिनका भी कोई विरोधी (जिनके समान शक्ति-वाला) नही था],

प० १६–[उनके पुत्र] [उनके चरणो] का ध्यान करने वाले (तथा) महादेवी ध्रुवदेवी (से उत्पन्न) (परम भागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त)।

प० २२–[उनके] पुत्र, उनके चरणो का ध्यान करने वाले [परमभागवत महाराजाधिराज श्री] स्कन्दगुप्त।

प० २४–[मैं] परम भागवत [महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त यह राजाज्ञा दे रहे हैं] विषय मे अजपुर नगर मे एक अक्षयनीवी एक नाम-क्षेत्र उपरिक[2], कुमारामात्य वणिक् द्वारा अधिकृत आग्रहारिक[3] शौल्किक[4], गौल्मिक[5] के आसन (पद) (?) मे ··· तथा अन्य जो हमारी कृपा पर जीते हैं —

प० ३१–मैं वर्मन् द्वारा अभ्यर्थित हुआ हूँ···मेरे पितामह द्वारा भट्टगुहिल स्वामिन् द्वारा भद्रार्या के ।

---

१ अर्थात् समुद्रगुप्त, द्र० ऊपर पृ० १४, टिप्पणी २।

२ उपरिक एक पारिभाषिक राजकीय उपाधि है जिसके वास्तविक स्वरुप का ज्ञान नहीं है, तथा सम्प्रति जिसका उपयुक्त अनुवाद सभव नहीं है।

३ आग्रहारिक एक पारिभाषिक राजकीय उपाधि है जो सभवत् "अग्रहार की शासन व्यवस्था से सबद्ध विशिष्ट अधिकारी" का निर्देश करता है।

४ शौल्किक एक पारिभाषिक राजकीय उपाधि है जिसका अर्थ "चुगी कर (शुल्क) का निरीक्षक" किया जा सकता है।

५ गौल्मिक एक पारिभाषिक राजकीय उपाधि है जिसका अर्थ "वन (गुल्म) निरीक्षक" किया जा सकता है।

सं० १३; प्रतिचित्र ७

स्कन्दगुप्त का भितरी प्रस्तर-स्तम्भ-लेख

इस अभिलेख को धारण करने वाला स्तम्भ सर्वप्रथम १८३४ मे श्री ट्रेगियर (Tregear) द्वारा प्राप्त हुआ प्रतीत होता है, किन्तु अभिलेख की जानकारी जनरल कनिंघम को इसके कुछ दिन पश्चात् स्तम्भ के निचले भाग की मिट्टी साफ करते समय हुई। इस प्राप्ति की घोषणा १८३६ मे श्री जेम्स प्रिंसेप ने जर्नल आफ् द बंगाल एशियाटिक सोसायटी जि० ५, पृ० ६६१ मे की। जनसामान्य का इस लेख के प्रति ध्यानाकर्षण १८३७ में हुआ जबकि उसी पत्रिका के जि० ६, पृ० १ इ० में रेवेरण्ड डब्लू० एच० मिल ने लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया और साथ मे एक शिलामुद्रण भी दिया (वही, जि० ५, प्रति० ३२) जिसे श्री प्रिंसेप ने जनरल कनिंघम द्वारा तैयार की गई एक प्रतिलिपि के आधार पर तैयार किया था[1]। १८७१ मे, आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ९८ तथा प्रति० ३० मे जनरल कनिंघम ने इस लेख का एक अन्य शिलामुद्रण प्रकाशित किया। १८७५ मे जर्नल आफ द बाम्बे ब्राञ्च आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी जि० १०, पृ० ५९ इ० मे डा० भाऊ दाजी ने मूल लेख का सशोधित पाठ तथा इसका अनुवाद प्रकाशित किया तथा साथ मे डा० भगवान लाल इन्द्रजी द्वारा बनाई गई हस्तलिखित प्रतिलिपि के आधार पर तैयार किया गया एक शिलामुद्रण भी दिया[2]। और, अन्ततोगत्वा, १८८५ मे जर्नल आफ् द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १६, पृ० ३४९ इ० मे डा भगवानलाल इन्द्रजी ने मूल लेख का अपना पाठ तथा इसका अनुवाद प्रकाशित किया तथा साथ मे अपनी हस्तलिखित प्रतिलिपि के आधार पर तैयार किया गया शिलामुद्रण दिया।

भितरी[3] नार्थ वेस्ट प्राविंसेज मे गाजीपुर[4] जिले के सय्यिदपुर तहसील के मुख्य नगर सय्यिदपुर[5] से उत्तर-पूर्व मे लगभग पांच मील दूरी पर स्थित एक गाव है। लाल बालुकाश्म निर्मित यह स्तम्भ, जिस पर लेख अ कित हुआ है, गाव के ठीक बाहर दक्षिण दिशा मे स्थित है। लेख स्तम्भ के चतुष्पक्षीय निचले भाग के पूर्वी पक्ष पर अ कित है; तथा सबसे नीचे की पक्ति भूमि-स्तर से केवल कुछ इ च ऊपर है।

---

१ यह अनुवाद प्रिंसेप के एसेज के टामसकृत सस्करण, जि० १, पृ० २४२ इ० में पुनर्प्रकाशित हुआ है।

२ यह लेख १८७५ तक प्रकाशित नही हुआ था; किन्तु यह चार वर्ष पूर्व १३ अगस्त १८७१ को सोसायटी के सामने पढा जा चुका था।

३ मानचित्रो इ० का 'Bhitari', 'Bhitree', 'Bhitri' तथा 'Bihtari'। इण्डियन एटलस, फलक स० १०३। अक्षाश २५°३५' उत्त, देशान्तर ८३°१७' पूर्व।

४ मानचित्रो का 'Ghazeepoor'।

५ मानचित्रों इ० का 'Saidpur' तथा 'Sydpoor'।

लिखिताश को, जो कि लगभग २' ४½" ऊचा तथा ६' २½" चौडा स्थान घेरता है, ऋतु के प्रतिकूल प्रभाव से पर्याप्त हानि पहुची है, कुछ स्थानो पर पत्थर की परत भी छूट गई है, तथा लेख के बाए पार्श्व मे ऊपर से नीचे दरार बनी मिलती है। किन्तु सावधानीपूर्वक पढने पर मूल प्रस्तर पर ही लेख को निश्चिततापूर्वक पढा जा सकता है, तथा ऐतिहासिक महत्व की कोई वस्तु नष्ट हुई नही प्रतीत होती। अक्षरो का आकार ¾" मे लेकर ⅝" तक के बीच मे मिलता है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा अधिक वर्गाकार कटे होने पर भी, ये चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा अभिलेख (ऊपर स० ८, प्रति० ३ क) के अक्षरो के सदृश है। भाषा सस्कृत है, पक्ति ६ के मध्य तक भाषा गद्यात्मक है तथा शेष भाग पद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे उल्लेखनीय है १ पं० ७, १३ तथा १४ मे अकित वङ्श (= वश) में श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग, २ पक्ति ६ मे अकित विक्क्रमेण तथा क्क्रमेण मे, अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर क का द्वित्व, ३ प० ३ मे अकित पौत्त्रस्य मे समान परिस्थिति मे त का द्वित्व (किन्तु, प० २ में अकित प्रपौत्रस्य मे, तथा पक्ति ४ मे अकित पुत्रस् मे तथा अन्य स्थानो पर नही), तथा ४ पंक्ति ५ मे अकित अनुद्ध्यात् मे अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर ध का द्वित्व।

अभिलेख प्रारभिक गुप्त शासक स्कन्दगुप्त का है। यह तिथिविहीन है। यह वैष्णव सम्प्रदाय से सबद्ध है तथा लेख का प्रयोजन शार्ङ्गिन् (= "शृ ग निर्मित शार्ङ्ग कथित धनुष को धारण करने वाला") नाम के अन्तर्गत भगवान् विष्णु की एक प्रतिमा की स्थापना तथा प्रतिमा के प्रति एक अनुल्लिखित नाम वाले गाव—जिसमे कि स्तम्भ स्थित है—के नियतन का उल्लेख करना था।

मूलपाठ[1]

१ [सिद्धम्[2]] [॥*] [स ं] व्वराजू [ो]च्छ्[े]त्तु पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिल[ा]स्वादितयशसो धनदवरुणेन्द्र [ा] न्तकस [मस्य]

२ कृतान्तपरशो न्यायगत [ा] नेकगोहिरण्यक् [ो] टिप्रदस्य चिरो [त्] सन्नाश्वमेधाहर्त्तुर्महाराज श्रीगुप्तप्रपौत्र [स्य]

३ महाराजश्रीघटोत्कचपौत्त्रस्य महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्या कुम-[ा]रद् [े] व्या—

४ मुत्पन्नस्य माहाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्परिगृहीतो महादेव्यान्दत्तदेव्यामुत्पन्न स्व-यमप्रतिरथ

५ परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यातो महादेव्या ध्रुवदेव्यामु-त्पन्न परम—

६ भागवतो महाराजाधिरा[ा]जश्रीकुमारगुप्तस्तस्य [।*] प्रथित[3]पृथुमतिस्वभावशक्तेः पृथुयशसः पृथिवीपते पृथुश्री

७ पि [तृ]पर्ि[र]गतपादपद्मवर्त्ती प्रथितयशा पृथिवीपति सुतोऽयम् [॥*] जगति[4] भु[ज]बलाड्यो (ढ्यो) गुप्तवङ्शैकवीर प्रथितविपुल—

---

१ मूल स्तम्भ से।

२ सर्व्व के ऊपर कुछ अस्पष्ट चिन्ह मिलते है जो इस शब्द के अवशिष्ट चिन्ह प्रतीत होते हैं, किन्तु, यह सवथा निश्चित नहीं है।

३ छन्द पुष्पिताग्रा।

४ छन्द, मालिनी, तथा अनुवर्ती चार श्लोकों में।

८ धामा नामत स्कन्दगुप्त सुचरितचरिताना येन वृत्तेन वृत्त न विहतममलात्मा तानधीदा (?)-विनीत [।।*] विनय—

९ बलसुनीतैर्व्विक्रमेण क्रमेण प्रति दिनमभियोगादीप्सित येन ल [ब्] ध्वा स्वभिमतविजिगीषा प्रोद्यताना परेषा प्रणि—

१० हित इव ले [भे स] विधानोपदेश [।।*] विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा समु—

११ दितबलकोशान्पुष्यमित्राश्च [ज] त्वा क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपाद [।।*] प्रसभमनुप-स् [*] र्व्विद्धवस्तशास्त्रप्रतापै [र्] विन [— —] मु-

१२ [———] क्षान्तिशौर्य [*] र्न्निरुद्धम् चरितममलकीर्तेर्ग्गीयते यस्य शुभ्र दिशिदिशि परितुष्टै-राकुमार मनुष्यै [।।*] पितरि दिवमुपे [ते]

१३ विप्लुता वङ्शलक्ष्मी भुजबलविजितारिर्य्य प्रतिष्ठाप्य भूय जितमिति परितोषान्मातर सास्रनेत्रा हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपे—

१४ [त] [।।*] स्व [*] द्दण्ड् [* '] [— —] र(?)त्यु [–] त्प्रचलित वङ्श प्रतिष्ठाप्य यो बहुभ्यामवर्नि विजित्य हि जितेष्वार्तेषु कृत्वा दयाम्नोत्सिकतो [न] च विस्मित प्रतिदिन

१५ सवर्द्धमानद्युति गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दकज(?)नो(?)य प्रा(?)पयत्यार्य्यताम् [।।*] हूणै-र्य्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्या धरा कम्पिता भीमावर्त्तकरस्य

१६ शत्रुषु शरा [————————————] विर (?) चि(?) त प्रख्यापितो [–] ि [—] ि [–] न द्यो (?) ति [—] नमी (?) षु लक्ष्यत इव श्रोत्रेषु गाङ्गध्वनि [।।*]

१७ स् [व][2]पितु कीर्ति [————————————————] [।।*] [कर्तव्या] प्रतिमा काचित्प्रतिमा तस्य शार्ङ्गिण'

१८ स् [॰]प्रतीतश्चकारेमा य [ावद्दाचन्द्रतारकम्] [।।*] इह चैनम् प्रतिष्ठाप्य प्रतिष्ठितशासन ग्राममेन स विदध [`] पितु पु[ण्-] याभिवृद्धये [।।*]

१९ अतो भगवतो मूर्तिरिय यश्चात्र सस्थि (?)त(?) उभयम् निर्द्दिदेशासौ पितु पुण्याय पुण्यधी-रिति [।।*]

अनुवाद

[सिद्धि प्राप्त की जा चुकी है।] महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त—जो कि सभी राजाओ के उन्मूलनकर्ता थे, विश्व मे जिनका कोई विरोधी (जिनके समान शक्तिवाला) न था, जिनके यश का आस्वादन चारो समुद्रो द्वारा किया गया था, जो धनद, वरुण, इन्द्र तथा अन्तक (देवताओ) के समान थे, जो (भगवान्) कृतान्त के परशु स्वरूप थे, जो विधिपूर्वक अधिगत कई कोटि गायो तथा सुवर्ण का दान देने वाले थे, जो चिरकाल से समाप्त हो गए अश्वमेध यज्ञ का पुनरुद्धार करने वाले थे, जो महाराज श्री गुप्त के प्रपौत्र, महाराज श्री घटोत्कच के पौत्र (तथा) महाराजधिराज श्री चन्द्र-गुप्त (प्रथम) के महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न पुत्र तथा लिच्छिवि[3]-दौहित्र थे—के पुत्र।

---

१ छन्द, शार्दूलविक्रीडित, तथा अगले श्लोक मे।

२ छन्द, श्लोक [अनुष्टुभ], तथा अनुवर्ती तीन श्लोको मे।

३ इस नाम का सामान्य स्वरूप लिच्छवि है। जहा तक वर्तमान स्वरूप का सबध है, द्र० ऊपर पृ० १६ टिप्पणी २।

स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भ—लेख

मान २८
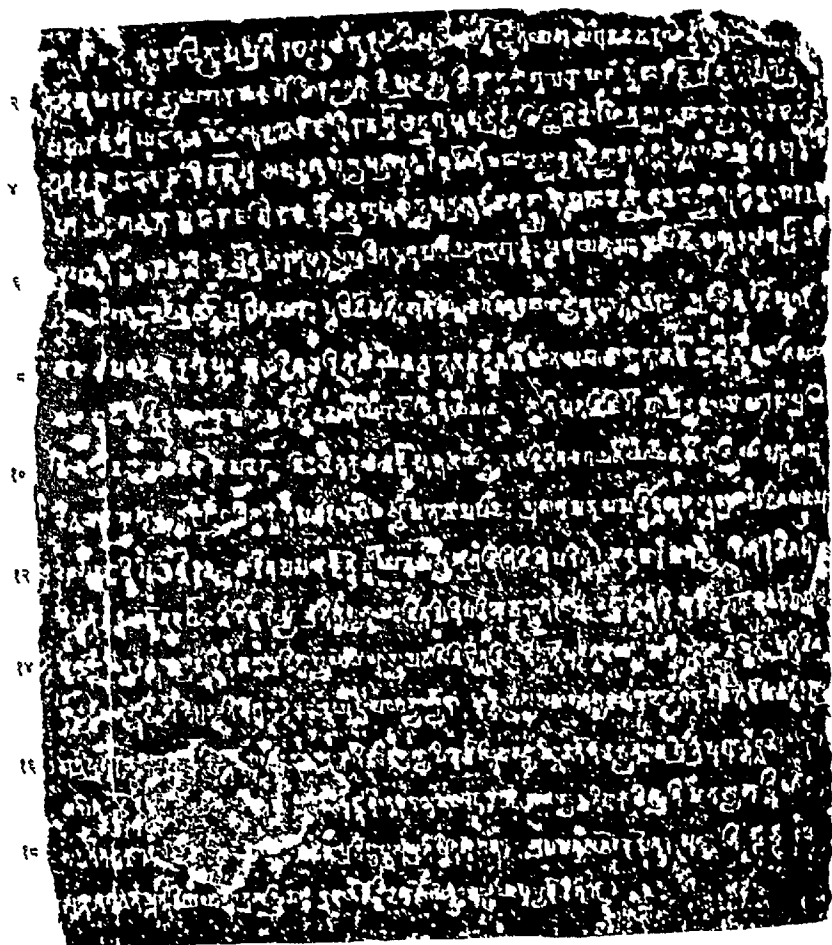
पं० ४-परम भागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त (द्वितीय) (थे) जो कि उनके द्वारा स्वीकृत हुए थे[1], जो दत्तदेवी से उत्पन्न हुए थे, (तथा) जो स्वयं बिना किसी विरोधी (समान शक्ति-वाले) के थे।

पं० ५-उनके पुत्र परमभागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त (थे) जो कि उनके चरणों के ध्यानकर्त्ता थे (तथा) जो महादेवी ध्रुवदेवी से उत्पन्न हुए थे।

पं० ६-उनके पुत्र अपनी प्रबल मेधा शक्ति से संपन्न शासक के रूप में प्रसिद्ध (तथा) महती प्रसिद्धि वाले (वर्तमान) शासक स्कन्दगुप्त (हैं) जो महान् यश के स्वामी हैं, जो कि (अपने) पिता के चरणरूपी सुविकसित कमलिनी से (मधुमक्षिका के समान) जीवन धारण करते थे[2], जिनका यश दूर दूर तक फैला हुआ है,- विश्व में भुज शक्ति से संपन्न हैं, जो गुप्त-वंश के सर्वोत्कृष्ट वीर हैं, जिनका प्रकाश दूर दूर तक फैला हुआ है, (सुन्दर) व्यवहार में प्रवृत्त जिनके द्वारा सुचरित्रवान व्यक्तियों का कार्य-व्यापार नहीं बाधित होता, जो विमल आत्मा वाले हैं, (तथा) संगीत के तानों (?) को समझने में निष्णात हैं,-

पं० ८-जिनके द्वारा-जिन्होंने प्रतिदिन के प्रखर अनुप्रयोग द्वारा क्रमपूर्वक अपने सुन्दर व्यवहार, शक्ति तथा राजनीतिक दक्षता के द्वारा अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है-(साधनों के) व्यवस्थापन कला की शिक्षा प्राप्त की जा चुकी है, (तथा) जिसे विजय-जो कि उन्हें बहुत प्रिय था-की इच्छा से सामने आए हुए शत्रुओं (को पराभूत करने) के साधन के रूप में प्रयुक्त किया गया था --

पं० १०-जिनके द्वारा-जब कि वह (अपने) कुल की विचलित लक्ष्मी को स्थिर करने के लिए उद्यत हुए-एक (संपूर्ण) रात्रि पृथ्वी-तल रूपी शय्या पर व्यतीत की गई, तथा उसके पश्चात् शक्ति तथा धन में पर्याप्त बढ़े हुए पुष्यमित्रों[3] को जीत कर उन्होंने (उसी जनजाति के) राजा रूपी पादपीठ पर (अपना) बाया पैर रखा--

पं० ११-सहज (किन्तु) तथा सर्वथा अनुपम एवं (अपने शत्रुओं) के शस्त्रों की कार्य-क्षमता को नष्ट करने वाले धैर्य तथा वीरता से (बढ़ाए गए) यश के स्वामी जिनका सुचरित्र सभी दिशाओं में आबाल प्रसन्न मनुष्यों द्वारा गाया जाता है-

---

१ अर्थात् समुद्रगुप्त द्वारा, द्र० ऊपर पृ० १४, टिप्पणी २।

२ यह अभिव्यंजन अपने ग्रंथ में ऊपर पं० ५ में अंकित तत्पादानुध्यात् के अत्यन्त समान है। तुलनीय, शक-संवत्--७८८ में तिथ्यंकित सिरूर अभिलेख की पंक्ति १७ (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० २१६) में अंकित अमोघवर्षदेवपादपंकजभ्रमर (="अमोघवर्षदेव के चरण-रूपी कमल पर मंडराने वाला भ्रमर")।

३ लेख के शेष भाग में समान, इस नाम का द्वितीय शब्दांश टूटा हुआ मिलता है,। किन्तु जहां तक इसके निचले अंश का संबंध है-इस लेख के य अक्षर से इसकी सदृशता देखने पर-उदाहरण के लिए पं० २ में अंकित अप्रदस्य में तथा पं० ३ में अंकित दौहित्रस्य में--तथा प अक्षर के साथ इसकी असमानता देखने पर--उदाहरणार्थ पं० ४ में अंकित तत्परिगृहीतो तथा पं० में अंकित तत्पादा में--यह स्पष्टरूपेण य है। अतएव, इस अवतरण से यह प्रदर्शित होता है कि इस नाम के प्रथम अंश का शुद्ध रूप पुष्य है पुष्प नहीं, यह एक ऐसा विषय है जिसका समाधान देवनागरी पाण्डुलिपियों में नहीं हो पाया है और न ही यह यहां समाधेय है। तथा यह मेरुतुंग, धर्मसागर तथा जयविजयगणि की प्राकृत गाथाओं से डा० ब्यूलर द्वारा उद्धृत अवतरणों में आए पतंजलि के समकालीन प्राचीन शासक पुष्यमित्र के नाम के प्राकृत रूप पूसमित्त (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० २, पृ० ३६२ इ०)। प्रो० वेबर के अनुसार भी पुष्यमित्र ही शुद्ध रूप है (संस्कृत लिटरेचर, पृ० २२३ टिप्पणी २४७)।

प० १२–जिन्होने (अपने) पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर (अपने) भुज-वल से (अपने) शत्रुओ पर विजय प्राप्त किया तथा (अपने) कुल की ध्वस्त श्री का पुनरस्थापन किया, तथा जो "विजय-श्री प्राप्त कर ली गई है" यह चिल्लाते हुए अश्रुपूर्ण नेत्रो वाली (अपनी) माता के पास आए जैसे कि कृष्ण (अपने) शत्रुओ के वध के पश्चात् (अपनी माता) देवकी के पास पहुचे थे,

प० १४–जिन्होने अपनी सेनाओ द्वारा (पुन) (अपने) दोलायमान कुल को सस्थापित किया (तथा) अपनी दोनो भुजाओ से पृथ्वी को पराभूत किया (तथा) अपने विजित सकटापन्न शत्रुओ के प्रति दया का प्रदर्शन किया (किन्तु जो) दिन प्रतिदिन प्रताप की वृद्धि होने पर भी गर्व-युक्त तथा उद्धत नही हुए, (तथा) चारण अपने गीतो तथा प्रशसाओ से जिन्हे विशिष्टता प्रदान करते है–

प० १५–हूणो के साथ सघर्ष मे सलग्न होने पर गभीर आवर्त्त (के समान उथल पुथल) को जन्म देने वाले जिनकी दोनो भुजाओ से पृथ्वी कम्पायमान हुई, ''शत्रुओ मे' 'शरो घोषित किया मानो यह (उनके) कानो मे स्वय को प्रख्यापित करने वाली गगा (नदी की) गर्जन-ध्वनि हो।

प० १७– उनके पिता का यश' (स्वय को यह करते हुए कि) कोई प्रतिमा (वनाई जानी चाहिए) सुविख्यात उन्होने (प्रसिद्ध) (देवता) शार्ङ्गिन् की यह प्रतिमा बनाई (जो तव तक बनी रहे जब तक कि चन्द्रमा तथा तारागण स्थित हैं) तथा इस (देवता) की[1] स्थापना करके सुस्थापित आदेशो वाले उन्होंने (अपने) पिता के पुण्यलाभ के उद्देश्य से[2] (प्रतिमा के प्रति) इस गाव को दिया है।

प० १९–तदनुसार, भगवान् की यह प्रतिमा तथा यहा सस्थित (यह गाव)[3]–पुण्य बुद्धि उसने इन दोनो का (अपने) पिता के पुण्य (की वृद्धि के) लिए अभ्यर्पण किया है।

---

१ अथवा, समवत "इस (स्तम्भ) को यहा स्थापित करके"।

२ प० १८ मे एन स विवधे पितु के स्थान पर महेशप्रीतगुप्त (='शिव का भक्त अथवा शिव का प्रिय गुप्त') पढ़ने के कारण तथा यह न देख पाने के कारण कि प० १२ मे पितरि दिवमुपेते (='पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर') कुमारगुप्त की मृत्यु का निर्देश करता है। इन दो कारणो से डा० मिल ने "इस अभिलेख के अकन के समय एक अल्पायु राजकुमार" की बात कही है तथा यह सुझाया है कि यह राजकुमार सभवतः महेन्द्रगुप्त था (एवम् ?, किन्तु वस्तुतः महेन्द्रादित्य जो कि कुमारगुप्त की एक उपाधि था), जिसका नाम इस वश के कुछ सिक्को पर मिलता है। डा० मिल की वशावली मे की गई यह दुहरी गलती श्री टामस द्वारा अपनी गुप्त वशावली मे भी दुहराई गई है (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० २, प० १६)। महेन्द्रगुप्त का नाम फरगुसन की अतिम सूची मे भी दिया गया है (केव टेम्पल्स आफ वेस्टर्न इण्डिया, पृ० १६१)।

३ अथवा समवत, "तथा यहा स्थित (यह स्तम्भ)।"

स० १४, प्रतिचित्र ८

स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ शिलालेख,
वर्ष १३६, १३७ तथा१३८

इस लेख की प्राप्ति की घोषणा १८३८ मे श्री जेम्स प्रिसेप द्वारा जर्नल श्राफ द बगाल एशियाटिक सौसायटी, जि० ७, पृ० ३४७ इ० मे की गई। १८८४ मे जर्नल ग्राफ द बाम्बे ब्राच ग्राफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि०, १ पृ० १४८ मे इसका एक शिलामुद्रण प्रकाशित हुआ जो कि जनरल सर लीग्रैन्ड जैकब (George Le Grand Jacob), श्री एन० एल० वेस्टरगाड(N L Westergaard) तथा एक ब्राह्मण सहायक द्वारा तैयार की गई एव सोसायटी को दो वर्ष पूर्व प्रदान की गई प्रतिलिपि द्वारा तैयार किया गया था। १८६२ मे उसी पत्रिका के जि० ७, पृ० १२१ इ० मे डा० भाऊदाजी ने लेख का अपना पाठ तथा इसका अनुवाद प्रकाशित किया एव साथ मे एक शिलामुद्रण भी दिया जो कि १८६१ मे डा० भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा बनाई गई पट-लिपि के आधार पर तैयार किया गया था। पुन १८७६ में डा० भाऊदाजी का पाठ तथा-प्रो० एगलिंग द्वारा सशोधित-अनुवाद का आर्क्यालाजिकल सर्वे ग्राफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० २, पृ० १३४ इ० में पुनर्प्रकाशन हुआ तथा साथ मे एक शिलामुद्रण भी दिया गया जो कि डा० भगवानलाल इन्द्रजी की प्रतिलिपि का ही किंचित् पुनर्प्रस्तुतीकरण था (वही, प्रति० १५)।

जूनागढ[1] बाम्बे प्रेसीडेन्सी मे स्थित काठियावाड प्रायद्वीप[2] (peninsula) मे जूनागढ नामक देशी राज्य का प्रमुख नगर है। इस लेख मे इस नगर अथवा इसके प्राचीन पूर्वरूप की चर्चा हुई है, किन्तु इसका प्राचीन नाम नहीं दिया गया है। किन्तु रुद्रदामन् के अभिलेख की प० १ मे नगर का नाम आया है,[3] जहा इसे गिरिनगर (="गिरि का अथवा पर बना हुआ नगर") कहा गया है। कालान्तर में यह नाम स्वय पहाड पर आरोपित हो गया जिसे गिरनार कहा जाने लगा, अभिलेखों में पहाड को ऊर्जयत् नाम दिया गया है, और यह तथ्य विशेष इस बात की ओर सकेत करता प्रतीत होता है कि प्राचीन नगर उस स्थान पर नही था जहा कि यह आज बसा हुआ है, अपितु यह पहाडी के और निकट सभवत पहाडी के नीचे उस स्थान पर बसा था जहा कि भूमि-स्तर ऊचा होता है। यह अभिलेख एक बडे ग्रेनाइट पत्थर की चट्टान के उत्तरी पश्चिमी पक्ष पर अकित है, इस लेख के अतिरिक्त इस शिलाखण्ड पर अशोक के चौदह शिलालेख तथा महाक्षत्रप रुद्रदामन् का एक लम्बा लेख भी अकित है, सुरक्षा के दृष्टिकोण से शिलाखण्ड पर अब एक आच्छादन कर दिया गया है, यह शिलाखण्ड नगर के लगभग एक मील पूर्व मे उस कण्ठनाली के प्रारभ मे ही स्थित है जो कि गिरनार पर्वत के चारो ओर स्थित उपत्यका तक ले जाती है।

---

१ मानचित्रो इ० का 'Joonaghur,' Junagad', 'Junagarh' तथा Junagurh'। इण्डियन एटलस,, फलक स० १३। अक्षांश २१°३१' उत्तर, देशान्तर ७०°३६' पूर्व।

२ मानचित्रों इ० का 'Kathiawar' तथा Kattywar'।

३ आर्क्यालाजिकल सर्वे ग्राफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० २, पृ० १२८।

लेखन जो लगभग १०' चौडा तथा ७ ३" ऊचा स्थान घेरता है, पर्याप्त सुरक्षित अवस्था मे है, केवल प० २२ इ० मे ही चट्टान की परत टूटी हुई है तथा लेख मे रिक्तता आ गई है। किन्तु लेख को पढना बहुत सरल नही है—अशत इस कारण कि उत्कीर्णन कार्य अनियत तथा कुछ स्थानो पर अल्प-गम्भीर है, अंशत. इस कारण कि इस शिला का स्तर बडा खुरदरा है और इस पर पडे हुए स्वाभाविक चिन्ह अकित अक्षरो के साथ मिल जाते हैं, अशत इस कारण कि शिला-स्तर के अनियत स्वरूप के कारण उत्कीर्णक ने बीच बीच मे पर्याप्त स्थान छोड दिया है[1]। अक्षरो का आकार लगभग ⅝ से ले कर १½' तक मिलता है। अक्षर दक्षिण प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा उस प्रकार का परवर्ती विकसित रूप है जिसका प्रयोग इसी शिलाखण्ड पर महाक्षत्रप रुद्रदामन् के अभिलेख मे हुआ है[2]; इसे पाचवी शताब्दी ई० की सौराष्ट्र अथवा काठियावाड वर्णमाला की सज्ञा दी जा सकती है। इस वर्णमाला की एक उल्लेखनीय विशिष्टता यह है कि इसमे सयुक्त अक्षर मे नीचे लिखा गया य अपने पूर्णरूप मे लिखा गया है, अन्य वर्णमालाओ के समान सक्षिप्त रूप मे नही है, उदाहरणार्थ, प० ५ मे अकित बुद्ध्या, प० ६ मे अकित व्यसनी तथा पं० ८ मे अंकित न्याया मे। भाषा सस्कृत है, तथा लेख के प्रथम शब्द सिद्धम् तथा प० २३ मे अकित कुछ शब्दो को छोड कर सपूर्ण लेख पद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे जो हमे इन बातो को ध्यान मे रखना है १ प० २४ मे अकित वङ्श मे श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक, २. प० ५ मे अकित बुद्ध्या के अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर ध का द्वित्व, ३ पूर्ववर्ती र के साथ सयोग होने पर व्यजनो के द्वित्व के प्रति उदासीन भाव—उदाहरणार्थ प० १ मे अकित आर्त्त्य, प० २ मे अकित आर्त्तिर् तथा प० ३ मे अकित दर्प्पो मे द्वित्व हुआ है, किन्तु प० २ मे अकित वीर्यो, प०३ मे अकित पर्यन्त, प० मे अकित सर्वान्, प० ७ मे अकित आर्जवो तथा प० ८ मे अकित आर्जनेऽर्थस्य मे द्वित्व नही हुआ है।

लेख का प्रथम भाग स्वय को प्रारभिक गुप्त शासक स्कन्दगुप्त के शासन काल मे रखता है, तथा भगवान् विष्णु की विनती करने तथा पाच श्लोको मे वर्तमान राजा की प्रशसा करने के पश्चात् यह इसका विवरण देता है कि उसने किस प्रकार सौराष्ट्रो मे अथवा काठियावाड प्रदेश मे स्थित अपने साम्राज्य के भू-भाग के शासन-सचालन के लिए किसी पर्णदत्त की नियुक्ति की। पर्णदत्त ने उस नगर, जिसमे कि यह लेख है, के शासन सचालन के लिए अपने पुत्र चक्रपालित को नियुक्त किया। तत्पश्चात् लेख अपने वास्तविक प्रयोजन की ओर अग्रसर होता है—अर्थात् इस बात का लेखन कि "गुप्त काल मे गणना करते हुए", वर्ष एक सौ छत्तीस मे (ईसवी सन् ४५५-५६) प्रौष्ठपद मास (अगस्त-सितम्बर) के छठे दिन रात्रि मे भारी वर्षा के कारण सुदर्शन झील (जो कि गिरनार की तली मे चारो ओर फैली

---

१ ये रिक्त स्थान मुख्यत. अभिलेख के मध्य भाग तक पहुचने वाली लम्बी दरार के दोनो तरफ मिलते हैं।

२ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० २, पृ० १२८, प्रति० १४।

३ जिस शिलामुद्रण के आधार पर भाऊदाजी ने काम किया था उस शिलामुद्रण से भी सर्वथा स्पष्ट है कि यहा (प० १५) शुद्ध पाठ गुप्तप्रकाले गणना विधाय है, न कि गुप्तस्य काला(द्) गणनां विधाय ("—गुप्त के सवत् द्वारा गणना करके") जैसा कि भाऊदाजी ने इसे पढा था और कालान्तर मे टामस द्वारा विशिष्टरूपेण शुद्ध माना गया था (जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S जि० १३, पृ० ५३८)। वर्तमान लेखमाला मे यह अवतरण तथा, नीचे प० २७ मे अकित, प्रत्यक्षत: काल द्वारा विशेषित, सबधकारक बहुवचन गुप्तानां —ये दो ही ऐसे दृष्टान्त हैं जो किसी रूप मे गुप्तो के नाम को उनके द्वारा प्रयुक्त सवत के साथ जोडते हैं। किन्तु, इनमे से कोई भी यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त नही है कि सवत् की स्थापना स्वय गुप्तो द्वारा हुई थी, अथवा मात्र यह ही कि इस समय सवत् को गुप्त सवत् का नाम प्राप्त हो चुका था।

घाटी में कण्ठनाली –जिसमे कि यह अभिलेख मिलता है–के पार बने हुए एक प्राचीन बाध निर्मित हुआ था) फूट पड़ा । इस स्थान पर तथा और आगे दो अवतरणो मे दी गई तिथि पूर्णरूपण शब्दो मे अकित है, अको मे नही । बाध के पुनर्नवीनीकरण द्वारा विदारण का पुनर्निर्माण चक्रपालित की आज्ञा से दो महीने के कार्य के उपरान्त वर्ष एक सौ सैंतीस मे (ईसवी सन् ४५६–५७) सम्पन्न हुआ ।

द्वितीय भाग–अर्थात् पक्ति २४ से लेकर अन्त तक–मे, अब अपठनीय प २८ मे अकित अवतरणो मे सभवत स्कन्दगुप्त तथा पर्णदत्त का पुन उल्लेख हुआ है । और तव, लेख के प्रारभ मे दी गई स्तुति द्वारा निर्दिष्ट वैष्णव विधि के अनुरूप लेख मे यह कहा गया है कि गुप्तो के काल मे वर्ष एक सौ अडतीस मे (ईसवी सन् ४५७–५८) चक्रपालित ने 'चक्रभृत' (="चक्र धारण करने वाला") नाम के अन्तर्गत भगवान् विष्णु का एक मन्दिर बनवाया । इसके पश्चात्, दो श्लोको से लेख का समापन होता है, किन्तु इनका इतना कम भाग शेष है कि इनमे वर्णित विषय का ज्ञान नही हो सकता ।

मूलपाठ[1]

१ सिद्धम [॥*] श्रियमभिमत[2]भोग्या नैककालापनीता त्रिदशपतिसुखार्थं यो बलेराजहार । कमलनिलयनाया शाश्वत धाम लक्ष्म्या

वस्तुत, प्रथम अवतरण की भाषा से मात्र यह प्रदर्शित होता है कि यह तिथि एक ऐसे सवत् मे अकित की जा रही थी जिसका देश के उस भाग मे प्रचलन नही था । इस प्रकार का एकमात्र अन्य अवतरण हमें जाइक के मोरवी दानलेख की प० १६ इ० मे अकित तिथि में मिलता है, जो अब तक सवस्वीकृत डा० आर० जी० भडारकर के पाठ तथा अनुवाद के अनुसार इस प्रकार है पञ्चाशीत्या युतेऽतीते समानां शतपञ्चके । गौप्ते ददावदौ नृप सोपरागेऽर्क्क मण्डले ॥="गुप्तो के पांच सौ पचासी वर्ष बीत चुके होने पर, सूय ग्रहण के समय, राजा ने यह दान मे दिया" (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० २, पृ० २५८) । किन्तु, यह अनुवाद इस बात का ध्यान नहीं रखता कि प० १७ में वास्तविक पाठ गौप्ते कथञ्चित् नहीं है अपितु यह गोप्ते है । केवल ओ (ो) का औ (ौ) मे संशोधन करने पर इस अवतरणमें गुप्तों का अनुप्रवेश समव है । किन्तु गोप्ते का गोप्त्रे (="रक्षक, स्थानीय उपशासक") मे सशोधन उतना ही उपयुक्त होगा (तुलनीय है वर्तमान लेख की प० ६ मे अंकित यह शब्द), और यह सशोधन अधिक समीचीन जान पडता है, क्योकि यह शब्द श्लोक के प्रथमार्ध मे आई हुई तिथि से सवथा पृथक्रूपेण स्थित है तथा यप ददौ (="उसने दिया)" शब्द के ठीक पहले आता है जिसके सबध मे अधिकरण-वाचक (अथवा किसी अन्य) विभक्ति की आशा करना सवथा अपेक्षित है । अथवा, बिना कोई सशोधन किए ही हम "राजा ने यह (राजपत्र) गोप्त (गाव) मे दिया"–यह अनुवाद कर सकते हैं और इस प्रकार एक ग्राम-नाम पा सकते हैं जो आधुनिक गोप (नामक गांव) का प्राचीन रूप हो सकता है । गोप, काठियावाड़ मे, मोरवी से दक्षिण पश्चिम में पचहत्तर मील की दूरी पर, नवानगर अथवा जामनगर से दक्षिण में पच्चीस मील की दूरी पर, तथा धिनिकि–जहां से विक्रम सवत् ७९४ मे तिथ्यकित जाइकदेव नामक एक राजा का ताम्रपत्र-लेख (वास्तविक अथवा जाली इसका बाद मे निर्णय किया जाएगा) प्राप्त हुआ था (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० १५१ इ०)–से पूर्व में पचास मील की दूरी पर स्थित हैं । यहा मुझे इस बात का प्रत्याख्यान करते हुए न समझा जाय कि मोरवी लेख की तिथि उसी सवत् मे दी गई है जिसका प्रयोग गुप्तो न किया था । मेरा तात्पय केवल यह प्रदर्शित करना है कि जिस अवतरण मे तिथि दी गई है उसमे ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे हम इसके साथ गुप्तो का नाम सयुक्त करने को बाध्य हो । मोरवी लेख के सपूर्ण अभिप्राय को अन्तिम रूप से निश्चित कर सकने मे जो बाधा है, वह यह है कि इसका प्रथम प्रतिचित्र परीक्षण हेतु प्राप्त हो सकने के पूव ही लुप्त हो गया, और अब, प्रकाशित हो चुका दूसरा प्रतिचित्र भी खो चुका है और उसकी प्राप्ति की आशा नहीं है ।

१ मूल प्रस्तर खण्ड से

२ छन्द, मालिनी, तथा अनुवर्ती दो श्लोको में ।

२ स जयति विजितार्त्तिर्व्विष्णुरत्यन्तजिष्णु ॥ तदनु जयति शाश्वत श्रीपरिक्षिप्त वक्षा. स्वभुजजनितवीर्यो राजराजाधिराजः। नरपति—

३ भुजगाना मानदर्प्पोत्फणाना प्रतिकृतिगरुणाज्ञा [ ] निर्व्विषी [ ] चावकर्त्ता ॥ नृपतिगुणनिकेतः स्कन्दगुप्त पृथुश्रीः चतुरुदधिज(?)ल(?)न्तां स्फीतपर्यन्तदेशाम् ।

४ अवनिमवनतारिर्यः चकारात्मसंस्था पितरि सुरसखित्व प्राप्तवत्यात्मशक्त्या ॥ अपि च जितम्[ ] व तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य रिपवोऽपि आमूलभग्नदर्पानिव [२]म्लेच्छदेशेषु ॥

५ क्रमेण[३] बुद्ध्या निपुण प्रधार्य ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुणदोषहेतून् । व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रल्लक्ष्मीः स्वय य वरयाचकार ॥ तस्मिन्नृपे[४] शासति नैव कश्चिद्धर्म्मादपेतो मनुज. प्रजासु ।

६ आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्ड्[यो•] न वा यो भृशपीडित स्यात् ॥ एव स जित्वा पृथिवीं समग्रां भग्नाग्रदर्पा [न्] द्विषतश्च कृत्वा । सर्व्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄ[न्सं] न् सचिन्तया [मा]स बहुप्रकारम् ॥ स्यात्कोऽनुरूपो

७ मतिमान्विनि (नी) तो मेधास्मृतिभ्यामनपेतभावः। सत्यार्जवौदार्यनयोपपन्नो माधुर्यदाक्षिण्ययशोन्वितश्च ॥ भक्तोनुरक्तो नृ [वि] द् श् [ ] पयुक्त सर्व्वोपधाभिश्च विशुद्ध बुद्धि । आनृण्यभावोपगतान्तरात्मा [५] सर्व्वस्य लोकस्य हिते प्रवृत्त ॥

८ न्यायार्जनेर्थस्य च क समर्थ. स्यादर्जितस्याप्यथ रक्षणे च । गोपायितस्यापि [च] वृद्धिहेतौ वृद्धस्य पात्रप्रतिपादनाय ॥ सर्व्वेषु भृत्येष्वपि सहृतेषु यो मे प्रशिष्यान्निखिलान्सुराष्ट्रान् । आ ज्ञातमेक खलु पर्णदत्तो भारस्य तस्योद्वहने समर्थ. ॥

९ एव विनिश्चित्य नृपाधिपेन नैकानहोरात्रगणान्स्वमत्या । य. सनियुक्तोर्थनया कथचित् सम्यक् सुराष्ट्रावनिपालनाय ॥ नियुज्य[६] देवा वरुणं प्रतीच्या स्वस्या यथा नोन्मनसो बभूवु [.] । पूर्व्वेतरस्या दिशि पर्णदत्त नियुज्य राजा धृतिमांस्तथाभूत् ।

१० तस्यात्मजो ह्यात्मजभावयुक्तो द्विधेव चात्मात्मवशेन नीत. । सर्व्वात्मनात्मेव च रक्षणीयो नित्यात्मवानात्मजकान्तरूप । (॥) रूपानुरूपैललितैर्विचित्रै. नित्यप्रमोदान्वितसर्वभाव. । प्रबुद्धपद्माकरपद्मवक्त्रो नृणा शरण्य. शरणागतानाम् । (॥)

११ अभवद्[७]भुवि चक्रपालितोऽसाविति नाम्ना प्रथितः प्रियो जनस्य । स्वगुणैरनुपस्कृतैरुदात्त [ ] पितर यश्च विशेषयाचकार । (॥) क्षमा[८] प्रभुत्व विनयो नयश्च शौर्यं विना शौर्यमह [I] र्च्चनं च । वा (?) क्य (?)म् दयो दानमदीनता च दाक्षिण्यमानृण्यमश् [ ] न्यता च । (॥) सौंदर्यमार्येतरनिग्रहश्च अविस्मयो धैर्यमुदीर्णता च ।

१२ इत्येवमेतेऽतिशयेन यस्मिन्नविप्रवासेन गुणा वसन्ति । (॥)
न विद्यतेऽसौ सकलेऽपि लोके यत्रोपमा तस्य गुणैः क्रियेत ।

---

१ छन्द, आर्या ।

२ ? निर्वचना ।

३ छन्द, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उपजाति ।

४ छन्द, इन्द्रवज्रा, तथा अगले छ श्लोको मे ।

५ पढें, आत्मा ।

६ छन्द, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उपजाति, तथा अगले दो श्लोको मे ।

७ छन्द, वैतालीय—औपच्छन्दसिक ।

८ छन्द, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उपजाति,; तथा अगले तीन श्लोकों मे ।

स एव कार्त्स्न्येन गुणान्विताना बभूव नृ (नृ) णामुपमानभूत । (॥)
इत्यवमेतानधिकानतोन्यान्गुणान्पर् [ी] क्ष्य स्वयमेव पित्रा ।
य सनियुक्तो नगरस्य रक्षा विशिष्य पूर्वान्प्रचकार सम्यक् । (॥)

१३ आश्रित्य[1] वि(वी)र्य सु (?)भु(?)जद्वयस्य स्वस्यैव नान्यस्य नरस्य दर्प । नोद्वेजयामास च कचिदेवमस्मिन्पुरे चैव शशास दुष्टा (न्) । (॥) विस्रम्भमल्पे न शशाम योऽस्मिन् काले न लोकेषु सनागरेषु । यो लालयामास च पौरवर्गान् [— —⏑] पुत्रान्सुपरीक्ष्य दोषान् । (॥) सरजया च प्रकृतिर्बभूव पूर्वस्मिताभाषणमान दानै ।

१४ निर्यन्त्रणान्योन्यगृहप्रवेशै सर्वधितप्रीतिगृहोपचारै । (॥)
ब्रह्मण्यभावेन परेण युक्त शकल शुचिर्दानपरो यथावत् ।
प्राप्यान्सकाले विषयान्सिषेवे धर्मार्थयोश्चा [प्य]विरोधनेन । (॥)
यो [—⏑— —⏑] पणदत्तात्स न्यायवानत्र किमस्ति चित्र ।
मुक्ताकलापाम्बुजपद्मशीताच्चन्द्रात्किमुष्ण भविता कदाचित् । (॥)

१५ अथा[2] क्रमेणाम्बुदकाल आगत् [`] f [न्] दाघकालं प्रविदार्य तोयदै ।
ववर्ष तोयं बहु सतत चिर सुदर्शन येन बिभेद चात्वरात् । (॥)
सवत्सराणामधिके[3] शते तु त्रिंशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव । रात्रौ दिने प्रौष्ठपदस्य षष्ठे गुप्तप्रकाले गणना विधाय[4] । (॥)

१६ इमाश्च[5]या रैवतकाद्विनिर्गता [०] पलाशिनीय सिकताविलासिनी । समुद्रकान्ता चिरबन्धनो- षिता पुन पति शास्त्रयथोचित ययु । (॥) अवेक्ष्य वर्षागमज महोद्भ्रम महोदधेरूर्जयता प्रियेप्सुना । अनेकतीरान्तजपुष्पशोभितो ।

१७ नदीमयो हस्त इव प्रसारित । (॥) विषाद्य[माना खुल सर्वतो ज]ना कथकथ कार्यमिति प्रवादिन. । मिथो हि पूर्वापररात्रमुत्थिता विचिन्तया चापि बभूवुरुत्सुक । (॥) अपीह लोके सकले सुदर्शन पुमा (न्) हि दुर्दर्शनता गत क्षणात् ।

१८ भवेन्नु साम्भो निधितुल्यदर्शन [—⏑⏑⏑⏑⏑—] (॥) [⏑——[6]—⏑]वणे स भूत्वा पितु परा भक्तिमपि प्रदर्श्य । धर्मं पुरोधाय शुभानुबन्ध राज्ञो हितार्थं नगरस्य चैव । (॥) सवत्सराणामधिके शते तु

१९ त्रिंशद्भिरन्यैरपि सप्तभिश्च । प्र [—⏑———⏑—] शास्त्रवेत्ता वि (?) श्वो (?) प्यनु ज्ञात- महाप्रभाव । (॥) आज्यप्रणामै विबुधानथेष्ट्वा धनैर्द्विजातीनपि तर्पयित्वा । पौरास्तथाभ्यर्च्य यथार्हमानै भृत्यांश्च पूज्यान्सुहृदश्च दानै । (॥)

२० ग्रैष्मस्य मासस्य तु पूर्वप [क्षे] [⏑——⏑——प्र] यमेह्नि सम्यक् । मासद्वयेनादरवान्स भूत्वा धनस्य कृत्वा व्ययमप्रमेयम् । (॥) आयामतो हस्तशत समग्र विस्तारत षष्ठिरथापि चाष्टौ ।

---

१ छन्द, इन्द्रवज्रा, तथा अगले चार श्लोकों में ।

२ छन्द, वशस्थ ।

३ छन्द, इन्द्रवज्रा ।

४ सप्रति दिए गए पाठ के विषय मे द्र०, ऊपर पृ० ५७, टिप्पणी ४ ।

५ छन्द, वशस्थ, तथा अगले तीन श्लोकों में ।

६ छन्द, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उपजाति, तथा अगले पाँच श्लोकों मे ।

२१ उत्सेधतोन्यत् पुरुषाणि स(?)प्त (?) [⏑——⏑——ह] स्तद्वयस्य। (॥) ववन्ध यत्नात्महता नृदेवान[म्यर्च्य (?)] सम्यग्घटितोपलेन। अजातिदुष्टम् प्रथित तटाक सुदर्शन शाश्वतकल्प-कालम्। (॥)

२२ अपि[1] च सुदृढसेतुप्रान्त (?)विन्यस्तशोभरथचरणसमाह्वक्रौचहसासधूतम्। विमल-सलिल [——⏑——⏑——] भुवि त [⏑——⏑——] द [अ] र्क शशी च। (॥)

२३ नगरमपि च भूयाद्वृद्धिमत्पौरजुष्ट द्विजबहुशतगीतब्रह्मनिर्नष्टपाप। शतमपि च समानामीति-दुर्भिक्ष [——⏑——⏑——⏑——⏑——] [॥] [इति सुद] र्शनतटाकसस्कारग्रथरचना [स] माप्ता।।

द्वितीय भाग

२४ दृप्तारि[2]दर्पप्रणुद पृथुश्रिय स्वबङ्शकेतो सकलावनिपते। राजाधिराज्याद्भुतपुण्य[कर्मण] [⏑——⏑——⏑——⏑——] (॥) [——⏑[3]——⏑——⏑—— ⏑——⏑——⏑——] [।] द्वीपस्य गोप्ता महता च नेता दण्डद्वि (?) [—] ना

२५ द्विषता दमाय। (॥) तस्यात्मजेनात्मगुणान्वितेन गोविन्दपादार्पितजीवितेन। [——⏑——⏑—— ⏑——⏑——⏑——⏑——] (॥) [——⏑[4]——⏑——⏑—— ⏑——⏑——] ग्ध विष्णोश्च पादकमले समवाप्य तत्र। अर्थव्ययेन

२६ महता महता च कालेनात्मप्रभावनतपौरजनेन तेन। (॥) चक्र विभर्ति रिपु [——⏑——⏑ ——⏑——⏑——⏑——] [।] [——⏑——⏑——⏑——⏑——] तस्य स्वतन्त्रविधिकारणमानुषस्य। (॥)

२७ कारितमवक्र[5]मतिना चक्रभृत चक्रपालितेन गह। वर्षशतेष्टात्रिंशे गुप्ताना काल · [॥] [——⏑[6]——⏑——⏑——⏑——⏑——⏑——⏑——⏑——] र्थमुत्थितमि-वोर्जयतोऽचलस्य

२८ कुर्वत्प्रभुत्वमिव भाति पुरस्य मूर्ध्नि॥ अन्यच्च मूर्द्धनि सु [——⏑——⏑——⏑—— ——⏑——⏑——⏑——]

२९ रुद्धविहगमार्गविभ्राजते [⏑——⏑——⏑——]

अनुवाद

प्रथम भाग

सिद्धि प्राप्त की जा चुकी है। (भगवान्) विष्णु की जय हो—जो (देवी) लक्ष्मी के शाश्वत धाम है, कमल जिनका निवास स्थान हैं, जो विपक्षि विजेता हैं, जो परम विजेता हैं, जिन्होंने देवताओ

---

१ छन्द, मालिनी, तथा अगले श्लोक में।

२ छन्द,वशस्थ। प्रथम तथा तृतीय पादो के प्रथम अक्षर मे छन्द दोषपूर्ण है, इन्हे दीर्घ न होकर ह्रस्व होना चाहिए।

३ छन्द, इन्द्रवज्रा, तथा अगले श्लोक मे।

४ छन्द, वसन्त तिलक, तथा अगले श्लोक मे।

५ छन्द, आर्या, अथवा इसी वर्ग का।

६ छन्द, वसन्त तिलक, तथा अनुवर्ती श्लोक मे।

के स्वामी (इन्द्र) की प्रसन्नता के लिए (असुर) बलि से धन तथा श्री की देवी को, जिन्हें कि भोग्या माना जाता है (तथा) जो दीर्घ काल मे उससे ('अर्थात् इन्द्र से') दूर रह रही थीं, वापस छीना[1]।

प० २—तदुपरान्त उन राजराजाधिराज की सर्वदा जय हो—जिनका वक्ष स्थल धन तथा श्री की देवी द्वारा आलिंगित है, जिन्होने (अपनी) भुजाओ (की शक्ति से) वीरता को विकसित किया है, जिन्होने मान तथा दर्प से वशीभूत अपने फणो को उठाए हुए सर्पों के समान (वैरी) राजाओ के विरुद्ध (अपने क्षेत्रीय) प्रतिनिधियो—जो कि गरुडो के सदृश थे-की सत्ता मे शौर्य स्थापना की (तथा) विष-निवारक औषधि के रूप मे (उनका उपयोग किया)[2], विपुल श्री सम्पन्न, राजोचित गुणो के वासस्थान स्कन्दगुप्त जिन्होंने—जब कि (उनके) पिता ने स्वय अपनी शक्ति से देवताओ का मित्रत्व प्राप्त कर लिया[3]—अपने शत्रुओं को पराभूत किया तथा चारो समुद्रो के जलो मे सीमाबद्ध तथा सीमान्त पर स्फीत प्रदेशो से युक्त (सपूर्ण) पृथ्वी को अपने अधीन किया, यहा तक कि, म्लेच्छो के देश मे समूल नष्ट हो गए दर्प वाले (उनके) शत्रु भी इन शब्दो मे घोषित करते हैं—'निश्चित ही विजय उसकी हुई है', (तथा) भाग्य एव श्री की देवी ने, क्रम से (तथा) सभी गुण-दोष-हेतुओ पर निपुणतापूर्वक विचार करके (तथा) (अन्य) सभी राजपुत्रो को (उपयुक्त न पाने के कारण) त्यागकर, स्वय ही जिनका वरण किया है।

प० ५—उन राजा के शासनकाल में समस्त प्रजा मे कोई भी व्यक्ति धर्म से च्युत नही होता, (तथा) कोई भी विपत्तिग्रस्त, (अथवा) निर्धन (अथवा) कष्टित (अथवा) तृष्णालु नही है, अथवा कोई भी दण्डनीय व्यक्ति आवश्यकता से अधिक पीडा नही पाता।

प० ६—इस प्रकार सपूर्ण पृथ्वी पर विजय प्राप्त करके (तथा) (अपने) शत्रुओ के मानोत्कर्ष का नाश करके (तथा) सभी प्रदेशो पर गोप्तृयो (रक्षकों) की नियुक्ति करने के पश्चात् उसने बहुविध वितर्क किया—'मेरे सभी सेवको को साथ रख कर देखा जाय तो ऐसा कौन है जो—अनुरूप हो, बुद्धिमान हो, विनीत हो, मेधा तथा स्मृति से अविहीन चित्तवृत्ति वाला हो, सत्य, स्पष्टवृत्तिता, उदारता तथा नीतिवत्ता से सपन्न हो, माधुर्य, प्रिय व्यवहारवादिता तथा प्रसिद्धि से सपन्न हो, स्वामिभक्त हो, अनुरक्त हो, पुरुषोचित गुणो से युक्त हो, तथा (परीक्षित) एव अजिह्मता की सभी परीक्षाओ में शुद्ध (पाए गए) मनवाला हो, ऋणो तथा आभारो से मुक्ति (की इच्छा) से व्याप्त अन्तरात्मा वाला हो, मानव-कल्याण में अभिरुचि रखता हो, जो विधिपूर्वक धन-सग्रह मे, प्राप्त हो चुकने पर इसकी सुरक्षा मे, सुरक्षित होने के उपरान्त इसकी वृद्धि मे तथा वृद्धि होने के पश्चात् उपयुक्त कार्यों पर इसे व्यय करने मे समर्थ हो—मेरे सभी सुराष्ट्रो (के प्रदेशो) का शासन कर सकता है? अहा, मैंने पा लिया, एक ही ऐसा व्यक्ति है, पर्णदत्त इस भार का वहन करने मे समर्थ है।'

---

१ पौराणिक कथा इस प्रकार है कि असुर बलि अथवा महाबलि ने अपनी कठोर तपस्या के परिणामस्वरूप त्रैलोक्य पर आधिपत्य स्थापित किया जिससे देवता दु खी तथा चिन्तित हुए। तब विष्णु ने वामन के रूप मे अवतार लिया तथा बलि के सम्मुख प्रकट हो कर उतनी भूमि की याचना की जितनी वे अपने तीन पदो से नाप सकते थे। बलि ने उनकी प्रार्थना मान ली तथा विष्णु ने अपने दो पदों से आकाश तथा पृथ्वी को ले लिया, किन्तु, अब मस्तकावनत हुए, बलि पर अनुकम्पा करके पृथ्वी के नीचे स्थित पाताल लोक उनके आधिपत्य मे रहने दिया।

२ विष्णु का सेवक तथा वाहन, आधा मनुष्य तथा आधा पक्षी। गरुड सर्प-जाति का विशिष्ट शत्रु था। सभव है कि यहां व्यजना से 'स्कन्दगुप्त की प्रसिद्ध नागवशीय कुछ राजाओं के ऊपर विजय का उल्लेख किया गया हो।

३ अर्थात् "मृत्यु हो जाने पर"।

प० ९—(और यह वही पर्णदत्त था) जो आगृहपूर्वक (तथा) कठिनाई से राजा द्वारा—जिन्होंने कई दिन तथा रात्रि इस पर विचार किया था—सुराष्ट्रो के प्रदेश की सम्यक्रूपेण रक्षा करने के लिए नियुक्त किया गया। (तथा) जिस प्रकार पश्चिम दिशा मे वरुण की नियुक्ति करके देवता लोग स्वस्थचित्त तथा स्थिरमति हो गए थे, उसी प्रकार राजा पश्चिमी प्रदेश पर पर्णदत्त की नियुक्ति करके समानरूपेण निश्चिन्त हो गये।

प० १०—उसका पुत्र—जो पितृभक्ति की भावना से युक्त है, मानो अपनी आत्मा ही फिर से उत्पन्न हुई हो, आत्म-नियन्त्रण मे सुशिक्षित; अपनी आत्मा के समान विश्वात्मा द्वारा रक्षणीय, सदैव जो आत्मवशी है, सहज सुन्दर रूप से सपन्न, ऐसी चित्तवृत्ति वाला जो सपूर्णत (अपने) सौन्दर्य के अनुरूप विविध सुन्दर कर्मों के कारण सदैव प्रसन्नताभाव से व्याप्त था, पूर्ण प्रस्फुटित कमल-समूहो के सदृश कमल-मुख वाला, रक्षार्थ अपने पास आए हुए मनुष्यो का शरण्य-यह वही है जो पृथ्वी पर चक्रपालित नाम से प्रख्यात है, जो लोकप्रिय है, जो अपने परिष्कृत उदात्त गुणो से (अपने) पिता पर वैशिष्ट्य आरोपित करता है .—

प० ११—जिसमे ये सभी गुण-अर्थात्, धैर्य, प्रभुत्व, विनय, सुन्दर व्यवहार, शक्ति के (अत्यन्त) गभीर आकलन के विना शौर्य, वाग्मिता (?) आत्म-नियन्त्रण, दानशीलता, अदैन्य, व्यवहार-कुशलता, ऋणो तथा आभारो से मुक्त होने की इच्छा, शून्य-बुद्धिता से मुक्ति, सौन्दर्य, अकुशल वस्तुओ से निग्रह, अविस्मयता, धैर्य, तथा उदारता-अतिशय हो कर स्थित है (तथा) (उसने) कभी विलग नही होते।

प० १२—(तथा यह वह था) जो (अपने) पिता द्वारा-उनके द्वारा ऊपर उल्लिखित इन सभी गुणो तथा इनसे उत्कृष्ट गुणो (के उसमे होने) की परीक्षा करने के उपरान्त-नियुक्त किया गया, तथा जिसने (इस) नगर का रक्षा-कार्य इस ढग से किया कि अपने पूर्ववर्तियो के ऊपर उसकी विशिष्टता स्थापित हो गई। किसी अन्य व्यक्ति के दर्प का नही अपितु अपने दोनो प्रशस्त भुजाओं का आश्रय लेकर इसने इस नगर मे किसी को चिन्ताकुल नही होने दिया, तथा इसने दुष्टो को दण्ड दिया। और इन कठिन समय मे भी उसने, इस नगर के निवासियो के साथ, लोगो मे विश्वास बनाए रखा, दोषो की सावधानीपूर्वक परीक्षा करके उसने बालको के साथ सभी नागरिको को आनन्दित किया है। तथा इसने स्मितपूर्ण सबोधन, सम्मानसूचक चिन्हो तथा उपहारो, बिना किसी बाधा के परस्पर (एक दूसरे के) घरो मे प्रवेश (तथा) स्नेहसूचक पारिवारिक अनुष्ठानो की वृद्धि द्वारा (अपनी) प्रजाओ को सुखी बनाया है। उत्कृष्टतम धार्मिक गुणो से सम्पन्न, मृदु, अकलुष (तथा) दानशील इसने, धन तथा धर्म के बीच बिना कोई कलह लाए हुए ही, स्वय को कालोपयुक्त भोग्य सुखो के प्रति लगाया है। इसमे क्या आश्चर्य है कि पर्णदत्त से (उत्पन्न) वह इतने सुन्दर व्यवहार वाला हो ?, मणिमाला अथवा कमल के समान शीतल चन्द्रमा से क्या कभी उष्णता उत्पन्न की जा सकती है ?

प १५—तब, कालक्रम से-गुप्तो के काल मे गणना करते हुए,[1] वर्ष एक सौ छत्तीस प्रौष्ठपद (मास) के छठे दिन रात्रि मे-(अपने) मेघो से ग्रीष्म ऋतु का विदारण करते हुए, बादलों का समय आया, जब कि दीर्घकाल तक अनवरत प्रभूत वर्षा हुई, जिसके कारण सुदर्शन (झील) एकाएक फूट

१ द्र०, ऊपर पृ० ७२, टिप्पणी ३।

पडा। तथा ये (अन्य नदिया) जो रैवतक[१] (पर्वत) से निकली हैं (तथा) (अपनी) वालुकामयी पट्टियो से सुन्दर दीखने वाली यह पलाशिनी (भी)-समुद्र की प्रिया स्वरूपा (ये सभी) चिरकाल तक बन्धन मे पडी रहने के उपरान्त, पुन शास्त्रोचित रीति के अनुसार अपने पति (समुद्र) के पास पहुची। (तथा) वर्षाधिक्य से उत्पन्न महान विभ्रम को देख कर महासागर की पत्नियो को अपनी बना लेने की इच्छा से ऊर्जयत् (पर्वत) ने मानो अपना ऐसा नदीमय हाथ (पलाशिनी) बढाया जो कि अपने किनारे उगे हुए पुष्पो से सुशोभित थी।

प० १७—[तब सभी ओर] क्या किया जाना चाहिए इस विषय पर विचार मे निमग्न लोग विषाद को प्राप्त हुए, तथा व्यर्थ सपूर्ण रात्रि जागरण करते हुए यह विचार किया—"क्षण भार में सुदर्शन (झील) ने (जलवृद्धि के कारण) सभी मनुष्यो के प्रति दुर्दर्शन रूप[२] ग्रहण कर लिया है, सप्रति, जल से सर्वथा भरपूर, समुद्र के समान दिखाई पडने वाला यह क्या कभी (पुन) सु-दर्शन ?"

पं० १८— 'उसने[३] होकर तथा अपने पिता के प्रति उच्चतम भक्ति का प्रदर्शन करते हुए, राजा तथा इस नगर के भी कल्याण हेतु, ऐसे शुभ परिणामो वाले धर्म को सामने रखते हुए, वर्ष एक सौ सैंतीस मे " सुविज्ञात महान प्रभाव वाले शास्त्रो के प्रति उन्मुख चित्त । तब, देवताओ के प्रति घृत की आहुति दे कर, भक्तिभाव से, तथा धनो (के उपहारो) द्वारा द्विजातियो (अर्थात् ब्राह्मणो) को सतुष्ट कर के, तथा नगरवासियों को यथायोग्य सम्मान दे कर, (अपने) प्रमुख भृत्यो तथा (अपने) मित्रो को उपहार प्रदान करके-ग्रीष्म ऋतु[४] मास के प्रथम पक्ष के प्रथम दिन उसने दो मास तक (उपरोक्त सभी) सम्माननीय कार्य-व्यापारों के पश्चात् अपरिमित धन व्यय किया, तथा सौ हाथ लम्बा अडसठ हाथ चौडा, तथा सात (?) मनुष्यो की ऊचाई का, दो सौ हाथ .(बाध बनवाया)। (इस प्रकार) राजाओ की अभ्यर्चना करके उसने महान यत्नपूर्वक पक्की चिनाई युक्त सुदर्शन झील-जिसकी स्वभावत दुष्ट न होने की प्रसिद्धि है, तथा जो सुदृढ बाध के किनारो पर (अपनी) सुन्दरता का प्रदर्शन करने वाले अरुणाभ कलहंसो की चचलताओ मे एव (अपने जल मे) क्रौंच तथा हस पक्षियो के निवसन से क्षुब्ध रहता है। निर्मल जल, पृथ्वी पर सूर्य तथा चन्द्रमा'

प० २३—नगर समृद्धिवान् हो, निवासियो से भरा हो, सैकडो ब्राह्मणो द्वारा उच्चारित प्रार्थनाओ से पाप विहीन हो तथा सैकडों वर्षों तक वर्षाभाव एव अकाल से मुक्त रहे' [इस प्रकार] सुदर्शन (झील) के जीर्णोद्धार का विवरण समाप्त होता है।

द्वितीय भाग

प० २४—उनका (स्कन्दगुप्त) जिन्होंने (अपने) दर्पोन्मत्त शत्रुओ के गर्व को चूर किया, जो महान् श्री के स्वामी हैं, जो वश-केतु हैं, जो सम्पूर्ण पृथ्वी के स्वामी है; जिनके पुण्य कर्म राजाओ के ऊपर प्रभुत्वसपन्नता से भी अधिक अद्भुत हैं,

---

१ रैवतक ऊर्जयत् अथवा गिरनार के सम्मुख स्थित पहाड है।

२ यहां सुदर्शन तथा दुदर्शन शब्दो पर कौतुक प्रदर्शन है।

३ अर्थात् चक्रपालित।

४ ग्रीष्म ऋतु में ज्येष्ठ (मई-जून) तथा आषाढ (जून-जुलाई) ये दो महीने होते हैं। इस पंक्ति मे इन्हीं मे से एक मास का नाम अंकित रहा होगा जो अब अपठनीय है।

प० २४—' ' (पर्णदत्त), जो कि द्वीप का रक्षक है, महान '''का नेता है, (अपने) शत्रुओ के दमन के लिए सेनाओ का .. ।

प० २५—उसके पुत्र द्वारा, जो उसके अपने गुणो से युक्त है (तथा) जिसका जीवन (भगवान्) गोविन्द के चरणो (की पूजा) के प्रति अर्पित है ,–उसके द्वारा, जो स्वय अपनी शक्ति द्वारा परिजनो को नत होने को बाध्य करता है, वहा पा कर ' तथा (भगवान्) विष्णु के कमल-सदृश चरणो ' प्रभूत धन तथा समय के व्यय से उस प्रसिद्ध (भगवान् विष्णु), जो कि चक्र धारण करते है, का [एक मन्दिर] बनवाया गया । शत्रुओ '' (तथा) जो स्वय अपनी इच्छा शक्ति से (अवतरित हो कर) मनुष्य बने । (इस प्रकार) गुप्तो के समय मे वर्ष एक सौ अडतीस मे सरलचित्त चक्रपालित द्वारा (भगवान्) चक्रभृत् का मदिर बनवाया गया ।

प० २७—ऊर्जयत् पर्वत का मानो उठा हुआ' ' हो, इस प्रकार चमकता है जैसे नगर-ललाट पर (अपनी) प्रभुता का प्रदर्शन कर रहा हो ।

प० २८—तथा अन्य. ..ललाट पर ' '' ''''''पक्षियो का मार्ग अवरुद्ध करते हुए, प्रकाशमान है।

सं० १५, प्रतिचित्र ६क

स्कन्दगुप्त का कहौम प्रस्तर-स्तम्भ-अभिलेख
वर्ष १४१

यह लेख सर्वप्रथम डा० फ्रासिस बुखनन (हैमिल्टन) (Francis Buchanan)–जिनका वगाल प्रेसीडेन्सी के अधीनस्थ प्राविसेज का सर्वेक्षण १८०७ मे प्रारभ होकर सात वर्षो तक चलता रहा तथा जिन्होंने प्राप्त परिणामो की पाण्डुलिपि १८१६ मे ईस्ट इडिया कपनी के कोर्ट आफ डायरेक्टर्स को सौंपा—द्वारा प्राप्त हुआ जान पडता है, इन्होंने अपने सर्वेक्षण के विवरण मे इसके प्रति ध्यान आकर्षित किया तथा उनके विवरण से श्री मान्टगोमरी मार्टिन (Mantgomery Martin) ने ईस्टर्न इण्डिया शीर्षक पुस्तक का सकलन किया तथा १८३८ मे इसका प्रकाशन किया जिसके जि० २, पृ० ३६६ इ० मे यह लेख एक शिलामुद्रण के साथ मिलता है (वही, प्रति० ५, स० २)। उसी वर्ष जर्नल आफ द वगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ७, पृ० ३७ इ० में श्री जेम्स प्रिसेप ने अपना पाठ तथा इसका अनुवाद[1] प्रकाशित किया और साथ में श्री डी० लिस्टन (D Listorn) द्वारा तैयार की गई प्रतिलिपि के आधार पर वना एक शिलामुद्रण भी (वही, प्रति० १) दिया। १८६० मे जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी, जि० ६, पृ० ५३० मे डा० फिट्ज एडवर्ड हाल (FitzEdward Hall) ने लेख के प्रथम श्लोक का अपना पाठ तथा इसका अनुवाद प्रकाशित किया जो कालान्तर मे सशोधितरूप में जर्नल आफ द बंगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३०, पृ० ३, टिप्पणी मे पुर्नप्रकाशित हुआ। १८७१ मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ९३ इ० मे तथा प्रति० ३० मे जनरल कनिंघम ने स्वय अपनी स्याही की छाप के आधार पर बनाया गया एक अन्य शिलामुद्रण प्रकाशित किया और अततोगत्वा १८८१ मे इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १०, पृ० १२५ इ० मे डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने लेख का अपना सशोधित पाठ तथा इसका अनुवाद प्रकाशित किया और साथ मे जव वे १८७३ मे कहौम गए थे उस समय तैयार किए गए अपने अकन के आधार पर वना एक शिलामुद्रण भी दिया।

इस लेख मे चर्चित प्राचीन ककुभ अथवा ककुभग्राम का प्रतिनिधित्व करने वाला आधुनिक कहो अथवा कहाव[2] नामक गाव नार्थ-वेस्ट-प्राविसेज मे गोरखपुर जिले के देओरिया अथवा देवरिया[3] तहसील मे सलमपुर-मझौली परगना के मुख्य नगर सलमपुर-मझौली[4] से पश्चिम-दक्षिण के लगभग

---

१ यह अनुवाद टामस द्वारा सपादित प्रिसेप्स एसेज जि० १, पृ० २५० पर पुर्नप्रकाशित हुआ है।

२ मानचित्रों इ० का 'Kahaon', Kahong', 'Kanghi', तथा Kuhaon'। इण्डियन एटलस, पत्र-फलक स० १०३। अक्षाश २६°१६' उत्तर। देशान्तर ८३°५५' पूव।

३ मानचित्रों का 'Deorya'।

४ मानचित्रों का 'Sullempoor-Mujhowlee'।

मे पाच मील की दूरी पर स्थित है। जिस धूमवर्ण के वालुकाश्म-स्तम्भ पर यह लेख मिलता है वह गाव के उत्तर मे थोडी ही दूरी पर स्थित है[1]।

स्तम्भ पर प्राप्त मूर्तियो मे पाच खडी मुद्रा मे वनी हुई सर्वथा नग्न मूर्तिया सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं—इनमे से एक चौकोर निचले भाग के पश्चिमी मुख पर वने हुए आले मे स्थित है, अन्य चार लोहे की मेख से युक्त गोलाकार स्तम्भ—जो कि अब मूलत सबसे ऊपर का भाग नष्ट हो जाने के कारण सप्रति शीर्ष भाग है—के ठीक नीचे चौकोर खड के चारो ओर बने एक एक आले मे स्थित है। जैसा कि सर्वप्रथम इनका डा० भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा किए गए अभिज्ञान से प्रतीत होता है, ये सभी स्पष्टत जैन मूर्तिया हैं। उनके अनुसार ये पाच लोकप्रिय तीर्थंकरो, आदिनाथ, शान्तिनाथ नेमिनाथ, पार्श्व तथा महावीर की प्रतिनिधि प्रतिमाए हैं। और इस वात की पूर्ण सभावना है कि ये स्वय अभिलेख मे उल्लिखित पाच आदिकर्तृ अथवा जैन तीर्थंकारो की प्रतिमाए हैं।

लिखिताश, जो कि लगभग २३" चौडा तथा १' ८" ऊचा स्थान घेरता है, स्तम्भ के अष्टकोणीय भाग के ऊपरी मुखो पर अकित है एव सबसे नीचे की पक्ति भूमि-स्तर से लगभग ७' ६" ऊपर स्थित प्रतीत होती है। लेख प्रत्यक्षत. अत्यन्त ही सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो का आकार ½" से लेकर ⅜" तक मिलता है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा समुद्रगुप्त के मरणोपरान्त अकित इलाहावाद स्तम्भ (ऊपर, स० १, पृ० १, प्रति० १) के अक्षरो से मिलते जुलते हैं। भापा सस्कृत है, तथा प्रथम शब्द सिद्धम् को छोड कर लेख आद्योपान्त पद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे केवल निम्न विशिष्टताए आकर्पित करती हैं : १ प० २ मे अकित वन्श तथा प० ४ मे अकित त्रिन्शात् मे अनुस्वार के स्थान पर दन्त्य आनुनासिक का प्रयोग, २ अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर क तथा त का द्वित्व, उदाहरणार्थ प० ६ मे अकित चक्क्रे मे (किन्तु प० ३ मे अकित शक्रो मे नही) तथा प० ६ मे अकित पुत्त्रो मे। डा० भगवानलाल इन्द्रजी के लेख के साथ प्रकाशित शिलामुद्रण-जिसमे सफेद पृष्ठभूमि पर काले अक्षर मिलते हैं—जिस प्रकार के शिलामुद्रण से तैयार किया गया था, मेरा भी शिलामुद्रण उसी प्रकार के एक शिलामुद्रण से वना है, जो कि मुझे डा० वरजेस से प्राप्त हुआ था। एक दो अक्षर, जो शिलामद्रण मे ठीक नही आए हैं, जनरल कनिंघम की स्याही की छापो- जिन्हे यद्यपि पूर्ण पुनर्प्रस्तुतीकरण के उद्देश्य से रूपान्तरित नही किया गया है तथापि वर्तमान प्रयोजन के लिए जो पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हुए—को आधार मान कर ठीक-किए गए हैं।

अभिलेख स्वय को प्रारभिक गुप्त शासक स्कन्दगुप्त के शासनकाल मे रखता है। यह शब्दो मे वर्ष एक सौ इकतालीस (ईसवी सन् ४६०–६१) ज्येष्ठ मास (मई-जून) मे तिथ्यकित है,, किन्तु, मास के दिन विशेष अथवा पक्ष का उल्लेख नही हुआ है। स्तम्भ के आलो मे स्थित मूर्तियो एव स्वय लेख की प्रवृत्ति से यह निश्चिततरूपेण एक जैन अभिलेख है। तथा, लेख का प्रयोजन इस वात का उल्लेख करना है कि भद्र नामक किसी व्यक्ति ने ककुभ अथवा ककुभग्राम अर्थात् कहौं नामक गाव मे आदिकर्तृयो अथवा तीर्थंकरा की पाच प्रस्तर प्रतिमाओ—अर्थात् प्रत्यक्षत स्तम्भ के आलो मे स्थित पाच प्रतिमाए—का निर्माण कराया।

---

१ इस स्तम्भ तथा कहौ से प्राप्त अन्य अवशेषो के रेखाचित्रों से युक्त पूर्ण विवरण के लिए द्र०, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ९१ इ० तथा प्रति० २९, एव वही, जि० १६, पृ० १२९ इ० तथा प्रति० २९।

मूलपाठ[1]

१ सिद्धम्[2] [।। *] यस्योपस्थान[3]भूमिर्नृपतिशतशिर[4]पातवातावधूता
२ गुप्ताना वन्शजस्य प्रविसृतयशस्तस्य सर्वोत्तमर्द्धे
३ राज्ये शक्रोपमस्य क्षितिपशतपते स्कन्दगुप्तस्य शान्ते
४ वर्षे त्रिंशद्दशैकोत्तरकशततमेज्येष्ठमासिप्रपन्ने । (।।)
५ ख्यातेऽस्मिन्ग्रामरत्ने ककुभ इति जनैस्साधुससर्गपूते[5] ।
६ पुत्त्रो यस्सोमिलस्य प्रचुरगुणनिधेर्भट्टिसोमो महात्[म्]ा—
७ तत्सूनू रुद्रसोम [ ] पृथुलमतियशा व्याघ्र इत्यन्यसज्ञो[6] ।
८ मद्रस्तस्यात्मजोऽभूद्द्विजगुरुयतिषु प्रायश प्रीतिमान्य । (।।)
९ पुण्यस्कन्ध स चक्रे जगदिदमखिल ससरद्वीक्ष्य भीतो
१० श्रेयोर्त्थं भूतभूत्यै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तॄन्
११ पञ्चेन्द्रा(न्) स्थापयित्वा धरणिधरमयान्सन्निखातस्ततोऽयम्
१२ शैलस्तम्भ सुचारुर्गिरिवरशिखराग्रोपम कीर्त्तिकर्त्ता [।।*]

अनुवाद

सिद्धि प्राप्त की जा चुकी है। जो गुप्त वश मे उत्पन्न हुए हैं, जिनका यश दूर तक फैला हुआ है, जो समृद्धि मे सबसे आगे बढे हुए है। जो (भगवान्) शक्र के समान हैं (तथा) जो सैकडो राजाओ के स्वामी है, ऐसे स्कन्दगुप्त–जिनका सभा भवन (सम्मान-प्रदर्शन की क्रिया मे) सैकडो राजाओं के शिरो के गिरने से उत्पन्न वायु-वेग से हिल उठता है–के शान्तिमय[7] शासनकाल के एक सौ इकतालीस वर्ष मे ज्येष्ठ मास प्राप्त होने पर,—

प ५—साधु जनो के ससर्ग से पवित्र[8] ककुभ नाम द्वारा लोकविख्यात इस ग्रामरत्न मे प्रचुर

---

१ जनरल कनिंघम की स्याही की छाप तथा उस शिलामुद्रण से जिससे मेरा शिलामुद्रण तैयार हुआ है।

२ मूल मे यह शब्द किनारे पर है, सि पक्ति २ के प्रारम्भ-विन्दु के सम्मुख है तथा द्धम् पृ० ३ के प्रारम-विन्दु के सम्मुख तथा कुछ ऊपर हट कर अकित हुआ है।

३ छन्द, आद्यन्त स्रग्धरा ही है।

४ मूल में इस विसर्ग के उपरान्त मिलने वाला चिन्ह उत्कीर्णक के उपकरण द्वारा अनिच्छा से बन गया चिन्ह जान पडता है क्योंकि यहां व्याकरण की दृष्टि से किसी चिन्ह की आवश्यकता नहीं है।

५ व ६–दोनो ही दृष्टान्तो मे ये चिन्ह अनावश्यक हैं।

७ शान्त। इस शब्द की विस्तारपूर्ण व्याख्या अनावश्यक है। इस शब्द के अनुवाद में कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि यह अत्यन्त स्पष्ट है, कठिनाई यह समझने मे उठती है कि कैसे इस शब्द को शान्ते पढ़ा गया तथा इसका अनुवाद "शान्ति का अर्थात् मृत्यु" अर्थात्" (स्कन्दगुप्त की) मृत्यु के पश्चात्" किया गया, अथवा इसे शुद्धत शान्ते पढ़े जाने पर, कैसे इसका अर्थ "(स्कन्दगुप्त का साम्राज्य) शान्त होने पर" अथवा "(स्कन्द-गुप्त का साम्राज्य) समाप्त होने पर (वर्ष एक सौ इकतालीस के प्रसग मे)" समझा गया। इसकी शुद्ध व्याख्या सर्वप्रथम भाऊ दाजी द्वारा की गई जान पडती है—"वर्ष एक सौ इकतालीस मे, स्कन्दगुप्त के शान्ति-पूर्ण शासनकाल मे" (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल ऐशियाटिक सोसायटी, जि० ८, पृ० २४६)।

८ सन्दर्भ विशेष है—"भद्र (नामक व्यक्ति था)"–जिसका उल्लेख प० ८ मे हुआ है। बीच मे आने वाली वशावली विषयक चर्चा निक्षिप्त वाक्य के रूप में है।

सुन्दर गुणो का निधि सोमिल का पुत्र महात्मा भट्टिसोम था। उसका पुत्र महान् बुद्धि तथा यशवाला रुद्रसोम (था) जिसका एक अन्य नाम व्याघ्र[1] था। उसका पुत्र भद्र था जो कि विशेष रूपेण ब्राह्मणो तथा धार्मिक आचार्यों एव सन्यासियो मे अनुरक्त था।

प० ९—इस सपूर्ण जगत को (सतत) परिवर्तनशील देख कर सतर्क हो उसने अपने लिए महान् पुण्य-सग्रह किया। (तथा उसके द्वारा)—श्रेयस् की प्राप्ति के लिए (तथा) (सभी) वर्तमान प्राणियो के कल्याण के लिए धर्मकर्मी अर्हतो के मार्ग मे अग्रगण्य पुरुषो[2] की पाच उत्कृष्ट[3] प्रस्तर-निर्मित[4] (प्रतिमाए) बनवाने के पश्चात्-पर्वतश्रेष्ठ के शिखर के अग्रभाग के सदृश (तथा) (उसे) यश प्रदान करने वाले इस सुन्दर प्रस्तर-स्तम्भ को भूमि मे गडवाया गया।

---

१ इस प्रकार के उपनाम से सबधित कुछ दृष्टान्तो के लिए, द्र० ऊपर पृ० २७, टिप्पणी ४।

२ आदिकर्तृन्।—शब्दश "प्रथम-निर्माण करने वाले"। सर्वप्रथम भगवानलाल इन्द्रजी ने इस शब्द का शुद्ध अर्थ बताया अर्थात् यह कि इस शब्द से जैनो के पाच तीर्थंकरो का निर्देश होता है।

३ इन्द्रान्। यहां पर इस शब्द को इस प्रकार का अर्थ दिया जाना चाहिए। यह सर्व प्रथम भगवानलाल इन्द्रजी ने अपने पाठ के प्रकाशन मे प्रतिपादित किया।

४ शब्दश, "पर्वतो (के भार) से निर्मित।"

स० १६, प्रतिचित्र ६ ख

समुद्रगुप्त का इन्दोर ताम्रपत्र-अभिलेख

वर्ष १४६

इस अभिलेख की प्राप्ति १८७४ में आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया के मुख्य सहायक (First Assistant) श्री ए० सी० एल० कार्लेयल (A C L Carlleyle) को हुई, तथा जनसामान्य का ध्यानाकर्पण इसके प्रति उसी वर्ष हुआ जब कि जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ४३, भाग १, पृ० ३६३ इ० मे जनरल कर्निघम द्वारा तैयार किया गया इसका शिलामुद्रण (वही, प्रति० १९) तथा साथ मे डा० राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा मूल लेख का एक पाठ तथा उसका अनुवाद प्रकाशित किया गया।

यह लेख एक ताम्रपत्र पर अकित है जो इन्दोर अथवा लेख में उल्लिखित प्राचीन इन्द्रपुर अथवा इन्द्रापुर मे पाया गया, इन्दोर नार्थ वेस्ट प्राविंसेज में बुलन्दशहर जिले के मुख्य नगर दिभाई[2] के अनूपशहर[1] तहसील के दिभाई परगना के उत्तर-पश्चिम मे स्थित एक वडा तथा अत्यन्त ऊचा टीला है। हाल के कुछ वर्षो तक इन्दोर एक छोटा वसा हुआ गाव था, किन्तु अव यह केवल एक खेडा अर्थात् जन-परित्यक्त टीला है जो मानचित्रो में नहीं दिखाया गया है। परीक्षण के लिए मूल पत्रलेख मुझे जनरल कर्निघम से प्राप्त हुआ था।

यह एक ही पत्र है जिसके केवल एक ओर लेखन हुआ है, जो लगभग ८½" लम्बा तथा दोनों सिरों पर ५½" चौडा तथा वीच मे ५⅜" चौडा स्थान घेरता है। ताम्रपत्र के किनारे यत्रतत्र ताम्रपत्र की सतह की अपेक्षा अधिक मोटे है तथा उन्ही हिस्सो पर छोटे छोटे दवे भाग मिलते हैं, किन्तु, ऐसा नही प्रतीत होता कि लेखन की रक्षा के लिए एक पट्टी देने उद्देश्य से इन किनारो को जानवूझ कर ऐसा वनाया गया था[3]। ताम्रपत्र की सतह कुछ स्थानो पर मुरचे के कारण पर्याप्त कट गई है, किन्तु सावधानी से पढने पर अभिलेख आद्यन्त पठनीय है। ताम्रपत्र पर्याप्त मोटा है किन्तु अक्षरो का

---

१ मानचित्रो इ० 'काAnupshuhur' तथा 'Anupshahr'।

२ मानचित्रों इ० का 'Dabhai', 'Dhubhai', 'Dibai' तथा 'Dubhaee'। इण्डियन एटलस, पत्रफलक स० ६७। अक्षांश २८°१२' उत्तर, देशान्तर ७८°१८' पूर्व। दिभाई को केन्द्रविन्दु मान कर इन्दोर की स्थिति आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया जि० १२, प्रति ७ म दिए गए मानचित्र में दिखाई गई है।

३ डा० वर्नेल ने ताम्रपत्रो पर अकित लेखों की सुरक्षा के लिए पत्र के किनारो को पीट कर उन्हें चौडा करने के दृष्टान्तों का प्राचीनतम समय दशम् शताब्दी ई० माना है (साउथ इण्डियन पैलियोग्रैफी, पृ० ९२)। किन्तु दक्षिण भारत तथा उत्तर भारत दोनों मे प्राचीनतर उदाहरण प्राप्य हैं। ये उभरी पट्टियां ताम्रपत्रो को वनाने की प्रक्रिया में किनारों को मोटा करने से निर्मित होती थी। कालान्तर मे इन ताम्रपत्रों को बरावर पीटा जा कर और फिर किनारों पर उन्हें मोड कर सतह से मिला दिया जाने लगा, इस प्रकार निर्मित कुछ पूर्वी-चालुक्य-ताम्रपत्रो में लगभग एक इ च ऊची उठी हुई पट्टिया प्राप्त होती हैं।

अपेक्षाकृत गहरा होने से ये इसके पृष्ठभाग के काफी बड़े भाग पर उभरे दिखाई पड़ते हैं। उत्कीर्णन अत्यन्त सुन्दर हुआ है, किन्तु अधिकांश अक्षरों में उत्कीर्णन प्रक्रिया में उत्कीर्णक के उपकरण के चिन्ह आ गए हैं। मुहर युक्त छल्ले के लिए ताम्रपत्र में कोई छेद नहीं बना हुआ है, न ही इस बात के कोई संकेत मिलते हैं कि इसके साथ कोई मुहर जोड़ा गया था जैसा कि—उदाहरणार्थ, समुद्रगुप्त का जाली गया-दानलेख (नीचे सं० ६०, प्रति० ३७); वर्तमान शृंखला में, उपरोक्त लेख के अतिरिक्त, सर्ववर्मन् की असीरगढ़ मुहर (नीचे, सं० ४३ प्रति० ३०क) तथा हर्षवर्धन की सोनपत मुहर (नीचे. सं० ५२, प्रति ३२ख), तथा वर्तमान शृंखला से इतर महाराज महेन्द्रपाल का दिघवा-दुबौली दानलेख[1] तथा महाराज विनायकपाल का बंगाल एशियाटिक सोसायटी में रखा हुआ दानलेख[2]—उत्तर भारत में एक प्राचीन ढंग जान पड़ता है। ताम्रपत्र का भार १ पाउन्ड २ औंस है। अक्षरों का औसत आकार ½ से लेकर ⅜ ' के बीच में है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा अपने प्रमुख विवरणों में ये चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा अभिलेख (ऊपर, सं० ४, प्रति० ३क) के अक्षरों के सदृश हैं। इ अक्षर का स्वरूप अन्य उत्तरी प्रकार के इ से सर्वथा भिन्न है. इस लेख की पं० ८ में अंकित इन्द्रपुर तथा इतो में आए हुए इ की ऊपर प्रतिबिंब १ में अंकित इव तथा प्रति० ६क पं० ७ में अंकित इति में आए हुए इ के साथ तुलना करें। पं १० में हमें अंक २ का स्वरूप अंकित मिलता है। भाषा संस्कृत है तथा पं० ३ में अंकित परमभट्टारक से लेकर पं० १० में अंकित समकालीयं तक लेख का सम्पूर्ण भाग गद्य में है। भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से पं० ५ में अंकित इन्द्रपुरक, पं० ६ में अंकित चन्द्रापुरक[3] तथा, विशेषरूपेण पं० ७ में अंकित प्रतिष्ठापितक में क प्रत्यय पर ध्यान दिया जाना चाहिए। समुद्रगुप्त के मरणोपरान्त लिखित इलाहाबाद-स्तम्भ-लेख (ऊपर सं० १) में स्थान सूचक विशेषणों को बनाने को क का प्रयोग मिलता है, वर्तमान दृष्टान्त में यह—जिसमें कि प्रथम अक्षर के स्वर में वृद्धि नहीं की गई है—उसका ही दुर्बल रूप है, तथा इसमें आधुनिक हिन्दी के सम्बन्धकारक अन्त्याक्षरों का, के और की तथा इसी प्रकार के अन्य शब्दविकारात्मक रूपों का उद्भव देखना चाहिए। इसके अन्य दृष्टान्त हमें निम्न स्थानों पर प्राप्त होते हैं : नीचे सं० २५ प्रति० १५ ख, पं० १३ में अंकित कारितक, सं० २६, प्रति० १६ पं० १० में अंकित उत्पद्यमानक; सं० २७, प्रति० १७ पं० ६ में अंकित प्रतिष्ठापितक तथा पं० १२ में अंकित उत्पद्यमानक, सं० २८, प्रति० १८, पं० १६ में अंकित अनुमोदितक, पं० १४, में अंकित उपरिलिखितक तथा प्रति[illegible]क तथा पं० १८ में अंकित उत्पद्यमानक, सं० २९, प्रति० १९ क, पं० १० में अंकित उपरिलिखितक तथा पं० १५ में अंकित उत्पद्यमानक,: सं० ३१, प्रति० २०, पं० ६ में अंकित उत्पन्नक पं० ६ तथा १६ में अंकित उत्पद्यमानक तथा पं० ११ में अंकित कारितक, सं० ४१ प्र० २७, पं० ११ में अंकित अतिसृष्टक, तथा सं० ६२, प्रति० ३८ख, पं० ४ में अंकित प्रविष्टक। वर्णविन्यास के प्रसंग में हमें इन बातों को ध्यान में रखना है : १. पं० ३ इ० में अंकित चत्वारिङ्शद् तथा पं० ६ में अंकित सिङ्ह में श तथा ह के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य अनुनासिक का प्रयोग, २ अनुवर्ती र के साथ संयोग होने पर क का, तथा प्रायशः त का द्वित्व—उदाहरणार्थ, पं० ८ इ० में अंकित अपवक्क्रमण, तथा पं० ५ में अंकित पौत्त्रः में, (किन्तु, उसी पंक्ति में

---

१ इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० १०५ इ० ।

२ वही, पृ० १३८ इ० ।

३ जहाँ तक इन दोनों शब्दों का प्रश्न है, मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत शब्दकोश में पुरक को पुर (= नगर) का एक अन्य रूप बताया है किन्तु शब्द की प्रामाणिकता के लिए उन्होंने केवल 'अर्धाष्टपुरक का उद्धरण दिया है। किन्तु इस नगर के अस्तित्व का एकमात्र कारण इलाहाबाद-लेख (ऊपर सं० १, पृ० ७) की पं० १९ में अंकित मण्टराजपैष्टपुरक का गलत पाठ था।

क-स्कन्दगुप्त का कहौम स्तंभ-लेख—वर्ष १४१

मान २३

ख-स्कन्दगुप्त का इन्दौर पत्र—वर्ष १४६

मान ८१

अंकित पुत्रों मे नही), तथा ३ प० ३ मे अंकित संव्वत्सर मे अनुस्वार के उपरान्त आए हुए व का द्वित्व।

अभिलेख स्वय को प्रारंभिक गुप्त शासक स्कन्दगुप्त के शासनकाल मे रखता है जिसका सामन्त, विपयपति[1] सर्वनाग, अन्तरवेदी[2] अथवा गगा तथा यमुना के बीच मे स्थित प्रदेश पर शासन कर रहा था। यह शब्दो मे वर्ष एक सौ छियालीस (ईसवी सन् ४६५-६६) मे तिथ्यंकित है, मास का नाम फाल्गुन (फरवरी-मार्च) दिया गया है किन्तु मास अथवा पक्ष के दिनविशेप का कोई उल्लेख नहीं है। यह सूर्य-पूजा मे सबंधित अभिलेख है तथा इसका उद्देश्य देवविष्णु नामक ब्राह्मण द्वारा इन्द्रपुर अथवा आधुनिक इन्दोर मे स्थित सूर्य-मन्दिर मे दीपक जलने के व्यय-निर्वाह के लिए अक्षय-नीवि धन के दान का लेखन है। स्थान का अपने प्राचीन नाम के अन्तर्गत उल्लेख लेख को सतोपपूर्ण ढग मे उस क्षेत्र से सबद्ध करता है जिसमे कि यह ताम्रपत्र पाया गया है।

मूलपाठ[3]

एकाकी पत्र

१ सिद्धम् ॥ य[4] विप्रा विधिवत्प्रबुद्धमनसो ध्य ानैकताना(न)स्तुव[5] यस्यान्त त्रिदशासुरा न विविदुर्न्नोर्व्वं न त्रिय—

२ ग्गति ( ) त लोको वहुरोगवेगविवश मश्रित्य चेतोलभ पायाद्व स जगत्पिधान[6] पटुभिद्रश्म्या—

३ करो 'भास्कर ॥ परमभट्टारकमहाराजाधिराजश्रीस्कन्दगुप्तस्याभिवर्द्धमानविजयराज्यमव्वत्सरतेश[7] पन्(ट)चत्वा—

---

१ विपयपति एक पारिभाषिक राजकीय उपाधि है जिसका अर्थ है "विषय का स्वामी अथवा शासक'। द्र० ऊपर पृ० ३२, टिप्पणी ७।

२ अन्तरवेदी शब्द सभवत किसी भी दोआव अर्थात् किन्ही दो प्रमुख तथा पवित्र नदियो के बीच में स्थित प्रदेश का परिचायक हो सकता है। विशेपण के रूप में इसका अर्थ "याज्ञिक भूमि के आन्तरिक भाग से सवद्ध" हो सकता है। इण्डियन एटलस मे (पत्रफलक स० ७०, अक्षांश २४° २५' उत्तर देशान्तर ८०° १३' पूर्व) उचहरा से लगभग तीस मील पश्चिम में स्थित दिखाए गए 'Anterbed' में यह एक गांव के नाम के रूप मे मिलता है। यह नाम हम अन्तर्वेदी अन्तरवेदी, तथा अन्तवेदी मे भी पाते हैं जो कि गोदावरी नदी की वशिष्ठ नामक शाखा के मुख पर स्थित एक मन्दिर का नाम है जो गोदावरी जिले के नर्सापुर तालुका मे नर्सापुर से सात मील दक्षिण मे स्थित है।

३ मूल ताम्रपत्र से।

४ छन्द, शार्दूल विक्रीडित।

५ स्तु का लेखन असमान्य है, सामान्यतया स्तुत् रूप का प्रयोग किया जाता है। किन्तु डा० व्यूलर ने मुझे आयतस्तू का एक अन्य समान प्रकार का दृष्टान्त दिया है जिसका उल्लेख कात्यायन ने पाणिनि पर अपनी टीका, ३ २ ७६ में दिया है। महाभाष्य मे आयस-स्तू का अर्थ नहीं दिया गया है, किन्तु, मोनियर विलियम्स ने इसकी 'प्रशस्ति लेखक' व्याख्या की है।

६ यह अक्षर अपेक्षाकृत असामान्य है किन्तु यह धा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

७ पढें, राज्येसव्वत्सरशते, द्र० ऊपर पृ० ३८, टिप्पणी ५। जनरल कनिंघम (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १२, पृ० ४०) के अनुसार राज्ये में ए (`) स्वर सूचक मात्रा का हल्का चिन्ह मिलता है, किन्तु स्वर का उत्कीर्णन नहीं हुआ था।

४ [रि*] इ्शदुत्तरतमे फाल्गुनमासे तत् [ा*] दपरिगृहीतस्य विषयपतिशर्व्वनागस्यान्तर्वेद्यां भोगाभिवृद्धये वर्त्त—

५ माने [।*] चन्द्रापुरकपद्माचातुर्व्विद्यसामान्यब्राह्मणदेवविष्णुर्द्देवपुत्रो हरित्रातपौत्र डुडिक-प्रपौत्र शतताग्निहो—

६ त्र [च्*] छन्दोगो राणायणी(नी)यो वर्षगणसगोत्र इन्द्रापुरकवणिग्भ्या क्षत्रियाचलवर्म्मभृ(भ्रु)-कुण्ठसिंहाभ्यामधिष्टा (ष्ठा)—

७ नस्य प्राच्या दिशीन्द्रपुराधिष्ठानमाडास्यातलग्नमेव पतिष्ठापितक भगवते सवित्रे दीपोपयोज्य-मात्मयशो—

८ भिवृद्धये मूल्य प्रयच्छति १ [।।*] इन्द्रपुरनिवासिन्यास्तैलिकश्रेण्याजीवान्तप्रवराया हृतोऽधिष्ठा-नादपक्रम—

९ णसप्रवेशयथास्थिराया आजस्रिक ब्रह्पतेर्द्विजमूल्यदत्तमनया तु श्रेण्या यदभग्नयोगम्

१० प्रत्य(ध)माह्लव्य [च*] च्छिन्नतस्य देय तैलस्य तुल्येन२ पलद्वय तु३ २ चन्द्रार्क्कसमकालीय [।।*]

११ यो४ व्यक्रमेद्दा५यमिम निबद्धम् गोघ्नो गुरुघ्नो द्विजघातक स ६ ते पातकै [ ]

१२ पञ्चभिरन्वितोऽधर्ग्गच्छेन्नर. सोपनिपातकैश्चेति ।।

अनुवाद

सिद्धि प्राप्त की जा चुकी है। पृथ्वी के पिधान (अन्धकार) की भेदक रश्मियो के सनृद्ध स्रोत सूर्य–जिनकी प्रबुद्ध मन वाले ब्राह्मण विहित कर्मो के सम्पादन से (शरण्यता प्राप्त करते हैं)७ (और इस प्रकार) ध्यान मे एकान्तिकरूपेण उनके प्रति उद्दिष्ट स्तुतियो के उच्चारक (बनते हैं), जिनकी ऊर्ध्वात्मिक अथवा क्षितिजीय दोनो ही सीमाओ को न तो देवता और न असुर जान सके, (तथा) जिनकी शरण मे जाने से पभूत रोग तथा मानसिक उद्वेग से अवश हुए मनुष्य (पुन) चेतनता प्राप्त करते हैं–आप की रक्षा करें।

प० ३—परमभट्टारक, महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त के विजयोन्मुख शासनकाल ८मे, वर्ष एक सौ छियालीस मे, (तथा) प्रसन्नता की वृद्धि के लिए प्रचलित फाल्गुन मास मे, उनके९ चरणो (के अनुग्रह) से स्वीकृत विषयपति शर्वनाग के अन्तर्वेदी (प्रदेश) मे;—

---

१ पढें प्रयच्छति। अभिलेख मे आद्यन्त प्रयुक्त विसर्ग के स्वरुप से यह स्पष्ट है कि ति के बाद का चिन्ह विसर्ग है, कोई अन्य चिन्ह नही. प० ३ में भास्कर के पश्चात् तथा लेख के अन्त में अकित विराम चिन्ह इस चिन्ह से सर्वथा भिन्न हैं।

२ तौल्येन के स्थान पर गलती से तुल्येन लिखा गया है, ऐसा जान पडता है।

३ अर्थात्, तुल्येन (तौल्येन)।

४ छन्द, इन्द्रवज्रा।

५ पढें यो विव्क्रमेद्, अथवा, और भी उपयुक्त पाठ होगा—योऽतिक्रमेद्।

६ पढें, स।

७ यहा श्लोक के तृतीय पाद से सम्बन्धित जोड़ें।

८ द्र०, ऊपर पृ० ४८, टिप्पणी ५।

९ अर्थात् स्कन्दगुप्त के।

प० ५—चन्द्रापुर नगर के पद्मा के चतुर्वेदिन् समाज का ब्राह्मण देवविष्णु—जो देव का पुत्र, हरित्रात का पौत्र तथा डुडिक का प्रपौत्र है, जो सदैव अग्निहोत्र-यज्ञ[1] से सवद्ध मत्रो का उच्चारण करता रहता, जो राणायनीय (शाखा) का है (तथा) जो वर्षगन गोत्र का है-अपनी कीर्ति-वृद्धि के लिए यह दान देता है (जिसके व्याज का) इन्द्रापुर[2] नगर के वणिको, क्षत्रिय अचलवर्मन् तथा भ्रुकुण्ठसिह द्वारा नगर के पूर्व मे (तथा) इन्द्रपुर नगर के [3] वस्तुत स्पर्श करते हुए (मदिर मे) प्रतिष्ठापित भगवान् सूर्य के लिए दीपक (की व्यवस्था) मे उपयोग किया जाय।

प० ८ —सूर्य (के मदिर) का यह ब्राह्मण-दान जीवन्त के नेतत्व में स्थित तथा इन्द्रपुर नगर मे निवास करने वाली तैलिक-श्रेणी की तब तक स्थित सम्पत्ति है जब तक कि यह-(यहा तक-कि) इस स्थान से दूर जाने पर भी-पूर्ण एकतायुक्त है। किन्तु, इस श्रेणी द्वारा, जब तक सूर्य और चन्द्र स्थित है, बिना व्यवधान के तथा मूल मूल्य मे बिना किसी ह्रास के दो पल[4] के तौल का, (अथवा-अको मे) २तोल दिया जाय।

प० ११—इस निबद्ध दान का जो भी अतिक्रमण करेगा वह गोघाती, (अथवा) गुरुघाती, (अथवा,) ब्राह्मणघाती (के समान अपराधी बन गया हुआ व्यक्ति) छोटे पातको[5] के साथ उन (सुविज्ञात) पाच पातको (के अपराधों)[6] से युक्त नीचे (नरक मे) जाएगा।

---

१ अग्निहोत्र, 'प्रतिदिन प्रात तथा सायकाल अग्नि देवता को दी जाने वाली दूध, तेल तथा अम्ल यवागू से युक्त आहुति, पवित्र अग्नि की व्यवस्थापना।'

२ यहा, प० ६ मे, दूसरे अक्षर पर दीर्घ स्वरांकन है, नीचे प० ७ तथा ८ मे ह्रस्व स्वरांकन है।

३ माडास्यात का अर्थ स्पष्ट नहीं है।

४ पल एक भारविशेष=४ सुवर्ण (सोने के टुकड़े) अथवा ६४ माशा, द्र० मानवधर्मशास्त्र, ८, १३५, बर्नेल का अनुवाद, पृ० २००।

५ उपनिपातकानि,—अथवा अधिक सामान्यत उपपातकानि, छन्द की आवश्यकता के कारण यहा बड़े रूप का प्रयोग किया गया है। ये पातक दूसरी श्रेणी में आते हैं—जैसे, गो-हत्या, ऐसे लोगों के लिए यज्ञ करना जिनके लिए यज्ञ नही करना चाहिए इ०, द्र० मानवधर्मशास्त्र, ११ ६०-६७, बर्नेल का अनुवाद पृ० ३३२ इ०।

६ अर्थात् पञ्चमहापातकानि, द्र०, ऊपर पृ० ४८, टिप्पणी ४।

सं० १७; प्रतिचित्र १०

विश्ववर्मन् का गंगधार प्रस्तर-लेख

वर्ष ४८०

सम्प्रति प्रथम बार प्रकाशित होने वाले इस लेख की जानकारी मुझे १८८३ मे सेन्ट्रल इण्डिया मे कोटा स्थित तत्कालीन राजनीतिक प्रतिनिधि, कर्नल डब्ल्यू मुइर, द्वारा भेजे गए एक चित्र द्वारा हुई थी।

गगधार[1] सेन्ट्रल इण्डिया के पश्चिमी मालवा क्षेत्र मे झालावाड़[2] राज्य के प्रमुख नगर झालरा पाटन से दक्षिण पश्चिम मे बावन मील की दूरी पर स्थित एक गाव है। अभिलेख गाव से लगभग एक मील उत्तर मे एक इमली के पेड के नीचे स्थित एक प्रस्तर-फलक पर अकित है, प्रत्यक्षत यह प्रस्तर-फलक किसी पुराने भग्न मन्दिर के स्थान पर स्थित जान पडता है।

प्रस्तर-खण्ड के ऊपर कुछ तक्षण-कार्य मिलता है, किन्तु स्याही की छाप के साथ इसका जो अपरिष्कृत रेखाचित्र मुझे प्राप्त हुआ है उसमे मैं इस वस्तुविशेष का स्पष्ट अभिज्ञान नही कर सकता, किन्तु सभवत यह सोलह पखडियो वाला कमल पुष्प है। लेखक प्रस्तर-खण्ड का पूर्ण सम्मुख भाग व्याप्त करता है जो कि २ फीट $\frac{3}{4}$ इच ऊँचा तथा ३ फीट ८ इच चौडा है। प० १ के प्रथम भाग मे बारह अक्षर, प० २ मे ग्यारह, प० ३ मे तीन अक्षर तथा यहा से लेकर प० ३६ तक प्रत्येक प० मे दो से लेकर तीन तक टूटे हुए तथा नष्टप्राय मिलते हैं। किन्तु प० ४ से लेकर प० ३६ तक, प्रत्येक दृष्टान्त मे, टूटे हुए अक्षरो को दिया जा सकता है। पुन प० ३७ से लेकर प० ४० तक प्रत्येक पक्ति के प्रारम्भ में तीन से ले कर छ अक्षर तक तथा अन्त में दो से लेकर चार अक्षर तक टूटे हुए हैं। इस प्रकार यह एक अनियमित स्वरूप वाला लेख था जिसमें प० १ से ६ तथा प० ३७ से ४१ तक की पक्तिया प० ७ से लेकर प० ३६ तक की पक्तियो से बडी थी, देखने से ऐसा लगता है कि इस लेख को धारण करने वाला यह प्रस्तर-खण्ड किसी मदिर का भित्ति-पट्ट था। अक्षरो का आकार $\frac{3}{4}$ इच से लेकर $\frac{5}{16}$ इच तक मिलता है। अक्षर दक्षिणी प्रकार की वर्णमाला से सबद्ध हैं तथा उस वर्णमाला के उदाहरण हैं जिसे हम पाचवी शताब्दी ई० की पश्चिमी मालवा की वर्णमाला कह सकते हैं। इनमें, प० ५ में अकित खड्ग में हम न केवल, उत्तरी प्रकार की वर्णमालाओ के अनुरूप, दन्त्य द से सर्वथा भिन्न मूर्धस्थानीय ड पाते हैं प्रत्युत इसका सर्वथा असामान्य स्वरूप उत्कीर्ण हुआ पाते हैं जो मुझे ज्ञात किसी भी अन्य प्राचीन लेख मे

---

१ मानचित्रो का 'Gangrar, Gungra' तथा 'Gungurar'। इण्डियन एटलस, पत्रफलक स० ३५। अक्षाश २३°५६' उत्तर, देशान्तर ७५°४१' पूर्व। आधुनिक नाम गगंरा से सबद्ध है जो लेख की प० २३ के अनुसार उस छोटी नदी का नाम है जिसकी आधुनिक सज्ञा 'कालीसिन्ध' है तथा उस जिसके तट पर यह स्थान स्थित है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि इसमें दन्त्य ध का अनुप्रवेश कैसे हो गया, अथवा यह कि इसके विकृत अंग्रेजी स्वरूपो में र कैसे आ गया।

२ मानचित्रो इ० का 'Jhalawar, Jhallawar' तथा 'Jhallowar'।

नहीं मिलता, तथा जो इस अक्षर के आधुनिक देवनागरी स्वरूप का स्पष्ट पूर्णरूप है। प० ६ में अंकित औपम्य में हम बहुत कम मिलने वाले औ का अंकन पाते हैं। भाषा संस्कृत है तथा लेख के अन्त में अंकित सिद्धिरस्तु को छोड़ कर संपूर्ण लेख पद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास के प्रसंग में हमें ये विशिष्टताएं ध्यान में रखनी हैं १ जिह्वा मूलीय का प्रयोग, उदाहरणार्थ, प० १२ में अंकित चकितै क्रियते तथा प० २६ में अंकित सुभुज खड्ग में, २ प० २६ में अंकित वङ्श में तथा प० ३४ में अंकित अङ्शुमान् में श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग, किन्तु प० २ में अंकित वंश में ऐसा नहीं है, ३ अनुवर्ती र के साथ संयोग होने पर क, ग, त तथा प का प्रायः द्वित्व, उदाहरणार्थ, प० ८ में अंकित विक्क्रमेण, प० ४ में अंकित समग्ग्रम्, प० १३ में अंकित वित्त्रस्त तथा प० ४ में अंकित अप्प्रति-मेण में, तथा प० ६ में अंकित व्यब्भ्र में भ का द्वित्व, तथा ४ अनुवर्ती य के साथ संयोग होने पर स, त, म तथा स का द्वित्व, उदाहरणार्थ, प० २ में अंकित प्रक्ख्यात तथा प० २६ में अंकित विक्ख्यापयन् में, पं० ४ में अंकित भृत्त्य तथा प० १४ में अंकित प्रत्यस्त में, प० १५ में अंकित अब्भ्युद्यत में, तथा प० ११, १२, १४, १६ तथा ३१ में अंकित यस्स्य में।

अभिलेख विश्ववर्मन् नामक शासक के समय का है। यह, शब्दों में, अवसित एक सौ अस्सी वर्ष में अर्थात् एक सौ इक्यासीवें वर्ष में कार्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर) के शुक्ल पक्ष के तेरहवें दिवस में तिथ्यंकित है[1]। लेख में संवत् का उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु इसे निश्चितरूपेण मालव-गण-

---

१　यह अवतरण, अर्थात् प० १६ इ०, जिसमें तिथि दी गई है, सरलता से बोधगम्य नहीं है। अगले अभिलेख में विश्ववर्मन् के पुत्र बन्धुवर्मन् के लिए दी गई तिथि चार सौ तिरानवे से यह ज्ञात होता है कि वर्तमान अवतरण में शताब्दियों की संख्या चार होनी चाहिए। मेरे द्वारा दिया गया पाठ सर्वथा मूल के प्रकट रूप के अनुरूप है। किन्तु, उसके विरुद्ध ये आपत्तियां हैं १ यह छन्द का अतिक्रमण करता है क्योंकि चतुर्षु पाठ से हमें तीन संयुक्त अक्षरों का पद (amphibrach) मिलता है जबकि यहां ऐसे पद की अपेक्षा है जिसकी आदि मात्रा दीर्घ और अंतिम दो मात्राएं लघु हों (dactyl) तथा २ यदि हम इसके अर्थ को खींच तान कर 'पूर्णतया संपन्न (वर्ष)' न करें तो इस पाठ से कृतेषु (=बनाया गया, किया गया, सम्पन्न हुआ') एक निरर्थक शब्दमात्र रह जाता है। 'संपन्न अर्थात् अवसित (वर्षों)' के अर्थ में कृतेषु शब्द ४२८ की तिथि से युक्त विष्णुवर्धन् के बयाना अभिलेख की (नीचे स० ५६, प्रति० ३६ ग) प० १ में आता है। असामान्य प्रयोग होने पर भी इसका यहाँ पर औचित्य समझा जा सकता है क्योंकि इसके साथ यातेषु—व्यतीत हो चुकने पर'—अथवा इसके सदृश कोई अन्य शब्द नहीं दिया गया है। वर्तमान अवतरण के विषय में मेरी पहली धारणा यह थी कि कृतेषु का प्रयोग "किसी के द्वारा बनाया गया, किया गया, सम्पादित" के अर्थ में हुआ है तथा इसके पूर्व के तीन अक्षरों में संवत् के संस्थापक का नाम अंकित था। किन्तु डा० आर० जी० भडारकर, जिनके साथ मैंने इस अवतरण पर विचार-विमर्श किया, का विचार था कि कृत का इस अर्थ में प्रयोग नहीं हो सकता था, उनके इस विचार के प्रत्याख्यान में मैं कोई उद्धरण नहीं दे सकता। इसके अतिरिक्त उस व्याख्या को मानने पर तिथि में शताब्दियों के लिए कोई शब्द नहीं छूटता था। मेरी दूसरी धारणा यह थी कि यहां च त्स्पुकृतेषु पाठ किया जाय, जो न केवल छन्द की अपेक्षाओं की पूर्ति करता है अपितु मूल के प्रकट रूप से भी जिसका औचित्य स्थापित किया जा सकता है, मेरा विचार था कि त्स्पु द्वारा चार सौ के अंक का उच्चारित स्वरूप अभिप्रेत था, अर्थात् "त्स्पु (के उच्चारण द्वारा) निर्मित"। इसका अनुगमन करने वाले असामान्य अभिव्यक्ति सोत्तरपदेषु से इसी प्रकार का कुछ अभिप्रेत प्रतीत होता था। और डा० ब्यूलर ने अंक चार के लिए उच्चारणीय मूल्य प्रदान किए जाने का एक दृष्टान्त भी दिया है (इण्डियन ऐंटिक्वेरी, जि० ६, पृ० ४७ इ०)। किन्तु इस व्याख्या के विरुद्ध ये आपत्तियां हैं १. च शब्द व्यर्थ और निरर्थक हो जाएगा, तथा २ अंक चार सौ त्स्पु में आए अक्षरों से

सरचना के समय से प्रारम्भ होने वाले संवत् मे रखना होगा, जिसका अगले लेख-जो कि कुमारगुप्त के सामन्त शासक, विश्ववर्मन् के पुत्र बन्धुवर्मन्, के लिए वर्ष चार सौ तिरानवे देता है—में स्पष्ट उल्लेख हुआ है। यह मालव सवत् ई०पू० ५७ से प्रारम्भ होने वाला विक्रम सवत् है[1], और इस प्रकार वर्तमान लेख के लिए अवसित ४२३-२४ ई० अथवा प्रचलित ४२४-२५ ई० की तिथि प्राप्त होती है, जिनसे यह ज्ञात होता है कि विश्ववर्मन् भी कुमारगुप्त का समसामयिक था। अभिलेख अशत वैष्णव सम्प्रदाय से तथा अशत. शाक्त अथवा तान्त्रिक सम्प्रदाय से सबद्ध है, लेख का प्रयोजन इस बात का लेखन है कि कैसे विश्ववर्मन् के एक अमात्य मयूराक्षक ने एक विष्णु-मदिर का तथा मातृदेवियो के एक मदिर का एव एक बड़े पेय-जल-युक्त कूप का निर्माण कराया।

मूलपाठ[2]

[——⏑[3]—⏑⏑⏑⏑⏑⏑⏑⏑⏑—⏑] मस्य विष्णोर्न्भुजस्सुरपतिद्विपहस्त[स] प्पं [——⏑
—⏑⏑—⏑⏑—⏑—⏑⏑— ——⏑—⏑]

मेल नहीं खाता। डा० भण्डारकार ने भी यह सुझाव रखा कि शब्द 'चार' की अभिव्यक्ति (कृतेषु मे) कृत से होती है। किन्तु, इससे पूर्वस्थित दो अथवा तीन अक्षर सर्वथा अव्याख्यायित रह जाएगे। तथा, यद्यपि सख्यात्मक—शब्द-सिद्धान्त के आधार पर, चार युगो मे से प्रथम युग के नाम के रूप मे कृत का प्रयोग अक चार के लिए हो सकता है किन्तु भारत मे इतने पहले अभिलेखो मे इस पद्धति का प्रयोग नहीं होता था। इसका निर्धारण होना अभी शेष है कि इस व्यवस्था का प्रयोग कब प्रारम्भ हुआ। बृहत्-संहिता, ८ २०, २१ में 'ग्यारह' के लिए रुद्र, 'तीन' के लिए राम, 'सात' के लिए अग (पर्वत), 'पाच के लिए शर (तीर) तथा विषय (इन्द्रिय-विषय) शब्दो के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि वराहमिहिर को इस व्यवस्था का ज्ञान था (वाराहमिहिर की मृत्यु-तिथि, ईसवी सन् ५८७, जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी N S, जि० १, पृ० ४०७)। आर्यभट्ट (जन्म, ईसवी सन् ४७६; वही पृ० ४०५) द्वारा भी इस व्यवस्था का प्रयोग माना गया है, किन्तु डा० भाऊदाजी (वही, पृ० ४०४) ने अपनी पाण्डुलिपि के आधार पर बताया है यह श्लोकार्ध, जो एकमात्र ऐसा दृष्टान्त है जिसमे बृहस्पति ग्रह के परिक्रमणों की सख्या को सख्यात्मक शब्दो द्वारा बताया गया है, वस्तुत आर्यभट का नहीं है (इसका समर्थन छन्द से भी होता है, क्योंकि दोनो पक्तिया मिल कर उपगीति छन्द बनाती बनाती है जब कि आर्यभट ने आर्या छन्द का प्रयोग किया था और प्रथम पक्ति उस छन्द में रचे श्लोक का द्वितीयार्ध होगी) अपितु बाद मे, बहुत अधिक सभव है, उत्पल अथवा भटोत्पल द्वारा (लगभग ईसवी सन् ९६६, वही, पृ० ४१०) जोडा गया था। प्राचीनतम आभिलेखिक साक्ष्य, जो सप्रति हमे उपलब्ध हैं, कम्बोडिया में शक सवत् ५२६ (ईसवी सन् ६०४-०५) तथा ५४६ (बार्थ की इन्सक्रिप्शंस सांसक्रीत दु कम्बोज, पृ० ३६, प० ११) में तिथ्यकित वयग अभिलेख हैं, यहा तिथियो की अभिव्यक्ति (कामदेव के) (पाच) शरों, (दो अश्विनो में से एक) दस्र तथा (छ) इन्द्रियो, (चार) समुद्रो तथा (छ) ऋतुओ द्वारा हुई है, स्वय भारतवर्ष में, प्राचीनतम उपलब्ध साक्ष्य पूर्वी चालुक्य शासक अम्म द्वितीय के सिंहासनारोहण का उल्लेख करने वाला शक सवत् ८६७ (ईसवी सन् ९४५-४६) की तिथि से युक्त लेख है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ७, पृ० १६, प० ३१), इसमें तिथि की अभिव्यक्ति (आठ) वसुओ, (छः) स्वादो तथा (सात) पर्वतो द्वारा हुई है। वर्तमान अवतरण मे सख्यात्मक शब्दो का अकन है, यह नही माना जा सकता। इस विषय पर पूर्ण विचार करने के पश्चात् मेरा विचार है कि यहा चतुर्षु के अतिरिक्त और कुछ नही पढ़ा जा सकता, साथ ही छन्द की दोषमयता स्वीकार करनी पड़ेगी, और चू कि यहा यातेषु का भी अकन हुआ है अत कृतेषु का अर्थ "पूर्णतया सम्पन्न" करना होगा। उसी श्लोक मे ही एक अन्य छन्दातिक्रमण (अथवा कोई अन्य त्रुटि) सौम्येष्वशीत शब्द मे मिलता है, तथा, प० ११ मे छन्दविषयक आवश्यकताओ के कारण कामिनी शब्द की अन्तिम दीर्घ मात्रा को ह्रस्व कर दिया गया है।

१ द्र०, प्राक्कथन।

२ स्याही की छाप तथा कागज पर लिए गए छाप से।

३ छन्द, वसन्त तिलक, तथा अनुवर्ती सत्रह श्लोको मे।

२ [⏑⏑⏑⏑⏑⏑⏑⏑⏑⏑⏑⏑⏑—] [॥] प्रख्यातवीर्य्ययशस् [।] [f]क्षितिपाधिपाना वशो-द्भवो [⏑] गतिवि [⏑⏑—⏑—— ——⏑——⏑⏑⏑⏑—]

३ [⏑—⏑] कान्तश्श्रीमान्बभूव नरवर्म्मनृप प्रकाश ॥ यश्चैन्मुनगन्नुनिगणा [न्] f [न्][य] मंदारे [ ] [——⏑——⏑⏑⏑——⏑⏑——]

४ [माने] न भृत्यजनमप्रतिमेन लोके योऽप्रोपयत्नुचरितैश्च जगत्समग्र ॥ हृस्त्यश्वसाधन [⏑— ⏑⏑⏑⏑⏑—— ———⏑⏑⏑—]

५ [⏑] खड्गमरी [f *]च्मत्नु ॥ (।) सङ्ग्राममूर्द्धसु मुख समुदीक्ष्य यस्य नाशम्प्रयान्तरिगण भयनष्टचेष्टा [॥*] [तस्यात्मज][१] [⏑⏑⏑⏑⏑]

६ [⏑—]ी महात्मा बुद्ध्या बृहस्पतिसमस्सकलेन्दुवक्त्र ॥ (।) औपम्यभूत इव रामभगीरथाभ्या रा [————⏑—]

७ [⏑—] [शृ] वि विश्ववर्म्मा ॥ धैर्य्येण मेरुमभिजानिगुणेन वैण्यमिन्दु प्रभा समुदयेन बलेन विष्णु [।] [मं]—

८ [व] त्तंकानलमसह्यतमाञ्च दीप्त्या यो विक्रमेण च सुराधिपर्ति विजिग्ये ॥ व्यावृत्त-मार्ग इव भा—

९ [नुरस] ह्यमूर्त्तिर्व्यभ्रोदयाधिकतरोज् [ज्*] वलघोरदीप्ति ॥ (।) यच्छक्यते न रिपुभिर्भय-विह्वलाक्षैरद्रो—

१० [क्षितु क्ष] णमपि प्रगृहीतशस्त्र ॥ निर्भूषणैरविगताम्रजलार्द्रगण्डैर्व्विच्छिन्नमण्डनतयोज् [ज्*] वलनष्ट—

११ [शोभै] ॥ (।) यस्यारिकामिनि[२]मुखाम्बुरुहैव्वलस्य पूर्व्वं प्रतापचकितैं क्रियते प्रणाम ॥ रत्नोद्गमद्युति—

१२ [विर] ञ्जितकूलतालैरत्यस्तनक्रमकरसतफ् [`] नमालै ॥ (।) चण्डानिलोद्धततरङ्गसमस्त-हस्तैर्व्यस्या—

१३ [प्यांवें] न्यपि बलानि नम क्रियन्ते ॥ भूरुद्भिय [दृष्ट] तद्रुमविकम्पितशैलकीलवित्रस्तविद्रुतमृग-द्विजशून्य (न्य)गु—

१४ [हमा] [।] यस्योन्नतप्रविप[f]म् क्रि (कृ) तराजमार्ग्गा सैन्य[३]प्रयाणसमये विनिमज्जतीव ॥ प्रत्यस्तमौलि—

१५ [म] णिरश्मिनखप्रभाभ्यैरभ्युद्यताञ्जलितया शवनाग्रगण्डै ॥ (।) विद्याधरै प्रियतमाभुजपाशव-

१६ [द्धै व्यं] स्यादराद्दिवि यशा [ ]सि नम क्रियन्ते ॥ अग्रेऽपि या (यो) वयसि सम्परिवर्त्तमानश-शास्त्रानुसारपरि—

१७ [वर्द्धित]शुद्धबुद्धि ॥ (।) सद्धर्ममार्ग्गमिव राजसु दर्शयिष्यन्नृरक्षाविधि भरतवज्जगत करोति ॥ तस्मिन्प्र—

१८ [शास]ति महीन्नृपतिप्रवीरे स्वर्ग्गे यथा सुरपतावमितप्रभावे ॥ (।) नाभूदधर्म्मनिरतो व्यसनान्वितो

१ यहा तस्यानुज [='उसका छोटा भाई'] भी छन्द के अनुरूप होगा।

२ छन्द की अपेक्षानुसार कामि नी ं अन्तिम दीर्घ मात्रा को ह्रस्व कर दिया गया है।

३ पढ़ें, सैन्य।

१९ [वा लोके] कदाचन जनस्सुखवर्ज्जितो वा ॥ यातेषु चतु [*] षु[1] कि(क्र)तेषु शतेषु सौम्यैष्वा [?ष्ठा] शीत[2]सोत्तरपदेष्विह वत्स—

२० [रेषु] ॥ (।) शुक्ले त्रयोदशदिने भुवि कार्त्तिकस्य मासस्य सर्व्वजनचित्तसुखावहस्य ॥ नीलो-त्पलप्र—

२१ [सूतरे] ण्वरुणाम्बुकीर्ण्णो बन्धूकवाणकुसुमोज् [ज्*] वलकाननान्ते ॥ (।) निद्राव्यपाय-समये मधुसूदनस्य का—

२२ [ले प्रबु] द्धकुमुदाकरशुद्धतरे ॥ वापीतडागसुरसद्मसभोदुपान[3]नानाविधोपवनसङ्कमदीर्घिक् [ा]—

२३ [भि] ॥ (।) से(ि)ष्टामिवामरगणजातिभिरङ्गना स्वा यो गर्ग्गरातटपुरं सकक(म)लञ्च-कार ॥ राज्ञस्त्रितीयमिव चक्षुरुदा—

२४ [रवृत्ति] र्द्देवद्विजातिगुरुब् [ा] न्धवसाधु (?)भक्त ॥ (।) शास्त्रे [.*] स्तुते च विनय् [` *] व्यवहारहीने योऽपक्षपातरहितो निदध् [ौ]

२५ (स्वचिन्त्)ाम् ॥ सर्व्वस्य जीवितमनित्यमशरवच्च दोलाचलामनुविचिन्त्य तथा विभूतिम् ॥ (।) न्यायाग [ते]—

२६ [न वि] भवेन परा च भक्ति विख्यापयान्नुपरि चक्रगदाधरस्य ॥ पीन[4]व्यायतवृत्तलम्बि-सुभुज खड्गव्रण (*)—

२७ [ङ्कि]त ॥ (।) कर्ण्णान्तिप्रतिर्प्पमान(ण)नयन (*) श्या (श्या)मावदातच्छवि ॥ (।) दर्प्पाविष्कि(ष्कृ)त सौ (सा)रशत्रुमथगो दुष्ठ (ष्ट)।श्व—

२८ [——] वली ॥ (।) भवत्या चासुहृदाञ्च बान्धवसमो धर्म्मार्त्थकामोदित ॥ प्रज्ञाशौर्य्यकुलो-द्गतो दिशि—

२९ [दिशि]प्रख्यातवीर्य्यो वशी (।) पुत्त्रे विष्णुभटे तथा हरिभटे सम्बद्धवङ्शक्रिय ॥ (।) एत—

३० [त्पाप]पथावरोधि विपुलश्री वल्लभे(र्भ)रात्मजं ॥ (।) विष्णो [*] स्थानमकास्यद्-भगव—

३१ [तश्श्री] मान्मूयराक्षक ॥ कैलास[5]तुङ्गशिखरप्रतिमस्य यस्य दृष्ट्वाकि(कृ)तिं प्र—

३२ [मुदितै]र्व्वैकानारविन्दि (न्दै) ॥ (।) विद्याधराः प्रियतमासहिता सुशोभमादर्शि (र्श)-बिम्ब—

३३ [मिव] यान्त्यवलोकयन्त ॥ या[6]न्हद्व सुरसुन्दरीकरतलव्याघृष्टपृष्ठक्षणम् ॥ (।) प्रस्या—

३४ [वर्त्त] नशङ्किनो रथहयानाकि (कृ)ष्य चञ्चत्सटान् ॥ (।) पुण्योदर्कमतिप्रभावमुनिभिस्स—

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ६१, टिप्पणी १।

२ पढ़ें, सौम्येष्वशीत, यहा एक अन्य छन्दोभङ्ग मिलता है क्योंकि अशीत [=अस्सीवा] पढने पर 'तगण' के एकान पर 'जगण' हो जाएगा। इसे सौम्येष्टाशीत पढने पर छन्द की अपेक्षाए पूरी हो जाती हैं, तथा इस पाठ से हमे अष्ठासीवा [वर्ष] प्राप्त होता है, किन्तु इस पाठ से हमें सप्तमी विभक्ति का एकवचन सौम्ये मिलता है जबकि शतेषु के साथ सप्तमी बहुवचन सौम्येषु होना चाहिये।

३ पढें, ओदपन, अथवा ओडुपान।

४ छन्द, शार्दूलविक्रीडित, तथा अगले श्लोक में।

५ छन्द, वसन्ततिलक।

६ छन्द, शार्दूल विक्रीडित।
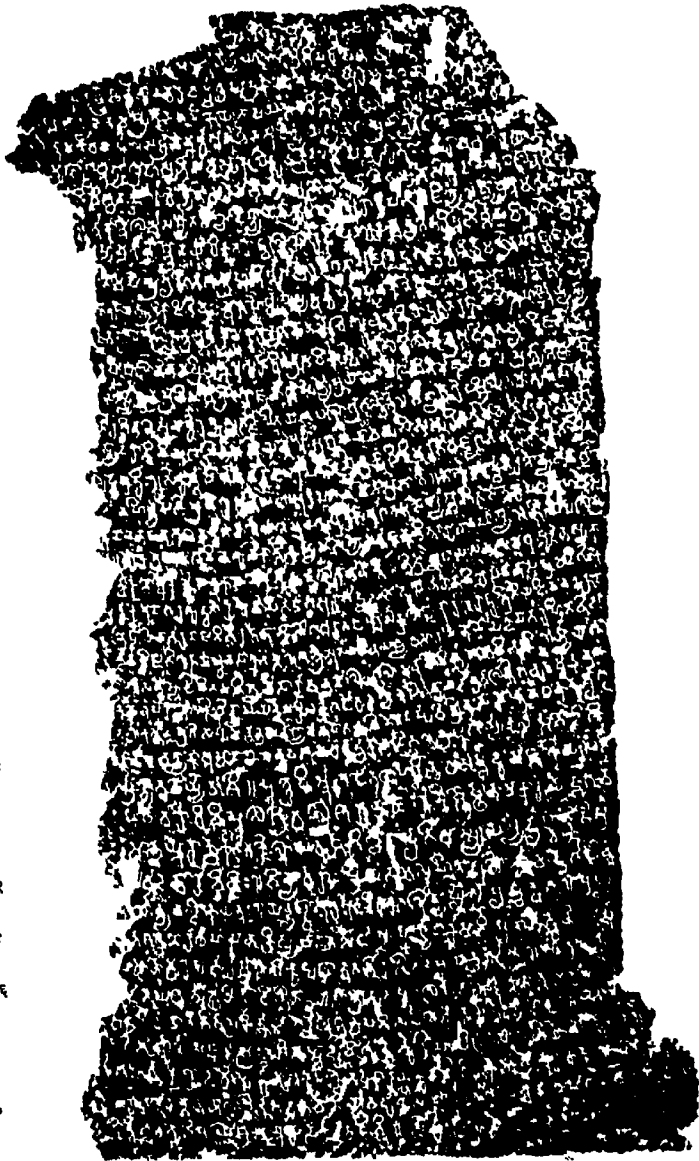
विश्ववर्मन् का गङ्गाधार लेख—वर्ष ४८०

मान २३

३५ (स्तू) यमानोऽम्बरे (॥) सरज्यञ्जलिकुट्मल[1]न्नतशिरा भीत प्रयात्यद्युमान् मातृ(तृ)-णाञ्च[2]।

३६ [प्रभु] दितघनात्यर्थंनिह्लादिनीनाम् ॥ (।) तान्योद्भूतप्रबलपवनोद्वर्त्तिताम्भोनिधीनाम् ॥ (।)

३७ [———— ⏑ ⏑] गतमिद डाकिनीसप्रकीर्णम् ॥ (।) वेश्मात्युग्र नृपतिसचिवोऽकारयत्पुण्य हेतो पाताले[3] [——⏑]

३८ [⏑——] रतिभिर्गुप्त भुजङ्ग [प*]मं ॥ (।) शीतस्वादुविशुद्धभूरिसलिल सोपा नि(न)-मालोज् [ज्*] वलम् ॥ (।) द(?) [——⏑⏑]

३९ [——⏑—] गहन क्षीरोदधिस्पर्द्धिनम् ॥ (।) कूपश्चैनमकारयद्गुणनिधि श्रीमान्मयूराक्षक ॥ यावच्च[4] [——⏑⏑⏑]

४० [⏑——] सागरा रत्नवन्तो नानागुल्मद्रुमवनवती यावदुर्व्वीसशैं(?)ला ॥ (।) यावच्चेन्दुर्ग्रहगणचित व्योम भा[सीक]—

४१ [रोति ता] वत्कीर्त्तिर्भवतु विपुला श्रीमयूराक्षकस्येदिति[5] सिद्धिरस्तु [॥*]

अनुवाद

" (भगवान्) विष्णु की भुजा, देवताओ के राजा (इन्द्र) के हाथी (ऐरावत) के सूड की सभिन्न गतिविधिया ।

प० २—शौर्य तथा कीर्त्ति के लिए सुविख्यात महीपतियो के वश मे उत्पन्न" 'सुन्दर ' प्रसिद्ध तथा श्रीमान् नरेश नरवर्मन् थे,—जिन्होंने देवताओ को यज्ञ से, साधुजनो को सुन्दर कृत्यो से, (अपने) भृत्यों को विश्व मे अनुपमेय सम्मानपूर्ण व्यवहार द्वारा तथा सपूर्ण पृथ्वी को उत्कृष्टतम उपलब्धियो द्वारा सतुष्ट किया, [जिन्होंने] हाथियो तथा अश्वो के प्रयोग (उसके) खड्ग की किरणो से व्याप्त [युद्ध-क्षेत्रो] मे (तथा जिनके) शत्रु युद्ध की भीषणता मे (मात्र) उनका चेहरा देख कर भय के कारण चेष्टाहीन होकर नाश को प्राप्त होते हैं।

प० ५—(उनके पुत्र[6]) महात्मा, बुद्धि मे बृहस्पति के सदृश, ७ पूर्णचन्द्र के समान मुख वाला, मानों राम तथा भगीरथ के लिए (भी) प्रमाणरूप, पृथ्वी पर विश्ववर्मन् (थे), जो दृढता मे मेरु (पर्वत) का, उत्तराधिकाररूप मे प्राप्त गुणों मे वैण्य का, शोभा की उत्तरोतर वृद्धि मे चन्द्रमा का, शक्ति मे विष्णु का, तेज मे प्रलयकालीन असह्यमान अग्नि का तथा विक्रम मे देवताओ के के स्वामी (इन्द्र) का अतिक्रमण करते थे,—(अपना) शस्त्र धारण कर लेने पर स्वमार्गोन्मुख सूर्य के समान—जो असह्य स्वरूप वाला होता है तथा मेघरहित आकाश मे ऊपर उठने से जो तेज तथा घोर दीप्ति वाला होता है—जिनकी ओर भय से अन्धी हुई आखो वाले (उनके) शत्रु क्षणमात्र भी नही देख सकते थे,—जो (अपने) शत्रुओ की—(उनकी) शक्ति के विक्रम (के विषय में सुन कर) पहले से

---

१ पढ़ें, सकुच्याञ्जलिकुट्मलन् ।

२ छन्द, मन्दाक्रान्ता ।

३ छन्द, शार्दूलविक्रीडित ।

४ छन्द, मन्दाक्रान्ता ।

५ लेख का रचयिता अथवा लेखक यहाँ मयूराक्षकस्येति—जो कि शुद्ध पाठ है—तथा मयूराक्षकस्य स्यादिति के बीच भ्रमित हो गया जान पड़ता है।

६ अथवा सवमत, "उसका अनुज" द्र०, ऊपर पृ० ६३, टिप्पणी १ ।

ही डरी हुई, (तथा अब) आभूषणो मे रहित, अश्रुजल से सिक्त गालो वाली (तथा) शृ गार-प्रसाधन बन्द हो जाने से नष्ट शोभा वाली—स्त्रियो की सुन्दर मुख-कमलिनियो द्वारा प्रणमित होते है, अपरच, जिनकी सेनाओ का (समुद्रो) द्वारा—जिनके किनारो पर खडे तालवृक्ष (जल से) रत्नो के उत्पन्न होने की द्युति से सुन्दर प्रतीत होते हैं, जिन पर उठती फेन-मालाए त्रस्त नक्र तथा मकरो द्वारा क्षत-विक्षत होती हैं, तथा जिनके लहर रूपी सभी हाथ भयकर वायु-प्रवेग से हिलते हैं—सम्मान हुआ है, जिनकी सेना के प्रयाण करने के समय पृथ्वी (अपने) सभी गुल्मो को वृक्षो को उखाड फेंकने वाले पर्वतों को कपाने वाले भालो से भयभीत होकर भाग जाने के कारण पशुओ तथा पक्षियो से रहित पाती है, (तथा) सैन्य-स्फीति के कारण (अपने) विषम हुए राजमार्गो वाली जो मानो (उनकी सेनाओ के पैरों के नीचे) डूब सी जाती है, जिनका यश आकाश मे (अपनी) प्रियायो के भुजपाशो मे आबद्ध, (उनके) मुकुट के रत्नो की (अपनी ओर) आती हुई रश्मियो की दीप्ति से अन्धे से हो गए, (तथा) आदरपूर्ण नमस्कार-क्रिया में (अपने) जुडे हुए हाथो के ऊपर उठने से उपरिभाग छिपे हुए गालो वाले विद्याधरो द्वारा प्रणमित होता है, जिन्होने अपनी युवावस्था में ही शास्त्रो का अनुसरण करते हुए (अपनी) शुद्ध-बुद्धि का सवर्धन किया तथा अब—मानो यह प्रदर्शित करते हुए कि राजाओ का यही वास्तविक धर्म है—भरत के समान विश्व की रक्षा कर रहे हैं। जबकि राजाओ मे सर्वाधिक वीर ये राजा पृथ्वी पर शासन कर रहे हैं, जिस प्रकार कि स्वर्ग पर असीमित प्रभाव वाले देवाधिदेव (इन्द्र) (शासन करते हैं), [मनुष्यो में] कोई भी ऐसा नही है जो दुष्टता मे प्रसन्न हो, [अथवा] विपत्तिग्रस्त हो, अथवा सुखविहीन हो।

प० १६—तथा अब जब कि अस्सीवें (वर्ष) के साथ चार सौ सर्वथा पूर्ण[1] मंगल-वर्ष व्यतीत हो चुके है, मनुष्यो के चित्त को सुखी बनाने वाले कार्तिक मास के शुक्ल पक्षीय तेरहवें दिन, नीले कमलो मे घिरे हुए रेणुओ से अरुण वर्ण हुए जलो से युक्त ऋतु[2] में, जबकि काननान्त बन्धूक[3] तथा वाण[4] वृक्षो के पुष्पो से उज्जवल, है जबकि (भगवान्) मधुसूदन[5] के निद्रा-परित्याग का समय है, (तथा) जब कि तारकगण पूर्ण प्रस्फुटित कमलिनियो के समूहन के समान निर्मल हैं,—

प० २२—जिसने गर्गरा-तट पर बसे (इस) नगर को सिंचन हेतु निर्मित कूपो, तडागो,देव-मदिरो तथा देव-साभाओ, पेयजल युक्त कूपो,तथा विभिन्न प्रकार की आमोद-वाटिकाओ, नदीपथो तथा बडे कुण्डो से इस प्रकार सजाया है मानो (स्वय अपनी) प्रिया पत्नी को आभूषणो से (सजा-रहा हो), जो मानो राजा का तीसरा नेत्र हो, जो उदार चरित है, जो देवताओ, ब्राह्मणो धर्मोपदेशकों, बान्धवो तथा साधुजनों मे अनुरक्त है, तथा (इस विशिष्ट गुण के प्रति) पक्षपात रखने वाले जिसने (स्वभावत) (अपने) विचारो को (सदैव) शास्त्रो द्वारा प्रशसित विवादुकतारहित नम्रतापूर्ण व्यवहार

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ६१ टिप्पणी १, तथा पृष्ठ ६४, टिप्पणी २।

२ अर्थात् शरद ऋतु जिसमें अश्वयुज (सितम्बर-अक्टूबर) तथा कार्तिक (अक्टूबर-नवम्बर) के दो मास होते हैं।

३ बन्धूक—"लाल पुष्प धारण करने वाली एक झाडी", Pentapetes Phoenicea, Terminalia Tomentosa।

४ वाण—"नीले पुष्प धारण करने वाला Barleria नामक पादप।'

५ वर्षाऋतु के चार महीने विष्णु सोते है। उनकी निद्रा आषाढ मास (जून-जुलाई) के शुक्ल पक्ष की एकादशी पर प्रारम्भ होती है तथा कार्तिक (अक्टूबर-नवम्बर) के शुक्ल पक्ष की एकादशी पर समाप्त होती है।

मे लाया है,— तथा जो यह विचार कर कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन नश्वर है तथा दुर्बलताओ से पूर्ण है तथा यह कि समृद्धि झूले के समान चचल है, (अपने) विधिपूर्वक प्राप्त धन द्वारा चक्रगदाधारी[1] (भगवान् विष्णु) के प्रति उत्कृष्टतम भक्ति के प्रदर्शन में प्रवृत्त है,—जो सुन्दर, मासल, दीर्घ, गोल-लोल भुजाओ वाला है, जो खड्गो के घावो से [लाञ्छित] है, जिसकी आखे (उसके) कानो के किनारो तक फैली हैं, जो अल्पवयस्का युवती के समान निर्मल छवि वाला है, जो दर्प मे शक्ति प्रदर्शन करने वाले (अपने) शत्रुओ का नाश करने वाला है, जो शक्तिशाली है , जो भक्ति के कारण (अपने) शत्रुओ के प्रति सवधियो के समान व्यवहार करता है, जो धर्म, अर्थ, काम (के सम्मिलित, किसी प्रकार के परस्पर विरोध मे हीन, अनुष्ठान) मे अनुभवी है,—

प० २८ उस बुद्धि-बल-सम्पन्न वश में उत्पन्न, सभी दिशाओ में सुविज्ञात यश वाले, अपने ऊपर वश रखने मे समर्थ (तथा) अपने पुत्र विष्णुभट तथा हरिभट भी, के माध्यम से (अपने) वश (को-चलाने) के कर्त्तव्य को पूर्ण करने वाले श्रीमत मयूराक्षक ने विपुल श्री के स्वामी अपने पुत्रो द्वारा भगवान् विष्णु का यह मन्दिर—जो कि पाप-पथ का अवरोधी है, जिसकी कैलास (पर्वत) के उत्तुग शिखर के सदृश आकृति को देख कर अपनी प्रियतमाओ सहित विद्याधर आते हैं तथा अपने कमलवत् प्रसन्न-मुखो से इसे इस प्रकार निहारते हैं मानो यह दर्पण का शोभन धरातल हो, (तथा) जिस (आकृति) को उस क्षण देख कर जब कि (आच्छादन) के धरातल का देवताओ को सुन्दर पत्नियो के करतलो द्वारा श्लक्ष्णीकरण हो चुका है, आकाश मे पुण्यकर्मों के कारण अतिमानवीय बुद्धि शक्ति के अधिकारी मुनियों द्वारा समवेत स्वर मे प्रशसित सूर्य (अपने) चचल अयालों वाले तथा (प्रतिबिम्बन के कारण) स्वय को (अपनी ही ओर) लौटते हुए सोचने वाले रथ-सलग्न-अश्वों को बाग थाम कर तथा सम्मानपूर्ण नम किया में विस्तीर्ण हुई कली के समान (अपने हाथो को) साथ जोड कर नतशिर हुआ भयभीत हो भागता है—बनवाया।

प० ३५—साथ ही, पुण्य के लिए राजा के सचिव ने इस अति भयानक निवासगृह को बनवाया (तथा) इसे मातृदेवियो की डाकिनियो से आवासित किया जो प्रसन्नता में उग्र तथा भयानक स्वर निकालती हैं, (तथा) अपने मत से सबद्ध तान्त्रिक क्रियाओ से उद्भूत प्रबल पवन द्वारा समुद्र (तक) को उद्वेलित करती हैं।

प० ३७ - तथा, गुणागर श्रीमान् मयूराक्षक ने सर्पो से सदृशता रखने वाले, पाताल मे . द्वारा रक्षित, शीतल, मधुर तथा शुद्ध प्रचुर-जल-सपन्न (तथा) समुद्र से स्पर्द्धा करने वाला यह कूप बनवाया।

प० ३९—जब तक समुद्र रत्नो से सपन्न है, जब तक (अपने) पर्वतो से युक्त पृथ्वी गुल्मों, वृक्षो तथा वनो से भरी हुई है, जब तक चन्द्रमा नक्षत्रो से जटित आकाश को प्रकाशित करता है, तब तक श्रीमान् मयूराक्षक का यश विपुलता को प्राप्त होता रहे! सिद्धि हो!

———

[1] इस शब्द में विष्णु के दो प्रसिद्ध नामो, चक्रधर तथा गदाधर, का सन्निवेश हुआ है।

स० १८; प्रतिचित्र ११

कुमारगुप्त तथा बन्धुवर्मन् का मन्दसोर प्रस्तर-अभिलेख
मालव वर्ष ४९३ तथा ५२९

यह अभिलेख जिसे मैंने सर्वप्रथम १८८६ मे इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० १९४ इ० में प्रकाशित किया, स्वर्गीय श्री आर्थर सुलिवन (Arthur Sulivan) द्वारा प्रदत्त सूचना के आधार पर प्राप्त हुआ था, इन्ही महाशय ने १८७९ मे जनरल कनिंघम के पास मन्दसोर से यशोधर्मन् के अशत प्राप्त स्तम्भ-लेख [नीचे स० ३४, प्रति० २१ ग] की हस्तनिर्मित प्रति भेजा था। मैंने इस प्रति को १८८३ मे देखा, तथा इसमे मिहिरकुल का नाम पढ कर मैंने मार्च १८८४ मे अपने प्रतिलिपिकारो को इस अशत पाप्त लेख का तथा प्राप्य अन्य किन्ही भी लेखो का प्रत्यकन लेने के उद्देश्य से भेजा। अपनी इस खोज मे उन्हे यह वर्त्तमान अभिलेख मिला तथा यशोधर्मन् के स्तम्भ-लेख की समूची एक अन्य प्रति (नीचे स० ३३, प्रति० २१ ख) प्राप्त हुई जिसका श्री सुलिवन को पता नही था।

शीवना[1] नदी के उपर अथवा बाए तट पर स्थित मन्दसोर[2] अथवा दशोर, जो कि प्राचीन दशपुर[3] है, सेन्ट्रल इण्डिया के पश्चिमी मालवा क्षेत्र मे सिन्दिया के राज्यान्तर्गत मन्दसोर जिला का प्रमुख नगर है। अभिलेख एक प्रस्तर-फलक पर अकित है जो प्रत्यक्षत. अच्छे तथा काले वालुकाश्म से निर्मित हैं, यह प्रस्तर-फलक, किले के ठीक दूसरी ओर, नदी के दक्षिणी तट पर स्थित महादेव-

---

१ मानचित्रो का 'Sau' तथा 'Seu'।

२ मानचित्रो का 'Mander, Mandesor, Mandesur, Mandisore, Mandosar, Mandsur, Mandesor तथा 'Mundesore'। इण्डियन एटलस, पत्र-फलक स० ३५। अक्षाश २४°३' उत्तर, देशान्तर ७५°८' पूर्व।

३ क्षेत्रीय तथा निकटवर्ती ग्रामीणो तथा कृषको द्वारा, तथा यहा तक कि इन्दौर तक, यह नगर मन्दसोर की अपेक्षा दशोर नाम से अधिक पुकारा जाता है। डेढ सौ वर्ष पुराने कुछ द्विभाषी सनदो मे मुझे क्षेत्रीय बोली के अवतरणो मे दशोर रूप प्रयुक्त मिला है जबकि उन्ही सनदो के फारसी भाषा के अवतरणों मे मन्दसोर रूप दिया गया है। इसी प्रकार अपने लेखन-कार्य मे पण्डित आज भी प्रवृत्तिवश दशपुर लिखते हैं, यह पण्डितो द्वारा बेलग्राम जिले मे सम्पगौम तथा उगरगोल के लिए क्रमश महिपर तथा नखपुर शब्दो के प्रयोग से तुलनीय है—मात्र इसके कि यह निश्चितरूपेण नही कहा जा सकता कि ये मूल सस्कृत नाम हैं अथवा मूल क्षेत्रीय भाषा के नामो के पाण्डित्याभिमान-सूचक सस्कृत अनूदनमात्र है। इस नाम की व्याख्या यह है कि मूलत यह पुराणों मे उल्लिखित राजा दशरथ का नगर था। किन्तु यह स्वीकार करने पर इसका आधुनिक नाम दशरथोर होना चाहिए। प्रत्यक्ष वास्तविक व्याख्या यह है कि जिस प्रकार आज इस नगर मे बारह से लेकर पन्द्रह तक—खिलचीपुर, जनकापुरा, रामपुरिया, चन्द्रपुरा, वालागज इ०—पुरवे हैं, उसी प्रकार मूलत इसमे दश पुरवे (पुर) थे। जहा तक इसके बडे रूप मन्दसोर—जो कि इसका सरकारी नाम है तथा मानचित्रो मे जिस नाम का ही प्रयोग हुआ है—का प्रश्न है, सम्प्रति मै इसकी व्युत्पत्ति नही बता सकता। किन्तु डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने मुझे यह सुझाया है कि यह सभवत मन्द-दशपुर (='विपत्तिग्रस्त अथवा शोभा-

घाट पर, महादेव नामान्तर्गत भगवान् शिव के एक मध्यकालीन मन्दिर के सामने, नदी की ओर जाते हुए एक छोटे सोपान की आधी दूर पर दाहिने हाथ की दीवाल मे लगा हुआ है। तथा, मेरे विचार से, यह चन्द्रपुरा नामक पुरवे की सीमाओ के अन्दर है।

लगभग आधे इच के किनारे को छोड कर, लेखक प्रस्तर-खण्ड का सपूर्ण सम्मुख भाग घेरता है जो कि लगभग २ फीट ७½ इच चौडा तथा १ फीट ४½ इच ऊचा है। प्रस्तर-खण्ड का लगभग मध्य भाग पर्याप्त जीर्ण हो गया है तथा किनारो पर कई स्थानो पर पत्थर छूट गया है, किन्तु कुछ ही अक्षर यहा वहा नही पढे जा सकते और इन सभी को सरलतापूर्वक पुनरस्थापित किया जा सकता है। अक्षरो का औसत आकार ½ इच है। अक्षर दक्षिणी प्रकार की वर्णमाला के हैं, किन्तु इनमें उत्तरी वर्णमालाओ के दो अक्षर सन्निविष्ट मिलते हैं दन्त्य द से भिन्न मूर्धस्थानीय ड का पृथक् रूप, उदाहरणार्थ, प० ६ मे अकित तडित् तथा प० १७ मे अकित चूडा मे, तथा इसके अतिरिक्त असामान्यत प्रयुक्त मूर्धस्थानीय ढ का अकन, उदाहरणार्थ, प० ६ तथा ११ मे अकित दृढा मे। ये अक्षर उस वर्णमाला के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसे पाचवी शताब्दी ई० मे पश्चिमी मालवा मे प्रचलित वर्णमाला वह सकते है। भाषा सस्कृत है, तथा प्रथम शब्द सिद्धम् तथा प० २८ मे लेख का समापन करने वाले शब्दो को छोड कर पूरा लेख पद्य मे है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे हमे निम्नलिखित का ध्यान रखना है १ कभी कभी जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का प्रयोग, उदाहरणार्थ, प० १ मे अकित जगत क्षय मे, प० ८ मे अकित गणै क्षम्, मे प० २ मे अकित प्रविसृतै पुष्णाति मे, तथा प० ३ मे अकित अभिताम्र पायात् मे, किन्तु, उदाहरणार्थ, प० ५ मे अकित अवभुग्ने क्वचित् मे, प० १४ मे अकित पर कृपणा,, प० ५ मे अकित रज पिञ्जरितंश् में, तथा प० ६ मे अकित प्रतिमानिता प्रमुदिता मे नही, २ अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर कभी कभी त, ध तथा भ का द्वित्त्व, उदाहरणार्थ, प० १२ मे अकित चित्त्रेण मे, प० १८ में अकित रोद्ध्रा मे तथा प० ६ मे अकित अब्भ्र में, ३ अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर थ तथा ध का द्वित्व, उदाहरणार्थ, प० ६ मे अकित पत्थ्य मे, प० ८

विहीन दशपुर") का प्रतिनिधित्व करता है जो नाम इसे मुसलमानों द्वारा इसके पराजय तथा इसमे स्थित हिन्दू मन्दिरो के विनाश की स्मृतिस्वरूप प्राप्त हुआ और जिस घटना की स्मृति मे इस स्थान के नागर ब्राह्मण आज भी वहां जल नहीं ग्रहण करते। और, इस सुझाव के समर्थन मे मैं यह बताना चाहता हू कि कि मैंने उस स्थान के जिन पण्डितो से जिज्ञासाए की उनमें से एक ने मुझे इस नाम का एक अन्य रूप मन्नदसोर बताया। श्री एफ० एस० ग्राउज (F S Growse) ने एक अन्य सुझाव यह रखा है कि इस नाम में मड तथा दशपुर ये दो नाम सन्निविष्ट हैं, इनमें से प्रथम (द्र० इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० १६५) मन्दसौर से दक्षिण-पूर्व मे लगभग ग्यारह मील की दूरी पर स्थित एक गाव का नाम है जिसे अफजलपुर भी कहते हैं और ऐसा कहा जाता है कि यहां के नष्ट किए गए हिन्दू मन्दिरो से वे पत्थर लाए गए जिनकी मन्दसोर स्थित मुसलमानी किले के निर्माण मे प्रयोग किया गया। सभव है इसकी सही व्याख्या दशपुरमाहात्म्य मे प्राप्त हो सके, यह पुस्तक प्राप्य है किन्तु परीक्षणार्थ मे इसकी प्राप्ति मे सफल नहीं हो सका। वतमान अभिलेख के अतिरिक्त, इसका प्राचीन सस्कृत नाम दशपुर उपवदात के एक प्राचीन नासिक-लेख (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० पृ० ६६ तथा प्रति० ५२, स० ५) की प० २ मे प्राप्त होता है, तथा, (विक्रम) सवत् १३२१ (ईसवी सन् १२६४–६५) गुरु(वार), भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की पचमी तिथि से अकित, स्वय मन्दसोर से ही प्राप्त एक अन्य अभिलेख मे होता है जो कि किले के पूर्व प्रवेश के आन्तरिक द्वार के अन्दर बाए हाथ पर स्थित दीवाल मे लगे हुए एक सफेद पत्थर पर अकित है। बृहत्-सहिता १४, श्लोक ११–१६ (कर्न का अनुवाद, जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S. जि० ५, पृ० ८३) में इसी नाम से यह स्थान अवन्ति के साथ उल्लिखित हुआ है।

में अंकित स्वाध्याय में; तथा ८. अनुवर्ती व के साथ संयोग होने पर ध का द्वित्व; उदाहरणार्थ पं० ३ में अंकित अद्ध्वादि में।

लेख स्वयं को कुमारगुप्त नामक एक राजा के शासनकाल में रखता है; पं० १३ में इसे सम्पूर्ण पृथ्वी का शासक कहा गया है जिससे यह निश्चित होता है कि सुविख्यात प्रारम्भिक गुप्त वंशीय कुमारगुप्त के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। उसके अन्तर्गत दशपुर का प्रतिनिधि-शासक विश्ववर्मन् का पुत्र बन्धुवर्मन् था। लेख आद्यन्त सूर्योपासना से संबद्ध है। यह पहले यह विवरण देता है कि कैसे रेशमी वस्त्र के कुछ बुनकर लाट विषय, अथवा मध्य तथा दक्षिणी गुजरात, से दशपुर नगर में आए; तथा कैसे इनमें से कुछ ने अन्य व्यवसाय अपना लिए किन्तु अन्य पुराने व्यवसाय में लगे रहे एवं स्वयं को एक पृथक् तथा समृद्ध श्रेणी के अन्तर्गत संगठित किया। पुनः यह इस तथ्यविशेष का लेखन करता है कि जब दशपुर पर बन्धुवर्मन् शासन कर रहा था, रेशमी वस्त्र-बुनकरों की श्रेणी ने इस नगर में एक सूर्य-मन्दिर का निर्माण किया जो-शब्दों में-"मालवगण-संरचना (से प्रारम्भ होने वाली गणना) द्वारा[1] चार सौ तिरानवे वर्ष व्यतीत हो चुकने पर और इस प्रकार प्रचलित चार सौ चौरानवेवें वर्ष (ईसवी सन् ४३७-३८) में, सहस्य मास (दिसम्बर-जनवरी) के शुक्ल पक्ष के तेरहवें दिन पूर्ण हुआ। कालान्तर में, अन्य राजाओं के अन्तर्गत यह मन्दिर दुरवस्था को प्राप्त हुआ। और पुनः इसी श्रेणी ने-शब्दों में-पांच सौ उन्तीस वर्ष व्यतीत हो चुकने पर और इस प्रकार प्रचलित पांच सौ तीसवें वर्ष (ईसवी सन् ४७३-७४) में, तपस्य मास (फरवरी-मार्च) के शुक्ल पक्ष के द्वितीय चान्द्रदिवस पर इस मन्दिर का जीर्णोद्धार-कार्य कराया। स्पष्टतः यह दूसरी तिथि ही वस्तुतः लेख की रचना तथा अंकन की तिथि है क्योंकि लेख के अन्त में यह कहा गया है कि सम्पूर्ण लेख वत्सभट्टि-विरचित है, तथा उत्कीर्णन कार्य आद्यन्त स्पष्टतः एक ही व्यक्ति द्वारा किया हुआ है।

मूलपाठ[2]

१ [सिद्ध]म् (।।) य[ो][3] [वृ]त्त्य[र्थ] मु[पा]स्यते सुरगणैस्सिद्धैश्च सिद्ध्यर्थिभिर्ध्यानैकाग्रपरैर्विधेयविषयैर्मोक्षार्थिभिर्योगिभिः । भक्त्या तीव्रतपोधनैश्च मुनिभिश्शापप्रसादक्षमैर्हेतुर्यो जगतः क्षयाभ्युदययोः पायात्स वो भास्करः । (।।) तत्[त्व]ज्ञानविदोऽपि यस्य न विदुर्ब्रह्मर्षयो—

२ योऽभ्युद्यतः कृत्स्नं यश्च गभस्तिभिः प्रविसृतैः पुष्(णा)ति लोकत्रयम् । गन्धर्वामरसिद्धकिन्नरनरैस्संस्तूयतेऽभ्युत्थितो भक्तेभ्यश्च ददाति योऽभिलषितं तस्मै सवित्रे नमः । (।।) यः[4] प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्रविस्तीर्णतुङ्गशिखरस्खलितांशुजालः क्षीबाङ्गना—

३ जनकपोलतलाभिताम्रः पायात् स वस्सु(कि)रणाभरणो विवस्वान् । (।।) कुसुम[5]भरानततरुवरदेवकुलसभाविहाररमणी(णी)यात् । लाटविषयान्नगावृतशैलाज्जगति प्रथितशिल्पाः ।(।।) ते[6] देश पार्थिवगुणापहृताः प्रकाशमध्वादिजान्यविरलान्यसुखा—

---

१ द्र०, प्राक्कथन।

२ फ्लीट की छाप से।

३ छन्द शार्दूलविक्रीडित, तथा अगले श्लोक में।

४ छन्द, वसन्ततिलक।

५ छन्द, आर्या।

६ छन्द, वसन्ततिलक तथा अगले श्लोक में।

कुमारगुप्त तथा वन्धुवर्मन् का मन्दसोर लेख—मालव वर्ष— ४९३ तथा ५२९

प्रति० ११

४ न्यपाम्य । जातादरा दशपुर प्रथम मनोभिरन्वागतास्ससुतबन्धुजनास्समेत्य ।। मत्तेभगण्डतटविच्युत-दानविन्दुसिक्तोपचलाचलसहस्रविभूषा(षा)णाया [।*] पुष्पावनम्रतरुमण्डवतंसकाया भूमे परन्तिलकभूतमिद क्रमेण ।। तटो[1]त्थवृक्षच्युत—

५ नैकपुष्पविचित्रतीरान्तजलानि भान्ति । प्रफुल्लपद्माभरणानि यत्र सरासि कारण्डवसकुलानि ।। विलोलवीची चलितारविन्दपतद्रज पिञ्जरितैश्च हसै । स्वकेसरोदारभरावभुग्नै क्वचित् सरास्यम्बुरुहैश्च भान्ति । (।।) स्वपुष्पभारावनतैर्नगेन्द्रै[2]र्मद—

६ प्रगल्भालिकुलस्वनैश्च । अजस्रगाभिश्च पुराङ्गनाभिर्व्वनानि यस्मिन् समलङ्कृतानि ।। चल[3]त्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि । तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि ।। यत्र कैलास[3]तुङ्गशिखरप्रतिमानि चान्यान्याभान्ति दीर्घवलभी—

७ नि सवेदिकानि । गान्धर्व्वशब्दमुखरानि(णि) निविष्टचित्रकर्म्माणि लोलकदलीवनशोभितानि ।। प्रासाद[4]मालाभिरलङ्कृतानि धरा विदार्य्येव समुत्थितानि । विमानमाला सदृशानि यत्र गृहाणि पूर्णेन्दुकरामलानि ।। यद्[5] भात्यभिरम्यसरिद्[द्*] वयेन चपलोर्म्मिणा समुपगूढ—

८ रहसि कुचशालिनीभ्या प्रीतिरतिभ्या स्मराङ्गमिव ।। सत्य[6]क्षमादमशमव्रतशौचधैर्य्यस्वाध्यायवृत्तविनयस्थितिबुद्धयुपेतै । विद्यातपोनिधिभिरस्मयितैश्च विप्रैर्यद् भ्राजते ग्रहगणै खमिव प्रदीप्तं ।। अथ[7] समेत्य निरन्तर सङ्गतैरहरह प्रविजृम्भित—

९ सौहृदा [।*] नृपतिभिस्सुतवत् प्रतिमा[ा]निता प्रमुदिता न्यवसन्त सुख पुरे ।। श्रवण[8][सु]भग-['] नु[ा]नुर्व्वेद[ ] दृढ परिनिष्ठिता सुचरितशतासङ्गकेचिद्विचित्रकथाविद । विनयनिभृतास्सम्यग्धर्म्म प्रसङ्गपरायण प्रियमपरुष पत्थ्य चान्ये क्षमा वहु भाषितु ।।

१० केचित्[9] स्वकर्म्मण्यधिकास्तथान्यैर्विज्ञायते ज्योतिषमात्मवद्भि । अद्यापि चान्ये समरप्रगल्भा कुर्व्वन्त्यरीणामहित प्रसह्य । (।।) प्राज्ञा[10] मनोज्ञवधव प्रथितोरुवशा वशानुरूपचरिताभरणास्तथान्ये । सत्यव्रता प्रणयिनामुपकारदक्षा विस्रम्भ—

११ [पूर्व्वं] मपरे दृढसौहृदाश्च ।। विजित[11]विषयसङ्गैर्द्धर्म्मशीलैस्तथान्यैर्म्(मृ)दुभिरधिकसत् [त्व*] वैर्ल्लोकयात्रामरैश्च । स्वकुलतिलकभूतैर्मुक्तरागैरुदारैरधि कमभिविभाति श्रेणिरेवप्रकारै ।। तारुण्य[12]कान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहारताम्बूलपुष्पविधिना सम—

---

१ छन्द, उपेन्द्रवज्रा, तथा अगले दो श्लोकों में ।

२ छन्द, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उपजाति ।

३ छन्द, वसन्ततिलक ।

४ छन्द इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उपजाति ।

५ छन्द, आर्या ।

६ छन्द, वसन्ततिलक ।

७ छन्द, द्रुतविलम्बित ।

८ छन्द, हरिणी ।

९ छन्द, इन्द्रवज्रा ।

१० छन्द, वसन्ततिलक ।

११ छन्द, मालिनी ।

१२ छन्द, वसन्ततिलक ।

१२ [लङ्कृ] तोऽपि । नारीजन प्रियमुपैति न तावदग्र्या(श्र्या) यावन्न पट्टमयवस्त्रयु [ ] गानि धत्ते ॥ स्पर्शे [व] ता[1] वर्णान्तरविभागचित्रेण नेत्रसुभगेन । यैस्सकलमिद क्षितितलकृत पट्टवस्त्रेण ॥ विद्याधरी[2]रुचिरपल्लवकर्णपूरवातेरितास्थिरतर प्रविचिन्त्य

१३ [लो] क । मानुष्यमर्थनिचयाश्च तथा विशालास्तेषा शुभा मतिरभूदचला ततस्तु ॥ चतु[3]स्समुद्रान्[त] विलोलमेखला सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम् । वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनी कुमारगुप्ते पृथिवी प्रशासति ॥ समान[4]धीश्शुक्रबृहस्पतिभ्या ललामभूतो भुवि

१४ पार्त्थिवाना । रणेषु य पार्त्थसमानकर्म्मा बभूव गोप्ता नृपविश्ववर्म्मा ॥ दीना[5]नुकम्पनपर कृपणार्त्त वर्गसन्ध [ा] प्रदोऽधिकदयालुरनाथनाथ. । कल्पद्रुम प्रणयिनामभय प्रदश्च भीतस्य यो जनपदस्य च बन्धुरासीत् ॥ तस्या[6]त्मजः स्थैर्य्यनयोपपन्नो बन्धुप्रियो

१५ बन्धुरिव प्रजाना । बन्ध्वर्त्तिहर्त्ता नृपबन्धुवर्म्मा द्विड्दृप्तपक्षक्षपणैकदक्ष ॥ कान्तो[7] युवा रणपटुर्व्विनयान्वितश्च राजापि सन्नुपसृतो न मदै स्मयाद्यै । शृङ्गार मूर्त्तिरभिभात्यनलङ्कृतोऽपि रूपेण या कुसुमचाप इव द्वितीय ॥ वैधव्य[8] तीव्रव्यसनक्षताना

१६ स्मि(स्मृ)त्वा यमद्याप्यरिसुन्दरीणाम् । भयाद्भवत्यायतलोचनाना घनस्तनायासकर प्रकम्प ॥ तस्मिन्नेव[9] क्षितिपतिवि(वृ)षे बन्धुवर्म्मण्युदारे सम्यक्स्फीत दशपुरमिद पालयत्युन्नतांशे । शिल्पावाप्तैर्द्धनसमुदयै पट्टवायैरुदार श्रेणीभूतैर्भवनमतुल कारित

१७ दीप्तरश्मे ॥ विस्तीर्ण[10]तुङ्गशिखर शिखरि प्रकाशमभ्युद्गतेन्द्वमलरश्मिकलापगौर । यद्भाति पश्चिमपुरस्य निविष्टकान्तचूडामणिप्रतिसमन्नयनाभिराम ॥ रामासनाथ[र]चने दरभास्कराशु वह्निप्रतापसुभगे जललीनमीने । चन्द्राशुहर्म्यतल—

१८ चन्दनतालवृन्तहारोपभोग(ग)रहिते हिमदग्धपद्मे ॥ रोद्ध्रप्रियङ्गुतरुकुन्दलताविकोशपुष्पासव प्रमु[दि]तालिकलाभिरामे । काले तुषारकणकर्क्कशशीतवातवेगप्रनृत्तलवलीनगणैकशाखे ॥ स्मर[11]वशगतरुणजनवल्लभाङ्गनाविपुलकान्तपीनोरु—

१९ स्तनजघनघनालिङ्गननिर्भर्त्सित तुहिनहिमपाते ॥ मालवाना[12]गणस्थित्या याते [ ] शतचतुष्टये । त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृ(मृ)तौ सेव्यघनस्वने ॥ सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेऽह्नि त्रयोदशे । मगलाचारविधिना प्रासादोऽय निवेशित ॥ बहुना समतीतेन

---

१ छन्द, आर्या ।

२ छन्द, वसन्ततिलक ।

३ छन्द, वशस्थ ।

४ छन्द, उपेन्द्रवज्रा ।

५ छन्द, वसन्ततिलक ।

६ छन्द, इन्द्रवज्रा ।

७ छन्द, वसन्ततिलक ।

८ छन्द, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उपजाति ।

९ छन्द, मन्दक्रान्ता ।

१० छन्द, वसन्ततिलक, तथा अगले दो श्लोको मे ।

११ छन्द, आर्या ।

१२ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले तीन श्लोको मे ।

२० कालेनान्यैश्च पार्थिवै । व्यशीर्य्यतैकदेशोऽस्य भवनस्य ततोऽधुना॥ स्वयशोवि[र्] (वृ)द्धये सर्व्वमत्युदारमुदारया मस्कारितमिद भूय श्रेण्या भानुमतो गृह ॥ अत्युन्नतमवदातम् नभ[ ] स्पृशन्निव[2]मनोहरै शिखरै । शशिभान्वोरभ्युदयेष्वमलमयूखायतन—

२१ भूत ॥ वत्सरशतेपु पचमु विशत्य[3]धिकेपु नवसु चाब्देपु । यातेष्वभिरम्यतपस्यमासशुक्लद्वितीयाया ॥ स्पष्टैर[4]शोकतरुकेतकसिदुवारलोलातिमुक्तकलतामदयन्तिकाना । पुष्पोद्गमैरभिनवै रधिगम्य नून-मैक्य विजृम्भितशरे हरपू(धू)तदेहे ॥

२२ मधु[5]पानमुदितमधुकरकुलोपगीतनगनै (णै)कपृथुशाखे । काले नवकुसुमोद्गमदन्तुरकातप्रचुररोदध्रे ॥ शशिनेव नभो विमल कौस्[तु]भमरिणनेव शार्ङ्गिणो वक्ष । भवनवरेण तथेद पुरमखिलमल-कृतमुदारम् ॥ अमलिन[6]शशि—

२३ लेखादन्तुर पिङ्गलाना परिवहति समूह यावदीशो जटाना । विकटकमलमालामशुसक्ता च शार्ङ्गी भवनमिदमुदार शाश्वतन्तावदस्तु॥ श्रेण्या[7]देशेन भक्त्या च कारित भवन रवे । पूर्व्वा चेय[8] प्रयत्नेन रचिता वत्सभट्टिना ।

२४ स्वस्ति कर्तृलेखकवाचकश्रोतृभ्य ॥ सिद्धिरस्तु ॥

अनुवाद

सिद्धि प्राप्त की जा चुकी है । वह सूय आप की रक्षा करें—जो अस्तित्व बनाए रखने के लिए सुरगणो से, तथा सिद्धियो के अभीप्सु सिद्धो[9] से, (तथा) एकाग्र ध्यान मे पूर्णतया लीन (तथा) सासारिक विपयों के प्रति पूर्ण वशीभाव रखने वाले, तथा आत्मा के मोक्ष के इच्छुक एव भक्ति-भाव समन्वित योगियो से, शाप-प्रसादन की क्षमता (प्राप्त करने की इच्छा रखने) वाले, कठिन तपस्या, मे प्रवृत्त मुनियों से पूजित होते हैं, तथा जो विश्व के क्षय तथा (पुन) उसके प्रारम्भ के कारण हैं, उस सूर्य को नमस्कार है—जिन्हें तत्व-ज्ञान को जानने (तथा) प्रयत्न करने पर भी ब्राह्मण ऋषि न समझ सकें, जो सभी दिशाओं मे विकीर्ण (अपनी) किरणो से तीनो लोको का पोपण करते हैं, उदित होने पर जो गन्धर्वो[10], देवताओ, सिद्धो, किन्नरो[11] तथा नरो[12] से स्तूयमान् होते हैं, तथा जो (अपने)

---

१ छन्द, आर्या, तथा अगले श्लोको मे ।

२ स्पृशन् पुल्लिग का प्रथमा विभक्ति का एकवचन है, जबकि गृहम् के साथ यहां नपु सकलिंग के स्पृशत् की आवश्यकता है । किन्तु, यह छन्द के अनुरूप नही है । एकमात्र सशोधन जो छन्द के अनुरूप होगा, वह है पद-रचना म परिवतन करके इसे नभ स्पृशतीव पढना ।

३ पढ़ें, विशत्य् ।

४ छन्द, वसन्ततिलक ।

५ छन्द, आर्या, तथा अगले श्लोक मे ।

६ छन्द, मालिनी ।

७ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ) ।

८ यहा जोडे, प्रशस्ति । द्र०, नीचे पृ० १०७ । टिप्पणी ६ ।

९ सिद्ध, ये अर्ध दैवी प्राणी हैं जिन्हे अत्यन्त पवित्र तथा आठ असामान्य शक्तियो का स्वामी माना जाता है । उनका निवास स्थान आकाश अथवा आकाश तथा पृथ्वी के बीच स्थित अन्तरिक्ष है ।

१० गन्धर्व—दैवी सगीतकार ।

११ किन्नर—पौराणिक प्राणी जिनका शरीर मनुष्य का तथा सिर अश्व का होता है, इन्हें गन्धर्वों मे गिना जाता है तथा ये सगीतज्ञो के रूप मे जाने जाते हैं ।

१२ नर गन्धर्वों तथा किन्नरो के साथ रखे जाने वाले पौराणिक प्राणी ।

भक्तो की इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। दीप्तिमान् किरणो से अलकृत वह सूर्य आपकी रक्षा करे-जो उदयाचल के विस्तीर्ण तथा उत्तुग शिखर पर प्रवाहित होते हुए अपने किरण-जालो के साथ प्रतिदिन प्रतिभासित होते है (तथा) जो मदमत्त स्त्रियो के गालो के समान गहरे लाल रग के हैं।

प० ३—(अपने) पुष्पो के भार से झुके हुए तरुवरो तथा देवताओं के मन्दिरो तथा सभा-भवनो तथा विहारो से शोभायमान (तथा) विभिन्न वनस्पतियो से आवृत्त पर्वतो वाले लाट विषय से-देश के राजाओ के गुणो से प्रत्यक्षत आकृष्ट तथा यात्रादि से उत्पन्न होने वाले अविरल कष्टो पर ध्यान न देते हुए—(रेशमी वस्त्र बुनने की) कला (की दक्षता) के लिए जगत्प्रसिद्ध ये शिल्पी पहले मन मे और फिर (अपनी) सन्तानो तथा बन्धु-बान्धवो को साथ ले कर (प्रत्यक्ष मे) (इस) दशपुर नगर मे आए। (समय-) क्रम से यह (नगर) मत्त-हाथियो के गण्डस्थलो से चूते हुए मद-बिन्दुओ से सिक्त शिलाखण्डो वाले सहस्रो पर्वतो से सुशोभित (तथा) पुष्पावनत वृक्षो रूपी आलकरिक कर्णा-भूषणो को धारण करने वाली पृथ्वी का तिलक सा बन गया। यहाँ[1] कारण्डव पक्षियो से भरे हुए सरोवर-तटीय वृक्षो से गिरे हुए विविध पुष्पो के कारण जिनके किनारो का जल बहुवर्णीय दिखाई पडता है, (तथा) जो प्रस्फुटित कमल-पुष्पो से अलकृत है—सुन्दर लगते हैं। (कुछ स्थानो पर) लोलाय-मान लहरो से विकम्पित कमल-पुष्पो से गिरे हुए रेणुओ को खाते हुए हसो से तथा अन्य स्थानो पर अपने पराग के शरो के विपुल भार से झुके हुए कमलपुष्पों से युक्त सरोवर अच्छे लगते है। यहा के वन अपने पुष्प-भार से अवनत तथा (पुष्परसपान के कारण) मदमत्त भ्रमरो के गुजन से युक्त तरुवरो से तथा नगर से आई हुई निरन्तर गानरत स्त्रियो से सुशोभित रहते हैं। यहा घरो के ऊपर पताकाए हैं (तथा) वे स्त्रियो से युक्त है (तथा) शुभ्र हैं (तथा) बहुत ऊचे हैं जिससे वे विद्युल्लता से प्रकाशित शुभ्र बादलो के शिखर के समान लगते हैं। तथा लता-मण्डपो से युक्त, घरो के ऊपर बने हुए अन्य बड़े भवन सुन्दर लगते हैं जो कि कैलास (पर्वत) की ऊची चोटियो के समान हैं, गन्धर्वों (के गीतो के समान) गीतो से गुजायमान है, विविध चित्रो से युक्त हैं (तथा) दोलायमान कदली-वृक्षो के गुल्मो से अलकृत हैं। यहा, मानो पृथ्वी को फाड कर निकले हुए हो ऐसे कई तलोवाले विमान-पक्तियो के समान (तथा) पूर्ण चन्द्र की किरणो के समान शुभ्रवर्ण वाले भवन है। लोलायमान लहरो से युक्त दो सुन्दर नदियो से आलिगित (होने के कारण) यह (नगर) सुन्दर लगता है मानो यह (भारी) स्तनो वाली प्रीति तथा रति (नामक अपनी पत्नियो) द्वारा एकान्त मे (आलिगित किया जाता हुआ) (भगवान्) स्मर का शरीर हो। प्रकाशमान नक्षत्र गणो से युक्त आकाश के समान यह सत्य, क्षमा, आत्म-नियन्त्रण, शान्ति, धर्म-निष्ठता, पवित्रता, धैर्य, स्वाध्याय, सुचरित्रता, परिष्कार, तथा दृढता आदि गुणो से युक्त (तथा) विद्या और तप मे बढे हुए एव विस्मय के उद्वेग से मुक्त ब्राह्मणो द्वारा प्रतिभासित होता है।

प० ८—इस प्रकार साथ रहते हुए (तथा) (अपने) सुहृदो द्वारा दिन प्रतिदिन अधिकाधिक मित्रता मे लिए जाते हुए (तथा) राजाओ द्वारा पुत्रवत सम्मानित होते हुए वे प्रसन्नतापूर्वक (इस) नगर मे बस गए। उनमे से कुछ (धनुष-प्रत्यचा की टकार से) कानो को मृदु लगने वाली धनुर्विद्या मे प्रवीण (हो गए), सैंकडो उत्कृष्ट कर्मो मे लगे हुए कुछ अन्य विचित्र कथाओ के ज्ञाता (बन गए), सहजतया विनयशील (तथा सम्यक्) धर्मोपदेशो मे रुचि रखने वाले अन्य लोग अपरूप (किन्तु) प्रिय

---

१ प० ८ तक मूल पाठ सम्बन्ध कारक मे है जिसे मैंने अनुवाद मे सुविधा के लिए निरपेक्ष रूप मे परिवर्तित कर दिया है।

२ इनमे से एक निश्चितरूपेण शिवना नदी है जिसके उत्तरी तट पर नगर बसा हुआ है। दूसरी नदी "सुमली" होनी चाहिए जो अब नगर के उत्तरपूर्व मे लगभग तीन मील की दूरी पर शिवना मे प्रवाहित होती है।

बात करने में सक्षम (बन गए), कुछ ने (रेशमी वस्त्र बुनने के) अपने शिल्प मे प्रवीणता प्राप्त की, महत्वाकांक्षियो ने ज्योतिषविद्या मे अधिकार प्राप्त किया, और उनमे से समर-पराक्रमी कुछ अन्य आज भी स्वशक्ति से (अपने) शत्रुओ का नाश करते हैं। इसी प्रकार, बुद्धिमान्, सुन्दर स्त्रियों वाले (तथा) यशस्वी एव पराक्रमी कुलो से सबद्ध कुछ अन्य अपने वंशानुरूप उपलब्धियो से सुशोभित हैं, (अपनी) प्रतिज्ञाओ के प्रति निष्ठावान (तथा) विश्वास-सयुक्त मैत्री मे दृढ कुछ अन्य (अपने) परिचितो पर अनुग्रह करने मे दक्ष हैं। (और इस प्रकार) के लोगो से तथा उन लोगो से-जो सासारिक विषयो के राग पर विजय-प्राप्ति, धर्म शीलता (तथा) विपुलतम अच्छाइयो के स्वामित्व से ससार मे देवतास्वरूप हैं—यह श्रेणी सर्वत सुप्रकाशित है।

प० ११—(जिस प्रकार) तारुण्य तथा सौन्दर्य से युक्त होने पर भी तथा सुवर्ण-हारो, ताम्बूल एव पुष्पो से प्रसाधन हुए होने पर भी कोई स्त्री कौशेय निर्मित वस्त्र-युग्म धारण किए बिना अपने प्रिय से मिलने नही जाता—(तदनुरूप) पृथ्वी का यह सम्पूर्ण भूभाग (मानो आवश्यकता से अधिक) सुस्पर्श, विविध वर्णो के प्रयोग से विचित्रित (तथा) नेत्र सुखद रेशमी वस्त्र से अलकृत है।

प० १२—इस ससार को, (और इसी प्रकार) मानव जीवन तथा (कितना भी अधिक क्यो न हो) धन को विद्याधरियो के वायु द्वारा दोलायमान पल्लवनिर्मित कर्णपूरो के सदृश अस्थिर समझ कर वे इस शुभ (तथा) दृढ निश्चय पर पहुँचे, और तत्पश्चात्[1],-

प० १३—जब कुमारगुप्त (सपूर्ण) पृथ्वी—चारो समुद्रो के किनारे जिसकी लोलायमान मेखला है, सुमेरु तथा कलास (पवत) जिसके भारी स्तन हैं[2], (तथा) काननान्तो से झडे हुए प्रस्फुटित पुष्प जिसकी हसी है—शासन कर रहे थे —

प० १३—राजा विश्ववर्मन् शासक हुआ[3]—जो बुद्धि मे शुक्र तथा बृहस्पति के सदृश था, जो पृथ्वी के सभी राजाओ मे सर्वोच्च बन गया, (तथा) सग्राम मे जिसके कर्म पार्थ (के कार्यो) के सदृश थे, जो दीन लोगो के प्रति अनुकम्पाशील था, जो दु खी तथा आर्त्त लोगो के प्रति अपने वचन का पालन करता था, जो अत्यधिक दयालु था, (तथा) जो (अपने) मित्रो के प्रति कल्पवृक्षस्वरुप था, भयभीत लोगों को अभयदान करने वाला था तथा (स्व-) देश का मित्र था –

प० १४—उसका पुत्र दृढता तथा कूटनीति का स्वामी-, (अपने) बन्धु बान्धवो का प्रिय, अपनी प्रजा के सबधी के सदृश (अपने) बान्धवो की विपत्तियो का निवारक, अपने मानी शत्रुओ के दल का नाशक राजा बन्धुवर्मन् (था)। सुन्दर, युवा, सग्रामपटु विनयशील वह, राजा होने पर भी, राग, विस्मय तथा अन्य (बुरी भावनाओ) से अभिभूत नही होता था, रतिभाव का अवतारूप वह सौन्दर्य मे, आभूषणो से अलकृत न होने पर भी, एक अन्य पुष्पधन्वा (कामदेव)

---

१ सदभ प० १६ मे अकित "अशुमान् (सूय) का एक सुन्दर (तथा) अप्रतिम मदिर बनवाया गया' इ० है, बीच मे आयी हुई सामग्री निक्षिप्त अश के रूप मे है।

२ तु०, बृहत्सहिता, ४३, ३५, जहा कि उदयाचल तथा अस्ताचल को पृथ्वी के होठ तथा हिमालय एव विन्ध्य को उसके स्तन बताया गया है। ४४७ वर्ष मे तिथ्यकित शीलादित्य सप्तम् के अलीन दानलेख (नीचे स० ३६, प्रति० २५) की प० ३४ तुलनीय है जिसमे सह्य और विन्ध्य पवतो को पृथ्वी मे स्तन बताया गया है। इस प्रकार की उपमाए असदिग्धरूपेण उन राज्यों के विस्तार पर आधारित होती थी जिनमें उनके रचयिता निवास करते थे।

३ यह भी निक्षिप्त अश है क्योंकि पूववर्ती श्लोक का सदर्भ पं० १४ इ० मे चर्चित बन्धुवर्मन् का विवरण है।

के सदृश था। आज भी वैधव्य की दारुण पीडा से दुखी (इसके) शत्रुओ की आयतलोचना सुन्दरी स्त्रिया उसके विषय मे सोचती हैं, वे भय के कारण इस प्रकार कापती है कि उनके दृढ तथा घन स्तन थक जाते हैं।

प० १६—राजश्रेष्ठ, दृढ-स्कन्ध[1], उदार बन्धुवर्मन् इस अति समृद्ध नगर दशपुर पर शासन कर था, उस समय (अपने) शिल्प (सबंधी कार्य-व्यापार) से विपुल धन-संग्रही तथा एक श्रेणी मे सगठित कौशेय-वस्त्र-बुनकरो ने अशुमान् (सूर्य) का सुन्दर (तथा) अप्रतिम मन्दिर बनवाया—(ऐसा मदिर) जिसके विस्तीर्ण तथा उच्च शिखर हैं (तथा) पर्वतोपम (तथा) उदित चन्द्र के किरणपुज के समान शुभ जो (इस) पाश्चात्य नगर के (उपयुक्त स्थान पर) लगे हुए चूडामणि के सदृश नेत्रो को मनोहर लगता हुआ प्रकाशित होता है।

प० १७—उस ऋतु मे[2]—जो कि मनुष्यो को अपनी (सुन्दरी) प्रियतमाओ से मिलाता है, जो घाटियो मे (चमकते हुए) सूर्य की किरणो की उष्णता के कारण सुखकर लगता है, जिसमे मछलिया जल मे बहुत नीचे रहती हैं, जो (शीत के कारण) चन्द्र-रश्मियो, गृहो के विस्तीर्ण छतो (पर खुली हवा मे बैठने), चन्दन ताड-पत्र के पखो तथा हारो के भोग से रहित है, जिसमे कमल-पुष्प हिमपात से जल जाते हैं, जो रोध्र[3] तथा प्रियगु-वृक्षो[4] तथा कुन्दलताओ के सुविकसित पुष्पो के रस-पान से प्रसन्न हो कर गुजार करते हुए भ्रमरो से मनोहारी लगता है, जिसमे तुषारकणो द्वारा कठोर तथा शीतल बनाए गए वायु-वेग से लवली-वृक्ष[5] तथा नगणा[6] नामक झाडियो की शाखाए नृत्य सी करती हैं, (तथा) जिसमे तुषारपात तथा हिमपात (के कारण उत्पन्न शीत) पूर्णतया काम के वश मे हुए युवा-पुरुषो तथा उनकी प्रियायो के भारी, सुन्दर तथा सुपुष्ट स्तनो तथा जघनस्थलो के गाढ आलिंगन से समाप्तप्राय होता है,—जबकि मालव-गण-सरचना (के समय प्रारम्भ होने वाली गणना) से चार सौ तिरानवे वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, उस ऋतु मे उस कि मेघो के मृदु गर्जन का (जो कि पुन ग्रीष्मागमन का परिचायक है) स्वागत होता है, सहस्य मास के शुक्ल पक्ष के तेरहवें शुभ दिन पर मागलिक अनुष्ठान के साथ यह मदिर सस्थापित हुआ।

प० १९—तथा, दीर्घ काल व्यतीत हो जाने पर अन्य शासको के अन्तर्गत इस मदिर का कुछ भाग जीर्ण-शीर्ण हो गया, अत, अपनी कीर्ति-वृद्धि के उद्देश्य से इस दानशील श्रेणी ने इस उत्कृष्ट सूर्य-मदिर का सपूर्णत जीर्णोद्धारकार्य कराया—(इस मदिर का) जो अत्यन्त ऊचा तथा शुभ्र है, जो (अपने) मनोहरी शिखरो द्वारा आकाश का स्पर्श सा करता है, (तथा) जो (उनके) उदय होने के समय चन्द्रमा तथा सूर्य की निर्मल किरणो का श्रान्ति-स्थल है। इस प्रकार, जब कि पाच सौ उनतीस वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, तपस्य मास के शुक्ल पक्षीय मनोहारी द्वितीय चान्द्र-दिवस पर, उस

---

१ शब्दश, "ऊचे कन्धो वाला"।

२ अर्थात्, हेमन्त ऋतु अथवा जाडा जिसमे मार्गशीर्ष (नवम्बर-दिसम्बर) तथा पौष अथवा सहस्य (दिसम्बर-जनवरी) ये दो महीने सम्मिलित होते हैं।

३ रोध्र, जिसे लोध्र भी लिखा जाता है, वनस्पतिशास्त्र मे Symplocos Racemosa नामक वृक्ष।

४ प्रियगु, औषधीय पौधा तथा सुगन्धि, वनस्पतिशास्त्र का Panicum Italicum, Sinapis Ramosa, केशर।

५ लवली, वनस्पतिशास्त्र का Averrhoa acida।

६ नगणा; वनस्पतिशास्त्र का Cardiospermum Halicacabum।

ऋतु मे[1]—जब कि शिव द्वारा नष्ट-शरीर (कामदेव) अशोक[2], केतक[3] तथा सिन्दुवार वृक्षो[4] एव दोलायमान अतिमुक्तक[5] लताओ तथा जगली कुन्दपादपो मे नूतन प्रस्फुटित पुष्पो के साथ एकता स्थापित करते हुए (अपने) शरो (की पाच सख्या) मे वृद्धि कर देता है, जब कि नगरण झाडियो की शाखाए मधुपान से प्रमुदित भ्रमरो के गु जन से भर जाती हैं, (तथा) जब कि सुन्दर तथा प्रचुर रोध्र वृक्ष (अपने) नए प्रस्फुटित पुष्पो के साथ कभी आगे पीछे दोलायमान होते हैं,—उस समय यह सुन्दर नगर सपूर्णत (इस) श्रेष्ठतम मन्दिर द्वारा अलकृत हुआ, ठीक उसी प्रकार जैसे कि मेघरहित आकाश चन्द्रमा से तथा (भगवान) शार्ङ्गिन् का वक्ष स्थल कौस्तुभ-मणि से शोभित होता है। जब तक (भगवान्) ईश (अपने ललाट पर) प्रवाहित निमल चन्द्रिका के साथ अपनी पिंगलवर्णी जटा धारण करते हैं, तब तक यह मदिर-श्रेष्ठ चिरजीवी हो।

प० २३—श्रेणी की आज्ञा से तथा भक्तिपूर्वक (यह) सूर्य-मन्दिर बनवाया गय, तथा यह पूर्ण लिखित (प्रशस्ति)[6] वत्सभट्टि द्वारा सावधानीपूवक रची गई। इसके रचयिता, उत्कीर्णक तथा तथा जो (इसे) पढ़ते अथवा श्रवण करते हैं उनका कल्याण हो! सिद्धि हो।

---

१ अर्थात् शिशिर ऋतु जिसमे माघ (जनवरी फरवरी) तथा फाल्गुन अथवा तपस्य (फरवरी-मार्च) मास सम्मिलित होते है।

२ अशोक, वनस्पतिशास्त्र का Jonesia Asoka।

३ केतक, वनस्पतिशास्त्र का Pandanus Odaratissimus।

४ सिन्दुवार, वनस्पतिशास्त्र का Vitex Negundo नामक वृक्ष अथवा झाडी।

५ अतिमुक्तक, सफेद पुष्पो वाला कोई वृक्ष, लता अथवा झाड़ी।

६ प्रशस्ति। प्रस्तराकित लेखों के लिए यह एक परम्परात्मक पारिभाषिक शब्द था। इसे यहां अपनी ओर से जोडना है, किन्तु इसका प्राय व्यवहार मिलता है, उदाहरणार्थ, आदित्यसेन के अफसड अभिलेख (नीचे स० ४२, प्रति० २८) को प० २७ मे। ताम्रपत्रांकित राजपत्र के अर्थ मे इसके प्रयोग का एकमात्र दृष्टान्त जो मुझे ज्ञात है, वह है वर्ष १२८ मे तिथ्यकित महाराज इन्द्रवर्मन् के "चिकाकोल" दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १३, पृ० १२१) की पं० २०–२१।

सं० १९; प्रतिचित्र १२ क

बुधगुप्त का एरण प्रस्तर-स्तम्भ

वर्ष १६५

यह अभिलेख १८३८ मे अभियान्त्रिकी के कैप्टेन टी० एस० वर्ट द्वारा पाया गया तथा जन-सामान्य को इसके विषय मे उसी वर्ष जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ७, पृ० ६३३ इ० के माध्यम से पता चला जिसमे श्री जेम्स प्रिसेप ने लेख का अपना पाठ एव इसका अनुवाद[1] प्रकाशित किया और साथ मे कैप्टेन वर्ट द्वारा तैयार की गई स्याही छाप के आधार पर बना एक शिलामुद्रण (वही, प्रति० ३१) भी दिया। १८६१ मे उसी पत्रिका के जि० ३० पृ० १७ इ० मे डा० फिट्जएडवर्ड ने मूल स्तम्भ से तैयार किया गया अपना सशोधित पाठ और इसका अनुवाद प्रकाशित किया। और अन्तत १८८० मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ८२ मे डा० हाल के अनुवाद का पुनर्प्रकाशन करते हुए यह मत व्यक्त किया कि प० ३ मे अकित वे अक्षर, जिनमे श्री प्रिसेप ने सुराष्ट्रो का उद्धरण पाया था तथा जिसे डा० हाल ने ससुरूभू पढा एव "देवताओ का प्रिय प्रदेश" अनुवाद किया, वस्तुत अको मे दी गई तिथि की पुनरावृत्ति करते हैं—स्वय डा० हाल ने जनर्ल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३१, पृ० १२७, टिप्पणी मे यह बात-यद्यपि विना विशेषकरण के-कही थी।

सेन्ट्रल प्राविंसेज मे सागर जिले मे खुराई तहसील मे स्थित एरण से प्राप्त होने वाला यह दूसरा लेख है[2]। यह लेख एक बडे खण्डहीन लाल वालुकाश्म के निचले तथा चौकोर भाग के पश्चिमी मुख पर अकित है, यह स्तम्भ गाव के पश्चिम मे लगभग डेढ मील की दूरी पर स्थित कुछ मन्दिरो द्वारा निर्मित समूहन के निकट स्थित है तथा इसकी स्थिति को देखते हुए ऐसा जान पडता है कि यह विशिष्टरूपेण उस छोटे दुमजिले मदिर से सबद्ध था जिसे जनरल कनिंघम ने लक्ष्मीमदिर[3] का नाम दिया तथा जो वराह मदिर से-जिसमे कि तोरमाण का प्रसिद्ध लेख अकित है (नीचे स० ३६)-बीच मे आए विष्णु मदिर द्वारा पृथक् होता है।

लिखिताश को, जो कि लगभग २ फीट ६½ इच चौडा तथा १ फीट ७½ इच ऊचा स्थान घेरता है, कई स्थानो पर ऋतु-प्रभाव के कारण पर्याप्त हानि पहुची है, किन्तु मूल स्तम्भ पर पूरे लेख को-सिवाय बाई ओर के कुछ अक्षरो को छोड कर जो पत्थर के किनारे पर उपकरणो को तेज करने के कारण टूट गए है—निश्चिततापूर्वक पढा जा सकता है। अभिलेख की सबसे नीचे की पक्ति स्तम्भ के आधाररूप अधिष्ठान से ३ फीट ३ इच की ऊचाई पर है। अक्षरो का आकार ½ इच से लेकर ¾ इच तक मिलता है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के है, ये कुछ विषयो मे समुद्रगुप्त के मरणोपरान्त लिखित इलाहबाद-स्तम्भ-लेख (ऊपर स० १, प्रति० १) के अक्षरो से मिलते जुलते हैं तथा अन्य विषयो

---

१ इस अनुवाद का टामस द्वारा सपादित प्रिंसेप्स एसेज जि० १, पृ० २४९ पर पुनर्प्रकाशन हुआ है।

२ द्र०, ऊपर पृ० २२, तथा टिप्पणी १।

३ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ८७, तथा प्रति० २५ तथा २६।

मे चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा अभिलेख (स० ४, प्रति० ३ क) मे अकित अक्षरो के समान हैं, किन्तु इनमे कुछ विकास तथा अन्तर भी दिखाई पडता है, जिसका कारण अशत लेख की बाद की तिथि है और अशत उस क्षेत्रविशेष का प्रभाव है जिससे कि ये अक्षर सबद्ध है। मेरा विचार है कि इसे उस वर्णमाला-प्रकार का नाम देना चाहिए जो मध्य भारत मे पाचवी शताब्दी ई० के अन्त मे प्रचलित थी एव उत्तरी वर्णमाला की विशिष्टताओ से युक्त थी। एक सयुक्ताक्षर के प्रथम भाग के रूप मे अक्षर र कभी कभी लेखन की ऊपरी पक्ति के अन्दर ही आता है, उदाहरणार्थ प० १ मे अकित अर्ण्णव मे और कभी कभी उसके ऊपर आता है, उदाहरणार्थ उसी प० मे अकित पर्य्यङ्क मे। इन अक्षरो मे, प० ३ मे ५, ६० तथा १०० अक सम्मिलित है। वर्ण विन्यास के प्रसग मे ध्यान रखने योग्य विशिष्टताए हैं—अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर त का सदैव द्वित्व होना, उदाहरणार्थ, प० ५ अकित मैत्त्रायणीय मे, प० ६ मे अकित पौत्त्रेण मे तथा प० ८ मे अकित पित्त्रो मे।

अभिलेख स्वय को बुधगुप्त के शासनकाल मे रखता है जिसका सामन्त महाराजा सुरश्मिचन्द्र कालिन्दी अथवा यमुना नदी तथा नर्मदा नदी के बीच मे स्थित भूप्रदेश पर शासन कर रहा था। इसकी तिथि, जो शब्दो मे पूर्णत तथा अको मे अशत अकित है, वर्ष एक सौ पैंसठ (ईसवी सन् ४८४-८५) मे आषाढ मास (जून-जुलाई) के शुक्ल पक्ष का बारहवा दिन, तथा सुरगुरुवार अथवा बृहस्पतिवार है। यह वैष्णव अभिलेख है। तथा इसका उद्देश्य मातृविष्णु नामक एक महाराज तथा उसके अनुज धन्यविष्णु द्वारा, जनार्दन नाम के अन्तर्गत, भगवान् विष्णु का ध्वज-स्तम्भ[1] कथित एक स्तम्भ-सस्थापन का लेखन है।

मूल-पाठ[2]

१ जयति[3] विभुश्चतुर्भु जश्चतुरर्ण्णवविपुलसलिलपर्य्यङ्कः जगत स्थित्युत्पत्तिन्य [यादि[4]]—

२ हेतुर्गरुडकेतु [॥*] शते पञ्चषष्ट्यधिके वर्षाणा भूपतौ बुधगुप्ते। आषाढमासशु [ॢक्ल]—

३ द्वा[5]दश्या सुरगुरोर्द्दिवसे। (॥) स १०० ६० ५ [॥*] कालिन्दी[6]नर्म्मदयोर्म्मध्य पालयति लोकपालगुर्णैर्ज्जगति महार्[ाज]—

४ श्रियमनुभवति सुरश्मिचन्द्रे च। (॥) अस्या सवत्सरमासदिवसपूर्व्वाया[7] स्वकर्म्माभिरतस्य क्रतुयाजि [न]

५ अधीतस्वाध्यायस्य विप्रर्षेर्म्मैत्रायणीयवृषभस्येन्द्रविष्णो प्रपौत्त्रेण पितुर्गु णानुकारिणो वरुण [ि] वष् [णो]

---

१ तु०, मेहरौली स्तम्भ (नीचे स० ३२, प्रति० २१ क, पक्ति ६) के लिए प्रयुक्त शब्द ध्वज।

२ मूल प्रस्तर खण्ड से।

३ छन्द, आर्या, तथा अगले श्लोक मे। इस श्लोक तथा दूसरे श्लोक के प्रथम पाद मे हम बारह मात्राओ की उपयुक्त सख्या मिलती है, किन्तु ये छन्द के सामान्य नियम के अनुरूप नही व्यवस्थित हैं।

४ नष्ट अक्षरो के पुनर्स्थापन में मैंने डा० हाल का सुझाव स्वीकार किया है। अतिम पठनीय अक्षर मे अक्षर का निचला भाग य पूर्णत स्पष्ट है तथा इसके ऊपर का भाग टूटा हुआ न जान पडता है, तथा, नष्ट अक्षरो के लिए यादि रखने पर छन्द तथा अर्थ दोनो की अपेक्षाओ की पूर्ति होती है।

५ यह अक्षर कुछ टूटा हुआ है, किन्तु, यह अत्यन्त स्पष्टत द्वा है। प्रिंसेप का अयोदश्या पाठ यदि अन्य किसी आधार पर नहीं तो छन्द के आधार पर अशुद्ध सिद्ध होता।

६ छन्द, आर्या।

७ जोड़ें, तिथौ।

६ पौत्रेण पितरमनुजातस्य स्ववंशवृद्धिहेतोर्हरिविष्णोः पुत्रेणात्यन्तभगवद्भक्तेन विधातुरिच्छया स्वयंवरयेव र् [ा[ज—

७ लक्ष्म्याधिगतेन चतु समुद्रपर्य्यन्तप्रथितयशसा अक्षीणमानधनेनानेकशत्रुसमरजिष्णुना महाराज मातृविष्णुन् [ा]

८ तस्यैवानुजेन तदनुविधायिन् [ा] तत्प्रासाद परिगृ[ही] तेन धन्यविष्णुना च । मातृ (ता) पित्रो पुण्याप्यायनार्थमेष भगवत ।[1]

९ पुण्यजनार्द्दनस्य जनार्द्दनस्य ध्वजस्तम्भोऽभ्युच्छ्रित [।।*] स्वस्त्यस्तु गोब्राह्मण-प् [ु] रोगाभ्य सर्व्वप्रजाभ्य इति । (।।)

अनुवाद

चतुर्भुज (भगवान् विष्णु) —चारो समुद्रो का जल जिनकी शैय्या है, जो विश्व के पोषण, उत्पत्ति तथा सहार इ० के कारण है, (तथा) गरुड जिनका चिन्ह है—की विजय है।

प० २ —वर्ष एक सौ पैंसठ मे, तथा जब कि बुधगुप्त राजा (हैं), आषाढ मास के शुक्ल पक्ष के बारहवे चन्द्र-दिवस पर, सुरगुरु के दिन[2], (अथवा अंको मे) वर्ष १०० (तथा) ६० (तथा) ५ -

प० ३—तथा जब कि विश्व के एक लोक का रक्षक,[3] गुणो से युक्त सुरश्मिचद्र कालिन्दी तथा नर्मदा (नदियो) के बीच (स्थित भूप्रदेश) पर शासन कर रहा है (एव) विश्व मे महाराज (होने) की महिमा का भोग कर रहा है —

प० ४—ऊपर बताए गए वर्ष, मास तथा दिन (द्वारा विशेषित) इस (चान्द्रदिवस) पर, महाराज मातृविष्णु द्वारा —जो भगवान् का परम भक्त है, विधातृ (देव) की इच्छा से, प्रभुसत्ता की देवी ने (पति-वरण करने मे) जिसके प्रति अभ्युपगमन किया, मानो (स्वय अपनी इच्छा से) कोई कुमारी कन्या (उसका) (अपने पति के रूप मे) वरण कर रही हो, जिसका यश चारो समुद्रो तक फैला हुआ है, जो क्षीण न होने वाले सम्मान तथा धन का स्वामी है, (तथा) जो विविध शत्रुओ के साथ हुए युद्ध मे विजयी हुआ है, —जो कि स्वकर्त्तव्यरत, यज्ञ-सम्पादक, (शास्त्रो का) स्वाध्याय करने वाले, ब्रह्मर्षि (तथा) मैत्रायणीय (शाखा) के (अनुयायियो मे) सर्वश्रेष्ठ इन्द्रविष्णु का प्रपौत्र है, जो कि (अपने) पिता के उदार गुणो का अनुकरण करने वाले वरुणविष्णु का पौत्र है, (तथा) जो सुन्दर गुणो मे (अपने) पिता के प्रतिरूप-स्वरूप[4] अपने वश की वृद्धि के कारण हरिविष्णु का पुत्र है,

---

१ यह चिन्ह अनावश्यक है।

२ अर्थात्, "बृहस्पतिवार के दिन"। सुरगुरु (= "देवताओ के गुरु") बृहस्पति का अन्य नाम है और इसी से इसदिन का प्रचलित नाम बृहस्पतिवार व्युत्पन्न हुआ है।

३ लोकपाल। लोकपालो की सख्या कभी कभी आठ मानी जाती है १ पूर्व मे इन्द्र, २ दक्षिण-पूर्व मे अग्नि, ३ दक्षिण मे यम, ४ दक्षिण-पश्चिम मे निऋति, अथवा कभी कभी सूर्य, ५ पश्चिम मे वरुण, ६ उत्तर-पश्चिम मे वायु, ७ उत्तर मे कुवेर, तथा ८ उत्तर-पूर्व मे ईशान, अथवा कभी कभी चन्द्र। और कभी कभी यह सख्या चार बताई गई है इनमे ऊपर से स० १, ३, ५ तथा ७ सम्मिलित किए जाते है।

४ पितरमनुजातस्य। डा० हाल ने जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी जि० ३०, पृ० १३९, टिप्पणी मे इस पद को सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी में उद्धृत पचतन्त्र के निम्न अवतरण के आधार पर व्याख्यायित किया

क—बुधगुप्त का एरण स्तंभ-लेख—वर्ष १६५

फलक २१

ख—गोपराज का भानुगुप्तकालीन एरण स्तंभ-लेख —वर्ष १९१

फलक २२
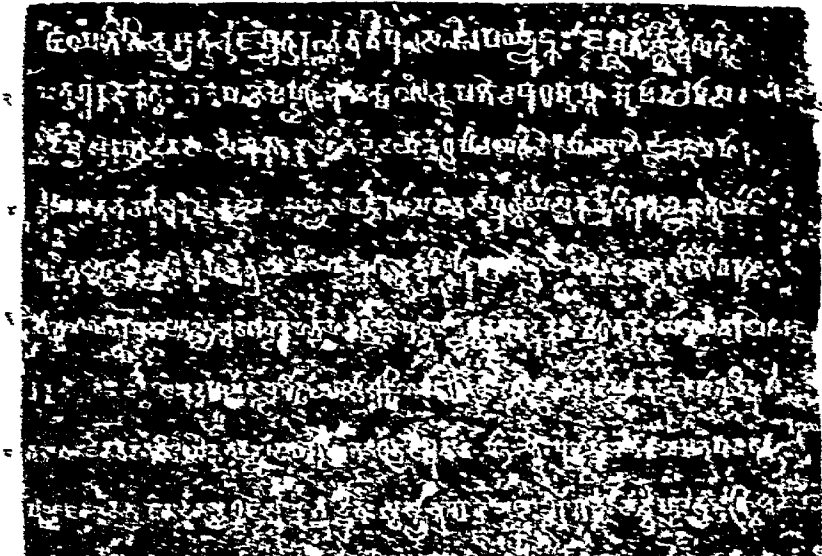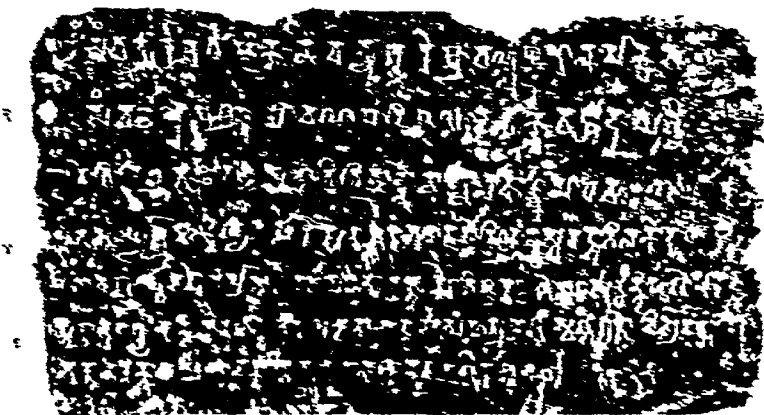
प० ८—(उसके द्वारा) तथा उसके अनुज धन्यविष्णु द्वारा जो कि उसका आज्ञापालक है (तथा) अनुग्रह पूर्वक उसके द्वारा स्वीकृत हुआ है —असुर-पीडक[1] भगवान् जनार्दन का यह ध्वज-स्तम्भ (अपने) माता-पिता की पुण्य-वृद्धि के उद्देश्य से सस्थापित किया गया।

प० ९—प्रथमत गायो तथा ब्राह्मणो से युक्त समस्त प्रजा समृद्धिशाली हो।

जात पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च ।
अपजातश्च लोकेऽस्मिन् मन्तव्या शास्त्रवेदिभि ॥
मातृतुल्य गुणो जातस्त्वनुजात पितु सम ।
अतिजातोऽधिकस्तस्मादपजातोऽधमाधम ॥

अर्थात् "शास्त्रज्ञो द्वारा मनुष्यों मे (पुत्रों के विभिन्न प्रकारों मे) जातपुत्र, अथवा अनुजात, अथवा अतिजात, अथवा अपजात पुत्र माने गए हैं। माताके समान (गुणो वाला) जात (है), (अपने) पिता के समान (गुणोंवाला) अनुजात (है), (पिता से गुणो मे) बढा हुआ अतिजात है, (तथा) (उससे) सर्वथा कम गुणो वाला अपजात (है)।

१ पुण्यजन—शब्दश "अच्छा, धार्मिक तथा शुभकर्मी व्यक्ति", यह "अतिमानवीय वर्ग के प्राणियो भूत-प्रेत, पिशाच असुर" का भी अर्थ देता है।

सं० २०, प्रतिचित्र १२ख

गोपराज का मरणोपरान्त लिखित एरण प्रस्तर-स्तम्भ-लेख

वर्ष १६१

अब तक अप्रकाशित यह लेख १८७४-७५ अथवा १८७६-७७ मे जनरल कनिंघम द्वारा पाया गया तथा जनसामान्य का इसके प्रति ध्यानाकर्षण उन्होने १८८० मे, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ८६ इ० मे किया।

सेन्ट्रल प्राविंसेज मे सागर जिले के खुरई तहसील मे स्थित एरण[1] से प्राप्त होने वाला यह अन्य अभिलेख है। लेख एक छोटे स्तम्भ पर अंकित है जिसे कालान्तर मे शिव-लिंग मे रूपान्तरित कर दिया गया यह स्तम्भ बीना नदी के बाए तट के निकट खड़े कुछ ऊचे पेडो के नीचे एरण से दक्षिण-पूर्व मे लगभग आवे मील की दूरी पर है तथा एरण एव इसके निकटवर्ती गांव पेहेलेजपुर[2] की बीचोबीच मे पडता है। स्तम्भ का मूल निचला भाग अब टूट चुका है तथा अप्राप्य है, इसका अवशिष्ट भाग लगभग ३ फीट ११ इच ऊचा है तथा परिधि १फीट ६ इच है। नीचे का भाग अष्टपक्षीय है तथा अभिलेख इस अष्टपक्षीय भाग के शीर्षस्थ अश मे आठ पक्षो मे से केवल तीन पक्षो पर अंकित है, प्रत्येक पक्ष लगभग ७ इच चौडा है। सबसे नीचे की पंक्ति भूस्तर से लगभग ६ इच की ऊचाई पर है। इसके ऊपर स्तम्भ षोडश्पक्षीय है, और इन पक्षो पर पुरुपो तथा स्त्रियो की आकृतिया बनी हुई मिलती है जो सभवत गोपराज तथा उसकी पत्नियो तथा मित्रो का निर्देश करती है, लेख के मध्य-भाग के ठीक ऊपर के भाग मे एक पुरुष-आकृति तथा एक स्त्री-आकृति बैठी हुई बनी मिलती है जो गोपराज तथा उसकी पत्नी की आकृतिया होनी चाहिए। इसके ऊपर स्तम्भ पुन षोडश्पक्षीय है। इसके ऊपर यह एक बार फिर अष्टपक्षीय है, और इस भाग के दो पक्षो पर चार पंक्तियो वाले एक लेख का अश मिलता है जो सर्वथा अपठनीय है तथा जिसके अक्षर सम्प्रति प्रकाशित होने वाले लेख के अक्षरो के समान हैं। इसके ऊपर स्तम्भ सोलह खारियो मे मुड कर वृत्ताकार शीर्ष भाग बनाता है। कालान्तर मे इसके साथ एक प्रक्षालन-द्रोणिका सलग्न कर स्तम्भ को एक लिंग का रूप दे दिया गया, यह नया निर्माण कार्य उस भाग मे जोडा गया जहा कि लेख अंकित था, और इसे तोडने के उपरान्त ही का बडा भाग दृष्टिगोचर हो सका।

लेख को, जो लगभग १ फीट ६ इच चौडा तथा ११ इच ऊचा स्थान घेरता है, ऋतु-प्रभाव से तथा पत्थर के किनारो पर उपकरणो के घिसे जाने से पर्याप्त हानि पहुची है, किन्तु मूल स्तम्भ पर लगभग सपूर्ण लेख ठीक ठीक पढा जा सकता है, तथा ऐतिहासिक महत्व की जो सूचनाए नष्ट हो गई हैं वे केवल प० २ मे गोपराज के पिता का तथा उसके कुल का नाम हैं। अक्षरो का आकार ⅜इच से ले कर ⅝ इच तक मिलता है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के है, तथा उतने सुन्दर ढग से नही बने होने पर भी वे ठीक ठीक बुधगुप्त के एरण स्तम्भ लेख [ऊपर स० १६, प्रति० १२क] मे अंकित

---

१ द्र०, ऊपर पृ० २२, तथा टिप्पणी १

२ जनरल कनिंघम के मानचित्र का 'Pahlechpur' (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, प्रति० २३)।

अक्षरो के ही प्रकार के हैं। पक्ति ५ मे पार्थ मे तथा प० ७ मे अकित भार्या मे, सयुक्ताक्षर के प्रथमाश के रूप मे र अक्षर शीर्षस्थ पक्ति के अन्दर आया है, किन्तु प० ५ मे अकित सार्द्धम् मे यह पक्ति के ऊपर आया है। इन अक्षरो मे, प० २ मे अक १,७,६० तथा १०० का अकन भी म्मिलित है। भाषा सस्कृत है तथा प० २ मे अकित तिथि के अन्त तक लेख गद्य मे है एव शेष भाग पद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे केवल निम्न विशिष्टताए उल्लेखनीय हैं १ प० १ तथा ४ मे अकित वङ्श मे श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग, तथा २ अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर क तथा त का द्वित्व, उदाहरणार्थ, प० ३ मे अकित विक्क्रान्त तथा पुत्त्र।

अभिलेख-जो स्वय को किसी राजाविशेष के शासनकाल मे नही रखता-शब्दो तथा अको दोनो मे, वर्ष एक सौ इक्यानवे मे (ईसवी सन् ५१०–११), श्रावण (जुलाई-अगस्त) मे मास के कृष्णपक्षीय सातवें चान्द्रदिवस तथा सौर दिवस[1] से तिथ्यकित है। यह किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित लेख नही है। इस लेख का तात्पर्य केवल इसका लेखन है कि भानुगुप्त नामक शक्तिशाली राजा के साथ गोपराज–जो कि एक सेनापति अथवा सामन्त था—स्तम्भ के स्थान तक आया तथा उसने एक युद्ध किया, कि गोपराज मारा गया, तथा यह कि उसकी पत्नी चिता की प्रज्वलित अग्नि मे कूद कर उसकी अनुगामिनो बनी[2]।

---

१ शब्दा द्वारा किए गए तिथ्यकन के अश मे अकित सप्तमी शब्द चान्द्र तिथि का निर्देश करता है, इसके साथ अको वाले तिथ्यकन के अश मे दि-जो दिन, दिने, दिवस अथवा दिवसे का सक्षिप्त रूप है–के प्रयोग मे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां यह दिन चान्द्र दिवस तथा सौर दिवस दोनो ही रूपो मे अभिप्रेत है। सक्षेपन दि के पूर्व ब अकित है जो बहुलपक्ष अथवा बहुलपक्षे का द्योतक है। कभी कभी ब के स्थान पर हमे व मिलता है—उदाहरणार्थ, महाराज विनायकपाल के बगाल एशियाटिक सोसायटी के दानलेख की प० १७ मे अ कित सम्वत्सरो (एव लिखित) १०० ८० ८ फाल्गुन व दि ६ (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० १४१), इस दृष्टान्त मे, इस लेखविशेष के सामान्य वर्णविन्यास के अनुसार, व को ब के स्थान पर अ कित मानना होगा, अथवा यह वद्य का सक्षेपन हो सकता है जो कि बहुल का पर्याय है तथा जो वतमान काल मे भी पर्याप्त प्रचलित है, यद्यपि प्राचीनकाल म इसका प्रचलन नही था। शुक्ल पक्ष के द्योतक की तदनरूप विधि सक्षेपन शु का प्रयोग है, जो शुक्ल अथवा शुद्ध का परिचायक है तथा उसी प्रकार पक्ष अथवा पक्षे के साथ लिखा जाता है—उदाहरणार्थ, महानामन् के बोधगया अभिलेख (नीचे स० ७१ प्रति० ४१क) की प० १४ में सम्वत् २०० ६० ६ चैत्र शु दि ८। शु दि तथा ब दि अथवा व दि इन सक्षेपनो को प्राय इस प्रकार उद्धृत किया गया है मानों वे स्वय मे शब्द हो (शुदि, बदि, वदि) जिनका अर्थ क्रमश "शुक्ल पक्ष" तथा "कृष्ण पक्ष" है। तथा, अपने सस्कृत शब्दकोश म मोनियर विलियम्स ने वदि को एक अव्यय के रूप में दिया है जिसका अर्थ है 'मास के कृष्ण पक्ष मे', साथ मे यह कहा है कि कुछ लोगा के अनुसार यह बदि के लिए प्रयुक्त होता है और यह बहुलदिन का सकुचित रूप है किन्तु साथ मे उन्होने अपना यह मत दिया है कि यह वद्य का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु मुझे इसमें सदेह है कि सक्षेपनो के रूप मे भी इनका प्रयोग करते समय स्वय हिन्दुओ ने इन्हें पूर्ण शब्द माना है। और यह उल्लेखनीय है कि मोलसवर्थ तथा कैन्डी के मराठी शब्दकोश में–जो पर्याप्त व्यापक है—ये न तो सक्षेपनो के रूप मे और न ही शब्दों के रूपो मे सम्मिलिष्ट किए गए हैं। यदि इन सक्षेपनो का शब्दों के रूप मे प्रयुक्त करने की आधुनिक प्रथा प्रमाणित भी हो जाय तो भी यह प्रयोग अशुद्ध है। मूलत ये अक्षर विशिष्ट तथा परस्पर पृथक् सक्षेपनो के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिनमे प्रथम मास के पक्ष का तथा द्वितीय मास अथवा पक्ष के दिन का द्योतक है। तथा, किसी भी प्राचीन लेख के अध्ययन के प्रसग से इसी दृष्टिकोण से उस पर विचार किया जाना चाहिए।

२ अर्थात् जनसामान्य की भाषा मे वह सती हो गई। विधवाओं के पति के साथ जलने के इस प्राचीन दृष्टान्त के साथ हम भगवानलाल इन्द्रजी के, मानदेव से सम्बद्ध, नेपाल अभिलेख स० १ मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी,

मूलपाठ[1]

१ ओम् सवत्सरशते एकनवत्युत्तरे श्रावणबहुलपक्षसप् [त]म्य्[ा]
२ सवत् १०० ९० १ श्रावण ब[2] दि ७ ॥[—] ल(?)क्ष[3] वड्शादुत्पन्नो [——]
३ राजेतिविश्रु्त तस्य पुत्त्रोऽतिविक्कान्तो नाम्ना राजाथ माधव ॥ गोपराज [ ]
४ सुतस्तस्य श्रीमान्विख्यातपौरुष शरभराजदौहित्र स्ववंशतिलकोऽघ्रु (?) ना (?) [॥]
५ श्री[4]भानुगुप्तो जगति प्रवीरो राजा महापार्थसमोऽतिशूर तेनाथ सार्द्धन्त्विह गोपर्[ा]ज्[ो]
६ मित्त्रानुव(?)त्या (?) र(?) किलानुयात ॥ कृत्वा [च*] य् [्]द्ध सुमहत्प्रक्[ा] श स्वर्गं गतो दिव्यनरे (?) [न्द्रकल्प]
७ भक्तानुरक्ता च[5] प्रिया च कान्ता भ्[ा]र्[य्]ा[व] लग् [न्]ानुगताग्[न्]र्[ा]शिम् ॥

अनुवाद

ओम् ! वर्ष एक सौ इक्यानवे मे, श्रावण (मास) के कृष्ण पक्ष के सातवें चान्द्र दिवस पर, (अथवा अंको मे) वर्ष १०० (तथा) ९० (तथा) १, श्रावण (मास), कृष्ण पक्ष, दिवस ७—

प० २—''लक्ष (?) कुल मे उत्पन्न राज नाम से विख्यात एक राजा (था); तथा माधव (के) नाम वाला अत्यन्त पराक्रमी शासक उसका पुत्र (था)।

प० ३—उसका पुत्र पौरुष के लिए विख्यात श्रीमान् गोपराज था, जो कि शरभराज का दौहित्र था, जो अब (?) भी (अपने) कुल के आभूषणस्वरूप है।

प० ५—पृथ्वी पर परमवीर, प्रतापी शासक, पार्थ के समान तथा अत्यन्त पराक्रमी श्री भानुगुप्त (हैं), तथा इनके साथ गोपराज ने" (अपने) मित्रों का अनुगमन किया (और) यहा (आया)। [तथा*] अत्यन्त प्रसिद्ध युद्ध लड कर वह[6]–जिसके दिव्य [शासक (इन्द्र)] [के सदृश] होने मे अल्पमात्र कमी थी :—(मृत्यु को प्राप्त हुआ), स्वर्गगामी हुआ, तथा (उसकी) भक्तिभावयुक्ता अनुरक्ता, प्रिया तथा सुन्दरी पत्नी पूर्ण घनिष्टतापूर्वक चिता पर (उसकी) अनुगामिनी बनी।

———

जि० ९, पृ० १६४, प० ७ इ० तथा पृ० १६५) इस प्रथा के प्रचलन के संकेत की तुलना कर सकते है, मानदेव के इस लेख मे धर्मदेव की विधवा पत्नी राज्यवती अपने पुत्र मानदेव को शासन-भार सभालने को कहती है ताकि वह अपने मृत पति का दूसरे लोक मे अनुगमन कर सके। इस दृष्टान्तविशेष का समय लगभग ईसवी सन् ७०५ है (द्र०, वही, जि० १४, पृ० ३४४, ३५०)। जैसा कि जनरल कनिंघम ने बताया है, एरण मे अन्य कई सती-स्तम्भ है किन्तु वे पर्याप्त बाद को तिथि के हैं।

१ मूल प्रस्तर-खण्ड से।
२ अर्थात् बहुलपक्ष।
३ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले श्लोक मे।
४ छन्द, इन्द्रवज्रा, तथा अगले श्लोक मे।
५ यहा छन्द मे दोष है क्योकि च, जिसे ह्रस्व होना चाहिए, अनुवर्ती संयुक्ताक्षर प्र के कारण दीर्घ बन गया है।
६ गोपराज।

स०२१, [विना प्रतिचित्र के]

महाराज हस्तिन् का खोह-ताम्रपत्र-लेख
वर्ष १५६

यह अभिलेख लगभग १८५२ मे नागौध के राजनीतिक प्रतिनिधि कर्नल एलिस द्वारा प्राप्त हुआ प्रतीत होता है, तथा सर्वप्रथम यह १८५८ मे, श्री टामस द्वारा सपादित प्रिंसेप्स एसेज, जि० १, पृ० २५१ इ० मे, प्रो० एच० एच० विल्सन द्वारा इस लेख तथा वर्ष १६३ मे तिथ्यकित अगले लेख के सम्मिलित अनुवाद मे प्रकाश मे आया, जो कि श्री टामस के पाठनो के आधार पर किए गए थे। १८६१ मे, जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३०, पृ० ६ इ० मे डा० फिट्जएडवर्ड ने मूल प्रतिचित्रो के आधार पर लेख का अपना पाठ तथा इसका अनुवाद प्रकाशित किया। तथा १८७६ मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ६, पृ० ११, स० १ मे, डा० हाल के अनुवाद का आंशिक पुनर्प्रकाशन करते हुए, जनरल कनिंघम ने तिथि की शुद्ध व्याख्या के अत्यन्त समीप स्थित विचार अवस्थापित किया जिसमे उनकी प्रो० एच० एच० विल्सन के मत से सहमति एव डा० हाल के मत मे असहमति थी, तथा, उन्होंने तिथि वाले अवतरण का शिलामुद्रण भी दिया (वही, प्रति० ४, स० १)।

अभिलेख कुछ ताम्रपत्रो पर अकित है जो कि सेन्ट्रल इडिया मे बघेलखण्ड क्षेत्र मे स्थित नागौध अथवा नागौन्ध[2] नामक देशी राज्य की वर्तमान राजधानी उचहरा[1] से दक्षिण पश्चिम मे

---

१ मानचित्रों इ० का 'Nagode', 'Nagound' तथा 'Nagudh'। इण्डियन एटलस, पत्र फलक स० ७०। अक्षाश २४°२३' उत्तर, देशान्तर ८०°३७' पूर्व। पुलिस के सिपाहियो के अभिज्ञान-चिन्हो पर मैंने नागोद लिखा हुआ पाया। किन्तु सही रूप निस्सन्देह नागौध है जिसे कभी कभी अानुनासिक युक्त बना कर नागौन्ध उच्चारित किया जाता है। सरकारी पत्रो में राजा को 'नागोद (Nagode) का राजा' कहा जाता है, और प्रारम्भ मे नागौध इस राज्य की राजधानी था। वर्तमान राजधानी उचहरा है। राजनीतिक प्रतिनिधि का कार्यालय सतना मे है जो वस्तुतः एक नदी का नाम है जिसके आधार पर ग्रेट इण्डियन पनिनसुला रेलवे पर बने रेल्वे स्टेशन को यह नाम दिया गया है। स्टेशन तथा राजनीतिक प्रतिनिधि का कार्यालय बर्दाडीह गाव के भूक्षेत्र मे है। जनरल कनिंघम ने यह प्रस्तावित किया है कि नागौध का तादात्म्य वर्ष १७४ मे तिथ्यकित महाराज जयनाथ के कारीतलाई ताम्रपत्रो (नीचे स० २६) की पंक्ति ५ मे उल्लिखित नागदेय के साथ किया जाना चाहिए (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ९, पृ० १२)। किन्तु नागौध नाम की व्युत्पत्ति नाग वध अथवा नाग-बन्ध (—'फणयुक्त सापो का अथवा नाग कुल का वध अथवा बन्दी बनना') से होगी जब कि नागदेय का अर्थ होगा—"फणयुक्त सर्पों अथवा नाग कुल के प्रति दिया गया उपहार"।

२ मानचित्रो इ० का 'oochaira', 'uchahara', 'uchara', 'ucheyra', 'uhchchra', 'unchehra', 'unchehrah', 'unchera' तथा 'urchara' इ०। इण्डियन एटलस, पत्र-फलक स० ८९०। अक्षांश २४°२३' उत्तर, देशान्तर ८०°५१' पूर्व। जनरल कनिंघम ने 'uchahra' के अतिरिक्त 'uchahra', uchahada' तथा 'uchahada' इन तीन अन्य रूपो का भी प्रयोग किया है (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ६,

लगभग तीन मील की दूरी पर स्थित खोह[1] नामक गाव की घाटी मे कही पाए गए। मूलत ये बनारस मे सस्कृत कालेज के पुस्तकालय मे रखे गए थे किन्तु वहा से इलाहाबाद सग्रहालय और फिर वहा से लखनऊ मे प्रान्तीय सग्रहालय मे स्थानान्तरण की प्रक्रिया मे वे मुद्रिका तथा मुहर के साथ लुप्त हो गए। मुझे यह सूचना मिली है कि दूसरा ताम्रपत्र हाल मे ही लखनऊ मे प्राप्त हो गया है। किन्तु, परीक्षण के लिए मुझे यह अथवा इसका स्याही की छाप नही उपलब्ध हो सकी। और इस कारण मैं यहा इस लेख को जनरल कनिंघम द्वारा तैयार की गई हस्त-प्रतिलिपि के आधार पर सपमादित कर रहा हू, यद्यपि यह प्रतिलिपि शिलामुद्रण के लिए उपयुक्त नही है तथापि लेख के पाठ के लिए पर्याप्त उपयोगी है

ताम्रपत्र सख्या मे दो है तथा लेख केवल एक ओर अकित है और आद्यन्त अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है। मूल विवरणो से ये सामान्य प्रचलन के अनुसार एक छल्ले से सम्बद्ध रहे जान पडते है जिनके किनारे एक मुहर के निचले भाग मे जोडे हुए थे, मुहर के सम्मुख भाग पर श्रीमहाराजहस्तिनः (=‘श्रीमान् महाराज हस्तिन् का’) लेख लिखा हुआ था जैसा कि उसके वर्ष १९१ मे दिए गए दान से सम्बद्ध मुहर (नीचे, स० २३, प्रति० १४) पर लिखा हुआ मिलता है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा इसी महाराज के वर्ष १६३ मे तिथ्यकित अगले लेख (नीचे स० २२, प्रति० १३) के अक्षरो के ही समान है। अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर र अक्षर दो प्रकार से लिखा गया है, प० १४-१५ मे अकित कुर्यात् मे र् शीर्षस्थि पक्ति के अन्तर्गत ही लिखा हुआ मिलता है तथा साथ मे नीचे केवल एक य अकित हुआ है —जैसा कि हम नीचे लेख स० २३ [प्रति० १५] की प० १२ मे अकित कुर्यात् तथा प० १९ मे अकित सूर्यदत्त मे पाते है, दूसरी ओर प० १० तथा २१ मे अकित सूर्य्यदत्त तथा प० १२ मे अकित मर्य्यादा मे य का द्वित्व हो गया है। भाषा सस्कृत है, तथा प० १३ तथा २० मे अकित आशीर्वादात्मक एव अभिशसनात्मक श्लोको को छोड कर सपूर्ण लेख गद्य मे है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे हमे निम्न बातो को ध्यान मे रखना है, १ प० ६ मे अकित वन्श मे श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर दन्त्य आनुनासिक का प्रयोग, २, अनुवर्त्ती र के साथ सयोग होने पर क तथा त का द्वित्व, उदाहरणार्थ, प० २० मे अकित वक्क्रा मे, तथा प० ६ मे अकित सगोत्त्र तथा पुत्त्र मे, ३ प० १५ मे अकित अवद्ध्यानेन मे अनुवर्त्ती य के साथ सयोग होने पर ध का द्वित्व, तथा ४ प० २ मे अकित साम्वत्सरे मे तथा प० १९ मे अकित वर्ष मे व स्थान पर कदाचित्क ब का प्रयोग।

लेख परिव्राजक[2] महाराज हस्तिन् का है। यह शब्दो से इस प्रकार तिथ्यकित है—“गुप्त

पृ० ५), किन्तु सतना मे मैंने जो पूछताछ की उससे इनके समर्थन मे कुछ भी प्राप्त नही हुआ। कनिंघम ने यह भी प्रस्तावित किया (वही, पृ० १०) कि उचहरा को इलाहाबाद स्तम्भ-लेख (स० १) की प० १९ मे उल्लिखित स्वामिदत्त की तथामान्य राजधानी "उधार" से समीकृत करना चाहिए, किन्तु, इस अवतरण के शुद्ध पाठ से हमे गिरि-कोट्टूर (= ‘पर्वत पर स्थित कोट्टूर”) प्राप्त होता है। उचहरा कोई असामान्य नाम नही है—जैसा कि मानचित्रो मे सप्रति उल्लिखित उचहरा से दस मील उत्तर-पूर्व मे ‘Ocharah’, उनतीस मील उत्तर-पूर्व मे ‘uchera’ तथा इकतीस मील दक्षिण-पूर्व मे एक अन्य ‘uchera’ नामो मे स्पष्ट होता है।

१ मानचित्रो का ‘Kho’। इसे इण्डियन एटलस, पत्र-फलक स० ८९ मे होना चाहिए, किन्तु वहा इसे नही दिखाया गया है। ‘खोह’ का शाब्दिक अर्थ ‘गुफा’ होता है।

२ परिव्राजक का शाब्दिक अर्थ है—‘भ्रमणकारी धार्मिक भिक्षु, चतुर्थ तथा अन्तिम आश्रम मे स्थित सन्यासी’। मूलपाठ की प० ३ मे प्रयुक्त सयुक्त-शब्द नृपतिपरिव्राजक (= ‘एक राजकीय सन्यासी”) उसी वर्ग का शब्द है जिस वर्ग मे राजर्षि (= ‘राजकीय साधु, राजकीय वशोत्पन्न साधु’) शब्द आता है तुलनीय है राजाधिराजर्षि” (= “साधूचित गुणो से सम्पन्न सार्वभौम शासक”) जिसका प्रयोग उदयगिरि गुहा-अभिलेख (ऊपर स० ६, पृ० ३५, प० ३) मे चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए है। जिस विशिष्ट

राजाओ द्वारा प्रभुसत्ता-भोग के समय"[१], वर्ष एक सौ छप्पन (ईसवी सन् ४७५-७६) मे, महा-वैशाख संवत्सर[२] मे तथा कार्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर) के शुक्ल पक्ष मे तीसरे चान्द्रदिवस पर। प्रारम्भ में ही महादेव नाम के अन्तर्गत भगवान शिव की स्तुति को छोड कर यह लेख किसी सम्प्रदायविशेष से सम्बद्ध नही है। इसका उद्देश्य महाराज हस्तिन् द्वारा गोपस्वामिन् तथा अन्य ब्राह्मणो को वसुन्तरपण्डिक गाव के दानकार्य का लेखन है।

मूल पाठ[3]

प्रथम ताम्रपत्र

१ नमो महादेवाय स्वस्ति पट्पञ्चाशोत्तरेऽब्दशते गुप्तनृप—

२ राज्यभुक्तौ महावैशाखसाम्वत्सरे[४]। [५]कार्त्तिकमासशुक्लपक्षतृतीया —

राजकीय सन्यासी से हस्तिन् का वश उद्भूत हुआ, यह सुशमन् था (द्र० नीचे स० २५, प्रति १५ ख, प० ५ इ०)। परिव्राजक शब्द इस वश के नियमित तथा आभ्यासिक नाम के रूप में स्वीकृत हो गया प्रतीत होता है। जो भी हो, अन्य राजवशो से पृथक्त्व-प्रदर्शन में यह शब्द इस राजवश के लिए एक सुविधाजनक तथा आपत्तिशून्य नाम प्रदान करता है।

१ गुप्तनृपराज्यभुक्तौ, प० १ इ०। यही पदावली स० २२, २३ तथा २५ मे प्रयुक्त हुई है। यह स्पष्टरूपेण इस समय तक गुप्त राजवश तथा गुप्त-प्रभुसत्ता की निरन्तरता विज्ञापित करता है, तथा तिथि निश्चितरूपेण गुप्तो द्वारा प्रयुक्त सवत् का निर्देश करता है। किन्तु, इस पदावली मे ऐसा कुछ भी नही है जिससे इसे 'गुप्त-सवत्' नाम दिया जा सके। अगले लेख (स० २२) मे दी गई तिथि के साथ इस तिथि का प्रो० एच० एच० विलसन कृत अनुवाद (प्रिंसेप्स एसेज, जि० १, पृ० २५१) था—'गुप्त राजाओ के राज्याधिपत्य के १६३वें वर्ष में।' और यह तत्वत शुद्ध था। किन्तु उन्होंने साथ में यह टिप्पणी जोडी कि भुक्ते अथवा भुक्तौ को मुक्ते अथवा मुक्तौ (="अन्त अथवा समाप्ति से") पढ़ा जा सकता है। इस अनुवाद को प्रकाशित करते हुए डा० टामस ने मत व्यक्त किया कि मुक्ते अथवा मुक्तौ पाठ सभवत स्वीकार्य नहीं हो सकता। इसे मानते हुए डा० हाल ने (जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३०, पृ० ३ इ० टिप्पणी, तथा ६ एव १) इसका पाठ भुक्तौ अथवा भुक्ते किया, किन्तु उन्होने यह सिद्धान्त-वाक्य प्रतिष्ठापित किया "समयवाची उपसर्ग मे विशेषित न होने पर" भुक्ति "केवल भूतकालिक 'स्वामित्व' अथवा 'उपलब्धि' का निर्देश करती है', तत्पश्चात् हाल ने इस अवतरण का अनुवाद यह किया—"गुप्त राजाओ की प्रभुसत्ता की समाप्ति के वर्ष एक सौ छप्पन में", और पुन "गुप्तो के प्रभुत्व के समाप्त हो जाने से एक सौ तिरसठ वर्ष पश्चात्।" जनरल कनिंघम ने (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ९, पृ० ११) अनुवाद किया—"गुप्त शासकों द्वारा प्रभुसत्ता भोग के वर्ष एक सौ छप्पन मे।" यह पुन तत्वत शुद्ध था पर व्याकरण की दृष्टि से नही। जैसा कि स्कन्दगुप्त के कहाव स्तम्भ-लेख (द्र०, ऊपर पृ० ८३ टिप्पणी ६) की प० ३ मे अकित शान्ते के साथ है, यह कल्पना करना कठिन है कि कैसे भुक्ति (शाब्दिक अर्थ, "आनन्दभोग अथवा भोजन करने का कार्य, आनन्द भोग, भोजन, उपलब्धि, स्वामित्व, फलोपभोग") का प्रयोग 'समाप्ति" के अर्थ मे होने लगा—जब तक कि कोई पूर्व कल्पित धारणा काम न कर रही हो जो इतनी दृढ़ हो कि इस त्रुटि को तुरत सामने ला सकने में समर्थ किसी आलोचनात्मक विचार के लिए स्थान ही न छोडे।

२ सवत्सर (='वर्ष') का यदि सदैव नहीं तो—मुख्यत प्रयोग उन वर्षों (जैसा कि इसके प्रथम अग स='साथ, के साथ' मे स्पष्ट है) का निर्देश करने के लिए किया जाता है जो पूर्ववर्ती अथवा अनुवर्ती वर्षों के साथ घनिष्टरूपेण सबद्ध है, अर्थात्, चक्रो, सवतो अथवा शासनावधियों के वर्ष। वर्तमान दृष्टान्त म बृहस्पति ग्रह के द्वादशवर्षीय चक्र का निर्देश है।

३ जनरल कनिंघम की हस्त प्रति से।

४ पढ़ें, सवत्सरे।

५ यह विराम-चिन्ह अनावश्यक है।

३ यामस्यान्दिवसपूर्व्वायां[1] नृपतिपरिव्राजककुलोत्पन्नेन ।[2] महा
४ राजदेवाढ्य[3]प्रनप्त्रा मा(म) हाराजप्रभञ्जननप्त्रना[4] महाराजदामोदरसुतेन
५ गोसहस्रहस्त्यश्वहिरण्यानेकभूमिप्रदेन गुरुपितृमातृपूजातत्परे—
६ णात्यन्तदेवब्राह्मणभक्तेन ।। [5]नैकसमरशतत[6]विजयिना स्ववन्शा—
७ मोदकरेण महाराजश्रीहस्तिना स्वपुण्याप्यायनार्थमात्मान स्व—
८ र्ग्गसोपानपङ्क्तिभिरारोह(प)यता ब्राह्मणवाजिसिनेय[7]माध्य
९ न्दिनकौत्ससगोत्त्रगोपस्वामी भवस्वामी । सन्ध्यापुत्त्र । दिवाकर—
१० दत्त भास्करदत्त । सूर्यदत्तस्य[8]वसुन्तरषण्डिकग्रामोऽ—
११ तिसृष्ट ।। समन्ताद्गर्त्ता उत्तरे पश्चिमो(मे)न

द्वितीय ताम्रपत्र

१२ पूर्व्वभूक्ता[9] मा(म) र्य्यादा [।।*]सध्या[10]पुत्त्रप्रमुखाना सोद्रङ्ग सोपरिकर
१३ अचाटभटप्रावेश्य चोरवर्ज्जम् [।।*] तदस्मात्कुलोत्थैं मत्पादपिण्डोपजी—
१४ विभिर्व्वा कालान्तरेष्वपि न व्याघात कार्य [।*] एवमाज्ञाप्त[11] योऽन्यथा कु—
१५ र्यात्तमह देशान्तरगतोऽपि महतावद्धचानेन निर्द्दहे[12] दुक्त च भगवता प—
१६ रमर्षिणा वेदव्यासेन । पूर्व्वदत्ता[13] द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष्य (क्ष) युधिष्ठिर.[14]
१७ महि (ही) महिमता[15] श्रेष्ठ दानच्छ्रेयोऽनुपालनम्[16] [।।*]वहुभिर्व्वसुधा भुक्ता रा—
१८ जभि सगरादिभि यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फल [।।*]

---

१ जोडे, तिथौ ।

२ यह विराम-चिन्ह अनावश्यक है ।

३ द्र०, नीचे पृ० ११९, टिप्पणी ५ ।

४ पढ़ें, नप्त्रा ।

५ यह चिन्ह अनावश्यक है ।

६ पढ़ें, शत ।

७ पढ़ें, वाजसनेय ।

८ वाक्य-रचना मे पढ़ें, गोपस्वामिभवस्वामिसन्ध्यापुत्त्रदिवाकरदत्तभास्करदत्तसूर्यदत्तभ्यो ।

९ पढ़ें,भुक्ता । एफ० ई० हाल ने इसे भुक्ति पढ़ा । किन्तु, जनरल कनिंघम की प्रति का (भुक्ता के लिए) भूक्ता अधिक उपयुक्त जान पड़ता है ।

१० पढ़ें, सन्ध्या ।

११ पढ़ें, आज्ञप्ते अथवा आज्ञापिते ।

१२ पढ़ें, निर्द्दहेयम् ।

१३ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले दो श्लोको मे ।

१४ पढ़ें, युधिष्ठिर ।

१५ इसके विभिन्न पाठो के लिए, द्र० नीचे पृ० १२१ । टिप्पणी ४ ।

१६ पढ़ें, नुपालन अथवा नुपालनम् ।

१६ षष्टिम्व(व)र्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिद आच्छेता चानुम—
२० न्ता च तान्येव नरके वसेदिति ॥ लिखितञ्च[1] वक्कामात्य
२१ [प्र*] नप्त्रा भोगिकामात्यनरदत्तनप्त्रा भोगि[2]करविदत्तपुत्र् [ेण*] सूर्य्य
२२ दत्तेनेति [।*] दूतको भाग्रह [॥*]

अनुवाद

(भगवान्) महादेव को नमस्कार। कल्याण हो।[3] (वर्ष) एक सौ छप्पन मे, गुप्त-राजाओ के प्रभुसत्ता भोग मे, महावैशाख सवत्सर मे, कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष के तीसरे चान्द्र दिवस पर, —जैसा कि ऊपर के दिन (इ०) से (निर्दिष्ट है), इस (चान्द्र-दिवस) पर[4]

प० ३—महाराज श्रीमान् हस्तिन् द्वारा—जिनका कि राजकीय सन्यासी के कुल मे जन्म हुआ है, जो महाराज देवाढ्य[5] के प्रपौत्र[6], महाराज प्रभजन के पौत्र तथा महाराज दामोदर के पुत्र है,

---

१ जोडें, लिखित के साथ शासनम् अथवा ताम्रशासनम्, तथा द्र०, नीचे पृ० १२२, टिप्पणी १।

२ जनरल कनिंघम की प्रति मे यह गि नहीं दिया गया है।

३ स्वस्ति, शब्दश "यह कल्याणकर है" (सु अस्ति)। सिद्धम् के समान (द्र०, ऊपर पृ० ३१, टिप्पणी ४) अभिलेखों के प्रारम्भ मे इस शब्द का मगल-शब्द के रूप में सदैव प्रयोग किया जाता है। यह, सम्प्रदान कारक का नियन्त्रण करते हुए, कुमारगुप्त तथा बन्धुवर्मन् के मन्दसौर अभिलेख (ऊपर स० १८, प० २४) के अन्त मे आता है, नपुसकलिंगवाची कर्त्ता के रूप मे "समृद्धि" के अर्थ मे अस्तु (="होवे") के साथ—तथा दोनों सम्मिलित रूप म सम्प्रदान कारक का नियन्त्रण करते हुए—यह बुधगुप्त के एरण स्तम्भ-लेख (ऊपर, स० १६, प० ६) के अन्त मे तथा तोरमाण के एरण लेख (नीचे, स० ३६, प्रति० २३ क, प० ८) के अन्त मे आता है।

४ लेख में (प० ३) अस्यान्दिवसपूर्व्वायां अकित है जिसके साथ तिथौ जोडना होगा। यही पदावली चन्द्रगुप्त द्वितीय के गढवा अभिलेख (ऊपर स० ७, प० २ इ०) मे प्रयुक्त हुई है, और अन्य स्थानों पर भी इसका प्रयोग मिलता है। किन्तु और पूर्ण तथा और अधिक औपचारिक पदावली थी—अस्यां सवत्सरमासदिवसपूर्वायां (= "जैसा कि ऊपर दिए गए सवत्सर (अथवा वर्ष), मास, तथा दिन द्वारा (निर्दिष्ट) है, इस चान्द्र दिवस पर"), जो कि, उदाहरणार्थ, वर्ष १९१ मे तिथ्यकित महाराज हस्तिन् के मझगवां दानलेख (नीचे स० २३, प्रति० १४, प० २ इ०) मे प्रयुक्त हुई है। इस पदावली का एक अन्य प्रकार है—अस्यान्दिवसमाससम्वत्सरानुपूर्व्व्यां जो आदित्यसेन के शाहपुर प्रतिमा लेख (नीचे स० ४३, प्रति० २९ क, प० २) मे प्रयुक्त मिलती है। कुमारगुप्त के बिलसड स्तम्भ-लेख मे (नीचे स० १०, प० ७) हम, वर्ष को छोड कर अन्य किसी विवरण के बिना, केवल अस्यान्दिवसपूर्व्वायां पाते हैं।

५ एफ० ई० हाल ने (जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३०, पृ० ६ तथा पृ० ८ टिप्पणी) इस नाम को देवाह्य पढा तथा एच० एच० विल्सन कृत पाठ द्वह्य (Dwrhya)—जो स्पष्टत देवाढ्य अर्थात् देवाढ्य के स्थान पर गलत छप गया है—को इस कथन के साथ अस्वीकार किया—"दोनो ही लेखो में प्राप्त अ कन पठनीय हैं, तथा डा० टामस का पाठ मेरे पाठ का स्पष्ट समर्थन करता है।" किन्तु, वस्तुस्थिति यह है कि हस्तिन् के तीनो लेखो मे तथा सक्षोभ के लेख में यह नाम असदिग्धरूपेण देवाढ्य है, सस्कृत से परिचित किसी भी सावधान पाठक को यह तुरन्त स्पष्ट हो जाएगा, क्योंकि अह्य अथवा आह्य का कदाचिदपि कोई वास्तविक शब्द अथवा शब्दान्त नहीं है, इस प्रकार, प्रो० एच० एच० विल्सन का पाठ शुद्ध था एव डा० फिट्जएडवर्ड का मत ठीक नहीं था।

६ इस लेख तथा इस वश से सवद्ध तीन अन्य औपचारिक लेखो मे (नीचे, स० २२, २३ तथा २५) अधिक प्रचलित तथा सुस्थापित प्रपौत्र (="पौत्र का पुत्र") तथा पौत्र (="पुत्र का पुत्र") के स्थान पर (द्र० ऊपर

जो सहस्रो गायो, हाथियो, अश्वो सुवर्ण तथा प्रभूत क्षेत्रो का दान करने वाले हैं, जो (अपने) गुरु तथा (अपने) माता-पिता का सम्पान करने मे तत्पर है, जो देवताओ और ब्राह्मणो के परम भक्त है, जो सैकडो युद्धो मे विजयी हुए हैं, (तथा) जो अपने वश को प्रमुदित करते हैं,—

प० ७—(उनके द्वारा)—स्वय अपने पुण्य मे वृद्धि के उद्देश्य से (तथा) स्वर्ग को जाने वाली सीढी पर (अपने) आरोहण के उद्देश्य से—वसुन्तरषण्डिक गाव वाजसनेय –माध्यन्दिन(शाखा) के तथा कौत्स गोत्र के ब्राह्मण गोपस्वामिन् को, तथा भवस्वामिन्, सन्ध्यापुत्र, दिवाकरदत्त, भास्करदत्त तथा सूर्यदत्त को दिया जाता है।

प० ११ —सभी ओर (सीमा-निर्धारण के लिए) खाइया[1] (बनी हैं) (तथा) पश्चिमोत्तर भाग मे पूर्व-भुक्त सीमाए हैं। (यह गाव) सन्ध्यापुत्र तथा अन्यो की उद्रग[2] तथाउपरिकर[3] के साथ (सम्पति बनाई जाती है) (तथा साथ मे यह विशेषाधिकार भी दिया जाता है कि इसमे) अनियमित अथवा नियमित दोनो ही प्रकार की सेनाए[4] प्रवेश नही कर सकती, (किन्तु) चोरो (पर लगाए

पृ० १८, टिप्पणी ५) प्रनप्तृ तथा नप्तृ शब्दो का प्रयोग हुआ है। जो भी हो, प्राचीन काल मे प्रनप्तृ तथा नप्तृ शब्द पुत्र तथा पुत्री दोनो से उद्भूत वशजो का निर्देश कर सकना है, और इसी कारण मैं अपने अनुवाद मे great-grandson तथा grandson शब्दो का प्रयोग कर रहा हू जो उतने अधिक निश्चितता सूचक नही हैं। किन्तु, हम यह सुरक्षित रूपेण मान सकते हैं कि यहा पुत्रो से उद्भूत सतति अभिप्रेत है।

१ गर्त शब्दश 'विवर, बिल, गुफा'।

२ उद्रङ्ग एक पारिभाषिक राजस्वविषयक शब्द है। डा० ब्यूलर ने यह ध्यान मे लाया है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० १२, पृ० १८६, टिप्पणी ३६) कि शाश्वतकोश (जखारिया का सस्करण, भूमिका पृ० २६, पृ० २६०) मे इसे उद्धार तथा उद्ग्रन्थ (? उद्ग्रह) से व्याख्यायित किया गया है, और इस प्रकार इसका अर्थ 'सामान्यत राजा के लिए सगृहीत उपज का भाग" प्रतीत होता है। एकमात्र ऐसा अवतरण जिसमे यह दान की अन्य पारिभाषिक शर्तों से पृथक् उल्लिखित हुआ है, वह है धरग्रह द्वितीय के सम्बन्ध मे, उदाहरणार्थ, वर्ष ४४७ के शीलादित्य सप्तम् के अलीन दानलेख (नीचे, स० ३९, प्रति० २५) की प० ४६। जैसा कि वर्ष ३५२ मे अकित शीलादित्य तृतीय के दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० ३०८) की प० ४६ मे मिलता है, इस अवतरण मे द का द्वित्व हुआ (अर्थात् उद्द्रग लिखा हुआ) मिलता है, वर्ष २४६ मे अकित महाराज गुहसेन के दानलेख (वही, जि० ४, पृ० १७५) की प० १० मे भी द का द्वित्वीकरण मिलता है।

३ उपरिकर एक पारिभाषिक राजस्वविषयक शब्द है जिसका अर्थ स्पष्ट नही किया गया है। किन्तु मैं यह सुझाव रखना चाहूगा कि इस शब्द का प्रथम अश प्राकृत भाषा का शब्द उपरी अथवा उप्रि है (द्र० मोलसवर्थ तथा कैन्डी का मराठी शब्दकोश, तथा विल्सन की ग्लासरी आफ इण्डियन टर्म्स) तथा इसका अर्थ होगा—"उन कृषको पर आरोपित कर जिन्हे भूस्वामित्व का कोई अधिकार नही प्राप्त है।"

४ अचाटभटप्रावेश्य, यह सतत आने वाला एक पारिभाषिक शब्द है। डा० भगवानलाल इन्द्रजी (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १७५, टिप्पणी ४१) चाटभट को चाटान् प्रति भटा —"डाकुओ के विरुद्ध नियुक्त सैनिक" यह अर्थ प्रयुक्त मानते हैं, और इस प्रकार, उनके अनुसार, इसका अर्थ 'राजकीय पुलिस' होगा। किन्तु, 'चाट' 'भट' द्वारा नियन्त्रित नही है, यह इसी प्रकार की किन्तु भिन्न रूपेण व्यवस्थापित पदावली अभटच्छात्रप्रावेश्य से स्पष्ट है जो कि महाराज प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक दान लेख (नीचे स० ५५, प्रति०३४) की प० २६ मे तथा उसके सिवनी दानलेख (स० ५६, प्रति० ३५) की प० २७-२८ में प्रयुक्त हुई है। शक सवत् ५३२ मे अकित सत्याश्रय–ध्रुवराज–इन्द्रवर्मन् के गोआ दानलेख (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १०, पृ० ३६५) की प० ६ मे हमे अभटप्रावेश्य यह सरल पदावली मिलती

गए दण्ड पर अधिकार) को छोड कर[1]।

प० १३ —अतएव, भविष्य मे भी (इस दान के उपभोग मे) मेरे वशजो अथवा अधीनस्थों[2] द्वारा कोई वाधा नहीं डाली जाएगी। इस आदेश के दिए जाने के पश्चात् जो अन्यथा व्यवहार करेगा उसका मे अन्य शरीर धारण करने के पश्चात् भी बुरी प्रकार नाश करु गा।

प० १५—तथा पूज्य श्रेष्ठ ऋषि वेद-व्यास[3] द्वारा कहा गया है—हे राजश्रेष्ठ[4] युधिष्ठिर,

---

है। मैंने डा० व्यूलर की व्याख्या (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ५, पृ० ११५ तथा टिप्पणी) का अनुसरण किया है। एक इससे थोडी सी भिन्न किन्तु ठीक इसी अर्थ वाली पदावली—प्रतिनिषिद्धचाटभटप्रवेश—हमे, उदाहरण के लिए, महा-भवगुप्त के कपिलेश्वर दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ५, पृ० ५६) की प० १०-११ में प्राप्त होती है। इसके अर्थ के द्योतन मे सहायता पहुचाने वाली अन्य पदावलिया हैं समस्तराजकीयानामप्रवेश्य ="किसी भी राजकीय कर्मचारी द्वारा अप्रवेश्य", उदाहरणार्थ, शक सवत् ४१७ के दद्द द्वितीय के इलाओ दानलेख की प० १७ मे, तथा राजसेवकानां वसतिदण्डप्रमाणदण्डौ न स्त जो शक सवत् ११९३ की तिथियुक्त रामचन्द्र के पैठान दानलेख (वही, जि० १४, पृ० ३१८) की प० ९७ में आती है। दूसरी पदावली मे ऐसे दण्ड का निर्देश हो सकता है जो कि राजकर्मचारियो पर किसी गाव मे रुकने अथवा वहा से यात्रारभ करने के कारण आरोपित किया जाता था, अथवा यह ऐसे दण्ड अर्थात् "धन अथवा खाद्यसामग्री के रूप मे वलात् उगाहा गया कर" का निर्देश करता है जो ऐसे अवसरो पर ग्रामाधिपतियो मे वसूल किया जाता था।

१ चोरवर्ज्जम् (शब्दश 'चोरो को छोड कर")–यह शब्दलोप-समन्वित पदावली वर्ष १७७ मे तिथ्यकित महाराज जयनाथ के खोह दानलेख (नीचे स० २७, प्रति० १७) की प० १४ मे अकित एक अपेक्षाकृत पूरी पदावली–चोरदण्डवर्जम्= 'चोरों पर (आरोपित) दण्डों को छोड कर"–से व्याख्यायित होती है।

२ मत्पादपिण्डोपजीविन्, शब्दश "मेरे चरणरूपी पिण्डो पर आश्रित जीविका वाला।" तुलनीय, तत्पादपद्मोपजीविन् ='उनके चरणरूपी कमलो से (भ्रमर के समान) आजीविका प्राप्त करने वाला"–जो कि परवर्तीकालीन दक्षिण भारतीय अभिलेखो मे, सामन्त राजाओ, सेनापतियों तथा अन्य राजकर्मचारियो एवं प्रभुतासम्पन्न शासको के बीच स्थित सम्बन्ध को सूचित करने वाला एक लोकप्रिय पारिभाषिक पदावली के रूप मे प्रयुक्त होने लगा, उदाहरणार्थ, शक-सवत् ९९७ मे तिथ्यकित कादरोळि्ळ अभिलेख (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० ३, पृ० १०५) की पक्ति ८ मे। साथ ही तु०, बहुत कुछ इसी अर्थवाली एक अन्य पदावली—तत्पादपल्लवोपशोभितोत्तमाङ्ग ="जिसका शिर उसके चरण रूपी पल्लवों से अलकृत है"—जो शक-सवत् ९७० मे तिथ्यकित यळगांवे अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ४, पृ० १७९) की प० ५ इ० में अकित मिलती है। और भी द्र०, ऊपर पृ० ६९, तथा टिप्पणी ३।

३ व्यास का नाम तथा उनका विरुद, "वेदों का व्यवस्थापक", दोनो इस अवतरण मे सामान्यता जुटे मिलते हैं, उदाहरणाय, वर्ष १९१ के महाराज हस्तिन् के मझगवां दानलेख (नीचे स० २३, प्रति० १४) की प० १३ मे। नीचे दिए गए प्रति० १६, स० २६ की प० १३ मे, प्रति० १७, स० २७ की प० १४ मे, प्रति० १८, स० २८ की प० २२ में तथा प्रति० १९ ख, सं० ३०, प० ३ में इन श्लोको को महाभारत से उद्धृत वताया गया है। तथा वर्ष २१४ मे तिथ्यकित महाराज सक्षोभ के खोह दानलेख (नीचे स० ३१, प्रति० २०) की प० १९ मे यह अतिरिक्त सूचना दी गई है कि ये महाभारत के शतसाहस्रीसहिता मे हैं। अभिलेखो मे इन श्लोको को प्राय सर्दव व्यास रचित वताया गया है। किन्तु, विक्रमादित्य प्रथम के तृतीय वर्ष मे अकित कर्नूल दानलेख (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १६, पृ० २३७) की प० २७-२८ में बहुभिर्वसुधाभुक्ता से प्रारम्भ होने वाले श्लोक को–जो कि वर्तमान लेख का दूसरा श्लोक को मनु रचित कहा गया है। यह डा० व्यूलर के इस अनुसधान के सदर्भ मे (द्र०, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ३२४) एक रोचक तथ्य हो सकता है कि मनु के समस्त लेखो का लगभग एक चौथाई भाग महाभारत मे मिलता है।

४ महिमत् अथवा महीमत्, 'राजा' के अर्थ मे (शब्दश, "पृथ्वी का स्वामी") कोई शब्द नहीं है। किन्तु, शब्दशास्त्र के आधार पर इसका अर्थ स्पष्ट है, तथा यह अर्थ आगे, शक सवत् ६७९ की तिथियुक्त एक

पूर्वकाल मे ब्राह्मणो को दी गई भूमि की सावधानीपूर्वक रक्षा करो, (सत्य ही) (दान की) सुरक्षा दान देने से अधिक पुण्यकारी है। यह पृथ्वी सगर से प्रारम्भ होकर बहुतेरे राजाओ द्वारा भोगी गई है, जिस समयविशेष मे जिसका पृथ्वी पर आधिपत्य होता है, उसे उस समय (यदि वह बनाए रखता है तो सम्प्रति दिए गए दान का) पुण्य लाभ होता है। भूमि का दान देने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग मे आनन्द लाभ करता है, किन्तु, (दिए गए दान का) अपहरण करने वाला तथा जो (अपहरण-क्रिया का) अनुमोदन करता है, वे दोनो उतने ही वर्ष नरक-वास करेगे।

प० २० — तथा (यह राजपत्र)[1] अामात्य[2] वक्र के प्रपौत्र, भोगिक[3] तथा अमात्य नरदत्तके पौत्र, (तथा) भोगिक रविदत्त के पुत्र सूर्यदत्त द्वारा लिखा गया है[4]।

राष्ट्रकूट शासक कक्क के छारोली दानलेख (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी जि० १६, पृ० १०६) की प० ३२ मे उसी श्लोक मे अंकित इसके एक भिन्न पाठ क्षितिभृताम् से समर्थित होता है। इस शब्द का एक अन्य पाठ मतिमताम् (="बुद्धिमान")—वर्ष ४५६ मे तिथ्यंकित जयभट द्वितीय से नउसारी दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १३, पृ० ७६) की पं० ४० मे अंकित—इस श्लोक से थोडे भिन्न श्लोक मे प्राप्त होता है।

१ शासन = 'राजपत्र', अथवा ताम्रशासन = 'ताम्रपत्र पर लिखित राजपत्र'। ये चार प्रकार के सम्प्रेषणों के लिए प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्द थे। पहला शब्द 'शासन', उदाहरण के लिए, महाराज प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक तथा सिवनी दानलेखो (नीचे स० ५५ तथा ५६, प्रति० ३३ ग तथा घ) कीमुहरो पर अंकित लेख की प० ४ मे अंकित मिलता है। दूसरा शब्द ताम्रशासन,, उदाहरण के लिए, वर्ष १६१ मे तिथ्यंकित महाराज हस्तिन् के मझगवा दानलेख (नीचे स० २३, प्रति० १४) की प० १० मे अंकित मिलता है। और भी द्र०, ऊपर पृ० ८७, टिप्पणी १०, जहा मैंने एक ताम्रपत्र पर अंकित राजपत्र को प्रशस्ति का नाम दिए जाने का एक दृष्टान्त (जो मुझे ज्ञात एकमात्र दृष्टान्त है) दिया है, प्रशस्ति वस्तुत प्रस्तरांकित अभिलेख के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है।

२ अमात्य—शब्दश 'उसी घर का निवासी, सचिव', यह एक पारिभाषिक उपाधि है।

३ भोगिक – शब्दश 'जो भोग करता है अथवा स्वामित्व रखता है।' मोनियर विलियम्स के संस्कृत शब्दकोश मे इसका अर्थ 'गृहावेक्षक, राजकीय भवन का एक अधिकारी विशेष' किया गया है। अभिलेखो मे यह एक पारिभाषिक उपाधि के रूप मे प्रयुक्त होता है, जो सभवत भोग तथा भुक्ति नामक क्षेत्रीय शब्दो से सबधित उपाधि थी। यदि जयभट द्वितीय के कावी दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वरी, जि० ५, पृ०११४) की प० ८ मे अंकित अवतरण से कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता है तो भोगिको का पद सामन्तो से नीचे एव विषयपतियों से ऊपर होता था।

४ लिखतम्। यह या तो लेख के प्रारूप तैयार करने का निर्देशन करता है अथवा, उत्कीर्णक के निर्देशन के लिए, ताम्रपत्रो पर इसके लेखन का निर्देश करता है जिसके आधार पर उत्कीर्णक अपने उपकरणो द्वारा इस पर उत्कीर्णन-कार्य करता था। तथा, सूर्यदत्त–जिसे नीचे स० २२, प्रति० १३, प० २९ इ० मे महासंधिविग्रहिक की उपाधि दी गई है—के समान उच्च पदाधिकरी के प्रसग मे निश्चित रूपेण यह समझना चाहिए कि लेखन-कार्य स्वय उसके द्वारा न किया जा कर उसके किसी लिपिक द्वारा किया जाता था। उत्कीर्णनप्रक्रिया को सदैव उत्कीर्णा (प्रशस्ति) से निर्दिष्ट किया गया है—उदाहरणार्थ यशोधर्मन् तथा विष्णुवर्धन के मन्दसोर अभिलेख (नीचे स० ३५, प्रति० २२) की प० २५ मे, अथवा इसे उत्कीर्णन (शासनम्) कहा गया है—उदाहरणार्थ राज महा-जयराज के आरग दानलेख (नीचे स० ४०, प्रति० २६) की प० २३ मे। यह सोचा जा सकता है कि लिखितम् लेख की रचना का निर्देश कर सकता है। किन्तु लेख-निर्माण की प्रक्रिया का यह भाग सदैव कृ (='बनाना') धातु से

दूतक[1] भाग्रह[2] है।

व्युत्पन्न किसी शब्द से निर्दिष्ट होता है—उदाहरणार्थ, शक सवत् ५५६ मे तिथ्यकित पुलकेशिन् द्वितीय के ऐहोले मेगुटी अभिलेख (इण्डियन ऐंटिक्वेरी जि० ८, पृ० २४२) की प० १७ मे प्रशस्ते कर्त्ता, अथवा यह रच्(="लिखना') धातु से व्युत्पन्न किसी शब्द से निर्दिष्ट होता है—उदाहरणार्थ ऊपर स० १८ की प० २३ मे रचिता (प्रशास्ति)। तथा विक्रम सवत् १२१८ मे तिथ्यकित आल्हणदेव के एक दानलेख (इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स, स० १०) की पं० ३७ में दुहरी पदावली–रचर्याचकार लिलिखे चेद महाशासनम्–प्रयुक्त पाते हैं। ताम्रपत्राकित राजपत्रो से सबद्ध कुछ काय-व्यापारो को महाभवगुप्त के कपालेश्वर दानलेख (इण्डियन ऐंटिक्वेरी, जि० ५, पृ० ५७,५८) की प० ४६ में अत्यन्त ठीक प्रकार से सकेतित किया गया है, (मूल के मेरे अपने पाठ के आधार पर) इसका उपयुक्त अनुवाद यह होगा–"यह त्रिगुणित ताम्रपत्रांकित राजपत्र प्रियकरादित्य के पुत्र श्रीमान् माहूक द्वारा लिखा गया है, जो महासधिविग्रहिन्, राणक श्री मल्लदक (के कार्यालय) से सबद्ध लेखक (कायस्थ) हैं। कोशलाधिपति द्वारा दिया गया (यह) राजपत्र, जिसके द्वारा ग्राम-प्रमुख (महत्तम) को सूचित करना है, (प्रत्यक्षत उत्कीर्णनकार्य की देखरेख के लिए) पुण्डरीकाक्ष न इसे प्राप्त किया तथा ताम्र मे रूपान्तरित किया। यह वासु के पुत्र माधव द्वारा उत्कीर्ण हुआ है।"

१ दूतक और यदा कदा दूत (उदाहरणार्थ, महासामन्त तथा महाराज समुद्रसेन के निर्मण्ड दानलेख–नीचे न० ८०, प्रति०४४ की प० १४ मे) औपचारिक दानलेखा के सबध मे नियुक्त होने वाले एक राजकर्मचारी की पारिभाषिक उपाधि है। यह शब्द ताम्रपत्राकित राजपत्रो के सबद्ध में सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ मिलता है। किन्तु कुछ ऐसे दृष्टान्त भी हैं जिनमे यह प्रस्तराकित लेखो मे प्रयुक्त हुआ मिलता है। उदाहरणार्थ, डा० भगवानलाल इन्द्रजी के नेपाल अभिलेखो में स० ३, प० २१ (इण्डियन ऐंटिक्वेरी, जि० ६, पृ० १६७) स० ४, प० १७-१८ (वही, पृ० १६८), स० ६, प० १३ (वही, पृ० १७०) इ०। और ये दृष्टान्त यह स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं कि दूतक का काम वास्तविक राजपत्र को दान पाने वाले व्यक्ति विशेष के हाथ मे देना न हो कर यह होता था कि वह राजा की सम्मति तथा आज्ञा को क्षेत्रीय अधिकारियो के पास पहुचावे, तत्पश्चात् इन अधिकारियों का यह कर्त्तव्य होता था कि वह राजपत्र का लेखन करवाए तथा इसे सम्बन्धित व्यक्ति को दें। तथा इस प्रचलन के अनुसार ही हमें उन दृष्टान्तो मे किसी भी दूतक का नाम नही मिलता जिनमें आज्ञा स्वयम् =' यह आज्ञा (दान देने वाले की) अपनी ही (है)" ऐसी पदावलियो का प्रयोग हुआ है, उदाहरणार्थ, वर्ष १२८ में तिथ्यकित महाराज इन्द्रवर्मन् के 'चिकाकोल' दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १३, पृ० १२१) की प० १६ मे, स्वमुखाज्ञा 'यह आज्ञा (दान देने वाले के) अपने मुख की (है)', उदाहरणाथ महाराज सक्षोभ के खोह दानलेख नीचे स० २५ प्रति० १५ ख) की प० २४ में, आज्ञप्ति स्वमुख (जिसका समान अर्थ है), उदाहरणार्थ, राजा पृथिवीमूल के गोदावरी दानलेख (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी जि० १६ पृ० ११८) की प० ३४ मे, तथा स्वमुखाज्ञया उत्कीर्णम् ='(दानकर्त्ता के) अपने मुख की आज्ञा से उत्कीर्ण', उदाहरणाथ, राज महा-जयराज के आरग ताम्रपत्रों (नीचे, स० ४०, प्रति० २६) की प० २३ मे जैसा कि डा० कीलहार्न ने (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० १६१, टिप्पणी २८) बताया है, धारा के वाक्पतिराज के उज्जैन दानलेख (वही, पृ० १६०) की प० २९ मे अकित आज्ञा-दापक (शब्दश 'आज्ञाओ की सूचना देने वाला') इसी अधिकारी की एक अन्य नियमित उपाधि जान पड़ती है—यद्यपि, मेरे विचार से, सम्प्रति यह एकमात्र दृष्टान्त है जिसमें यह शब्द आया है। तथा, अब यह स्पष्ट है कि निम्नाकित के समान पदावलियो में इसी अधिकारी का निर्देश हुआ है वर्ष १४६ मे तिथ्यकित महाराज इन्द्रवमन् के "चिकाकोल' दानलेख (वही, जि० १३, पृ० १२३) की प० २४ मे अकित आज्ञा महामहत्तरगौरिशर्मा="महामहत्तर गौरिशर्मन (द्वारा) यह आज्ञा (सूचित हुई है)", जयसिंह प्रथम के 'पेद्द मद्दालि' दानलेख (वही, जि० १३, पृ० १३८) की प० २८ मे अकित आज्ञप्तिस्सियशर्मा, तथा मृगेशवमन के आठवें वर्ष लिखे गए हल्सी दानलेख (वही, जि० ७, पृ० २४ इ०) की प० १२-१३ मे अकित आज्ञप्ति दामकीर्त्तिभोजक। वर्ष १९७ मे तिथ्यकित महाराज शर्वनाथ के खोह दानलेख (नीचे स० ३०, प्रति० १६ ख) की प० १३ सामान्य दूतक के अतिरिक्त एक अन्य दूतक का उल्लेख करती है जिस सदेस वाहक के रूप में द्वितीय लेखक—जिसको कि लेख में कुछ अतिरिक्त विशेषाधिकारों को सम्मिलित करने की आज्ञा दी गई थी—के पास भेजा गया था। और इससे पुन मेरी इस मान्यता का समर्थन होता है कि दूतक, स्वय राजपत्र का वाहक न हो कर, राजपत्र के लेखन की आज्ञा का वाहक होता था।

२ नीचे, स० २२, प्रति० १४, प०, ३० में यह नाम भाग्रह न होकर भग्रह रूप मे मिलता है। यह निश्चित कर सकना कठिन है कि कौन सा रूप शुद्ध है, क्योंकि इसका प्रथम अश भा (='प्रकाश, तेज, प्रभा') अथवा भ (='तारक, नक्षत्र') दोनों हो सकता है।

सं० २२ प्रतिचित्र १३

महाराज हस्तिन् का खोह ताम्रपत्रांकित अभिलेख

वर्ष १६३

यह अभिलेख भी नागौध के राजनीतिक प्रतिनिधि कर्नल एलिस (Colonel Ellis) द्वारा लगभग १८५२ मे प्राप्त हुआ प्रतीत होता है तथा लोगो को इसके विषय मे १८५८ मे, श्री टामस द्वारा सपादित प्रिंसेप्स एसेज जि० १, पृ० २५१ इ० मे प्रो० एच० एच० विल्सन द्वारा किए गए इस लेख तथा वर्ष १५६ मे तिथ्यंकित पूर्ववर्ती अभिलेख के अनुवाद से ज्ञात हुआ, ये अनुवाद लेख के मूलो के श्री टामस द्वारा किए गए पाठो पर आधारित थे। १८६१ मे जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी जि० ३०, पृ० १० इ० मे डा० फिट्ज एडवर्ड हाल ने मूल पत्रो से तैयार किया गया लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया। तथा १८७९ मे आर्क्यालिजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ९, पृ० ११३०, म० २ मे डा० हाल मे अनुवाद का आशिक पुनर्प्रकाशन करने मे कर्नल कनिंघम ने तिथि की शुद्ध व्याख्या के अत्यन्त निकट स्थित व्याख्या प्रस्तुत की जिसमे उन्होंने प्रो० विल्सन से सहमति तथा डा० हाल की व्याख्या से असहमति प्रकट की, उन्होने तिथि धारण करने वाले अवतरण का शिलामुद्रण भी दिया (वही, प्रति ४, स० २)।

यह अभिलेख ताम्रपत्रो के एक अन्य वर्ग पर अकित है जो, वर्ष १५६ मे तिथ्यंकित महाराज हस्तिन् के ही लेख (नीचे स २१) को धारण करने वाले ताम्रपत्रो के साथ, सेन्ट्रल इण्डिया के बघेल-खण्ड क्षेत्र के नागौध जिले मे खोह[1] नामक गाव के निकट स्थित घाटी मे कही पाए गए थे। वे मूलतः बनारस मे सस्कृत कालेज के पुस्तकालय मे रखे गये थे किन्तु बाद मे पहले इलाहाबाद स्थित प्रान्तीय सग्रहालय मे और पुन लखनऊ स्थित प्रान्तीय सगहालय मे स्थानान्तरित हुए, वे अब लखनऊ के सग्रहालय मे रखे हुये हैं किन्तु इनका छल्ला और मुहर सभवत स्थानान्तरण मे गायब हो गए और अब इनके साथ नही है।

केवल एक ही ओर अकित इन ताम्रपत्रो की सख्या तीन है। प्रथम दो ताम्रपत्र ७½" लम्बे तथा ५⅜" चौडे है और तीसरा—जोकि पुनश्चिन्तन के परिणामस्वरूप उस समय जोडा गया जब यह पाया गया कि लेख द्वितीय ताम्रपत्र के सम्मुख भाग पर नही पूरा हो सकता तथा इसका पृष्ठ भाग अकन के उपयुक्त नही है—लगभग ५⅜" लम्बा तथा २¾" चौडा है। ये पर्याप्त चिकने हैं तथा इनके किनारे न तो मोटे बनाए गए है और न ही पट्टियो के रूप मे उभारे गए हैं। तृतीय ताम्रपत्र के प्रारम्भ मे एक छोटे से भाग के टूटे हुए होने को छोड कर समस्त लेख आद्यन्त अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे हैं। ताम्रपत्र अपेक्षाकृत पतले हैं तथा गहरा उत्कीर्णन होने से पृष्ठभाग पर अकन इतना साफ उभरा हुआ मिलता है कि मात्राए भी पढी जा सकती हैं, और यह स्पष्ट है कि इसी कारण लेख को द्वितीय ताम्र-पत्र के पृष्ठ भाग पर न समाप्त करके तीसरे और अपेक्षाकृत छोटे ताम्रपत्र पर समाप्त किया गया। उत्कीर्णन कार्य बहुत ही सुन्दर है किन्तु, जैसा कि सामान्यतया मिलता है, अधिकाश अक्षरो के आन्त-

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ११६, तथा टिप्पणी २।

रिक भागो पर उत्कीर्णक के उपकरणो के चिन्ह है। प्रत्येक ताम्रपत्र के ऊपरी भाग मे छल्ले के लिए सूराख बना हुआ हैं[1] जिसमे मुहर सलग्न होती थी, किन्तु छल्ला तथा मुहर अब प्राप्य नही हैं। मूल विवरणो से ऐसा प्रतीत होता है कि इस मुहर पर श्रीमहाराजहस्तिन (='श्रीमान महाराज हस्तिन् का') लेख अ कित था—जैसा कि उसके वर्ष १६१ मे तिथ्यकित दानलेख (नीचे स० २३, प्रति० १४] से सबद्ध मुहर पर मिलता है। तीनो ताम्रपत्रो का सम्मिलित भार १ पौंड १३ औस है। अक्षरो का औसत आकार 3/16" और 1/4" के बीच मे है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा यह लेख एव स० २४, प्रति० १५क मे लेकर स० ३१, प्रति० २० तक के अनुवर्ती लेख वर्णमाला का वह प्रकार प्रस्तुत करते है जिसे 'मध्य भारत की, उत्तरी विशिष्टताओ से युक्त, प्रमाणिक वर्णमाला' कह सकते हैं जिसका पाचवी शताब्दी के अन्त से लेकर छठी शताब्दी के मध्य तक प्रचलन था। एक ओर प० ३० मे अ कित सूर्यदत्त मे तथा, दूसरी ओर, प० २० में अ कित कार्य्यं एव प० २१ मे अ कित कुर्य्यात् में हम, अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर, र के दो ढग से लिखे जाने का प्रदर्शन पाते हैं जिसके ऊपर मैंने ऊपर पृ० ११६ मे चर्चा की है। प० ८ मे अकित ब्रह्मचारिणो तथा च मे एव प० १६ मे अ कित चाट मे एव प० २३ मे अ कित दानाच् मे हम च का वह स्वरूप पाते हैं जो कुछ बाद का है और दक्षिणी वर्णमाला मे मिलता हैं, किन्तु जो तत्कालीन मध्य भारत मे इस अक्षर के प्रचलित तथा गैर सरकारी स्वरूप का निर्देश करता हैं। भाषा सस्कृत है, तथा प० २२ एव २८ मे आशीर्वादात्मक एव अभिशमनात्मक श्लोको को छोड कर सपूर्ण लेख गद्यात्मक है। जैसा प्राचीन तिथि के अभिलेखो मे सामान्यतया पाया जाता हैं, उसकी अपेक्षा यह कम सावधानी से लिखित मिलता है। वर्ण विन्यास के प्रसग मे निम्न लिखित विशिष्टताए उल्लेखनीय हैं १, प० ६ मे अ किन वन्श मे श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर दन्त्य आनुनासिक का प्रयोग, २ प० २८ मे अ कित वक्क्रा मे अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर क का द्वित्व, ३ इन्ही स्थितियो में, प० १ मे अ कित त्त्र मे, प० २ मे अ कित चैत्त्र मे तथा अन्य स्थानो पर त का द्वित्व, किन्तु प० २६ मे अ कित पुत्रेण मे नही, ४ प० १८ मे अ कित मद्ध्येम मे अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर ध का द्वित्व, किन्तु प० २१ मे अकित अवध्यानेन मे नही तथा ५ प० १४ मे अ कित लम्बोष्ठ मे व के स्थान पर ब का प्रयोग।

लेख परिव्राजक महाराज हस्तिन् का है। यह, शब्दो मे, "गुप्त राजाओ के प्रभुसत्ता-भोग मे, वर्ष एक सौ तिरसठ मे[2] (ईसवी सन् ४८२-८३) महा आश्वयुज सवत्सर तथा चैत्र मास (मार्च-अप्रैल)

---

१ छल्लो की इन ताम्रपत्रों मे अनुरूप व्यवस्था होने पर सामान्यतया छल्लो के सूराख प्रथम ताम्रपत्र के निचले भाग पर तथा द्वितीय ताम्रपत्र के ऊपरी भाग पर बने मिलते हैं। किन्तु इस वश के सभी दानलेखो में तथा उच्चकल्प के महाराजाओ के दानलेखो में प्रति० २० तक छल्लों के सूराख जैसा कि वतमान दृष्टान्त मे मिलता है प्रत्येक ताम्रपत्र के ऊपरी भाग मे बने मिलते हैं।

२ इस अभिलेख की तिथि के प्रसग मे जनरल कनिघम ने यह मत व्यक्त किया है (आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ६, पृ० ६ तथा ११, जि० १०, पृ० ११६) कि यहां गलती से तिहत्तर के स्थान पर तिरसठ अकित हो गया है। और, निश्चिततया, ऊपर स० २१, पृ० ११७ मे यह लेखन कि वष १५६ महा-वैशाख था, स्वत इस निष्कष पर पहुँचाता है कि १६३ महा-मार्गशीष होगा, तथा महा-आश्वयुज (या तो १६१ में अथवा) १७३ में पडेगा—विशेषतया इस कारण क्योकि नीचे स० २५, पृ० १३८ मे यह लेखन, कि २०६ महा-आश्वयुज था, यह स्पष्ट करता है कि चौवन वर्षों की इस अवधि में सवत्सरो का—अपलोपन द्वारा किसी प्रकार का व्यवस्थापन किए बिना—अपना नियमित क्रम बना हुआ था। किन्तु जनरल कनिघम के इस सुझाव मे—कि यहां प्रत्यक्षत गलती "उत्कीर्णक की है जिसने सप्त (एव लिखित) (७०) के स्थान पर षष्ट (एव लिखित) (६०) लिख दिया—जो 'गलती गुप्त अक्षरा में आसानी से घट सकती है'—उस अतिरिक्त अक्षर की

में शुक्ल पक्ष के द्वितीय चान्द्रदिवस की तिथि में अंकित है। प्रारम्भ में महादेव नाम के अन्तर्गत शिव की आवाहन को छोडकर, यह अभिलेख किसी सम्प्रदाय विशेष से सबद्ध नही है। तथा इसका उद्देश्य महाराज हस्तिन् द्वारा कुछ ब्राह्मणो को कोपंरिक नामक अग्रहार के दान का लेखन है।

मूलपाठ[1]

१ नमो महादेवाय (।।) स्वस्ति त्रिषष्ट्युत्तरेऽब्दशते गुप्तनृपराज्यभुक्तौ
२ महाश्वयुजसावत्थरे[2] चैत्रमासशुक्लपक्षद्वितीय्[ा*]यामस्य् [ा*]न्दिवस—
३ पूर्व्व् [ा*] या [ ][3] नृपतिपरिव्राजककुलोत्पन्नेन महाराजदेवाढ्यप्रनप्त् [ृ*]ा
४ महाराज श्री प्रभञ्जन नप्त्रा महाराजदामोदरसुतेन गोसहस्र—
५ हस्त्यश्वहिरण्यानेकभूमिप्रदेनगुरुपितृमातृपूजातत्परेरा[4]—
६ त्यन्तदेवब्राह्मणभक्तेन नैकसमरशतविजयिना स्ववन्शामोदक—
७ रेरा महाराजश्रीहस्तिना स्वपुण्यापायनार्थमग्निस्व्[ा*]मिपुत्रभरद्वाज—
८ सगोत्रवाजि(ज)सनेयसब्रह्मचरुइरो[5] देवस्वामिने[6] शर्व्वस्वामिने च

और कोई ध्यान नही है जो कि ऐसी स्थिति मे सर्वथा छूट जाना चाहिए था। 'तिहत्तर और अधिक' त्रिसप्त्युत्तरे ने होकर त्रिसप्तत्युत्तरे होगा। तथा उत्कीर्णक के लिए इस पूर्ण तथा शुद्ध रूप को त्रिषष्ट्युत्तरे मे रूपान्तरित करना सरल नही होगा। जनरल कनिंघम की बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र के लिए दी गई सारणियो का (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ६, पृ० ११८ इ०; तथा, इंडियन एराज, सारणी १७, स्तम्भ १०, पृ० १३५ इ०) पुनर्परीक्षण करना होगा। इस प्रक्रिया मे—इन आभिलेखिक लेखनो के प्रारूपकर्ताओ द्वारा अवसित तथा प्रचलित वर्षों मे गलती किए जाने की सभावना को, जो कि सदैव विद्यमान है, ध्यान मे रखते हुए—यह पाया जा सकता है कि इस अवतरण मे सचमुच ही गलती है, और यदि यह गलती है तो वह इस दिशा मे है कि गलती से द्वि (दो) के स्थान पर त्रि (तीन) उत्कीर्ण हो गया, तथा सभवत लेख के प्रारूपकर्त्ता ने भी एक सौ साठ+एक (एक सौ इकसठ) के स्थान पर एक सौ साठ+दो(एक सौ बासठ) लिख दिया था। इस बीच डा० थिबो (Thibaut) ने, जो कि दक्ष विद्वान हैं, अपना मत प्रस्तुत किया है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० ३२२) कि "जैसा कि हम जानते हैं, हिन्दू ज्योतिषियो ने कभी भी प्रत्यक्ष दर्शन को श्रेष्ठता नही प्रदान की, उनकी व्यवस्था के अनुसार, यदि किसी वर्ष विशेष का नाम महा-चैत्र होना चाहिए तो इसे महा-चैत्र कहने मे उन्हे किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट नही होती चाहे उन्हे ज्ञात भी होता कि बृहस्पति की वास्तविक स्थिति के अनुसार इसका औचित्य नही है।" अत जब तक कोई निश्चित निष्कर्ष नही प्राप्त हो जाता एक सौ तिरसठ का स्पष्ट पाठ स्वीकार करना ही अधिक उपयुक्त है।

१ मूल पत्रो से।

२ पढ़ें, सवत्सरे।

३ जोडें तिथौ।

४ पढें, पूजातत्परेण। उत्कीर्णक द्वारा जा के ा का काटना छूट गया, साथ ही वह-अशतः पंक्ति के ऊपर तथा थोडा छोटा-त जोडते समय उस न को नष्ट करना भूल गया जो गलती से त के स्थान पर उत्कीर्ण हो गया था।

५ पढ़ें, चारिणे।

६ पहले नै उत्कीर्ण हुआ था, फिर ै के ऊपरी चिन्ह को खुरच कर इसे ने मे शुद्ध किया गया।

९ गोरिम्स्वामिने वाजि (ज)सनेयसब्रह्मचारिणे कौत्समगोत्राय दि—
१० वाकरस्वामिने स म्रु[ा*]निस्वामिने वाजसनेयसब्रा(ब्र)ह्मचारिणे भार्ग—
११ व सगोत्राय वरुणशर्म्मणा[1] वरुणस्वामिने वागुलसगोत्र् (।*) स
१२ कठसब्रह्मचारिणे कुमारदेवस्वे[2]याजि (ज)सनेयसब्रह्मचारि—
१३ न[3]मात् [ऋ*] शर्म्म[4]नागश [*] र्म्म रुमरदेव[5] कोद्रवदेव[6] विष्णु [*]देव[7]

द्वितीय पत्र

१४ देवनाग कुमारसेन[8] रुद्रशर्म्म[9]। देवदा (?) ङ्गरा (?)[10] लम्बो (म्बो) ष्ठ देदमित[11]
१५ महदेव गुण्डक इत्येवमादिभ्यो ब्राह्मरणेभ्योत्तरे[12] पट्टे कोर्प्परि—
१६ काग्रहार गोद्रङ्ग मोपरिकर अचाटभटप्रावेश्योऽतिसृष्ट —
१७ स्त[13]स्याघाटा पूर्वेण कोर्प्परगर्त्ता। उत्तरेणानिमुक्तकौणक
१८ वज्रराग कन्य दक्षिण पू[ा*]र्व्वे यलवमद्धगेम[14]वृक्ष धम्मात सतार—
१९ क[15] [।०] पश्चिमेन नागगर्त्ता। दक्षिणेन वनवर्म्मपरिच्छेद [।।*] तदस्म—
२० [त्*] कुलोत्पन्नमत्पादपि (पि)ण्डोपजीविभिर्व्वा[16] कालान्तरेष्वपि न व्याघात कार्य्या [*] [।०]
२१ एवमानाप्त[17] योऽन्यथा कुर्य्यात् (त्) तमहं देहान्तरगतोऽपि महताबध्याने—
२२ न निर्द्दहदुक्तञ्च[18] भगवता परमर्षिणा वेदव्यासेन [।०] पूर्व्व[19]—
२३ द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष (क्ष) युधिष्ठिर[20] मही [*] म [।०] ह्यतां श्रेष्ठ दानाच्छ्रे—

---

१ पढ़ें शर्म्मणे।
२ पढ़ें, देवाय।
३ पढ़ें, चारिणे।
४ पढ़ें, शर्म्म। यहां से लेकर प० १५ में अंकित इत्येवमादिभ्यो तक प्रयुक्त शब्द हैं। किन्तु, यह पंक्ति के अन्त में तीन वर्त्तालाप सूचक शब्दों तथा एक अनावश्यक विराम-चिन्ह द्वारा खण्डित हो गया है।
५ पढ़ें देव।
६ पढ़ें, देव।
७ पढ़ें, देव।
८ इस न के पश्चात् कोई अक्षर—जो निश्चित रूपेण ज्ञातव्य नहीं है—उत्कीर्ण करके नष्ट कर दिया गया।
९ यह चिन्ह अनावश्यक है।
१० पढ़ें, देवदाङ्गिर (?)।
११ यह सम्भवत, देवमित्र के स्थान पर गलती से अंकित हो गया है।
१२ पढ़ें, ब्राह्मणेभ्युत्तरे।
१३ पढ़ें, तिसृष्टस।
१४ पढ़ें, मद्धमे।
१५ पढ़ें, धम्मात, तथा सम्भवत सतारक।
१६ पहले र्भी उत्कीर्ण किया गया था, किन्तु फिर इस दीर्घ मात्रा को र्व्वा लिखा गया।
१७ पढ़ें, आज्ञाप्ते अथवा आज्ञापिते।
१८ पढ़ें, निर्द्दहेयम्।
१९ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले तीन श्लोकों में।
२० पढ़ें, युधिष्ठिर।

२४ योऽनुपालन । (।।) बहुभिर्व्वसुधा भुक्ता राजभि सगरादिभि स (य) स्य य—
२५ यस्य¹यदा भूमिस्तस्य [तस्य*] तदा फलन् (म्) [।।*] स्वदत्ता [*] परदत्ता वा यो हरे—
२६ त वसुन्धरा (म्) स विष्ठ् [।*] या [*] कृमिर्भूत्वा पित्रभि² सह पच्यते [।।*]

तृतीय पत्र

२७ ष् [अ] [ि]ष्ट व् [अर्] र्व्व (ष)सहस्राणि स्वर्गे मोदति मु (भू)मिद आच्छेत् [त्*] त
२८ चानुमन्त् [।*] म (च) त् [ा] न्येव नरके वसे [त्*] [।।*] लिखितञ्च³ वक्काम् [।*] त्यप्रन—
२९ प्त्रनत्रा⁴भोगिकनरदत्तनप्त् [र्]ा भोगिकरविदत्तपुत्रेन (ण) महा—
३० सान्धिविग्रहिकसूर्यदतेन ⁵[।*] अग्रहो दूतक [*] [।।*]

अनुवाद

(भगवान्) महादेव को नमस्कार। कल्याण हो वर्ष एक सौ तिरसठ मे⁶, गुप्त राजाओ के प्रभुसत्ता-भोग मे, महा-आश्वयुज सवत्सर मे, चैत्र मास के शुक्ल पक्ष के द्वितीय चान्द्र दिवस पर,-जैसा कि ऊपर के दिन इ० द्वारा (निर्दिष्ट है), इस (चान्द्र दिवस) पर—

प० ३—महाराज श्रीमान् हस्तिन् द्वारा-जो राजकीय सन्यासी के कुल मे उत्पन्न हुए हैं, जो महाराज देवाढ्य के प्रपौत्र, महाराज श्रीमान् प्रभजन के पौत्र तथा महाराज दामोदर के पुत्र हैं, जो सहस्रो गायो, हस्तियो, अश्वो, सुवर्ण तथा भूमि का दान देने वाले हैं, जो (अपने) गुरु, तथा (अपने) माता-पिता का सम्मान करने मे तत्पर हैं, जो देवताओ तथा ब्राह्मणो के परम भक्त है, जो सैकडो युद्धो मे विजयी हुए है, (तथा) जो अपने वश को प्रमुदित करते हैं,—

प० ७—(उनके द्वारा), अपने पुण्य की वृद्धि के उद्देश्य से-उत्तरी पट्ट⁷ मे स्थित कोर्परिक नामक अग्रहार-उद्रग तथा उपरिकर के साथ तथा (इस विशेषाधिकार के साथ कि इसमे) नियमित

१ यस्य, उत्कीर्णक ने गलती से य की पुनरावृत्ति कर दी है।

२ पढ़ें, पितृभि।

३ जोडे, शासनम्।

४ पढ़ें, प्रनप्त्रा। ताम्रपत्र पर रग से चिन्हित व्यवस्था मे अक्षरों के बीच मे जो स्थान छूटा होता था, उत्कीर्णक द्वारा उतना स्थान न छोडने पर इस प्रकार की गलती होगी। इस प्रकार नप्त्र (नप्त्र के लिए) का जो स्थान होना चाहिए, उत्कीर्णक इसे अभिप्रेत स्थान से दो अक्षर पहले उत्कीर्ण कर देगा, और फिर वह अनजान मे तथा अनुचितरूपेण ताम्रपत्र पर छूटे हुए रग-चिन्हो पर उत्कीर्णन करते हुए उन अक्षरो की पुनरावृत्ति भी कर देगा।

५ सूर्यदत्तेन।

६ द्र०, ऊपर पृ० १२५, टिप्पणी २।

७ वर्तमान सदर्भ मे पट्ट प्रत्यक्षत एक पारिभाषिक क्षेत्रीय शब्द है। तु०, भानुवर्मन् के हल्सी दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० २८ तथा २९, टिप्पणी) की प० ८ मे पट्टी के लिए अकित पटी-जिसका अर्थ कन्नडी तथा मराठी दोनो मे "एक छोटा भूखण्ड, गाव का एक भूखण्ड" होता है। इसके साथ ही तु० वर्ष ३९४ मे तिथ्यकित विजयराज के कैर दानलेख (वही, जि० ७, पृ० २४८ तथा २५०, टिप्पणी २७) की प० १६ मे तथा उन्ही ताम्रपत्रो पर अपाकृत दानलेख (वही, पृ० २५२) की प० ११ प० में अकित पट्टिका।

महाराज हस्तिन् के ताम्र-पत्र—वर्ष १६३
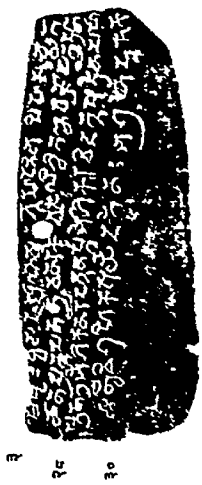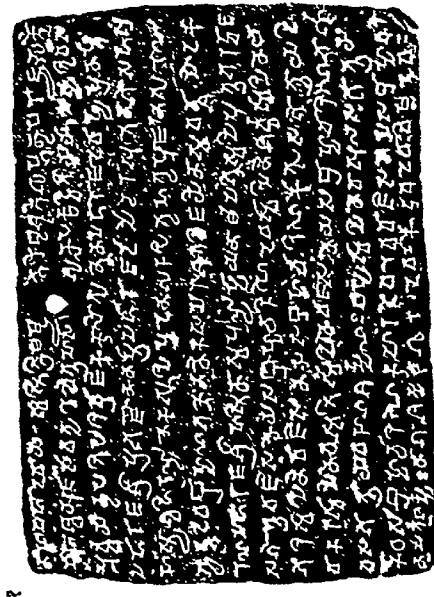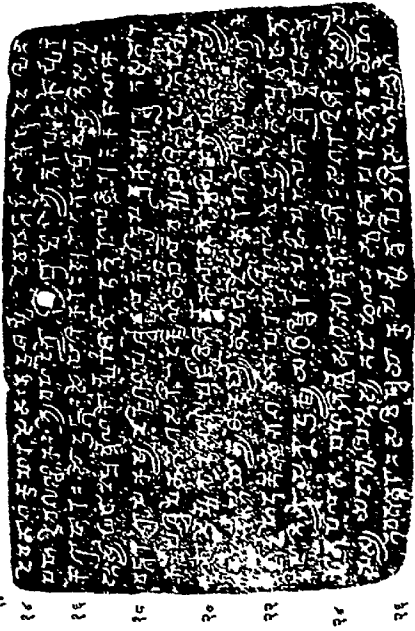
मान ६६

अथवा अनियमित दोनों प्रकार की सेनाएं प्रवेश न करें—अग्निस्वामिन् के पुत्र, भरद्वाज गोत्र के (तथा) वाजसनेय (शाखा) के विद्यार्थी देवस्वामिन् को, तथा शवस्वामिन् को (तथा) गोरिस्वामिन् को, कौत्स गोत्र के तथा वाजसनेय (शाखा) के विद्यार्थी दिवाकर स्वामिन् को (तथा) स्वातिस्वामिन् को, भार्गव-गोत्रीय, वाजसनेय (शाखा) के विद्यार्थी [illegible] को, (तथा) वप्पस्वामिन् को, वासुलगोत्रीय, कठ (शाखा) के विद्यार्थी कुमारदेव को, (तथा) वाजसनेय (शाखा) के मातृशर्मन् को, (तथा) नागशर्मन्, रुद्रदेव, कोट्टदत्त, विष्णुदेव, देवनाग, कुमारसेन, रुद्रशर्मन्, देवदागिरम् (?), लम्बोष्ठ देवमित्र (?), महादेव (तथा) गुण्ठा इत्यादि (कुल) ब्राह्मणों को दान दिया गया।

प० १७—इसकी सीमाएं हैं पूर्व में कोर्परगर्त्ता (नामक सीमा-निर्धारक खाई अथवा गार), उत्तर में पनिमुसरगोलक (तथा) वगर नामक गार के दक्षिण में वलक के बीच में स्थित एक वृक वृक्ष[1] (तथा) अम्रातक-वृक्षों[2] का गुल्म[3], पश्चिम में नागसरो (नामक तडाग अथवा गार), एवं दक्षिण में वनकर्मन् का परिच्छेद[4]।

प० १९—अतएव भविष्य में भी (इस दान के भोग के प्रति) कोई बाधा मेरे वंशजों अथवा सामन्तों द्वारा न पहुँचाई जाए। यह आदेश दिए जाने पर, जो अन्यथा व्यवहार करेगा, उसे मैं दूसरा शरीर धारण करने पर भी निर्ममतापूर्वक नष्ट करूंगा।

प० २२—तथा ऋषि श्रेष्ठ वेदव्यास द्वारा यह कहा गया है-'हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठिर, ब्राह्मण को पहले से दान में दी गई भूमि की सावधानी से रक्षा करो, (सत्य ही) (दान की) रक्षा दान देने से अधिक पुण्यकर (है)। यह पृथ्वी सगर से प्रारम्भ होकर कई राजाओं द्वारा भोगी जा चुकी है, जो भी किसी समय विशेष पर इस पृथ्वी पर स्वामित्व रखता है, (यदि वह इस दान को बनाए रखता है तो वह इसके) पुण्य का लाभ करता है। जो स्वयं द्वारा दिए गए अथवा दूसरे द्वारा दिए गए दान का अपहरण करता है वह विष्ठा का कीड़ा बनता है तथा अपने पितरों के साथ कष्ट पाता है। भूमि का दान देने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग में सुख पाता है, (किन्तु) (दान का) अपहरणकर्त्ता (तथा इसके अपहरण कार्य) की सम्मति देने वाला उतने ही वर्षों तक नरकवास करेगा।

प० २८—तथा (यह शासनपत्र) अमात्य यक्ष के प्रपौत्र, भोगिक नरदत्त के पौत्र, (तथा) भोगिक रविदत्त के पुत्र महासन्धिविग्रहिक[5] सूर्यदत्त द्वारा लिखा गया है। दूतक भग्रह[6] (है)।

---

1 वृक, वनस्पति शास्त्र का Sesbania grandiflora।

2 अथवा, यदि हम मूलपाठ संशोधन करें तो—"अम्रातक वृक्ष के (ऊपर पर स्थित) गार"।

3 अम्रातक, वनस्पतिशास्त्र का Spondias Mangifera।

4 परिच्छेद, शाब्दिक अर्थ—'विभाजन, पृथक्करण' यह एक पारिभाषिक प्रयोग शब्द है जिसका वास्तविक अर्थ इस समय नहीं बताया जा सकता।

5 महासन्धिविग्रहिक (शब्दशः 'शान्ति तथा युद्ध की व्यवस्था में संबंधित उच्च पदाधिकारी') एक पारिभाषिक राजकीय उपाधि है जो सन्धिविग्रहिकों में श्रेष्ठ अधिकारी का निर्देश करता है (द्र०, ऊपर, पृ० १६, टिप्पणी ३)। इसकी अन्य उपाधियों में एक उपाधि महासन्धिविग्रहाधिकाराधिपति है, उदाहरणार्थ, शक संवत् ७२६ में निष्पादित गोविन्द तृतीय के दानपत्र (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० १२७) की प० १८-१९ में।

6 द्र०, ऊपर पृ० १२२, टिप्पणी २।

सं० २३, प्रतिचित्र १४

महाराज हस्तिन् का मझगवा ताम्रपत्र-लेख

वर्ष १९१

इस अभिलेख के प्रति जनसामान्य का ध्यानाकर्पण जनरल कनिंघम द्वारा १८७९ में, आवर्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ९, पृ० ७ तथा १३ इ०, स० ५, मे तिथि धारण करने वाले दो अवतरणो के शिलामुद्रण के साथ इस लेख के अनुवाद के प्रकाशन के माध्यम मे हुआ। यह लेख कुछ ताम्रपत्रो पर अ कित है जो १८७० मे सेन्ट्रल इण्डिया के बघेलखण्ड क्षेत्र मे नागौध राज्य की राजधानी उचहरा से दक्षिण-पश्चिम मे लगभग तीन मील की दूरी पर स्थित मझगवा[1] नामक गाव मे खेत जोतते समय प्राप्त हुए थे। सतना स्थित राजनीतिक प्रतिनिधि मेजर डी० डब्ल्यू० के० बर के अनुग्रह से मुझे नागौध के राजा के आधिपत्य मे से परीक्षणार्थ प्राप्त हुए।

केवल एक ओर लेखाकित ये ताम्रपत्र सख्या मे दो है, प्रत्येक ८$\frac{9}{16}$" इच लम्बा तथा ५$\frac{5}{8}$" चौडा है। ये पर्याप्त समतल हैं और किनारे न तो शेप भाग की अपेक्षा अधिक मोटे बनाये गए हैं और न ही उठी हुई पट्टिया वाले हैं। द्वितीय पत्र के प्रारम्भ मे टूटे गए एक छोटे भाग को छोड कर सपूर्ण लेख आद्यन्त पर्याप्त सुरक्षित अवस्था मे है। ताम्रपत्र बहुत अधिक मोटे नही हैं, तथा अक्षर, जो गहरे उत्कीर्ण हैं, पीछे की ओर दिखाई पडते हैं। उत्कीर्णन कार्य बहुत अच्छा है, किन्तु-जैसा कि सामान्य-तया पाया जाता है-अधिकाश अक्षरो के आन्तरिक भागो मे उत्कीर्णक के उपकरणो के कार्य-व्यापार से उत्पन्न चिन्ह दिखाई पडते हैं। प्रत्येक पत्र के ऊपरी भाग मे मुहर-युक्त छल्ले के लिए सूराख बना हुआ है। सम्प्रति छल्ला तथा मुहर अप्राप्त है, किन्तु, सौभाग्य से जनरल कनिंघम ने इसके पेंसिल निर्मित चिन्हाकन (pencil-rubbing) को सुरक्षित रख लिया था जिसकी सहायता से मैं एक शिलामुद्रण दे सका हू। यह २$\frac{1}{2}$" लम्बा तथा १"चौडा एक नुकीला अण्डाकार मुहर दिखाता है जिस पर श्रीर्म्महाराज[2]-हस्तिन लेख लिखा हुआ है। दोनो पत्रो का सम्मिलित भार १ पौंड १४ आउ स है। अक्षरो का औसत अकार $\frac{3}{16}$" तथा $\frac{1}{4}$" के बीच मे है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा उस विशिष्ट कीलोपम शिरोभाग वाले प्रकार के हैं जिसके विषय मे मैंने ऊपर पृ० २३ पर चर्चा की है-और इस प्रकार ये उत्तरी विशिष्टताओ से युक्त तत्कालीन सेन्ट्रल इण्डिया मे प्रचलित एक अन्य वर्णमाला-प्रकार प्रस्तुत

---

१ मानचित्रो मे 'Majgama', 'Mujgowa', 'Majhgawan', 'Mugjowan', 'Mujgoah', Mujgowan' तथा 'Munjgowa' इ० रूपों मे अकित यह नाम देश के उस भाग मे अत्यन्त सामान्य नाम है। सम्प्रति उल्लिखित गाव इण्डियन एटलस मे फलक स० ८९ पर होना चाहिए, किन्तु यदि इसे 'Moghani' (अक्षाश २४°२२' उत्तर, देशान्तर ८०°४७' पूर्व) से अभिप्रेत न माना जाय तो इस फलक पर इसका अकन नहीं हुआ है।

२ पढें, श्रीमहा।

करते हैं। इन अक्षरो मे प० ८ मे अ कित औपमन्यव मे अत्यन्त असामान्य औ का लेखन भी सम्मिलित है। प० १२ मे अकित कुर्यात् मे तथा प० १६ मे अ कित सूर्यदत्त मे हम अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर र के लेखन की उस प्रथम पद्धति के और उदाहरण पाते हैं जिसके विषय मे मैंने ऊपर पृ० ११६ पर चर्चा की है। प० १४ में अकित छ्रेयो मे, प० १६ मे अ कित यो मे, प० १७ मे अ कित अपानियेषु में तथा प० १८ मे अ कित ये मे हम य का ऐसा स्वरूप पाते है जो कि लेख के शेष अन्य स्थानो पर—उदाहरणाय, प० १ मे अकित देवाय मे तथा प० २ अकित तृतीयायाम् मे—प्रयुक्त इस अक्षर स्वरूपों के भिन्न है। यह वस्तुत उत्तरी वर्णमाला के परवर्ती विकसित अवस्था से सबद्ध है, जिसका औपचारिक राजकीय लेखो मे प्रयोग होता था, तथा, उदाहरणाय, हमे यह वर्ष २६६ मे तिथ्यकित महानामन् के बोधगया अभिलेख (नीचे, स० ७१ प्रति० ४१ क) मे आद्यन्त प्रयुक्त मिलता है, किन्तु यहा सभवत यह अक्षर के तत्कालीन प्रचलित स्वरूप का निर्देश करता है[१]। इन अक्षरो मे, प० २० तथा २१ मे १, ३, ६० तथा १०० के अ क भी सम्मिलित हैं। भाषा सस्कृत है तथा प० १३ तथा १८ मे आशीर्वादात्मक एव अभिशसनात्मक श्लोकों का छोड कर सपूर्ण लेख गद्य मे है। वर्ण विन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए उल्लेखनीय हैं १ प० २० मे अकित सिंह् मे ह् के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग, २ प० १८ में अ कित षष्ठ्या में, प० १६ मे अ कित विग्रह्कि मे तथा प० २ मे अ कित चैत्र मे एव प० ७ में अ कित पित्रोर् मे अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर क, ग तथा त का द्वित्व, किन्तु अन्य स्थानो पर ऐसा नही हुआ है—उदाहरणाय, प० ८ मे अ कित सगोत्र स्पश् मे, ३ प० १२ मे अ कित अवधानेन मे, अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर ध का द्वित्व, ४ प० २ मे अ कित सम्वत्सर मे (दो बार) तथा प० २० मे अ कित सम्वत् मे व के स्थान पर ब का कदाचित्क प्रयोग, एवं ५ प० ५ मे अ कित ब्राह्मण मे तथा प० १८ मे अ कित बहुभिर् मे ब के स्थान पर व का कदाचित्क प्रयोग।

अभिलेख परिव्राजक महाराज हस्तिन् का है। शब्दो तथा अ को दोनो मे, गुप्त राजाओ के प्रभुसत्ताभोग मे, वर्ष एक सौ इक्यानवे मे (ईसवी सन् ५१०—११) महा चैत्र सवत्सर मे माघ मास (जनवरी–फरवरी) के कृष्ण पक्ष के तृतीय चान्द्रदिवस तथा सपूर्ण मास के तृतीय सौर दिवस से तिथ्यकित है[२]। प्रारम्भ मे महादेव नाम के अन्तगत भगवान् शिव के आवाहन को छोड कर, यह

---

१ यदि एक अन्य प्राचीन दृष्टान्त लिए उद्धृत जाय, तो यही स्वरूप पल्लव शासक विजयबुद्धवर्मन् के गोन्दकुर दानलेख का प० १ म अकित विजय म (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १०१ तथा प्रतिचित्र) आता है किन्तु अक्षर का शुद्ध प्राचीन स्वरूप अभिलेख के शेष भाग म भी सवत्र प्राप्य है, उदाहरणाय, प० २ अकित बुध म तथा प० ३ अकित विजय मे।

२ इस तिथि का दो बार लेखन काफी महत्वपूर्ण है। पं० २ मे दिन स्पष्टरूपेण कृष्ण पक्ष का तृतीय चान्द्र दिवस बताया गया है, जबकि प० २१ में, अकों म, इसे मास का तीसरा दिन बताया गया है तथा पक्ष का नाम नही दिया गया है। पुन, नीचे स० २५ मे चैत्र के शुक्ल पक्ष के तेरहवें चान्द्रदिवस (प० २ ८०) को प० २४ मे सपूर्ण मास का उन्नीसवां सौर-दिवस बताया गया है। ऊपर उल्लिखित चार तिथियां—जैसा कि उत्तरी भारत मे सवद्ध किसी भी सवत् के विषय म अपरिहार्य है—एक साथ रख कर देखी जाने पर यह प्रमाणित करती है कि गुप्त वर्ष के मासो के पक्षो की व्यवस्था उत्तरी व्यवस्था के अनुरूप थी जिसमे कृष्ण पक्ष शुक्ल पक्ष के पहले आता था।

अभिलेख किसी सम्प्रदाय विशेष से सबद्ध नही है । इसका उद्देश्य महादेविदेव नामक किसी व्यक्ति की प्रार्थना पर महाराज हस्तिन् द्वारा कुछ ब्राह्मणो को वालुगर्त नामक गाव के दान दिए जाने का लेखन है ।

मूलपाठ[1]

१ नमो महादेवाय ।। स्वस्त्येकनवत्युत्तरेऽब्दशते गुप्तनृपराज्यभुक्तौ श्रीमति प्रवर्द्धमान[2]—
२ महाचैत्रसम्ब (म्व) त्सरे माघमासबहुलपक्षतृतीयामस्या [*] सम्व(म्व)मासदिवसपूर्वा—
३ या[3] [।*] नृपतिपरिव्राजककुलोत्पन्नेन महाराजदेवाढ्यप्रनप्त्रा महाराजश्रीप्रभजननप्त्रामहा-
४ राजश्रीदामोदरसुतेनगोसहस्रहस्त्यश्वहिरण्यानेकभूमिप्रदेनगुरुपितृमातृपूजा—
५ तत्परेणात्यन्तदेवब्रा (ब्रा) ह्मणभक्तेनानेकसमरशतविजयिना स्ववशामोदकरेण महा—
६ राजश्रीहस्तिना महादेविदेवसुखविज्ञप्त्या वालुगर्तो नाम ग्राम पूर्व्वाघाटपरिच्छेदम—
७ र्यादया सोद्रङ्ग सोपरिकरो च् [।]टभटप्रावेश्य मातापित्त्रोरात्मनश्च पुण्याभिवृद्धये महादे—
८ विदेवसुख च स्वर्गसोपानपङ्क्तिमारोपयता औपमन्यव सगोत्रेभ्यश्छन्दोगकौथुम—
९ सब्रह्मचारिभ्योऽमिभ्य[4] ब्राह्मणेभ्य गोविन्दस्वामि । गोमिक[5] स्वामिदेवस्वामिभ्य पुत्रपौ—
१० त्रान्वयोपभोग्यस्ताम्रशासनेनाग्रहारोऽतिसृष्ट चोरवर्ज्जम् [।] तदस्मात्कुलोत्पैर्म्मत्पाद—
११ पिण्डोपजीविभिर्व्वा कालान्तरेष्वपि न व्याघात करणीय [।] एवमाज्ञाप्ते[6] योऽन्यथ
१२ कुर्यात्तमह देहान्तरगतोऽपि महावद्ध्यानेन निर्द्दहेयमुक्त च भगवता परम—

द्वितीय पत्र

१३ [ ][ ]षृणा वेदव्यासेन व्यासेन ।। (।) पूर्व्व[7]दत्ता द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर मही [*]
१४ महिमता श्रेष्ठ दनाच्छ्रेयोऽनुपालन । (।।) व(ब)हुभिर्व्वसुधा भुक्ता राजभि सगरादिभि य—
१५ स्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फल [।।*] षष्टि वर्ष सहस्र [ा] णि स्वर्गे मोदति भूमिद
१६ आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् [।।*] स्वदत्ता परदत्तम् वा (वा) यो हरेत वसुन्धराम्
१७ स विष्ठाया क्कृमिर्भूत्वा पितृभि सह मज्जते [।।*] अपानीयेष्वरण्येषु शुष्ककोटरवासिन.

---

१ मूल ताम्रपत्रो से ।

२ ने मे (`) की मात्रा पहले उत्कीर्ण और फिर अपकृत की हुई प्रतीत होती है । प्रति० १५ स्व, प० २ में लिखित पाठ सप्रति मेरे द्वारा दिए गए पाठ के अनुसार है ।

३ जोडें, तियौ ।

४ पढें, मीभ्यो ।

५ पढें, गोविन्दस्वामीगोमिक ।

६ पढें, आज्ञप्ते, अथवा आज्ञापिते ।

७ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले चार श्लोको मे ।

१.

२.

१८ कृष्णाहयोऽभिजायन्ते पूर्व्वदाय हरन्ति ये ॥ लिखित[1] च वक्रामात्यप्रनप्तृनप्त्रा[2]
१६ भोगिकनरदत्तप्रनप्त्रा रविदत्तनप्त्रा सूर्यदत्तपुत्रेण महासन्धिविग्राहिक—
२० विष्णुदत्तेनेति [।*] महाव(ब)लाधकृतनागसिङ्हो दूतक [॥*] सम्व (म्व) त् १०० ९० १
२१ माघ दि ३ [॥*]

अनुवाद

(भगवान्) महादेव को नमस्कार। कल्याण हो। वर्ष एक सौ इक्यानवे मे, गुप्त राजाओ के प्रभुसत्ता-भोग मे, समृद्ध्योन्मुख महा चैत्र सवत्सर मे, माघ मास के कृष्ण पक्ष के तृतीय चान्द्रदिवस पर, सवत्सर तथा मास तथा दिन द्वारा ऊपर (निर्दिष्ट) इस (चान्द्रदिवस) पर[3]—

प० ३—महाराज श्री हस्तिन् द्वारा—जो राजकीय सन्यासी के कुल मे उत्पन्न हुए है, जो महाराज देवाढ्य के प्रपौत्र, महाराज श्री प्रभजन के पौत्र तथा महाराज श्री दमोदर के पुत्र है, जो सहस्रों गायों, हस्तियो, अश्वो, सुवर्ण तथा भूमि का दान देने वाले हैं, जो (अपने) गुरु तथा (अपने) माता-पिता का सम्मान करने मे तत्पर हैं, जो देवताओ तथा ब्राह्मणो के परम भक्त हैं, जो सैकडो युद्धो मे विजयी हुए है, (तथा) जो अपने वश को प्रमुदित करते हैं,

प० ६—(उनके द्वारा), महादेविदेव की सुखकर प्रार्थना पर, वालुगर्त नामक गाव-अपनी पूर्व प्रयुक्त प्राचीन सीमाओ के साथ उद्र ग एव उपरिकर के साथ तथा (इस विशेपाधिकार के साथ कि) इसमे नियमित अथवा अनियमित दोनो ही प्रकार की सेनाओ का प्रवेश निपिद्ध हो—(अपने) माता पिता के तथा स्वयं अपने पुण्य की वृद्धि के लिए तथा, महादेविदेव को स्वीकार्य, स्वर्ग तक पहुचाने वाली एक सीढ़ी के निर्माण के उद्देश्य से, एक अग्रहार के रूप मे औपमन्यव गोत्रीय, छन्वोकौथुम (शाखा के विद्यार्थी) गोविन्दस्वामिन्, गोमिकस्वामिन् तथा देवस्वामिन् नामक ब्राह्मणो को दान दिया जाता है जो—चोरो (के ऊपर आरोपित दण्ड-शुल्क) को छोड कर—उसके पुत्रो तथा पौत्रो द्वारा उपभोग्य हो।

प० १०—अतएव, भविष्य में भी (इस दान के भोग मे) मेरे वशजां अथवा मेरे सामन्तो द्वारा कोई बाधा नहीं डाली जाय। यह आदेश दिए जाने पर, जो अन्यथा व्यवहार करेगा, उसे मे दूसरा शरीर धारण कर लेने पर भी निर्ममतापूर्वक नष्ट करु गा।

प० १२—तथा ऋषि व्यवस्थापक व्यास द्वारा यह कहा गया है—हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठर, ब्राह्मण को पहले से दान दी गई भूमि की सावधानी से रक्षा करो, (सत्य ही) (दान की) रक्षा दान देने से अधिक पुण्यकर है। यह पृथ्वी सगर से प्रारम्भ होकर कई राजाओ द्वारा भोगी गई है, जो कोई भी जिस समय विशेष पर इस पृथ्वी का स्वामी है, वह (वह यदि इसे बनाए रखता है तो इस दान का) पुण्य-लाभ करता है। भूमि का दान देने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग मे प्रसन्नतालाभ करता है, किन्तु, (दान का) अपहरण करने वाला तथा इस (अपहरण-कार्य) की सम्मति देन

---

१ जोडें, शासनम्।

२ नप्तृनप्त्रा-अथवा प्रनप्तृपुत्रेण के स्थान पर गलती से अकित हुआ होना चाहिए, क्योंकि जिस रूप मे पाठ मिलता है, यह वक्र तथा नरदत्त के बीच की पीढ़ी को छोड देता है।

३ द्र०, ऊपर पृ० ११६, टिप्पणी ४।

वाला उतने ही वर्षो तक नरक-वास करेगे। जो व्यक्ति चाहे स्वय द्वारा दी गई अथवा किसी अन्य के द्वारा दी गई भूमि का अपहरण करता है वह विष्ठा का कीडा बनता है और अपने पितरो के साथ दारुण कष्ट पाता है। जो पूर्वदत्त दान का अपहरण करते है, वे (पुन) वृक्षो के शुष्क कोटरो मे तथा जलरहित मरुस्थलो मे रहने वाले सर्पो के रूप मे जन्म लेते है।

प० १८—तथा (यह राजपत्र) अमात्य वक्र के प्रपौत्र के पुत्र[1], भोगिक नरदत्त के प्रपौत्र, रविदत्त के पौत्र (तथा) सूर्यदत्त के पुत्र महासधिविग्रहिक विभुदत्त द्वारा लिखा गया है। महाबलाधिकृत[2] नागसिङ्ह दूतक (है)। वर्ष १०० (तथा) ९० (तथा) १ (मास) माघ दिन ३।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० १३३, टिप्पणी २।

२ महाबलाधिकृत (शब्दश "सेनाओ के ऊपर नियुक्त एक उच्च पदाधिकारी") एक पारिभाषिक राजकीय उपाधि है जो बलाधिकृत आदित्यसेन् के शाहपुर-प्रतिमा-लेख (नीचे स० ४३, प्रति० २९ क) की प० २ मे आती है। महाबलाधिकृत का एक पर्याय महाबलाध्यक्ष था जो श्री बेन्डल के हर्ष सवत् ३४ मे तिथ्यकित नेपाल अभिलेख (जरनी इन नेपाल, पृ० ७५, प० १७) मे प्राप्त होता है।

सं० २४, प्रतिचित्र १५क

महाराज हस्तिन् तथा महाराज सर्वनाथ का भुमरा प्रस्तर-स्तम्भ-अभिलेख

यह अभिलेख जनरल कनिंघम द्वारा प्राप्त हुआ प्रतीत होता है तथा सर्वप्रथम कनिंघम ने ही १८७९ में लोगों का ध्यान आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ९, पृ० ८०० तथा १६, सं० ६ के माध्यम से इसके प्रति आकर्षित किया-जिसमें कि उन्होंने शिलामुद्रण के साथ लेख का अपना अनुवाद प्रकाशित किया (वही, प्रति० ४, सं० ६)।

भुमरा[1] सेन्ट्रल इण्डिया के बघेलखण्ड क्षेत्र में नागौध राज्य में स्थित उचहरा से उत्तर-पश्चिम में लगभग नौ मील की दूरी पर स्थित एक गांव है। अभिलेख की पं० ३ में इस स्थान का प्राचीन नाम 'आम्रलोद' प्रतीत होता है। लेख एक छोटे लाल बालुकाश्म निर्मित स्तम्भ के निचले आयताकार भाग के एक मुख पर अंकित है, गांव के लोगों में यह स्तम्भ 'थाटी पत्थर' अथवा 'खड़ा पत्थर' के नाम से पुकारा जाता है।

लेख जो लगभग १० ½ इंच चौड़ा तथा १' ६¾ इंच ऊंचा स्थान घेरता है, आद्यन्त पर्याप्त सुरक्षित अवस्था में है। अक्षरों का आकार ⅜ से लेकर ⅝ के बीच में मिलता है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं। इनमें, पं० ९ में ६ तथा १० के अंक भी सम्मिलित[2] हैं। भाषा संस्कृत है तथा संपूर्ण लेख गद्य में है। वर्ण-विन्यास के प्रसंग में हम इन विशिष्टताओं को ध्यान में रखना है १ पं० ५ में अंकित पुत्त्र में अनुवर्ती र के साथ संयोग होने पर त का द्वित्व, २ पं० २ अंकित अनुद्ध्यात में अनुवर्ती य के साथ संयोग होने पर ध का द्वित्व, तथा ३ पं० ८ में अंकित सम्वत्सरे में व के स्थान पर ब का प्रयोग।

अभिलेख परिव्राजक कुल के महाराज हस्तिन तथा उच्चकल्प कुल के महाराज शर्वनाथ[3] का है। यह, अंकों में कार्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर) के उन्नीसवें दिन—यहां पक्ष का उल्लेख नहीं है—

---

१ मानचित्रों का 'Bhomara' तथा 'Bumra'। इण्डियन एटलस, फलक सं० ७०। अक्षांश २४°२५' उत्तर, देशान्तर ८०°४१' पूर्व। जनरल कनिंघम ने इसे 'Bhubhura' लिखा है तथा सतना में लोगों ने मुझे इसका नाम भुर्भुरा (Bhurbhura) बताया। किन्तु मेरे कार्यालय के लोग इसका जो नाम ले आए वह या तो बुमरा था अथवा भुमरा (Bumra, Bhumra) था तथा यह सूचित किया कि गांव के लोग इसके नाम के किसी अन्य स्वरूप से परिचित नहीं हैं। इन दोनों रूपों में भुमरा (Bhumra) मानचित्रों में दिए गए नामों से सर्वाधिक निकट है तथा सही जान पड़ता है।

२ दूसरे अंक के विषय में-जो पुनः नीचे सं० २५ की पं० २४, प्रति० १५ ख में तथा सं० ७१, प्रति० ४१ क में आता है—मुझे थोड़ा संदेह है। किन्तु यह अंक ९ के अपेक्षाकृत लम्बे तथा सीधे स्वरूप से बहुत अधिक सदृशता रखता है। अन्य संभावनाओं में केवल यह हो सकता है कि यह ७ अथवा ८ हो।

३ वर्तमान शृंखला में ऐसे और भी दृष्टान्त मिलेंगे जिसमें दिन की संख्या सोलह से अधिक है—जो कि शुक्ल अथवा कृष्ण दोनों में से किसी भी चान्द्रपक्ष में सबसे अधिक संख्या है। अन्य अभिलेखों में इस प्रकार के

तथा महा-माघ सवत्सर-यहा सवत् का उल्लेख नही है—की तिथि से युक्त है । किन्तु यह तिथि गुप्त-सवत् १८९ तथा २०१ मे से ही एक तिथि हो सकती है, और चू कि ऊपर स० २१ मे हमे महाराज हस्तिन की प्राचीन तिथि वर्ष १५६ प्राप्त होती है अत इस तिथि के वर्ष एक सौ नवासी (ईसवी सन् ५०८-०९) होने की अधिक सभावना है । लेख किसी सम्प्रदाय विशेष से सबद्ध नही है, तथा इसका उद्देश्य आम्वलोद मे इन दो महाराजाओ द्वारा अधिकृत प्रदेशो के बीच सीमा-निर्धारक स्तम्भ की सस्थापना का लेखनमात्र है ।

इस अभिलेख के सबध मे एक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रस्तर पर इसके अकन से इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि परिव्राजक महाराज तथा उच्चकल्प के महाराज देश के इसी भाग मे रहते थे । इस विषय पर प्रस्तराकित लेखो से इस प्रकार का प्रमाण प्राप्त होता है जो किसी क्षेत्र मे ताम्र-पत्रो की प्राप्तिमात्र से नही उपलब्ध हो सकता—क्योकि ताम्रपत्र छोटे तथा वहनीय होते थे तथा अपने मूल स्थानो से वे काफी दूर तक ले जाए जा सकते थे[1] और इसी दशा मे जब तक उनमे अकित स्थानो का तादात्म्य नही स्थापित हो जाय, उन्हे किसी क्षेत्रविशेष से सबद्ध नही किया जा सकता ।

मूलपाठ[2]

१ स्वास्ति महादेवपाद [ा]—

२ नुद्ध्यातो (त)महाराजहस्ति—

दृष्टान्त और भी अधिक है । इस प्रकार के दृष्टान्तो के प्रसग मे-चाहे यहा किसी चान्द्र पक्ष का उल्लेख हो अथवा नही–तथा उन दृष्टान्तो के प्रसग मे भी, जिनमे दिन की सख्या सोलह से अधिक नही है तथा चान्द्र पक्ष का उल्लेख नही हुआ है, कभी कभी यह सोचा जाता है कि इनमे सौर मासो तथा वर्ष का निर्देश है, चान्द्र-सौर मासो और वर्ष का नही । किन्तु, मेरे विचार से ऐसा होना आवश्यक नही है । धारवाड जिले के बका-पुर तालुका अथवा तहसील मे हुलगूर नामक स्थान पर देवगिरि के यादव राजा महादेव का एक अभिलेख मिलता है जिसमे तिथि (प० १५ इ०) इस प्रकार अकित है **शकवर्षद ११८९ नेय प्रभवसवत्सरद ज्येष्ठ ब ३० बुधवार सूर्यग्रहणदन्दु**=''प्रभव सवत्सर का ज्येष्ठ (मास), जो कि ११८९ वा शक वर्ष (ईसवी सन् १२६७–६८) है, कृष्ण पक्ष, (मास का) ३० (सौर दिवस अथवा चान्द्र तिथि), बुधवार, सूर्य ग्रहण के समय '' तथा हमे सामन्त देवदत्त का कोटा अभिलेख भी प्राप्त है जिसमे तिथि (**इण्डियन ऐन्टिक्वेरी**, जि० १४, पृ० ३५१ इ०) दी गई है **सम्वत् ८०० ७० ९ माघ शु दि २०**,=''वर्ष ८०० (तथा) ७० (तथा) ९ (ईसवी सन् ८२२–२३), माघ (मास), शुक्ल पक्ष, (मास का) दिन २० ।'' इनमे से प्रथम दक्षिणी तिथि है जिसकी व्यवस्थानुसार मास का शुक्ल पक्ष पहले आता है, दूसरी उत्तरी तिथि है जिसमे कृष्ण पक्ष पहले आता है । यह सत्य है कि ये उदाहरण अपवादस्वरूप हैं, किन्तु, ये यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं कि उत्तरी तथा दक्षिणी भारत दोनो मे, अपेक्षाकृत काफी बाद तक, पक्षो के आधार पर होने वाले सामान्य सगणन के साथ साथ–जिनमे प्रत्येक पक्ष की चान्द्र तिथिया केवल एक से लेकर पन्द्रह तक की सख्या से एव सौर दिवस आवश्यकतानुसार एक से लेकर चौदह, पन्द्रह तथा सोलह तक की सख्या से निर्दिष्ट होते थे—कभी-कभी मास के सौर दिवसो तथा चान्द्र तिथियो का तीस तक सगणन भी होता था ।

१ ताम्रपत्र तथा मुहरें अपने मूल स्थान से कितनी दूर तक पहुँच सकती है, इसका एक विशिष्ट उदाहरण मौखरी शर्ववर्मन् की मुहर (नीचे, स० ४७) का सेन्ट्रल प्राविसेज मे निमाड जिले के असीरगढ नामक स्थान पर पाया जाना है । इसका मूल स्थान प्राप्ति स्थान से पूर्व मे कई सौ मीलो की दूरी पर रहा होगा ।

२ स्याही की छाप से ।

३ राज्ये आम्लोदे[1] महाराज—
  शर्व्वनाथभोगे इन्दन—
५ नप्त्रा वासुग्रामिकपुत्र—
६ शिवदासेन वलय—
७ ष्टि उच्छ्रित[2] [।] महा—
८ सम्व (म्व) त्सरे कार्तिकमास
९ दिवस १० ९ [॥]

अनुवाद

कल्याण हो। (भगवान्) महादेव के चरणों का ध्यान करने वाले महाराज हस्तिन् के राज्य (की सीमा) मे, आम्रग्गोद (गाव) मे, (तथा) महाराज शर्वनाथ के भोग[3] (की सीमा) मे, (यह) सीमा-स्तम्भ इन्दन के पौत्र तथा ग्रामिक[4] वासु के पुत्र शिवदास द्वारा सम्थापित हुआ, महा-माघ सवत्सर मे, कार्तिक मास, दिन १० तथा ९।

---

१ ऐसा प्रतीत होता है कि उत्कीर्णक न पहले इसो अथवा नभवा इसो उत्कीर्ण किया और फिर इसे म्लो उत्कीर्ण कर शुद्ध किया।

२ पढ़ें, वलयष्टिरुच्छ्रिता। जहा तक मल का वलय मे शुद्ध करने का प्रश्न है, वलयष्टि अथवा वलयष्टि से कोई अर्थ नही मिलता, जबकि वनयष्टि="सीमा–ध्वज अथवा सीमा-स्तम्भ" की उपयुक्तता स्पष्ट है। यह गलती प० ६ के अन्त मे या प० ७ के प्रारम्भ मे पुनरावर्तन न होने से उत्पन्न हुई।

३ भोग, शब्दश 'उपभोग, स्वामित्व, सरकार', यह एक पारिभाषिक क्षेत्रीय शब्द है, जिसका सभवत वही अर्थ होता था जो अन्य अभिलेखो मे अकित भुक्ति का था।

४ ग्रामिक, शब्दश 'गाव का व्यक्ति, गाव का प्रमुख', यह एक पारिभाषिक राजकीय उपाधि है जो आधुनिक कनारी भाषा का गौड तथा मराठी भाषा के पाटिल का समरूप है।

सं० २५; प्रतिचित्र २५ ख

महाराज सक्षोभ का खोह-ताम्रत्राकित-अभिलेख
वर्ष २०९

इस अभिलेख के विषय मे जनसामान्य को १८७९ मे पता चला जब जनरल कनिंघम ने **आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया**, जि० ९, पृ० १५, स० ७ में लेख का अनुवाद तथा तिथि धारण करने वाले दो अवतरणो का शिलामुद्रण प्रकाशित किया (वही, प्रति० ४, स० ४), यह ताम्रपत्रो के एक अन्य वर्ग पर अकित है जो सेन्ट्रल इण्डिया के बघेलखण्ड क्षेत्र मे नागौध जिले के खोह[1] नामक गाव के निकट स्थित घाटी मे कही प्राप्त हुए प्रतीत होते है। ये ताम्रपत्र परीक्षणार्थ मुझे नागौध के राजा के पास से मेजर डी० डब्लू० के० बर (D W K Barr) के अनुग्रह से प्राप्त हुए।

एक ही ओर अकित ये ताम्रपत्र सख्या मे दो हैं जिनमे से प्रथम लगभग ८ ३/१६" लम्वा तथा ४ ७/८" चौडा है तथा दूसरा ८ १/१६ 'लम्बा एव ४ ३/८" चौडा है। ये पर्याप्त समतल हैं तथा इनके किनारे न तो मोटे किए गए है और न पट्टियो के रूप मे उठे हुए हैं। प्रत्यक्षत ये आग मे जले हुए दिखाई पडते हैं किन्तु सपूर्ण लेख पर्याप्त अच्छी अवस्था मे है। ताम्रपत्र पर्याप्त मोटे है, किन्तु अक्षर गहरे उत्कीर्ण है और पीछे की ओर साफ दिखाई पडते हैं। उत्कीर्णन सुन्दर हुआ है, किन्तु, सामान्यतया जैसा पाया जाता है. अक्षरो के आन्तरिक भागो मे उत्कीर्णक के उपकरणो के चिन्ह बने मिलते है। एक दूसरे से जोडने के लिए ताम्रपत्र के ऊपरी भाग पर छल्ले के लिए सूराख बना हुआ है। छल्ला लगभग १/४" मोटा है तथा उसकी परिधि २ १/२" है। जिस समय इस दानलेख का मुझे पता चला, उस समय यह कटा हुआ नही था किन्तु, मुहर को ताम्रपत्रो से पृथक करने के उद्देश्य से, इसका एक सिरा यत्नपूर्वक मुहर की सूराख से निकाल दिया गया था। छल्ले के सिरे मूलत· मुहर के निचले भाग से सलग्न थे, और यह मुहर लगभग १ ३/८" लम्बी तथा ७/८" चौडी आयताकार है। इसके ऊपर एक लेख रहा होगा, किन्तु अब यह पूर्णतया अपठनीय है तथा इसका शिलामुद्रण देने से कोई लाभ नही है। इस मुहर की बनावट वर्ष १९१ मे तिथ्यकित महाराज हस्तिन् के खोह दानलेख (ऊपर स० २३, प्रति० १४) की मुहर से भिन्न है तथा वर्ष १९३ मे तिथ्यकित महाराज शर्वनाथ के खोह दानलेख (नीचे स० २८, प्रति० १८) की मुहर के सदृश है—जिससे यह किसी परिव्राजक महाराज की तुलना मे उच्चकल्प के किसी महाराज की मुहर अपेक्षाकृत अधिक प्रतीत होती है। दोनो पत्रो का भार १ पौड ८ १/२ औस है, तथा छल्ले और मुहर का भार ६ औंस है और इस प्रकार सबका सम्मिलित भार १ पौंड १४ १/२ औंस है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ३/१६" है। अक्षर उत्तरी प्रकार को वर्णमाला के हैं। इनमे, प० १४ मे अकित **औपणि** मे, अपेक्षाकृत असामान्य स्वराक्षर **ओ** का लेखन मिलता है। प० १७ मे अकित **कुर्यात्** मे तथा प० १६ में अकित **कार्य्यं** मे हमे, अनुवर्ती **य** के साथ सयोग होने पर, **र** की लेखन-विधि के उन दो प्रकारो के अन्य उदाहरण प्राप्त होते हैं जिन पर मैंने ऊपर पृ० ११६ पर चर्चा की है। इन अक्षरो मे, प० २४ मे अक ९

---

१ द्र० ऊपर पृ० ११६, तथा टिप्पणी २।

तथा २०[1] भी सम्मिलित हैं। भाषा सस्कृत है, तथा प १८ तथा २३ मे अकित आशीर्वादात्मक तथा अभिशसनात्मक श्लोको को छोड कर सपूर्ण लेख गद्य मे है। भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से प० १३ मे अकिन कारितक मे प्रत्यय क उल्लेखनीय है जिस पर मैंने ऊपर पृ० ८६ पर विचार किया है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १. प० ३ मे अकित सवत्सर मे व के स्थान पर ब का प्रयोग, २ प० १ मे अकित शब्द में, प० ७ मे अकित ब्राह्मण मे तथा प० १९ मे अकित बहुभि मे यदा-कदा ब के स्थान पर व का प्रयोग।

अभिलेख परिव्राजक महाराज सक्षोभ का है। यह, शब्दो मे, इस प्रकार तिथ्यकित है "गुप्त राजाओ के प्रभुसत्ता-भोग मे, वर्ष २०९ (ईसवी सन् ५२८-२९) मे महा-अश्वयुज सवत्सर मे, चैत्र मास (मार्च-अप्रैल) के शुक्ल पक्ष के तेरहवें चान्द्र-दिवस पर, तथा अन्त मे, अकों मे तिथि का अकन हुआ है जो उसी चैत्र मास का-पक्ष विशेष का उल्लेख नही किया गया है—उनतीसवा सौर दिवस है[2]। प्रारम्भ मे वासुदेव नाम के अन्तर्गत भगवान् विष्णु के आवाहन के अनुसार, यह एक वैष्णव लेख है। तथा इसका उद्देश्य, छोडुगोमिन् नामक किसी व्यक्ति की प्रार्थना पर, महाराज सक्षोभ द्वारा देवी पिष्टपुरी[3]

---

१ अक नौ के विषय मे द्र०, ऊपर पृ० १३५, टिप्पणी २।

२ इस दुहरे लेखन के विशेष महत्व के लिए द्र० ऊपर पृ० १३१, टिप्पणी २।

३ जनरल कनिंघम ने पिष्टपुर का तादात्म्य उच्चहरा से नौ मील उत्तर मे स्थित उस स्थान विशेष से किया जिसे उन्होंने स्वय Pithaora लिखा है तथा मानचित्रो मे जो 'Pataora' तथा 'Puttoura' नाम से निर्दिष्ट है, और इस आधार पर उन्होंने (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ९, पृ० १०) देवी पिष्टपुरी का तादात्म्य इस 'Pithaora' नामक स्थान पर स्थित क्षेत्रीय पटेनीदेवी से किया। किन्तु, यह तादात्म्य केवल इस कारण भी उपयुक्त नहीं है कि 'पिठौरा' वस्तुत पतौरा है जो सभवत पितृ-पुर (='मृत पूर्वजों का नगर') से व्युत्पन्न हुआ है, पतौरा तथा पितौरा नाम देश के इस भाग मे बहुत अधिक मिलते हैं—मानचित्रों मे 'Patoura,' 'Pitoura', 'Patora' तथा 'Pithoura' नाम मिलते हैं जो उच्चहरा से क्रमश २९ मील थोडा उत्तर की ओर हटकर पश्चिम मे, १८ मील पश्चिम में, १३ मील उत्तर-पश्चिम मे तथा २४ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित हैं। हम इसके पूर्व इलाहाबाद स्तम्भ-अभिलेख (स० १.) की प० १९ मे पिष्टपुर का उल्लेख महेन्द्र नामक एक राजा की राजधानी के रूप में पा चुके हैं, जो समुद्रगुप्त द्वारा दक्षिणापथ (='दक्षिण का प्रदेश') मे पराजित हुआ था। तथा शक सवत् ५५६ (ईसवी सन् ६३४–३५) मे तिथ्यकित ऐहोले-मेगुटी अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ८, पृ० २४२, २४५) पश्चिमी चालुक्य शासक पुलकेशिन् द्वितीय द्वारा इस पर आधिपत्य किये जाने की चर्चा मे हम पिष्टपुर का एक परवर्ती उल्लेख पाते हैं। यह मद्रास प्रेसीडेन्सी मे गोदावरी जिले मे 'कोकोनद' से बारह मील उत्तर पश्चिम में स्थित आधुनिक पिट्टापुरम् है जिसे मानचित्रो इ० मे 'Pithapur' तथा 'Pittapooram' नाम से अकित मिलता है (इण्डियन एटलस, स० ९४, अक्षाश १७°६' उत्तर देशान्तर ८२°१८' पूर्व) यह इसी नाम की जमींदारी का प्रमुख नगर है, तथा इस स्थान पर प्राप्त अवशेषो से यह पर्याप्त प्राचीन स्थान जान पडता है (द्र० लिस्ट्स आफ ऐन्टिक्विटीज, मद्रास, जि० १, पृ० २३ इ० म सेवेल का मत)। इस अभिलेख मे उल्लिखित पिष्टपुरी को पिष्टपुर की ही किसी अधिक प्रसिद्ध तथा मौलिक देवी का क्षेत्रीय स्वरूप होना चाहिए। नीचे लेख स० २९ (प्रति० १९ क) की पं० १२ मे तथा स० ३१ (प्रति० २०) की पं० ११ में यह थोड़े से भिन्न 'पिष्टपुरिकादेवी' नाम से उल्लिखित हुई है, दूसरे अवतरण से यह ज्ञात होता है कि इस देवी का क्षेत्रीय मन्दिर मानपुर नामक स्थान पर था जो सभवत मानचित्रो का, उचहरा से लगभग सैंतालीस मील दक्षिण-पूर्व में स्थित 'Manpoor', 'Manpora' तथा 'Ma npur' है।

जो स्पष्टत विष्णु-पत्नी[1] लक्ष्मी के किसी क्षेत्रीय स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है—के प्रति ओपाणि नामक गाव के दान दिए जाने का लेखन है।

इस अभिलेख मे एक महत्वपूर्ण बात यह है कि महाराज हस्तिन् को उत्तराधिकार में प्राप्त डभाला-अथवा सभवत डहाला-के साथ अट्ठारह आटविक राज्यो के अन्तर्गत स्थित समस्त भूप्रदेश पर शासन करते हुए बताता है। मैं सप्रति इन अट्ठारह आटविक राज्यो का तादात्म्य नही कर सकता[2]। किन्तु डभाला अथवा डहाला मे हम असदिग्धरूपेण डाहाल, डहाल अथवा डहला का प्राचीन रूप पाते हैं जो परवर्ती काल मे जबलपुर के निकट स्थित त्रिपुरा के हैह्यो अथवा कलचुरियो-जिनकी मूल राजधानी बुन्देलखण्ड मे स्थित कालजर थी—का एक प्रान्त था। इस प्रकार यह एक अन्य साक्ष्य है जो परिव्राजक महाराजाओ को देश के इस भाग से सबद्ध करता है[3]।

मूलपाठ[4]

प्रथम-पत्र

१　ओम् नमो भगवते वासुदेवाय ॥ स्वस्ति नवोत्तरेऽब्द (ब्द)शतद्वये गुप्तनृपर्[I*]ज्यभुक्तौ
२　श्रीमति प्रवर्द्धमानविजयराज्ये महाश्वयुजस [*] वत्सरे चैत्रमासशुक्ल—
३　पक्षत्रयोदश्य् [I*]म् सब(व)त्सरमासदिवस पूर्व्वाया [*][5] [I*] चतुर्दशविद्यास्यानविदि—
४　तपरमार्थस्य कपिलस्य् [*] व महर्षे सर्व्वतत् [त्*] वज्ञस्य भरद्वाजसगोत्रस्य नृप—
५　पि[6]परिव्राजककुशर्म्मण कुलोत्पन्नेन महाराजश्रीदेवाढ्यपुत्रप्रनप्त्रा महारा—
६　ज[7]श्रीप्रभञ्जनप्रनप्त्रा महाराजश्रीदामोदरनप्त्रा गोसहस्रहस्त्यश्वहिरण्यानेक—
७　भूमिप्रदस्य गुरु पितृमातृपूजातत्परस्यात्यन्तदेवव्रा (ब्रा)ह्मणभक्तस्यानेकसमर—
८　शतविजयिन साष्टादशाटवीराज्याभ्यन्तर डभा (? हा) लाराज्यमन्वयागत समडि[8]

१　यह निम्नाकित तथ्यो से प्रदर्शित प्रतीत होता है १ वर्तमान लेख की सामान्यत वैष्णव सम्प्रदाय के प्रति उन्मुखता, २ जबकि वर्ष १७७ मे महाराज जयनाथ द्वारा धवषण्डिका नामक गाव भगवत् नाम के अन्तर्गत भगवान् विष्णु के एक मन्दिर के लिये दिया गया (नीचे स० २७, प्रति० १७), कालान्तर में महाराज शर्वनाथ के एक दान द्वारा इसी गाव का आधा भाग पृथक करके पिष्टपुरिका देवी के एक मन्दिर के लिए नियत किया गया है (नीचे, स० २९, प्रति० १९ क)

२　द्र०, ऊपर पृ० १६, टिप्पणी २।

३　यहा सभवत यह उल्लेखनीय है कि इसके निकट ही इलाहाबाद-जबलपुर रेलवे लाइन पर डभोरा नामक (मानचित्रो का 'Dabhura' तथा 'Deboora') एक स्टेशन है, जो माणिकपुर से चौदह मील पूर्व मे एव कालजर से पचास मील पूर्व-उत्तर मे स्थित है।

४　मूल पत्रो से।

५　जोडें, तिथौ।

६　पढ़ें, नृपति। दूसरे अक्षर के स्थान पर पहले ति का उत्कीर्णन हुआ था किन्तु बाद मे इसे ठीक करके प किया गया।

७　यह ज पहले छोड दिया गया था किन्तु बाद मे फिर पत्र के हाशिये पर जोडा गया।

८　यहा किसी न किसी प्रकार का शुद्धिकरण अपेक्षित है किन्तु यह स्पष्ट नही है कि यहा क्या अभिप्रेत था—सभवत सम्यक्, सम्पदि, अथवा सपदि। मैं यहा समधिपालयिष्णोर् होने का सुझाव नही रख रहा हू क्योंकि

क-महाराज हस्तिन तथा महाराज सर्वनाथ का भूमरा स्तम्भ-लेख
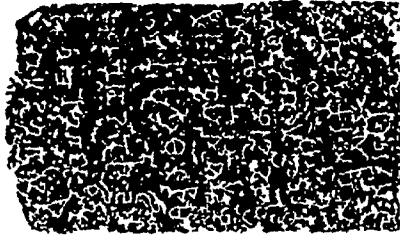
मान २०

ख-महाराज सक्षोभ के लोह-पत्र—वर्ष २०९
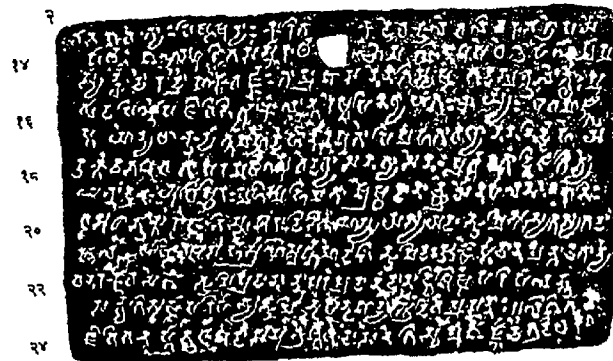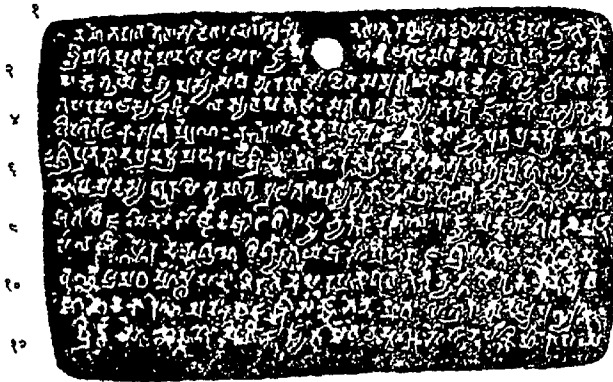
मान ६६

९ पालयिष्णो(ष्णो)रनेकगुणविख्यातयशसो महाराजश्री(श्री)हस्तिन सुतेन
१० वर्णाश्रमधर्म्मस्थापनानिरतेन परमभागवतेनात्यन्तपितृभक्तेन स्वव—
११ शमोदकरेण महाराजश्रीसंक्षोभेन (ण) मातापित्रोरात्मनश्च पुण्याभि—
१२ वृद्धये[1] छोड्डुगोमिविज्ञाप्त्या तमेव च स्व [*] र्गसोपानपङ्क्तिमारोपय—

द्वितीय पत्र

१३ ता भगव[2]त्या पिष्टपुर्या कारितकदेवकुले व(व)लिचरुसत् [त्र*] रोपयो—
१४ गार्थ ( ) खण्डस्फुटितसंस्कारार्थञ्च मणिनागपेठे ओपाणिग्राम—
१५ स्यार्द्धं चोरद्रोहकवर्ज्जं ( ) ताम्रशासने नातिसृष्ट [।*] तदस्मत्कुलोत्थै (थैः) र्म—
१६ त्पादपिण्डोपजीविभिर्व्वा कालान्तरेष्वपि न व्याघात कार्य्य [।*] एवमाज्ञा—
१७ प्त[3] योऽन्यथा कुर्यात्तमहं देहान्तरगतोऽपि महतावध्यानेन निर्द्दहेय [॥*]
१८ उक्त च भगवता परमर्षिणा वेदव्यासेन[4] [।*] पूर्व्व[5]दत्ता द्विजातिभ्यो
१९ यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर[6] महीम्महिमता [*] श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोऽनुपालन ( ) [॥*] व(व)हुभि
२० वसुधा भुक्ता राजभिस्सगरादिभि यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्यतस्य तदा
२१ फल [॥*] षष्टि वर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिद आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्ये—
२२ व नरके वसेत् [॥*] भूमि[7]प्रादानान्ना (न) पर प्रदान दानाद्विशिष्ट परिपालनञ्च—[8]
२३ सर्व्वेऽतिसृष्टा [*] परिपाल्य भूमि[*] नृपा नृगाद्यस्त्रिदिवं प्रपन्नाः ॥ लिखिञ्च[9]
२४ जीवितनप्त्रा भु जगादमपुत्रेश्वरदासेनेति [।*] स्वमुखाज्ञा [।*] चैत्र दि २० ९ [॥*]

अनुवाद

ओम्! भगवान् वासुदेव को नमस्कार! कल्याण हो! वर्ष दो सौ नौ मे, गुप्त राजाओ के प्रभुसत्ता-भोग मे, श्री सम्पन्न, समृद्धयोन्मुख तथा विजयशील शासनकाल में, महा-अश्वयुज सवत्सर मे, चैत्र मास के शुक्ल पक्ष के तेरहवें चान्द्र दिवस पर, ऊपर सवत्सर, मास तथा दिन द्वारा (निर्दिष्ट) इस (चान्द्रदिवस) पर,

---

मुके पा (="रक्षा करना") के साथ सम् और अधि के प्रयोग का कोई प्रमाण नहीं ज्ञात है। तीसरे अक्षर के स्थान पर निश्चिततया ढि का उत्कीर्णन नहीं हुआ था, किन्तु हो सकता है कि (f) बाद मे अपाकृत कर दिया गया था।

१ पढें, आभिवृद्धये।

२ इस व के ऊपर प्राप्त होने वाला चिह्न या तो गलती से लग गया है अथवा ताम्रपत्र मे मोरचा लगने के फलस्वरूप है। इन पत्रों मे इस प्रकार की और भी गलतिया अथवा मोरचे के कारण बने सूराख मिलते हैं, उदाहरणार्थ, प० १५ में अकित स्यार्द्ध मे स्य के पश्चात्।

३ पढें, आज्ञप्ते अथवा आज्ञापिते।

४ पढ़ें, व्यासेन।

५ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले दो श्लोको मे।

६ पढ़ें, युधिष्ठिर।

७ छन्द, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उपजाति।

८ पढ़ें, परिपालनञ्च।

९ पढ़ें, लिखितञ्। तथा जोडें, शासनम्।

प० ३—महाराज श्रीमान् सक्षोभ द्वारा—जो चौदह विद्याओ तत्वज्ञ[1], कपिल (के अवतार-स्वरूप) श्रेष्ठ ऋषि (दीखते हुए), सभी तत्वो के ज्ञाता, भरद्वाजगोत्रीय राजकीय सन्यासी सुशर्म्मण के कुल मे उत्पन्न हुए हैं, जो महाराज श्री देवाढ्य के पुत्र के प्रपौत्र, महाराज श्री प्रभंजन के प्रपौत्र, महाराज श्री दामोदर के पौत्र तथा हजारो गायो, हस्तियो तथा अश्वो तथा सुवर्ण एवं प्रचुर भूमि का दान करने वाले, (अपने) गुरु तथा (अपने) माता-पिता का सम्मान करने मे तत्पर, देवताओ तथा ब्राह्मणो के परम भक्त, सैंकडो युद्धो मे विजयशील, उत्तराधिकार मे प्राप्त डभाल[2] राज्य के साथ अट्ठारह आटविक राज्यो मे सम्मिलित (समस्त प्रदेश) पर समुचित रूपेण शासन करने वाले, (तथा) प्रभूत सुन्दर गुणो से सुविज्ञात यश वाले महाराज श्रीमान हस्तिन् के पुत्र हैं, जो वर्णाश्रम-धर्म के संस्थापन मे निरत हैं, जो भगवान् के परम भक्त हैं, जो (अपने) पितरो के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु हैं, (तथा) जो अपने वंश को प्रमुदित बनाते हैं,

प० ११—(उनके द्वारा)–(अपने) माता-पिता तथा स्वय अपने पुण्य को वृद्धि के लिए, छोड्डुगोमिन् की प्रार्थना पर, तथा स्वर्ग तक जाने वाली सीढी पर अपने आरोहण (के उद्देश्य से)—मणिनाग पेठ[3] मे स्थित ओपाणि गाव का अर्धभाग ताम्रपत्राकित राजपत्र द्वारा देवी पिष्टपुरी के मन्दिर–जिसे (उन्होने) बनवाया है—के बलि, चरु तथा सत्त्र[4] के लिए तथा टूट-फूट के पुनर्निर्माण के लिए—किन्तु चोरो और दुष्टो (के ऊपर दण्ड-शुल्क लगाने के अधिकार) को छोड कर—दान दिया जाता है।

प० १५—अतएव, भविष्य मे भी (इस दान के भोग मे) मेरे वंशजो अथवा सामन्तो द्वारा कोई बाधा न डाली जाय। इस आदेश के दिए जाने पर, जो अन्यथा व्यवहार करता है, उसे मै दूसरा शरीर धारण करने पर भी निर्ममतापूर्वक नष्ट करूगा।

प० १८—और वेद-व्यस्थापक, पूज्य ऋषि-श्रेष्ठ व्यास द्वारा यह कहा गया है–"हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठिर, ब्राह्मण को पहले से दिए गए दान की सावधानी से रक्षा करो, (सत्य ही) (दान की) रक्षा

---

१ चतुर्दशविद्यास्थान, ये हैं चार वेद, छः वेदाग, पुराण, मीमांसा-दर्शन, न्याय दर्शन, तथा धर्म अथवा विधि-ज्ञान।

२ अथवा, सम्भवतः डहाला, किन्तु दूसरा अक्षर हा की अपेक्षा भा अधिक जान पडता है।

३ पेठ, यह एक पारिभाषिक क्षेत्रीय शब्द है जिसका आधुनिक मराठी मे पेटा द्वारा प्रतिनिधित्व होता है। इसका एक अन्य रूप वेण्ठ शालिवाहन-शक १२७६ मे तिथ्यकित बुक्कराय के हरिहर दानलेख (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ् द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १२, पृ० ३४७) की प० ३०-३१ मे आता है, शालिवाहन-शक १४६० मे तिथ्यंकित अच्युतराय के हरिहर दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ४, पृ० ३३१) की प० २४ मे हमें वेण्ठेय अथवा पेण्ठेय रूप भी मिलता है।

४ बलि देवताओ के लिए, तथा प्रत्येक वर्ग के सभी प्राणियो के लिए, घी, अन्न चावल इ० के अर्पण को कहते हैं चरु, पितरो को दिए गए, घी तथा दूध मे पकाए गए चावल, यव तथा दाल के अर्पण को कहते हैं तथा सत्त्र दान तथा शरण प्रदान करने को कहते है। ये पंच-महायज्ञो मे से तीन हैं, पच-महायज्ञो को सामान्यत. (उदाहरणार्थ, महाराज धरसेन द्वितीय के–नीचे स० ३८, प्रति० २४–मालिया दानलेख की प० २७ इ० मे) बलि, चरु, वैश्वदेव (सभी देवताओ के प्रतिक्रिया गया अर्पण), अग्निहोत्र (द्र०, ऊपर पृ० ८६, टिप्पणी १), तथा अतिथि (आदर-सत्कार, वर्तमान लेख का सत्त्र) नाम से अभिहित किया जाता है। सत्त्र-अनुष्ठान सत्त्र (दानशाला अथवा भिक्षागृह) का–जिसका उल्लेख, उदाहरणार्थ ऊपर स० ७ प० ६ मे हुआ है—का विशेष विषय होना था।

दान देने से अधिक पुण्यकर है। यह पृथ्वी सगर से प्रारम्भ हो कर बहुसख्यक राजाओ द्वारा भोगी जा चुकी है, जो भी किसी समय विशेष पर इस पृथ्वी कास्वामी है, उस समय (यदि वह इस समय दिए गए दान को बनाए रखता है, तो इस दान के) फल का लाभ करता है, भूमि का दान करने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग मे सुख-लाभ करता है, (किन्तु) दान का अपहरणकर्त्ता तथा (अपहरणकार्य की) सम्मति देने वाला उतने ही वर्षों तक नरक-वास करता है। भूमि दान से बढ कर कोई दान नही (है) तथा (दान) की रक्षा दान देने से अधिक श्रेष्ठ कार्य है, नृग से प्रारम्भ होकर सभी परवर्ती राजाओ ने दान दी गई भूमि की रक्षा (द्वारा) स्वर्ग प्राप्त किया है।"

प० २३—तथा (यह राजपत्र) जीवित के पौत्र (तथा) भूजगदास के पुत्र ईश्वरदास द्वारा लिखा गया। यह स्वय उनके[1] मुख का आदेश है। चैत्र (मास) दिन २० (तथा) ६।

---

१ सक्षोभ का। इन शब्दों से यह ध्वनित होता है कि क्षेत्रीय अधिकारियों तक इस आदेश को पहुचाने के लिए उसने किसी दूतक को नहीं नियुक्त किया अपितु उसने स्वय ही यह आदेश उन्हें दिया, द्र० ऊपर पृ० १२३, टिप्पणी १।

सं० २६; प्रतिचित्र १६

महाराज जयनाथ का कारीतलाई ताम्रपत्रांकित अभिलेख

वर्ष १७४

जनसामान्य को इस अभिलेख के विषय मे ज्ञान जनरल कनिंघम ने १८७९ मे, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ् इण्डिया, जि० ९, पृ० १२ इ० स० ३ के माध्यम से कराया जहा कि उन्होंने लेख का अपना अनुवाद तथा तिथि धारण करने वाले दोनो अवतरणो का शिलामुद्रण प्रकाशित किया (वही, प्रति० ४, स० ५)। लेख कुछ ताम्रपत्रो पर मिलता है जो कि, १८५० में, सेन्ट्रल प्राविंसेज मे जबलपुर जिले के मुडवारा तहसील के मुख्य नगर मुडवारा[1] से लगभग तेइस मील उत्तर-पूर्व मे स्थित कारीतलाई[2] नामक गाव मे, वराह-अवतार रूप मे प्रदर्शित भगवान् विष्णु के मन्दिर के भग्नावशेष मे एक छोटी मंजूषा के अन्दर पाए गए। परीक्षणार्थ मूल पत्रो की प्राप्ति मुझे जनरल कनिंघम के पास से हुई।

एक ही ओर अकित ये पत्र सख्या मे दो हैं, प्रथम लगभग ६३/८ "लम्बा तथा ६३/४" चौड़ा है और दूसरा पत्र ६१/८' लम्बा तथा ६९/१६" चौडा है। इनके किनारे यत्र तत्र लेखन धारण करने वाले स्तरो से अधिक मोटे वनाए है जिससे अन्दर का भाग नीचा हो गया है और इस प्रकार लेखन की रक्षा हेतु उभरी पट्टिया वन गई हैं, लेख आद्यन्त अत्यधिक सुरक्षित अवस्था मे है। पत्र पर्याप्त मोटे हैं किन्तु अक्षरो का उत्कीर्णन गहरा हुआ है और ये पीछे दिखाई पडते हैं तथा उत्कीर्णन इतना गहरा है कि कुछ स्थानो पर इन्हे पीछे तक पढा जा सकता है। उत्कीर्णन सुन्दर हुआ है किन्तु अधिकाश अक्षरो के आन्तरिक भाग पर उत्कीर्णक के उपकरणो के चिन्ह दिखाई पडते हैं। प्रत्येक पत्र के ऊपरी भाग पर[3] उन्हे परस्पर सवद्ध करने के लिए निर्मित छल्ले का सूराख वना हुआ है। किन्तु, छल्ला तथा उससे सम्बद्ध मुहर अव प्राप्य नही है। दोनो पत्रो का भार २ पौंड ७ औंस है। अक्षरो का औसत आकार ३/१६' है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं, तथा—अनुवर्ती पाच लेखो एवं ऊपर स० २२, प्रति० १३, स० २४, प्रति० १५क तथा स० २५ प्रति० १५ख के साथ—वर्तमान अभिलेख जो वर्णमाला प्रस्तुत करता है उसे सेन्ट्रल इण्डिया की, उत्तरी विशिष्टताओ से युक्त, वह प्रामाणिक वर्णमाला कह सकते हैं जोकि वहां पाचवी शताब्दी के अन्त से छठी शताब्दी के मध्य तक प्रचलित थी। अक्षरो मे, प० १ मे अकित ओघदेव मे अपेक्षाकृत असामान्य स्वराक्षर ओ, तथा प० ५ मे अकित अज्झितदेवी मे समानरूपेण असामान्य झ का अंकन सम्मिलित है, साथ ही, प० २४ तथा २५ मे अक ४, १०, ३० तथा १०० का अकन हुआ है। भाषा संस्कृत है, तथा प० १४ तथा २१ मे अकित आशीर्वादात्मक एव अभिशसनात्मक श्लोको को छोड कर सपूर्ण लेख गद्यात्मक है। भाषाशास्त्रीय

---

१ मानचित्रो इ० का 'Moorwari', 'Moorwarra' तथा 'Murwara'।

२ मानचित्रो का 'Karitalai' तथा Kareetullaee'। इण्डियन एटलस, फलक सं० ८९। अक्षाश २४°३' उत्तर, देशान्तर ८०°४६' पूर्व।

३ द्र०, ऊपर पृ० १२५, टिप्पणी १।

महाराज जयनाथ के कारीतलाई पत्र— वर्ष १७४

१
२
४
६
८
१०
१२

१४
१६
१८
२०
२२
२४

मान ६६

दृष्टिकोण से प० २० इ० मे अंकित उत्पद्यमानक मे क प्रत्यय ध्यातव्य है जिस पर मैंने ऊपर पृ० ८६ मे चर्चा की है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे हमे इन विशिष्टताओ को ध्यान में रखना है १ पक्ति १० मे अंकित वन्श मे श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर दन्त्य आनुनासिक का प्रयोग २ अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर त का सतत द्वित्व—उदाहरणार्थ, प० २ मे अंकित पुत्त्र, प० ७ में अंकित सगोत्त्र तथा प० २० में अंकित त्त्राता मे, तथा ३ प० २१ में अंकित सम्बत्सर एव प० २४ मे अ कित सम्वत् में ब के स्थान पर यदा कदा ब का प्रयोग।

अभिलेख महाराज जयनाथ का है, तथा इसमें अ कित राजपत्र उच्चकल्प[1] नामक नगर अथवा पहाड मे जारी किया गया है। राजपत्र के लेखन की तिथि, शब्दो तथा अको दोनो मे, वर्ष एक सौ चौहत्तर तथा आषाढ मास (जून-जुलाई) का—पक्ष विशेष का उल्लेख नही हुआ है—चौदहवा दिन, बताई गई है। सवत् के विषय में कोई सूचना नही दी गई है। किन्तु महाराज हस्तिन् एव महाराज शर्वनाथ के भुमरा स्तम्भ-लेख मे (ऊपर स० २८) यह प्रदर्शित होता है कि परिव्राजक महाराज एव उच्चकल्प के महाराज समसामयिक थे, और, इस कारण, उच्चकल्प के महाराजो द्वारा प्रयुक्त सवत् परिव्राजक महाराजो द्वारा प्रयुक्त सवत् से भिन्न नही रहा होगा, तथा परिव्राजक महाराजो द्वारा प्रयुक्त सवत् स्पष्टत गुप्त सवत् बताया गया है। और इस प्रकार इस लेख की तिथि ईसवी सन् ४६३–६४ होगी। अभिलेख किसी सम्प्रदाय विशेष से सबद्ध नही है, तथा इसका प्रयोजन महाराज जयनाथ द्वारा एक ब्राह्मण को नागदेय[2] सन्तक[3] मे स्थित छन्दापल्लिका नामक गाव के दान दिए जाने का लेखन है।

मूलपाठ[4]

प्रथम-पत्र

१ ओम् स्वस्ति उच्चकल्पान्महाराजऔघदेवस्तस्य पुत्त्रस्तत्पादानुध्यातो महा—
२ देव्या कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराजकुमारदेवस्तस्य पुत्त्रस्तत्पाद [।*] नुध्याते (तो)
३ महादेव्या जयस्वामिन्यामुत्पन्नो मह [।*] राजजयस्वामी तस्य पुत्त्रस्तत्पाद [।*] नुध्याते (तो)
४ मह् [।*] देव्या [*] रामदेव्यामुत्पन्नो महाराजव्य् [।*] घ्रस्तस्य पुत्त्रस्तत्पादानुध्यातो महा—
५ देव्यामज्झितदेव्यामुत्पन्नो महाराजजयनाथ कुशली नागदेयसन्तकछ—
६ न्दापल्लिकाया ब्राह्मणादीन्कुटुम्बिन कारुकाश्च समाज्ञापयति [।*] वदतम्वो[5]ऽस्तु

---

१ इसका शाब्दिक अर्थ होगा—'जो उच्च स्थान होने मे थोडा सा ही छोटा है', और इस प्रकार सभवत यह वस्तुत किसी पहाडी के नाम का—किन्तु स्पष्टत ऐसी पहाडी का जिस पर नगर बसा हुआ है—निर्देश करता है।

२ नागदेय को आधुनिक नागौध से समीकृत करने के जनरल कनिंघम के सुझाव के विषय मे द्र०, ऊपर पृ० ११५, टिप्पणी १।

३ सन्तक एक पारिभाषिक क्षेत्रीय शब्द है जिसका वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं है। शब्दव्युत्पत्तिशास्त्र के दृष्टिकोण से यह सभवत अस्मत्सन्तक (= 'हमसे सबद्ध') मे आए प्राकृत रूप सतक (= 'से सम्बद्ध')—जो वाकाटक अभिलेखो (नीचे स० ५५, प० २१, तथा स० ५६, प० २३) मे प्रयुक्त मिलता है—से अभिन्न है। नीचे स० २६, प० ७ मे, क्षेत्रीय शब्द के रूप मे, हमे इसका थोडा सा भिन्न रूप सन्तिक प्राप्त होता है।

४ मूल पत्रों से।

५ पढ़ें, विदित वो।

७ यथैष ग्रामो मया स्वपुण्याभिवृद्धये कण्वसगोत्रवाजसनेय माध्य—
८ न्दिनब्राह्मणमित्रस्वामिन सोद्रङ्ग सोपरिकर अचाटभटप्रावेश्य
९ चोरवर्जितोऽतिसृष्टस्ते यूयमस्य समुचितभागगोगकरप्रत्यायोप—
१० नय कक (रि) ष्यथ आज्ञाश्रवणविधेयाश्च भविष्यथ [।*] ये चास्मद्वन्शोत्पद्य—
११ मानकराजानस्तैरिय दत्तिर्न्न विलोप्यानुमोदनीया समुचितराजा—
१२ भाव्यकरप्रत्यया न ग्राह्या [।*] यश्चैमा दत्ति लोपयेत् स पञ्चभि

द्वितीय पत्र

१३ महापातकैरुपपातकैश्च सयुक्त [*] स्यात् (द्) ुक्त च महाभारते भगवता
१४ व्यासेन [।*] स्वदत्ता परदत्ता वा यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर महीम्महिमता श्रेष्ठ
१५ दानाच्छ्रेयोऽनुपालन [।।*] बहुभिर्व्वसुधा भुक्ता राजभि सगरादिभि यस्य
१६ यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फल [।।*] प्रायेण हि नरेन्द्राणा विद्यते ना—
१७ शुभा गति पूयान्ते ते तु सतत प्रयच्छन्तो वसुन्धरा [।।*] षष्टिवर्षसहस्रा—
१८ णि स्वर्ग्गे मोदति भूमिद आच्छेता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् [।।*]
१९ आस्फोटल (य) न्ति पितर प्रवल्गन्ति पितामहा भूमिदोऽस्म [त्*] कुले जात स नो(न)
२० स्त्राता भविष्यति [।।*] सर्व्वमस्यसमृद्धान्तु यो हरेत वसुन्धरा श्वविष्ठाया कृमि—
२१ र्भूत्वा पितृभिस्सह मज्जति । (।।) सम्व्र (म्व) त्सर ग (श) ते चतु सप्तते आषाढमास—
२२ स्य चतुर्दशमे दिवसे अस्या दिवसपूर्व्वायां[2] लिखित[3] मया भोगिकराज्यि—
२३ लामात्यनप्तृभोगिकध्रुवदत्तपुत्रभोगिकगुञ्जकीर्त्तिना [।*] दूतकोपरिक[4]—
२४ दीक्षितगृहपतिस्थपति मत्राट्च्छ (छ) र्व्वदत्त इति ।। सम्व (म्व) त् १०० ७० ४ आषा—
२५ ढ दि १० ४ । (।।)

अनुवाद

ओम् । कल्याण हो । उच्चकल्प (नामक नगर अथवा पहाडी) से[5],—महाराज ओघदेव (थे) । उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी[6] कुमारदेवी से उत्पन्न महाराज कुमारदेव (थे)। उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी जयस्वामिनी से उत्पन्न महाराज जयस्वामिन् (थे) । उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी रामदेवी से उत्पन्न महाराज व्याघ्र (थे) ।

---

१ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ) , तथा अगले पाच श्लोको मे ।

२ जोडें, तिथौ ।

३ जोडें, शासनम् ।

४ पढें, दूतक उपरिक । दूतक उपरिक के साथ न सबद्ध होकर स्वय मे कर्त्ताकारक एकवचन का शब्द होना चाहिए ।

५ सदर्भ है पृ० ५ मे अकित—'महाराज जयनाथ . आदेश दे रहे हैं ।' बीच मे आई हुई वशावली निक्षिप्त वाक्य के रूप में है ।

६ द्र०, ऊपर पृ० १९, टिप्पणी १ ।

प० ४—उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते है, महादेवी अज्झितदेवी[1] से उत्पन्न महाराज जयनाथ—जो सकुशल है[2]—नागदेय सन्तक मे स्थित छन्दापल्लिका (गाव) मे, ब्राह्मणो से लेकर शिल्पियो तक, सभी कृपको के प्रति यह आदेश देते हैं—

प ६—"आप सभी को यह ज्ञात हो कि मेरे अपने पुण्य की वृद्धि के लिये मेरे द्वारा यह गाव–उद्रग तथा उपरिकर के साथ, (तथा इस विशेषाधिकार के साथ कि) इसमे नियमित अथवा अनियमित दोनो ही प्रकार की सेनाओ का प्रवेश निषिद्ध हो, (किन्तु) चोरो (के ऊपर दण्ड-शुल्क आरोपित करने के अधिकार) को छोडकर—काण्वगोत्रीय तथा वाजसनेय–माध्यदिन (शाखा) के ब्राह्मण मित्रस्वामिन् को दान दिया गया।

प० ६—"आप लोग स्वय ही परम्परागत राजकीय भाग[3] तथा करो को उन्हे प्रदान करेंगे तथा (उनके) आदेशो का पालन करेंगे।

प० १०—तथा मेरे कुल मे उत्पन्न होने वाले राजाओ द्वारा इस दान का अपहरण नही किया जाएगा (अपितु) अनुमोदन किया जाएगा, (तथा) प्रथानुसार राजा को न मिलने वाले कर नही लिए जाएंगे।

प०—"तथा जो भी इस दान का अपहरण करेगा, वह पाच महापातको तथा उपपातको (के अपराध) का भागी बनेगा।"

प० १३—पूज्य व्यास द्वारा महाभारत मे यह कहा गया है–'हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठिर, पूर्वदत्त दान का–चाहे वह स्वय द्वारा दिया गया हो अथवा किसी अन्य के द्वारा दिया गया हो–सावधानी से रक्षा करो, (सत्य) ही) (दान की) रक्षा दान देने से अधिक पुण्यकर (हैं)। यह पृथ्वी सगर से प्रारम्भ होकर बहुसख्यक राजाओ द्वारा भोगी गई है, जो भी किसी समयविशेष पर पृथ्वी का स्वामी होता है, उस समयविशेष पर उसे (यदि वह इस दान को बनाए रखता है तो इसका) फल ! वस्तुत, नियमानुसार, राजाओ को किसी अमागलिक स्थिति का अनुभव नही करना पडता, किन्तु भूमि-दान करने पर वे सदा के लिए पवित्र बन जाते हैं। भूमि-दान करने वाला साठ हजार वर्षो तक स्वर्ग मे सुख-लाभ करता है, (किन्तु) (दान का) अपहरणकर्त्ता एव (अपहरणकार्य की) मति देने वाला इतने ही वर्षो तक नरक-वास करेंगे। (प्रसन्नता से) (यह कहते हुए कि) 'हमारे कुल मे भूमिदान करने वाला उत्पन्न हुआ है, वह हमारा उद्धारक होगा'—(मृतको के लोक मे) पितर लोग हाथो से अपने भुजाओ को

---

१ इस नाम का प्रथम भाग, अज्झित, प्राकृत शब्द होना चाहिए। इसे सस्कृत उज्झित में शुद्ध करने की इच्छा उठ सकती है, किन्तु किसी भी अवतरण में, जिसमे यह अविस मिलता है, पूर्ववर्ती शब्द देव्याम् के म के नीचे उ (७) का थोडा सा भी चिन्ह नहीं मिलता। जनरल कनिंघम ने इस नाम को मज्झित देवी पढ़ा, किन्तु यह अशुद्ध है। क्योंकि किसी भी अवतरण में देव्याम् के व्या के ऊपर अनुस्वार का कोई भी चिन्ह नही मिलता। जीवितगुप्त द्वितीय के देव-बरणाक अभिलेख (नीचे स० ४६, प्रति० २६ ख) की प० ५ में हमें एक अन्य प्राकृत नाम इज्जादेवी पाते है।

२ कुशलिन् एक पारिभाषिक अभिव्यक्ति है जो राजपत्रो मे निरन्तर प्रयुक्त होती हुई मिलती है।

३ भागभोग, शाब्दिक अर्थ उपभोग अथवा हिस्सा। मेरा अनुवाद अपने सस्कृत शब्दकोश में भागभुज की मोनियर विलियम्स द्वारा व्याख्या, 'करों का उपभोग करना, राजा अथवा सार्वभौम शासक', पर आधारित है।

डोलते हैं (तथा) पितामह लोग कूदते हैं। (दान में दी गई) सभी (प्रकार के) अन्नों से समृद्ध इस भूमि का जो अपहरण करेगा, वह श्वान की विष्ठा का कीड़ा बनेगा तथा (अपने) पूर्वजों के साथ (नरक में) गिरेगा।

प० २१—वर्ष एक सौ चौहत्तर में, आषाढ मास के चौदहवें दिन, ऊपर दिन (इ०) द्वारा (निर्दिष्ट) इस (चान्द्रदिवस) पर[1] —(यह राजपत्र) भोगिक, अमात्य राज्यिल के पौत्र, भोगिक ध्रुवदत्त के पुत्र मुख्य भोगिक गुजकीर्ति द्वारा लिखा गया। दूतक (हैं) उपरिक, दीक्षित[2], गृहस्थ[3] तथा मुख्य स्थपित[4] सर्वदत्त।

प० २४—वर्ष १०० (तथा) ७० (तथा) ४, (मास) आषाढ, दिन १० (तथा) ४।

---

[1] इ०, ऊपर पृ० ११८, टिप्पणी ४।

[2] दीक्षित, 'जिसने दीक्षा ली है अथवा जो धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पादित कर चुका है।'

[3] गृहपति 'गृहस्थ, द्वितीय आश्रम का सदस्य जो अपनी शिक्षा समाप्त कर चुका है तथा विवाह करके व्यवस्थित जीवन व्यतीत कर रहा है।'

[4] स्थपितसम्राट्, अर्थ पूर्णतया निश्चित नहीं है। सम्भवतः इसका अर्थ है 'मूर्तियों का अथवा अन्तःपुर की देख-रेख करने वाला अधिकारी।'

महाराज जयनाथ के लोह-पत्र—वर्ष १७७

मान ६६

१८ रा [ ] षष्टि वर्षसहस्राणि[1] स्वर्गे मोदति भूमिद
१९ बहुभिर्व्वसुधा भुक्ता राजभिस्सगरादिभि । यं (य)स्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फल [॥*]
२० सर्व्वसस्यसमृद्धान् [तु*] यो हरेत वसुन्धरा [ ] । स विष्ठायां कृमि [ ] भूत्वा पितृभि सह मज्य (ज्ज) ते [॥*]
२१ सम्वत्सरशते सप्तसप्तत्यु[त्त*]रे चैत्रमासदिवसे द्वाविंशतिमे लिखित[2] भोगिकफाल्गु[3]-दत्तामात्य—
२२ मात्य[4]नप्त्रा भोगिकवराहदिन्नपुत्रसान्धिविग्रहिकगल्लुना । दूतकोपरिक[5]दीक्षितगह—
२३ पतिस्यपतिसम्राट्छर्व्वदत्त ॥ यत्राघाता धान्यवाहवाहिकप्रत्युद्देशे गर्त्ता पाली च ।
२४ दुर्गमण्डलप्रदेश पाली [।*] सुवर्णवक्षकप्रदेशे गोपथशर अर्धेन च पालो [।*]
२५ आमुकप्रदेशे गर्त्ता [।*] दारमण्डलप्रदेश्रे (शे) पाली [।*] वक्रवरणप्रावेश्यमण्डलप्रदेशे पाली [।*]
२६ ग्रामे यावत्कूप प्रविष्टा इति [॥*]

अनुवाद

कल्याण हो ! उच्चकल्प से,—महाराज ओघदेव थे । उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न महाराज कुमादेव (थे) । उनके पुत्र, जो उनके चरणो ध्यान करते थे, महादेवी जयस्वामिनी मे उत्पन्न जयस्वामिन (थे) । उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी रामदेवी से उत्पन्न महाराज व्याघ्र (थे) ।

प० ४—उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते हैं, महादेवी अज्झित देवी मे उत्पन्न महाज जयनाथ—जो सकुशल हैं—ववपल्लिका से ब्राह्मणों से लेकर गिरिपयो तक सभी कृषकों के प्रति आदेश जारी करते हैं ।

प६—आप सभी को ज्ञात हो कि, मेरे अपने पुण्य की वृद्धि के लिए (तथा) भगवान् के चरणों के लाभ के लिए[6], यह गाव मेरे द्वारा भगवान् के अग्रहार के रूप मे—जो चन्द्रमा तथा सूर्य का समकालिक हो—शाशातनेय (गोत्र)(?) के दिविर[7] सर्वबाढ को तथा उसके पुत्र भागवत गग को तथा

---

१ पढ़ें, सहस्राणि ।

२ जोड़े, शासनम् ।

३ पढ़ें, फल्गु । फाल्गु—इस रूप में यह नाम नीचे लेख स० १८ की प० ३० मे तथा लेख स० ३० की प० ११ में पुन प्राप्त होता है । किन्तु, नीचे लेख स० ३१ की प० २८ मे इसका शुद्ध रूप फल्गु ही अंकित मिलता है ।

४ पढ़ें, अमात्यनप्त्रा । मात्य, इन अक्षरो की गलती से पुनरावृत्ति हो गई है ।

५ पढ़, दूतकउपरिक, द्र० ऊपर पृ० १४६, टिप्पणी ८ ।

६ अर्थात् "भगवान् के लाभ के लिए ।" यहा तथा नीचे प० ९ में अंकित 'चरणों' शब्द का प्रयोग केवल सम्मानपूर्ण उल्लेख करने मे व्यवहृत सामान्य प्रचलन के अनुसार है। यहां विष्णु के चरण-चिन्हों से युक्त कोई मन्दिर अभिप्रेत नहीं है क्योकि यदि ऐसा होता तो पाद का प्रयोग न होकर पद का प्रयोग होता ।

७ दिविर एक पारिभाषिक राजकीय उपाधि है जिसका अर्थ डा० ब्यूलर ने (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि०, ६, पृ० १०) लिपिक, लेखक अथवा सगणक (accountant) किया, उनके इस अनुवाद का आधार क्षेमेन्द्र के लोकप्रकाश का एक अवतरण था, जो लिखित कागज पत्रा के विवरणों को 'दिविरों' के लाभ के लिए व्याख्यायित करता है ।

उसके पौत्रो रगबोट तथा अजगरदास को दान मे दिया जाता है। तथा इन लोगो द्वारा प्रतिष्ठापित भगवान् के चरणो के टूट फूट के निर्माण द्वारा तथा बलि, चरु, सत्र तथा अन्य (इस प्रकार के अनुष्ठानो) के सम्पादन द्वारा क्रम से (उनके) पुत्र, (पोत्र), प्रपौत्र तथा प्रपौत्रो के पुत्र स्वय अपने पुण्य की वृद्धि करे।

प० ११—"आप लोग स्वय ही प्रथानुसार प्रदेय शुल्को, राजभाग, करो, सुवर्ण इ० को इन लोगो को प्रदान करेंगे तथा उनके आदेशो का पालन करेंगे।

प०—"तथा मेरे वश मे उत्पन्न राजाओ द्वारा यह दान अपहृत न किया जाय (अपितु) अनुमोदित हो (तथा) चोरो के ऊपर लगाए गए दण्ड-शुल्क को छोड कर, प्रथानुसार राजा को न प्राप्त होने वाले कर न लिए जाय, तथा (यह दान) समय समय पर सुरक्षित होता रहे।

प० १४—"जो भी इस दान का अपहरण करेगा, वह पाच महातको तथा उपपातको (के अपराध) का भागी बनेगा।"

प १५—तथा महाभारत मे वेद-व्यवस्थापक पूज्य व्यास द्वारा यह कहा गया है-हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठिर, दान दी गई भूकि की–चाहे वह स्वय द्वारा दान दी गई है अथवा किसी अन्य के द्वारा दी गई है—सावधानी से रक्षा करो, (सत्य ही) (दान की) रक्षा दान देने से अधिक पुण्यकर (है)। वस्तुत नियमानुसार, राजा को किसी अशुभ दशा का अनुभव नही करना पडता किन्तु भूमि-दान करने पर वे सदा के लिए पवित्र बन जाते है'। भूमि-दान करने वाला साठ हजार वर्षो तक स्वर्ग मे सुख-लाभ करता है, (किन्तु) (दान का) अपहरणकर्त्ता तथा (अपहरण-कार्य) का अनुमोदन करने वाला उतने ही वर्षों तक नरक-वास करेंगे।' यह पृथ्वी सगर से प्रारभ होकर बहुसख्यक राजाओ द्वारा भोगी गई है, जो भी किसी समयविशेष पर पृथ्वी का स्वामी है, उसे उस समयविशेष पर (यदि वह इस दान को बनाए रखता है तो इसका) फल ' (इस दान दी गई) (सभी प्रकार के) अन्नो से समृद्ध भूमि का जो अपहरण करेगा, वह विष्ठा का कीडा बनेगा तथा अपने पितरो के साथ (नरक मे) अध पतित होगा। '

प० २१—वर्ष एक सौ सतहत्तर मे, चैत्र मास के बाइसवे दिन (यह राजपत्र) भौगिक, अमात्य फलगुदत्त[1] के पौत्र तथा भोगिक वराहदिन्न[2] के पुत्र सधिविग्रहिक गल्लु द्वारा लिखा गया। दूतक (है) उपरिक, दीक्षित, गृहस्थ तथा शिल्पि-प्रमुख[3] शर्वदत्त।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० १५१, टिप्पणी ३।

२ दिन्न अत्यन्त असामान्य शब्द है। किन्तु यह निम्न दृष्टान्तो मे प्राप्त होता है १ नामवाचक सज्ञा के दूसरे भाग के रूप मे—यह एक जैन आचार्य के नाम इन्द्रदिन्न मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० २४७, २५१) तथा सभवत धरसेन द्वितीय के मालिया दानलेख (नीचे, स० ३८) की प० २५ मे, अकित बीकिदिन्न मे (जहा सभवत यह स्वतन्त्र एक नाम हो सकता है), २ स्वतन्त्र एक नाम के रूप मे—महासामन्त तथा महाराज समुद्रसेन के निर्मण्ड दानलेख (नीचे स० ८०, प्रति० ४४) की प० ६, मे तथा एक जैन आचार्य के नाम के रूप मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० २५२), तथा ३ दिन्नाग्राम नामक एक गाव (मोनियर विलियम्स का सस्कृत शब्द कोश) के प्रसग मे, किसी गाव के नाम के प्रथम भाग के रूप मे। शीलादित्य पचम् के ढाक दानलेखो मे से एक दानलेख (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल ऐशियाटिक सोसायटी, जि० ११, पृ० ३४५, तथा इण्डियन इन्सक्रिपशन्स, स० १५) की प० ५४ मे हम दिण्णपुत्र नामक एक गाव अथवा नगर उल्लिखित पाते है जो या तो दिन्नपुत्र के स्थान पर गलत अकित हो गया है अथवा उसका क्षेत्रीय रूपान्तर है अथवा अधिक सभव है कि दिन्नापुत्र के स्थान पर गलत अकित हो गया है।

३ स्थपतिसम्राज्, द्र०, ऊपर पृ० १४८, टिप्पणी ४।

प० २३—इस प्रसग मे सीमाए (हैं) धान्यवाहिक[1] की दिशा मे एक सीमानिर्धारिका खाई तथा एक पुल[2], दुर्गमण्डल की दिशा में एक पुल, सुवर्णकक्षक की दिशा मे (अशत) वह स्थान-विशेष जहा पशुओ के मार्ग के निकट शर उगते हैं[3] तथा अशत एक पुल, आमुक की दिशा मे एक सीमा-निर्धारिका खाई, दारमण्डल की दिशा मे एक पुल, (तथा) मण्डल की दिशा में वक्रवरण प्रवेश-स्थान पर एक पुल, (तत्पश्चात् सीमाए) (पुन) गाव मे कूप के पास प्रवेश करती हैं।

---

१ इन प्रदेशों मे धान्यवाहिक बहुत सामान्य ग्राम-नाम जान पडता है, क्योंकि हमे मानचित्रो में 'Dauwai', 'Dhouwahi' (तीन बार) 'Dhunwahee' तथा 'Dhunwai' जैसे मिलते जुलते ग्राम-नाम प्राप्त होते हैं जो सभी उचहरा से, दक्षिण-पूर्व, दक्षिण तथा दक्षिण पश्चिम में, बत्तीस मील की दूरी के अन्दर स्थित है।

२ पालि, मेड, बांध, अथवा ऊची सडक। यदि इसका उल्लेख इस अवतरण मे पांच बार न होता तथा पांच भिन्न दिशाओं में स्थित न बताया जाता, तो इसे भी ग्राम-नाम के रूप मे लिया जा सकता था, क्योंकि मानचित्रों मे 'Pali' नामक एक गाव को उचहरा से सैंतीस मील उत्तर-पश्चिम में, तथा पुन एक दूसरे गांव को उचहरा से सत्तर मील दक्षिण-पूर्व मे स्थित दिखाया गया है।

३ 'गोपथशर, प० २४, अर्थ स्पष्ट नहीं है। शर का एक अर्थ है Saccharum Sara नामक घास।

सं० २८; प्रतिचित्र १८

महाराज सर्वनाथ का खोह ताम्रपत्र-अभिलेख

वर्ष १९३

इस अभिलेख के विषय मे अभी तक जन सामान्य को ज्ञान नही है। यह ताम्रपत्रो के एक अन्य वर्ग पर मिलता है और ऐसा प्रतीत होता है कि ये ताम्रपत्र सेन्ट्रल इण्डिया के बघेलखन्ड क्षेत्र में नागौध राज्य मे स्थित खोह नामक एक गाव के पास की घाटी मे कही प्राप्त हुए थे। नागौध के राजा के पास से इन मूल पत्रो को परीक्षणार्थ मे मेजर डी० डब्लू० के० बर की कृपा से पा सका।

जहा तक सप्रति प्रकाशित लेख का प्रश्न है, एक ही ओर अकित ये ताम्रपत्र सख्या मे दो हैं, जिनमे प्रथम ७३/४" लम्बा तथा ६१/२" चौडा है और दूसरा ७१/२" लम्बा और ६१/४" चौडा है। इनके किनारे लेखाकित स्तर से थोडा मोटा बनाए गए हैं जिससे अन्दर का भाग कुछ नीचा हो गया है और लेखन की सुरक्षा-हेतु पटिया बन गई हैं। सपूर्ण लेख अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है। पत्र पर्याप्त मोटे हैं और अक्षरो के गहरे उत्कीर्ण होने पर भी ये पीछे की ओर उभरे नही दिखाई पडते। उत्कीर्णन सुन्दर हुआ है किन्तु—जैसा सामान्यतया पाया जाता है—अक्षरो के आन्तरिक भागो मे उत्कीर्णक के उप-करणो के चिन्ह मिलते हैं। प्रत्येक पत्र के ऊपरी भाग मे उन्हे परस्पर सम्बद्ध करने के लिए निर्मित छल्ले का सूराख बना मिलता है। छल्ला लगभग ३/१६" मोटा है और इसकी परिधि १३/४" है। जब यह दानलेख मेरे पास आया, उस समय यह कटा हुआ नही था, तथा ताम्रपत्रो से अलग करने के लिए इसका एक सिरा मुहर के सूराख से सायास निकाल दिया गया था। किन्तु यह छल्ला इन्ही पत्रो का छल्ला प्रतीत होता है। मुहर, जिससे छल्ले के दोनो सिरे सलग्न हैं, आयताकार है जिसके दोनो भुजाओ की लम्बाई क्रमश. १५/१६" तथा ११/४" है। पत्रो के साथ साथ यह आग मे जला हुआ है और पत्रो की अपेक्षा इसे अधिक क्षति पहुँची है किन्तु यह देखा जा सकता है कि इसके ऊपर थोडे दबे स्तर पर उकेरी मे विष्णु के पक्षी-वाहन गरुड को अपने फैलाए हुए पख के साथ दिखाया गया है—जैसा कि हम चन्द्रगुप्त द्वितीय की ताम्र मुद्राओ पर पाते हैं, तथा इसके नीचे दो पक्तियो मे यह अत्यन्त क्षतिग्रस्त लेख मिलता है महाराज श [ं] व [ना] थ। दोनो पत्रो का भार २ पौंड ४ औंस है तथा छल्ले और मुहर का भार २१/२ औंस है, सम्मिलित भार २ पौंड ६१/२ औंस। अक्षरो का औसत आकार ३/१६" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा उसी प्रकार के हैं जैसे हमे वर्ष १७४ मे तिथ्यकित महाराज जयनाथ के कारीतलाई दानलेख (ऊपर, स० २६, प्रति० १६) मे मिलते हैं। इनमे, प० ५ मे अकित आज्झित मे अपेक्षाकृत असामान्य अक्षर झ का प्रयोग मिलता है। भाषा सस्कृत है, तथा प० २२ तथा २८ मे अकित आशीर्वादात्मक तथा अभिशसनात्मक श्लोको-को छोड़कर सपूर्ण लेख गद्य मे है। भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से ये विशिष्टताए ध्यातव्य है. १ प १५ मे प्राकृत शब्द **फुट्ट** का प्रयोग, तथा २ प० १३ इ० मे अकित **अनुमोदितक** मे तथा प० १४ मे अकित **उपरि-लिखितक** मे, प० १४ इ० मे अकित **प्रतिष्ठापितक** मे, तथा प० १८ इ० मे अकित **उत्पद्यमानक** मे **क** प्रत्यय का प्रयोग जिस पर मैंने ऊपर पृ० ८६ मे चर्चा की है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए' ध्यातव्य हैं १ प० २१ मे अकित स पंचभिर् मे उपध्मानीय का प्रयोग, २. प० ८ मे अकित **कारूश्च**

मे, प० १० तथा १२ में अंकित अन्श के विविध रूपो मे तथा प० १८ मे अंकित वन्श मे श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर दन्त्य आनुनासिक का प्रयोग, ३ अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर क तथा त का सतत द्वित्व, उदाहरणार्थ प० १३ मे अं कित अनुक्क्रम में, प० १४ में अं कित वक्क्रम में, प० १ मे अं कित पुत्त्र मे, प० १६ मे अं कित सत्त्र मे तथा प० ३१ में अं कित क्षत्त्रिय में, ४ प० ३१ में अं कित विग्ग्रहिक मे इन्हीं अवस्थाओ मे ग का द्वित्व, ५ प० १, २, ४, ५, तथा ६ में अं कित अनुद्ध्यात मे, अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर ध का द्वित्य, ६, प० ८ में अंकित (वो के स्थान पर लिखित) बा मे, प० २३ मे अं कित (या के स्थान पर लिखित) बा मे तथा प० २९ मे अं कित सम्बत्सर मे व के स्थान पर यदा-कदा ब का प्रयोग, तथा ७ प० १६ में अं कित बलि में तथा प० ३१ मे अं कित बलाधिकृत मे ब के स्थान पर व का प्रयोग।

इस लेख के प्रथम पत्र को देखकर ऐसा लगता है मानो लिखे हुए को मिटाकर फिर से लिखा गया है। इसके वाह्य भाग पर सोलह पक्तियो के लेखन के चिन्ह प्राप्त होते हैं जिनमें इसी महाराज शर्वनाथ का, वर्तमान लेख के अक्षरो के सदृश अक्षरो में ही, एक लेख अं कित था। इन्हे इतनी सावधानी से पीट कर समतल किया गया है कि उनका अं कन उतारना सभव नही है, और केवल कुछ शब्द यत्र तत्र पढे जा सकते हैं। किन्तु मैं प० ४ में रामदेवी, प० ५ में अज्झितदेवी, प० ६ मे जयनाथ तथा प० ७ में शर्वनाथ के नामों को पढ सका हू। और ऐसा जान पडता है कि यह लेख इस कारण अपाकृत कर दिया क्योकि प० ७ में महाराज शर्वनाथ कुशली तथा ब्राह्मणादीन्कुटुम्बिन के बीच तमसानद्या उत्तरपारे ये शब्द छूट गए थे।

वर्तमान लेख महाराज शर्वनाथ का है तथा इसमे लिखित राजपत्र उच्चकल्प नामक नगर अथवा पहाडी से जारी किया गया है। राजपत्र की तिथि, शब्दों में, वर्ष एक सौ तिरानवे (ईसवी सन् ५१२-१३) तथा-पक्ष विशेष के उल्लेख बिना-चैत्र मास (मार्च-अप्रैल) का दसवा दिन, दी गई है। यह अशत वैष्णव लेख है तथा अशत सूर्योपासना से सबद्ध है, इसका प्रयोजन महाराज शर्वनाथ द्वारा तमसा नदी के उत्तरी तट पर स्थित आश्रमक नामक गाव के दान दिए जाने का लेखन है, जिसमे उसके तथा दान पाने वालो के बीच यह शर्त है कि अन्य वस्तुओं के साथ इस दान का उपयोग भगवत् नामान्तर्गत विष्णु के मन्दिर के लिए तथा एक अन्य देवता—जो, जिस रूप मे उसका नाम लिखा मिलता है, आदित्य अथवा सूर्य के लिए गलत अंकित हो गया जान पडता है—के मन्दिर के लिए किया जाएगा।

मैं आश्रमक गाव का तादात्म्य नही स्थापित कर पाया हू। किन्तु तमसा नदी निश्चित रूपेण मानचित्रों मे निर्दिष्ट आधुनिक तमस (Tamas) तथा टोंस (Tons) नदी है जिसका उद्गम नागौध के दक्षिण में स्थित महियर राज्य मे होता है तथा जो रीवा (वस्तुत रीवा अथवा कभी कभी रीमा) के उत्तरी भाग से होती हुई इलाहाबाद के दक्षिण-पूर्व में लगभग अट्ठारह मील की दूरी पर गगा नदी मे गिरती है। तथा उन परिस्थितियो में जो कि यह प्रदर्शित करते हैं कि कम से कम इसके उत्तरी तट पर स्थित किसी गाव पर महाराज शर्वनाथ का क्षेत्रीय स्वामित्व था, इसका उल्लेख इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इससे यह प्रमाण मिलता है कि उच्चकल्प के महाराज उसी भू-भाग से सबद्ध थे जहाँ उनके दानलेख प्राप्त होते हैं। इस प्रश्न पर एकमात्र अन्य निश्चित साक्ष्य-जैसा कि ऊपर पृ० १११ पर चर्चा की जा चुकी है—भुमरा से प्राप्त प्रस्तर-स्तम्भ पर अंकित वह लेख है जिसमे हस्तिन् तथा शर्वनाथ दोनो का उल्लेख हुआ है।

मूलपाठ[1]

१ ओम् स्वस्त्युच्चकल्पात् (न) महाराजौघदेवस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यातो महादेव्या [*]
२ कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराजकुमारदेवस्तस्य पुत्रस्तत्पादानु—
३ द्ध्यातो महादेव्या जयस्वामिन्यामुत्पन्नो महाराजजयस्वामी तस्य
४ पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यातो महादेव्या रामदेव्यामुत्पन्नो महाराजव्याघ्रस्तस्य
५ पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यातो महादेव्यामज्झितदेव्यामुत्पन्नो महाराजजय—
६ नाथस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्धयातो महादेव्या मुरुण्डदेव्यामुत्पन्नो महाराज—
७ शर्वनाथ कुशली तमसानद्या उत्तरपारे आश्रमके ब्राह्मणा—
८ दीन्कुटुम्बिनस्सर्वकारूंश्च समाज्ञापयति [।*] विदितम्वा(वो)ऽस्तु यथैष—
९ ग्रामो मया चन्द्रार्क्कसमकालिकस्स्[।*] उद्रङ्गस्सोपरिकर अचाट—
१० भटप्रावेश्यश्चोरदण्डवर्ज्जित. चतु [*] भिरन्शे[2] प्रतिपादित [।*] अतोऽ—
११ न्शद्वय विष्णुनन्दिन अपरोऽप्यन्श स्वामिनागपुत्रवणिज—
१२ शक्तिनागस्य अपरोऽप्यन्श कुमारनागस्कन्दनागयो [।*] एततपु—
१३ त्र [पौत्र*]प्रपौत्रतत्पुत्राद्यनुक्रमेण[3] ताम्रशासनेनातिसृष्ट [.*] [।*] एभिर [ि*] प् मम्- [ा*]—
१४ नुमोदितक यथोपरिलिखितकक्रमेणैव म्वपुण्याभिवृद्धये स्व प्रति—
१५ ष्ठापितकभगवत्पादानामादित्सा[4]भट्टारकपादानाञ्च खण्डफुट्ट[5] प्रतिस—
१६ स्कारकरणाय ब(व)लिचरुसत्रगन्धधूपमाल्यदीपप्रवर्त्तनाय च् [।*] तिसृष्ट[6] [।*]

द्वितीय पत्र

१७ तै (ते) यूयमेषा समुचितभागभोगकरहिरण्यादिप्रत्यायोप —
१८ नय [*] करिष्यथाज्ञाश्रवणविधेयाश्च भविष्यथ [।*] ये चास्मद्वन्शोत्पद्य—
१९ मानकराजनस्तैरियन्दत्तिर्न्न विलोप्यानुमोदनीया यथो (था) कालञ्च
२० प्रतिपालनीया समुचितराजाभाव्यकरप्रत्यायाश्च न ग्राह्या [।*] य
२१ इमान्दत्तिन्लोपयेत्सहपञ्चमि[7]र्महापातकरुपपातकैश्च सयुक्त [*]
२२ स्यादुक्तञ्च महाभारते भगवता वेदव्यासेन व्यासेन [।*] स्व[8]दत्ताम्परदत्ता—

---

१ मूल पत्रों से ।

२ पढें, अन्शै ।

३ यहा हमे उपभोग्य अथवा इसी प्रकार का कोई अन्य शब्द जोडना होगा ।

४ पढें, आदित्य । 'प्राप्त करने अथवा लेने की इच्छा', इस अर्थ मे आदित्सा एक नियमित सरचना है, जो दा (='देना) धातु से, आ उपसर्ग के साथ मिलकर, बनता है । किन्तु यह नामवाचक सज्ञा के रूप में नहीं ज्ञात है, और यहा इसमें सदेह नही है कि उत्कीर्णक ने आदित्य (=सूर्य) के स्थान पर गलती से आदित्सा लिख दिया ।

५ पढें, स्फुटित, द्र० ऊपर पृ० १५०, टिप्पणी ३ ।

६ पक्ति के अन्त मे स्थानाभाव के कारण यह ष्ट च् (।*) के नीचे जोडा गया है ।

७ पढ़ें, य इमन्दत्ति लोपयेत्स पञ्चभिर् ।

८ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले चार श्लोको मे ।

महाराज शर्वनाथ के खोह-पत्र—वर्ष १९३

१

२.

मान ७५

२३ म्वा (वा) यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर महीम्महिमताञ्छ्रेष्ठ[1] दानाच्छ्रेयोऽनुपालन [॥*]
२४ प्रायेन (ण) हि नरेन्द्राणा विद्यते न[ा*]शुभा गति पूयन्ते ते तु सतत प्र—
२५ यच्छन्तो वसुन्धरा [*] [॥*] बहुभिर्वसुधा भुक्ता राजभिस्सगरादिभि यस्य
२६ यस्य यदा भु (भू) मिस्तस्य तस्य तदा फल [॥*] षष्टि वर्षसहस्राणि स्वर्गे मोद—
२७ ति भूमिद आच्छेत्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्सर्व्व[2]सस्यसमृ—
२८ द्धान्तु यो हरेत वसुन्धरा श्वविष्ठायाम् कृमिर्भूत्वा पितृभिस्सह मज्जते [॥*]
२९ लिखित[3] सम्व (म्व) त्सरशते तृ(त्रि)नवत्युत्तरे चैत्रमासदिवसेदशमे
३० भोगिकफल्गु[4] दत्तामात्यनप्त्रा भोगिकवराहदिन्नपुत्रेण महा—
३१ सान्धिविग्रहिकमनोरथेन [।*] दूतक् [ो*] मं(म)हाव (ब) लाधिकृतश्री त्रय—
३२ शिव[5]गुप्त [॥*]

अनुवाद

ओम ! कल्याण हो ! उच्चकल्प से,—महाराज ओघदेव (थे)। उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न महाराज कुमारदेव (थे)। उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी जयस्वामिनी से उत्पन्न महाराज जयस्वामिन् (थे)। उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी रामदेवी से उत्पन्न महाराज व्याघ्र थे। उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी वज्भितदेवी से उत्पन्न महाराज जयनाथ (थे)।

प० ६—उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते हैं, महादेवी मुरुण्डदेवी[6] मे उत्पन्न महाराज शर्वनाथ—जो सकुशल हैं—तमसा नदी के उत्तरी तट पर स्थित आश्रमक (नामक गाव) के, ब्राह्मणो से लेकर शिल्पियो तक, सभी कृपको के प्रति यह आदेश देते हैं—

प० ८—"आप सभी को यह विदित हो कि यह गाव मेरे द्वारा—उद्रग तथा उपरिकर के साथ तथा (इस विशेषाधिकार के साथ कि) यह नियमित तथा अनियमित दोनो प्रकार की सेनाओ के लिए अप्रवेश्य हो—चन्द्रमा तथा सूर्य की स्थिति तक दीर्घजीवी, चार भागो मे नियत किया जाता है। इनमे से दो भाग विष्णुनन्दिन् के हैं, तथा अन्य एक भाग स्वामिनाग के पुत्र वणिक् शक्तिनाग का तथा शेष एक भाग कुमारनाग एव स्कन्दनाग का है। (इस) राजपत्र द्वारा यह क्रम से उनके तथा (उनके) पुत्रो, (पौत्रो), प्रपौत्रो तथा प्रपौत्रो के पुत्रो (के उपभोग) के लिए दिया जाता है। अपरञ्च उनके द्वारा (तथा) मेरे द्वारा यह स्वीकार किया जाता है कि यह दान—ऊपर लिखित क्रम (से उनके तथा उनके वशजो) द्वारा अपने पुण्य की वृद्धि के लिए उनके द्वारा स्थापित भगवत् के चरणो[7] तथा पावन सूर्य-चरणो[8] (के मदिरो) मे, जो भी टूट फूट हो उसका पुनर्निमाण किया जाय तथा वलि, चरु, सत्र, धूप, सुगन्धि, माला तथा दीप की व्यवस्था की जाय—इस उद्देश्य से दिया जाता है।

---

१ पढ़ें, महीमतां श्रेष्ठ।

२ पढें, वसेत् [॥*] सर्व्व।

३ जोडे, शासनम्।

४ पढ़ें, फल्गु, द्र० ऊपर पृ० १५१, टिप्पणी ३।

५ यह गु मूलपाठ मे काफी मिट सा गया है किन्तु सवथा पठनीय है।

६ स० २६, प० ६ में तथा स० ३१ प० ६ म उसे मुरुण्डस्वामिनी कहा गया है।

७ द्र०, ऊपर पृ० १५१, टिप्पणी ६।

८ द्र०, ऊपर पृ० १५१, टिप्पणी ६, तथा पृ० १५६, टिप्पणी ४।

प० १७—"आप लोग स्वयं ही उन्हे प्रथानुसार प्रदेय राजभाग, कर, सुवर्ण इत्यादि प्रदान करेंगे तथा (उनके) आदेशो का पालन करेंगे।

प० १८—"तथा मेरे वशजो द्वारा इस दान का अपहरण नही किया जाय (अपितु) अनुमोदन किया जाय, तथा समयानुसार इसकी रक्षा की जाय। (तथा) प्रथानुसार राजा को न प्राप्त होने वाले कर न लिए जाय।

प० २०—जो भी इस दान का अपहरण करेगा, वह पाच महापातको तथा उपपातको (के अपराध) का भागी बनेगा।"

प० २१—महाभारत मे वेदव्यवस्थापक पूज्य व्यास द्वारा यह कहा गया है—"हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठिर, दान दी गयी भूमि का—चाहे वह स्वय द्वारा दान दी गई हो अथवा किसी अन्य के द्वारा दान दी गई हो—सावधानी से रक्षा करो, (सत्य ही) (दान की) रक्षा दान देने से अधिक पुण्यकर है। नियमानुसार राजा को किसी अमागलिक अवस्था का नही अनुभव करना पडता किन्तु भूमि-दान करने पर वे सदैव के लिए शुद्ध हो जाते है। पृथ्वी सगर मे प्रारम्भ हो कर बहुसख्यक राजाओ द्वारा भोगी गई है, जो भी किसी समयविशेष पर पृथ्वी का स्वामी होता है, उसको ही उस समयविशेष पर (यदि वह बनाए रखता है तो इस दान का) फल। भूमि-दान करने वाला साठ हजार वर्षो तक स्वर्ग मे सुख-लाभ करता है, (किन्तु) (दान का) अपहरणकर्त्ता तथा (अपहरण कार्य) का अनुमोदन करने वाला दोनो उतने ही वर्षो तक नरक-वास करेंगे। जो भी (इस समय दान दी गई), (सभी प्रकार के) अन्नो से समृद्ध भूमि का अपहरण करेगा, वह कुत्ते की विष्ठा का कीडा बनेगा तथा (अपने) पूर्वजो के साथ (नरक मे) अध पतित होगा।

प० २९—(यह राजपत्र) वर्ष एक सौ तिरानवे मे, चैत्र मास के दसवे दिन भोगिक, अमात्य फल्गुदत्त[1] के पौत्र (तथा) भौगिक वराहदिन्न के पुत्र महासाधिविग्रहिक मनोरथ द्वारा लिखा गया। दूतक (है) महाबलाधिकृत, क्षत्रिय शिवगुप्त।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० १५१, टिप्पणी ३।

लेख महाराज शर्वनाथ का है तथा इसमे अ कित राजपत्र उच्चकल्प नामक नगर अथवा पहाडी से जारी किया गया है। द्वितीय पत्र मे अ कित तिथि अब अप्राप्य है। लेख प्रत्यक्षत एक वैष्णव लेख है, तथा इसका प्रयोजन महाराज शर्वनाथ द्वारा धवषन्डिका ग्राम के अर्धभाग के दान दिए जाने का लेखन है, जिसमे उसके तथा दान गहण करने वाले के बीच यह समझौता है कि अन्य वस्तुओ के साथ इस दान का उपयोग पिष्टपुरिका देवी के मदिर के लिये किया जाएगा।

यह धवषण्डिका वही गाव जान पडता है जिसे वर्ष १७७ में, महाराज जयनाथ द्वारा (द्र०, ऊपर स० २७) भगवत् नामान्तर्गत भगवान् विष्णु के मदिर के लिए दान दिया गया था। तथा इसके आधे भाग का पिष्टपुरिका के मदिर के लिए नियत किया जाना इस बात का एक प्रमाण है कि यह देवी विष्णु-पत्नी लक्ष्मी की ही एक अन्य रूप थी[1]।

मूलपाठ[2]

१ ओम् स्वस्त्युच्चकल्पात् (त्) महाराजौघदेवस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्धयातो महादेव्या
२ कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराजकुमारदेवस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध् यातो
३ महादेव्या [*] जयस्वामिन्यामुत्पन्नो महाराजजयस्वामी तस्य पुत्रस्तत्पदानु—
४ द्ध् यातो महादेव्या [*] रामदेव्य् [ा*] मुत्पन्न् [ो*] महाराज व्याघ्रस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यातो
५ मह् [ा*] देव्यामज्झितदेव्याम् [ु*] त्पन्नो महाराजजयनाथस्तस्य पुत्रस्तत् [ा*] दानुद्ध् या—
६ तो महादा (दे) व्या [*][3] मुरू (रु) ण्डस्वामिन्यामुत्पन्नो महाराजशर्व्वनाथ कुशली वोट—
७ सन्तिकधवषण्डिकार्द्धे ब्राह्मणादीन्कुटुम्बिनस्सर्व्वकारूंश्च समाज्ञापयति [।]
८ विदित वोऽस्तु यथैषग्रामर्द्धो मया चन्द्रार्क्कसमकालिका (क) स्स् [ो*] द्रङ्गः
९ सोपरिकर अच् [ा*] टभटप्रावेश्य [*] सर्व्वकरात्याग[4] द्र(स्) ोत्पद्यमानकपुड्(प्र)त्याय—
१० समेत छोड्डुगोमिक[5] एतत्पुत्र [पौत्र*]प्रपौत्रतत्पुत्राद्यनुक्क्रमेण[6] ताम्र[7]
११ शासनेनातिसृष्ट [।*] अनेनापि मयानुमोदित यथोपरिलिखितक—
१२ क्क्रमेणैव भगवत्या पिष्टपुरिक् [ा*][8]देव्या खण्डफुट्ट[9]प्रतिसस्कार—

---

१ द्र०, ऊपर पृ० १३८, टिप्पणी ३।
२ मूल पाठ से।
३ यह अनुस्वार नीचे लेख स० ३१ (प्रति० २०) की प० ६ मे भी छोड दिया गया है। और इस प्रकार–जैसा कि अपने सस्कृत शब्दकोश मे मोनियर विलियम्स ने उरुण्ड मुरुण्ड दोनो को ही, किसी राक्षस और मनुष्य दोनो के लिए प्रयोज्य, नामवाचक सज्ञा बताया है—हम यहा महादेव्याम् उरुण्डस्वामिन्याम् यह पाठ कर सकते है। किन्तु हाल मे ही प्राप्त लेख स० २८ की प० ६ मे स्पष्टरूपेण महादेव्यां मुरुण्डदेव्याम् पाठ मिलता है।
४ पढे, सर्व्वकरत्याग।
५ पढे, गोमिकाय।
६ हमे यहा उपभोग्य अथवा इसी प्रकार का कोई शब्द जोडना है।
७ पढे, ताम्र।
८ द्र०, नीचे स ३१ (प्रतिचित्र २०) की प० ११, जिसमे दीर्घ स्वराक्षर आ अकित किया गया है और पर्याप्त स्पष्ट है।
९ पढे स्फुटित। द्र०, ऊपर पृ० १५०, टिप्पणी ३।

१३ करणाय व(ब)लिचरुसत्त्रप्राधर्त्त'नाय¹चातिसृष्टस्ते यूयमेषा
१४ समुचितभागभोगकरहिरण्यादिप्रत्यायोपनय [*] करिष्यथाज्ञाश्रव—
१५ णाविधेयाश्च भविष्यथ [।*] ये चास्मद्वन्शोत्पद्यमानकराजानस्तैरिय [*]
१६ दत्तिर्न्न विलोक्य्(प्य्)ानुमोदनीया

(इस लेख का दूसरा पत्र अप्राप्य है।)

अनुवाद

ओम कल्याण हो! उच्चकल्प से,—महाराज ओघदेव (थे)। उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न महाराज कुमारदेव (थे)। उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी जयस्वामिनी से उत्पन्न महाराज जयस्वामिन् (थे)। उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी रामदेवी से उत्पन्न महाराज व्याघ्र (थे)। उनके पुत्र, जो उनके च'रणोका ध्यान करते थे, महादेवी अज्झिदेवी से उत्पन्न महाराज जयनाथ (थे)।

प ५—उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते हैं, महादेवी मुरुण्डस्वामिनी² उत्पन्न महाराज शर्वनाथ—जो सकुशल हैं—वोटसन्तिक में स्थित धवषण्डिका (गाव) के अर्धभाग में, ब्राह्मणो से लेकर शिल्पियो, तक, सभी कृषको के प्रति आदेश देते है—

प० ८—"आप सब लोगो को विदित हो कि (इस) ताम्रपत्राकित राजपत्र द्वारा यह आधा गाव—उद्र ग तथा उपरिकर से साथ, (इस विशेषाधिकार के साथ कि इसमे)नियमित तथा अनियमित दोनो प्रकार की सेनाए प्रवेश न करें, सभी करो से मुक्ति के साथ, (तथा) अन्य उत्पन्न हो सकने वाले उपहारो से मुक्ति के साथ— छोडुगोमिक को, क्रम से (उनके) पुत्रो, पोत्रो तथा प्रपौत्रो (के उपभोग) के लिए दान दिया जाता है, जो चन्द्रमा तथा सूर्य की स्थिति तक दीर्घजीवी हो। तथा उनके(और) मेरे बीच यह समझौता है कि यह इसलिए दिया जाता है कि (उनके तथा उनके वशजो के) ऊपर लिखित क्रम द्वारा पिष्टपुरिका देवी से सबद्ध मदिर मे जो भी टुट फूट हो उसका पुनर्निर्माण कार्य किया जाय तथा वलि चरु एव सत्र की व्यवस्था की जाय।

प० १३—आप लोग स्वय ही इन व्यक्तियो को प्रथानुसार प्रदेय राजभाग, कर, सुवर्ण इ० प्रदान करेंगे तथा (उनके) आदेशो का पालन करेंगे।

प० १५—"तथा मेरे वशजो द्वारा इस दान का अपहरण न किया जाय (अपितु) अनुमोदन किया जाय।"

(दूसरे पत्र पर अ कित शेष लेख अब प्राप्त नही है।)

---

१ पढ़ें प्रवर्त्तनाय।

२ ऊपर स० २८की प० ६ मे उसे मुरुण्डदेवी कहा गया है। नीचे स० ३१ की प० ६ मे उमका नामान्त स्वामिनी है, जैसा कि हम यहां पाते हैं।

सं० ३०, प्रतिचित्र १९ ख

महाराज शर्वनाथ का खोह–ताम्रपत्र-अभिलेख

वर्ष १९७

जन सामान्य को इस अभिलेख का ज्ञान जनरल कनिंघम द्वारा १८७९ मे **आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया,** पृ० १४, स० ६ के माध्यम से हुआ जहा उन्होने इसका आशिक अनुवाद[1] तथा तिथि धारण करने वाले अवतरण का शिलामुद्रण (**वही,** प्रति० ४, स० ७) प्रकाशित किया। यह एक अन्य ताम्रपत्र पर अ कित है, लेख मूलत दो पत्रो के एक वर्ग पर अ कित था[2] जिसमें से केवल यह एक ही पत्र उपलब्ध है, ये ताम्रपत्र सेन्ट्रल इण्डिया के बघेलखण्ड क्षेत्र मे नागौध राज्य में स्थित खोह[3] नामक गाव के निकट की घाटी मे कही पाए गए थे। नागौध के राजा के पास से परीक्षणार्थ मूलपत्र की प्राप्ति मेजर डी० डब्लू० के० बर की कृपा से हुई।

एक ही और अ कित यह ताम्रपत्र ७⅞" लम्बा तथा ५⅞" चौडा है। इसके किनारे लेखाकित स्तर से थोडा मोटा बनाए गए हैं जिसमे आन्तरिक भाग थोडा दबा हुआ सा है और लेखन की रक्षा हेतु उभरी पट्टिया बन गई है, सपूर्ण अभिलेख अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है। पत्र पर्याप्त मोटा है किन्तु अक्षरो का उत्कीर्णन गहरा हुआ है और वे पीछे की ओर उभरे हुए दिखाई देते हैं। उत्कीर्णन सुन्दर हुआ है किन्तु—जैसा कि सामान्यतया पाया जाता है—अक्षरो के आन्तरिक भागो पर उत्कीर्णक के उपकरणो के चिन्ह प्राप्त होते हैं। पत्र के ऊपरी भाग मे छल्ले के लिए सूराख बना हुआ है जो कि इसे इसके दूसरे पत्र से सवद्ध करता था। किन्तु, छल्ला मुहर अब अप्राप्य हैं। पत्र का भार १३ औंस है। अक्षरो का औसत आकार ³⁄₁₆" तथा ⅜" के बीच में है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा वर्ष १७४ तिथ्यकित महाराज जयनाथ के कारीतलाई दानलेख

---

१ किन्तु उन्होने गलती से इसे वर्ष २१४ के दानलेख (नीचे, स० ३१, प्रति० २०) से निरन्तरता बनाते हुए उसके आगे का पत्र माना।

२ नीचे वर्ष २१४ मे तिथ्यकित लेख स० ३१ (प्रति० २०) ऊपर तिथिविहीन लेख स० २९ के समान ही एक अन्य ऐसा दृष्टान्त प्रस्तुत करता है जिसमे प्रथम पत्र की अन्तिम पक्ति आधी अकनरहित है। और सन्दर्भ को देखते हुए इस लेख को लेख स० २९ की निरन्तरता मे लिया जा सकता है। किन्तु, इस लेख के किनारे अधिक गोलाकार बनाए गए हैं, तथा ताम्बा भिन्न प्रकार का है और पत्र की मोटाई एव भार मे भी विषमता है, साथ ही अक्षर उसी काल के होते हुए भी बनावट मे काफी भिन्न है—मुख्य रूप से विसर्ग मे। उदाहरण के लिए प० २ मे अकित **ब्राह्मा** मे, प० १३ मे अकित **गुप्त** मे तथा प० १४ मे अकित **दूतक** मे विसर्ग का अकन लेख स० २९, प्रतिचित्र १९ क, प० ६ मे अकित **नाथ** मे, प० ८ मे अकित स्[ो]अङ्क में, तथा प० १० मे अकित **समेत** मे अकित विसर्ग से पर्याप्त भिन्न है। और सब मिला कर इसमे कोई सदेह नहीं हो सकता कि प्रति० १९ क तथा ख मे हमें दो भिन्न दानलेखो का क्रमश प्रथम तथा द्वितीय पत्र प्राप्त होता है, एक सपूर्ण लेख नही।

३ द्र०, ऊपर पृ० ११६ तथा टिप्पणी २।

क-महाराज शर्वनाथ का लौह-पत्र

मान ७५

ख-महाराज शर्वनाथ का लौह-पत्र—वर्ष १९७
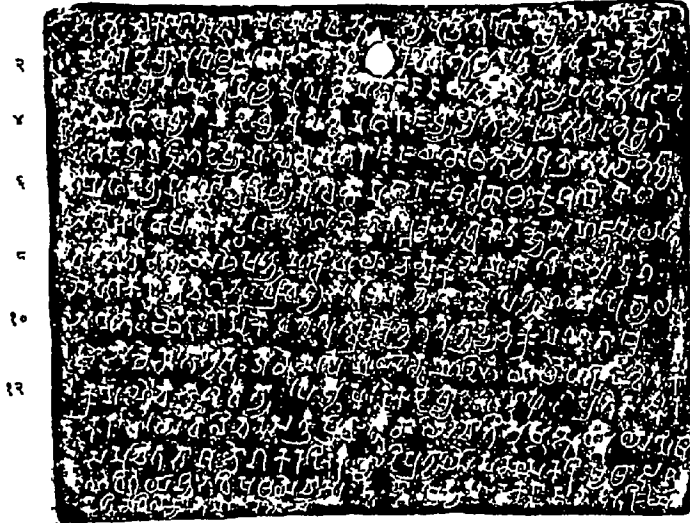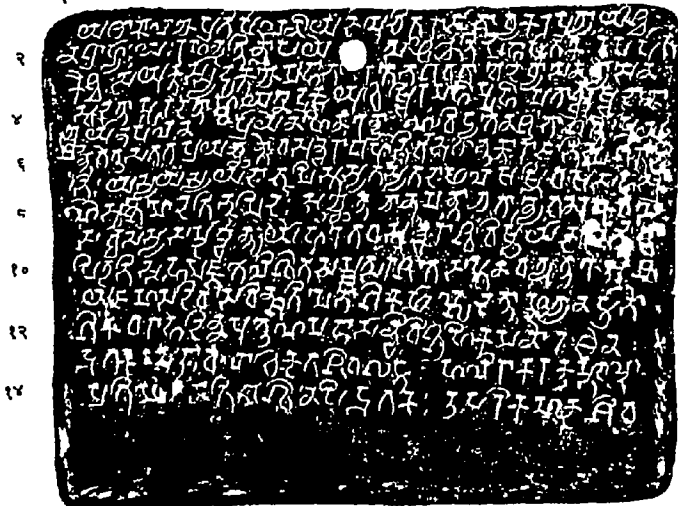
मान ७५

(ऊपर, स० २६, पृ० ११७, प्रति० १६) के अक्षरो के सामन हैं। भाषा संस्कृत है, तथा प० ४ तथा १० मे अ कित आशीर्वादात्मक एव अभिशासनात्मक श्लोको को छोड कर सपूर्ण लेख गद्य में है। वर्ण-विन्यास के प्रसग में ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १ प० २ में अ कित स ञ्चभिर् मे उपध्मानीय का प्रयोग, २ प० ११ मे अ कित विन्शति मे श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर दन्त्य आनुनतासिक का प्रयोग, ३ अनुवर्त्ती र के साथ सयोग होने पर ग तथा क का द्वित्व, उदाहरणार्थ, प० १२ मे अ कित विग्ग्राहिक तथा पुत्त्रेण मे, ४ प० ४ मे अकित वा मे तथा प० १० मे अकित सम्वत्सर मे व के स्थान पर व का प्रयोग, तथा ५ प० १३ मे अकित वलाधिकृत मे व के स्थान पर व का प्रयोग।

महाराज का नाम, तथा जिस स्थान से यह राजपत्र जारी किया गया है उस स्थान का नाम धारण करने वाला प्रथम पत्र अव अप्राप्य है, किन्तु लेख की तिथि तथा लेख के अन्त मे दिए गए अन्य विवरण यह प्रदर्शित करते है कि लेख उच्चकल्प के महाराज शर्वनाथ का है। राजपत्र की तिथि, शब्दो मे, वर्ष एक सौ सत्तानवे (ईसवी सन् ५१६—१७) तथा—पक्ष विशेष के किसी उल्लेख के विना—अश्वयुज मास (सितम्वर अक्टूवर) का वीसवा दिन, वताई गई है। दानलेख के विवरण प्रथम पत्र के साथ अप्राप्य है।

मूलपाठ[1]

(इस दान लेख का प्रथम पत्र अप्राप्य है।)

द्वितीय पत्र

१ यथाकालान्च प्रतिपालनीया [।*] समुचितराजाभाव्यकरप्रत्यायाश्च[2]
२ न ग्राह्या [।*] इ इमान् दत्तिन्लोपयेत्सह पञ्चभिर्म्महा[3]पातकैरुपपात—
कैश्च संयुक्तस्स्यादुक्तञ्च महाभारते वेदव्यासेन व्यासेन [।*]
स्व[4]दत्ताम्परदत्ताम्वा (वा) यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर महीम्महिमताञ्छ्रे ष्ठ[5] दाना—
५ च्छ्रेयोऽनुपालन [*] [॥*] प्रायेन (ण) हि नरेन्द्राणा विद्यते न [।*] शुभा गति पूय—
६ न्त्[*] ते तु सतत प्रयच्छन्तो वसुन्धरा [॥*] वहुभिर्व्वसुधा भुक्ताराजभिस्सरादि—
७ भि यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फल [*] [॥*] षष्टिव [*]र्षसहस्रा—
८ णि स्वर्गे मोदति भूमिद आच्छेत्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसे—
६ [त्*] [॥*] सर्व्वसस्यसमृद्धान्तु यो हरेत वसुन्धरा श्वविष्ठाया कृमिर्भूत्वा
१० पितृभिस्सह मज्जते [॥*] लिखित[6] मम्व (सम्व) त्सरशते सप्तनवत्युत्तरे अश्व—
११ युजमासदिवसे विन्शतिमे[7] भोगिकफल्गु[8]दत्तामात्यनप्त्रा भो—

---

१ मूल पत्र से।

२ पढ़ें, च।

३ पढ़ें, दत्तिम् लोपयेत्स पञ्चभिर्।

४ छन्द श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अनुवर्ती चार श्लोको मे।

५ पढ़ें, महीमतां श्रेष्ठ।

६ जोड़ें, शासनम्।

७ इसे सम्भवत इसे विन्शतितमे में शुद्ध करना होगा क्योंकि विंशतिम रूप किसी अन्य सख्यावाची शब्द के साथ ही प्रयुक्त होता है उदाहरणार्थ, ऊपर पृ० १२३ पर स० २७ की प० २१ मे अकित द्वाविंशतिम। किन्तु सत्याश्रय पुलकेशिराज-इन्द्रवर्मन् के गोआ दानलेख (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १०, पृ० ३६५) की प० १८ मे केवल विंशतिम का प्रयोग हुआ है।

८ पढ़ें, फल्गु, द्र०, ऊपर पृ० १५१ टिप्पणी ३।

१२ गिकवराहदिन्नपुत्त्रेण महासान्धिविग्रहिकमनोरथेन [।*]
१३ दूतक महाव(ब)लाधिकृतशिवगुप्त [।*] हलिराकरकुम्भदण्ड—
१४ प्रतिमे(मो)चनातिलेखनेऽपि दूतक उप रकमाकृ(तृ) शिव [.*] [।।*]

अनुवाद

(इस लेख का प्रारम्भिक अश प्रथम पत्र के साथ अप्राप्य है।)

"तथा, यथाकाल इसकी रक्षा की जाय। तथा प्रथानुसार राजा को न प्राप्त होने वाले कर न लिए जाय।

प० २-"जो भी इस दान का अपहरण करेगा, वह पाच महापातकों तथा उपपातको (के पाप का) भागी होगा।"

प० ३-तथा महाभारत मे वेद-व्यवस्थापक व्यास द्वारा यह कहा गया है—हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठिर पहले से दी गई भूमि का—चाहे वह स्वय द्वारा दी गई हो अथवा अन्य के द्वारा दी गई हो—सावधानी से रक्षा करो, (सत्य ही) (दान की) रक्षा दान देने से अधिक पुण्यकर है। नियमानुसार, राजा को किसी अमागलिक अवस्था का अनुभव नही करना पडता, किन्तु भूमि-दान करने से वे सदैव के लिए शुद्ध हो जाते हैं। पृथ्वी सगर से प्रारम्भ होकर बहुसख्यक राजाओ द्वारा भोगी गई है, जो भी जिस समयविशेष पर पृथ्वी का स्वामी होता है, उस समयविशेष पर उसे (यदि वह दान को बनाए रखता है तो उसका) फल ! भूमि-दान करने वाला साठ हजार वर्षो तक स्वर्ग मे सुख-लाभ करता है, (किन्तु) (दान का) अपहरण करने वाला तथा (अपहरण कार्य) का अनुमोदन करने वाला उतने ही वर्षो तक नरक-वास करेंगे। जो (इस दान दी गई) (सभी प्रकार के अन्नो मे समृद्ध भूमि का अपहरण करेगा वह कुत्ते की विष्ठा का कीडा बनेगा तथा (अपने) पितरो के साथ (नरक मे) अव पतित होगा।

प० १०—(यह दानपत्र) वर्ष एक सौ सत्तानबे मे अश्वयुज मास के बीसवें दिन भोगिक, अमात्य फल्गुदत्त[1] के पौत्र, (तथा) भोगिक वराहदिन्न के पुत्र महासाधिविग्रहिक मनोरथ द्वारा लिखा गया। दूतक (है) महाबलाधिकृत शिवगुप्त। अपरच, . [2] तथा जल-पात्रो पर दण्ड शुल्कों के छूट के लिए अतिरिक्त लेखक[3] का दूतक (है) उपरिक मातृशिव।

———

१ द्र०, ऊपर पृ० १५१, टिप्पणी ३।

२ द्र०, ऊपर पृ० १२३, टिप्पणी १।

३ हलिराकर का अर्थ स्पष्ट नहीं है।

स० ३१, प्रतिचित्र २०

महाराज शर्वनाथ का खोह ताम्रपत्र अभिलेख
वर्ष २१४

जन सामान्य को इस लेख का ज्ञान जनरल कनिंघम द्वारा, १८७९ मे, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ९, पृ० १४ तथा १६, स० ६ तथा ८ के माध्यम से हुआ जिसमे उन्होंने इसका अनुवाद[1] तथा तिथि धारण करने वाले अवतरण का शिलामुद्रण (वही, प्रति० ४, स० ८) प्रकाशित किया. यह ताम्रपत्रो के एक अन्य वग पर अकित है जो सभवत सेन्ट्रल इण्डिया के बघेलखण्ड क्षेत्र मे नागौध राज्य मे स्थित खोह[2] नामक गाव के निकट की घाटी मे कही प्राप्त हुए थे। मूल पत्रो की परीक्षणार्थ प्राप्ति मुझे जनरल कनिंघम के पास से हुई।

एक ही ओर अकित ये पत्र सख्या में दो हैं जिनमे से प्रथम ८½" लम्बा और ६" चौडा है और दूसरा ८¾" लम्बा तथा ५⅞" चौडा है। इनके किनारे लेखाकित स्तर से थोडा मोटा बनाए गए हैं जिससे अन्दर का भाग कुछ दब गया है और लेखन की सुरक्षा हेतु उभरी पट्टिया बन गई हैं, तथा, यद्यपि मोरचा लगने से पत्र यत्र तत्र काफी जीर्ण शीर्ण हो गए हैं किन्तु लेख सपूर्णत पर्याप्त सुरक्षित अवस्था मे है। पत्र अपेक्षाकृत पतले हैं तथा अक्षर पीछे की ओर इतने उभरे हुए हैं कि कई स्थानो पर उन्हे स्पष्टत पढा जा सकता है। उत्कीर्णन सुन्दर हुआ है किन्तु-जैसा कि सामान्यतया पाया जाता है-अक्षरों के आतरिक भागो पर उत्कीर्णक के उपकरणो के चिन्ह बने मिलते हैं। प्रत्येक पत्र के ऊपरी भाग मे उन्हे परस्पर सबद्ध करने के लिए छल्ले का सूराख बना हुआ है। किन्तु छल्ला तथा सलग्न मुहर अब प्राप्य नही है। दोनो पत्रो का भार १ पौंड २ औंस है। अक्षरो का औसत आकार लगभग³⁄₁₆" है। अक्षरी उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा उसी प्रकार के है जो कि हमे वर्ष १७४ मे लिख्यकित महाराज के कारीतलाई दानलेख (ऊपर स० २६, प्रति० १६) में मिलता है। इनमें, प० ५ में अकित अज्झित मे अपेक्षाकृत असामान्य अक्षर झ भी सम्मिलित है। भाषा सस्कृत है तथा प० २० एव २७ मे अकित आशीर्वादात्मक एव अभिशमनात्मक श्लोको को छोड कर सपूर्ण लेख गद्य मे है। भाषा शास्त्रीय दृष्टिकोण से, प० ९ मे अकित उत्पन्नक मे, प० ९ तथा १६ मे अकित उत्पद्यमानक मे, तथा प० ११ मे अकित कारितक मे क प्रत्यय का प्रयोग ध्यातव्य है जिस पर मैंने ऊपर पृ० ६९ पर चर्चा की है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य है १ प० १८ मे अकित स पर्चसिर मे उपध्मानीय का प्रयोग, २ प० १६ मे अकित वङ्श मे तथा प० १९ मे अकित सङ्हिता मे श तथा ह के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग, ३ प० २९ मे अकित विग्ग्रहिक मे तथा प० १ मे लेकर प० ५ तक मे अकित पुत्त्र मे अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर ग तथा त का द्वित्व, किन्तु प० १२ मे अकित पुत्रपौत्र मे द्वित्व नही हुआ है।

---

१ किन्तु उन्होंने गलती से १९७ की तिथि युक्त ऊपर दिए गए लेख स० ३० को इस दानलेख के प्रथम पत्र के साथ सबद्ध कर दिया, एव इस लेख के द्वितीय पत्र को ऊपर दिए गए लेख स० २९ के आगे का पत्र माना।

२ द्र०, ऊपर पृ० ११६, तथा टिप्पणी २।

लेख महाराज शर्वनाथ का है तथा इसमे अकित राजपत्र उच्चकल्प नामक नगर अथवा पहाडी से जारी किया गया है। राजपत्र के लेखन की तिथि, शब्दो मे, वर्ष दो सौ चौदह (ईसवी सन् ५३३-३४) तथा-पक्ष विशेप के उल्लेख बिना-पौष मास (दिसम्बर-जनवरी) का छठा दिन, दी गई है। यह प्रत्यक्षरूपेण एक वैष्णव लेख है, इसका प्रयोजन, मानपुर नामक नगर मे स्थित पिष्टपुरिका देवी के मन्दिर के लिए—ऐसे दानग्रहण कर्त्ताओ के बीच जो राजकर्मचारी नही हैं—मणिनाग पेठ मे स्थित व्याघ्रपल्लिक तथा काचरपल्लिक नामक दो गावो के स्थानान्तरण के प्रति महाराज शर्वनाथ के अनुमोदन का लेखन है।

लेख मे चर्चित मानपुर नगर सभवत उचहरा से दक्षिण-पूर्व मे लगभग सैंतालीस मील की दूरी पर तथा कारीतलाई के दक्षिण-पूर्व लगभग बत्तीस मील की दूरी पर सोण नदी के तट पर स्थित आधुनिक मानपुर[1] है और, यह तादात्म्य स्वीकृत होने पर, यह इस बात का एक अन्य प्रमाण होगा कि उच्चकल्प के महाराज उसी भूप्रदेश से सबद्ध थे जहा से उनके लेख प्राप्त हुए है। किन्तु, स्पष्टरूपेण, यह प्रमाण उतना शक्तिशाली नही है जितना कि वे दो अन्य प्रमाण जिनका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ भुमरा स्तम्भ पर अकित हस्तिन् तथा शर्वनाथ का लेख (ऊपर स० २४,) तथा वर्ष १९३ मे तिथ्यकित शर्वनाथ के दानलेख (ऊपर स० २८,) मे तमसा नदी का इस रूप मे उल्लेख जिससे यह प्रदर्शित होता है कि इस नदी के तट पर स्थित एक गाव के ऊपर उसका क्षेत्रीय आधिपत्य था। जहा तक वर्तमान अवतरण का प्रश्न है, यह उतना निश्चयात्मक नही है क्योकि कोई महाराज अपने क्षेत्रीय आधिपत्य के अन्दर स्थित भूमि को अपने आधिपत्य से बाहर स्थित मन्दिर के लिए दान मे दे सकता था। तथापि, वह मदिर उसके आधिपत्य क्षेत्र से अधिक दूरी पर नही स्थित होगा।

मूलपाठ[2]

प्रथम-पत्र

१ ओम् स्वस्त्युच्चकल्प् [।] न्महाराजौघदेवस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातो महादेव्या [*]
२ कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराजकुमारदेवस्तस्य पुत् [र्] अस्तत्पादानुध्यातो
३ महादेव्या [*] जयस्वामिन्यामुत्पन्नो महाराजजयस्वामी तस्य पुत्रस्तत्पादा—
४ नुध्यातो महादेव्या रामदेव्यामुत्पन्नो महाराजव्याघ्रस्तस्य पुत् [र्] अस्तत्पादानुध्या—
५ तो महादेव्यामज्झितदेव्यामुत्पन् [न्] ो महाराजजयनाथस्तस्य पुत्रस्तत्पादानु—
६ ध्यातो महादेव्या [*][3] मुरुण्डस्वामिन्यामुत्पन्नो महाराजशर्व्वनाथ कुशली मणि—
७ नागपेठे व्याघ्रपल्लिककाचरपल्लिकग्रामयो [*] ब्राह्मणादीत् (न्) प्रतिवासिन[4]
८ समाज्ञापयति [।*] विदित [*] वोऽस्तु यथैष (तो) ग्रामौ मया सौद्रङ्गौ सोपरिकरी
९ अचाटभटप्रावेश्यो (यौ) राजाभाव्यसर्वकरप्रत्याये (यो) त्पन्नकोपद्यमानकसमो (मे)—
१० तो आचन्द्रार्क्कसमकालिकौ चोरत (द) ण्ड वर्ज्जितौ पुलिन्द[5] भटस्य प्रस् [।*] दिक्रुतौ

---

१ मानचित्रो इ० का 'Manpoor', 'Manpora' तथा 'Manpur'। इण्डियन एटलस, फलक स० ८९। अक्षाश, २३°४६' उत्तर, देशान्तर ८१°११' पूर्व।

२ मूल पत्रो से।

३ द्र०, ऊपर पृ० १६०, टिप्पणी ३।

४ इस विसर्ग का केवल ऊपरी भाग अकित हुआ है और इस प्रकार यह अपूर्ण रूप मे उत्कीर्ण हुआ है।

५ इस न्द के नीचे बना हुआ चिन्ह, जो इसे न्द्र का स्वरूप प्रदान करता है, उत्कीर्णक के उपकरण के स्खलन के फलस्वरूप बन गया जान पडता है।

११ तेनापि मानपुरे कारितकदेवकुल् [`*] भगवत्या पष्ठ[1] पुरिका देव्या पूजानि—
१२ मित्त खण्डस्फुटितप्रतिसस्कारणाय च कुमारस्वामिने पुत्रपौत्रान्वयोप—
१३ भोज्यो (ज्यौ) प्रतिपादितौ [।*] मयापि भूमिच्छिद्रा (द्र)न्यायेन ताम्रशासन् [`*] नानुमोदितौ [।*]
१४ ते यूयमेवोपलभ्याज्ञाश्रवणविधेया भूत्वा समुचितभागभोगकरहिरण्या—
१५ वाताय् [।*] दिप्रत्यायानुपनेष्यथ [।*]

द्वितीय पत्र

१६ य् [`*] चास्मद्वंश्योत्पद्यमानकराजानस्तैरिय दत्ति[`*]न्न विलोप्या यथाकाल [*] स-[*] वर्द्ध—
१७ नीयानुमोदनीया परिपालनीया च [*] राजाभाव्यकरप्रत्याया [*] सर्व्वे न ग्राह्या [*] [।*]
१८ यश्चैता दत्ति लोपयेत्स पञ्चभिर्म[2] हापातकैरुपपातकैश्च सयुक्तो भूया—
१९ दुक्तञ्च महाभारते शतसाहस्र्य् [।*] सङ्हिताया परमर्षिणा पराशरसुतेन
२० वेदव्यासेन व्यासेन [।*] पूर्व्वं[3]दत्ता द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर मही [*] महि—
२१ वता[4]श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम् [।।*] प्रायेण हि नरेन्द्राणा विद्यते न् [।] शुभा
२२ गति पूयत्ते (न्ते) ते त(तु) सतत प्रयच्छन्तो वसु [न्धराम्*] [।।] [वहुभिर्व्वसु*] धा भुक्ता राजभिस्सगरादिभि [*]
२३ यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् [।।*] षष्टिवर्ष सहस्राणि
२४ स्वर्गे मोदति भूमिद आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् [।।*] स्वद—
२५ त्ता परदत्ता वा यो हरेत् वसुन्धरा [*] श्वविष्ठाया कृमिर्भूत्वा पितृभिस्सह
२६ मज्जति [।।*] अपानीयेष्वरण्येषु शुष्ककोट [र] वासिन कृष्णाहयो हि जा—
२७ यते पूर्व्वदाय हरन्ति ये [।।*] लिखित[5] स [*] वत्सरशतद्वये चतुर्द्दशोत्तरे
२८ पौषमास दिवसे पष्ठे (ष्ठो) फल्गुदत्तामात्यप्रनप्त् [र्]ा वराहदिन् [न्] अनप्त् [र्]ा
२९ मनोरथसुतेन सान्धिविग्रहिकनाथेन [।*] दूतको धृतिस्वामिक [।।*]

अनुवाद

ओम् ! कल्याण हो ! उच्चकल्प से,—महाराज ओघदेव (थे) । उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न महाराज कुमारदेव (थे) । उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी जयस्वामिनी से उत्पन्न महाराज जयस्वामिन् (थे) । उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी रामदेवी से उत्पन्न व्याघ्र थे । उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते थे, महादेवी अज्झितदेवी से उत्पन्न महाराज जयनाथ (थे) ।

---

१ पढें, पिष्ट ।

२ पढें, स पञ्चभिर् ।

३ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले पाच श्लोकों में ।

४ पढ़ें, महिमतां ।

५ जोड़ें, शासनम् ।

प० ६—उनके पुत्र, जो उनके चरणो का ध्यान करते है, महादेवी मुरुण्डस्वामिनी[1] से उत्पन्न महाराज शर्वनाथ—जो सकुशल है—मणिनाग पेठ मे स्थित व्याघ्रपल्लिक तथा काचरपल्लिक नामक गावो के ब्राह्मणो से लेकर अन्य सभी निवासियो के लिए यह आदेश देते हैं —

प० ८—'आप सभी लोगो को यह विदित हो कि ये दो गाव–उद्रग तथा उपरिकर के साथ (तथा इस विशेषाधिकार के साथ कि इनमे) नियमित अथवा अनियमित दोनो प्रकार की सेनाओ का प्रवेश न हो, तथा (प्रथानुसार) उन सभी उपहारो के साथ जो राजा को न प्राप्त होने वाले हो–अनुग्रह-प्रतीक के रूप मे–चद्रमा तथा सूर्य की जब तक स्थिति है तब तक के लिए–(किन्तु) चोरो पर आरोपित किए जाने वाले दण्ड–शुल्को (के अधिकार) को छोड कर, पुलिन्दभट को प्रदान किए गए थे। और अब ये उनके द्वारा–क्रम से (उनके) पुत्रो तथा पौत्रो द्वारा भोगे जाने के लिए–कुमारस्वामिन् को, मानपुर (नामक नगर) मे उसके द्वारा बनवाए गए पिष्टपुरिका देवी के मदिर मे पूजा के उद्देश्य से तथा उसमे हुए टूट–फूट के उद्देश्य से, दान दिए जाते हैं। तथा (इस) ताम्रपत्राकित राजपत्र द्वारा ये मुझ से, भूमिच्छिद्र के नियम के अनुसार, अनुमोदित होते हैं[2]।

प० १४—'आप लोग (इसे) समझते हुए तथा (उनके) आदेशो का पालन करते हुए प्रथानुसार राज–भाग कर, सुवर्ण, आवात[3], भूमि-कर[4] इ० प्रदान करेंगे।

प० १६—तथा मेरे वशजो द्वारा इस दान का अपहरण न किया जाय (अपितु) यथा-काल इसकी वृद्धि, अनुमोदन तथा सुरक्षा की जाय। तथा, राजा को न प्राप्त होने वाले कर न लिए जाय।

प० १९—तथा शतसाहस्री सहिता महाभारत मे वेद–व्यवस्थापक, ऋषि-श्रेष्ठ, पराशर-पुत्र व्यास द्वारा यह कहा गया है—'हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठिर, ब्राह्मण को दान मे दी गई भूमि की सावधानी से रक्षा करो, (सत्य ही) (दान को) रक्षा दान देने से अधिक पुण्यकर है। नियमानुसार, राजाओ को किसी अमागलिक अवस्था का अनुभव नही करना पडता, किन्तु भूमि-दान करने से वे सदैव के लिए शुद्ध

---

२ ऊपर लेख स० २८ की प० ६ मे उसे मुरुण्डदेवी कहा गया है। ऊपर पर लेख स० २९ को प० ६ मे उसका नामान्त, यहा के समान, स्वामिनी है।

१ भूमिच्छिद्र, शाब्दिक अर्थ 'भूमि का छिद्र (दरार)'। यह एक पारिभाषिक क्षेत्रीय शब्द है जो अभिलेखो मे प्रचुरता के साथ आता है। डा० ब्यूलर ने हाल मे ही यादव प्रकाश के वैजयन्ती के वैश्याध्याय श्लोक स० १८ मे इसका अर्थ ढूढ निकाला है, जहा इसे कृष्ययोग्याभू (='जोती जाने योग्य अथवा कृषि-कर्म योग्य भूमि') कह कर व्याख्यापित किया गया है।

२ आवात एक पारिभाषिक राजस्वविषयक शब्द है जिसका अर्थ स्पष्ट नही है। यह आ उपसर्ग के साथ वा धातु (='बहना') अथवा वै धातु (='शुष्क हो जाना', समाप्त हो जाना') से व्युत्पन्न हुआ है। अधिक सामान्य अभिव्यक्ति है माय वात—उदाहरणार्थ, धरसेन द्वितीय के मालिया दानलेख (नीचे स० ३८, प्रति, २४) की प० २६ मे सवातभूतधान्यहिरण्यादेय।

३ आय, शाब्दिक अर्थ, 'जो आता है, लाभ'। इस समय यह 'पैत्रिक ग्राम-अधिकारियो तथा भृत्यो के परम्परागत भाग' के अर्थ मे प्रयुक्त एक पारिभाषिक राजस्वविषयक शब्द है। किन्तु, यह पूर्ण निश्चित नही है कि प्रारंभिक लेखो मे भी इसका यह विशिष्ट अर्थ था।

महाराज शर्वनाथ का लोह-पत्र—वर्ष २१४

मान ७५

हो जाते है। पृथ्वी मगर से प्रारभ हो कर (बहुसख्यक) राजाओं द्वारा भोगी गई है, जो भी किसी समयविशेष पर पृथ्वी का स्वामी होता है, उसे उस समयविशेष पर (यदि वह इस दान को बनाए रखता है तो इसका) फल ! भूमि-दान करने वाला साठ हजार वर्षो तक स्वर्ग मे सुख लाभ करता है, (किन्तु) (दान का) अपहरणकर्त्ता तथा (अपहरण-कार्य का) अनुमोदन करने वाला उतने ही वर्षो तक नरक-वास करेंगे। जो दान मे दी गई भूमि का—चाहे वह स्वय द्वारा दान दी गई हो अथवा किसी अन्य के द्वारा दान दी गई हो—अपहरण करता है, वह कुत्ते की विष्ठा का कीडा बनता है तथा अपने पितरो के साथ (नरक मे) अघ पतित होता है। जो पहले दान मे दी गई भूमि का अपहरण करते हैं, वे (पुन) शुष्क वृक्ष-कोटरो मे तथा जल-विहीन मरुस्थलो मे निवास करने वाले काले सर्पो के रूप मे जन्म ग्रहण करते हैं।'

प० २७—(यह राजपत्र) वर्ष दो सौ चौदह मे, पौष मास के छठे दिन, अमात्य फल्गुदत्त के प्रपौत्र, वराहदिन्न के पौत्र (तथा) मनोरथ के पुत्र सान्धिविग्रहिक नाथ द्वारा लिखा गया। दूतक (है) धृतिस्वामिक।

———

सं० ३२; प्रतिचित्र २१ क

चन्द्र का मरणोपरान्त लिखित मेहरौली लौह-स्तम्भ लेख

जन सामान्य को इस लेख का ज्ञान १८३४ मे जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३ पृ० ४६४ के माध्यम से हुआ, जिसमे जेम्स प्रिंसेप ने (वही, प्रति० ३०), १८३१ मे २७वें रेजीमेंट स० १ के लेफ्टीनेंट विलियम इलियट द्वारा तैयार किए गए एक प्रतिलिपि के आधार पर निर्मित, अपना शिलामुद्रण प्रकाशित किया। इस अभिलेख के साथ लेख की वस्तु सामग्री का कोई विवरण नही दिया गया था, इस शिलामुद्रण में मूल लेख का कोई भी अक्षर शुद्ध नही दिया गया है, तथा यह सपूर्णत· समझ से परे है। १८३८ मे उसी पत्रिका के जि० ७, पृ० ६२६ इ० मे श्री जेम्स प्रिंसेप ने, अभियान्त्रिकी के कैप्टन टी० एस० बर्ट द्वारा उसी वर्ष तैयार की गई स्याही की छाप के आधार पर निर्मित, अपना पर्याप्त सुधरा हुआ शिलामुद्रण प्रकाशित किया, और इसके साथ लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद भी दिया[1]। और अन्तत १८७५ मे, जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १०, पृ० ६३ इ० मे डा० भाऊदाजी ने लेख का अपना सशोधित पाठ तथा अनुवाद-जिसमे राजा के नाम का सही रूप चन्द्र भी सम्मिलित था—प्रकाशित किया और साथ मे एक शिलामुद्रण भी दिया जो डा० भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा वस्त्राकित प्रतिलिपि के आधार पर तैयार किया हुआ जान पडता है[2]।

मेहरौली अथवा मेहरौली[3]—जो स्पष्टत मिहिरपुरी का विकृत रूप है—पजाब मे दिल्ली जिले के मुख्य नगर दिल्ली के ठीक दक्षिण मे नौ मील की दूरी पर स्थित एक गाव है। लेख ऊपर की ओर पतले होते गए एक लौह-स्तभ के पश्चिमी हिस्से मे अकित है, स्तभ के निचले भाग की परिधि सोलह इच तथा शीर्षस्थ भाग की परिधि बारह इच है तथा यह तेईस फीट आठ इच ऊचा है। स्तभ राय पिथौरा के प्राचीन किले के अन्तर्गत, मेहरौली गाव की सीमाओ के भीतर, सुप्रसिद्ध कुत्ब-मीनार के निकट स्थित है।

लेखन, जो कि २ फीट ९½" लम्बा तथा १०½" ऊचा स्थान घेरता है, अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है—जिसका एक स्पष्ट कारण वह वस्तुसामग्री है जिससे कि यह स्तम्भ निर्मित है। लेख की सबसे नीचे की पक्ति स्तभ के निचले भाग के चारो ओर निर्मित प्रस्तर-अधिष्ठान से ७' " की ऊचाई पर

---

१ टामस द्वारा सपादित प्रिंसेप्स एसेज, जि० १, पृ० ३२० इ० मे यह अनुवाद पुनर्प्रकाशित हुआ है।

२ यह लेख १८७५ मे प्रकाशित हुआ था किन्तु सोसायटी के सम्मुख इसका पाठन, चार वर्ष पूर्व, १३ अप्रेल १८७१ को हुआ था।

३ मानचित्रो का 'Maharoli,' 'Mahroli' तथा 'Muhroulee'। इण्डियन एटलस, फलक स० ४९। अक्षाश २८°३१' उत्तर, देशान्तर ७७°१४' पूर्व। यह स्तम्भ सदैव "दिल्ली का स्तम्भ" नाम से ज्ञात रहा है, और मेरे विचार से लेख के साथ उस गाव, जिसमे यह स्थित है, के नाम का प्रयोग—जो अपनी विशिष्ट व्युत्पत्ति के कारण महत्वपूर्ण है (मिहिरपुरी='सूर्य का, अथवा मिहिरो का नगर')—सर्वप्रथम मैंने ही किया (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ३६२)।

अंकित है। उत्कीर्णन सुन्दर हुआ है, किन्तु उत्कीर्णन की प्रक्रिया मे, कुछ लकीरो पर धातु के संकुचन के कारण शिलामुद्रण मे कुछ अक्षर साफ साफ नही उभरे है, यह, विशेष रूप से, प्रारंभिक शब्द यस्यो के स्य मे तथा उसी पंक्ति मे अंकित उरसा के र मे द्रष्टव्य है। अक्षरो आकार ⅟₁₆" से लेकर ½" तक मिलता है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के है, तथा—यदि इस तथ्य को दृष्टि मे ओझल न किया जाय कि स्तम्भ की वस्तुसामग्री लौह है जिस पर उत्कीर्णन अक्षरों मे लचीलापन न हो कर एक तीखापन होगा—ये समुद्रगुप्त के मरणोपरान्त लिखित इलाहाबाद स्तम्भ-लेख (ऊपर स० १, प्रति० १) के अक्षरो से मिलते जुलते हैं। किन्तु यह इलाहाबाद स्तम्भ-लेख से इस दृष्टि से भिन्न है कि इसमे मात्राओ का अत्यन्त विशिष्ट अंकन हुआ है, जैसा कि हम इसके पूर्व कुमारगुप्त के बिलसड अभिलेख (ऊपर स० १०, प्रति० ५) मे देख चुके हैं। भाषा संस्कृत है तथा संपूर्ण लेख पद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास के प्रसंग मे ये विशिष्टताएं ध्यातव्य हैं १ पं० ६ मे अंकित प्रान्शु मे श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर दन्त्य आनुनासिक का प्रयोग, २, पं० १ अंकित शत्त्रु मे, अनुवर्ती र के साथ संयोग होने पर त का द्वित्व, तथा ३ पं० ३ मे मूर्त्त्या के स्थान पर अंकित मूर्त्या मे तथा कीर्त्त्या के स्थान पर अंकित कीर्त्या मे दूसरे त का—जो कि—मूलत है और पूर्ववर्ती र के कारण नही है—अत्यन्त असामान्य रूप मे छोड दिया जाना।

यह अभिलेख चन्द्र नामक किसी शक्तिशाली राजा के विजयो की उसके मरणोपरान्त अंकित प्रशस्ति है, राजा के वंश के संबंध मे कोई सूचना नही दी गई है। लेख तिथिविहीन है[1]। यह वैष्णव लेख है तथा इसका प्रयोजन विष्णुपद [विष्णु के चरण-चिन्हों (से अंकित पहाडी)"] नामक पहाडी पर ध्वज अथवा पताका[2] नाम से अभिहित विष्णु के एक स्तम्भ की स्थापना का लेखन है।

जहा तक विष्णुपद नामक पहाडी का तथा इस समस्या का प्रश्न है कि इसका तादात्म्य दिल्ली की पहाडियो के उस भागविशेष -से, जहा कि यह स्तम्भ खडा है, किया जा सकता है अथवा नही—स्तम्भ की वर्तमान वास्तविक स्थिति थोडी नीची भूमि मे है जिसके

---

१ श्रीप्रिंसेप ने इस लेख को तीसरी अथवा चौथी शताब्दी ई० मे रखा, तथा डा० भाऊ दाजी ने इसे गुप्तो से थोडा बाद मे रखा। श्री फरगुसन ने (इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ० ५०८) स्तंभ के शीर्षभाग के पारसी स्वरूप की ओर ध्यान दिलाते हुए यह मत व्यक्त किया कि यह लेख प्रारंभिक गुप्त वंश के किसी चन्द्रगुप्त नामधारी राजा का है और परिणामस्वरूप इसका समय ईसवी सन् ३६३ अथवा ४०० है। स्वतंत्र आधारो पर, सर्वप्रथम मेरा अपना विचार यह था कि यह गुप्त वंश के प्रथम महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त प्रथम का है, जिसका हमें अब तक कोई अन्य अभिलेख नहीं प्राप्त होता। और मुझे आश्चर्य नही होगा यदि किसी समय यह उससे संबद्ध लेख प्रमाणित हो जाता है इसके विरुद्ध एकमात्र आपत्ति जो मुझे दिखाई पडती है वह यह है कि इसमें भारतीय-शको का कोई उल्लेख नहीं है जिनका उन्मूलन करके प्रारंभिक गुप्तों ने अपने शासन की स्थापना की होगी। किन्तु, जहां यह स्तम्भ स्थित है उस गांव के नाम को ध्यान मे रखने पर यह भी संभव है कि यह लेख मिहिरकुल के किसी अनुज का है जिसका ह्वेनसांग द्वारा उल्लेख नही हुआ है।

२ तुलनीय ऊपर स० १९ की पं० ९ मे एरण-स्तम्भ के लिए ध्वज-स्तम्भ पद का प्रयोग। सेन्ट्रल इण्डिया मे धार राज्य के प्रमुख नगर धार-जो की प्राचीन धारा का प्रतिनिधित्व करता है—मे एक अन्य लौह स्तम्भ मिलता है। किन्तु-यदि इसे उस फारसी लेख से आच्छादित अथवा नष्ट हो गया नहीं माना जाय, जो कि मुसलमानो द्वारा इस प्रदेश के विजय के बाद अंकित किया गया-तो इस पर कोई प्राचीन लेख नहीं अंकित है।

दोनो ओर ऊची जमीन है, और यह एक ऐसी स्थिति है जो इसके गिरि अथवा पहाडी पर स्थित होने के विवरण से मेल नही खाती है। इसे इस परम्परा विशेष-कि यह आठवी शताब्दी ई० के प्रारभिक भाग मे तोमर शासन-वश के सस्थापक अनगपाल द्वारा सस्थापित हुआ था-के साथ रख कर देखने पर यह एक विवादास्पद विषय बन जाता है कि स्तभ की वर्तमान-स्थिति ही इसकी मौलिक स्थिति है अथवा दिल्ली के अशोक-स्तभो, तथा सभवत इलाहाबाद के अशोक (तथा गुप्त) स्तम्भ के समान, यह अपने वर्तमान स्थान पर किसी अन्य स्थान से लाया गया था। किन्तु, भूमि-स्तर के नीचे इसके आधारो मे 'लौह शलाकाओ के टुकडो के समान' धातु निर्मित कुछ छोटे टुकडे भी हैं[1]—यह तथ्य विशेष इस बात के पक्ष मे जाता है कि स्तम्भ की वर्तमान स्थिति ही इसकी मौलिक स्थिति है, क्योकि, अन्यथा, यह अधिक सभव है कि स्थानान्तरण की प्रक्रिया मे ये मूल स्थान पर छूट गए होते।

मूलपाठ[2]

१ यस्यो[3]द्वर्त्तयत प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागतान्वङ्गेष्वाहववर्त्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्त्तिर्भुजे

२ तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता वाह्लिका[4] यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्व्वीर्यानिलै-र्द्दक्षिण [॥*]

३ खिन्नस्यैव विसृज्य गा नरपतेर्गामाश्रितस्येतरा मूर्त्या[त्व*]या कर्म्मजितावनि गतवत कीर्त्[त्व*] या स्थितस्य क्षितौ

४ शान्तस्यैव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोर्य्यत्नस्य शेष क्षितिम् [॥*]

५ प्राप्तेन स्वभुजार्ज्जितञ्च सुचरितञ्चैकाधिराज्य क्षितौ चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशी वक्त्रश्रिय बिभ्रता

६ तेनाय प्रणिधाय भूमिपतिना धावेन[5] विष्णो (ष्णौ) मति प्रान्शुर्व्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णो-र्ध्वज स्थापित [॥*]

अनुवाद

वह जिनकी भुजा पर खड्ग से कीर्ति अकित हुई जबकि उन्होने वग प्रदेश मे हुए युद्ध में (अपने) विरुद्ध सगठित हो कर आए हुए शत्रुओ को (अपने) वक्षस्थल से मसल डाला (और) पीछे (खदेड दिया), वह, जिन्होने युद्ध मे सिन्धु (नदी) के सात मुखो को पार कर वाह्लिको[6] को जीता, वह जिनकी शक्तिरूपी मलयानिल से दक्षिणी समुद्र आज भी सुगन्धित है —

---

१ वही, जि० ४, पृ० २८, तथा प्रति० ५।

२ मूल स्तम्भ से।

३ छन्द, आद्यन्त शार्दूलविक्रीडित है।

४ प्रिंसेप ने भी इसका वाह्लिका पाठ किया, किन्तु, भाऊ दाजी ने, प्रथम अक्षर का भी भिन्न पाठ करते हुए इसे बाल्हिका पढा। प्रथम अक्षर में व दाहिनी ओर धातु के सिमट जाने के कारण पूर्ण नही है। दूसरे अक्षर मे, प० १ मे अकित आहव मे तथा प० ४ मे अकित महावने तथा महान् मे ह अक्षर जिस ओर घूमा हुआ है यहा उसके विपरीत दिशा मे घूमा हुआ है। किन्तु यह निश्चित है कि यह अक्षर ह्लि है ल्हि नही क्योंकि ल केवल बाई ओर बनाया जा सकता है जबकि विचाराधीन काल मे ह कभी बाई ओर और कभी दाई ओर बनाया जाता था। तथा वर्तमान लेख मे यह दाहिनी ओर मुडा हुआ है जैसा कि हमे प० ४ मे अकित हुतभुजो मे तथा प० ५ मे अकित आह्वेन मे भी दिखाई पडता है।

५ द्र०, नीचे पृ० १७३, टिप्पणी २।

६ द्र०, ऊपर टिप्पणी ४।

प० ३—वह, विशाल जगल मे बुझ चुकी अग्नि (की अवशिष्ट भीषण तपन के) समान जिनकी महान् शक्ति का प्रताप-जिसने (उसके) शत्रुओ को पूर्ण विनष्ट कर दिया था—आज भी पृथ्वी को नही छोडता, उन राजा ने मानो खिन्न हो कर इस पृथ्वी को छोड दिया है और अपने कर्मों (के पुण्य) से विजित (स्वर्ग की) भूमि पर (शरीरी) रूप मे विचरण करता है, (किन्तु) (अपनी) प्रसिद्धि (की स्मृति से) वह(इस) पृथ्वी पर शेष है —

प० ५—उन राजा द्वारा–जिन्होंने स्वय अपने भुज—बल द्वारा विश्व मे सार्वभौम एकाधिराज्य[1] प्राप्त किया तथा दीर्घकाल तक (उसका भोग किया), (तथा) चन्द्र नाम वाले जो पूर्णचन्द्र (की सुन्दरता के) समान सुन्दर मुख वाले थे—श्रद्धापूर्वक[2] (भगवान्) विष्णु के चरणो पर अपना ध्यान केन्द्रित करके विष्णुपद (नामक) पहाडी पर भगवान् विष्णु का यह ऊचा ध्वज सस्थापित हुआ।

---

१ ऐकाधिराज्य, शब्दश 'एकमात्र अधिराज होने की स्थिति'। अधिराज का शाब्दिक अर्थ है 'सर्वश्रेष्ठ राजा'—यह एक पारिभाषिक सामन्ती उपाधि है जो सभवत महाराज के समान किसी पद का निर्देशन करता है। उदाहरणार्थ, यह अधिराज विजय के ब्याना लेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० १०) की प० ५ मे आता है। इससे व्युत्पन्न शब्द अधिराज्य यहा–अपने मूल शाब्दिक अर्थ के अनुरूप–अपने सामान्य तथा अपारिभाषिक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

२ प० ६ मे फ्लिसेप के पाठानुसार धावेन ही उत्कीर्ण है, भावेन नहीं जैसा कि भाऊ दाजी ने पढा। किन्तु, चू कि धाव (='धोना, साफ करना, चमकीला बनाना, श्लक्षीकरण करना') केवल समास मे प्रयुक्त प्रतीत होता है, यह शब्द भावेन–जो कि, उदाहरणार्थ, ऊपर लेख स० ६ की प० ५ मे अकित भक्त्या का समरूप शब्द है—के स्थान पर गलत अ कित हो गया जान पडता है, तथा मूलपाठ मे शब्द की स्थिति से इसका समर्थन होता है। लेख के शेष भाग का उत्कीर्णन इतना शुद्ध है कि यह सर्वथा सभव है कि भावी शोधकार्यों से यह प्रदर्शित हो जाय कि धाव किसी व्यक्ति का नाम था जैसा कि प्रिंसेप ने इसे व्याख्यायित किया था। उस स्थिति में, चन्द्र नामक राजा के एक अन्य नाम के रूप मे धाव काच से तुलनीय होगा जिसको मैंने (ऊपर, पृ० ३३, टिप्पणी ५) समुद्रगुप्त के प्रचलित तथा कम औपचारिक नाम के रूप मे सूचित किया है। प० ५ में मैंने अपने अनुवाद को मूलपाठ में शब्दो के क्रम के आधार पर व्यवस्थित किया है। किन्तु, यह मानने पर कि रचयिता ने यह क्रमविशेष छन्द की आवश्यकता के अनुसार अपनाया, हम इसका अनुवाद इस प्रकार कर सकते हैं। "(तथा) जिसे पूर्ण चन्द्र (के सौन्दर्य के) समान मुख धारण करने से (तत्परिणामस्वरूप) चन्द्र का नाम प्राप्त हुआ", और इस प्रकार यह सकेत पा सकते हैं कि राजा का मूल नाम चन्द्र नहीं था।

स० ३३; प्रतिचित्र २१ ख

यशोधर्मन् का मन्दसोर प्रस्तर-स्तम्भ-लेख

यह अभिलेख, जिसे मैंने सर्वप्रथम १८८६ मे, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० २५३ इ० मे प्रकाशित किया, सेन्ट्रल इण्डिया के पश्चिमी मालवा क्षेत्र मे सिन्धिया अधिकृत भूप्रदेश के मन्दसोर जिले के प्रमुख नगर मन्दसोर[1] अथवा दसोर—जो कि अधिक प्रचलित नाम है—से प्राप्त हुआ है। १८७९ मे श्री आर्थर सुलिवन (Arther Sulivan) ने जनरल कनिंघम के पास अगले लेख, स ३४, की एक हस्त-निर्मित प्रतिलिपि भेजी थी, इस हस्त निर्मित प्रतिलिपि को देखने के पश्चात् मेरे निर्देशन मे हुए खोज कार्य मे यह वर्तमान लेख, १८८४ मे, कुमारगुप्त तथा वन्धुवर्मन् के लेख (ऊपर स० १८, तथा प्रति० ११) के साथ प्राप्त हुआ, यह लेख श्री सुलिवन के ध्यान मे नही आ सका था। अगले लेख के समान यह लेख भी महीन दानो वाले अच्छे बालुकाश्म से निर्मित उस सुन्दर एकात्मक स्तम्भ-युग्म[2] में से एक पर अकित है जो कि सोदणी अथवा सोन्दणी नाम मे पुकारे जाने वाले एक पुरवे के दक्षिण मे एक खेत मे स्थित हैं, यह पुरवा, जो मन्दसोर से दक्षिण-पूर्व मे दो तथा तीन मील के बीच की दूरी पर स्थित है, मानचित्रो मे अलग गाव के रूप मे प्रदर्शित नही है।

वर्तमान लेख के साथ यह स्तम्भ, अशत जमीन मे गडा हुआ, उत्तर-दक्षिण पडा हुआ है और ऊपरी सिरा उत्तर दिशा मे है। इसका अधिष्ठान आयताकार है, यह ३' ४" वर्ग रूप मे है और ४' ५" ऊचा है। चू कि इसके निचले भाग मे कोई सूराख नही है जिससे यह प्रदर्शित हो कि यह नीचे किसी प्रस्तर निर्मित आधार से सलग्न था, सभवत —जब स्तम्भ सीधा खडा रहा होगा—यह भाग जमीन के नीचे गडा हुआ रहा होगा। इस अधिष्ठान से षोडश-पक्षीय यष्टि भाग निकलता है, जहा यह अधिष्ठान से निकलता है उस स्थान पर प्रत्येक पक्ष की चौडाई लगभग ८½" है। इस स्तम्भ का लगभग १७ फीट ऊचा एक भाग अब भी अधिष्ठान से जुडा हुआ है और इस प्रकार इस अश की सपूर्ण ऊचाई २१' ५" है। वर्तमान लेख, जो स्तम्भ के सोलह पक्षो मे केवल पाच पक्षो पर अकित है, इसी अश पर है, इसके सबसे नीचे की पक्ति अधिष्ठान के ऊपरी भाग से २' २" की ऊचाई पर है। इस अश से सटे हुए ही स्तम्भ का दूसरा अश भी पडा हुआ मिलता है जो १७' १०" ऊचा है, इसके ऊपरी भाग मे प्रत्येक पक्ष की चौडाई लगभग ७" है जिससे यह प्रदर्शित

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ९८, तथा टिप्पणी २।

२ इन दो लेखाकित स्तम्भो के पश्चिम मे लगभग पचास गज की दूरी पर अगले खेत मे मैंने एक अन्य बडे बालुकाश्म-स्तम्भ के निचले भाग को ऊपर किया। इसका अधिष्ठान आयताकार है—ऊचाई लगभग ३'६' है और यह ३' ४' वर्गाकार है। यष्टि, जिसका केवल २ फीट की लम्बाई का भाग अधिष्ठान से सलग्न है, गोलाकार है और इसकी परिधि लगभग ३ '४' है, लेख से युक्त दोनो स्तम्भो के समान सादा न हो कर, इस स्तम्भ पर चारो ओर आडी रेखाओ के अकन द्वारा षट्कोण मूठ बने मिलते हैं। मैंने इस स्तम्भ के चारो ओर खेत को खुदवाया किन्तु मुझे शेष स्तम्भ अथवा इसके अन्य भागो का कोई अश नही प्राप्त हुआ। अपने भिन्न स्वरूप के कारण यह लेखाकित स्तम्भो से किसी प्रकार सबधित नही हो सकता।

होता है कि ऊपर चलते हुए स्तम्भ पतला होता गया है। इस अश का ऊपरी भाग चपटा है जिसमें एक गोल उभरा हुआ चूल बना हुआ है, इससे यह प्रदर्शित होता है यह स्तम्भ इन दोनो खण्डो से मिल कर बना हुआ था और इसकी सम्पूर्ण लम्बाई ३९' ३", अथवा अधिष्ठान से ऊपर, ३४' १०' थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्तम्भ गिर कर टूट गया था, न कि अन्य स्तम्भ की तरह—जैसा कि हम नीचे देखेंगे—जान बूझ कर विभाजित किया गया था।[1] इस स्तम्भ का अगला भाग, अर्थात् शीर्ष भाग का निचला अ श, लगभग चालीस गज की दूरी पर, पुरवे से सटे उत्तर में पडा मिलता है, यह खारीदार घटाकृति रचना है, जिसकी ऊ चाई लगभग २' ६" तथा परिधि ३' २" है और जो बनावट मे—जनरल कनिंघम द्वारा **आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया**, जि० १०, प्रति २२, सख्या० १ में खीचे गए—साची स्थित एक प्राचीन गुप्त मन्दिर के एक क्षुद्र स्तम्भ के समरूप भाग के समान है। इसके नीचे एक चूल का सूराख बना हुआ है जो आकार में यष्टि के ऊपर बने चूल के अनुरूप है, तथा इसके ऊपरी भाग पर एक उभरा चूल बना हुआ है। इसके पच्चीस गज दक्षिण तथा स्तम्भ के पन्द्रह गज उत्तर में मुझे जमीन मे गडा हुआ एक चपटा प्रस्तर-खण्ड मिला, जो भूमि-स्तर से ठीक लगा हुआ था, तथा खोदने पर यह स्तम्भ का अगला भाग—ऊपर का चौकोर फलक सिद्ध हुआ। यह २' ८" ऊचा है तथा ३' १०" के वर्ग के रुप मे है, इसके खडे किनारे छाट दिए गए हैं। मैं इसके नीचे का हिस्सा न पा सका किन्तु अनुमानत वहा, इसके नीचे की घटाकृति वाले भाग के ऊपरी भाग में बने उभरे चूल के अनूरूप, चूल-छिद्र बना होना चाहिए। मैने केवल इसके एक ओर का भाग अनावृत कि या किन्तु यह यह प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त नही था कि यह दूसरे स्तम्भ के शीर्षभाग की तरह—जिसकी नीचे अधिक विस्तार मे चर्चा हुई है—सिंहयुक्त शीर्षक वाला है। इसके ऊपरी सतह पर, केन्द्र मे एक गोलाकार चूल छिद्र है जिसकी परिधि लगभग ११½" तथा गहराई ४" है, और इस छिद्र के चारो ओर अन्य आयताकार चूल-छिद्र—एक प्रत्येक सिरे के बीच मे तथा एक प्रत्येक किनारो पर—बने हुए है। इस स्तम्भ की—सिंह—शीर्ष के ऊपरी भाग तक लेकर—सपूर्ण लम्बाई ४४' ५" अथवा—यदि इसका अधिष्ठान पूर्णत जमीन में गडा हुआ रहा होगा—भूमि से ४४' है। वर्गाकार सिंह—शीर्षक के ऊपर उस प्रकार की कोई मूर्ति अथवा मूर्तिया बनी रही होगी, जैसी कि हम उस एरण-स्तम्भ पर पाते हैं जिस पर कि बुधगुप्त का लेख (ऊपर स० १९) प्राप्त होता है, किन्तु मैं इसे पा सकने के विषय मे निश्चित नही हू। वस्तुत उसी खेत मे पश्चिम की ओर हट कर मुझे एक ९' ऊ ची बालुकाश्म निर्मित उत्कीर्णन पट्टी प्राप्त हुई, इसका आयताकार अधिष्ठान ३' २" चौडा, १' ८" गहरा तथा ८" ऊ चा है और इस उकेरी मे बनी पुरुष आकृति मानव-आकार से कुछ बडी है तथा इसने किरीट अथवा ऊ चा मुकुट, हार तथा भुजबन्द धारण कर रखा है, कटिप्रदेश से नीचे वस्त्र-परिधान मिलता है तथा दाहिने पैर के पास एक छोटी आकृति खडी दिखाई गई है । और इसके निकट ही दो टुकडो मे उसी आकार की अन्य आकृति—जो स्पष्टत उपरोक्त आकृति की ही प्रतिकृति थी—के किरीट तथा शिर एव कधे प्राप्त हुए। जब तक कुछ अन्य बीच में आने वाले भागो का अस्तित्व न माना जाय, जो कि सर्वथा प्राप्य हैं, ये पट्टिया स्तम्भो से सबद्ध नही हो सकती क्योकि इनके अधिष्ठानो मे चूल कटे हुए नही मिलते हैं जिन्हें कि सिंह-शीर्षको के ऊपरी भाग पर बनें चूल-छिद्रो में बिठाया गया रहा हो[2]।

---

१ द्र०, आर्क्यलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ८१, तथा प्रति० २६।

२ लेखाकित स्तम्भो से पूर्व में लगभग पचास गज की दूरी पर एक अन्य खेत में ताड-वृक्षो के नीचे इसी प्रकार की उत्कीरणन-पट्टियो का एक अ न्य वर्ग प्राप्त होता है, किन्तु ये पट्टिया भी इन स्तम्भों से सबद्ध नही प्रतीत होती।

इस लेख की अशरूप मे दूसरी प्रतिलिपि (नीचे स० ३४, प्रति० २१ग) को धारण करने वाला स्तम्भ सप्रति चर्चित स्तम्भ से लगभग बीस गज उत्तर मे स्थित था। गिरने पर यह पूर्व-पश्चिम हो कर गिरा तथा ऊपरी सिरा पश्चिम की ओर हो गया। आयताकार अधिष्ठान ३' ३" वर्ग मे है तथा ३' ११" ऊचा है। प्रथम स्तम्भ से भिन्नता बनाते हुए, इस स्तम्भ के अधिष्ठान के ऊपर एक नतोदर गोलाकार भाग बना हुआ है जो १' ऊचा है। इस भाग विशेष से सोलह पक्षो वाला यष्टि-भाग निकलता है, अधिष्ठान से प्रारम्भ होने के स्थान पर इनमे से प्रत्येक पक्ष लगभग ८" चौडा है। किन्तु सप्रति अधिष्ठान से केवल १' १" लम्बा ही यष्टिभाग सलग्न है तथा स्तम्भ के चारो ओर बने हुए छेनी के चिन्हो मे यह स्पष्ट होता है कि इसे जान बूझ कर कीलो के निवेश द्वारा तोडा गया था। स्तम्भ का दूसरा खण्ड-अथवा, चूकि यह खडे खडे तोडा गया था, इसका भाग, जिसका एक अश अब लुप्त हो चुका है—अधिष्ठान से तीन गज उत्तर मे मिलता है, किन्तु यह विपरीत अवस्था मे है अर्थात् ऊपरी भाग पूर्व दिशा मे है। यह खण्ड लगभग ९' लम्बा है तथा अभिलेख की दूसरी प्रतिकृति के अश इसके दो पक्षो पर अकित मिलते हैं, सबसे नीचे की पक्ति वर्गाकार अधिष्ठान से लगभग २' ९½" की ऊचाई पर अकित है। यष्टि का दूसरा खण्ड सर्वथा अप्राप्य है और अनुमानत खेत मे कही पूर्णतया दब गया प्रतीत होता है। यष्टि का शेष भाग, जो लगभग ६' ९" लम्बा है अधिष्ठान तथा यष्टि के प्रारभिक अश को सम्निहित करने वाले खण्ड से कुछ गज पश्चिम मे लगभग सपूर्णतया भूमि के नीचे दबा हुआ प्राप्त होता है। यहा ऊपरी भाग मे प्रत्येक पक्ष की चौडाई लगभग ७" है जिससे प्रदर्शित होता है कि ऊपर की ओर बढते हुए स्तम्भ क्रमश पतला होता गया था। इस खण्ड का शीर्ष भाग चपटा है जिसमे एक गोलाकार चूल निकला हुआ है जिससे यह प्रदर्शित होता है कि यह यष्टि का अन्तिम अश है। इस खण्ड के ठीक पश्चिम मे शीर्षक का खारीदार घटाकृति वाला भाग मिलता है जिसकी ऊचाई लगभग ३' है और परिधि ३' ३" है, इसकी बनावट दूसरे स्तम्भ के शीर्षक के समरूप भाग के सदृश है। इसके नीचे एक चूल-छिद्र बना हुआ है जिसकी परिधि—यष्टि के ऊपर बने चूल के आकार के अनुरूप-११" है, इसके ऊपर एक उभरा चूल कटा हुआ है। इसकी ठीक पश्चिम मे—ऊपर का भाग नीचे तथा नीचे का भाग ऊपर, इस स्थिति मे तथा अशत भूमि के नीचे दबा हुआ—शीर्षक का दूसरा ऊपरी वर्गाकार भाग मिलता है यह ३' ऊ चा है तथा १०" वर्ग रूप मे है, कोने के खडे किनारे छाट दिए गए है। नीचे का भाग-एक ओर का भाग सपूर्णत तथा दो पक्षो के भाग अशत -अनावृत्त मिलता है, तथा जो द्रष्टव्य है, वह यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि प्रत्येक ओर सिंह-द्वय की उकेरी-मूर्ति(bas relief) बनी हुई है, ये सिंह उकडू बैठे हुए हैं तथा उनका मुख कोने की ओर है, सिंह-द्वय की यह मूर्ति दूसरी ओर बैठी हुई कोने की इसी प्रकार की सिंह मूर्ति मे मिल जाती है[1], इन सिंहो के पृष्ठ भाग पर बीच मे एक समयानुरूप निर्मित सिंह का सिर बना हुआ है। इस प्रस्तर खण्ड के नीचे-इसके ठीक नीचे आने वाले घटाकृति वाले भाग के ऊपर कटे हुए चूल के अनुरूप-लगभग १०½" की परिधि का एक चूल-छिद्र बना हुआ है। तथा, शीर्ष भाग के एक कोने के नीचे खोदने पर मैने वहा एक आयताकार चूल-छिद्र बना पाया जिसके आधार पर हम औचित्यपूर्वक यह अनुमान कर सकते है कि शीर्ष भाग मे ठीक उसी प्रकार एक गोलाकार तथा आठ आयताकर चूल-छिद्र बने हुए थे, जैसे कि हम प्रथम स्तम्भ के सिंह-शीर्षक के शीर्ष-भाग के सबध मे देख चुके हैं।

ये दोनो लेखाकित स्तम्भ एक युग्म के रूप मे अभिप्रेत थे, यद्यपि दूसरे स्तम्भ की पूरी नाप अब नही निश्चत की जा सकती। दोनो स्तम्भो के बीच की दूरी, सूक्ष्म अध्ययन से उनकी नाप इ० मे दृश्यमान वैषम्य, तथा एरण स्तम्भ के समरूप दृष्टान्त—जिससे यह ज्ञात होता है कि ऊपरी भाग मे

---

१ तुलनीय, एरण स्तम्भ के शीर्षक के वर्गाकार भाग के ऊपर बने सिंह।

ये किस प्रकार बने हुए रहे होगे—को ध्यान मे रखने पर यह सभावना नही लगती कि तोरण-द्वारो के समान ये ऊपर रखी हुई किसी धरन द्वारा परस्पर सबद्ध रहे होंगे, और न ही किसी मदिर के चिन्ह मिलते हैं जिनसे इन्हे सबद्ध किया जा सके। ये प्रत्यक्षत दो रण-स्तम्भो (युद्ध मे विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य मे स्थापित स्तम्भ) के उदाहरण हैं—उस प्रकार का जैसा कि अवसित शक सवत् ९३० (ईसवी सन् १००८-०९) मे तिथ्यकित विक्रमादित्य पचम के कौथे दानलेख[1] बताता है कि राष्ट्रकूट शासक कर्कर अथवा कक्क तृतीय ने एक रणस्तम्भ सस्थापित किया था और पश्चिमी चालुक्य शासक तैल द्वितीय द्वारा यह युद्ध में काट डाला गया था।

अब हम प्रथम स्तम्भ पर अकित लेख पर लौटें। लेखन, जो लगभग ३′ २½″ चौडा तथा १′ २½″ ऊचा स्थान घेरता है, ऋतु-प्रभाव से पर्याप्त क्षतिग्रस्त हुआ है। तथा, अशत अक्षरो के हलके उत्कीर्णन से तथा अशत स्तम्भ-प्रस्तर के हलके रग से उत्पन्न प्रकाश तथा छाया की कठिनाई के कारण मूल-स्तम्भ पर लेख का पाठन अपेक्षाकृत कठिन है, किन्तु स्याही की छाप मे तथा शिलामुद्रण मे सपूर्ण लेख आसानी से तथा निश्चिततापूर्वक पठनीय है। अक्षरो का आकार ⅛″ से लेकर ⅜″ तक मिलता है। ये अक्षर कुमारगुप्त तथा बन्धुवर्मन् के मन्दसोर अभिलेख (ऊपर स० १८, प्रति० ११) से भिन्न हैं, मन्दसोर अभिलेख के अक्षरो के विपरीत, ये उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के है, तथा कुछ बातो मे ये चन्द्रगुप्त के मरणोपरान्त लिखित इलाहाबाद स्तम्भ लेख (ऊपर स० १, प्रति० १) के अक्षर-प्रकार के विकसित रूप हैं। इनमे, प० ४ मे अकित **उपगूढ** मे अपेक्षाकृत असामान्य अक्षर ढ का अकन सम्मिलित है। प० ४ मे अकित **वीर्य** मे तथा प० ५ मे अकित **सामन्तैर्यस्य** मे र् लेखन की पक्ति पर ही लिखा गया है और नीचे केवल एक य का लेखन हुआ है, अन्य व्यजनो के साथ सयोग होने पर—उदाहरणार्थ, प० १ मे अकित **सुमेरोर्ग्विघटित** मे तथा प० ८ मे अकित **धर्मस्य** मे र् को पक्ति के ऊपर लिखा गया है तथा सामान्य पद्धति के अनुसार उस व्यजन का द्वित्व हो गया है। भाषा सस्कृत है, तथा, अन्त मे उत्कीर्णक के नामविषयक दो शब्दो को छोड कर, सपूर्ण लेख पद्य में है। वर्ण विन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १ प० ५ मे अकित **शिखरिण पश्चिमाद्** मे उपध्मानीय का प्रयोग, २ प० ५ मे अकित **अङ्शु** में तथा प० ८ मे अकित **वङ्श** मे श के पूर्व, तथा प० १ मे अकित **तेजाङ्सि** मे तथा प० ३ मे अकित **पाङ्सु** मे स के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग, ३ प० ४ मे अकित **आक्क्रान्ति** मे, प० ७ मे अकित **चक्क** मे, प० ३ मे अकित **मात्त्रा** तथा **यत्त्र** मे, प० ६ मे अकित **अन्यत्त्र** मे, प० ७ मे अकित **नायितोऽत्त्र** मे, अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर क तथा त का दित्व, किन्तु, प० ५ मे अकित **क्रियन्ते** मे तथा प० १ मे अकित **शत्रु** मे द्वित्व नही हुआ है, ४ प० ४ अकित **अध्ध्यासिनी** मे, अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर ध का द्वित्व।

लेख यशोधर्मन्[2] नामक एक राजा का है, जिसके साम्राज्य मे, लौहित्य नदी अथवा ब्रह्मपुत्र

---

१ इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १६, पृ० १८।

२ इस काल मे वर्मन् नामान्त की प्रचुरता तथा धर्मन् नामान्त की कमी से यह प्रस्ताव साग्रह रखा जा सकता है कि यहा भी शुद्ध रूप वर्मन् ही है। किन्तु लेख की प० ७ मे तथा इसी लेख की दूसरी प्रतिलिपि की प० ७ में भी (नीचे स० ३४, प्रति० २१ ग) यह ध अत्यन्त स्पष्ट है, पुन नीचे प० ८ में तथा यशोधर्मन् एवं

से लेकर पश्चिमी समुद्र तक तथा हिमालय से लेकर महेन्द्र[1] तक, समस्त उत्तरी भारत को सम्मिलित बताया गया है। हमे उसके इस कथन मे एक महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है कि उसने उन प्रदेशो पर शासन किया जिन्हे गुप्त तथा हूण भी नही अधिकृत कर सके थे, तथा तत्कालीन सामान्य इतिहास के प्रसग मे एक महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है कि प्रसिद्ध शासक मिहिरकुल ने भी उसकी अभ्यर्थना की थी। लेख तिथिविहीन है। किन्तु अब यशोधर्मन् की तिथि अवसित मालव सवत ५८६ (ईसवी सन् ५३२-३३) के मन्दसोर अभिलेख (नीचे स० ३५) से ज्ञात है, जिसमे उसका तथा विष्णुवर्धन का उल्लेख हुआ है, और च् कि वर्तमान लेख गोविन्द नाम वाले समान उत्कीर्णक द्वारा उत्कीर्ण हुआ है अत इसे उस तिथि के कुछ पहले अथवा कुछ बाद का होना चाहिए। तथा सपूर्ण लेख मे वर्तमान काल का प्रयोग, तथा उसके साथ इस तथ्यविशेष का उल्लेख कि स्तम्भ का सस्थापन स्वय यशोधर्मन् द्वारा हुआ है, यह प्रदर्शित करते हैं कि यह एक समसामयिक लेख है और मरणोपरान्त नही लिखा गया था। प्रथम श्लोक मे शैव स्तुति है जो प० ६ में अकित उसकी इस गर्वोक्ति के अनुरूप है कि उसने भगवान् शिव के अतिरिक्त और किसी के लिए अपना सिर नही झुकाया। किन्तु लेख किसी सप्रदायविशेष से सबद्ध नही है, इसका प्रयोजन राजा के यश तथा शक्ति के वर्णन के उद्देश्य से इस स्तम्भ के सस्थापन के विषय मे लेखन है।

मूलपाठ[2]

१ वेपन्ते[3] यस्य भीमस्तनितभयसमुद्भ्रान्तदैत्या दिगन्ता शृङ्गाघातै सुमेरोर्व्विघटितदृषद कन्दरा य करोति । उक्षाण त दधान क्षितिधरतनयादत्तपञ्चागुलाङ्क द्राघिष्ठ शूलपाणे क्षपयतु भवता शत्रुतेजाड्सिकेतु ॥

२ आविर्भूतावलेपैरविनयपटुभिर्ल्लङ्घिताचारमार्ग्गैर्म्मोहादैदयुगीनैरपशुभरतिभि पीड्यमाना नरेन्द्रै । यस्य क्षमा शार्ङ्गपाणेरिव कठिनधनुर्ज्याकिणाङ्कप्रकोष्ठ बाहु लोकोपकारव्रतसफलपरिस्पन्दधीर प्रपन्ना ॥

विष्णुवर्धन के लेख (नीचे, स० ३५, प्रति० २२) की प० ४ अकित इस नाम मे ध अत्यन्त स्पष्टरूपेण अकित है। धर्मन् रूप का प्रचुर प्रयोग नही मिलता। किन्तु, अन्य नामवाचक सज्ञाओ मे यह प्रयुक्त मिलता है—उदाहरणार्थ, कृतधर्मन्, क्षत्त्रधर्मन्, क्षेमधर्मन्, जयधर्मन् तथा सुधर्मन्। सामान्य रचनाओ मे भी इसका प्रयोग दिखाई पडता है—उदाहरणार्थ, वर्ष २५२ मे तिथ्यकित महाराज धरसेन द्वितीय के मालिया दानलेख (नीचे स० ३८, प्रति० २४) की प० ५ मे अकित मन्वादिप्रणीतविधिविधानधर्म्मा मे, तथा अवसित शक सवत् ६३० मे तिथ्यकित विमादित्य पचम के कौथे दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १६, पृ० २२) की प० २६ मे अकित तेजोभिरादित्यसमानधर्म्मा मे।

१ यह सदेहास्पद है कि यहा इससे पूर्वी घाट की पहाडियो का गजम जिले मे स्थित प्रसिद्ध महेन्द्रगिरि अथवा महेन्द्राचल अभिप्रेत है अथवा यह इसी नाम के उस अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध पहाड का निर्देश करता है जो कि सिरि-पुलुमायि के उन्नीसवें वर्ष मे अकित और अधिक प्राचीन नासिक अभिलेख (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० ४, स० १४, पृ० १०८, १०६) तथा बृहत्सहिता, १४, श्लोक ११-१६ (कर्न का अनुवाद, जर्नल आफ द रायल ऐशियाटिक सोसायटी, N. S. जि० ५, पृ० ८३) मे उल्लिखित हुआ है तथा जिसे पश्चिमी घाट की पहाडियो मे कही रखना होगा।

२ स्याही की छाप से।

३ छन्द, स्रग्धरा, तथा अगले सात श्लोको में।

३ निन्द्याचारेषु योऽस्मिन्विनयमुषि युगे कल्पनामात्रवृत्[त्]या राजस्वन्येषु पाङ्सुष्विव कुसुमबलिर्न्नाबभासे प्रयुक्त । स श्रेयोधाम्नि सम्राडिति मनुभरतालर्क्कमान्धातृकल्पे कल्याणे हेम्नि भास्वान्मणिरिव सुतरा भ्राजते यत्र शब्द ॥

४ ये मुक्ता गुप्तनाथैर्न्न सकलवसुधाक्रान्तिदृष्टप्रतापैर्न्नाज्ञा हूणाधिपाना क्षितिपतिमुकुटाध्यासिनी यान्प्रविष्टा । देशास्तान्धन्वशैलद्रुमग(ग)हनसरिद्वीरबाहूपगूढान्वीर्यावस्कन्नराज्ञ स्वगृहपरिसरावज्ञया यो भुनक्ति ॥

५ आ लौहित्योपकण्ठात्तलवनगहनोपत्यकादा महेन्द्रादा गङ्गाश्लिष्टसानोस्तुहिनशिखरिण पश्चिमादा पयोधे । सामन्तैर्यस्य बाहुद्रविणहृतमदै पादयोरानमद्भिश्चूडारत्नांशुराजिव्यतिकरशबला भूमिभागा क्रियन्ते ॥

६ स्थाणोरन्यत्र येन प्रणतिकृपणता प्रापिता नोत्तमाङ्ग यस्याश्लिष्टो भुजाभ्या वहति हिमगिरिर्द्दुर्गशब्दाभिमानम् । नीचैस्तेनापि यस्य प्रणतिभुजबलावर्ज्जनक्लिष्टमूर्द्ध्ना चूडापुष्पोपहारैर्म्मिहिरकुलनृपेणार्च्चित पादयुग्म ॥

७ [गा] मेवोन्मातुमूर्द्ध्व विगणयितुमिव ज्योतिषा चक्रवाल निर्द्देष्टु मार्ग्गमुच्चैर्द्दिव इव सुकृतोपार्ज्जिताया स्वकीर्त्ते । तेनाकल्पान्तकालावधिरवनिभुजा श्री यशोधर्म्मणाय स्तम्भ स्तम्भाभिरामस्थिरभुजपरिघेणोच्छ्रिर्ति नायितोऽत्र ॥

८ श्[ल्]ाघ्ये जन्मास्य वङ्शे चरितमघहर दृश्यते कान्तमस्मिन्धर्म्मस्याय निकेतश्चलति नियमित नामुना लोकवृत्तम् [।] इत्युत्कर्ष गुणाना लिखितुमिव यशोधर्म्मणश्चन्द्रबिंबे रागादुत्क्षिप्त उच्चैर्भुज इव रुचिमानय पृथिव्या विभाति ॥

९ इति[1] तुष्टूषया तस्य नृपते पुण्यकर्म्मण । वासुलेनोपरचिता श्लोक कक्कस्य सूनुना ॥उत्कीर्णा[2] गोविन्देन ॥

अनुवाद

(भगवान्) शूलपाणि की दीर्घ पताका आपके शत्रुओ के यश का नाश करे–(वह पताका) जो, कि (हिमालय) पर्वत की पुत्री (पार्वती) द्वारा (पहले किसी रग मे डुबा कर और तत्पश्चात्) उसके ऊपर पाच उगलियो की छाप लगाने से चिन्हित उस (नन्दी) बैल (का अकन) धारण करती है जो (अपने) भयानक डकारो से, भय से उद्भ्रान्त होकर भागते हुए दैत्यो से युक्त दिगन्तो को कपाता है, (तथा) जो अपने सीगो के जोरो से सुमेरु (पर्वत) की कन्दराओ की शिलाओ को विघटित कर देता है।

प० २—वह, मानो (भगवान्) शार्ङ्गपाणि की भुजा हो ऐसी जिसकी भुजा के प्रति–जिसका प्रकोष्ठ (अर्थात् कुहनी से लेकर पहुँचे तक का भाग) (अपने) धनुष की प्रत्यचा से बने घट्ठो से चिन्हित है (तथा) जो मानव जाति के कल्याण के लिए व्रतो के सफल अनुपालन से दृढ है—पृथ्वी ने उस समय (सहायता के लिए) आश्रय लिया जब वह इस युग के राजाओ द्वारा पीडित हुई, जो कि अविनयशील थे, उचित प्रशिक्षण के अभाव के कारण निर्दयी थे, जो मोह के वशीभूत हो सुन्दर चरित्र के मार्ग का अतिक्रमण करते थे (तथा) जो शुभ आमोद-प्रमोदो मे विहीन थे —

---

१ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ) ।

२ जोडे, प्रशस्ति ।

प० ३—वह, जो सुचरित्र का अपहरण करने वाले इस युग मे गर्हित कर्मों का सेवन करने वाले राजाओ के साथ सबद्ध न होते हुए केवल (अपनी सुन्दर) कल्पनाओ के कर्म से ही सुप्रकाशित हुए–जैसे कि धूल मे (न पडने से) पुष्पोपहार (सुन्दर) लगता है, वह, गुण-सम्पत्ति के स्वामी (और इस प्रकार) मनु, भरत, अलर्क तथा मान्धातृ से कुछ ही कम जिनमे 'सम्राट'[1] की उपाधि–सुवर्ण जटित रत्न के समान प्रकाशित-(किसी अन्य की अपेक्षा) अधिक मात्रा मे प्रकाशित होती है —

प० ४—वह, जो स्वय अपने घर (की सीमाओ) की उपेक्षा करते हुए-मरुभूमियो, पर्वतो, वृक्षो, झाडियो, नदियो तथा शक्तिसपन्न भुजाओ वाले योद्धाओ से भली भाति भरपूर (तथा) (उनकी) शक्ति से आहात हुए राजाओ वाले-उन प्रदेशो का भोग करते हैं, जो कि उन गुप्त-शासको द्वारा (भी) नही भोगे गए थे जिनकी शक्ति सपूर्ण (अवशिष्ट) पृथ्वी पर आक्रमण करने से प्रकटीकृत हुई थी, (तथा) जिनका (बहुसख्यक) राजाओ के मुकुटो पर स्वय को प्रतिष्ठित करने वाले हूण-शासको की आज्ञा द्वारा भी भेदन नही किया जा सका था —

प० ५—वह, लौहित्य (नदी) के निकटवर्ती प्रदेश से लेकर ताल-वृक्षो के वन के कारण अभेद्य हुई उपत्यका वाले महेन्द्र[2] (पर्वत तक), (तथा) गगा (नदी) से आलिंगित उपत्यलियों वाले हिम-गिरि (हिमालय) से लेकर उस पश्चिमी समुद्र तक, जिसके चरणो के समक्ष (उनकी) शक्ति से अपहृत मद वाले सरदार[3]—जिनके द्वारा (उनकी) चूडाओं[4] मे लगे रत्नो की रश्मियो के सम्मिश्रण से पृथ्वी के (सभी) प्रदेश विभिन्न वर्णों के बना दिए जाते हैं-अवनत हो जाते हैं —

प० ६—वह, जिनके द्वारा (अपना) शिर (भगवान्) स्थाणु के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति प्रणमन के अवमानित्व को नही प्राप्त हुआ है, वह, जिनकी भुजाओ के आलिगन द्वारा हिम-गिरि (हिमालय) का अनुपगम्य होने का अभिमान अब[5] समाप्त हो गया है, वह, जिसके चरण-युग्म के प्रति उस (प्रसिद्ध) राजा मिहिरकुल द्वारा भी चूडा-पुष्पोपहार से सम्मान प्रदान किया गया, प्रणमन (के लिए बाध्य करने के कर्म) मे (उनकी) भुजा की शक्ति से झुकाया जाने से जिसका मस्तक क्लेश को प्राप्त हुआ —

---

१ सम्राज, "राजाओ का अधिपति, जिसने राजसूय यज्ञ कर लिया हो"। सार्वभौम शासक अथवा चक्रवर्ती राजा के अभिषेक के समय स्वय शासक तथा उसके अधीनस्थ राजाओ द्वारा सपादित होने वाले महत्वपूर्ण सस्कार अथवा धार्मिक अनुष्ठान राजसूय के विवरण के लिए, द्र० महाभारत के सभापर्व मे राजसूयपर्व, प्रतापचन्द्र राय का अनुवाद, पृ० ९५ इ० ।

२ द्र०, ऊपर पृ० १७८, टिप्पणी १ ।

३ सामन्त, शाब्दिक अर्थ "सीमावर्ती, निकटवर्ती, पडोसी, अधीनस्थ शासक, अधीनस्थ जिले का प्रमुख ।" यह एक पारिभाषिक राजकीय उपाधि है जो महासामन्त–जो, उदाहरणार्थ महासामन्त तथा महाराज समुद्रसेन के निर्मण्ड दानलेख (नीचे स० ८०, प्रति० ४४) मे कई स्थनो पर आता है—के नीचे के पद का निर्देश करता है । अन्य लेखो मे सामन्त अपने पारिभाषिक अर्थ मे कई बार आता है, किन्तु यहा यह सामान्य अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है और तदनुसार अनूदित हुआ है ।

४ चूडा बाल्यकाल मे चौलकर्म सस्कार के समय सिर की मूर्द्धा पर छोडे गए बालो के गुच्छे को कहते हैं ।

५ अर्थ की पूर्ति के लिए, वहति के साथ हमे यहा प्रत्यक्षत श्लोक के प्रथम पाद के नकारात्मक शब्द न को जोडना होगा ।

क–चन्द्रगुप्त का मरणोपरान्त लिखित मेहरौली स्तम्भ-लेख

मान ३३

ख–यशोधर्मन का मन्दसौर स्तम्भ-लेख

मान ५०

पं० ७—जिनकी भुजाओं की परिघिका स्तम्भों के समान सुन्दर है उन राजा श्रीयशोधर्मन्[1] द्वारा प्रलयकाल तक दीर्घजीवी यह स्तम्भ—मानो पृथ्वी के मापन के लिए, मानो स्वर्गीय-प्रकाश-पुंज के परिगणन के लिए, (तथा) मानो ऊपर आकाश में सुन्दर कर्मों से अर्जित अपने यश के मार्ग-निर्देशन के लिए—यहाँ संस्थापित कराया गया, (यह स्तम्भ) जो सुप्रकाशित होता है मानो यह पृथ्वी का ऊँचा हाथ हो जो चन्द्र-तल पर यशोधर्मन् के गुणों का प्रशस्ति लिखने के लिए प्रसन्नता से ऊपर उठा हुआ हो, तथा यह कह रहा हो- 'उनका जन्म ऐसे कुल में हुआ है जो प्रशंसनीय है; उनमें पापनाशक सुन्दर व्यवहार दृश्यमान है, वह धर्मास्पद है, (तथा) उनके द्वारा (मार्गों) प्रवाहित (सुन्दर) नीति नियम प्रचलित है।"

पं० ९—सुष्ठुकर्मा वाले इन राजा की इस प्रकार प्रशंसा करने के उद्देश्य से कक्क के पुत्र वासुल द्वारा (ये) श्लोक रचे गए। (यह प्रशस्ति) गोविन्द द्वारा उत्कीर्ण हुई।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० १३७, टिप्पणी २।

सं० ३४, प्रतिचित्र २१ ग

यशोधर्मन् का दूसरी प्रतिकृति वाला मन्दसोर स्तम्भ-लेख

यह अभिलेख, जिसे मैंने सर्वप्रथम १८८६ मे इण्डियन एन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० २५७ इ० मे प्रकाशित किया, सेन्ट्रल इण्डिया के पश्चिमी मालवा क्षेत्र मे सिन्धिया अधिकृत प्रदेश के मन्दसोर जिले के प्रमुख नगर मन्दसोर[1]-अथवा जिसका अधिक प्रचलित नाम दसोर है-मे ऊपर पृ० १७५-७६ पर चर्चित यशोधर्मन् के मूल प्रतिरूपी लेख का एक अन्य स्तम्भ पर अ कित अ श है। इसे श्री आर्यन सुलिवन ने पाया था जिन्होने अपनी हस्त-प्रतिकृति १८७९ मे जनरल कनिंघम के पास भेजी और इसी से प्रेरित हो कर मेरे निर्देशन मे वह खोज प्रारम्भ हुई जिसके परिणामस्वरुप इस लेख की सपूर्ण प्रति (ऊपर स० ३३, तथा प्रतिचित्र २१ ख) और मालव वर्ष ४९३ तथा ५२९ मे तिथ्यकित कुमारगुप्त तथा बन्धुवर्मन् का लेख (ऊपर स० १८, तथा प्रति० ११) प्राप्त हुआ।

लेखन, जो लगभग १' १" चौडा तथा १' २" ऊचा स्थान घेरता है, सपूर्ण प्रति की तुलना मे अधिक सुरक्षित 'अवस्था मे है, किन्तु स्तम्भ के लम्बाई मे विदीर्ण हो जाने से तथा इसका एक भाग अप्राप्य होने से सपूर्ण लेख का लगभग तीन चौथाई अ श नष्ट हो चुका है। अक्षरो का आकार ३/८" से लेकर ३/४" तक मिलता है। पूर्ववर्ती लेख के समान ये अक्षर भी उत्तरी वर्णमाला के हैं और गोविन्द नामक उसी व्यक्ति द्वारा उत्कीर्ण किए गए थे जिसने ऊपर स० ३३ की पूर्ण प्रतिका उत्कीर्णन किया था, तथा अपने सभी प्रमुख विवरणो मे यह लेख पूर्ण प्रति का यथाभूत प्रत्यकन जान पडता है। प० ४ मे अ कित उपगूढ मे हमे मूर्धस्थानीय ढ प्राप्त होता है। तथा, अनुवर्ती व्यजन के साथ संयोग होने पर र का दो रूपो मे अ कन प० ४ मे अ कित वीर्य मे तथा प० ६ अ कित ओपहार्रम्मिहिरकुल मे भली भाति व्याख्यायित होता है। वर्णविन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं—१ पूर्ववत, प० ५ मे अ कित अङ्शु मे तथा प० १ मे अ कित तेजाङ्सि मे क्रमश श तथा स के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग, २ प० ३ मे अ कित यत्त्र मे, प० ७ मे अ कित नायितोऽत्त्र मे तथा प० १ में अकित शत्त्रु मे भी—जिस शब्द मे पूर्ण प्रति में भी त का द्वित्व नही हुआ है-अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर त का द्वित्व।

इस अशत प्राप्त लेख मे यशोधर्मन्—तथा मिहिरकुल के नाम सुरक्षित हैं। किन्तु, गुप्तो तथा हूणो का उल्लेख करने वाला अवतरण तथा वह अवतरण जिसमें यशोधर्मन् के राज्य की सीमाओ का उल्लेख हुआ है अप्राप्त है।

मूलपाठ[2]

१ [द] त[3]पञ्चाङ्ग लाङ्क द्राघिष्ठ. शूलपाणे क्षपयतु भवता शत्त्रुतेजाङ्सि केतु ॥

२ ज्य् [ा]किणाङ्किप्रकोष्ठ बाहु लोकोपकारव्रतसफलपरिस्पन्दधीर प्रपन्ना ॥

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ९८, तथा टिप्पणी २।

२ स्याही की छाप से।

३ छन्द, स्रग्धरा, तथा अगले सात श्लोको मे।

ग यशोधर्मन् का दुहरा मन्दसोर स्तम्भ-लेख

मान ५०
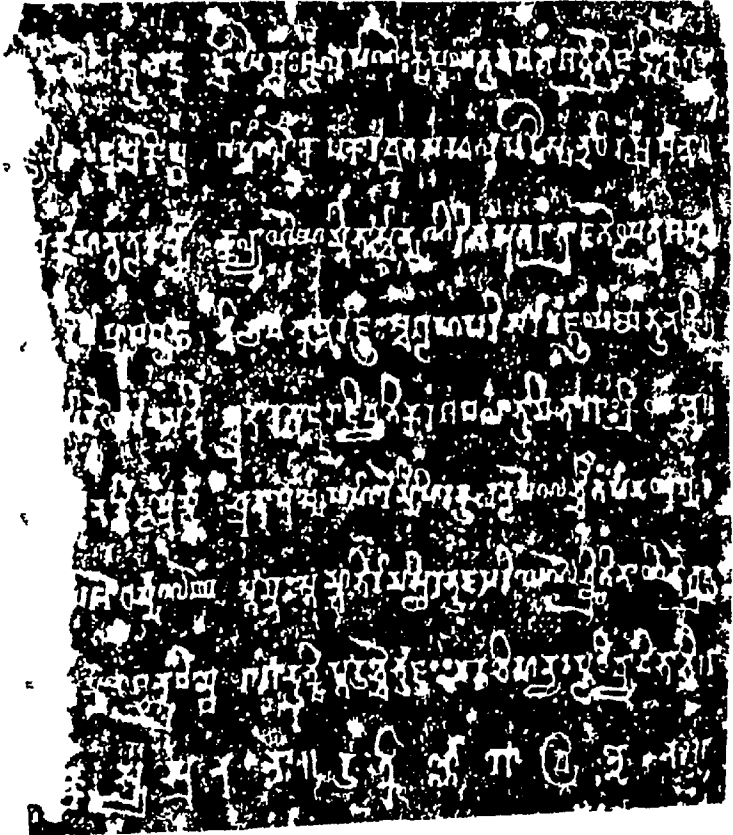
३ [आ]लर्क्कमान्धातृकल्पे कल्याणे हेम्नि भास्वानूमणिरिव सुतरा भ्राजते यत्र शब्द ॥
४ [वी]रवाहूपगूढान्वीर्यावस्कन्नराज्ञ स्वगृहपरिसरावज्ञया यो भुनक्ति ॥
५ पादयोरानमद्भिश्चूडारत्नाङ्शु गजिव्यतिकरशबला भूमिभागा क्रियन्ते ॥
६ [प्राव]र्ज्जनक्लिष्टमूर्द्ध्ना चूडापुष्पोपहारैर्म्मिहिरकुलनृपेणार्च्चित पादयुग्म ॥
७ [श्रो]यशोधर्म्मणाय स्तम्भ स्तम्भाभिरामस्थिरभुजपरिघेणोच्छ्रिति नायितोऽत्र ॥
८ [यशोध]र्म्मणश्चन्द्रविम्बे रागादुत्क्षिप्त उच्चैर्भुज इव रचिमान्य पृथिव्या विभाति ॥
९ •[क] ककस्य[1] सूनुना ॥ उत्कीर्णा[2] गोविन्देन ॥

अनुवाद

[चूंकि ऊपर पृ० १४७ पर पूर्ण प्रति के अनुवाद द्वारा इस लेख की वस्तु सामग्री पूर्णतया व्याख्यापित हो चुकी है, अतएव इस आंशिक लेख का अनुवाद देना अनावश्यक है। केवल यह ध्यान में रखना पर्याप्त है कि प० ७ में यशोधर्मन्[3] का नाम पूर्णत तथा प० ८ में अंशत सुरक्षित मिलता है, प० ६ में मिहिरकुल का नाम तथा प० ९ में लेख के उत्कीर्णक गोविन्द का नाम पूर्णतया पठनीय हैं।]

१ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ)।
२ जोड़ें, प्रशस्ति।
३ द्र०, ऊपर पृ० १७७, टिप्पणी २।

सं० ३५; प्रतिचित्र २२

यशोधर्मन् तथा विष्णुवर्धन का मन्दसोर-स्तम्भ-लेख

मालव वर्ष ५८९

यह अभिलेख, जिसे मैंने सर्वप्रथम १८८६ मे इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० २२२ इ० मे प्रकाशित किया, एक प्रस्तर-पट्टी अकित है जो, जबकि यह मुझे १८८५ मे दिखाई गई थी, उज्जैन मे सर माइकेल फिलोस (Michael Filose) के० सी० एस० आइ० के अधिकार मे थी, किन्तु जो मूलत सेन्ट्रल इडिया के पश्चिमी मालवा क्षेत्र मे सिन्धया अधिकृत प्रदेश के मन्दसोर जिले के प्रमुख नगर मन्दसोर[1]—अथवा जिसका अधिक प्रचलित नाम दसोर है—के आसपास कही एक पुराने कुए से जीर्णोद्धार कार्य करते समय प्राप्त हुई थी। मैं इस सदर्भ मे यथातथ्य सूचना नही पा सका हूँ किन्तु सभवत किले के प्रवेश द्वार के ठीक अन्दर स्थित वडा प्राचीन कुआ है जिसकी ओर तुरन्त ध्यान आकर्षित होता है।

यह एक समतल तथा सुन्दर उत्कीर्णन युक्त पट्टी है, यह सलेटी पत्थर से बनी है और इसकी चौडाई १' ११", ऊचाई १' ६½" तथा मोटाइ २¾" है। इस पर अभिलेख से सबद्ध कोई मूर्ति नही मिलती। किन्तु, पृष्ठ भाग एक अकन द्वारा दो भागो मे विभाजित है जो कि मोडदार हत्था युक्त भाला अथवा गडेरियो का त्रिशूल प्रतीत होता है, इनमे ऊपरी भाग मे मोटे रेखाकन द्वारा कोनो पर ठीक दाहिनो ओर सूर्य तथा ठीक वाई ओर चन्द्रमा का अकन हुआ है, निचले भाग मे, दोनो ओर, केन्द्रस्थ विभाजक मूर्ति की ओर मुह किए हुए एक अश्वारोही आकृति अकित मिलती है, दाहिनी ओर अकित अश्वारोही ने वाए हाथ मे या तो एक चोरी अथवा शख धारण कर रखा है, दूसरे अश्वारोही के दाहिने हाथ मे कोई वस्तु है किन्तु मैं इसका अभिधान नही कर सका हू। ये मूर्तिया, निश्चतरूपेण, जिस रूप मे कि पट्टी प्राप्त हुई है उस रूप में कुए मे लगा देने के बाद अकित की गई थी—उस रूप मे इसका लेखाकित स्तर अन्दर की ओर था, और इसी कारण यह लेख इतनी अधिक सुरक्षित अवस्था मे रह गया है। १" से लेकर १½" के हाशिए को छोड कर, लेख पूरे प्रस्तर खण्ड को घेरता है, कुछ अक्षरो को छोड कर जिन पर जम गए चूने को हटाना असभव था—पूरे लेख पर चूने का यह आवरण आ गया था किन्तु स्याही की छाप तथा शिला मुद्रण दोनो मे लेख भली भाति उभरता हुआ मिलता हुआ है—सपूर्ण लेखन अत्यन्त सुरक्षित अवस्था में है। प० १, २ तथा ३ के अन्त में पत्थर के किनारो के छाट दिए जाने के कारण कुछ अक्षर नष्ट हो गए हैं, और इसी प्रकार कुछ अन्य स्थानो पर भी कुछ अक्षर क्षतिग्रस्त हुए हैं। किन्तु एकमात्र स्थान जहा के नष्ट हुए अक्षर नही जोडे जा सकते वह प १६ का प्रारम्भ है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ⅜" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं और उसी प्रकार के हैं—वस्तु ये उसी व्यक्ति द्वारा उत्कीर्ण हुए थे—जो कि हमे यशोधर्मन् के मन्दसोर स्थित दुहरे-स्तम्भ-लेखो मे (ऊपर स० ३३, तथा प्रति० २१ ख, और स० ३४ तथा प्रति० २१ ग) प्राप्त होते हैं। इनमे, प० ५ मे अकित **औलिकर** में अत्यन्त असामान्य **औ** का,

---

[1] ऊपर पृ० ६८, टिप्पणी २।

तथा प० ७ मे अंकित उद्रूढ तथा गाढ में, प० ११ में अंकित रूढ मे तथा प० १८ अंकित ऊढ में मूर्धस्थानीय ढ का अंकन सम्मिलित है। भाषा सस्कृत है, तथा प्रारंभिक सिद्धम् तथा अन्त में उत्कीर्णक के नामविषयक दो शब्दो को छोड़कर सपूर्ण लेख पद्य में है। वर्ण-विन्यास के प्रसग में ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १ प० ६ तथा ६ में अंकित वङ्श में, प० ९ अंकित अङ्श मे, प० ११ में अंकित अङ्श मे, तथा प० १६ में अंकित अभ्रङ्शिन् मे श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग, २ प० २ में अंकित भूयान्सि में, तथा प० ४ मे अंकित यशान्सि में स के पूर्व दन्त्य आनुनासिक का प्रयोग, यद्यपि प २२ में अंकित मनांसि में अपेक्षाकृत अधिक सामान्य अनुस्वार का प्रयोग पाते हैं, ३ अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर त का द्वित्व—उदाहरणार्थ प० ४ मे अंकित शत्त्रु में, प० ११ में अंकित कलत्त्र में, तथा प० १६ मे अंकि पारियात्त्र में, ४ प० १६–१७ मे अंकित अद्ध्यासित में तथा प० १८ में अंकित अद्ध्वनि मे—यद्यपि अन्य स्थानो पर नही हुआ है—अनुवर्ती य तथा व के साथ सयोग होने पर ध द्वित्व।

यह लेख सर्वप्रथम स्वय को यशोधर्मन्[1]—जिसे यहा एक जनजातीय शासक बताया गया है[2]—के समय मे रखता है, जिसका कि नाम हम पहले ही मन्दसोर के दुहरे लेख (ऊपर स० ३३, तथा स० ३४) मे पा चुके है। तत्पश्चात्, यह विष्णुवर्धन[3] नामक राजा का उल्लेख करता है जो, राजाधिराज तथा परमेश्वर की उपाधि धारण करने पर भी, किसी न किसी रूप मे यशोधर्मन् की प्रभुसत्ता स्वीकार करता रहा होगा। विष्णुवर्धन के कुल को औलिकर—लाञ्छन[4] धारण करने

---

१ द्र०, ऊपर पृ० १७७, टिप्पणी २।

२ जनेन्द्र, शाब्दिक अर्थ, "एक जनसमूह अथवा कबीले का अधिपति"।

३ नराधिपति, शाब्दिक अर्थ "मनुष्यो का प्रमुख शासक"।

४ औलिकरलाञ्छन। मैं औलिकर शब्द की व्याख्या नही पा सका हू, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि यह या तो उष्ण किरणों वाले (सूर्य) का अथवा शीतल किरणो वाले (चन्द्रमा) का निर्देशक है। जहां तक लाञ्छन (='चिन्ह, छाप, प्रतीक') का प्रश्न है, यह उस मुख्य चिन्ह के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है जो कि राजाओं द्वारा अपने राजपत्रो से सबद्ध ताम्र मुहरों पर अंकित किया जाता था, यह उनके ध्वजो पर अंकित चिन्ह से सर्वथा भिन्न होता था। इस प्रकार सौंदत्ति तथा बेलगाम के रट्ट शासक सुवर्णगरुडध्वज (='स्वर्णिम गरुड चिन्हित पताका') रखते थे जबकि उनका लाञ्छन सिंधुरलाञ्छन ('हाथी का चिन्ह') था (उदाहरणार्थ शक सवत् १०४५ के तेरदाळ अभिलेख की प० ४३, इण्डियन ऐंटिक्वेरी जि० १४, पृ० १८ तथा पृ० २४, टिप्पणी २४)। इसी प्रकार बनवासी तथा गोआ के कदम्ब शासक शाखाचरेन्द्रध्वज अथवा वानरध्वज (='वानर अथवा वानर राज (हनुमत्) से चिह्नांकित ध्वज') रखते थे जबकि उनका लाञ्छन सिंहलाञ्छन (='सिंह की छाप') था जो कि उनके दानलेखो की मुहरो तथा उनकी मुद्राओ पर अंकित मिलता है (उदाहरणार्थ, शक सवत् १०३० म तिथ्यंकित करगुदरि अभिलेख की प० २८–२६, इण्डियन ऐंटिक्वेरी, जि० १०, पृ० २५२, तथा गोलहल्लि अभिलेख की प० ६, जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ६, पृ० २६५, अपरच उनके दानलेखो की मुहरो के लिए द्र०, वही, पृ० २३०, स० ८ तथा इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० २८८, उनके सिक्को के लिए, जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १०, पृ० २४)। चालुक्यो की सभी शाखाओं मे वराह लांछन का का प्रयोग होता था जो कि उनके दानलेखो के सभी मुहरो तथा सिक्को पर अंकित मिलता है, तथा, लांछन का शासन के साथ विशेष सबध राजराज द्वितीय के कोरुमल्लि दानलेख की प० ७३ इ० मे अंकित एक अवतरण मे दर्शाया गया है—"जिसके राजपत्र पर, (अपने दाहिने) दांत की नोक पर सपूर्ण पृथ्वी मडल को उठाने वाले (भगवान्) विष्णु का प्रतापी वराह रूप सुन्दर लांछन बन गया।" (वही जि० १४, पृ० ८५)।

वाला कुल बताया गया है। शब्दों में, लेख की तिथि यह बताई गई है कि जबकि मालवों की गण-संरचना के समय से पांच सौ नवासी वर्ष व्यतीत हो चुके थे और इस प्रकार वर्ष पांच सौ नब्बे (ईसवी सन् ५३२-३३) प्रचलित था, किन्तु तिथिविषयक अन्य कोई विवरण नहीं दिया गया है प्रारंभिक स्तुतियां भगवान् शिव के प्रति उद्दिष्ट हैं किन्तु लेख किसी संप्रदायविशेष से संबद्ध नहीं है, तथा इसका प्रयोजन, धर्मदोष—जो कि विष्णुवर्धन का मंत्री था—के अनुज दक्ष नामक एक व्यक्ति द्वारा, अपने चाचा अभयदत्त—जिसने पहले विन्ध्य पहाड़ियों तथा पारियात्र पर्वत एवं (पश्चिम) समुद्र द्वारा मर्यादित भूप्रदेश के लिए इस पद को धारण किया था—की स्मृति में एक बड़े कुंए के निर्माण का लेखन है।

मन्त्रियों के इस वंश की वंशावली दी गई है, और इसमें एक ध्यान देने योग्य नाम भानुगुप्ता मिलता है जिसे दक्ष के पितामह रविकीर्ति की पत्नी बताया गया है। उनकी तिथि राजा भानुगुप्त से एक पीढ़ी पहले की होगी, जिसके लिए गोपराज के मरणोपरान्त लिखित एरण स्तम्भ लेख (ऊपर सं० २०, तथा प्रति० १२ख) से गुप्त संवत् १९१ (ईसवी सन् ५१०-११) की तिथि पाते हैं, तथा नाम और समय का संयोग इस प्रकार का है कि उनमें किसी प्रकार के पारिवारिक संबंध का अनुमान करना सर्वथा असंभव नहीं है। यह अवश्य है कि भानुगुप्त क्षत्रिय एक क्षत्रिय था जबकि भानुगुप्त का पति रविकीर्ति स्पष्टतः ब्राह्मण था। किन्तु प्राचीन हिन्दू नियम के अनुसार ब्राह्मणों की क्षत्रिय पत्नियां हो सकती थीं। और इस व्यवहार के प्रसंग में हमें वाकाटक महाराज देवसेन के मन्त्री हस्तिभोज के घटोत्कच गुहा-अभिलेख में एक अभिलेखिक साक्ष्य प्राप्त होता है, इसमें कहा गया है कि हस्तिभोज के पूर्वज सोम ने "श्रुति तथा स्मृति के नियमों के अनुसार" एक क्षत्रिय कन्या से विवाह किया जिससे प्रवर्तित वंश में हस्तिभोज उत्पन्न हुआ, तथा साथ में उसने ब्राह्मण जाति की कुछ अन्य कन्याओं से विवाह किया जिनसे उत्पन्न पुत्रों तथा उनके वंशजों ने स्वयं को वेदों के अध्ययन में लगाया[1]।

मूलपाठ[2]

१ सिद्धम् [॥ *] स[3] जयति जगतां पतिः पिनाकी स्मितरवगीतिषु यस्य दन्तकान्तिः। द्युतिरिव तडिता निशि स्फुरन्ती तिरयति च स्फुटयत्यदश्च विश्वम् ॥ स्वयम्भूर्भू[4]तानां स्थितिलय[समु]—

२ त्पत्तिविधिषु प्रयुक्तो येनाज्ञां वहति भुवनानां विधृतये। पितृत्वं चानीतो जगति गरिमाणं गमयता स शम्भुर्भूयान्सि प्रतिदिशतु भद्राणि भव [ताम्] ॥ फण[5]मणिगुरुभार [क्क्] र् [ा]—

३ न्तिदूरावनम्रं स्थगयति रुचमिन्दोर्म्मण्डलं यस्य मूर्द्धनाम्[।*] स शिरसि विनिबध्नन्रन्ध्रिणीमस्थिमालां सृजतु भवसृजो व क्लेशभङ्गं भुजङ्गः ॥ षष्ट्या[6] सहस्रैः सगरात्मजानां खात [:]

४ खतुल्या रुचमादधान। अस्योदपानाधिपतेश्चिराय यशान्सि पायात्पयसां विधाता ॥ अथ[7] जयति जनेन्द्रः श्री यशोधर्म्मनामा प्रमदवनमिवान्तः शत्रुसैन्यं विगाह्य व्रण—

---

१ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ् वेस्टर्न इण्डिया, जि० ४, पृ० १४० तथा टिप्पणी।

२ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

३ छन्द, पुष्पिताग्रा।

४ छन्द, शिखरिणी।

५ छन्द, मालिनी।

६ छन्द, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उपजाति।

७ छन्द, मालिनी।

५ किसलयभङ्गैर्य्योऽङ्गभूषा विधत्ते तरुणतरुलतावद्वीरकीर्त्तिर्व्विनाम्य ॥ आजौ[1] जिती विजयते जगतीम्पुनश्च श्रीविष्णुवर्द्धननराधिपति स एव । प्रख्यात औलिकरलाञ्छन आत्म—

६ वङ्शो येनोदितोदितपद गमितो गरीय ॥ प्राचो नृपान्सुबृहतश्च बहूनुदीच साम्ना युधा च वश-गान्प्रविधाय येन [।*] नामापर जगति कान्तमदो दुराप राजाधिराज परमे—

७ श्वर इत्युदूढम् ॥ स्निग्ध[2]श्यामाम्बुदाभैं स्थगितदिनकृतो यज्वनामाज्यधूमैरम्भोमेघ्य मघोनावधिषु विदधता गाढसम्पन्नसस्या । संहर्षाद्वाणिनीना कररभसहृतो—

८ द्यानचूताङ्कुराग्रा राजन्वन्तो रमन्त भुजविजितभुवा भूरयो येन देश ॥ यस्यो[3]त्केतुमिरुन्मदद्विप-करव्यावृद्धलोध्रद्रुमैरुद्धूतेन वनाध्वनि ध्वनिनदद्विन्ध्याद्रिरन्ध्रैर्ब्बलै बाले—

९ यच्छविधूसरेण रजसा मन्दाङ्शु सलक्ष्यते पर्य्यावृत्तशिखण्डिचन्द्रक इव ध्याम रवेर्म्मण्डलम् ॥ तस्य[4] प्रभोर्व्वंङ्शकृता नृपाणा पादाश्रयाद्विश्रुतपुण्यकीर्ति । भृत्य स्वनैभृत्यजिता—

१० रिपट्क आसीद्वसीयान्किल षष्ठिदत्त ॥ हिमवत[5] इव गाङ्गस्तुङ्गनम्र प्रवाह शशभृत इव रेवा-वारिराशि प्रथीयान् [।*] परमभिगमनीय शुद्धिमानन्ववायो यत उक्षितगरि—

११ म्नस्तायते नैगमानाम् ॥ तस्यानु[6]कूल कुलजात्कलत्रात्सुत प्रसूतो यशसा प्रसूति । हेररिवाङ्श वशिन वराहं वराहदास यमुदाहरन्ति ॥ सुकृति[7]विषयितुङ्ग रूढमूल

१२ धराया स्थितिमपगतभङ्गा स्थेयसीमादधानम् [।*] गुरशिखरमिवाद्रेस्तत्कुल स्वात्मभूत्या रविरिव रविकीर्त्ति सुप्रकाश व्यधत्त ॥ बिभ्रता[8] शुभ्रमभ्रङ्शि स्मार्त्त वर्त्मोचित सताम् [।*] न विसव्वा (च)—

१३ दिता येन कलावपि कुलीनता ॥ धुतधीदीधितिध्वान्तान्हविर्भुज इवाध्वरान [।*] भानुगुप्ता तत साध्वी तनयांस्त्रीनजीजनत् ॥ भगवद्दोष इत्यासीत्प्रथम कार्य्यवर्त्मसु । आल—

१४ म्बन बान्धवानामन्धकानामिवोद्धव ॥ बहु[9]नयविधिवेधा[10] गह्वरेऽप्यर्थमार्ग्गे विदुर इव विदूर प्रेक्षया प्रेक्षमाण । वचनरचनबन्धे सस्कृतप्राकृते य कविभिरुदि—

१५ तराग गीयते गीरभिज्ञ ॥ प्रणिधिहगनुगन्त्रा यस्य बौद्धेन चाक्ष्णा न निशि तनु दवीयो वास्त्यदृष्ट धरित्र्याम् [।*] पदमुदयि दधानोऽनन्तर तस्य चाभूत्स अयमभयदत्तो नाम

१६ चि [न्व ?] न्प्रजानाम् ॥ विन्ध्यस्या[11]वन्ध्यकर्म्मा शिखरतटपतत्पाण्डुरेवाम्बुराशेर्गोलाङ्गलै-सहेल प्लुतिनमिततरो पारियात्रस्य चाद्रे । आ सिन्धोरन्तराल निजशुचिसचिवाद्ध्य—

---

१ छन्द, वसन्ततिलक, तथा अगले श्लोक मे ।

२ छन्द, स्रग्धरा ।

३ छन्द, शार्दूल विक्रीडित ।

४ छन्द, इन्द्रवज्रा ।

५ छन्द, मालिनी ।

६ छन्द, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उपजाति ।

७ छन्द, मालिनी ।

८ छन्द, मालिनी ।

९ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले दो श्लोको मे ।

१० छन्द, मालिनी, तथा अगले श्लोक मे ।

११ छन्द, स्रग्धरा ।

१७ सितानेकदेश राजस्थानीयवृत्[त्*] या सुरगुरुरिव यो वर्णिणंना भूतयेऽपात् ॥ विहित[1]सकल वर्णासङ्कर शान्तडिम्ब कृत इव कृतमेतद्येन राज्य निराधि । स घुरमयमिदानी
१८ दोषकुम्भस्य सूनुर्गुरु वहति तदूढा धर्म्मतो धर्म्मदोष ॥ स्वसुखमनतिवाञ्छ (ञ्छ)न्दुर्गमेऽद्ध्व-न्यसङ्गा घुरमतिगुरुभारा यो दधद्भर्तुरर्थे । वहतिनृपतिवेष केवल लक्ष्ममात्र
१९ वलिनमिव विलम्व कम्वल बाहुलेय ॥ उपहितहितरक्षामण्डनो जातिरत्नैर्भुज इव पृथुलासस्तस्य दक्ष कनीयान् [।*] महदिदमुपान खातयामास विभ्र—
२० च्छ्रुतिहृदयनितान्तानन्दि निर्दोषनाम ॥ सुखा[2]श्रयच्छाय परिणतिहितस्वादुफलद गजेन्द्रेणारुग्ण द्रुममिव कृतान्तेन वलिना । पितृव्य प्रोद्दिश्य प्रियमभयदत्त पृ—
२१ थुधिया प्रथीयस्तेनेद कुशलमिह कर्म्मोपरचित ॥ पञ्चसु[3] शतेषु शरदा यातेष्वेकान्ननवतिसहितेषु। मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु ॥ य—
२२ स्मि[4]न्काले कलमृदुगिरा कोकिलाना प्रलापा भिन्दन्तीव स्मरशरनिभा प्रोषिताना मनासि। भृङ्गालिना ध्वनिरनुवन भारमन्द्रश्च यस्मिन्नाधूतज्य धनुरिव नदच्छ्रूयते पुष्प—
२३ केतो ॥ प्रियतम[5]कुपिताना रामयन्वद्धराग किसलयमिव मुग्ध मानस मानिनीना [।*] उपनयति नभस्वान्मानभङ्गाय यस्मिन्कुसुमसमयमासे तत्र निर्म्मापितोऽयम् ॥
२४ यव[6]त्तुङ्गैरुदन्वान्किरणसमुदय सङ्क्रान्त तरङ्गैरालिङ्गन्निन्दुबिम्ब गुरुभिरिव भुजै सविधत्ते सुहृत्ताम् [।*] विभ्रत्सौधान्तलेखावलयपरिगतिं मुण्डमालामिवाय सत्कूपस्तावदा—
२५ स्तामममृतसमरसस्वच्छविष्यन्दिताम्बु ॥ धीमा (न्)[7] दत्तो दक्षिण सत्यसन्धो ह्रीमाञ्छूरो वृद्ध-सेवी कृतज्ञ । वद्धोत्साह स्वामिकार्य्येष्वखेदी निर्दोषोऽय पातु धर्म्म चिराय ॥ उत्कीर्णा[8] गोविन्देन ॥

अनुवाद

सिद्धि प्राप्त की जा चुकी है। उन (सभी) विश्वो के स्वामी (भगवान्) पिनाकिन् की विजय है-हास-ध्वनि से युक्त जिनके गीतो मे, रात मे चमकती हुई प्रभा के समान (उनके) दातो की कान्ति इस सपूर्ण विश्व को आवृत्त कर लेती है तथा सुप्रकटित करती है। वह (भगवान्) शम्भु आपके प्रति मगल प्रदान करे-जिनके द्वारा सभी वस्तुओ की स्थिति, नाश तथा उत्पत्ति (करने के) कर्मो मे नियुक्त (भगवान्) स्वयभू (सभी) लोको की स्थिति के लिए उनकी आज्ञाओ का पालन करते हैं, तथा जिनके द्वारा (वह) गरिमावान् बनाए जाते हुए (विश्व) के पितृत्व की अवस्था को प्राप्त हुए हैं।

---

१ छन्द, मालिनी, तथा अगले दो श्लोको मे।
२ छन्द, शिखरिणी।
३ छन्द, आर्या।
४ छन्द, मन्दाक्रान्ता।
५ छन्द, मालिनी।
६ छन्द, स्रग्धरा।
७ छन्द, शालिनी।
८ जोडें, प्रशस्ति।

यशोधर्मन एवं विष्णुवर्धन का मन्दसौर लेख–मालव वर्ष ५८९

सृष्टि के उत्पादक[1] का सर्प आपका क्लेश-निवारण करे--(वह सर्प) (अपने) फणों मे जटित रत्नो के कठिन भार से बहुत अधिक झुका हुआ जिसका फण-समूह (अपने स्वामी के ललाट पर स्थित) चन्द्रमा की प्रभा को आच्छादित करता है, (तथा) जो (अपने शरीर की कुंडलियो द्वारा) (गूंथने के लिए) छिद्रो से युक्त अस्थि मालाओ को (अपने स्वामी के) शिर पर बाधता है! सगर के साठ हजार पुत्रो द्वारा खने गए (तथा) आकाश (की शोभा) के समान वाले जलो[2] के उत्पादक दीर्घकाल तक कूपो मे सर्वोत्तम इस कूप के यश की रक्षा करें।

प० ४--श्री यशोधर्मन्[3] नाम वाले वह जन-प्रमुख[4] विजयशील है, जो, (अपने) शत्रुओं की सेना मे मानो प्रमद-वन (एक विशेष प्रकार के कटीले वृक्षों का वन) मे प्रवेश कर रहा हो इस प्रकार प्रवेश कर (तथा) वीरो की कीर्ति को कोमल तरु-लताओं के समान अवनत कर, (अपने) शरीर को (प्राप्त) घावो रूपी किसलय-खण्डो से अलकृत करते हैं।

प० ५--तथा, पुन वही[5] मनुष्यो के राजा[6] युद्ध-जयी विष्णुवर्धन विजयशील है, जिनके

---

१ भवसृज्। प्रारम्भ मे ब्रह्मा सृष्टि के उत्पादक, विष्णु पोषक तथा शिव सहारक थे। किन्तु, निश्चिततमा, वैष्णव तथा शैव भी अपने इष्ट देवताओ मे इन तीनो लक्षणो का आरोपण करते थे। जहा तक शिव का प्रश्न है, हम वर्ष ८४७ मे तिथ्यकित शीलादित्य सप्तम् के अलीन दानलेख (नीचे स० ३९, प्रति० ३५) की प० ५८ का उल्लेख कर सकते हैं जहां परमेश्वर नाम के अन्तगत उन्हें पुन स्पष्टरूपेण सृष्टिकर्त्ता बताया गया है। विष्णु के सबध मे विष्णुपुराण, १ २ (हाल द्वारा सपादित विल्सन का अनुवाद, जि० १, पृ० ४१) मे यह कथा दी गई है कि विष्णु स्वय ही ब्रह्मा बन गए और इस प्रकार उन्होंने सृष्टि की उत्पत्ति की। भवसृज् मे यहां शिव का निर्देश है, यह पूर्ववर्ती दो श्लोको से व्यजित होता है और विशेषरूपेण इस श्लोक मे ही अस्थि माला के उल्लेख से स्पष्ट होता है। शिव को सदैव खोपडियो की माला पहने हुए, गले मे लटकते हुए सर्पों तथा ललाट पर स्थित अर्धचन्द्र के साथ प्रदर्शित किया जाता है।

२ अर्थात् समुद्र। इस श्लोक मे उस कथा विशेष का उल्लेख है जिसके अनुसार समुद्र का उत्खनन सगर के पुत्रो द्वारा अपने पिता के अश्वमेध यज्ञ के घोडे की खोज करते समय हुआ, यह अश्व उनके पास से कपिल मुनि ने चुरा लिया था और पाताल लोक तक पृथ्वी के उत्खनन के उपरान्त ही पाया जा सका। कपिल ने अपने क्रोध म उन्हें जला कर भस्म कर दिया किन्तु सगर के पौत्र अशुमत् के हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप उन्होंने अश्व लौटा दिया। किन्तु सगर के पुत्रो की अन्त्येष्टि-क्रिया सपन्न न हो सकी जिसके परिणामस्वरूप उनका स्वग में तब तक स्थानान्तरण न हो सका जब तक कि अशुमत् के पौत्र भगीरथ ने गगा को स्वग से पृथ्वी पर सगर के पुत्रो द्वारा उत्खनित स्थान तक नहीं लाया। इससे प्रवाहित होते हुए गगा द्वारा उनकी अस्थिया तथा भस्म स्पृष्ट हुई जिससे परिणामस्वरूप वे स्वग पहुँच गए। वह जल जो इस उत्खनित स्थान मे रह गया कालान्तर मे सगर तथा उसके वशजो की स्मृति मे सागर कहलाया।

३ द्र०, ऊपर पृ० १७७, टिप्पणी ७।

४ जनेन्द्र, द्र०, ऊपर पृ० १८५, टिप्पणी २।

५ इस अभिकथन से ऐसा लगता है मानो यशोधर्मन् तथा विष्णुवर्धन एक ही व्यक्ति हो। किन्तु श्लोक की सामान्य सरचना जनेन्द्र तथा नराधिपति इन दो भिन्न उपाधियो का प्रयोग तथा आत्म-वशो का उल्लेख यह प्रदर्शित करते हैं कि ऐसी बात नहीं थी। "वही" का अर्थ यह मात्र है कि "वह शासन कर रहा राजा" जिसके समय तथा अधिकृत भूप्रदेश मे लेख लिखा गया।

६ नराधिपति, द्र० ऊपर पृ० १८५, टिप्पणी ३।

द्वारा औलिकर-लाञ्छन[1] युक्त उनका प्रसिद्ध वंश उत्तरोत्तर वर्धमान गरिमा की स्थिति को प्राप्त हुआ है। उनके द्वारा, सन्धि तथा युद्ध के द्वारा पूर्व के अत्यन्त शक्तिशाली राजा तथा उत्तर के बहुसंख्यक (राजा) अधीन बनाए जाकर, 'राजाधिराज'[2] तथा 'परमेश्वर'[3] का दूसरा नाम—जो विश्व मे सुखद (किन्तु) प्राप्त कर सकने मे कठिन है—ऊपर उठता है। (स्वयं अपने) बाहु-बल से पृथ्वी को जीतकर, उसके माध्यम से बहुत से देश-जिनमे, घने श्यामवर्ण मेघो के सदृश, यज्ञो की आहुतियो से उठते हुए धुए से सूर्य आच्छन्न रहता है, (तथा) (भगवान्) मघवन् द्वारा (उनकी) सीमाओं पर मेघो की वृष्टि होने से जिनकी भूमि प्रभूत रूप मे शस्यमयी रहती है, [तथा] जिनके उद्यानो मे आम्र-वृक्षो के नव पल्लवाग्रो को विचरण करती हुई स्त्रियो द्वारा हर्षपूर्वक उत्सुकता से तोडा जाता है—अच्छा शासक पाने की प्रसन्नता का उपभोग करते है। जिनकी पताकाए ऊपर उठी हुई हैं, (तथा) जिन्होंने (अपने) क्रुद्ध हाथियो के सूडो द्वारा लोध्र-वृक्षो[4] को सभी दिशाओ मे बिखेर दिया है, (तथा) जिन्होने जगलो के बीच से (अपने) संक्रमण से विन्ध्य पर्वत के विवरो को ध्वनि-गुंजरित कर दिया है-ऐसी उनकी सेनाओ से उठती हुई गर्दभ-चर्म के रग के सदृश भूरे रग की धूलि द्वारा सूर्य-मण्डल धूमिल तथा मन्द किरणो वाला दिखाई पडता है, मानो यह उलटी हुई मयूर-पूछ[5] की आख हो।

प० ६—उस प्रभु के वंश की स्थापना करने वाले राजाओ का भृत्य षष्ठिदत्त था-(उनके) चरणो की रक्षा करने से जिसके पुण्य का यश दूर दूर तक फैला हुआ था, जिसने अपनी दृढता से (धर्म के) छह[6] शत्रुओं को पराभूत किया, (तथा) जो वस्तुत. अत्यन्त श्रेष्ठ पुरुष था। जिस प्रकार गंगा [नदी] का ऊंचा तथा नीचा प्रवाह हिमवद् (पर्वत) से (तथा) रेवा (नदी) का प्रभूत जल-समूह चन्द्रमा से निःसृत होता है—(उसी प्रकार) सुप्रकटित गरिमा वाले उससे परम अभिगमनीय नैगमो का शुद्ध कुल प्रवाहित होता है।

प० ११—उसके, एक अच्छे कुल मे उत्पन्न पत्नी से, (सुन्दर गुणो मे) अपने सदृश तथा यश का स्रोत एक पुत्र हुआ—जिस वराहदास (नाम वाले) (तथा) आत्मवशी (तथा) सुयोग्य के विषय मे लोग इस प्रकार चर्चा करते हैं मानो वह (भगवान्) हरि का एक (अवतार) अंश हो।

प० ११—मानो पर्वत के उच्च शिखर (को प्रकाशित करता हुआ) सूर्य हो, ऐसे रविकीर्त्ति ने अपने चरित्र-धन से इस वंश को-जो कि सांसारिक आधिपत्यो के साथ सुन्दर कर्मों का सम्मिलन करने वाले मनुष्यो द्वारा प्रमुख बनाया गया था, जिसकी आधारशिला पृथ्वी मे भली भांति प्रतिष्ठित थी [तथा] जो भंग होने (के किसी भय) से मुक्त अपने जीवन की दृढ स्थिति को बनाए हुए था—को प्रकाशित किया, (रविकीर्ति) सज्जनो द्वारा स्वीकार्य परम्परागत विधियो के शुद्ध (तथा) अनुल्लंघ्य मार्ग पर चलने वाले जिसके द्वारा कलियुग मे (भी) वंश की उच्चता को झूठी दृढोक्ति की वस्तु नही बनाया गया। उसे (अपनी) पवित्र पत्नी भानुगुप्ता से तीन पुत्र उत्पन्न हुए जिन्होंने (अपनी) बुद्धि की किरणो से (अज्ञान का) अन्धकार हटा दिया,—मानो (उसने) अग्नि से (तीन) यज्ञ उत्पन्न किए थे।

---

१ औलिकरलाञ्छन,, द्र०, ऊपर पृ० १८५, टिप्पणी ४।

२ राजाधिराज, द्र०, ऊपर पृ० ४४, टिप्पणी ७।

३ परमेश्वर, द्र०, ऊपर पृ० १२, टिप्पणी २।

४ लोध्र, रोध्र भी कहा जाता है, वनस्पतिशास्त्र का Symplocos Racemosa।

५ अर्थात्, 'पखो के उल्टी ओर से देखे जाने पर'।

६ अरिषट्क अथवा अरिषड्वर्ग (= 'छ प्रतिकूल वस्तुओ का समूहन'), वे हैं इच्छा, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या, जिनसे धर्माचरण मे बाधा उत्पन्न होती है।

प० १३—इनमे से प्रथम भगवद्दोष था जो–जैसे अन्धको मे उद्धव (थे)–धार्मिक कृत्यो के मार्ग मे अपने बाधवो का आलम्ब था, जो (शब्दो के) अर्थ रूपी दुर्गम मार्गों मे बुद्धि प्रदर्शन मे अत्यन्त वेधम् था, जो, विदुर[1] के समान, सदैव विचारयुक्त हो दूरदर्शी था, (तथा) जो संस्कृत तथा प्राकृत वाक्य-सरचना-व्यवस्था में कवियो द्वारा प्रसन्नता पूर्वक विद्वान् के रूप मे प्रशसित होता है ।

प० १५—और उसके पश्चात्, पृथ्वी पर उच्च स्थान बनाते हुए (तथा) (अपनी प्रजाओ) (?) का भय (हटाने के लिए) सचित करते हुए, (सुप्रसिद्ध) अभयदत्त हुआ,–गुप्तचर की आखो के ममान उसकी सेवा करने वाली जिसके बुद्धि-चक्षु द्वारा रात मे (भी) दूरवर्ती भी कोई साधारण घटना भी अदृष्ट नही रहती थी, फलदायक कर्मों वाला (अभयदत्त) जो (चारो मान्य) वर्णों के सदस्यो के हित के लिए, सुरगुरु (बृहस्पति) के समान राजस्थानीय[2] के कर्मो को सम्पादित करते हुए स्वय अपने परिशुद्धकर्मा सचिवो द्वारा शासित प्रचुर भू–प्रदेशो से युक्त, विन्ध्य (पर्वतो), जिसके शिखर तट से रेवा (नदी) का पाण्डु-वर्ण जल समूह प्रवाहित होता है, तथा पारियात्र पर्वत, जिस पर वृक्ष लङ्गूरो की कुदानो से नमित होते हैं, के बीच मे स्थित, (तथा) (पश्चिमी) समुद्र तक (फैले हुए) क्षेत्र की रक्षा करता है ।

प० १७—अब वह दोषकुम्भ का पुत्र धर्मदोष–जिसके द्वारा यह राज्य वर्ण सकरता से मुक्त (तथा) सभी प्रतिकूलताओ के नष्टीकरण [से शान्त] (तथा) चिन्ता से अबाधित (मानो यह अब भी) कृत युग मे हो ऐसा बना दिया है–न्यायानुसार सगर्व, (पूर्वकाल मे) उसके द्वारा[3] वहन किए गए (शासकीय) भार का वहन करता है, —(धर्मदोष) जो–स्वय अपने सुख की इच्छा न करते हुए, (तथा) अपने प्रभु के लिए (शासन कार्य के) कठिन मार्ग मे अत्यन्त भारी तथा किसी अन्य के द्वारा अविभाजित[1] (शासन) भार का वहन करते हुए–राजकीय वेशभूषा को केवल विशिष्टता सूचक चिन्ह

---

१ महाभारत का एक पात्र जिसे धृतराष्ट्र तथा पाण्डु का अनुज बताया गया है, तथा बुद्धिमान् तथा सज्जन पुरुषों मे श्रेष्ठतम कहा गया है ।

२ राजस्थानीय, शब्दश 'वह जो एक राजस्थान अथवा राजकीय निवास स्थान से सबद्ध है' अथवा सभवत 'वह जो राजा की स्थिति मे है' । यह एक पारिभाषिक शासकीय उपाधि है जिसका निश्चित स्थान निर्धारित होना अभी शेष है । जैसा कि डा० ब्यूलर (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ५ पृ० २०७) ने बताया है, क्षेमेन्द्र के लोकप्रकाश मे इस शब्द की यह व्याख्या की गई है *प्रजापालनार्थमुद्वहति रक्षयति च स राजस्थानीय* —'जो प्रजा–रक्षण के उद्देश्य की पूर्ति करता है तथा उन्हें शरण देता है, वह राजस्थानीय है' । अर्थात् 'एक उप–शासक' (वायसराय) । किन्तु, यद्यपि भाषाशास्त्रीय आधारो पर इस शब्द का 'वायसराय' अनुवाद सर्वथा उपयुक्त है, वस्तुत वायसराय इतने ऊचे पद का निर्देशक है कि यह राजस्थानीय का उपयुक्त समरूप शब्द नहीं जान पडता । वर्ष २५२ मे तिथ्यकित महाराज धरसेन द्वितीय के मालिया दानलेख (नीचे स० ३८, प्रति० २४) की प० २१ मे तथा जीवितगुप्त द्वितीय के देव–बरणाक अभिलेख (नीचे स० ४६, प्रति० २९ ख) की प० ९ मे (जहा डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने इस शब्द का 'राजनीतिक प्रतिनिधि' अथवा regent अर्थ प्रस्तावित किया है), राजस्थानीय का नाम राजकर्मचारियो की सूची में काफी नीचे आता है, इसी प्रकार नारायण पाल के भागलपुर दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ३०६) की प० ३३ मे, तथा उस अवतरण मे भी जिसके सदर्भ मे ब्यूलर ने इस शब्द का अर्थ बताया है, यह पदाधिकारी काफी नीचे दिखाया गया है ।

३ अर्थात् अभयदत्त । धर्मदोष का पिता दोषकुम्भ अभयदत्त का अनुज तथा रविकीर्ति एव भानुगुप्ता के पुत्रों मे सबसे छोटा रहा होगा ।

के लिए (स्वय अपने सुख के लिए नही) धारण करता है, जैसे कि एक वृषभ[1] सिलवटो युक्त दोलायमान गलकम्बल का वहन करता है।

प० १६—बान्धवो की रक्षा की शोभा से युक्त, मानो वह (उसका) चुने हुए रत्नो से (शोभित) दीर्घ-स्कन्ध (दाहिना) हाथ हो ऐसा (तथा) कान तथा हृदय मे अतीव प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले 'निर्दोष' इस सज्ञा का वहन करने वाले उसके अनुज दक्ष ने इस श्रेष्ठ कूप का उत्खनन करवाया। उस अतीव बुद्धिमान द्वारा यह महान तथा कुशल कर्म अपने प्रिय पितृव्य (चाचा) अभयदत्त के हेतु सम्पन्न किया गया, जो कि (अपने समय के पूर्व) (भगवान्) कृतान्त द्वारा इस प्रकार काट दिया गया था मानो एक सुखद छाया वाला तथा पके स्वादु एव मधुर फल प्रदान करने वाला वृक्ष किसी गजराज द्वारा (अनायास ही) नष्ट कर दिया गया हो।

प० २१—मालव-गण-सरचना की प्रभुता[2] (की सस्थापना) से पाच सौ नवासी शरद् अवसित हो चुकने पर (तथा) (वर्तमान) समय के निर्धारण के उद्देश्य से लिखित होने पर,—उस ऋतु[3] मे जिसमे (भगवान्) स्मर के शर के समान, धीमी तथा कोमल ध्वनियो वाली कोयलो के गीत घर से दूर रहने वाले लोगो के मन को विदीर्ण सा करते हैं, तथा जिसमे भ्रमरो के उडने से उत्पन्न (उनके द्वारा वहित) भार के कारण धीमी हुई गु जन-ध्वनि जगलो के बीच पुष्प-पताका वाले (भगवान् कामदेव के) धनुष-जबकि इसकी प्रत्यचा को स्पन्दित किया जाता है-के टकार के समान सुनी जाती है,—उस ऋतु मे जिसमे पुष्पागमन का वह मास आता है जबकि वायु अपने प्रियतमो से कुपित मानिनी स्त्रियो के प्रेमपूर्ण किन्तु मोहसिक्त विचारो को-मानो वे नए निकले हुए सुन्दर पल्लव हो-तोडने मे प्रवृत्त रहता है, उस ऋतु मे यह (कूप) बनवाया गया।

प० २४—जब तक कि समुद्र, (अपनी) ऊ ची लहरो रूपी भुजाओ द्वारा किरण-पु जो से युक्त (तथा जल के साथ) सबध होने से (और भी) शोभायमान चन्द्र-मण्डल का आलिंगन करते हुए (इसके साथ) मित्रत्व बनाए रखता है, तब तक, प्रस्तर-कर्म के किनारे परमानो केश विहीन शिर पर माला पडी हो इस प्रकार-चारो ओर वेष्टन करने वाली परिधा से युक्त (तथा) अमृतोपम स्वाद वाला जल प्रदान करता हुआ, यह उत्तम कूप बना रहे।

प० २५—श्रीमान् दक्ष दीर्घकाल तक इस धर्म-कर्म की रक्षा करे! - (वह जो कि) कुशल, व्रती, विनम्र, वीर, गुरुजनो की सेवा मे प्रवृत्त, कृतज्ञ, उत्साहवान, (अपने) स्वामी का कार्य करने मे न थकने वाला (तथा) निर्दोष (है)! (यह प्रशस्ति) गोविन्द द्वारा उत्कीर्ण हुई।

---

१ बाहुलेय, मोनियर विलियम्स के सस्कृत शब्दकोश में यह अर्थ नही मिलता, इस अर्थ के लिये तथा लेख के एक दो अन्य अवतरणो की व्याख्या के लिए मैं जयपुर के पडित दुर्गाप्रसाद का ऋणी हू।

२ वशात्, किन्तु इस अवतरण मे इस शब्द का सतोषजनक अर्थ बता सकना बडा कठिन है।

३ अर्थात्, वसन्त।

स० ३६; प्रतिचित्र २३क

तोरमाण का एरण से प्राप्त प्रस्तर-वराह-अभिलेख

यह अभिलेख १८३८ मे अभियान्त्रिकी के कैप्टेन टी० एस० वर्ट द्वारा पाया गया और जन-सामान्य को इसके विषय मे ज्ञान उसी वर्ष जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ७, पृ० ६३१ ई० के माध्यम से हुआ, जिसमे श्री जेम्स प्रिंसेप ने लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया[1] और साथ मे कैप्टेन वर्ट द्वारा वनाई गई स्याही की छाप के आधार पर तैयार किया गया शिला-मुद्रण (वही, प्रति० ३०) भी दिया। १८६१ मे उसी पत्रिका के जि० ३०, पृ० २० इ० मे डा० फिट्ज-एडवर्ड हाल ने, मूल स्तम्भ से, लेख का अपना सशोधित पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया।

यह सेन्ट्रल प्राविंसेज मे सागर जिले के खुराई तहसील मे स्थित एरण[2] नामक स्थान से प्राप्त एक अन्य अभिलेख है। यह लेख एक भगवान विष्णु का वराह-अवतार प्रदर्शित करने वाली वृहदाकार लाल वालुकाश्म निर्मित लगभग ग्यारह फीट ऊची वराह-प्रतिमा के वक्ष स्थल पर अकित है। यह प्रतिमा गाव के पश्चिम में लगभग आधे मील की दूरी पर स्थित मन्दिर-समूहो के दक्षिणी किनारे पर प्राप्त एक ध्वस्त मन्दिर के मण्डप भाग मे पूर्वाभिमुख अवस्था मे प्राप्त होती है[3]।

वराह-प्रतिमा पर, इसके अयाल तथा रोमो से सलग्न, बहुसख्यक मूर्तिया वनी मिलती हैं जो मुख्यत ऋषियो की हैं[4]। इसके दाहिने दात पर—जैसी कि कथा है—पृथ्वी को स्त्री रूप मे दिखाया गया है, तथा इसके कधो पर एक छोटा चतुर्मुख मदिर वना हुआ है जिसके प्रत्येक मुख पर एक वैठी आकृति दिखाई गई है। वराह-प्रतिमा पर कुछ गभीर दरारें पड गई है, इनमे से एक ठीक लेख के बीच मे सामने से प्रारम्भ होकर पीछे तक-सप्रति प्रकाशित शिला-मुद्रण मे भी दिखाई पडता है। लेख को धारण करने वाला स्तर थोडा सा उन्नतोदर है। लेखन को, जो कि लगभग २' ६" चौडा तथा १०$\frac{3}{4}$" ऊचा स्थान घेरता है, एक अथवा दो स्थलो पर ऋतु-प्रभाव से पर्याप्त क्षति पहुँची है, किन्तु पूर्वोल्लिखित दरार के किनारो पर पत्थर के टूट जाने से नष्ट हो गए कुछ अक्षरो को छोड कर सपूर्ण लेख

---

१ इस अनुवाद का टामस सपादित प्रिंसेप्स एसेज, जि० १, पृ० २४६ इ० मे पुनर्प्रकाशन हुआ है।

२ द्र०, ऊपर पृ० २२, तथा टिप्पणी १।

३ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ८२ इ०, तथा प्रति० २५ एव २६।

४ साची तथा उदयगिरि के बीच लगभग आधी दूरी पर मैंने सडक के किनारे, लगभग जमीन मे पूर्णतया दवी हुई, एक इसी प्रकार की वराह-प्रतिमा देखी थी, किन्तु उस समय मेरे पास उसे खडा करके यह देखने का कोई उपाय नहीं था कि इस पर कोई लेख अकित है अथवा नहीं।

निश्चिततापूर्वक पठनीय है। लेख की सबसे नीचे की पंक्ति भूमि-स्तर से लगभग ६' की ऊंचाई पर है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ३/८" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा बुधगुप्त के एरण स्तम्भ-लेख (ऊपर स० १६, प्रति० १२ क) मे अकित अक्षर-प्रकार के सदृश हैं। अनुवर्ती व्यंजन के साथ सयोग होने पर र के लेखन की दो विधिया एक ओर तो प० ५ मे अकित पर्यन्त में तथा, दूसरी ओर प० १ मे अकित घूर्ण्णित, प० ३ मे अकित पूर्व्वायाम् तथा प० ७ मे अ कित अर्थ मे दिखाई पडती है। भाषा सस्कृत है तथा प० ३ मे अ कित तिथि के अन्त तक लेख पद्य मे और शेष लेख गद्य मे है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे एक मात्र ध्यातव्य विशिष्टता अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर क, त, तथा ध का द्वित्व है-उदाहरणार्थ, प० ६ मे अ कित विक्क्रमेण मे, प० ३ मे अ कित मैत्त्रायणीय मे, प० ४ मे अ कित पौत्त्रस्य मे (किन्तु प० ६ मे अ कित भ्रात्रा मे नही) तथा प० १ मे अकित महीद्ध्रः में।

लेख स्वय को तोरमाण के शासनकाल मे रखता है। यह शब्दो मे तिथ्यकित है, दी गई तिथि-किसी सवतविशेष के उल्लेख के बिना-उसके शासनकाल का प्रथम वर्ष है, तथा-पक्षविशेष के उल्लेख के बिना-फाल्गुन मास (फरवरी-मार्च) का दसवा दिन है। यह एक वैष्णव लेख है। तथा इसका प्रयोजन मातृविष्णु के अनुज धन्यविष्णु द्वारा उस मदिर-जिसमे कि वराह प्रतिमा मिलती है-के निर्माण का लेखन है।

लेख मे मातृविष्णु के स्वर्गवासी हो जाने का उल्लेख महत्व का है क्योकि इससे यह प्रदर्शित होता है कि, जहा तक पश्चिमी मालवा पर उसके आधिपत्य का प्रश्न है, तोरमाण बुधगुप्त-जिसके समय मे उस समय जीवित मातृविष्णु ने धन्यविष्णु के साथ वर्ष १६५ की तिथि युक्त बुधगुप्त का लेख (ऊपर स० १६, प० ८८) धारण करने वाले स्तम्भ का सस्थापन किया था-के कुछ ही समय बाद आता है।

मूलपाठ[1]

१ ओम् [॥*] जयति[2] धरण्युद्धरणे घनघोणाघातघूर्ण्णितमहीद्ध्रः देवो वराहमूर्त्तिस्त्रैलोक्यमहागृहस्तम्भ [॥*] वर्षे[3] प्रथमे पृथिवीम्

२ पृथुकीर्त्तौ पृथुद्युतौ महाराजधिराजश्रीतोरमाणे प्रशासति। (॥) फाल्गुनदिवसे[4] दशमे। इत्येव राज्यवर्षमासदिनै [।] एतस्या

३ पूर्व्वायाम्। स्वलक्षणैर्युक्तपूर्व्वायाम्[5]। (॥) स्वकर्म्माभिरतस्य क्रतुयाजिनोऽधीतस्वाध्यायस्य विप्रर्षेर्म्मैत्त्रायणीयवृषभस्येन्द्रविष्णो प्रपौत्त्रस्य।

४ पितुर्गुणानुकारिणो वरुणविष्णो पौत्त्रस्य पितरमनुजातस्य स्ववशवृद्धिहेतोर्हरिविष्णो पुत्त्रस्यात्यन्तभगवद्भक्तस्य विधातुरिच्छया।[6]

---

१ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

२ छन्द, आर्या।

३ यह वाक्य गद्य मे है, यद्यपि यह आर्या छन्द मे श्लोक के समान प्रारम्भ होता है।

४ छन्द, आर्या।

५ जोडें, तिथौ।

६ यह विराम चिन्ह अनावश्यक है।

५ स्वयंवरमेव राजलक्ष्म्याधिगतस्य चतु समुद्रपर्यन्तप्रथितयशस अक्षीणमानधनस्यानेकशत्रुसमर जिष्णो महार्[।०] ज मातृविष्णो

६ स्वर्गतस्य भ्राभ्रानुजेन। तदनुविधायिना तत्प्रसादपरिगृहीतेन[1] धन्यविष्णुना तेनैव [म]हाविभक्त-पुण्यविक्रयेण मातापित्रो

७ पुण्याप्यायनार्थमेप भगवतो वराहमूर्त्ते र्जगतपरायणस्य नारायणस्य शिला[2]प्राम् [द] स्त्रनिपय्-[`] ऽस्मिन्नैरिकिणे कारित । (॥)

८ स्वस्त्यस्तु गोब्राह्मणपुरोगाम्य सर्व्वप्रजाम्य [इ]ति ॥

अनुवाद

ओम् [1]वराह के स्वरूप वाले (भगवान) विष्णु[3] विजयी हैं— जिन्होंने (समुद्र मे डूबती हुई) पृथ्वी के उद्धरण कर्म मे (अपने) कठोर थुथुनों के प्रहार से पर्वतो को कपा दिया, (तथा) जो त्रैलोक्य रूपी विशाल भवन के (आधार) स्तम्भ हैं[4]।

प० १—प्रथम वर्ष मे जबकि महान् यशस्वी तथा सुप्रकाशमान् महाराजाधिराज श्री तोरमाण पृथ्वी पर शासन कर रहे हैं,—

प० २—फाल्गुन (मास) के दसवें दिन, ऊपर बताए गए शासकीय वर्ष, मास तथा दिन द्वारा (निर्दिष्ट) (तथा) ऊपर के समान अपनी विशिष्टताओं से युक्त इस (चान्द्र दिवस पर),—

प० ३—धन्यविष्णु द्वारा-जोकि स्वर्गवासी महाराज मातृविष्णु का अनुज है, उसका आज्ञापालक है तथा अनुग्रहपूर्वक उसके द्वारा स्वीकृत हुआ है, जो भगवान् का परम भक्त है, (भगवान्) विधातृ की इच्छा से मानो कोई कुमारी कन्या अपनी इच्छा से (उसे) (अपने पति के रूप मे) वरण कर रही हो, इस प्रकार राज-लक्ष्मी (विवाह की इच्छा से) आई, जिसका यश चारो समुद्रो तक फैला हुआ था, जो अक्षुण्ण सम्मान तथा धन का स्वामी था, (तथा) जो बहुसख्यक शत्रुओ के विरुद्ध युद्ध मे विजयी हुआ था,—जो अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक, यज्ञो का सम्पादन करने वाले, (शास्त्रो) का स्वाध्याय करने वाले, ब्रह्मर्षि, (तथा) मैत्रायणीय (शाखा) (के अनुयायियो) मे सर्वोत्तम इन्द्रविष्णु का प्रपौत्र है, (अपने) पिता के सुन्दर गुणो का अनुकरण करने वाले वरुणविष्णुका

---

१ इस शब्द के बाद एक [+] चिन्ह बना हुआ है जो यह निर्देश करता है कि तेनैव [म] हाविभक्तपुण्य-विक्रयेण यहा अर्थात् धन्यविष्णुना के पहले होना चाहिए था।

२ फ्लीट ने इसे नाराणस्यासीर्ण तथा हान ने नारायणस्याशीण पढ़ा। उनके भिन्न पाठ का कारण यह था कि कि उत्कीर्णक ने—सभवत हाथ बहक जाने के कारण—शिला के स की दाहिनी लकीर काफी ऊपर बना दी थी।

३ यहाँ वराह अवतार की कथा की ओर सकेत है जब कि वराहरूपी विष्णु ने समुद्र मे डुबकी लगाई एव हिरण्याक्ष नामक राक्षस द्वारा अपनीत तथा समुद्र मे छिपा दी गई पृथ्वी का उद्धार किया।

४ तुलनीय है, शैव अभिलेखो मे शिव की समान स्तुति 'त्रैलोक्य रूपी नगर की स्थिति के लिए आधार-स्तम्भ स्वरूप', उदाहरणाय, शक सवत् १०६१ मे तिथ्यंकित ऐहोले अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० ६७) की प० १ मे।

पौत्र है, (तथा) सुन्दर गुणो से (अपने) पिता के समरूप[1] (तथा) अपने कुल के संवर्धन के हेतु हरिविष्णु का पुत्र है,—

प० ६—उसके[2] (द्वारा पूर्वकाल मे अभिव्यक्त इच्छा के) साथ एक सम्मिलित धार्मिक कर्म करते हुए (इस धन्याविष्णु द्वारा) (अपने) माता पिता की पुण्य-वृद्धि के उद्देश्य से इस अपने ही विषय ऐरिकिए मे वराह रूपधारी (तथा) जगत (के हित) मे पूर्णत रत (भगवान्) नारायण का यह प्रस्तर निर्मित मन्दिर बनवाया गया।

प० ८—गाय तथा ब्राह्मण जिनमे अगणी हैं, ऐसी समस्त प्रजाओ का कल्याण हो।

---

१ पितरमनुजातस्य, द्र०, ऊपर पृ० ११०, टिप्पणी ४।

२ अर्थात् स्वर्गवासी मातृविष्णु।

स० ३७, प्रतिचित्र २३ ख

मिहिरकुल का ग्वालियर प्रस्तर-लेख

यह लेख जनरल कनिंघम द्वारा प्राप्त हुआ जान पड़ता है, तथा सर्वप्रथम जनसामान्य को इस लेख का ज्ञान १८६१ मे जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३०, पृ० २६७ इ० के माध्यम से हुआ जिसमे डा० राजेन्द्रलाल मिश्र ने जनरल कनिंघम द्वारा ली गई स्याही की छाप से लेख का अपना पाठ प्रकाशित किया, जिसका कि अगले वर्ष-जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३१, पृ० ३९१ इ० मे प्रकाशित डा० राजेन्द्रलाल मित्र के "वेस्टिजेज आफ द किंग्स आफ ग्वालियर" शीर्षक लेख के साथ मे-शिलामुद्रण भी प्रकाशित हुआ (वही, प्रति० १, स० १)।

लेख एक टूटी लाल बालुकाश्म निर्मित प्रस्तर-पट्टी पर अकित है, अपनी वर्तमान अवस्था मे यह पट्टी २' ८¾" चौडी तथा ५½" ऊची है, यह सेन्ट्रल इडिया मे सिन्धिया-शासित प्रदेश की राजधानी ग्वालियर[1] (प्रचलित उच्चारण ग्वाल्हेर) के किले मे स्थित एक सूर्य मन्दिर के एक मण्डप की दीवाल मे लगी हुई पाई गई। यह इस समय कलकत्ता के इम्पीरियल म्यूजियम मे रखी हुई है। इसकी प्राप्ति के समय ही इसकी प्रत्येक पक्ति के प्रारभिक दो अथवा तीन अक्षर टूट चुके थे, किन्तु उसके पश्चात् प० ७ का कुछ भाग तथा प० ८ एव ९ को सपूर्णत और गभीर क्षति पहुची है, मेरा अनुमान है कि लेख की प्राप्ति तथा सग्रहालय मे इसके स्थानान्तरण के बीच की अवधि में इसे काट छाट कर किसी अन्य भवन मे लगाने का प्रयत्न किया गया था जिसके फलस्वरूप उपरोक्त क्षति हुई है।

लेखन, जो कि ऊपर तथा दाहिनी ओर एक इच का हाशिया छोड कर प्रस्तर-खण्ड का सपूर्ण सम्मुख भाग घेरता है आद्यन्त अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ⅜" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं, तथा, यद्यपि वास्तविक उत्कीर्णन मे कुछ वैपम्य है, तथापि तोरमाण के पूर्ववर्ती लेख के अक्षरो के समान हैं। अनुवर्ती व्यजन के साथ सयोग होने पर र के लेखन की दो विधिया, एक ओर तो, प० ३ मे अकित शौर्याद् मे तथा, दूसरी ओर, प० ? मे अकित चक्रोर्ऽसिहर्त्ता मे तथा प० ४ मे अकित अभिवर्द्धमान मे दिखाई पडती है। भाषा सस्कृत है तथा सपूर्ण लेख पद्य मे है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे केवल प० २ मे अकित अशुभि पकजानान् मे एक बार उपध्मानीय का प्रयोग विशेषरूपेण ध्यातव्य है।

लेख स्वय को मिहिरकुल के शासनकाल मे रखता है। शब्दो मे इसकी तिथि-सवत विशेष का उल्लेख किए बिना-उसके शासन काल का पन्द्रहवा वर्ष, तथा कार्त्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर) का शुक्ल पक्ष बताई गई है किन्तु पक्ष अथवा मास के दिनविशेष का उल्लेख नही है। तथा इसका

---

१ मानचित्रों इ० का 'Gwalior'। इण्डियन एटलस, फलक स० ५१। अक्षाश २६°१३' उत्तर, देशान्तर ७८°१०' पूर्व। स्थान के प्राचीन नामों के लिए अगली टिप्पणी देखें।

प्रयोजन मातृचेट नामक एक व्यक्ति द्वारा गोप नामक पर्वत-अर्थात् वह पहाडी जिस पर ग्वालियर का किला बना हुआ है[1]—पर एक सूर्य-मन्दिर के निर्माण का लेखन है।

मूलपाठ[2]

१ [ओम्] [॥*] [ज] यति[3] जलदवालध्वान्तमुत्सारयन्स्वैः किरणनिवहजालैर्व्योम विद्योतयद्भिः उ[दयगि] [रि]तटाग्र[ं] मण्डयन्[4] यस्तुर [*]गैः चकितगमनखेदभ्रान्तचचत्सटान्तैः। (॥) उदय[गि*] गि[रि*] रु—

२ [⏑ - -] ग्रस्तचकोर्त्तिहर्त्ता भुवनभवनदीपः शर्व्वरीनाशहेतु तपितकनकवर्णैरंशुभिः पंकजानां [ं] मभिनवरमणीयं यो विधत्ते स वोऽव्यात्। (॥) श्रीऽ[5]तोरम् [ाण इ]ति य प्रथितो

३ [भूच] क्र (?)प प्रभूतगुण सत्यप्रदा (धा)नशौर्य्याद्येन मही न्यायत [*] शास्ता [॥*] तस्योदितकुलकीर्त्तेः पुत्रोऽतुलविक्रम पति पृथ्व्या मिहिरकुलेतिख्यातोऽभङ्गो य पशुपतिम् [⏑ - -[6]] [॥*]

४ [तस्मिन्रा] जनि शासति पृथ्वी पृथुविमललोचनेर्त्तिहरे अभिवर्द्धमानराज्ये पञ्चदशाब्दे नृपवृषस्य। (॥) शशिरश्मिहासविकसितकुमुदोत्पलगन्धशीतलामोदे कार्त्तिकमासे प्राप्त् [े*] गगन—

५ [पतौ (?) नि]र्म्मले भाति। (॥) द्विजगणमुख्यैरभिसंस्तुते च पुण्याहनादघोषेण तिथिनक्षत्रमुहूर्त्ते सम्प्राप्ते सुप्रशस्तदिने। (॥) मातृतुल्यस्य तु पौत्र पुत्रश्च तथैव मातृदासस्य नाम्ना च मातृचेट पर्व्व—

---

१ डा० राजेन्द्रलाल मित्र ने यहा (प० ६) अकित नाम को गिरिप पढ़ा, किन्तु यह पाठ सर्वथा अशुद्ध है। इस पहाडी तथा इस पर बने दुर्ग के लिए प्राप्त सस्कृत नामो के स्वरूप इस प्रकार हैं १ गोपगिरि-उदाहरणार्थ विक्रम सवत् ९३३ मे तिथ्यकित भोजदेव के ग्वालियर अभिलेख (जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३१, पृ० ४०७) की प० १ मे, २ गोपाचल दुर्ग-उदाहरणार्थ, ग्वालियर से प्राप्त आदिनाथ की एक वृहदाकार प्रतिमा की पीठिका पर (वही, पृ० ४२२) अकित विक्रम सवत् १४९७ की तिथियुक्त लेख, ३ गोपाद्रि तथा गोपाद्रिदुर्ग-उदाहरणार्थ, विक्रम सवत् ११५० मे तिथ्यकित महीपाल के ग्वालियर अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ३६–७) की पं० ४ तथा १४ मे, तथा ४ गोपालिकेर-उदाहरणार्थ, विक्रम सवत् ११६१ मे तिथ्यकित ग्वालियर अभिलेख (वही पृ० २०२) की प० २ मे डा० हूल्श (वही, पृ० २०२, टिप्पणी ५) का मत है कि आधुनिक नाम ग्वाल्हेर का ताजा स्रोत अन्तिम नाम, गोपालिकेर, जान पडता है।

२ प० १ से लेकर प० ६ तक तथा प० ७ का अतिम भाग मूल प्रस्तर-खण्ड से, चूकि अब लेख का निचला हिस्सा टूटा हुआ तथा अप्राप्य है, अत शेष लेख जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३१, पृ० ३९१ इ० मे डा० राजेन्द्रलाल मित्र के लेख के साथ प्रकाशित शिलामुद्रण से लिया गया है।

३ छन्द, मालिनी, तथा अगले श्लोक मे।

४ यह न अपने उपयुक्त स्थान पर छूट गया था और पुन. बाद मे पक्ति के नीचे अकित किया गया।

५ छन्द, आर्या, तथा अगले नौ श्लोको मे।

६ यहा [अ] भङ्गो = 'टूटे हुए बिना, अटूट' की विपरीतता बताती हुई कोई क्रिया आनी चाहिए, किन्तु पत्थर मे पड गई दरार के कारण अक्षर बहुत अधिक क्षतिग्रस्त हैं और मैं उन अक्षरो को पुनरस्थापित करने में समर्थ नहीं हू।

क–तोरमाण का ...

माप ३०

ख– मिहिरकुल का ग्वालियर लेख

माप ३०

६ [त] त्रस्तश्च [॥*] नानाधातुविचित्रे गोपाह्वयनाम्नि भूधरे रम्ये कारितवान्शैलमय भानो प्रासादवरमुख्यम्। (॥) पुण्याभिवृद्धिहेतोर्म्मातापित्रोस्तथात्मनश्चैव वसता [*] च गिरिवरेऽस्मि [न्*] राज्ञ

७ पा (?) देन [॥*] ये कारयन्ति भानोश्चन्द्रांशुसमप्रभ गृहप्रवर तेषा वास स्वर्गे यावत्कल्पक्षयो भवति ॥ भक्त्या रवेर्व्विरचित सद्धर्म्मख्यापन सुकीर्त्तिमय नाम्ना च केशवेति-प्रथितेन च ।[1]

८ दि (?)त्येन ॥ यावच्छ[2]र्व्वजटाकलापगहने विद्योतते चन्द्रमा दिव्यस्त्रीचरणैर्व्विभूषिततटो यावच्च मेरुर्नग यावच्चोरसि नीलनीरदनिभे विष्णुर्व्वि(भि)भर्त्युज् [ज्*] ज्वला श्रीस्तावद्[3]गिरिमूर्द्धनि तिष्ठति

९ [घिला (?)प्रा] सादमुख्यो रवे ॥

अनुवाद

(ओम् !) आकाश को प्रकाशित करने वाले अपने रश्मि-पुज के जालो से मेघ-समुच्चय के अन्धकार को दूर करने वाले (तथा) (अपनी) चकित गति मे (उत्पन्न) थकान से बिखरे हुए चचल अयालो वाले अश्वो से उदयाचल के शिखर को अलकृत करने वाले वह (सूर्य) आपकी रक्षा कर जो विजयशील हैं, (तथा) वह जो-जिसके रथ के चक्र (?) उदयाचल ग्रस्त (?) हैं, जो विपत्ति निवारक हैं,, जो विश्व रूपी भवन के प्रकाशस्वरूप (हैं) , (तथा) रात्रि के निवारक हैं– पिघले हुए सुवर्ण की वर्ण वाली (अपनी) किरणो से कमल पुष्पो के नूतन सौंदर्य का सृजन करते हैं।

प० २—प्रभूत गुणो वाले, श्री तोरमाण इस नाम से सुविख्यात (पृथ्वी) के शासक (थे), जिनमे—सत्य द्वारा प्रमुखतया विशेपित (उनके) शौर्य द्वारा—पृथ्वी न्यायपूर्वक शासित होती थी।

प० ३—जिनके वश का यश ऊपर उठा हुआ है ऐसे उनके-अद्वितीय शक्तिवाले तथा पृथ्वी के स्वामी-पुत्र वे (हैं) जो मिहिरकुल नाम से प्रख्यात हैं, (तथा) (स्वय) अखण्डित जिन्होंने पशुपति (की शक्ति को खण्डित किया[4])।

प० ४—जबकि (वे) विपत्ति-निवारक, विशाल तथा निर्मल नेत्रो वाले राजा पृथ्वी पर शासन कर रहे हैं, उन राजश्रेष्ठ के प्रवर्द्धमान शासनकाल मे (तथा) (उनके) पन्द्रहवें वर्ष में, चन्द्र-रश्मियो की मुस्कान से प्रस्फुटित हुई लाल तथा नीली कमलिनियो की सुगन्धि मे शीतल तथा सुगन्धित हुए कात्तिक मास के आने पर, जबकि निर्मल चन्द्र प्रकाशित हो रहा है[5], तथा-द्विज-वर्ग के प्रमुखो[6] द्वारा पवित्र दिन होने की घोषणा की ध्वनि से अभिभासित (तथा) (उपयुक्त) तिथि एव नक्षत्र एव मूहूर्त्त से युक्त अत्यन्त शुभ दिन का आगमन होने पर,—

---

१ यह विराम चिह्न अनावश्यकरूपेण पक्ति के अन्त में छूट गई जगह को भरने के उद्देश्य मे जोड़ा गया जान पड़ता है।

२ छन्द, शार्दूल विक्रीडित।

३ पढें, श्री तावद्।

४ द्र०, ऊपर पृ० १६८, टिप्पणी ६।

५ अर्थात्, मास के शुक्ल पक्ष में।

६ अर्थात् ब्राह्मणो द्वारा।

पं० ५—पर्वत पर के निवासी मातृतुल के पौत्र तथा मातृदास के पुत्र मातृचेट ने, नाना प्रकार की धातुओ से युक्त एव गोप[1] अभिधान वाले रमणीक पर्वत पर, (अपने) माता-पिता तथा अपने तथा राजा के द्वारा पर्वतो मे श्रेष्ठ इस पर्वत पर रहने वालो की पुण्य-वृद्धि के उद्देश्य मे, सर्वोत्तम मन्दिरो मे प्रमुख सूर्य के प्रस्तर-निर्मित मदिर का निर्माण करवाया।

प० ६—जो लोग सूर्य का चन्द्र-रश्मियो की शोभा के समान सूर्य-मन्दिर का निर्माण करवाते हैं, सभी वस्तुओ के विनाश-काल तक उनका निवास-स्थान स्वर्ग मे होता है।

प० ७—सद्धर्म की (इस) प्रसिद्ध घोषणा[2] की रचना, सूर्य के प्रति भक्तिपूर्वक, केशव इस नाम से तथा दित्य से प्रख्यात व्यक्ति द्वारा रची गई।

प० ८—जबतक (भगवान्) शर्व की जटा-जूट रूपी गुल्म मे चन्द्रमा प्रकाशित होता है, तथा जब तक मेरु पर्वत का प्रागण अप्सराओ के चरणो से शोभित रहता है, तथा जब तक (भगवान्) विष्णु (अपने) नीलवर्ण मेघ सदृश वक्ष स्थल पर आभामयी (देवी) श्री को धारण करते हैं, तब तक पर्वत के रमणीक शिखर पर (यह) (प्रस्तर-निर्मित) मन्दिरो मे सर्वोत्तम मदिर स्थित रहेगा।

---

२ द्र०, ऊपर पृ० १६८, टिप्पणी १।

३ अर्थात् इस लेख की।

स० ३८, प्रतिचित्र २४

महाराज धरसेन द्वितीय का मालिया ताम्रपत्रांकित लेख

वर्ष २५२

यह अभिलेख[1], जिसकी ओर जनसामान्य का ध्यान मूलत मैंने १८८४ मे इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १३, पृ० १६० इ० के माध्यम से कराया था, उन कुछ ताम्रपत्रो से उपलब्ध हुआ है जो कि बोम्बे प्रेसीडेन्सी के काठियावाड प्रदेश मे जूनागढ राज्य के मालिया महाल तहसील के मुख्य नगर मालिया[2] से प्राप्त हुए थे। जहा तक मैं जानता हूँ मूल पत्र जूनागढ दरबार के अधिकार मे है। परीक्षणार्थ ये पत्र मुझे दीवान श्री हरिदास बिहारीदास के अनुग्रह से प्राप्त हुए।

एक ही ओर अकित ये पत्र सख्या मे दो हैं और प्रत्येक पत्र लगभग ११$\frac{3}{8}$" लम्बा तथा ७$\frac{3}{8}$" चौडा है। लेखन के रक्षार्थ इनके किनारे पट्टियो के रूप मे उभरे हुए बनाए गए हैं, तथा सपूर्ण लेख लगभग पूर्ण सुरक्षित अवस्था मे है। पत्र पर्याप्त मोटे हैं। किन्तु अक्षरे गहरे हैं और पीछे की ओर साफ साफ दिखाई पडते हैं। उत्कीर्णन सुन्दर हुआ है किन्तु, जैसा कि सामान्यतया पाया जाता है, अक्षरो के आन्तरिक भाग पर उत्कीर्णक के उपकरणो के चिन्ह मिलते हैं। पत्र परस्पर दो छल्लो से सम्बद्ध हैं जिनके लिए प्रथम पत्र के निचले भाग पर तथा दूसरे पत्र के ऊपरी भाग पर छिद्र बने हुए हैं। जब दानलेख मेरे पास लाया गया उस समय दोनो छल्ले पहले ही काटे जा चुके थे। इनमे से एक सादा ताम्रनिर्मित छल्ला है जो स्थूलरूपेण गोलाकार है और जिसकी मोटाई लगभग $\frac{3}{16}$" तथा परिधि १$\frac{3}{4}$" है। दूसरा छल्ला भी समान मोटाई का है किन्तु इसका अनियमित अण्डाकार स्वरूप है—जैसा कि वलभी मुहरो के साथ के छल्लो के साथ सामान्यतया पाया जाता है। इसके किनारे मुहर के साथ बधे हुए हैं, मुहर का सम्मुख भाग लगभग १$\frac{3}{4}$"×२$\frac{1}{4}$" की नाप का अण्डा-

---

१ इस वश के पहले ही प्राप्त हो चुके लेखो की सख्या इतनी अधिक है कि वे सभी इस जिल्द मे नही सम्मिलित किए जा सकते, और आशा है कि भविष्य में कभी उनका एक पृथक् सग्रह में प्रकाशन होगा। प्रस्तुत जिल्द में जिस काल का इतिहास दिया गया है उससे इस वश का इतना घनिष्ठ सबध है कि वलभी दान लेखो का एक दो उदाहरण दिए बिना मेरी पुस्तक अपूर्ण रहेगी। अतएव मैं इस वश के दो लेख दे रहा हू। प्रस्तुत लेख वह मानक स्वरूप व्याख्यायित करने के उद्देश्य से दिया जा रहा है जिसके अनुरूप अधिकांश प्राचीनतर लेख रचे गए, दूसरा लेख दिए जाने का अशत उद्देश्य परवर्ती राजपत्रों के स्वरूप को व्याख्यायित करना है और अशत यह इस कारण दिया जा रहा है क्योंकि यह इस वश का अब तक ज्ञात लेखो मे अंतिम लेख है और ध्रूभट अथवा ध्रुवभट के सुविज्ञात तथा महत्वपूर्ण नाम को शिलादित्य सप्तम् की उपाधि के रूप में देता है।

२ मानचित्रों इ० का 'Malia' तथा 'Mallia', जूनागढ के दक्षिण-पश्चिम मे लगभग तेइस मील पर स्थित। काठियावाड के उत्तर में स्थित 'मालिया मिसान' कहे जाने वाले एक अन्य मालिया से पृथक् करने के लिए इसे मालिया-हाति भी कहा जाता है।

कार है तथा इसके ऊपरी भाग पर, कुछ दवे हुए स्तर पर, ठीक दाहिनी ओर अर्द्धशयान मुद्रा मे एक वृषभ वना हुआ है जो कि वलभी मुहरो का सामान्य चिन्हाकन है, इसके नीचे दो आडी रेखाओ के बाद, श्री भटार्क्क के लिए, श्री भटक्क लेख [="श्री भटार्क"] लिखा हुआ है। दोनो पत्रो का भार ३ पौंड १ औंस तथा दोनो छल्लो और मुहर का भार १२½ औंस है और इस प्रकार सवका सम्मिलित भार ३ पौंड १३½ औंस है। अक्षरों का आकार ⅕" से लेकर ³⁄₁₆" तक मिलता है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं किन्तु इनमे—उदाहरणार्थ, प० ३ मे अकित चूडा मे, प० १० मे अकित खड्ग मे, तथा प० २४ मे अकित डोम्भि मे—दन्त्य द से भिन्न मूर्धस्थानीय ड का एक अन्य स्वरूप सम्मिलित है जो कि उत्तरी प्रकार की वर्णमाला से लिया गया है। जिसे हम छठी शताब्दी ई० मे सौराष्ट्र अथवा काठियावाड की वर्णमाला कह सकते है, ये अक्षर उसका अत्यन्त सुन्दर नमूना प्रस्तुत करते हैं। इनमें, प० ३६ मे २, ५, १०, ५० तथा २०० के अक भी सम्मिलित हैं। भाषा सस्कृत है तथा प० ३३ से लेकर प० ३५ तक मे अकित आशीर्वादात्मक तथा अभिशसनात्मक श्लोको को छोड कर सपूर्ण लेख गद्य में है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे केवल ये विशिष्टताए ध्यातव्य है–१ प० २३ मे अकित पदावर्त्ता पञ्चदश मे एक बार उपध्मानीय का प्रयोग, तथा २ प० २५ मे प्रकित अष्टाविडशति मे एक बार श के पूर्व अनुस्वार के स्थान कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग।

अभिलेख वलभी के राजाओ के वश के महाराज धरसेन द्वितीय का है, तथा इसमे लिखित राजपत्र वलभी नामक नगर से जारी हुआ है, जो कि काठियावाड के गोहिलवाड प्रान्त अथवा क्षेत्र में स्थित वला राज्य का प्रमुख नगर वला[1] है। इसकी तिथि, अको मे, वर्ष दो सौ बावन (ईसवी सन् ५७१–७२) तथा वैशाख मास (अप्रेल–मई) के कृष्ण पक्ष का पन्द्रहवा चान्द्र दिवस दी गई है। यह लेख किसी सम्प्रदाय विशेष सवद्ध नही है, इसका प्रयोजन केवल महाराज धरसेन द्वितीय द्वारा, पाच महान याज्ञिक अनुष्ठानो के लिए, किसी ब्राह्मण के प्रति अन्तरत्रा, डोम्भिग्राम तथा वञ्जगाम नामक गावो मे कुछ भूमि के दान का लेखन है।

मूलपाठ[2]

१ ओम् स्वस्ति वलभीत प्रसभप्रणतामित्राणा मैत्रकाणामतुलवलस [*] पन्नमण्डलाभोगससक्त सप्रहारशतलब्धप्रताप

२ प्रतापोपनतदानमानार्ज्जवोपार्ज्जितानुरागानुरक्तमौलभृतमित्रश्रेणीवलावाप्तराज्यश्री परममाहेश्वर श्री सेनापति—

३ भटार्क्क [।।*] तस्य सुतस्तत्पादरजोरुणावनतपवित्रीकृतशिर शिरोवनतशत्रुचूडामणिप्रभाविच्छुरितपादनखपङ्क्तिदीधितिर्द्दी—

४ नानाथकृपणजनोपजीव्यमानविभव. परममाहेश्वरः श्री सेनापति धरसेनस्तस्यानुजस्तत्पादप्रणामप्रशस्ततरविमल—

५ मणि[3]र्म्मन्वादिप्रणीतविधिविधानधर्म्मा धर्म्मराज इव विहितविनयव्यवस्थापद्धतिरखिलभुवन मण्डलाभोगैकस्वामिना परमस्वामिना

---

१ मानचित्रो इ० का 'Vala', 'Wala', 'Waleni' तथा 'Wulleh'; भावनगर से पश्चिम-उत्तर मे अठारह मील की दूरी पर स्थित। अक्षाश २१°५२' उत्तर, देशान्तर ७१°५७' पूर्व।

२ मूल पत्रो से।

३ समान मानक प्रारूप पर आधारित, इसी महाराज के भार दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० १८७ इ०) मे अधिक पूर्ण तथा सुन्दर पाठ प्रशस्ततरविमलमौलिमणिर् दिया गया है।

६ स्वयमुपहितराज्याभिषेक महाविश्राणनावपूतराज्यश्री परममाहेश्वरो महाराजद्रोणसिंह सिंह इव [॥०] तस्यानुज स्वभुज—

७ वलपराक्रमेण परगजघटानीकानामेकविजयी शरणैषिणा शरणमववोध्धा[1]शास्त्रार्थतत्वाना कल्पतरुरिव सुहृत्प्र—

८ णयिना यथाभिलषितकामफलोपभोगद परमभागवत. श्रीमहाराजध्रुवसेनस्तस्यानुजस्तच्चरणारविन्द प्रणतिप्र—

९ विधौताशेषकल्मष सुविशुद्धस्य(स्व)चरितोदकप्रक्षालितसकलकलिकलङ्कः प्रसभनिर्ज्जितारातिपक्षप्रथितमहिमा

१० परमादित्यभक्त श्रीमहाराजधरपट्टस्तस्यात्मजस्तत्पादसपर्य्यावाप्तपुण्योदय [*] शैशवात्प्रभृति खड्ग द्वितीय बाहुरे—

११ व समदपरगजघटास्फोटनप्रकाशितसत् [त्व०]वनिकष त[2]त्प्रभावप्रणतारातिचूडारत्नप्रभासंसक्तसव्य(व्य)पा—

१२ दनखरश्मिसहृति [*] सकलस्मृतिप्रणीतमार्ग्गसम्यक्परिपालनप्रजाहृदयरञ्जनादन्वर्थराजशब्दो रूपकान्तिस्थैर्य्य—

१३ गाम्भीर्य्यबुद्धिसपद्भि स्मरशशाङ्काद्रि(द्रि)राजोदधित्रिदशगुरुधने [शा०]नतिशयाना (नो)ऽभयप्रदान[3]परतया तृणव—

१४ वदपास्त् [ा०] शेषस्वकार्य्यफल पादचारीव सकलभुवनमण्डलाभोगप्रमोद परममाहेश्वर श्रीमहारा—

१५ जगुहसेन [॥०] तस्य सुतस्तत्पादनखमयूखसतानविसृतजाह्नवीजालो(ौ)घविक्षालिताशेषकल्मष प्रणयिशत—

१६ सहस्रोपजीव्यभोगसपत् रूपलोभादिवाश्र(श्रि)तस्सरसमाभिगामिकैर्गुणै [*] सहजशक्तिशिक्षाविशेषविस्मा—

१७ पिताखिलधनुर्धर प्रथमनरपतिसमतिसृष्टानामनुपालयिता धर्म्म्य(र्म्म)दायानमपाकर्त्ता

१८ प्रजोपघातकारिणामुपप्लवाना दर्शयिता श्रीसरस्वत्योरेकाधिवासस्य सहतारातिं—

द्वितीय पत्र

१९ पक्षलक्ष्मीपरिक्षोभ[4]दत्तविक्रम क्रमोपसप्राप्तविमलपार्थिवश्री परममाहेश्वर महाराज—

२० श्रि(श्री)धरसेन कुशली सर्व्वनिवायुक्तकविनियुक्तकद्राङ्गिकमहत्तरचाटभटध्रुवाधिकरणिक दाण्डपाशिक—

२१ राजस्थानीयकुमारामात्यादीनन्याश्च यथासवध्यमानकान् समाज्ञापयत्यस्तु व सविदित यथा मया माता—

---

१ पढ़ें, अववोद्धा ।

२ त पहले छूट गया था और बाद मे अपने उपयुक्त स्थान की अपेक्षा कुछ ऊपर जोड़ा गया ।

३ ऊपर उल्लिखित भ्कार दानलेख मे इस स्थान पर और अधिक सुन्दर पाठ अतिशयान शरणागतभयप्रदान दिया गया है, इसी प्रकार नीचे स० ३९, प्रति० २५, प० ५ मे भी ।

४ भ्कार दानलेख में इस स्थान पर अधिक सुन्दर पाठ परिभोग दिया गया है, इसी प्रकार नीचे स० ३९, प० १० मे भी ।

२२ पित्रो[१]पुण्यायप्यानायात्मनश्चैहिकामुष्मिकयथाभिलषितफलावाप्तये अन्तरवाया शिवकपद्रके वीरसेन—

२३ दन्तिकप्रत्ययपादावर्त्तशत एतस्मादपरत पादावर्त्ता पञ्चदश तथा अपरसीम्नि स्कम्भसेनप्रत्यय-पादावर्त्त शत विशाधिक[२]

२४ पूर्व्वसीम्नि पादावर्त्ता दश डोम्भिग्रामे पूर्व्वसीम्नि वर्द्धकि प्रत्ययपादावर्त्ता नवति [।*] वञ्ज-ग्रामेऽपरसीम्नि ग्रामशिखरपादावर्त्तशत—

२५ वो(?)कि (?)[३] दिन्नमहत्तरप्रत्यया अष्टाविङ्शतिपादावर्त्त परिसरा वापि । भुम्भुसपद्रके कुटुम्बि-(म्बि)बोटकप्रत्यया(य)पादावर्त्त शत

२६ वापि च । एतत्सोद्रङ्ग सोपरिकर सवातभूतधान्यहिरण्यादेय सोत्पद्यमानविष्टी(ष्टि)क समस्त राजकीयानाम—

२७ हस्तप्रक्षेपणीय भूमिच्छिद्रन्यायेन उन्नतनिवा।सो(सि)वाजसनेयी(यि)कण्ववत्सनगोत्रब्राह्मण-रुद्रभूतये बलिचरुवैश्व—

२८ देवाग्निहोत्रातिथिपचमहायाज्ञिकाना क्रियाणां समुत्सर्प्पणार्त्थमाचन्द्रार्कार्ण्णवसरित्क्षितिस्थिति समकालीन पुत्रपौ—

२९ त्रान्वयभोग्य उदकसर्गेण निसृष्ट [।*] यतोऽस्योचितया ब्रह्मदेयस्थित्या भुंजत कृषत· कर्षयतः प्रदिशतो वा

३० न कैश्चित्प्रतिषेधे वर्त्तितव्यम् [।*] [आ*]गामिभद्रनृपतिभिश्चास्मद्व शजैरनित्यान्यैश्वर्य्या-ण्यस्थिरम् मानुष्य सामान्य च भूमि—

३१ दानफलमवगच्छद्भिरयमस्मद्दायोऽनुमन्तव्य· परिपालयितव्यश्च [।*] यश्चैनमाच्छिद्यादाच्छि-द्यमान वानु—

३२ मोदेत न पचभिर्म्महापातकै [*] ।।[४] सोपपातकै [*] ।।[५]स [*] युक्तस्स्यादित्युक्त च भगवान वेदव्यासेन व्यासेन ।। (।)

३३ षष्टि[६]वर्षसहस्राणि स्वर्गे तिष्ठति भूमिद· आच्छेत्ता चानुमन्ता च ।[७] तान्येव नरके वसेत् ।। पूर्व्वदत्ता

३४ द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर ।। (।) महो [*] महिमता श्रेष्ठ ।।[८]दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम् ।। बहुभिर्व्वसुधा भुक्ता

---

१ ऊपर अंकित स्या के आकार के कारण विसर्ग का अंकन अपेक्षाकृत नीचे करना पडा है ।

२ ये दश अक्षर यहा पहले कुछ उत्कीर्ण किए गए अक्षरो के ऊपर उत्कीर्ण किए गए हैं ।

३ इन दो अक्षरो की मात्राए पूर्णतया स्पष्ट हैं किन्तु व्यजन काफी सदिग्ध हैं । यहा ताम्र मे कुछ दोष जान पडता है जिसके कारण उत्कीर्णक इन अक्षरो का अकन ठीक से न कर सका और जिस कारण उसे दूसरी पक्ति के प्रारम्भ मे वापि के पूर्व कुछ स्थान छोडना पडा ।

४–५ इन दोनो ही स्थानो पर उत्कीर्णक द्वारा गलती से विसर्ग के स्थान पर ये चिन्ह अकित हो गए जान पडते हैं ।

६ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ); तथा अगले दो श्लोको में ।

७–८ दोनो ही स्थानो पर अकित चिन्ह अनावश्यक हैं ।

महाराज धरसेन द्वितीय का मालिया दानलेख—वर्ष २५२

२
४
६
८
१०
१२
१४
१६
१८

मान ८०

३५ राजभिस्सगरादिभि ॥ (।) यस्य यस्य यदा भूमि तस्य तस्य तदा फलमिति॥[1] । (॥) लिखित[2]
म्[॥*] न्धिविग्रहिकस्कन्दभटेन ॥

३६ स्वहस्तो मम महाराज श्रीधरसेनस्य ॥ दू[3] चिर्ब्बिर [*] ॥ स २०० ५० २ वैशाख व १० ५
[॥*]

अनुवाद

ओम् ! कल्याण हो ! वलभी (नगर से[4]) (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त श्री सेनापति[5] भटार्क थे—जो कि वलपूर्वक (अपने) शत्रुओं को झुकाने वाले मैत्रकों की अनुपम शक्ति वाली विशाल सेनाओं के साथ लड़े गए सैकड़ों युद्धों में अधिगत किए गए यश के स्वामी थे[6], (तथा) जिन्होंने (अपने) प्रताप से पराभूत तथा दान, सम्मान एवं सरल व्यवहार से उपार्जित किए गए एवं अनुरागवश (अपने प्रति) अनुरक्त (अपने) पैत्रिक भृत्यों तथा मित्रों की श्रेणी के बल में राज-लक्ष्मी को प्राप्त किया था।

---

१ पढ़ें, इति ।

२ पढ़ें, शासनम् ।

३ अर्थात् दूतक ।

४ ठीक ठीक सदर्भ प० १६ इ० में है "महाराज श्री धरसेन, जो सकुशल हैं, यह आदेश देते हैं" इ० । बीच में दी गई वंशावली प्रक्षिप्त वाक्य के रूप में है ।

५ सेनापति, शाब्दिक अर्थ, 'सेना का प्रमुख अथवा स्वामी, सेना नायक।" यह एक पारिभाषिक सैनिक उपाधि है। इससे ऊपर का पद महासेनापति का था—जो उपाधि, उदाहरण के लिए, यौधेयों के विजयगढ़ अभिलेख (नीचे स० ५८, प्रति० ३६ ख) की प० १ में उल्लिखित मिलती है।

६ इस महत्वपूर्ण अवतरण की सर्व प्रथम निर्णायक व्याख्या प्रो० कीलहान द्वारा वर्ष २८६ में तिथ्यंकित शिलादित्य प्रथम के वला दानलेख के पुनसम्पादन (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ३२८ इ०) के समय की गई। किन्तु, डा० भाऊदाजी के निम्न लेखन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें सही अर्थ का भान पहले से था (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ८, पृ० २४४ इ०) "ताम्रपत्र में अंकित एक वाक्य से, जिसका अब तक शुद्ध अनुवाद नहीं हुआ है, यह प्रदर्शित होता है कि उन्होंने (वलभी के शासकों ने) किन्हीं सूर्य-पूजक लोगों (मैत्रकों) के ऊपर विजय प्राप्त किया।" डा० आर० जी० भंडारकर का अनुवाद (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १, पृ० १४) "(भटार्क), जिसने अप्रतिम शक्ति वाले मित्रों की मण्डली के बीच सैकड़ों घावों द्वारा महानता को प्राप्त किया था, जिसने मुख्य बल द्वारा उनके शत्रुओं को पराभूत किया था।" डा० ब्यूलर का अनुवाद (वही, जि० ४, पृ० १०६) था "भटार्क जिसने मुख्य बल द्वारा अपने शत्रुओं को पराभूत करने वाले मित्रों की अतुलनीय शक्ति की सहायता से साम्राज्य प्राप्त किया, जिसने अत्यन्त निकट में लड़े गए सैकड़ों युद्धों में यश प्राप्त किया।" डा० भाऊदाजी का अनुसरण करते हुए श्री वी० एन० मण्डलिक ने यह अनुवाद किया (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी जि० ११, पृ० ३४६) "(भटार्क) जिसने अतुल साहस सपन्न तथा बलात् अपने शत्रुओं का पराभूत करने वाले मैत्रकों के विस्तीर्ण क्षेत्र में हुए सैकड़ों युद्धों में सफलता प्राप्त किया था।" मेरा अपना मौलिक अनुवाद (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ८, पृ० ३०३) था "अपने शत्रुओं को वलपूर्वक अपने समक्ष झुकाने वाले मैत्रकों के (वश में) भटार्क था, जो कि अपनी अतुल शक्ति से अधिगत क्षेत्र की सीमा के भीतर लड़े गए सैकड़ों युद्धों में प्राप्त किए गए यश का स्वामी था।"

प० ३—उनके पुत्र, उनके चरणो के लाल पराग मे अनवत होने से पवित्र हुए शिर वाले, (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त,–जिनके चरण-नखो की किरण-पक्तिया (उनके समक्ष) (अपने) शत्रुओ के झुके हुए शिरो की चूडा मे सलग्न रत्नो की प्रभा मे विसरित होती थी, (तथा) दीन, असहाय और निर्बलो का पोषण ही जिनका धन था ऐसे श्री सेनापति धरसेन (प्रथम) (थे)।

प० ४—उनके अनुज (अपने) शिर की चूडा मे सलग्न (उनके) चरणो मे प्रणमन के कारण (पहले की अपेक्षा) अधिक प्रकाशमान हो गई मणिमाला वाले–जिन्होंने मनु तथा अन्य (ऋषियो) द्वारा प्रवर्तित विधि-विधानो को ही [अपना] नियम बनाया था, जो धर्मराज (युधिष्ठिर) के समान सदाचरण-व्यवस्था के मार्ग का अनुसरण करते थे, जिनका राज्याभिषेक स्वय समस्त भू-मण्डल के एकमात्र अधिपति महाराज द्वारा सपन्न हुआ था, (तथा) जिनके राजत्व का यश (उनकी) परम दीनशीलता से पवित्र हुआ था, ऐसे, (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त, सिंह सदृश, महाराज द्रोणसिंह थे।

प० ६—उनके अनुज (अपने शत्रुओ के) हस्ति-व्यूह पर अपने भुजबल से अकेले विजय प्राप्त करने वाले, शरणागतो के शरण-स्वरूप, शास्त्रो के सही अर्थ के व्याख्याता, (तथा) अपने मित्रो एव प्रिय लोगो की यथाभिलषित इच्छाओ रूपी फलो को कल्पतरु[1] के समान प्रदान करने वाले परम भागवत श्री महाराज ध्रुवसेन (प्रथम) थे।

प० ८—उनके अनुज-जिसके सभी पाप उनके चरण रूपी कमलो मे प्रणमन से धुल गए थे, जिनके अत्यन्त पवित्र कर्मो के जल से कलियुग के समस्त कल्मष धुल गए थे, (तथा) जिन्होंने (अपने) शत्रु-पक्ष की सुविख्यात प्रसिद्धि को बलात् जीत लिया था, ऐसे सूर्य के परमभक्त श्री महाराज धरपट्ट थे।

प० १०—उनके पुत्र उनके चरणो की सेवा से बढे हुए पुण्य वाले, (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त श्री महाराज गुहसेन थे–जिनकी तलवार बाल्यकाल से ही वस्तुत (उनके लिए) दूसरी भुजा थी[2]; जिनकी शक्ति की परीक्षा (अपने) शत्रुओ के मदमत्त हाथियो के गण्डस्थल पर (अपने) हाथ के आस्फोटन द्वारा प्रदर्शित हुई थी, जिन्होने अपने बाए पैर के नखो के किरण-पुजो को स्व-शक्ति से अवनत किए गए (अपने) शत्रुओ की चूड़ाओ मे सलग्न रत्नो के साथ चित्र-विचित्रित किया था, जिनकी 'राजा' की उपाधि परम्परागत नियमो द्वारा विहित मार्ग की सुरक्षा द्वारा (अपनी) प्रजाओ के हृदयनुरजन के कारण प्रत्यक्ष तथा उपयुक्त थी, जो सौन्दर्य, शोभा, स्थिरता, गम्भीरता, बुद्धि एव धन मे (क्रमश.) (भगवान्) स्मर, चन्द्र, पर्वतराज (हिमालय), समुद्र, सुर-गुरु (बृहस्पति) तथा (भगवान्) धनेश से बढ़ कर थे, (सुरक्षार्थ आए हुओ को) भय से मुक्ति दिलाने मे दत्तचित जो अपने कर्मो के (अन्य) सभी परिणामो के प्रति इस प्रकार उदासीन थे मानो वे तृण (के समान मूल्यहीन) हो, (तथा) जो मानो समस्त पृथ्वी-मण्डल की प्रसन्नता के मूर्त रूप हो[3]।

---

१ कल्पवृक्ष, इन्द्र के स्वर्ग मे एक समस्त इच्छाओ का पूरक वृक्ष।

२ अथवा सभवत—"जो बाल्यकाल से ही अपनी दूसरी भुजा मे तलवार धारण करते थे" अर्थात् "जो एक ही समय दोनो हाथो मे तलवार धारण कर सकते थे।"

३ पादचारिन्, शाब्दिक अर्थ-"चरणो पर चलने वाला", द्र० वर्ष ३२६ मे तिथ्यकित धरसेन चतुर्थ के दानलेख की प० ७ का डा० आर० जी० भडारकर कृत अनुवाद (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १, पृ० १४)।

प० १५—उनके पुत्र-जिनके पाप उनके चरणो की नख-रश्मियो के विकिरण से निर्मित जाह्नवी (नदी) के जल से सपूर्णत धुल चुके हैं, जिनकी धन-सपत्ति से सैकडो हजारो प्रिय लोगो का पोषण होता है, जो-मानो उनके सौन्दर्य की अभिलाषा से-आमन्त्रक स्वरूप वाले[1] (सभी) सुन्दर गुणो द्वारा सराहनापूर्वक आश्रित हुए हैं, जो (अपनी) सहज शक्ति तथा अभ्यास (से प्राप्त कौशल्य) की विशिष्टता से सभी धनुर्धरो को आश्चर्यचकित करते हैं, जो पूर्ववर्ती नरेशो द्वारा दिए गए धार्मिक दानो के रक्षक हैं, जो (अपनी) प्रजाओ को पीडित करने वाली विपत्तियो के निवर्त्तक हैं, जो धन तथा विद्या के (सम्मिलित) निवास स्थान (होने की स्थिति) के व्याख्याता है, जिनकी शक्ति (अपने) शत्रु-पक्ष की भाग्य-लक्ष्मी को क्षुभित करने मे[2] कौशलयुक्त है, (तथा) जो उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त निर्मल राजोचित यश के स्वामी हैं-(भगवान्) महेश्वर के परमभक्त श्री धरसेन (द्वितीय) हैं, जो सकुशल होते हुए, सभी आयुक्तको[3], विनियुक्तको[4], द्रागिको[5], महत्तरो[6] तथा अनियमित सेनाओ, ध्रुवाधिकर–

---

१ जैसा कि वी० एन० मण्डलिक ने जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ११, पृ० ३४८, टिप्पणी मे उद्धृत किया है, आभिगामिक गुण कामन्दक द्वारा नीतिसार, ४, श्लोक ६-८ (कलकत्ता सस्करण पृ० ७८) मे व्याख्यायित हुए हैं, ये हैं सुन्दर जन्म, विपत्ति तथा समृद्धि में दृढता, युवावस्था, सुन्दर चित्तवृत्ति, शिष्टता, दीर्घसूत्रता का अभाव, परस्पर अविरोधी वाणी, सत्यता, वृद्धजनो के प्रति सम्मान, कृतज्ञता, भाग्यानुकूलता, बुद्धि, निरर्थक वस्तुओ से मुक्त होना, विरोधी निकटवर्ती शासको को पराभूत करने की क्षमता अनुराग में स्थैर्य, दूरदर्शिता, शक्ति, पवित्रता, महान् लक्ष्य रखना, नम्रता, तथा धर्म एव न्याय के प्रति दृढ भक्ति।

२ परिक्षोभ, समान प्रकारविशेष से तैयार किए गए प्रारूप वाले अन्य दानलेखों मे तथा नीचे लेख स० ३६, प० १० में परिभोग (='के) भाग (में कुशल') अकित मिलता है जो एक अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर पाठ है।

३ यह तथा अनुवर्ती शब्द पारिभाषिक शासकीय उपाधिया हैं जिनके अभी तक उपयुक्त अनूदन निश्चित नहीं हो सके हैं। सप्रति अकित आयुक्तक शब्दकी इलाहाबाद स्तम्भ लेख की प० २६ (ऊपर स० १, पृ० ६) मे अकित आयुक्तपुरुष से तुलना की जा सकती है।

४ विनियुक्तक, इससे ऊपर स० १४, पृ० ७४ पर अकित जूनागढ शिलालेख की प० ६ मे प्रयुक्त नियुज् (= "नियुक्त करना, अधिकृत करना") की तुलना करें, नीचे सं० ३९ (प्रति० २५) की प० ७६ मे प्रयुक्त तन्नियुक्तक भी तुलनीय है।

५ द्राङ्गिक, अन्य रूप हैं द्रङ्गिक (इण्डियन ऐंटिक्वेरी, जि० ५, पृ० २०५, प० १४, किन्तु यहां पर द्राङ्गिक के स्थान पर गलत अकन हो सकता है) तथा द्राङ्गिक (वही, जि० ४ पृ० १०५, प० १५)। सप्रति अकित रूप द्रांगक हमें पुन वही, जि० ४, पृ० १७५, प० ६ मे प्राप्त होता है, तथा उसी दानलेख की प० १० में अकित मण्डलीद्रङ्ग मे हम द्रङ्ग शब्द पाते हैं जिससे कि इन शब्दों की उत्पत्ति हुई है। इन उद्धृत स्थानों पर डा० ब्यूलर ने द्रङ्ग तथा द्राङ्गिक इ० को क्रमश 'नगर' तथा 'नगर-प्रमुखों' से अनूदित करने का सुझाव रखा है, तथा मोनियर विलियम्स ने अपने सस्कृत शब्दकोश मे द्रङ्ग का अर्थ 'कस्बा', 'नगर' किया है।

६ महत्तर, महत् (='महान') शब्द की आपेक्षिक मात्रा सूचक निर्मिति है तथा मोनियर विलियम्स ने इसके अपने विशिष्ट अर्थ मे इसका अनुवाद 'गांव का मुखिया' अथवा 'सर्वाधिक वृद्ध व्यक्ति' किया है। अन्य अभिलेखों में हमें इसका समान परिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त उत्तमकोटि सूचक शब्द महत्तम प्राप्त होता है।

णिको[1], दाण्डपाशिको[2], राजस्थानीयो, कुमारामात्यो तथा अन्य सभी सबधित व्यक्तियो के प्रति ग्रादेश देते है—

प० २१—"आप सबको यह विदित हो कि (अपने) माता-पिता के पुण्य मे वृद्धि के उद्देश्य से तथा इस उद्देश्य से कि मुझे इस लोक तथा दूसरे लोक दोनो के लिए अभिलिषित फल प्राप्त हो, मेरे द्वारा, भूमिच्छिद्र के नियम के अनुसार तथा जल-तर्पण के साथ-बलि, चरु, वैश्वदेव, अग्निहोत्र तथा अतिथि नामक पाच महान् याज्ञिक अनुष्ठानो के सम्पादन के लिए, जो चन्द्र, सूर्य, समुद्र, नदियो एव पृथ्वी की स्थिति तक यह दीर्घ जीवी हो, (तथा) (उनके) पुत्रो एव पौत्रो की क्रम-परम्परा से भोगा जाय-अन्तरत्रा (गाव) मे शिवकपद्रक नामक सार्वजनिक भूमि[3] मे 'वीरसेनदन्तिक की पट्टी'[4] (इस नाम से जानी जाने वाली भूमि) मे से एक सौ पादावर्त[5] (भूमि), (तथा) इसके पश्चिम मे पन्द्रह पादावर्त, साथ ही पश्चिमी सीमा पर 'स्कम्भमेन की पट्टी' (इस नाम से जानी जाने वाली भूमि) का एक सौ पादावर्त से बीस अधिक पादावर्त[6] (तथा) पूर्वी सीमा पर दश पादावर्त्त, डोम्भिग्राम नामक गाव मे, पूर्वी सीमा पर 'वर्धकि पट्टी' (इस नाम से जानी जाने वाली भूमि) का नब्बे पादावर्त, वजग्राम नामक गाव मे, पश्चिमी सीमा पर, गाव के ऊपरी भाग मे[7] एक सौ पादावर्त (तथा) 'महत्तर विकिदिन्न'[8]

---

१ ध्रुवाधिकरणिक, 'जो ध्रुवो का अधीक्षक है ।' काठियावाड तथा कच्छ मे अब भी प्रयुक्त होने वाले ध्रुव शब्द की व्याख्या डा० ब्यूलर ने (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० ५, पृ० २०५) यह किया है "वह व्यक्ति जो राजा की ओर से कृषको द्वारा उत्पादित अन्न मे राजकीय भाग के सग्रह का निरीक्षण करता है" ।

२ दाण्डपाशिक अथवा दण्डपाशिक का मोनियर विलियम्स ने अपने सस्कृत शब्दकोश मे यह अर्थ किया है "वह जो दण्ड का पाश अथवा फन्दा धारण करता है, पुलिस का आदमी ।"

३ पद्रक पद्र का पूर्णरूप जान पडता है, मोनियर विलियम्स के सस्कृत शब्दकोश मे जिसका अर्थ "गाव, किसी गाव का प्रवेश मार्ग, पृथ्वी, एक जनपदविशेष" दिया गया है। डा० ब्यूलर (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ३३७) के अनुसार यह आधुनिक पाद्र (="पशुओ के चरने का स्थान") है । मै नही जानता कि उनका आधार क्या है । किन्तु एच० एच० विल्सन की ग्लासरी आफ इण्डियन टर्म्स मे पादर (अर्थात् पाद्र) का अर्थ 'सार्वजनिक भूमि, गाव के पास सटी हुई बिना जोती हुई भूमि' किया गया है । और यह अधिक उपयुक्त अर्थ जान पडता है ।

४ प्रत्यय, अन्य अवतरणो मे प्रत्याय आता है ।

५ पादावर्त, शाब्दिक अर्थ—"पैर का एक आवर्त" । मोनियर विलियम्स के सस्कृत शब्दकोश मे इसका अर्थ 'एक वर्ग फुट' किया गया है । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि 'एक सौ पादावर्त' इस प्रकार के पद का अर्थ था "ऐसा भूखण्ड जो सभी ओर एक सौ वर्ग की नाप वाला हो अर्थात् दस हजार, वर्ग फीट", न कि केवल 'एक सौ वर्ग फीट' जिसके अनुसार इसकी प्रत्येक ओर की नाप केवल दस फीट होगी जो कि दान के लिए बडा छोटा भूखण्ड होगा—आगे उल्लिखित इससे भी छोटे भूखण्डो के विषय मे कहना ही क्या ।

६ अर्थात् 'एक सौ बीस पादावर्त' ।

७ शिखर, शब्दश. 'चोटी, उच्चस्थ भाग' ।

८ द्र०, ऊपर पृ० २०४, टिप्पणी ३ ।

की पट्टी' (इस नाम से जानी जाने वाली भूमि) के अट्ठाइस पादावर्त्त विस्तीर्ण क्षेत्र के साथ सिंचाई के लिए एक कूप, (तथा) मुम्मुसपद्रक नामक सार्वजनिक भूमि मे 'कृषक वोटक की पट्टी (इस नाम से जानी जाने वाली भूमि) मे एक सौ पादावर्त तथा एक कूप-वाजसनेयि-कण्व (शाखा) के (विद्यार्थी) तथा वत्सगोत्रीय उन्नत नामक गाव के निवासी ब्राह्मण रुद्रभूति को दान मे दिया गया, यह (सब कुछ) उद्रग तथा उपरिकर के साथ, वात,[1] भूत, अन्न, सुवर्ण तथा आदेय के साथ, यथासमय वेगार (लेने के अधिकार) के साथ, (तथा) यह किसी भी राजकीय कर्मचारी द्वारा (अनुचित अपहरण के) हाथ द्वारा सकेतित (तक) न हो (इस विशेषाधिकार के साथ)[2] (दान मे दिया गया)।

प० २९—"अतएव, कोई भी इस प्रकार व्यवहार न करे जिससे कि इस व्यक्ति को, ब्राह्मण के प्रति दिए गए दान की उपयुक्त अवस्थाओ के अनुरूप, (इसका) भोग करने मे (तथा इसे) जोतने मे, (अथवा इसे जोतने मे किसी अन्य व्यक्ति को) देने मे कोई बाधा हो।

प० ३०—तथा हमारे कुल मे उत्पन्न होने वाले भावी पुण्यात्मा शासक-यह सोचते हुए कि धन चिरस्थायी नही होता, मानव-जीवन नश्वर है तथा यह कि भूमि के दान का फल (दान करने वाले तथा उस दान को बनाए रखने वाले दोनो को) साथ-साथ मिलता है—हमारे दान को अनुमोदित करें। तथा जो भी इस (दान) का अपहरण करेगा अथवा इसके अपहरण-कर्म का अनुमोदन करेगा, वह उपपातको के साथ पाच महापातको (के अपराध) का भागी होगा।"

प० ३२—वेद-व्यवस्थापक पूजनीय व्यास द्वारा यह कहा गया है—"भूमि-दान करने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग में निवास करता है, (किन्तु) (दान का) अपहरणकर्ता तथा (अपहरण-कर्म) का अनुमोदन करने वाला उतने ही वर्षों तक नरकवास करेंगे। हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठिर पूर्व-

---

१ वात, भूत तथा आदेय का अर्थ स्पष्ट नहीं है। वात या तो वा (='बहना') से अथवा वै (= सूखना, नष्ट होना') से व्युत्पन्न हुआ है, तुलनीय ऊपर स० ३१ की प० १४ इ० मे अकित आवात। भूत भू (='होना, बनना') का कृदन्त है किन्तु यहा कोई उपयुक्त अर्थ नहीं बनता। आदेय का अर्थ या तो दा (= 'देना') के साथ 'आ' लगाने पर—'वह जिसे दिया जाना है', है अथवा— दो के साथ आ लगाने पर—'वह जिसे काटना है' है। किन्तु यह भी सभव है कि यहा आ उपसर्ग न हो कर नकारात्मक अ दिया गया है तथा शब्द का अर्थ है 'वह जिसे नहीं दिया जाना है, अथवा नहीं काटना है।" कभी-कभी वातभूत के स्थान पर हम उलटा रूप भूतवात पाते हैं—उदाहरणार्थ, नीचे स० ३९, प्रति० २५, की पं० ६७ मे।

२ समस्तराजकीयानामहस्तप्रक्षेपणीय। वलभी दानलेखों का यह बडा सामान्य अभिकथन है। दक्षिण से हमे १ राजकीयानामनङ्गुलिप्रेक्षणीय यह सदृश पद मिलता है—उदाहरणाथ, कलियुग सवत् ४३४८ मे तिथ्यकित पष्ठदेव द्वितीय के गोआ दानलेख की प० ८५ मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० २९१), तथा २ शक सवत् ११९३ में तिथ्यकित रामचन्द्र के पैठन दानलेख की प० ६१ मे (वही, जि० १४, पृ० ३१७) राजराजपुरुषैरप्यनङ्गुलिनिर्देश्य यह भिन्न पद मिलता है।

काल मे ब्राह्मणो को दान मे दी गई भूमि की सावधानी से रक्षा करो, (सत्य ही) (दान की) सुरक्षा दान देने से अधिक श्रेयस्कर है। यह पृथ्वी सगर से प्रारम्भ हो कर बहुसख्यक राजाओ द्वारा भोगी गई है, जो भी किसी समयविशेष पर पृथ्वी का स्वामी होता है उसे ही उस समय (यदि वह बनाए रखता है तो इस दान का) फल प्राप्त होता है।

प० ३५—(यह राजपत्र) सांधिविग्रहिक स्कन्दभट द्वारा लिखा गया। यह मेरा-महाराज श्री धरसेन का-हस्ताक्षर[1] (है)। दूतक (है) चिर्बिर। वर्ष २०० (तथा) ५० (तथा) २, (मास) वैशाख, कृष्ण पक्ष, (चान्द्रदिवस) १० (तथा) ५।

---

१ स्वहस्त, शब्दश: "अपना हाथ"। कभी-कभी हस्ताक्षर का वास्तविक प्रतिरूप भी दिया हुआ मिलता है—उदाहरणार्थ, शीलादित्य सप्तम् के दानलेख (नीचे स० ३६, प्रति० २५) के अन्त मे तथा शक सवत् ७५७ मे तिथ्यकित ध्रुव द्वितीय के बरोदा दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० १९८ इ० तथा प्रति०) के अन्त मे।

स० ३९, प्रतिचित्र २५

शीलादित्य सप्तम का अलीन ताम्रपत्रांकित लेख
वर्ष ४४७

यह लेख कैर तथा ब्रोच के असिस्टेंट डेपुटी एजूकेशनल इन्सपेक्टर श्री हरिवल्लभ को प्राप्त हुआ था तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान सर्वप्रथम १८७८ मे इण्डियन एन्टिक्वेरी, जि० ७, पृ० ७९ इ० के माध्यम से हुआ जिससे डा० ब्यूलर ने लेख का अपना पाठ अपनी टिप्पणियो के साथ प्रकाशित किया। लेख कुछ ताम्रपत्रो पर है जो बाम्बे प्रेसीडेन्सी मे गुजरात मे कैर (खेडा) जिले के नडिआद तालुका के प्रमुख नगर नडिआद [1] से चौदह मील उत्तर-पूर्व मे स्थित अलीना अथवा अलीणा गाव मे अथवा इसके आस पास कही पाए गए थे। जिस समय इनके विषय मे पता चला, ये अलीना में एक वनिए की दूकान मे पडे थे। सप्रति ये लन्दन में स्थित रायल एशियाटिक सोसायटी के अधिकार मे है, जिसे डा० ब्यूलर ने इनको भेंट किया था।

एक ही ओर अकित ये ताम्रपत्र सख्या मे दो है जिनमे से प्रथम लगभग १' २½" लम्वा तथा १' १¾" चौडा है तथा द्वितीय पत्र जो कि अनियमित आकार का है, लगभग १' ६¹⁄₂" लम्बा तथा १' ⅞" चौडा है। इनके किनारे लेखाकित स्तरो से मोटे बनाए गए हैं जिससे आन्तरिक भाग कुछ दबा हुआ सा है और इस प्रकार लेखन की रक्षा-हेतु पट्टिया वन गई हैं किन्तु पत्रो के स्तरो को मोरचे से पर्याप्त क्षति पहुची है, तथा कुछ स्थलो पर, यद्यपि अक्षर नष्ट नही हुए हैं, किन्तु उनके ऊपर मोरचे की ऐसी कडी परत जमी हुई है कि मुझे उन्हे दूर करना असम्भव सा लगा और वे शिलामुद्रण में नही आए हैं। किन्तु मूलपत्रो पर लेख अधिकाशत पूर्णतया पठनीय है, केवल ऊपरी भाग पर्याप्त क्षतिग्रस्त हुआ है—विशेषत दूसरे पत्र का दाहिनी ओर का भाग। पत्र मोटे हैं और अत्यन्त भारी है तथा अक्षर गहरे उत्कीर्ण होने पर भी पीछे के भाग मे नही दिखाई पडते। जैसा कि पत्र के क्षति-विहीन स्थलो के लेखन से प्रदर्शित होता है, उत्कीर्णन बडा सुन्दर हुआ है किन्तु, जैसा कि सामान्यतया पाया जाता है, अक्षरो के आन्तरिक भागो पर आद्यन्त उत्कीर्णक के उपकरणो के चिन्ह दिखाई पडते हैं। प्रथम पत्र के निचले तथा द्वितीय पत्र के शीर्षस्थ भाग पर दो छल्लो के लिए सूराख बने हुए हैं, किन्तु छल्ले, जिनमे से एक के साथ मुहर सलग्न था, अब अप्राप्य है। दोनो पत्रो का भार १७ पौंड ३¾ औंस है। अक्षरो का आकार ⅛" से लेकर ¼"तक मिलता है। अक्षर दक्षिणी प्रकार की वर्णमाला के हैं, ये वर्ष २५२ मे तिथ्यकित महाराज धरसेन द्वितीय के पूर्व चर्चित लेख (ऊपर स० ३८ तथा प्रति० २४) के परवर्ती विकसित रूप हैं तथा इस प्रकार विशेष को 'आठवी शताब्दी की सौराष्ट्र अथवा काठियावाड वर्णमाला' की सज्ञा दी जा सकती है। इनमे, उत्तरी स्रोतो से, दन्त्य द से भिन्न मूर्धस्थानीय ड का (उदाहरणार्थ, प० ४ मे अकित चूडा मे), तथा प० ११ मे अकित उवूढ मे तथा प० ५६ मे अकित समुपोढ मे अपेक्षाकृत असामान्य मूर्धस्थानीय ढ का सम्मिलन मिलता है। प० ७८

---

१ मानचित्रों इ० का 'Nadiad' तथा 'Neriad'।

मे इनमे ५,७, ४० तथा ४००, इन अको का भी लेखन मिलता है। भाषा सस्कृत है तथा प० ५८ से लेकर प० ६८ तक अकित चार श्लोको को छोड कर तथा प० ७२ से ७५ के बीच मे सामान्यतया प्रयुक्त आशीर्वादात्मक तथा अभिशसनात्मक श्लोको को छोड कर, सपूर्ण लेख गद्य मे है। जैसा कि इस कुल से सबद्ध सभी परवर्ती लेखो के साथ है, लेख बडी ही असावधानी तथा अशुद्धता पूर्वक लिखा गया था तथा इसमे कुछ ऐसे अवतरण हैं जिनका सही पाठ अब भी निश्चित रूप से नही हो सकता। वर्णविन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं. १. प० ४५ तथा ६२ मे अकित वड्श मे तथा प० ५१ मे अकित निस्त्रिङ्श मे श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का क्वाचित्क प्रयोग, २ प० ५६ मे सिंह के स्थान पर सिङ्ह का प्रयोग, ३ प० ११ मे अकित अन्स मे स के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर, एक बार, दन्त्य आनुनासिक का प्रयोग, ४ प० ११ मे अकित विक्क्रम मे एक बार, अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर तथा प० २६-२७ मे अकित प्रक्कृति मे अनुवर्त्ती ऋ के साथ सयोग होने पर-जो बडा ही असामान्य है—एक बार, क का द्वित्व, तथा ५. प० १०, १४, १६, २३, ५०, ५३, ५४-५५ तथा ५८ मे अ कित अनुद्ध्यात मे अनुवर्त्ती य के साथ सयोग होने पर ध का द्वित्व।

लेख वलभी के राजाओ के कुल मे उत्पन्न शीलादित्य सप्तम का है जिसने ध्रुभट अर्थात् ध्रुवभट[1] की उपाधि भी धारण किया था, तथ इस लेख मे अकित राजपत्र आनन्दपुर मे स्थित उसके स्कन्धावार से जारी किया गया है। शब्दो तथा अको दोनो मे इसकी तिथि, वर्ष चार सौ सैंतालीस (ईसवी सन् ७६६-६७) ज्येष्ठ मास (मई जून) के शुक्ल पक्ष का पाचवा चान्द्र दिवस, दी गई है। लेख किसी सप्रदायविशेष से सवद्ध नही है तथा इसका प्रयोजन स्वय शीलादित्य सप्तम द्वारा-पाच महान यज्ञो तथा अन्य अनुष्ठानो के लिए-एक ब्राह्मण के प्रति खेटक आहार मे[2] उप्पलहेट पथक[3] मे स्थित महिलबली अथवा महिलाबली गाव के दान दिए जाने का लेखन है।

---

१ जैसा कि डा० ब्यूलर ने बताया है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ७, पृ० ८०), ध्रुवभट नाम का पूर्ण तथा शुद्ध रूप है, तथा इस लेख मे नाम के प्रथम दो अक्षरो का सक्षेपन कर दिया गया है। इस सक्षेपन का कारण कुछ तो यह था कि छन्द के अनुसार यहा दो ह्रस्व अक्षरो के स्थान पर एक दीर्घ अक्षर की आवश्यकता थी और कुछ इस कारण, कि आज के समान उस समय भी, ध्रुव का काठियावाड तथा कच्छ की क्षेत्रीय गुजराती भाषा मे प्रयुक्त रूप-विशेषरूपेण अपने अर्थ मे-ध्रू ही था (वही, जि० ५, पृ० २०५), यह एक पारिभाषिक शासकीय उपाधि है जो "उन व्यक्तियो" का निर्देश करती थी "जो राजा की ओर से कृषको द्वारा उत्पादित अनाज पर राजकीय भाग के सग्रह का अधीक्षण करते हैं, उनका कर्तव्य यह देखना है कि वह "(?) राजा, अथवा कृषक) अपने उचित भाग से अधिक का संग्रह न करें।"

२ आहार एक पारिभाषिक क्षेत्र विषयक शब्द है जिसका उपयुक्त अनुवाद अभी तक नहीं निश्चित हुआ है। वर्ष २७० में तिथ्यकित धरसेन द्वितीय के अलीन दानलेख की प० २५ ६० मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि ०७ पृ० ७२) हमे खेटकाहारविषये पद का प्रयोग मिलता है जो यह प्रदर्शित करता प्रतीत होता है कि आहार विषय का पर्याय था। एक अन्य शब्द आहरणी प्राप्त होता है जो स्पष्टरूपेण आहार का पर्याय है, क्योंकि वर्ष २६९ मे तिथ्यकित धरसेन द्वितीय के वला दानलेख की प० २१ मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १२) हस्तवप्र आहरणी का उल्लेख मिलता हैं जबकि वर्ष ३२६ मे तिथ्यकित धरसेन चतुर्थ के एक दानलेख मे (वही, जि० १, पृ० ४५) हस्तवप्र आहार उल्लिखित हुआ है।

३ पथक एक पारिभाषिक क्षेत्र विषयक शब्द है जिसका उपयुक्त अनुवाद अभी तक नही निश्चित नहीं हो सका है। यह स्पष्टत पथिन्, पथ (='मार्ग,सडक') से सबधित है।

दानलेख मे उल्लिखित स्थानो में खेटक निश्चिततया आधुनिक खेडा अथवा कैर[1] ही है। उप्पलहेट स्पष्टरूपेण कैर से ३५ मील की दूरी पर सीधे पूर्व में ठामग तालुका के अन्तर्गत स्थित आधुनिक उप्लेट अथवा उप्लेटा है। तथा आनन्दपुर कैर मे इक्कीस मील दक्षिण-पूर्व में स्थित आधुनिक आनन्द तालुका का प्रमुख नगर आनन्द होना चाहिए।

मूलपाठ[2]

प्रथम पत्र

१ ओम् स्वस्ति श्रीमदानन्दपुरमम् [।*]वासितजयस्कन्धावारे[3] प्रसभप्रणतामित्राणां मैत्रकाणाम-तुलवलसपन्नमण्डलाभो [गसम]क्तप्रहारशतलब्धप्रतापा—

२ त्प्रतापोपनतदानमानार्ज्जवोपार्ज्जितानुरागादनुरक्ता[4]मौलभृत[5] श्रेणीवलावाप्तराज्यश्रिय परम-माहेश्वर[6]श्रीभटार्क्कादा(द)व्यवच्छिन्नवंशान्मा—

३ तापितृचरणारविन्दप्रणतिप्रविधिक्ताशेषकल्मष शैशवात्प्रभृति खड्गद्वितीय[7]बाहुरेव समदपरगज-घटास्फ[ो]टनप्रकाशित[सत्वनि] कष तत् [र*]—

४ [भा] वप्रणतारातिचूडार [त्न*] नप्रभास[*] सक्तपादनखरश्मिसहति सकलस्मृतिप्रणीति (त)मार्ग्गं[8] सम्यक्क्रियापालन[9]प्रजाहृदयरजना [दा*]न्वर्त्थराजशब्[द्] ो रूपका—

५ न्तिस्थै [*] र्य्यगाभीर्यवुद्धिसपद्भि स्मरशश् [ा]ङ्काद्रिराजोदा(द)धितृश्रा(त्रि)दशगुरु(रु) धनेशानतिशयान शरणागताभयप्रदान[10]परतया तृणवदपास्ता[11][शेषस्व] कार्य्य—

६ फल प्रार्थनाधिकार्थप्रद[ाना] नन्दितविद्वत्सुहृत्प्रणयिहृदय [*] पादाचारीव सकलभुवन मण्डलभोगप्रम् [ो*]द [ ] परम—

७ माहेश्वर श्रीगुहसेन [॥*] तस्य सुत तत्पादनख[मयूख]सतानविसृज(त)जाह्नवीजलौघ प्रक्षालिताशेषकल्मष प्रणयिशतस—

८ हस्त्रोपजीव्यमानसपद्रूपलोभादि [वा]श्रृ(श्रि)त सरभा(भ)समाभिगामिकै गुणै सहजशक्ति[12] शिक्षाविशेषविस्मापितलब्ध[13]धनुर्द्धर प्रथम[न]—

---

१ अक्षाश २२°४४' उत्तर, देशान्तर ७२°४८' पूर्व।

२ मूल पत्रों से।

३ पढे, स्कन्धावारात्। न्धा के स्थान पर पहले उत्कीर्णक ने धा उत्कीर्ण किया था, पुन उसे न्धा करके शुद्ध किया।

४ पढें, अनुरागानुरक्त।

५ पढें, भृत।

६ पढें, माहेश्वर।

७ पढें, द्वितीय।

८ पढें, मार्ग्गं।

९ पढें, पालन।

१० पढें, प्रदान।

११ पढें, अपास्त।

१२ पढें, शक्ति।

१३ पढें, विस्मापितसर्व्व, अथवा विस्मापिताखिल।

९ रपतिसमतिसृष्टानामनुपालयिता[1] धर्म्म[दाया]नामपि(पा)कर्त्ता प्रजोपघातकारिणा उपप्लवाना शमयिता[2] श्रीसरस्वत्योरेकाधिवासस्य सहोपपति[3]प—

१० क्षलक्ष्मीपरिभोगदक्षविक्रम विक्रमोपमसप् [र्] ाप्त[4] विमलपार्त्थिवश्री परममाहेश्वर श्रीधर-सेन [॥*] तस्य सुत तत्पादानुद्ध्यात सकलजगदानन्दनात्या(त्य)द्भु—

११ तगुणसमुद्र[5]स्थगितसमग्रदिग्मण्डल समरशतविजयशोभासनाथमण्डलाग्रद्य[ु*]तिभासुरान्स-पीडोव्यू (ढ़)ढगुरुमनोरथमहाभाव (र) सर्व्वविद्यापारपरम—

१२ भागाधिगमविमलमतिरपि सर्व्वत सुभाषितलवेनापि स्वो[6]पपादनीयप[रि *]तोष समग्र-लोकागाधगाभीर्य्यहृदयोऽपि सव्य(च्च)रितातिशयसुव्यक्तपरम—

१३ कल्याणस्वभाव [ः*] खलीभूतकृतयुगनृपतिपथविशोधनाधिगतोदग्रकीर्त्ति धर्म्मानुगा(रो)धा-(ो)ज्ज्[व*]लतरीकृतार्त्थसुखस[ं*]पदु [प*]सेवानिरहढ[7]-वर्ज्मादित्य[8]त्वि (द्वि)-तीयनामा

१४ पा(प)रमम् [ा*] ह् [े*] श्वर श्री (श्री)गी (शी)लादित्य[9] [॥*] तस्य सुत[10] तत्पादानुद्ध्यात स्वयव् (म्) ु पेन्द्रगुरुणेप(व) गुरु[11] गुरुणात्यादरवता समभिलषणीयाणा-[12] मपि राजलक्ष्मी [ं*]

१५ स्कन्धासक्त् [ा] परमभद्राणा[13] धु [र्*] य्यस्तदाज् [ञ्]ा स[ं*] पादने(ै)-

---

१ यहा तथा इसी पक्ति मे शमयिता के पश्चात् तथा कुछ अन्य स्थलो पर एक चिन्ह मिलता है जो सभवत विराम चिन्ह है। यह अनुस्वार है (इस मान्यता मे केवल यह बाधा है कि यह अनुस्वार के स्थान पर नही है) अथवा आधा विसर्ग है।

२ पढें, दर्शयिता।

३ पढें, सहतारातिे।

४ पढें, ओपसप्राप्त, अथवा ओपक्रमसप्राप्त।

५ पढें, समुदाय।

६ पढें, सुख्।

७ पढें, निरूढो।

८ पढें, धर्म्मादित्य।

९ यह विसर्ग अपूर्ण है, इसका केवल नीचे का विन्दु उत्कीर्ण हुआ है।

१० पढें, तस्यानुज . इस प्रस्तावित पाठ का आधार है इस पीढी के पश्चात् किसी तिथि के अगले लेख की प० १५–१६, वर्ष ३१० मे तिथ्यकित ध्रुवसेन द्वितीय का लेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १४), तथा कुछ परवर्ती दानलेख (उदाहरणार्थ, इण्डियन एन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० १४६, प० १७ तथा जि० ७, पृ० ७४, प० १८)।

११ यह शब्द छोड दे।

१२ पढें, समभिलषणीयाम्।

१३ पढें, परमभद्र इव।

करसतयोद्वाहन[1] खेदमुखरतिभ्या अनायासित [सत्त्व*]मपत्ति [*] प्रभावमा(स)पक्ष (व) शीकृतनृपतिशतशिरो—

१६ रत्ना(त्न)च्ना(च्छा)योपगूह(ढ)पादपीठोऽपि परामावज्ञा[2]भिमानसहसा[3]नालिं [गृ*] त-मनोवृत्ति प्रणतीरोका[4] परित्यज्य प्रख्यातपौरुपाभिमानैरा(र)प्या(प्य)रातिभिरनासा [दि]—

१७ तप्रकृत्योपाय [5] कृतनिर्ि [त्र्] लभुवनामा(मो)दविमलगुणम[ ]हृति प्रमभविघटितसकल कलिविल [ि*]सृतगतिर्भरत्र[6] जनाभिद्रो (रो) हिभिराशपं [7]दोपैरनामृ—

१८ [ष्टा*] त्युन्नतहृदय [*] प्रख्यातपौरुप शास्त्रकोटला[8] तिशय् [ो*] गुण[9]गणतिथविपक्ष-क्षितिपतिलक्ष्मीस्वयस्वयं[10]ग्राहे(ह)प्रकाशितप्रविग्रा (वी)रपुरुपप्रथम [11][सख्या]—

१९ धिगम [12] य(प)रमम् [ा*]हेश्वर श्रीखरग्रह [॥*] तस्य सुत तत्पाद् [ा*]नुद्ध्यात स [ं*] व्व [ि*] वृद्याधिगम पहित[13] निखिलविद्वज्जनमन परितोपिता[14]तिप(श)य-[*] सत् [त्*] व—

२० स[*] पत्त्यागं शौर्य्येण च विगतानुस [*]धानसमाहितारातिपक्षमनोरथरथाक्षभग सम्य-गुपलक्षितानेकशास्त्रकलालोकचरितगह् वरवि—

२१ भागोऽपि परमभद्रप्रा (प्र)कृतिरकृतृ (त्रि)मप्रश्रयोऽपि विभ (न)यशोभाविभूपणा [15]समरशत-जयपताकाहरणप्रत्ययोदग्रवाहुदण्डविध्वसितप्र[तिप] क्ष—

२२ दर्प्पोदय स्वधनु [*] प्रा(प्र)भाव [परि*] भूतास्त्रकुशलाभिमानसकलनृपतिमण्ड[ला*]-भिनन्दितशासना (न) पर [ममा] हेश्वर श्री(श्री)धरसा(से)न [॥*] तस्यानुज त[त्]-प्[ादानु]—

२३ द्ध्यात सच्चरित्[ा*]तिरु(श)यितसकलपू [ं*]व्वनरपति दुस्साधना[ना*] मपि प्रसाधयिता विपय् [ा*] णाम् मू[ि] [ं] त्तम्[ा*] निव पुरुपकार परिवृद्धगु[णा]-नुराग[निर्भ]—

---

१ पढ़ें, श्रोद्वहन् ।
२ पढ़ें, मरावज्ञ् ।
३ पढ़ें, रस् ।
४ पढ़ें, प्रणतिमेका ।
५ पढ़ें, प्रतिक्रिय् ।
६ पढ़ें, न्नीच ।
७ पढ़ें, मशेपै ।
८ पढ़ें, कौशल् ।
९ इस शब्द को छोड दें ।
१० दूसरे स्वयम् को छोड दें ।
११ पढ़ें, प्रथम ।
१२ यह विसग अपूर्ण है, इसका केवल ऊपरी बिन्दु उत्कीर्ण हुआ है ।
१३ पढ़ें, अधिगमविहित ।
१४ पढ़ें, परितोप् ।
१५ पढ़ें, विभूपण ।

२४ रचितवृत्ति[भिः२] मनुरिव स्वा(य्व)यमम्युपपन्न. प्रकृतिभिरवि(धि)गतकलाकलाप[.*] कान्तितिरस्कृतशलाञ्छन-[1]कुमुदा(द)नाथ [*] प्राज्यप्रतापप्थगितदिग [न्त]राल [.*]

२५ प्रध्वसितध्वान्तराशि सततोदितसविता प्रकृतिभ्य [*] पर [*] प्रत्ययमर्थवन्तमतिप(ब)-हुतिथप्रयोजनानुबन्धम्[2] [।*]गमपरिपू(पू)र्ण [*] विदधाम(न): सन्धिविग्रह—

२६ समासनिश्चयनिपुण [.*] स्थानमनुपदेश ददत्[3] गुणवृद्धिराजदिनित[4] स[*]स्कृ [।*]र-साधूना राज्यशालातु [र*] यितन्नयोरुभयोरपि निष्णात-प्रकृ—

२७ तिविक्रमोऽपि कल्याणप्रकृतय्य भृतवानपि (प्य)म [ि*] न्त्रि्त. कान्तोऽपि प्रशमि(मी) शि(स्थि)रसौहृ [।*] र्दोऽपि निरसिता दोषदोष[5]वतानुदयनमुपज [ि]त—

२८ तजनानुरागपरिवृ [*]हितभुवनसमर्थितप्रथितबालादित्य(त्य)द्वितीय नाम [।*] परम-माहेश्वर[6] श्री (श्री)धरसेन[7] [।।*] तस्य सुत तत्पादरदेल[8]रूपणा—

२९ मदर्शनकपणादि(ज)नितज्ञिणलाञ्छनललाटचन्द्रश(श)कल [*] शिशुभाव एव श्रवण-निहितमौक्तिकालकारविभ्रमामलश्रुतविशो(शे) ष [*] प्रदानस—

३० लिलक्षालितामहस्तारविन्द व्यास[9] इव मृदुकरग्रहणादमन्दीकृतानन्दविधिः वसु [*] धराया रा(का)मुर्मु रा(क)मनुर्व [*] द इव सभाविनाशत्र[10]लब्धकलाप[*] प्र—

३१ णतसमस्तसामन्तमण्डलापनोनिभृतचूडामरणनियमन[11]शासन परम [माहे*]श्वर परमभट्टारक-महार् [।*] जाधिराजपरम [*] श्वरचक्रवर्तिश्री[12]ध—

---

१ पढ़ें, सलाञ्छन ।

२ पढ़ें, मानुबंधम् ।

३ पढ़ें, स्थानानु रूपमादेशं ददनां ।

४ पढ़ें, विधमलवनित्र ।

५ दूसरा दोष छोड़ दें ।

६ पढ़ें, माहेश्वर ।

७ वर्ष ३१० में तिथ्यंकित उसके अपने दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६ पृ० १२) की प० ६–१० तथा अन्य अनुवर्ती अभिलेखों के आधार पर इसे ध्रुवसेन पढ़ें ।

८ पढ़ें, पादकमल ।

९ पढ़ें, कन्यायां ।

१० पढ़ें, नभाविनाशेव ।

११ पढ़ें, मण्डलोत्तमाङ्गचूडामणीयमान ।

१२ स्वयं धरसेन चतुर्थ के वर्ष ३२६ आषाढ शुक्ल १० की तिथियुक्त दानलेख की प० ३६ में पाठ है : चक्रवर्ती श्रीमज्जकपादानुध्यात श्री (जर्नल आफ् द बाम्बे ब्राञ्च आफ् द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १०, पृ० ७६, तथा इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि०१, पृ० १६); उनके उसी वर्ष माघ बहुल ५ की तिथियुक्त दानलेख-जिनका कि हमारे पास केवल द्वितीय पत्र का अनुवाद है–में भी यही पाठ है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १, पृ० ४५) । अन्य सभी बाद के लेखों ने, वर्तमान लेख के समान, किसी कारणवश श्रीमज्जकपादानुध्यात पद छोड़ दिया गया है, वर्ष ३३० में तिथ्यंकित स्वयं उसके दानलेखों में ही यह पद विलुप्त मिलता है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० ७, पृ० ७५ प० ४१ तथा जि० १५, पृ० ३४०, प० ४०) ।

३२ रसेन [॥०] तत्पितामहभ्रातृश्रीशीलादित्यस्य वा(शा)र्ङ्गपाणेरिवाग्रजन्मनो[१] भक्तिबन्धु-
रावयव [कल्पितप्रणते] रतिधवलया तत्पादारविन्दप्रपृ(वृ)त्तया चरणनखमणि—

३३ [रु] चा मन्दाकिन्येव नित्या(त्य)ममलितोत्तमाव(ग)देशस्याव(ग)स्तस्य् [`] व राजक्चो-
(र्यै) द्[I ०]क्षिण्यमानतन्वानस्य[२] प्रवल धवलिम्नो(म्ना) यग(श)सा वलय्[`]
न म—

३४ [ण्डित]ककुभा नवयाथरलिताङ्गेपि सङ्गपरिवम[३]मण्डलस्य पये(यो) द श्यामशिखरचूचुर-
र्काचसमविन्यस्तस्तन[४]युगाया क्षित् [`] पत्य्[ृ] श्री[देरभ]ट—

३५ स्याग्रज[५] क्षिति [प०]स [ ]हृते चरु विभागस्य[६] गु(शु) चिर्य्यंगोङ्क क[७]भृत स्वयवरा-
भिलापिणोमिव राज् [य]श्रियमर्प्पयन्त्या कृतप [f०] र्ग्रह[शौर्य्यमप्रतिह]—

३६ तप्रतापानमित[८]प्रचण्डरिपुमण्डल मण्टलाग्रमपालपधुम्रान[९] शरदि प्रमभम् [I०]कृष्टशिलीमुख-
पा(वा)णासनापादितप्रसाध[नानां]

३७ परभुवा विधियदाचारितकरग्रहण पूर्व्वम् [`०]व विविध वन(र्णा) ेज् [ज्०]वलेन गु(श्रु)-
तातिशप [`०] नो [द्भा]मितश्रवणयुगल पुन [पुनरुक्तेनेव रत्ना]—

३८ [ल]ङ्[क्]ारणालङ्कृतम्रोत्रा[१०]परिस्फुरत्का(क)टकविकटकीटपक्षरत्नकिरणमिपच्छिन्न[११]प्रदान-
सलिलनिवहानवमे[क[१२]विलसन्नवशैवला]—

३९ कुरमपा[१३]ग्रपाणिमुद्वह[न्०] घृतविश् [I०]लरत्नप(व)लय जलधिवेल् [I०]तटायम्[I०]न
भुजपरिष्वक्तविश्वम् [भ]र परमम् [I०]हेश्वर श्रीध्रुवसेनस्तस्याग्र—

---

१ एक पीढ़ी बाद में अगले उपलब्ध दानलेख अर्थात् धरग्रह द्वितीय के वर्ष ३३७ में तिथ्यंकित लेख की प० २९ (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ७, पृ० ७८) के अनुसार इस अङ्गजन्मनो पढ़ें।

२ पढ़ें, भ्रातवानस्य।

३ पढ़ें, नभसि यामिनीपतेर्विरचिताखण्डपरिवेष।

४ पढ़ें, चूचुकरुचिरसह्यविन्यस्तन।

५ ऊपर टिप्पणी १ में उद्धृत धरग्रह द्वितीय के दानलेख की प० ३२ के आधार पर तथा अधिकांश परवर्ती लेखों के आधार पर इसे अग्रज पढ़ें।

६ पढ़ें, सहतैरनुरागिण्य

७ पढ़ें, पयोत्सुक।

८ पढ़ें, अप्रतिहतव्यापारमानमित।

९ पढ़ें, इवालम्बमान।

१० पढ़ें, श्रोत्र।

११ पढ़ें, अविच्छिन्न।

१२ पढ़ें, निवहावसेक।

१३ पढ़ें, इव।

द्वितीय पत्र

४० [जो[1] ऽपर]म[हीप] तिस्पर्द्ध (र्श) दोपनाग(श)न[ि] घ्य् [`] व लक्ष्म्या स्वयमतिस्पष्ट-चेष्टमाश्लिष्टाङ्गयष् [टिरतिरुचिरतरचरितगरिमपरिकलितसकलन] रप [ि] तुरति—

४१ प्रकृष्टानुराग[स *]रभसवशीकृतप्रणतसमस्तसामन्तचक्रचूडामणिमयूख [खचितचरणकमल-युगल] प्रोद्दाम् [ोदार]दो [र्दण्ड]दलितद्विषद्व—

४२ गंदर्प्प प्रसर्प्पत्पटीय.प्रतापप्लाषिताशेषशत्रुव [*]श: प्रणयिपक्षनि[क्षिप्तलक्ष्मीक प्रेरित-गदोत्क्षि] प्तसु [दर्शनचक्र] परिहृत—

४३ [बलक्री]डोऽनघ कृतद्विजातिरेकविक्रमप्रसाधितधरित्रीतलोऽनङ्गीकृतजलशय्य[ापूर्व्वपुरुषोत्त]म· [साक्षाद्धर्म इव सम्यग्व्य]वस्था—

४४ पितवर्णाश्रमाचार. पूर्व्वैरप्युर्वि (र्व्वी)प्रतिभि· तृष्णालवलुब्धै यान्यपहृता [नि देवब्रह्म]द् [`]-या [नि ते]षामप्य[तिसरल]मन प्र—

४५ [स]रमुत्स[ङ्क]ल [नानु]मोदनाभ्या परिमुदितत्(त्रि)भुवनाभिनन्दितोच्छ्रितोत्कृष्टधवलध[र्म्म]-ध् [वज] [प्रकाशितनि।जवङ्श· द् [`] वद्विजगुरु [न्प्रतिपूज्ययथार्हं] मनवरत—

४६ प्रवर्त्तितमहोद्रङ्ग [ा]दिदानव्यवमनानुपजात[2]सतोपोपात्तोदारकीर्ति[3][पर]परा [दन्तुरितनि]-[ि]खलदिक्चक्रवाल: [स्पष्टमेव य]थार्थ [`] धर्म्मादित्य(त्य)—

४७ [द्वि]तोयनामा पर [म]माहेश्वर श्रीखरग्रह. [॥०] तस्याग्रजन्मन[4] कुमुदपण्डश्री [विकासिन्या कलावतश्चन्द्रिकयेवकीर्त्या धवलितस]कलदिग्मण्ड—

४८ लस्य खडिता गुरु [वि] लेपनविड[5]श्यामलविन्ध्य[शै] लविपुलपयोधराया· क्षि [ते पत्यु].श्री-शीलादित्यस्य सूनु[र्नवप्रालेयकिरण इ] व

४९ प्रतिदिनसवर्द्धमानहृदय[6]कलाचन्द्र(क)वाल। [केसर्] ीन्द्र [श्] शुरिव राजलक्ष्मी[7]सकलवन-[स्थलीमि] वालकुर्व्वाण· [शिख]ण्डिकेतन इव रुचि [मच्चूडा]म[ण्डन.]

---

१ अग्रज का अनुज के पश्चात् उल्लेख होना कुछ विचित्र सा है। किन्तु वर्ष ३३७ के खरग्रह के अपने दानलेख की प० ३७ मे भी अग्रजो ही पाठ है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ७, पृ० ७८) जिससे इसकी शुद्धता में कोई सदेह नहीं रह जाता, अन्य सभी परवर्ती लेखो मे इसी पाठ की पुनरावृत्ति होती है। अपरञ्च द्र०, नीचे अगले पृष्ठ की टिप्पणी २।

२ पढें, व्यवस्थानोपजात, अथवा व्यवसायोपजात।

३ पढें, कीर्ति।

४ यहा हम एक अन्य दृष्टान्त पाते हैं जहा अग्रज का उल्लेख अनुज के बाद हुआ है (द्र०, पिछले पृष्ठ की टिप्पणी १)। किन्तु, इस पीढ़ी के पश्चात् आले दानलेख अर्थात् संप्रति उल्लिखित शीलादित्य द्वितीय के पुत्र शीलादित्य तृतीय के वर्ष ३५२ के दानलेख की प० ४७ मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० ३०८) हम समान पाठ पाते हैं—सिवाय इसके कि वहा हम अग्रजन्मन· के स्थान पर गलती से अग्रज· लिखा मिलता है, और इससे इसकी शुद्धता मे कोई भी सदेह नहीं रह जाता। अपरच, अग्रजन्मन का वर्तमान पाठ हम सभी अन्य परवर्ती दानलेखो मे पाते हैं।

५ पढें, पिण्ड।

६ हृदय शब्द को छोड दें।

७ पढें, लक्ष्मीमवल।

५० प्रचण्डशक्तिप्रभावश्च शरदागम इव[1] द्विपता परममाहेश्वर परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वर-श्रीवप्प[2] पादानुद्ध्यात परमभट्[ट्][रकमहारा]—

५१ जाधिराजपरमेश्वर' श्रीशीलादित्यदेवस्तस्य सुत परमैश्वर्य्यं [*][3] कोपाकृष्टनिस्तृ(स्त्रि)ड्श-पातविदलितारातिकरिकुम्भस्थलोल्लसत्प्र [सृतम] हाप्रतापानल प्रा [कार]—

५२ [परिगत*]जगन्मण्डललब्धस्थिति विकटनिजदोर्दण्डावलविना सकलभुवनाभोगभाजा मन्थास्फालन-विधु[तदुग्धमि]न्धुफे[नपिण्डपा]ण्डुरयशोवितान[नेन]

५३ विहितातपत्र परम[माहे*]श्वर परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीवप्पपादानुद्ध्यात परम-भट्टारकमहाराजाधिराजप[रमेश्व]रश्रीशीलादित्य [देव] [।।*] [तत्पुत्र]

५४ प्रतापानुरागप्रणतसमस्तसामन्तचूडामारिनखमयूख[4]निचितरञ्[ज्]तपादारविन्द परम[मा*]-हेश्वर परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्री[वप्प] पादा—

५५ नुद्ध्यात परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीशीलादित्यदेव [ ] [।।*] तस्यात्मज प्रशमितरि(?)पु(?)वलदर्प्प विपुलजयमगलाश्रय श्रीममालि[गनलालि]न—

५६ यशा[*] सम् [*] पोढनारमिह्वविग्रहोज्जितो [द*] धुरशक्ति समुद्धा(द्ध)तविपक्षभूभृत्कृत-निखिलगोमण्डलरक्ष पुरुषोत्तम[*] प्रणतनाभूत[5]पार्थिवकिरीट—

५७ [मा] णिक्य[म] सृणितचरणनखमयूखरजितागेज[6]दिग्वधूमुख परममाहेश्वर परमभट्टारकमहा-राजाधिराजपरमेश्वरश्रीवप्पपा—

---

१ यहां बहुत कुछ छोड दिया गया है। पूरा अवतरण इस प्रकार होना चाहिए—शारदागम इव प्रतापवानुल्लसत्पद्म सयुगे विदलयन्नम्भोधरानिव परगजानुदयतपनबालातप इव सग्रामेषु मुष्णन्नभिमुखानामायूषि द्विषतां

२ इसके बाद की पीढ़ी के दानलेख अर्थात् शीलादित्य चतुर्थ के वर्ष ३७२ के दानलेख की प० ४६ (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी,जि० ५, पृ० २१२, तथा आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० ३, पृ० ६६) के अनुसार, तथा शीलादित्य पचम के वर्ष ४०३ के दो दानलेखो की प० ४५ तथा ४६ (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ११, पृ० ३४३, तथा इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स, स० १५ तथा १६) को एव नीचे इस अवतरण के मेरे अनुवाद को ध्यान मे रखते हुए इसे बाव पढना चाहिए। शीलादित्य षष्ठ के वर्ष ४४१ के दानलेख की प० ५१ (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० २०) मे, वर्तमान स्थल की भाति, बप्प का गलत पाठ दिया गया है। स्वय शीलादित्य तृतीय के वर्ष ३५२ के दानलेख की पं० ५१ मे (वही, जि० ११, पृ०३०६) परममाहेश्वर तथा श्रीशीलादित्यदेव के बीच का पूरा अवतरण-जिसमें बाव के प्रति दोनो उल्लेख एव स्वय उसकी राजकीय उपाधियां आती हैं—छोड दिया गया है।

३ इसके पूर्व बहुत से शब्द छोड दिए गए हैं। वर्ण पाठ है तस्य सुतोऽपरपृथ्वीनिर्म्माणव्यवसायासादित-पारमैश्वर्य्यं ।

४ पढें,चूडामणिमयूख।

५ पढें, प्रणतप्रभूत ।

६ पढें,प्राशेष ।

५८ [दा]नुद्ध्यात परमभट्टारामहाराजाधिराज[1]परमेश्वरश्रीशीलादित्यदेव [2] परममाहेश्वर [॥ * तस्या[3] त्मज प्रथितदुस्सहवीर्य्यचक्रो लक्ष्म्यालय् [ो]

५९ [नर]कनाशकृतप्रयत्न पृथ्वीसमुद्धरणकार्यकृतैकनिष्ठ सपूर्ण्णचन्द्रकरनि[ं *]म्मलजातकीर्त्तिः [॥*] ज्ञात[त्र] य् [ो][ग्] णमयो जितवैं [र्]पक्ष सप [न्न]—

६० [-—]म(?)सुख सुखद सदैव ज्ञानालय[*] सकलवन्दितलोकपालो विद्याधरैरनुगत प्रथितः प्रि(पृ)थिव्या [॥*] रत्नो [ज्*]वलो वरतनु—

६१ [र्गु] णरत्नराशि ऐश्वर्य्यविक्रमगुणै परमैरुपेत सत्[त्*] वोपकारकरणे सतत प्रवृत्त. स्[ा *]-क्षाज् [ज*] नर्द्दना(न) इवार्द्दितदुष्टदर्प्पे [॥ *]

६२ युद्धा[4] सकृद्गा(ग)जघटाघटनैकदक्ष पुण्यालयो जगति गीतमहाप्रताप राजाधिराजपरम् [े] श्वरवङ्शजन्माश्रीध्रू भटो जयति जा—

६३ तमहाप्रमोदा[5] [॥*] [स च *] परमेश्वर [6] परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वर[7] श्रीप(ब)-प्पपाप्(द)ानुद्ध्यात पर(रा)मभट्टारन(क)महाराजा—

६४ धिराजपरमेश्वरश्रीशीलादित्यदेव सर्व्वानेव समाज्ञापयत्यस्तु व सविदित[*] यथा मया मृ-[ा*]तापित्रोरात्मनश्च पुण्ययशोभिवृ—

६५ द्धये ऐहिकामुष्मिकफलावाप्त्यर्थं श्रीमदानन्दपुरवास्तव्यतच्चातुर्व्विद्यसामान्यश्[ा*]र्क्कराक्षिसगोत्र-(त्र)बह्वृचसब्रह्मचारि—

६६ भट्टाखण्डलमित्राये(य) भट्टविष्णुपुत्राय बलिचरुवैश्वदेवाग्निहोत्रक्रतुक्र(क्रि)याद्युत्सर्प्पणात्थे[8] श्री(श्री)खेटकाहारे उप्पलहेट—

६७ पथके महिल(? ला)बलीन् [ा*]मग्राम सोद्रङ्ग[*] स् [ो]परिका(क)र सोत्पद्या(द्य)-मानविष्टिक सभूतपा(वा)तप्रत्यादोय[9]स्दशापराध स—

६८ भोगभाग सधान्यहिरण्याद[े]य सर्व्वराजकीयान अहस्तप्रक्षोपशीय[10]पूर्व्वप्रदत्तदोपदायप्रह्मदाय-वर्ज्जा[11] भूम्रा(भू)मिच्छिद्रन्याय् [े]नाचन्[द्र] ा [ं*]र्क्का—

---

१ पढ़ें, परमभट्टारकमहाराजाधिराज ।

२ यह विरुद पूर्ववर्ती पंक्ति मे आ चुका है और अतएव यहा इसकी अनावश्यकरूपेण पुनरावृत्ति हुई है ।

३ छन्द, वसन्ततिलक, तथा अनुवर्ती तीन श्लोको मे ।

४ पढ़ें, युद्धे ।

५ पढ़ें, परममाहेश्वर ।

६ पढ़ें, प्रमोद ।

७ पढ़ें, परमेश्वर ।

८ पढ़ें, आर्त्थं ।

९ पढ़ें प्रत्याय ।

१० पढ़ें, राजकीयानामहस्तप्रक्षेपणीय
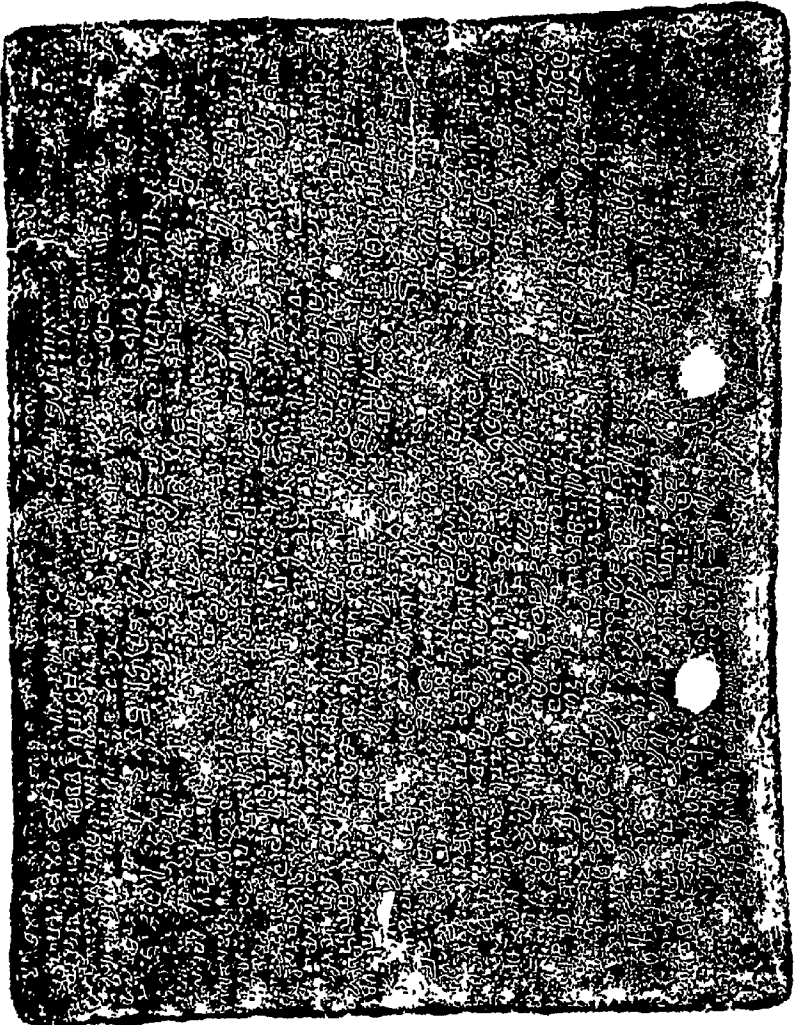
११ पढ़ें देवदायब्रह्मदायवर्ज्जं ।

शीलादित्य सप्तम् के अलीन पत्र—वर्ष ४४७
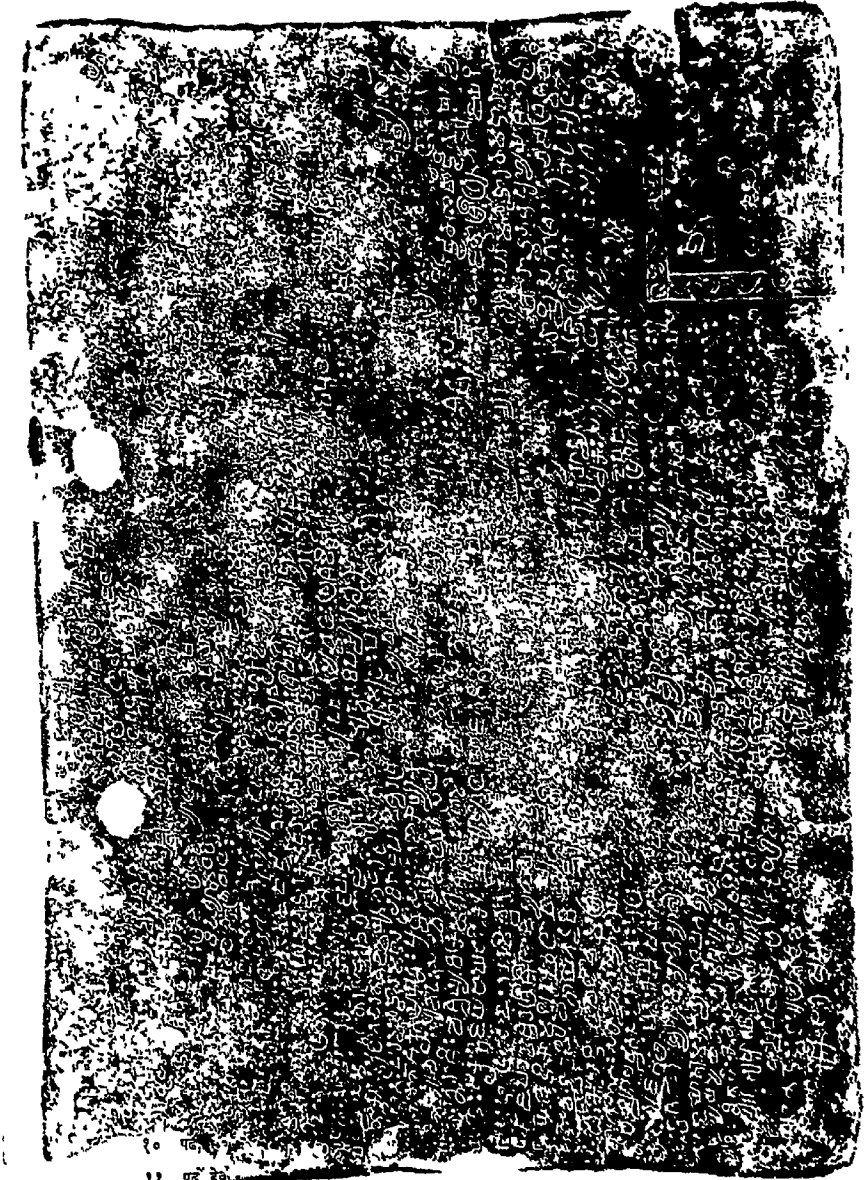
६९ र्णवक्षितिपर्व्वतसमकालीन पुत्रपौत्रान्वयभोग्य उदय् (क) ातिसर्गेण ब्रह्मदायत्वेन प्रतिपादित [।*] यतोऽस्य् (स्य) ोचिताय ब्रह्मदा [यस्थि]—

७० त्या भु जत कृषत कर्षापयत प्रतिदिशतो वा न कैश्चिद्व्यासेधे वर्त्तितव्य [*] ।। आगामि-भद्रनृ (नृ) पतिभि अ—

७१ स्मद्व शजैरन्यैर्व्वानित्यानित्यान्यै[1] श्वर्य्याण्यस्थिर [*] मानुज्य (ष्य) क सामान्य च भूमिदान[2]-फल अवगच्छद्भि अयम—

७२ स्मद्दायोऽनुमन्तव्य पालयितव्यश्च [।।*] उक्तञ्च पे (वे) दव्यासो (से) न व्या[3]सेन [।*] बहुभि–
[*][4]व्वासुरधा[5] भुक्ता राजभि सगरादिभि

७३ यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फल [*] । (।।) यानि [6]ह दत्तानि पुरा त्र (न) रेन्द्रै घनानि वर्म्मायतना कृआतानि[7] निर्म्माल्यवान्त [8]—

७४ प्रति[मा]नि तानि के (को) नाम [सा *]धु [*] प्रतिराददीत[9] [।। *] षष्टि[10]वर्ष (र्ष) सह-स्राणि स्व [*] ग् [*] तिष्ठति भु (भू) मिद अ (आ) च्छेत्ता चानुमत् [।*] च्च (च) तान्येव नर—

७५ [के व] सेत् ।। भुव्वाटवीष्व[11]ते (तो) यामु[12]कोटरवासिन कृष्ण [। *]हयो हि जायन्तो (न्ते) भूमिद [। *] य हरन्ति य [*] ।। दूतके [13] उत्र महाप्रतीहा—

७६ [र] [14]ह् [ा] क्षपटलिकत्रराजकुल[15]श्रीसिद्धसेन [*] ग्री (श्री) शर्व्वटसुत [। *] तव (था) तन्नियुक्तप्रतिनर्त्तकुलपुत्रासा (मा)—

---

१ पढ़ें, व्वानित्यान्य् ।

२ पढ़ें, दान ।

३ उत्कीर्णक ने पहले स्पष्टत व्या उत्कीर्ण किया और पुन व्या करके शुद्ध किया ।

४ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ) ।

५ पढ़ें, व्वसुधा ।

६ छन्द, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का उपजाति ।

७ पढ़ें, आयतनीकृतानि ।

८ पढ़ें, वान्त ।

९ पढ़ें, पुनराददीत ।

१० छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले श्लोक में ।

११ पढ़ें, विन्ध्याटवीष्व् ।

१२ पढ़ें, शुष्क ।

१३ पढ़ें, दूतको ।

१४ यहां दो—अथवा सभवत तीन—अत्यन्त सदिग्ध अक्षर उत्कीर्ण हैं । डा० ब्यूलर ने इन्हें भोदेट पढा और इस प्रकार यहा व्यक्तिवाचक सज्ञा देट उत्कीर्ण था ऐसा माना । किन्तु, यहा केवल महाक्षपटलिक का म रहा होगा ।

१५ पढ़ें, पटलिकराजकुल । त्र निरर्थक है और इसका उत्कीर्णन कैसे हुआ, यह समझ सकना कठिन है ।

७७ त्यग्[़] हेन हेम्बटपुत्रेण लिखितमि[1]ति ॥ संव [त्] सरशतचतुष्टये सप्तचत्वारिङ्शदधिके ध्ये[2]ष्ठशुद्धपचम्या मङ्ग—

७८ ल [॰] सव[3] ४०० ४० ७ श्रे(ज्ये)ष्ठ यु (शु) ५ [॥*]स्वहस्तो मम[4] [॥*]

अनुवाद

ओन्! कल्याण हो! प्रसिद्ध नगर आनन्दपुर मे स्थित जयस्कन्धावार से[5]—(भगवान्) महेश्वर के परम भक्त श्री भटार्क मे—जो (अपने) शत्रुओ को बलात् अवनत करने वाले मैत्रको की अतुलनीय शक्ति वाली विशाल सेनाओं के साथ लड़े गए सैंकड़ो युद्धो मे अविगत यश के स्वामी थे, (तथा) जिन्होंने (अपने) प्रताप से पराभूत किए गए उपहार, सम्मान तथा सरल व्यवहार से जीते गए तथा अनुराग से (स्वय मे) अनुरक्त (अपने) आनुवंशिक अनुचरो की श्रेणी की शक्ति द्वारा राज्य-लक्ष्मी को प्राप्त किया था—अखण्डित वंशानुक्रम मे (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त श्री गुहसेन (हुए)—जिनके सभी पाप (अपने) माता-पिता के चरण-कमलो मे प्रणमन से धुल गए थे, बाल्यकाल से ही जिनकी तलवार वस्तुत. (उनके लिए) दूसरी भुजा ही थी[6], जिनकी शक्ति की परीक्षा (अपने) शत्रुओ के मदमत्त हाथियो के गण्डस्थलो पर तालाघात द्वारा प्रदर्शित हुई थी, जिन्होंने (अपने) चरण-नखो के किरण-जालो को (अपने) स्व-शक्ति से अवनत किए गए शत्रुओं की चूड़ाओ मे जटित रत्नो के साथ ससक्त किया था, सभी परम्परागत नियमो से विहित मार्ग से उपयुक्त अनुष्ठानो की रक्षा से (अपनी) प्रजाओ का हृदय प्रसन्न करने के कारण जिनकी 'राजा' की उपाधि प्रत्यक्ष तथा उचित थी; जो सौन्दर्य, शोभा, स्थिरता, गम्भीर्य, बुद्धि तथा धन मे (क्रमश.) (भगवान्) स्मर, चन्द्रमा पर्वतराज (हिमालय), समुद्र, देवताओ के गुरु (बृहस्पति), तथा (भगवान्) धनेश से बढ कर थे, जो, शरण मे आए हुओं को अभयदान देने मे प्रवृत्त होने के कारण, अपने पराक्रम के (अन्य) सभी परिणामो के प्रति इस प्रकार उदासीन थे मानो वे तृण (के समान मूल्यहीन) हो, जो (उनको) प्रार्थनाओ से (भी) अधिक धन प्रदान कर विद्वानो तथा (अपने) मित्रो एव प्रियजनो का हृदयानुरंजन करते थे, (तथा) जो मानों समस्त पृथ्वी-मण्डल की प्रसन्नता के मूर्तस्वरूप थे।

प० ७—उनके पुत्र, जिनके सभी पाप उनके चरण-नखो [की किरणो के॰] निरन्तर उद्भवन से निर्मित जाह्नवी (नदी) की जल-धारा से धुल चुके हैं, (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त श्री धरसेन—(द्वितीय) (थे),—जिनकी सपत्ति सैंकडो हजारो प्रियजनो का पोषण करती थी, जिनमे, मानो (उनके) सौन्दर्य की इच्छा ने, आकर्षक स्वरूप वाले (सभी) सुन्दर गुण उत्कण्ठापूर्वक समूहित थे; जो (अपनी) सहज शक्ति तथा अभ्यास (-जनित कौशल) की विशिष्टता से सभी धनुर्धरो को आश्चर्य चकित करते थे; जो पूर्ववर्ती राजाओ द्वारा दिए गए धार्मिक दानो के संरक्षक थे; जो (अपनी) प्रजाओ पर सभावित विपत्तियो के निवारक थे, जो धन तथा विद्या के एक (सम्मिलित) निवास स्थान (होने

---

१ जोडें, शासनम्।

२ पढें, ज्येष्ठ।

३ पढें, संवत्।

४ मूल मे ये दो अक्षर नीचे अंकित हस्ताक्षर की प्रतिकृति के साथ, प० ७७-७८ के अन्त मे बनी बन्धनी मे स्थित हैं।

५ वास्तविक संदर्भ प० ६४ मे है—"यशस्वी शीलादित्यदेव (सप्तम) सभी लोगो के प्रति यह आदेश देते हैं।"

६ द्र०, ऊपर पृ० २०६, टिप्पणी २।

को स्थिति) के व्याख्याता थे, जिनका पराक्रम (अपने) शत्रु-पक्ष की भाग्य-लक्ष्मी के उपभोग मे[1] दक्ष था, (तथा) जो (स्व-) शक्ति मे अधिगत निर्मल राजोचित शोभा के स्वामी थे।

प १०-उनके चरणो का ध्यान करने वाले उनके पुत्र (भगवान्) महेश्वर के परमभक्त श्री शीलादित्य (प्रथम) थे जिन्होंने धर्म की अनुरूपता से प्रकाशित धन, सुख और सपत्ति के अनुसरण मे धर्मादित्य का दूसरा नाम प्राप्त किया था,—जो समस्त मानव-जाति को प्रसन्न बनाने वाले (अपने) अद्भुत सुन्दर गुणो के आधिक्य से समस्त दिग्मण्डल का व्यापन करते थे, जो, सैकडो युद्धो मे प्राप्त विजय की शोभा से युक्त (अपने) चक्र की धार की चमक मे दीप्तिमान (अपने) कन्धे रूपी आसन पर महान इच्छाओ के गुरु भार का वहन करते थे, जो-यद्यपि (उनकी) बुद्धि सभी विद्याओ के अन्तिम भागो के अभिगम द्वारा विशुद्ध हो चुकी थी—अल्प भी सुन्दर वार्तालाप से सतुष्ट किए जा सकते थे, जो, किसी भी व्यक्ति द्वारा पार न पाई जाने वाली गम्भीरता युक्त हृदय का स्वामी होने पर भी, (अपने) सुन्दर कर्मो के आधिक्य द्वारा प्रकटीकृत परम कल्याणकारी प्रवृत्ति वाले थे, (तथा) जिन्होंने कृत युग के राजाओ के (सुन्दर चरित्र के) अवरुद्ध मार्ग को अवरोधहीन करने से महान प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

प० १४-उनके चरणों का ध्यान करने वाले उनके अनुज[2] (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त श्री खरग्रह (प्रथम) (थे)-जो, उनके आदर्शो की पूर्ति के उद्देश्यमात्र से[3], वृषभ श्रेष्ठ के समान (अपने) कधो पर उस राज्य-लक्ष्मी के जूए का वहन करते समय-जो अभी (अपने) ज्येष्ठ (भ्राता), जो कि (उनके प्रति) आदराधिक्य से उपेन्द्र के ज्येष्ठ (भ्राता) (भगवान् इन्द्र) के समान (व्यवहार करते थे), के लिए भी इच्छा का विषय थी-क्षीण न होने वाले [पराक्रम-] धन के स्वामी थे, (अपना) चरणपीठ (स्व-) शक्तिघन से पराभूत हुए सैकडो राजाओ की चूडाओ मे जटित रत्नो की शोभा मे आवृत होने पर भी, जो अन्य मनुष्यो के प्रति घृणा से (उत्पन्न) दर्प-भाव से रहित थे, (जिनके) शत्रुओ द्वारा, पौरुष तथा अभिमान के लिए प्रसिद्ध होने पर भी, प्रणमन के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय का उपयोग सफलतापूर्वक नही हो सकता था, जिनके विशुद्ध गुणो के समूहन से जगत् सुखी हुआ था, जिन्होंने (इस दुष्ट) कलि युग के विस्तृत कार्य-व्यापार का बलपूर्वक नाश किया, जिनका उदार हृदय तुच्छ जनो पर प्रभुत्व स्थापित करने वाले दोषों से स्पृष्ट नही था, जो पौरुष के लिए प्रसिद्ध थ, जो शास्त्रो के ज्ञान में अतुलनीय थे, (तथा) जिन्होंने, सगठित शत्रु राजाओ की भाग्य-लक्ष्मी द्वारा (स्वामी तथा पति के रूप मे) सहज ही चुन लिए जाने से, अपनी सर्वश्रेष्ठ वीर के रूप में गणित होने की उपलब्धि का प्रदर्शन किया था।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० २०७, टिप्पणी २।

२ द्र०, ऊपर पृ० २१८, टिप्पणी १।

३ अर्थात्, शीलादित्य प्रथम के आदेश।

४ उपेन्द्र इन्द्र के अनुज विष्णु का नाम है। यहाँ इन्द्र के स्वर्ग में स्थित वृक्ष के प्रश्न को लेकर (कृष्ण अवतार के रूप मे) विष्णु तथा इन्द्र के बीच हुई प्रतिद्वंदिता का संकेत है जिसमें विष्णु विजयी हुए तथा इन्द्र को उनके प्रति सम्मान प्रदर्शन करना पड़ा (द्र०, विष्णु-पुराण, ५ ३०, हाल द्वारा सपादित विल्सन का अनुवाद, जि० ५, पृ० ६७ इ०)। इस उपमा के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि कुल-नेतृत्व के प्रश्न को लेकर इन दो भाइयों—शीलादित्य प्रथम तथा खरग्रह प्रथम—मे पारस्परिक विरोध था जिसमें शीला-दित्य प्रथम को इस समस्या का समाधान अपने अनुज के पक्ष में करना पड़ा था।

प० १९–उनके चरणों का ध्यान करने वाले उनके पुत्र (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त श्री धरसेन (तृतीय) थे,–जिन्होने सभी विद्याओ मे दक्षता प्राप्त करके सभी विद्वज्जनो के मन मे अतिशय प्रसन्नता उत्पन्न किया, जिन्होने (अपनी) सज्जनता, धन तथा उदारता से तथा (अपनी) वीरता से (उनकी शक्ति के ऊपर) गहन विचार मे लगे होने से (उनके विरुद्ध) युद्ध मे समाप्त कार्य-शक्ति वाले (अपने) शत्रुओ की इच्छाओ रूपी चक्र-धुरी को तोड दिया, जो अनेक शास्त्रो के विभिन्न विभागो, कलाओ, विज्ञानो तथा मानव-कार्य-व्यापारो का सम्यक् अध्ययन कर चुके होने पर भी अत्यन्त सुन्दर स्वभाव के थे, जो सहज स्निग्ध भाव से युक्त, होने पर भी (अतिरिक्तरूपेण) विनय-शोभा से अलकृत थे, जिन्होने, सैकडो युद्धो मे विजय-पताकाओ के अपहरण-कर्म मे उठे हुए (अपने) भुज-दण्ड द्वारा (अपने) विरोधियो के दर्प-प्रदर्शन का विनाश किया था, (तथा) जिनके आदेशो का उन राजाओ की श्रेणी द्वारा प्रसन्तापूर्वक स्वागत होता था जिनका (अपनी) शस्त्र-प्रयोग की कुशलता से उत्पन्न दर्प उनके धनुष की शक्ति से दमित हो चुका था।

प० २२–उनके चरणो का ध्यान करने वाले उनके अनुज (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त श्री धरसेन (द्वितीय) थे[1], (जिनके) उदित होने से उत्पन्न जनानुराग द्वारा (सपूर्ण) विश्व के व्याप्त होने से जिनका प्रसिद्ध दूसरा नाम बालादित्य उपयुक्त अर्थ वाला प्रतिष्ठित हुआ[2],—उत्तम उपलब्धियो मे जो सभी पूर्ववर्ती राजाओ से बढ कर थे, जो कठिनाई से उपलब्ध होने वाले विषयो को भी सिद्ध करने वाले थे[3], जो, मानो मनु हो, सहज ही (अपनी) प्रजाओ का आश्रय बनते थे, जिनके विचारो के कार्य-व्यापार (उनके) महान सुन्दर गुणो के प्रेम मे परिवर्धित होते थे, जो सभी कलाओ तथा विज्ञानो मे दक्ष थे, जो सौन्दर्य मे (शोभावान् होने पर भी) कलकयुक्त (होने के कारण) चन्द्रमा को नीचा दिखाने वाले थे, जो (अपने) महान् प्रकाश से दिशाओ के अन्तराल को व्याप्त करने वाले थे, जो अन्धकार-पुज के विनाशक थे, सदैव उदित सूर्य सदृश जो (अपनी) प्रजाओ के ऊपर (सदैव) पूर्णतया अर्थवान (तथा) (उनकी भलाई के लिए) स्वय को विभिन्न विषयो मे व्यस्त रखने के परिणामस्वरूप उत्पन्न (तथा) (निरन्तर) प्रवर्धमान-विश्वास का आरोपण करने वाले थे, जो एक ओर युद्ध, शान्ति और समझौते को निश्चित करने मे निपुण और दूसरी ओर शब्दो की सधि, विच्छेद और समास-रचना मे निपुण होते हुए स्थान के अनुकूल आदेश देते हुए गुण[4], वृद्धि[5] एव राज-विधान के सस्कार से परिष्कृत पुरुषो के (आश्रयणीय) राजनीति-शास्त्र और पाणिनीय शास्त्र[6] दोनो मे ही अभिज्ञ थे, जो स्वभावत पराक्रमी होने पर भी करुणा के कारण नम्र हृदय वाले थे, जो शास्त्रो से सुपरिचित होने पर भी अभिमान शून्य थे, जो सुन्दर होने पर भी शान्त थे, (तथा) जो, मित्रता मे स्थिर होने पर भी, दोषयुक्त जनो का निरास करते थे।

प० २८–उनके पुत्र, जिनके चन्द्रमा के एक भाग के सदृश ललाट पर उनके-चरण कमलो के प्रति प्रणमन-कर्म मे पृथ्वी पर रगडने से लाछन बन गया था, (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त,

---

१ द्र०, ऊपर पृ० २१६, टिप्पणी ७।

२ यहा बालादित्य (='बाल-सूर्य, उदित होता हुआ सूर्य') के अर्थ पर शब्द-कौतुक है।

३ अथवा, "जो ऐसे भूप्रदेशो का भी विजेता था जिन्हे कठिनता से पराभूत किया जा सकता था।"

४ इ, ई, उ, ऊ, ऋ, तथा ॠ, तथा लृ का ए, ओ, अर्, अथवा र तथा अल् मे परिवर्तन।

५ अ, इ, ई, उ तथा ऊ, तथा लृ का आ, ऐ, औ, आर्, अथवा रा तथा आल् मे परिवर्तन।

६ चुकि वैयाकरण पाणिनि का जन्म शालातुर मे हुआ था। शब्द-कौतुक सधि, विग्रह तथा अन्य प्रयुक्त शब्दो के सामान्य तथा व्याकरण-सबद्ध अर्थो पर आधारित है।

परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर तथा चक्रवर्तिन्[1] श्री धरसेन (चतुर्थ)(थे)-जिनकी, बाल्यकाल से ही (अपने) कानों मे पहने हुए मणि-आभूषणो की शोभा के समान विशुद्ध शास्त्र ज्ञान मे विशिष्टता थी, (सतत) दानशीलता की धारा से जिनकी कमलागुलिया अभिषिक्त होती थी, जो, मानो (विवाह मे) मृदुतापूर्वक (उसके) हाथो को ग्रहण कर किसी कुमारी कन्या की प्रसन्नता मे वृद्धि कर रहे हो, इस प्रकार मृदु करारोपण द्वारा पृथ्वी की प्रसन्नता को बढाते थे, जो, मानो वह धनुर्विद्या (के मूर्तिमान रूप ही) हो, शीघ्रमेव सभी लक्ष्य विषयो को जान लेते थे, (तथा) जिनके आदेश (उनके) समक्ष अवनत सामन्तों की चूडाओ मे जटित रत्नो के समान थे।

प० ३२-उनके पितामह[2] (खरग्रह प्रथम) के (ज्येष्ठ) भ्राता-जो मानो (भगवान्) शार्ङ्गपाणि ही हो, ऐसे श्री शीलादित्य (प्रथम)[3] के पुत्र[4], (अर्थात्) श्री देरभट,- जो अनुराग के कारण (अपने) झुके हुए अ गो से प्रणाम करते थे, जिनका शिर उनके[5] चरण-कमलों के चरण-नख रूपी रत्नो से नि सृत प्रकाशमयी आभा द्वारा, मानो मन्दाकिनी (नदी) द्वारा, सदैव निर्मल रहता था, मानों अगस्त्य ही ऐसे जो, सभी ओर शिष्टता का प्रकाशन करते हुए, एक राजर्षि थे, जिन्होने सपूर्ण क्षितिज को अलकृत करने वाले (अपने) यश के अत्यन्त शुभ्र मण्डल द्वारा आकाश में चन्द्रमा के चारो ओर सपूर्ण मण्डल का निर्माण किया था (तथा) जो सह्य एव विन्ध्य (पर्वतो रूपी) सुन्दर स्तनो[6]-(उन पर स्थित) श्यामाभ मेघो से निर्मित (उनके) शिखर जिनके चूचको के समान हैं—वाली पृथ्वी के स्वामी थे,-के पुत्र[7] (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त श्री ध्रुवसेन (तृतीय) थे-जिन्होंने (उनके प्रति) अनुराग के कारण जो राजाओं के समूह मे से (उनको) पति रूप मे वरण करना चाहती है तथा जिसने (उनके) यशरूपी परिधान को धारण कर रखा है ऐसी राज्य लक्ष्मी को विवाह मे स्वीकार किया, जो कभी भी व्यर्थ न जाने वाले (अपने) पराक्रम का-मानो (अपने) दुर्धर्ष शत्रु-पक्ष को अवनत करने वाले चक्र पर-आलम्ब लेने वाले थे, जो, शरद ऋतु मे[8] उचित

---

१ मोनियर विलियम्स के सस्कृत शब्दकोश म चक्रवर्तिन् का अर्थ किया गया है—'वह शासक जिसके रथ के पहिए (=चक्र) बिना अवरोध के सर्वत्र प्रवर्तित होत है" अथवा "एक 'चक्र' अर्थात् समुद्र से लेकर समुद्र पर्यन्त भूभाग का शासक"। एक अन्य व्याख्या विष्णुपुराण, १ १३ श्लोक ४६ (द्र०, हाल द्वारा सपादित विलसन का अनुवाद, जि० १, पृ० १८३ तथा टिप्पणी १) मे दी गई है "सभी चक्रवर्तियों के हाथो पर (अन्य चिन्हों के साथ) (भगवान्) विष्णु का चिन्ह चक्र (पाया जाता है), और यह ऐसा शासक होता है जिसकी शक्ति का सामना देवता भी नही कर सकते।" 'चक्रवर्तिन्' शब्द का अर्थ है 'सार्वभौम शासक', यह सार्वभौम प्रभुसत्ता की परिचायक पारिभाषिक उपाधियो मे एक है यद्यपि यह अन्य उपाधियो के समान सामान्य नहीं है (द्र०, ऊपर पृ० १२, टिप्पणी २)।' इस धरसेन ने वर्ष ३२६ के स्वयं अपने दानलेख मे 'जो (अपने) श्री पितामह के चरणों का ध्यान करता था,' यह पद जोडा है (द्र०, ऊपर पृ० २१६, टिप्पणी १२)।

२ अर्थात्, अन्तिम उल्लिखित शासक धरसेन चतुर्थ के पितामह के।

३ ऊपर प० १८ मे उल्लिखित।

४ द्र०, ऊपर पृ० २१७, टिप्पणी १।

५ अर्थात् धरसेन चतुर्थ के चरण।

६ द्र०, ऊपर पृ० १०४, टिप्पणी २।

७ द्र०, ऊपर पृ० २१७, टिप्पणी ५।

८ यह युद्ध के लिए उपयुक्त समय है और साथ ही विवाह के लिए भी यह उपयुक्त समय है जैसा कि इस वाक्य के गौण अर्थ से सकेतित होता है जिसमें कि परभुवा का अर्थ 'उसके शत्रुओ की कन्याए' होगा।

प्रथानुसार पूर्ण आकृष्ट वाणो वाले (अपने) धनुष द्वारा अशान्त की गई शत्रु-भूमि से कर ग्रहण करने वाले थे, विविध वर्ण्य-विषयो से प्रकाशित शास्त्रो के अतिशय द्वारा पहले से ही अलकृत जिनके कान (अपरच) रत्नभूषण से अलकृत थे, मानो इनकी (शास्त्र-ज्ञान के साथ) पुन. पुनरावृत्ति की जा रही हो, (तथा) जो-(अपने) निरन्तर दान रूपी जल मे शोभायमान दीखते हुए शैवाल वृक्ष[1] के नवाकुर रूपी प्रकाशमान वलयो तथा सुन्दर कीट-पक्षो तथा रत्न-रश्मियो से आवृत्त हस्ताग्र को उठाए-हुए-(अपनी) भुजाओ से, रत्न-जटिल वलयो को पहने हुए जो समुद्र तटो के किनारो के समान व्यवहार करती थी, (सपूर्ण) पृथ्वी को आवेष्टित करते थे।

प० ३९-उनके ज्येष्ठभ्राता[2] अत्यन्त स्पष्ट तथा उपयुक्त रूप मे धर्मादित्य का दूसरा नाम धारण करने वाले (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त श्री खरग्रह (द्वितीय) थे-जिनका छरहरा शरीर स्वय भाग्य-लक्ष्मी द्वारा, मानो वह अन्य राजाओ के स्पर्श-दोष को नष्ट करना चाहती हो, सार्वजनिक रूपेण आलिंगित किया गया; जिन्होने (अपनी) अत्यधिक प्रतापपूर्ण उपलब्धियो से (अन्य) राजाओ की महानता का अतिक्रमण किया था, जिनके चरण-कमल (अपने प्रति) (उनके) अत्यधिक अनुराग की शक्ति से वलात अवनत सामन्त-समूह की चूडाओ मे लगे रत्नो की किरणो से खचित थे, जो (अपने) बडे तथा ऊ चे भुज-दण्ड से शत्रु-समूह के दर्प को भग करने वाले थे, जो स्वत सर्वत. प्रसरित होते हुए (अपने) अतिशय तेज से (अपने) सपूर्ण शत्रु-कुल को जलाने वाले थे, जो (अपने) प्रियजनो के प्रति (अपना सारा) धन दान कर देने वाले थे[3], जो गदा तथा सुन्दर चक्र चलाने वाले थे, जो बालोचित क्रीडाओ का तिरस्कार करने वाले थे, जो कभी भी ब्राह्मणो के प्रति अनुपयुक्त व्यवहार नही करते थे, जिन्होने (अपनी) शक्ति मात्र से (सपूर्ण) पृथ्वी-मण्डल पर अधिकार किया था, मूर्ख जनो के बीच अपना आसन लगने देने की जिनकी सहमति नही होती थी, जो अपूर्व प्रकार के व्यक्तियो मे सर्वोत्तम थे, जो, मानो वह धर्म के मूर्तिमान रूप हो, वर्णाश्रम धर्म के व्यवस्थापक थे, जिनकी उच्च तथा उत्कृष्ट धवल धर्म-ध्वजा का—(अपने) सरल मन के हर्ष मे अल्प लोभ से लोलुप हुए पूर्ववर्ती राजाओ द्वारा अपहृत देवो तथा ब्राह्मणो के प्रति दी गई भूमि के सग्रहण द्वारा तथा (पुन: उनके उपयोग को बने रहने देने की) अनुमति द्वारा प्रमुदित—त्रैलोक्य द्वारा अभिनन्दन होता था, जो अपने कुल यशवर्धन करने वाले थे, (तथा) जो, देवो, ब्रह्मणो और गुरुजनो की पूजा करने के उपरान्त समस्त दिग्मण्डल को, (पात्र) के गुणो के अनुसार (अपने द्वारा) निरन्तर प्रदान किए गए उद्रग[4] तथा अन्य (अधिकारो) के उदार दान की व्यवस्था से उत्पन्न (प्राप्त कर्त्ताओ के) सतोष से पाई गई उत्तम प्रसिद्ध द्वारा, पूरित करने वाले थे,

प० ४७ उनके ज्येष्ठ भ्राता[5] श्री शीलादित्य (द्वितीय)[6] के,—जिन्होने, (अपनी) प्रसिद्धि से—मानो वह कि कुमुद पुष्पो के सौन्दर्य को बढाने वाली पूर्ण-चन्द्र की चद्रिका हो—समस्त दिग्मण्डल को धवल बना दिया था, (तथा) जो पिसे हुए अगरु से निर्मित लेप-पिण्ड के समान श्यामाभ विन्ध्य

---

१ जल मे उत्पन्न होने वाला पौधा—Vallisneria Octandra ।

२ द्र०, ऊपर पृ० २१८ टिप्पणी १ ।

३ इस तथा कुछ अनुवर्ती श्लोकों मे, इनके गौण अर्थो द्वारा, उसकी भगवान् विष्णु से तुलना हुई है ।

४ द्र०, ऊपर पृ० १२०, टिप्पणी २ ।

५ द्र०, ऊपर पृ० २१८ , टिप्पणी ४ ।

६ द्र०, व्यूलर द्वारा दी गई वश-तालिका मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ५, पृ० २०८, तथा आर्क्यालाजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इण्डिया, जि० ३, पृ० २६) इस शीलादित्य को, चू कि इसने शासन नहीं किया, इस कारण,

पर्वतों रूपी भारी स्तनो वाली पृथ्वी के स्वामी थे—पुत्र परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर श्री शीलादित्यदेव (तृतीय) थे —जो प्रतिदिन अपना पर्व बढाते हुए नूतन शीतल किरणो वाले (चन्द्र) के समान (अपनी) उपलब्धियो के चक्र को बढाने वाले थे, जो, पर्वत पर स्थित वन को अलकृत करने वाले युवा सिंहराज के समान, राज-लक्ष्मी को अलकृत करने वाले थे, जो, मयूर की पताका वाले (भगवान् कार्त्तिकेय) के समान शिर पर मुन्दरचूडा से अलकृत तथा महान शक्ति और प्रभाव से समृद्ध थे, जो [उष्णता से युक्त एव कमल पुष्पो को प्रस्फुटित करने वाले*] शरदागम के समान [यश-सम्पन्न तथा प्रभूत धन के स्वामी*] थे[1], [जो, जिस प्रकार कि उष्ण बाल-सूर्य (अपने उदित होने के समय भी) मेघो को विदीर्ण कर देता है युद्ध मे (अपने) शत्रुओ के हाथियो का विदारण करने वाले थे*], [जो युद्ध मे (अपने) शत्रुओ के जीवन का अपहरण करने वाले थे *] जो (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त थे, (तथा) जो परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर (अपने) श्री पितृव्य[2] के चरणो का ध्यान करने वाले थे,

प० ५१—उनके पुत्र परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर श्री शीलादित्य (चतुर्थ) थे—[जिन्होंने, दूसरी सृष्टि की रचना करते हुए] परम ऐश्वर्य [प्राप्त किया*][3], जिनकी महान् प्रसारित प्रतापाग्नि क्रोध से आकृष्ट (जिनके) तलवार के प्रहार से विदीर्ण शत्रु-हाथियो के गण्डस्थलो पर क्रीडा करती थी, जिन्होंने चारो ओर से प्राकार के आवेष्टन द्वारा पृथ्वी पर दृढ स्थिति प्राप्त किया था, समस्त पृथ्वी-मण्डल को आवेष्टित करने वाले अपने शक्ति सपन्न भुजदण्ड से लटकती हुई मन्थन यष्टि के उद्वेलन से मथित दुग्ध-समुद्र से उद्भूत फेन-पिण्ड के सदृश धवल यश वितान जिनका छत्र था, जो (भगवान) महेश्वर के परम भक्त थे, (तथा) जो परमभट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर (अपने) श्री पिता[4] के चरणो का ध्यान करने वाले थे।

छोड दिया गया है और इसकी सख्या नहीं दी गई है, जिसके परिणामस्वरूप इस दान को देने वाले शीलादित्य को शीलादित्य सप्तम न कह कर शीलादित्य षष्ठ कहा गया है। इस व्यवस्था को मानने पर हमे यह असुविधा होगी कि इस वश के इतिहास से सबधित किसी भी चर्चा में इसका गोल-मोल उद्धरण देना पडेगा और इसके पिता, पुत्र अथवा भाई का विशिष्ट उल्लेख देना होगा। वह सीधी वश-परम्परा में आता है और अतएव सभी दृष्टिकोणो से यह आवश्यक हो जाता है कि अपने पितामह तथा इस नाम वाले अन्य वशजो के समान उसकी भी सख्या दी जाय।

१ द्र०, ऊपर पृ० २१६, टिप्पणी १।

२ बाव। द्र०, ऊपर पृ० २१६, टिप्पणी २, तथा नीचे टिप्पणी ४।

३ द्र०, ऊपर पृ० २१६, टिप्पणी ३। इस अवतरण मे शीलादित्य चतुर्थ को, परमेश्वर के नाम के अन्तगत तथा सृष्टि के स्रष्टा के रूप मे भगवान् शिव के समान बताया गया है (द्र०, ऊपर पृ० १८६, टिप्पणी १)।

४ बप्प। यह शब्द ऊपर प० ५० में पहले ही आ चुका है, किन्तु वहा यह गलती से बाव (='चाचा') के स्थान पर अकित हो गया है। परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीबावपादानुद्ध्यात विरुद मे सार्वभौम उपाधियों से विशेषित हुआ बाव शब्द वस्तुत १ केवल उसके अपने पुत्र शीलादित्य चतुर्थ के वर्ष ३७२ के दानलेख की प० ४६ में भगवान् महेश्वर (शिव) के परम भक्त परमभट्टारक महाराजाधिराज तथा परमेश्वर शीलादित्य तृतीय के लिए (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ५, पृ० २१२ तथा आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० ३, पृ० ९९) तथा शीलादित्य पचम के वर्ष ४०३ के दो दानलेखों की क्रमश प० ४५

प० ५३—(उनके पुत्र) परमभट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर श्री शीलादित्य देव (पंचम) [थे]—जिनके चरण-कमल (अपने) प्रताप से (उत्पन्न) अनुराग के कारण प्रणमन करने वाले सामन्तो की चूडाओ मे जटिल रत्नो की किरणो से आवृत होने से रंजित थे, जो (भगवान्)

तथा ४६ मे (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ११, पृ० ३४३) में आता है। बाव के प्रयोग का कोई अन्य दृष्टान्त मेरे ज्ञान में नहीं है। बप्प शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक सामान्य है। वलभी दानलेखो मे अकित परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीबप्पपादानुद्ध्यात विरुद मे यह उन्हीं सार्वभौम उपाधियो द्वारा विशेषित मिलता है, यह विरुद २ इस स्थान पर नीचे प० ५४–५५, प० ५७–५८ तथा पं० ६३ मे, एव अन्य दानलेखो मे शीलादित्य चतुर्थ, पचम, षष्ठ, तथा सप्तम–जिनमे से प्रत्येक निर्बाध अनुक्रम में अपने पिता के पश्चात् आया और जिनमे से प्रत्येक ने परम-भट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर की सर्वभौम उपाधिया धारण कीं और जिनमे से प्रत्येक को भगवान् महेश्वर का परमभक्त कहा गया है–के लिए प्रयुक्त मिलता है। अन्य राजकुलो के संबद्ध अभिलेखों मे, बप्पपादानुद्ध्यात पद को, बप्प को विशेषक उपाधियो के बिना, ३ नेपाल के भट्टारक तथा महाराज शिवदेव प्रथम के विरुद के रूप मे(इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ९८, प० १–२), ४ भगवान् पशुपति अर्थात् शिव के चरणो के प्रिय कहे गए, नेपाल के महासामन्त अशुवर्मन् के विरुद के रूप मे (वही, जि० ९ पृ० १६९, स० ६, प० २, तथा पृ० १७०, स० ७, प० ४–५), ५ नेपाल के विष्णुगुप्त–जिसे भी भगवान पशुपति के चरणों का प्रिय कहा गया है—के विरुद के रूप मे (वही, जि० ९, पृ० १७१, स० ९, प० ४ तथा पृ० १७३, स० १०, प० ६–७), ६ नेपाल के परमभट्टारक तथा महाराजाधिराज शिवदेव द्वितीय–जिसे भी भगवान् महेश्वर का परम भक्त कहा गया है—के विरुद के रूप मे (वही, जि० ९, पृ० १७४, स० १२, प० २, तथा पृ० १७६, स० १३, प० २) प्रयुक्त किया गया है। यही पद–अर्थात् बप्पपादानुद्ध्यात जिसमे बप्प शब्द सामन्तपदवाची विरुदो महाराज तथा भट्टारक से विशेषित होता है–हमे परमदैवतबप्प-भट्टारकमहाराजश्रीपादानुध्यात मे प्रयुक्त मिलता है जो कि ७ नेपाल के भट्टारक तथा महाराज वसन्तसेन का विरुद है (वही, जि० ९, पृ० १६७, स० ३, प० १–२) और अन्तत , लगभग समानार्थक पद, बप्पपादभक्त-जिसमे बप्प शब्द भट्टारक उपाधि द्वारा विशेषित होता है–हमें बप्पभट्टारकपादभक्त विरुद मे मिलता है जो कि ८ पल्लव महाराज सिंहवर्मन् द्वितीय–जो कि भगवद् अर्थात् विष्णु का परम भक्त था—के लिए (वही, जि० ५, पृ० १५५, प० १३). ९, वेंगि महाराज विजयनन्दिवर्मन्–जिसे भी भगवद् का परम भक्त कहा गया है—के लिए (वही, जि० ८, पृ० १६८, प० १४–१५) के लिए प्रयुक्त मिलता है, तथा, बप्प-भट्टारकमहाराजपादभक्त विरुद मे यह अन्य अतिरिक्त विशेषक उपाधि के साथ उल्लिखित मिलता है, और यह विरुद ११ पल्लव युवमहाराज विष्णुगोपवर्मन्–जिसे भी भगवद् का परम भक्त कहा गया है–के लिए प्रयुक्त हुआ है (वही, जि० ५, पृ० ५१, प० १४)। श्री वी० एन० मण्डलिक ने (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ११, पृ० ३३५, टिप्पणी) बप्प तथा बाव शब्दो को एक ही शब्द माना और यह मत व्यक्त किया कि ये 'किसी शैव आचार्य अथवा इस नाम के किसी विशिष्ट राजा' का निर्देश करते हैं, किन्तु इसके साथ प्रयुक्त विशेषणो को देखने पर पहली सभावना अधिक जान पड़ती हैं, अथवा, जैसा कि पुन उन्होंने अपना मत प्रकाशन किया कोई 'साधु जिसका हिन्दुस्तान के सभी प्रदेशो मे समानरूपेण आदर होता था।' डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने भी (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १६७, टिप्पणी १७) अपना यह मतप्रकट किया है कि बप्प 'प्रमुख पुरोहितों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली सामान्य उपाधि है।' और स्वय मैंने, (वही, जि० १०, पृ० ५७ ६०, टिप्पणी ४) यह सुझाव रखा है कि यह नाम 'अत्यन्त प्राचीनकालीन किसी राजा अथवा पुरोहित या पुजारी का है जिसकी प्रभुता उसके अपने समय मे सर्वत्र स्वीकारी जाती थी और कालान्तर मे बहुसंख्यक विभिन्न राजकीय कुलो की परम्परा में

महेश्वर के परम भक्त थे, (तथा) जो परमभट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर (अपने) श्री (पिता) के चरणों का ध्यान करने वाले थे।

सुरक्षित रही।' किन्तु पूर्वकाल में सुझाई गई इस व्याख्या को नहीं माना जा सकता है। सर्वप्रथम तो यह-विपद जिसमें बप्प शब्द आता है ऊपर के १ से लेकर ६ तक के दृष्टान्तों में यह असंदिग्धरूपेण शैव मतावलम्बी व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, किन्तु ८ से लेकर ११ तक के दृष्टान्तों में यह प्रदर्शित होता है कि इसका प्रयोग वैष्णव मतानुयायी लोगों के साथ भी हो सकता था। दूसरे, जैसा कि डा० ब्यूलर ने बताया है (वही, जि० ५, पृ० २०८ इ०) महाराज की सामन्तपदधारी उपाधियों में, जिसमें बप्प शब्द ऊपर के सं० ७ तथा ११ में विशेषित होता है, तथा और भी परमभट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर की सार्वभौमपदवाची उपाधियों में, जिनमें यह शब्द सं० के अन्तर्गत आने वाले दृष्टान्तों में विशेषित होता है, यह प्रदर्शित होता है कि यह शब्द किसी राजकुलोत्पन्न व्यक्ति के लिए ही प्रयुक्त हुआ है तथा चाहे वह कितना भी ऊंचे पद पर स्थित क्यों न रहा हो—यह किसी पुजारी का निर्देश नहीं कर सकता। जहां तक बप्प के व्यक्तिवाचक संज्ञा होने का प्रश्न है निम्न दृष्टान्तों में यह इस रूप में अवश्य प्रयुक्त हुआ मिलता है बलाधिकृत तथा भोगिक बप्प—इस राजकीय कर्मचारी के नाम के रूप में (वही, जि० ५, पृ० २१२, तथा आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टन इण्डिया, जि० ३, पृ० ९६, प० ५६), किसी ऐसे व्यक्ति के नाम के रूप में जिसका ऊपर वलभी में स्थित बप्पपादीयविहार (= 'बप्प के चरणों का बौद्ध विहार') का नाम पड़ा (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० १२, प० १६), परिव्राजक महाराज हस्तिन् के वर्ष १६३ में तिथ्यंकित खोह दानलेख में उल्लिखित दान-प्राप्तकर्ताओं में एक नाम बप्पस्वामिन् में (ऊपर सं० २२, पृ० १०३, प० ११), वाकाटक महाराज प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक दानलेख की प० ८३ में उल्लिखित दान प्राप्तकर्त्ताओं में एक नाम बप्पार्य में (नीचे, सं० ५५, प्रति० ३४, प० ७३), तथा विक्रम, सम्वत् ८०० से ८९५ के बीच में रह आने वाले एक जैन आचार्य बप्पभट्टि के नाम में (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० २५३)। यही नाम संभवतः बप्पूर नामक उस राजकुल के नाम का घटक है जिससे कि जैसा कि सर इलियट के एक अप्रकाशित लेख में कहा गया है (डायनेस्टीज आफ द कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स, पृ० १९, २२), प्रारम्भिक चालुक्य शासक पुलकेशिन् प्रथम की पत्नी दुर्लभदेवी संबद्ध थी। एक समान शब्द, बाप्प, जो संभवतः इसी से व्युत्पन्न हुआ है, बाप्पदेव में आता है जो कि प्रवरसेन द्वितीय के सिवनी दानलेख में उल्लिखित एक सेनापति का नाम है (नीचे, सं० ५६, प्रति० ३५, प० ३५)। और अन्ततः, मेवाड़ की परम्परा के अनुसार, बप्प एक प्रारम्भिक गोहिल प्रमुख की अपेक्षाकृत अधिक ज्ञात संज्ञा के रूप में सुरक्षित है जिसे भिल्लों अथवा मौर्यों को पराभूत कर गोहिल वंश की स्थापना का श्रेय दिया जाता है (द्र० टाड की एनल्स आव राजस्थान, अध्याय २, कलकत्ता पुनर्मुद्रण, जि० १, पृ० २३८ इ०, अपरञ्च, पृ० १७१, २५३, २५८ इ०, अपरञ्च इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० २७५, टिप्पणी ६)। किन्तु, ऊपर इस विचार का कि सम्प्रति विचाराधीन पारिभाषिक अभिव्यक्ति में बप्प शैव अथवा वैष्णव मतानुयायी किसी ऐसे पुरोहितविशेष का निर्देश करता है जिसकी स्मृति अत्यन्त प्राचीन काल से भारत के विभिन्न भागों में सुरक्षित रखी गई थी—निरास किया जा चुका है। और यदि ऐसा था तो इस मान्यता को स्वीकार करने पर कि यह शब्द एक व्यक्तिवाचक संज्ञा है यह कल्पित करना कठिन है कि कैसे एकदम समान परिस्थितियों में देश के विभिन्न भागों में तथा इतने पृथक् पृथक् कालों में—जैसे कि ऊपर २ से ११ तक के दृष्टान्तों से प्रदर्शित होता है—यह शब्द समय-समय पर बार-बार प्रयोग में आया। इस शब्द की सही व्याख्या मेरे मस्तिष्क में उस समय आई जब कि मैंने उस ढंग पर ध्यान दिया जिसमें बप्प को विशेषित करने वाली उपाधियां इन व्यक्तियों की उपाधियों के अनुसार अलग अलग होती हैं जिनके

प० ५५—उनके पुत्र परमभट्टारक, महाराजाधिराज, तथा परमेश्वर श्री शीलादित्य देव (षष्ठ) (थे),—जो (अपने) शत्रुओ की शक्ति के दर्प का विनाश करने वाले थे, जो प्रचुर विजय के मगल-आश्रय थे, जिनका वक्ष स्थल भाग्य-लक्ष्मी के आलिगनो से लालित था, जिनकी अपरिमित

प्रति कि बप्पपादानुध्यात विरुद का प्रयोग होता है, तथा इसकी पूर्णत पुष्टि श्री अज्जकपादानुध्यात विरुद से होती है जिसका प्रयोग केवल धरसेन चतुर्थ के लिए ही उसके वर्ष ३२६ के पूर्ण दानलेख मे (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १०, पृ० ७९, प० ३८, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १, पृ० १६) तथा उसके उसी वर्ष के उस दानलेख मे हुआ है जिसके द्वितीय पत्र का केवल अनुवाद प्रकाशित हुआ है (इण्डियम ऐन्टिक्वेरी, जि० १, पृ० ४५) । यह पद—जो यदि पूर्णतया उपेक्षित न हुआ होता तो इस समस्या का समाधान बहुत पहले हो गया होता—वलभी के परवर्ती सभी दानलेखो मे, यहा तक कि स्वय धरसेन चतुर्थ के वर्ष ३३० मे तिथ्यकित लेखो मे, छोड दिया गया, इस विलोपन का कारण सभवत शीलादित्य प्रथम तथा खरग्रह प्रथम के बीच स्थित शासकीय सम्बन्धो मे कोई ऐसी बात थी जिसका ज्ञान होना अभी शेष है । किन्तु, यह इन दो दृष्टान्तो मे आता है, और डा० आर० जी० भडारकर के अनुवाद के अनुसार (वही, जि० १, पृ० १६) इसका असदिग्धरूपेण यह अर्थ है "(अपने) श्री पितामह के चरणो का ध्यान करते हुए" । आधुनिक काल मे, कनारी भाषा मे अज्ज तथा मराठी भाषा मे अजा और आजा "पितामह" के लिए प्रयुक्त होने वाले सामान्य शब्द हैं । और यह स्पष्ट है कि अज्जक वह प्राचीनतर प्राकृत शब्द है जिससे ये शब्द व्युत्पन्न हुए हैं । इस समवृत्तिता के आधार पर बप्प अनायास ही आधुनिक बाप ('पिता') का प्राचीन प्राकृत रूप जान पडता है । और अब यह स्पष्ट हो जाता है कि सार्वभौम शासक शीलादित्य चतुर्थ तथा उसके उत्तराधिकारियो के सबध मे क्यो यह शब्द सार्वभौम उपाधियो से विशेषित हुआ है—जिसका कारण यह था कि इनमे से प्रत्येक का पिता स्वयमेव एक सार्वभौम शासक था, और, दूसरी ओर, सामन्तो के प्रसग मे क्यो यह शब्द या तो किसी भी विशेषक उपाधि से रहित है या—जैसा कि वसन्तसेन सिंहवर्मन्, विजयनन्दिवर्मन्, नन्दिवर्मन् तथा विष्णुगोपवर्मन् के प्रसग मे देखा जाता है—इसके साथ केवल सामान्त पदवाची महाराज तथा भट्टारक उपाधियो का प्रयोग हुआ है । इस नियम से यह भी ज्ञात होता है कि क्यो शिवदेव द्वितीय—जो कि स्वय एक सार्वभौम शासक था—के प्रसग मे बप्प के साथ कोई विशेषक शब्द नही मिलता, इसका कारण यह था कि जिस रूप मे नेपाल लेख स० १५ की प० ११-१२ मे (वही, जि० ९, पृ० १७८, और भी द्र०, जि० १४, पृ० ३४८) उसकी चर्चा हुई है उससे यह प्रदर्शित होता है कि उसने ठाकुरी वश की एक नई शाखा की सस्थापना की तथा उसका पिता नरेन्द्रदेव—महाराज पद का उपभोग करने पर भी—कम से कम सार्वभौम शासक नही था । और इसी नियम द्वारा इस बात की भी व्याख्या हो जाती है कि क्यो सार्वभौम शासक धरसेन चतुर्थ के प्रसग मे अज्जक सामान्य उपाधि श्री के अतिरिक्त अन्य किसी उपाधि से नही विशेषित हुआ है—क्योकि, वह अपने वश का प्रथम सार्वभौम शासक था, तथा उसका पितामह खरग्रह प्रथम अधिक से अधिक एक महाराज मात्र था । अज्जक तथा बप्प की समवृत्तिता बाव शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए पूर्णतया पर्याप्त है । इससे तुरन्त यह सुझाव उभरता है कि यह उस प्राचीनतर शब्द के अतिरिक्त और कुछ नही है जिससे कि, कुछ भिन्न अर्थों मे, मराठी भाषा के बाबा ('पिता अथवा किसी अन्य गुरुजन के लिए सम्मान-सूचक शब्द') तथा भावा (='पति का भाई, विशेषरूपेण बडा भाई) शब्द और कनारी भाषा के बाव (='माता के भाई का पुत्र अथवा पिता की बहन का पुत्र, किसी व्यक्ति का बहनोई अथवा किसी औरत 'के पति का भाई'—इन सभी सबधो मे, यदि वह अपने से बडा है) तथा भाव (='पति अथवा पत्नी का ज्येष्ठ भ्राता, मामा का पुत्र'—इन सभी सबधो मे, यदि वह अपने से बडा है) शब्द व्युत्पन्न हुए हैं । शीलादित्य तृतीय के सबध मे इसके प्रयोग पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि उसके पिता शीलादित्य द्वितीय

शक्ति नृसिंह रूप वाले[1] (भगवान् विष्णु) से भी बढ कर थी, जिन्होंने विरोधी राजाओं के विनाश

ने शासन किया ही नहीं जिससे यह व्याख्यायित होता है कि क्यों उसके प्रसग मे बप्पपादानुध्यात विरुद का प्रयोग नहीं हुआ है, तथा, दूसरी ओर, हम यह देखते हैं कि उसके पूर्व केवल उसके पिता का दूर का भाई धरसेन चतुर्थ ही सार्वभौम शासक था, जहा तक सार्वभौम प्रभुता का प्रश्न है धरसेन चतुर्थ ही उसका निकटतम पूर्ववर्ती शासक था। इससे प्रदर्शित होता है कि, कम से कम इस दृष्टान्त मे, बाव शब्द का प्रयोग 'पिता की ही पीढी के पुरुष सबधी' अथवा स्थूलरूपेण 'चाचा' के अर्थ में हुआ है, तथा इससे यह व्याख्यायित होता है कि क्यों यहा पर बाव सार्वभौमपद वाली उपाधियो मे विशेषित किया गया है। और यह तथ्य विशेष की इस पारिभाषिक पद के प्रथम प्रयोग के बाद वलभी वश–क्रम प्रत्येक दृष्टात मे पिता–पुत्र परम्परा में चलता रहा इसकी व्याख्या प्रदान करता है कि क्यो बाव पादानुध्यात पद पुन प्रयुक्त नहीं मिलता। कनारी भाषा मे बोप्पन–सिङ्ग=[(अपने) पिता का सिंह] विरुद मे–जो कि कार्तवीर्य चतुर्थ के पुत्र तथा उत्तराधिकारी रट्ट प्रमुख लक्ष्मीदेव द्वितीय के लिए प्रयुक्त हुआ है (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० ३, पृ० ११३, प० ६३-६४)–बप्प शब्द बोप्प रूप मे मिलता है (मैन्डसन के सस्करण मे प्रकाशित रीव के कनारी शब्दकोश मे इस शब्द को अधिकाश हिन्दू भाषाओं का सामान्य शब्द बताया गया है)। सबधसूचक अन्य शब्दों के समान व्यवहार के आधार पर मैं इसकी पुष्टि मे इन दृष्टान्तों को उद्धृत कर सकता हूं अय्यनसिङ्ग[=' (अपने) पिता का सिंह] जो कि कोलापुर के शिलाहार प्रमुख गण्डरादित्य की एक उपाधि है (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १३, पृ० ३, प० २१) तथा उसके पुत्र विजयादित्य की भी उपाधि है (डायनेस्टीज आव द कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स, पृ० १०५), [मानवसिङ्ग='(अपने) श्वसुर का सिंह'] जो कि दण्डनायक केशवादित्यदेव के लिए प्रयुक्त हुआ है (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इडिया, जि० ३, पृ० १०६, प० १७-१८) अण्णनगन्धवारण =[(अपने) ज्येष्ठ भ्राता का उत्कृष्टतम हाथी'] जो उसी अभिलेख मे दण्डनायक सोमेश्वरभट्ट के लिए प्रयुक्त हुआ है (वही प० ११-१२), अण्णनङ्ककार [='(अपने) ज्येष्ठ भ्राता का समर्थक अथवा लड़ैत] जो सिन्द प्रमुख आचुगि द्वितीय के लिए प्रयुक्त हुआ है (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ११, पृ० २४७, पृ० ६) तथा मावनङ्ककार [='(अपने) चाचा अथवा अपने पिता की ही पीढ़ी के किसी अन्य सबधी का योद्धा अथवा'] जो कि गोकिदेव नामक एक शिलाहार प्रमुख के लिए प्रयुक्त हुआ है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० १६, प० ४६)। अन्य सदृश उपाधिया जो–सबधसूचक शब्दो के स्थान पर व्यक्तिवाचक सज्ञाओं के प्रयोग द्वारा–इसकी व्याख्या में सहायता पहुँचाती हैं, वे हैं सेननसिङ्ग [(='सेन का सिंह'] जिसका कि रट्ट प्रमुख कार्तवीर्य द्वितीय, जो सेन प्रथम का पुत्र तथा उत्तराधिकारी था, के लिए प्रयोग हुआ है (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १०, पृ० २१ ३, प० ७), तैलनसिङ्ग (='तैल का सिंह) जिसका वनवासी के कादम्ब प्रमुख कीर्त्तिवर्मन् द्वितीय, जो तैल प्रथम का पुत्र तथा उत्तराधिकारी था, के लिए प्रयोग हुआ है (डायनेस्टीज आफ द कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स, पृ० ८५), तैलमनअङ्ककार (=''तैलम का समर्थक अथवा लड़ैत)] जिसका प्रयोग उसी कुल के कामदेव, जो तैलम का पुत्र तथा उत्तराधिकारी था, के लिए हुआ है (वही, पृ० ८६), तथा गोंकन्-अङ्ककार (='गोक का समर्थक लड़ैत अथवा') तथा गूहेयनसिंग (=–'गूहेय का सिंह') जिनका प्रयोग शिलाहार प्रमुख मारसिंह, जो गोंक का पुत्र तथा उत्तराधिकारी था एव गूहल अथवा गूवल प्रथम का भतीजा था, के लिए हुआ है (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, के पृथक् प्रकाशन का स० १०, पृ० १०३, प० २८)।

१ जबकि उन्होंने हिरण्यकशिपु नामक असुर–जिसने ब्रह्मा से यह वरदान प्राप्त किया था कि वह न तो किसी देवता द्वारा मारा जा सके, न किसी मनुष्य द्वारा और न किसी पशु द्वारा–के वध के लिए वह अवतार धारण किया जिसमें उनका आधा रूप मनुष्य का था और आधा रूप पशु का।

द्वारा समस्त पृथ्वी को सुरक्षित किया था, जो पुरुषोत्तम थे, जिन्होने सम्पूर्ण दिशाओ रूपी वधुओं के मुखो को (अपने) समक्ष प्रणमित होने वाले शक्तिशाली राजाओ के किरीटो मे जटित माणिक्य-रत्नो से प्रकाशमान (अपने) पैरो के नख-रश्मियो से रजित किया था, जो (भगवान्) महेश्वर के परमभक्त थे, (तथा) जो परमभट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर (अपने) श्री पिता के चरणो का ध्यान करने वाले थे।

प० ५८—राजाधिराजो तथा परमेश्वरो के कुल मे उत्पन्न (तथा) महान् सुख के स्वामी उनके पुत्र श्री ध्रूभट[1] की विजय है,—जो कि अपनी दुस्सह वीरता के आधिक्य के लिए प्रसिद्ध है, जो भाग्य-लक्ष्मी के निवास-स्थान हैं, जिन्होने नरक के विनाश के लिए प्रयास किया है, जिन्होंने पृथ्वी की रक्षा को (अपना) एकमात्र निश्चय बनाया है, जिनका यश पूर्ण चन्द्र की किरणो के समान निर्मल है,—जो अपने तीनो (वेदो) के ज्ञान से गुणवान् है, जिन्होने (अपने) शत्रु-पक्ष को पराभूत किया है, जो सुख के स्वामी है जो सदैव सुख प्रदान करने वाले हैं, जो ज्ञान के निवासगृह हैं, जो सभी लोगो द्वारा प्रशसित विश्व के रक्षक हैं, जो विद्वज्जनो द्वारा सेवित है, जो पृथ्वी पर दूर-दूर तक प्रशसित हैं, जो रत्नो से प्रकाशमान हैं, जो सुन्दर शरीर वाले हैं, जो सुन्दर गुणो रूपी रत्नो के पुज हैं, जो प्रभुता तथा शक्ति के उत्कृष्टतम गुणो से सपन्न हैं, जो सदैव जीवनयुक्त प्राणियो के प्रति उपकार करने मे नियत हैं, जो—मानो वह (भगवान्) जनार्दन के अवतार हो—दुष्टो के दर्प का दमन करने वाले है,—जो युद्ध मे गज-व्यूह के विघटन मे परम कुशल है, जो पुण्य के निवास स्थान हैं, (तथा) जिनकी महान् शक्ति का (समस्त) पृथ्वी पर गायन होता है।

प० ६३—[तथा वे*] (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त, परमभट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर श्री शीलादित्यदेव (सप्तम)—जो कि परमभट्टारक, महाराजाधिराज, तथा परमेश्वर (अपने) श्री पिता के चरणो का ध्यान करने वाले हैं—सभी लोगो के प्रति यह आदेश जारी करते हैं—

प० ६४—"आपको यह विदित हो कि (अपने) माता-पिता के तथा स्वय अपने पुण्य की वृद्धि के लिए, (तथा) इस लोक एव परलोक दोनो मे फल-प्राप्ति के लिए प्रसिद्ध खेटक आहार मे उप्पलहेट पथक मे स्थित महिलवली[2] नामक गाव-उद्रग (तथा) उपरिकर के साथ, समयानुसार वेगार (के अधिकार) के साथ, भूत तथा वात[3] नामक कर के साथ, दश अपराधो[4] (के करने पर आरोपित

१ द्र०, ऊपर पृ० २१२, टिप्पणी १।

२ अथवा, सभवत महिलावली।

३ द्र०, ऊपर पृ० २०६, टिप्पणी १।

४ सदशापराध। यह एक पारिभाषिक राजस्व विषयक शब्द है जिसका राजपत्रो मे सतत प्रयोग होता हुआ मिलता है, अभी तक मैं इस पद की सर्वथा निश्चित व्याख्या नही पा सक हू। किन्तु श्री स० च० चिटनिस ने मुझे इससे अवगत कराया है कि काशीनाथोपाध्याय के धर्मसिन्धुसार, अ० २, श्लोक १६ इ० मे हमे निम्न अवतरण मिलता है अदत्तानामुपादान हिंसा चैवाविधानत ॥ परदारोपसेवा च कायिक त्रिविध स्मृतम्। पारुष्यमनृत चैव पैशुन्य चापि सर्वश ॥ असबद्धप्रलापश्च वाङ्मय स्याच्चतुर्विधम्। परद्रव्येष्वभिध्यान मनसानिष्टचिन्तनम् ॥ वितथाभिनिवेशश्च मानस त्रिविध स्मृतम्। एतानि दश पापानि हर त्व मम जाह्नवी ॥ दशपापहरा] यस्मात्तस्माद्दशहरा स्मृता—"अदत्त वस्तुओ का ग्रहण (चोरी), शास्त्रोक्त विधान के अनुसार हिंसा, पर-स्त्री-गमन ये शरीर के तीन (पाप) बताए गए हैं, भाषा की कटुता, असत्य, सभी ओर चुगलखोरी करना, तथा असवद्ध प्रलाप, ये वाणी के चार (पाप) बताए गए हैं, दूसरे के धन का लोभ, (तथा) मन मे अनुचित बातो का चिन्तन, एव अयथार्थ के प्रति दृढग्राहिता, ये मन के तीन (पाप)

किए जाने वाले दण्ड शुल्को) के साथ, (इनके) भोगो तथा भागो के साथ, अन्न, सुवर्ण तथा आदेय के साथ, किसी भी राजकीय कर्मचारी द्वारा (अवाछित अपहरण के) हाथो द्वारा सकेतित (तक) न हो (इस विशेषाधिकार के साथ), (तथा) देवताओ एव ब्राह्मणो के प्रति पूर्वदत्त दानो के अपवाद के साथ—मेरे द्वारा बलि, चरु, वैश्वदेव, अग्निहोत्र तथा अतिथि यज्ञो तथा अन्य (अनुष्ठानो) के सम्पादन के विपुल जल तर्पण के साथ, भूमिच्छिद्र नियम के अनुसार ब्राह्मण को दिए जाने वाले दान की शर्तो के साथ—चन्द्र, सूर्य, समुद्र, पृथ्वी तथा पर्वतो की स्थिति तक यह दीर्घजीवी हो (तथा) पुत्रो एव पौत्रो की क्रम परम्परा मे भोगा जाय इस आशा से—प्रसिद्ध नगर आनन्दपुर के निवासी, उस (स्थान) के चतुर्वेदिन् वर्ग के, शाकराक्षि गोत्रीय तथा वह्वृच (शाखा) के विद्यार्थी, भट्ट विष्णु के पुत्र भट्ट आखण्डलमित्र को दिया जाता है।

प० ६६—अतएव कोई भी व्यक्ति ऐसा व्यवहार न करे कि इस व्यक्ति को ब्राह्मण को दिए गए दान की उपयुक्त अवस्थाओ के अनुसार, [इसका] उपभोग करने मे, (तथा) (इनमे) कृषि कर्म करने मे (अथवा) कृषिकर्म करवाने मे, अथवा (इसे किसी अन्य को देने मे) कोई बाधा पहुचे।

प० ७०—"(तथा) हमारे कुल मे अथवा किसी अन्य कुल मे उत्पन्न सभी भावी पुण्यात्मा राजाओ द्वारा—यह ध्यान में रखते हुए कि धन नश्वर है, मानव-जीवन अनिश्चित है तथा भूमिदान का पुण्य (देने वाले तथा इसे बनाए रखने वाले दोनों के लिए) सामान्य है—हमारे दान का अनुमोदन तथा सुरक्षा की जाय।"

प० ७२—तथा वेद-व्यवस्थापक व्यास द्वारा यह कहा गया है—यह पृथ्वी सगर से प्रारम्भ हो कर बहुसख्यक राजाओ द्वारा भोगी गई है, जो भी व्यक्ति एक समयविशेष पर इस पृथ्वी का स्वामी है, उस समय (यदि वह बनाए रखता है, तो इस समय दिए गए दान का) फल उसे ही मिलता है। धर्म की वेदियो मे स्थापित ये सपत्तिया जिन्हें (पूर्ववर्ती) राजाओ ने यहा (पृथ्वी पर) पूर्वकाल मे दिया, देवताओ को दी गई बलियो के उच्छिष्ट स्वरूप तथा वमन किए हुए भोजन के समान (हैं), सच है, कौन भला व्यक्ति इन्हें वापस लेगा? भूमि-दान करने वाला साठ हजार वर्षो तक स्वर्ग मे निवास करता है, (किन्तु) (दान का) अपहरणकर्ता तथा (अपहरण कर्म) का अनुमोदन करने वाला उतने ही वर्षो तक नरकवास करेंगे। भूमिदान का अपहरण करने वाले जलविहीन विन्ध्य पर्वतो के शुष्क-वृक्ष-कोटरो मे निवास करने वाले कृष्णवर्ण सर्पो के रूप मे पैदा होते हैं।

बताए गए हैं, हे जाह्नवी (गगा) मेरे इन दश पापो का हरण करो, (इन) दश पापो का हरण करने से तुम्हें 'दशहरा' कहा जाता है।" ये श्लोक गगा नदी के सम्मान मे मनाए जाने वाले उत्सव दशहरा के सम्बन्ध में आते हैं, जो कि ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष के दसवें दिन पडता है। अपरच, वाग्भट के अष्टाङ्गहृदय में, सूत्रस्थान, अध्याय १, श्लोक २१० [१८८० का बाम्बे सस्करण, पृष्ठ ३८] मे हमें थोडी सी भिन्न भाषा मे निम्न अवतरण प्राप्त होता है हिंसास्तेयान्यथाकाम पैशुन्य परुषानृते। सभिन्नालापव्यापादमभिध्या दृग्विपर्ययम्॥ पाप कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्, जिससे प्रदर्शित होता है कि यह वर्गीकरण सुस्थापित तथा सुप्रसिद्ध था। ये दश पाप ही सभवत ऊपर के मूल पाठ मे चर्चित दशापराधा (='दश अपराध') हैं। तथा सपूर्ण पारिभाषिक पद स्पष्टरूपेण ग्रामदान पाने वाले को गाव की सीमा के भीतर इन अथवा इनके समान अन्य अनुचित कर्मों के करने पर लगाए गए दण्ड शुल्को को लेने का अधिकार प्रदान करता था।

प० ७५—इस विषय मे दूतक (हैं) महाप्रतिहार[1], महाक्षपटलिक[2], राजकुलीन, श्री शर्वट के पुत्र श्री सिद्धसेन, तथा यह राजपत्र उनके अधीनस्थ अधिकारी प्रतिनर्तक[3], उच्चकुलोत्पन्न अमात्य, हेम्वट के पुत्र गुह द्वारा लिखा गया जो उनके द्वारा (यह लिखने के लिए) नियुक्त किया गया था।

प० ७७—सैंतालीस वर्ष अधिक चार सौ वर्ष, ज्येष्ठ (मास) के शुक्ल पक्ष के पाचवे चान्द्र-दिवस पर, (अथवा) अको मे वर्ष ४०० (तथा) ४० (तथा) ७, ज्येष्ठ (मास), शुक्ल पक्ष; (चान्द्रदिवस) ५। (यह) मेरा हस्ताक्षराकन[4] (है)।

---

१ महाप्रतिहार, शब्दश 'श्रेष्ठ प्रतिहार'। यह प्रतिहारों अथवा 'द्वार-रक्षकों' के ऊपर स्थित उच्च पदाधिकारी के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक उपाधि है।

२ महाक्षपटलिक, शब्दश 'श्रेष्ठ अक्षपटलिक'। यह अक्षपटलिकों अथवा 'राजकीय लेखो के सरक्षकों' के ऊपर स्थित उच्च पदाधिकारी के लिए प्रयुक्त एक पारिभाषिक उपाधि है। उदाहरणार्थ, संक्षिप्त रूप मे अक्षपटलिक उपाधि भीमदेव द्वितीय के विक्रम सवत् १२८३ मे तिथ्यकित कडी दानलेख की पं० ३४ में आती है (इण्डियन एन्टिक्वेरी, जि० ६, पृ० २००)। इसकी व्युत्पत्ति अक्षपटल से हुई है जिसका मोनियर विलियम्स के सस्कृत शब्दकोश मे 'न्यायालय', 'वैधिक कागज-पत्रो का स्थान अर्थ' किया गया है, तथा जो नीचे स० ६०, प्रति० ३७ की प० १५ मे अकित अक्षपटलाधिकृत उपाधि—जो कि अक्षपटलिक का पर्याय है—मे आता है। एक अन्य उपाधि अक्षशालिक-जो समवत अक्षपटलिक का पर्यायवाची है—इन्द्रवर्मन् के वर्ष १४६ के 'चिकाकोल' दानलेख की प० २५ मे अकित मिलती है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० १३, पृ० १२३)।

३ प्रतिनर्तक शासकीय अथवा कुल-विषयक उपाधि जान पडती है। वेस्टरगार्ड ने अपने रेडिसेज (Radices) में नृत् को प्रति के साथ नहीं दिया है। अपने सस्कृत शब्दकोश मे मोनियर विलियम्स ने इसे 'घृणा के प्रदर्शन मे नृत्य करना' के अर्थ मे दिया है। किन्तु यह सभव जान पडता है कि इसका नर्तक के साथ कुछ सम्बन्ध है तथा इसका प्रयोग 'भाड' अथवा उद्घोषक के अर्थ मे हुआ है।

४ स्वहस्त। मूल मे इन शब्दो क नीचे कुछ लहरदार पक्तिया मिलती हैं जिनसे हस्ताक्षर का वास्तविक अकन होना अभिप्रेत है। और भी द्र०, ऊपर पृ० २१०, टिप्पणी १।

स० ४०, प्रतिचित्र २६

राजा महाजयराज का आरग ताम्रपत्र-लेख

यह लेख—जनसामान्य को जिसका ज्ञान सर्वप्रथम जनरल कनिंघम ने १८८४ मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १७, पृ० ५५ इ०, प्रति० २८ तथा २५ के माध्यम से कराया, तथा जिसका सम्पूर्ण प्रकाशन अब प्रथम बार किया जा रहा है—कुछ ताम्रपत्रो पर अकित है जो कि कर्नल ब्लूमफील्ड द्वारा प्राप्त हुए थे और सेन्ट्रल प्राविसेज में रायपुर जिले के प्रमुख नगर रायपुर[1] से ठीक पूर्व मे लगभग बीस मील की दूरी पर स्थित आरग[2] नामक गाव मे पाए गए थे।

ये ताम्रपत्र, जिनमे से प्रथम केवल एक ही ओर अकित है, सख्या मे तीन हैं और प्रत्येक किनारो पर ५⅜" लम्बा और २⅜" चौडा है तथा बीच मे इससे कुछ कम लम्बाई चौडाई का है। ये पर्याप्त समतल हैं और इनके किनारे न तो मोटे बनाए गए हैं और न ही पट्टियो के रूप मे उभारे गए हैं। कुछ अक्षर मोरचा लगने से क्षतिग्रस्त हो गए हैं किन्तु लेख अधिकाशत आद्यन्त पूर्ण सुरक्षित अवस्था में है। पत्र पर्याप्त मोटे हैं, तथा अक्षरो का गहरा उत्कीर्णन होने पर भी वे पीछे बिल्कुल दिखाई नहीं दिखाई पडते है। उत्कीर्णन सुन्दर हुआ है किन्तु, जैसा कि सामान्यतया पाया जाता है, अक्षरो के आन्तरिक भागो में उत्कीर्णक के उपकरणो के चिन्ह दिखाई पडते हैं। प्रत्येक पत्र के ठीक दाहिने सिरे पर उन्हें परस्पर सबद्ध करने के लिए छल्ले का सूराख बना मिलता है। छल्ला गोलकार है और इसकी मोटाई लगभग ⅜" तथा परिधि ३" है, दानलेख मुझे मिलने के पूर्व ही पत्रो का अकन लेने के उद्देश्य से इसे काटा जा चुका था, किन्तु यह मानने का कोई कारण नही दिखाई पडता है कि यह छल्ला इन पत्रो से सबद्ध मूल छल्ला नही है। मुहर, जिससे छल्लो के सिरे सलग्न है, गोलाकार है तथा इसकी परिधि लगभग ३⅛" है, तथा, महासुदेवराज के रायपुर दानलेख (नीचे स० ४१, प्रति० २७) की मुहर की भाति इस पर गहरी पीली दमक है जिससे यह ताम्र-निर्मित होने की अपेक्षा पीतल की बनी जान पडती है। इस पर, उकेरी मे, दबे हुए तथा हलके नतोदर स्तर पर, बीच मे दो पक्तियो का एक लेख मिलता है जिसका मूल तथा अनुवाद नीचे दिया गया है, ऊपरी भाग मे, सर्वथा सामने देखती हुई लक्ष्मी की खडी आकृति बनी हुई है जिसके प्रत्येक ओर कमल-पुष्प पर खडे हाथी बने हैं जिनकी सूड उनके ऊपर जल डालने के लिए ऊपर उठी हुई है, ठीक दाहिने कोने मे अपनी नाल पर स्थित एक प्रस्फुटित कमल-पुष्प बना हुआ है, तथा, ठीक बाए कोनो में एक शख

---

१ मानचित्रो का 'Raepoor', 'Raipur' तथा 'Ryepoor'।

२ मानचित्रो का 'Airing' तथा 'Arang'। इण्डियन एटलस, फलक स० ९१। अक्षांश २१° १२' उत्तर, देशांतर ८२°' पूर्व। जनरल कनिंघम को पहले यह सूचना मिली थी (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १७, पृ० ५५) कि ये पत्र आर्वी मे पाए गए थे (द्र० नीचे पृ० २३७ तथा टिप्पणी २), पुन (वही पृ० ५९) यह कि वे वस्तुत रायपुर से प्राप्त हुए थे किन्तु अधिक सभवत वे आरग मे पाए गए थे, और अन्तत यह कि (वही, प्राक्कथन, पृ० ३) वे आरग मे पाए गए थे।

बना हुआ है, निचले भाग मे पुष्पीय आकृति बनी जान पडती है। मुहर किसी समय आग मे पडी थी किन्तु इससे इस पर अकित लेख तथा आकृतियो को कोई विशेष क्षति नही पहुची है। तीनो पत्रो का भार १ पौंड ३ औंस तथा छल्ले और मुहर का भार १ पौंड १ औंस है, इस प्रकार सम्मिलित भार २ पौंड ४ औंस है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ३/१६" है। अक्षर दक्षिणी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा ये मध्य भारत के चौकोर शिर प्रकार' (box headed) का एक अन्य सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसकी चर्चा मैंने ऊपर पृ० २३ पर की है। इन अक्षरो मे प० १ मे अकित चूडा मे, दन्त्य द से पृथक् मूर्धस्थानीय ड भी सम्मिलित है। अधिलिखित दीर्घ स्वर ई अपेक्षाकृत विचित्र रूप मे निर्दिष्ट हुआ है, इसके लिए वृत्त—जो स्वय अधिलिखित ह्रस्व इ का परिचायक है—के भीतर अनुस्वार के समान एक चिन्ह बनाया गया है, उदाहरण के लिए द्रष्टव्य है प० २ मे अकित सीमत्तो तथा प० ४ मे अकित राष्ट्रीय, उत्कीर्णन-प्रक्रिया मे ताम्र के उभरे हुए होने से स्याही की छाप मे तथा शिलामुद्रण मे ह्रस्व इ के भीतर भी इसी प्रकार का हल्का सा चिन्ह बना हुआ मिलता है—उदाहरणार्थ, पं० १३ मे अकित भूमिपान् मे, किन्तु मूल पत्रो मे यह भेद तुरन्त ही देखा जा सकता है। इन अक्षरो मे, प० २४ मे अकित ५ तथा २० के अक सम्मिलित हैं। भाषा सस्कृत है। मुहर पर अकित लेख पद्यात्मक है, किन्तु, स्वय लेख—प० १३ तथा २३ मे अकित आशीर्वादात्मक तथा अभिशसनात्मक श्लोकों को छोड कर—सपूर्णत गद्य मे है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १ प० १८ मे अकित य काञ्चन मे, तथा प० ३ मे अकित प्रद परम मे तथा प० १८ मे अकित धिय-प्रवर्द्धति मे जिह्वा-मूलीय तथा उपध्मानीय का प्रयोग, २ दन्त्य न के स्थान पर सदैव अनुस्वार का प्रयोग, तथा इसके बाद आने वाले त का द्वित्व-उदाहरणार्थ प० १ मे अकित सामत्त मे, प० १७ मे अकित उदाहरत्ति मे एव प० १८ मे अकित भवत्ति मे, ३ प० २४ मे अकित सव्वत्सर मे अनुस्वार के बाद व का द्वित्व, ४ मुहर की प० क मे, अकित प्रसन्न मे प० १-२ में अकित ओम्बुभिर् मे, पं० ५ अकित कुटुं म्बिनः मे तथा प० १४ मे अकित प्रवर्द्धन्ति मे अनावश्यक अनुस्वार का प्रयोग, ५ मुहर की प० १ मे अकित विक्कमाक्कात मे तथा प० १ मे अकित विक्क्रम मे, अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर क का द्वित्व, ६ प० ४ मे अकित अनुद्ध्यात मे, अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर ध का द्वित्व, ७ प० ३ मे अकित प्रद-परम मे प० ४ मे अकित अनुद्ध्यात श्श्री मे तथा प० ५ मे अकित कुटुं म्बिनः स्समाज्ञापयति मे, अनावश्यक सकार का समावेश, प० २४ मे सिंह के स्थान पर सिङ्ह का तथा पं० ११ मे ताम्र के स्थान पर ताम्भ्र का प्रयोग।

लेख राजा जयराज अथवा महा-जयराज का है, तथा इसमे अकित राजपत्र शरभपुर नामक नगर से जारी किया गया है। लेख के उत्कीर्णन की तिथि, अको मे, प्रवर्द्धमान विजय का पाचवा वर्ष तथा-पक्षविशेष के उल्लेख के बिना-मार्गशिर मास (नवम्बर-दिसम्बर) का पचीसवा दिवस दी गई है। किसी सवत् का उल्लेख नही है, और चू कि महा-सुदेवराज के अगले लेख मे हमे दस वर्ष की छोटी सख्या वाली तिथि मिलती है, अतएव इस लेख का पाचवा वर्ष जयराज की प्रभुता अथवा शासन का वर्ष होना चाहिए। लेख किसी सम्प्रदाय से सबद्ध नही है, इसका प्रयोजन स्वय जयराज द्वारा किसी ब्राह्मण के प्रति पूर्वराष्ट्र अथवा पूर्वदेश[1] मे स्थित पाम्बा नामक गाव के दान-कर्म का लेखनमात्र है।

---

१ इसकी यह सज्ञा सभवत पर्वत-शृ खलाओ के पूर्व मे होने के कारण है, जनरल कनिंघम ने इन पर्वत-शृखलाओ का तादात्म्य मेकल पर्वत-शृ खलाओ से किया है जो कि 'अमरकण्टक' से प्रारम्भ होती हैं तथा नागपुर एव रायपुर के लगभग बीच से गुजरती हुई दक्षिण की ओर जाती हैं, और फिर 'वैरगढ' के पास पूर्व की ओर मुड कर राजिम से साठ मील दक्षिण-पूर्व मे समाप्त हो जाती है।

राजपत्र के जारी किए जाने के स्थान शरभपुर नामक नगर के विषय मे जनरल कनिंघम[1] ने ये सुझाव प्रस्तुत किए हैं प्रारभिक शु का विलोपन करने पर, 'अरभपुर' तथा 'अर्भि' रूपो द्वारा यह आधुनिक आर्वी[2] हो सकता है, जो कि सेन्ट्रल प्राविंसेज मे वर्धा जिले के आर्वी तहसील का प्रमुख नगर है, अथवा यह सेन्ट्रल प्राविंसेज के सम्बलपुर जिले का प्रमुख नगर आधुनिक 'सम्बलपुर' अथवा 'सम्भलपुर'[3] हो सकता है, जहा से अथवा जिसके निकट से महा-सुदेवराज का एक अन्य ताम्रपत्र-लेख प्राप्त हुआ था[4]। किन्तु, उनके द्वारा प्रस्तावित इन दोनो ही व्युत्पत्तियो को नही माना जा सकता। तथा, यदि शरभपुर का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई स्थान अब अस्तित्व मे है तो हमें मानचित्रो में सर्भोर अथवा साभोर, इस प्रकार के नाम खोजना चाहिए।

मूलपाठ[5]

मुहर

क प्रसन्न[6]हृ[द्द] यस्यैव विक्रमाक्का [ ]त्तविद्विप[ ]

ख श्रीमतो जयराजस्य शास [न] रिपुशासन [॥*]

प्रथम-पत्र

१ स्वस्ति शरभपुराद् द्विक्रमो[7]पनतसामन्तचूडाम [ि]ण्प्रभाप्रसेका-

२ म्बुभि[8]र्धौ(धौ)तपादयुगलो रिपुविलासिनीसीमन्तोद्धरणहेतु-

---

१ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १७, पृ० ५७ ई०।

२ मानचित्रों इ० का 'Arocc', 'Arvi' तथा 'Arwee'। इण्डियन एटलस, फलक स० ७२। अक्षांश २०°५६' उत्तर, देशान्तर ७८°१६' पूर्व। यह वर्धा से उत्तर-पश्चिम मे तीस मील की दूरी पर तथा रायपुर से पश्चिम-दक्षिण मे लगभग दो सौ तीस मील की दूरी पर है।

३ इण्डियन एटलस, फलक स० १०६। अक्षांश २१°२७' उत्तर, देशान्तर ८४°१६' पूर्व। यह रायपुर के लगभग ठीक पूर्व म लगभग एक सौ पैंतालीस मील की दूरी पर है।

४ यह डा० राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा १८६६ मे, जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३५, पृ० १९५ इ० मे प्रकाशित हुआ है। किन्तु मूलपत्र, जो कि कनल जी० बोवी द्वारा सोसायटी को भेंट किए गए, अब अप्राप्य है, तथा प्रकाशित सामग्री इतनी विश्वसनीय नहीं है कि उसे पुन प्रकाशित किया जाय अतएव मैंने इस जिल्द में इस लेख को नही सम्मिलित किया है।

५ मूल पत्रों मे। पढ़ें, प्रसन्न।

६ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ)।

७ पढ़ें, पुराद्विक्रम। पुराद् का द् इतना छोटा और कम गहरा उत्कीर्ण है कि यह स्पष्टरूपेण बाद के चिन्तन के परिणामस्वरूप जोडा गया जान पडता है। यह नितान्त अनावश्यक है क्योंकि सधि मे इसका प्रतिनिधित्व करने वाला द् अनुवर्ती वि के साथ सुचारुरूपेण उत्कीर्ण किया जा चुका था।

८ पढ़ें, आम्बुभिर् अथवा आंबुभिर।

३ वेंगुम्नुपागोऽप्रदः परम[1]भागवतो मातापितृपा—
४ दानुद्ध्यात श्री[2]महाजयराज. पूर्व्वराष्ट्रोपम्बा[3]प्रति—
५ वासिकुटु[4]म्बिन.[5] स्समाज्ञापयति । विदितमस्तु वो यथा—

द्वितीय पत्र : प्रथम पक्ष

६ समाभिरय ग्राम—। स्त्रि[6] दशपतिसदनसुखप्रतिष्ठाकरो याव—
७ द्रविशशितारकिरणप्रतिहतघोरान्धकारं जग [द*] वतिष्ठते
८ तावदुपभोग्यस्सनिधिस्सोपनिधिरचाटभटप्रवेश्यस्स—
९ र्व्वकरविसर्जितः वाजि(ज)सनेयकौण्डिन्यसगोत्रः ब्रह्म[7]देव—
१० स्वामिने ॥ (।)[8] मातापित्रोरात्मनश्च पुण्ये(।)भिवृ[द्ध*]यये ॥ (।) उदकपूर्व्वं [*]

द्वितीय पत्र : द्वितीय पक्ष

११ तास्व(त्र)शासनेनातिसृ(सृ)ष्ट [॥*] ते यूयमेवमुपलभ्यास्याज्ञाश्रवण—
१२ वी (वि)धेया भूत्वा यथोचितं भोगभागमुपनयंता(न्तः) सुखं प्रतिव [स*]त—
१३ थ ॥ भविष्यतश्च भूमिपाननुदर्शयति ॥ (।) दानाद्वि[9]शिष्टम—
१४ नुपालनम पुराणे(णा) ॥ (।) धर्म्मेषु निश्चितधिय प्रवदन्ति[10] धर्म्मं ॥ (।)
१५ तस्माद् [द्*] विजाय सुविशुद्धकुलभूताय ॥ (।) दत्ता [*] भुव भवतु वो न[ति*]रे—

---

१ पढ़ें, प्रद:परम अथवा प्रद परम ।

२ पढ़ें, भानुध्यातश्री अथवा भानुध्यात श्री ।

३ नीचे नं० ४१ की पं० ४-५ में अंकित समरूप अवतरण से तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिप्रेत पाठ सम्भवतः पल्लावी प्रन्विासि है ।

४ पढ़ें, कुटुम्बि अथवा कुटुंबि ।

५ पढ़ें, नस्सम् अथवा न सम् ।

६ विराम चिन्ह का विलोपन करते हुए पढ़ें ग्रामम् ।

७ पढ़ें, सगोत्रब्रह्म ।

८ यह चिन्ह इस लेख में जिस प्रकार विसर्ग लिखा गया है ठीक उस प्रकार का है किन्तु यह विराम चिन्ह है अथवा विसर्ग—इसका निर्धारण इस आधार पर करना होगा कि इस प्रकार का चिन्ह निम्नलिखित उन स्थानों पर अंकित मिलता है जहां पर विराम चिन्ह उपयुक्त है किन्तु विसर्ग नहीं; साथ ही इस आधार पर भी कि इसी प्रकार का आधा विराम चिन्ह ऊपर पं० ५ तथा ६ में तथा नीचे पं० २२ में, एवं नीचे सं० ३१, की पं० ५, १५, १६ तथा १७ में भी बना मिलता है और इन सभी दृष्टान्तों में यह विरामचिन्ह के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता ।

९ छन्द, वसन्ततिलक ।

१० पढ़ें, प्रवदन्ति अथवा प्रवदति ।

राजा महाजयराज के आरङ्ग पत्र
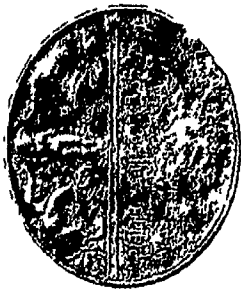
तृतीय पत्र प्रथम पक्ष

१६ व गोप्त्[*] ॥ तद्भवद्भिरप्येषा दत्तिरनुपालयितव्या ॥ व्यास गीताश्चात्र
१७ श्लोकानुदाहरन्ति ॥ (।) अग्ने[1]रपत्य प्रथम सुवर्ण्णं [*] भूर्व्वैष्णवी सू—
१८ र्य्यसुत [। *]श्च गाव [। *] दत्तास्त्रयस्तेन भवन्ति लोका य काञ्चन गा[*]
१९ च मही [*] च दद्या [त् *] ॥ षष्टि[2] वर्षसहस्राणि स्वर्गे वसति भूमिद [।*]
२० आच्छेत्ता चानुम[*]न्ता च तान्येव नरके वसे [त्*] ॥ स्वदत्ता [*] परदत्ता [ ] वा य—

तृतीय पत्र द्वितीय पक्ष

२१ त्ना [द्र] क्ष युधिष्ठिर ॥ (।) महीत्(म्)महिमता च्छे,ष्ठ[3] दानाच्छ्रे,योऽनुपालन [॥ *]
२२ बहुभिर्व्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरादिभि [ ] यस्य [यस्य*] यदा भूमिस्त—
२३ स्य तस्य तदा फलमिति[4] [।।*] स्वमुखाज्ञया उक्ती (क्तो) ण्णं[5] अच—
२४ लसिङ्घेन प्रवर्द्धमानविजयसवत्सर ५ मार्गशिर २० ५ [।*]

अनुवाद

मुहर

प्रसन्न हृदय वाले (तथा) (अपनी) शक्ति से (अपने) शत्रुओ को पराभूत करने वाले श्री जयराज का राजपत्र (उनके) शत्रुओ (द्वारा भी मानने) के लिए राजपत्र (है)।

पत्र

कल्याण हो ! शरभपुर नगर मे श्री महा-जयराज-जिनके चरण-युगल (अपनी) शक्ति से पराभूत किए गए (अपने समक्ष अवनत) सामन्तो की चूडाओ मे जटित रत्नो की प्रभा-प्रवाह रूपी जल से परिशुद्ध हैं, जो (अपने) शत्रुओ की स्त्रियो के सवारे हुए केशो के उद्धरण के कारण-स्वरूप हैं, जो कोश, भूमि तथा गायों का दान करने वाले हैं, जो भगवत् के परम भक्त हैं, (तथा) जो (अपने) माता पिता के चरणो का ध्यान करने वाले हैं—पूर्वी देश मे स्थित पम्वा (ग्राम) मे निवास करने वाले कृषको के प्रति यह आदेश देते हैं—

प० ५—"आप लोगो को यह विदित हो कि यह गाव—जो कि (इसके सप्रति सम्पादित दान द्वारा) (हमारे) देवताओ के अधिपति (इन्द्र) के वास स्थान (की प्राप्ति) के सुख के निश्चयन का स्रोत है—(इस) ताम्र-पत्र द्वारा जल-तर्पण के साथ, (अपने) माता-पिता तथा हमारे पुण्य की वृद्धि के उद्देश्य से—जब तक कि सूर्य,चन्द्रमा और ताराओ की किरणो द्वारा अपाकृत हुए घोर अन्धकार वाले विश्व की स्थिति है, तब तक भोगे जाने के लिए, (इसके) छिपी हुई निधियो तथा धरोहरो के साथ, नियमित अथवा अनियमित सेनाओ द्वारा अप्रवेश्य, (तथा) सभी करो मे मुक्त हुआ—वाजसनेय (शाखा) के तथा कौण्डिन्य गोत्र के ब्रह्मदेवस्वामिन को दिया जाता है।

प० ११—"इससे अवगत होकर आपको उनके आदेशो का पालन करे तथा उपयुक्त रूप में (उनके) भोग का भाग प्रदान करते हुय सुख-लाभ करें।"

---

१ छन्द, इन्द्रवज्रा।

२ छद, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले दो श्लोकों मे।

३ पढ़ें, श्रेष्ठ।

४ पढें, फलम्।

५ जोडें, शासनम्।

प० १३—तथा वे भविष्य में आने वाले राजाओं को यह निर्देश करते हैं—'धर्म पर केन्द्रित मस्तिष्क वाले पूर्वजों का यह कहना है कि (दान की) सुरक्षा में उद्भूत पुण्य दान देने (से उद्भूत पुण्य) से बढ़ कर है: अतएव आपका चित्त अत्यन्त पवित्र कुल में तथा विद्वान् ब्राह्मण को दान में दिए गए भूमि की रक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए। अतएव यह दान आप द्वारा भी रक्षित होवे।'

पं० १६—और इस विषय पर वे व्यास द्वारा गाए गए श्लोक उद्धृत करते हैं—अग्नि की प्रथम संतति सुवर्ण (है)[1]; पृथ्वी[2] (भगवान्) विष्णु की है[3] तथा गाएं सूर्य की पुत्रियां हैं[4]; अतएव जो सुवर्ण गाय तथा भूमि का दान करता है, वह तीनों लोकों[5] का दान करता है। भूमि-दान देने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग में निवास करता है (किन्तु) (दान का) अपहरण करने वाला तथा (अपहरण-कर्म) का अनुमोदन करने वाला उतने ही वर्षों तक नरक-वास करेंगे। हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठिर, पूर्व-दत्त भूमि का—चाहे वह किसी अन्य द्वारा दी गई हो- अथवा स्वयं द्वारा दी गई हो—सावधानी से रक्षा करो, (सत्य ही) (दान की) सुरक्षा दान देने से अधिक पुण्यतर (है)। सगर से आरम्भ होकर यह भूमि बहुसंख्यक राजाओं द्वारा दान दी गई है. जो किसी समयविशेष पर इस पृथ्वी का स्वामी है, उस समय उसे ही (यदि वह बनाए रखता है तो सम्प्रति दिए गए दान का) फल प्राप्त होगा।

प० २३—(महा-जयराज) की अपनी मुखाज्ञा से (यह राजपत्र) प्रवर्धमान विजय के वर्ष ५ (में) मार्गशिर (मास में) २० (तथा) ५ (दिन पर) अचलसिंह द्वारा उत्कीर्ण हुआ।

---

१ डा० हुल्श ने (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० २०३, टिप्पणी ४६) इसे यह कह कर व्याख्यायित किया है कि "नैयायिकों के अनुसार सुवर्ण में अग्नि [तैजस] है।"

२ यह परम्परागत पाठ है। शिलाहार प्रमुख रट्टराज के शक संवत् ९३० में तिथ्यंकित खारेपाटन दानलेख की प० ३९ में (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राञ्च आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १, पृ० २१८) भू: के स्थान पर द्यौ (='आकाश') पाठ मिलता है; किन्तु मुझे भिन्न पाठ का कोई अन्य दृष्टान्त ज्ञात नहीं है।

३ अथवा सम्भवत, "पृथ्वी वैष्णवी (विष्णु की शक्ति का मानवीकरण) (है)"।

४ यह ऋग्वेद ७.१०१ ६ द्वारा व्याख्यायित प्रतीत होता है जहा सूर्य को 'सभी गायों को गर्भिणी बनाने वाला वृषभ बताया गया है' [मुइर का संस्कृत टेक्स्ट्स जि० ४, पृ० ११२ इ०]।

५ ये तीनों लोक कभी स्वर्ग, पृथ्वी तथा पाताल लोक बताए गए हैं और कभी आकाश, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी बताए गए हैं। इस श्लोक मे दूसरी व्यवस्था उद्धृत हुई ज्ञात पड़ती है; यहा आकाश का प्रतिनिधित्व सूर्य—जो कि आकाश स्वामी है—की पुत्रियों के रूप मे गायो द्वारा हुआ है, तथा अन्तरिक्ष का प्रतिनिधित्व अग्नि—जो विद्युतो का अधिपति है तथा जिसका निवास स्थान अन्तरिक्ष में है—के सन्तान के रूप मे सुवर्ण द्वारा हुआ है।

स० ४१, प्रतिचित्र २७

राजा महासुदेवराज का रायपुर ताम्रपत्र-लेख

यह लेख—जनसामान्य को जिसका ज्ञान सर्वप्रथम जनरल कनिंघम द्वारा १८८४ मे आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १७, पृ० ५५ इ०, तथा प्रति० २६ तथा २७ के माध्यम से हुआ, तथा जो इस समय प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है—उन कुछ ताम्रपत्रो पर है जो कर्नल ब्लूमफील्ड को सेन्ट्रल प्राविसेज मे रायपुर जिले के प्रमुख नगर रायपुर[1] से प्राप्त हुए थे। सप्रति मूलपत्र नागपुर में प्रादेशिक सग्रहालय मे हैं।

पत्र—जिनमे से प्रथम केवल एक ही ओर अकित है-सख्या मे तीन है तथा प्रत्येक की लम्बाई तथा चौडाई सिरो पर क्रमश ६" तथा ३½" है और बीच मे कुछ कम है। वे पर्याप्त समतल हैं और उनके किनारे न तो मोटे बनाए गए हैं और न पट्टियो के रूप में उभारे गए हैं। अभिलेख आद्यन्त पूर्ण सुरक्षित अवस्था मे है। पत्र पर्याप्त मोटे है और अक्षर गहरा उत्कीर्ण होने पर भी पीछे की ओर नही दिखाई पडते। उत्कीर्णन बडा सुन्दर है किन्तु—जैसा कि सामान्यतया पाया जाता है—अक्षरो के आन्तरिक भागो पर उत्कीर्णक के उपकरणो के चिन्ह दिखाई पडते हैं। प्रत्येक पत्र के ठीक दाहिनी ओर उन्हे परस्पर सबद्ध करने के लिये छल्ले का सूराख बना मिलता है। छल्ला गोलाकार है और उसकी मोटाई½" तथा परिधि ३½" है। दानलेख मुझे मिलने के पूर्व ही अकन लेने के उद्देश्य मे काटा जा चुका था किन्तु यह मानने का कोई कारण नहीं दिखाई पडता कि यह पत्रो से सबद्ध मूल छल्ला नही है। मुहर, जिससे इसके सिरे सलग्न थे, गोलकार है और इसकी परिधि लगभग ३½" है, तथा महाजयराज के आरग दानलेख (ऊपर स० ४०, प्रति० २६) से सबद्ध मुहर के समान यह भी ताम्र की अपेक्षा पीतल के समान दिखाई पडता है। यह स्पष्टरूपेण किसी समय आग से क्षतिग्रस्त हुआ था, जिसके साथ समय के प्रभाव के फलस्वरूप इसका ऊपरी स्तर पूर्णतया नष्ट हो चुका है। किन्तु, बीच मे, कुछ दबे तथा नतोदर स्तर पर, उकेरी मे अकित दो पक्तियो का लेख देखा जा सकता है जिसका पाठ तथा अनुवाद नीचे दिया गया है, ऊपरी भाग पर लक्ष्मी की पूर्णतया सम्मुखीय खडी आकृति बनी है, उनके प्रत्येक ओर कमल पर खडे हाथी की आकृति है जिसने उनके ऊपर जल डालने के लिए अपनी सूड उठा रखी है, ठीक दाहिने कोने पर कमल-वृन्त पर स्थित प्रस्फुटित कमल पुष्प तथा बाए कोने पर शख बना हुआ है, निचले भाग पर पुष्पीय आकृति बनी हुई है। तीनो पत्रो का भार लगभग १ पौंड ५½ औंस है, तथा छल्ले और मुहर का भार १ पौड ७½ औंस है, सम्मिलित भार

---

१ मानचित्रो इ० का 'Raepoor', 'Raipur' तथा 'Ryepoor'। इण्डियन एटलस, फलक स० ९१। अक्षांश २१°१५' उत्तर, देशान्तर ८१°४१' पूर्व।

२ पौंड १३ औंस है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ¼" है। अक्षर दक्षिणी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा मध्य भारत के उस चौकोर शिर प्रकार [box-headed] की वर्णमाला का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसकी चर्चा मैंने ऊपर पृ० २३ पर किया है। वे लगभग सर्वथा महाजयराज के पूर्ववर्ती लेख (ऊपर स० ४०, प्रति० २६) मे आए अक्षरो के सदृश हैं। दोनो मे सर्वाधिक विशिष्ट भेद अधिलिखित दीर्घ स्वर ई के स्वरूप मे दिखाई पडता है, अनुस्वार के स्वरूप वाला चिन्ह जो कि दीर्घ ई को ह्रस्व इ से विशिष्ट बनाता है, इस लेख मे वृत्त के बीच मे न दिया जाकर-वृत्त की निचली रेखा के भाग के रूप मे-वृत्त की दाहिनी ओर दिया गया है, उदाहरणार्थ द्र०, प० २ मे अकित विलासिनी तथा प० ४ मे अकित राष्ट्रीय। दन्त्य द से पृथक्, मूर्धस्थानीय ड का अकन हमे प० १ में अकित चूडा मे मिलता है। प० १० मे अकित औपमन्यव मे अत्यन्त असामान्य औ का अकन हुआ है। तथा प० २७ मे ६ तथा १० के अक उत्कीर्ण मिलते हैं।[1] भाषा सस्कृत है। मुहर पर अकित लेख पद्यात्मक है, किन्तु लेख-प० १५ तथा २४ मे अकिन आशीर्वादात्मक तथा अभिशसनात्मक श्लोको को छोडकर-सपूर्णत गद्य मे है। भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से, प० ११-१२ मे अकित अतिसृष्टक मे प्राप्त प्रत्यय क उल्लेखनीय है, जिस पर मैंने ऊपर पृ० ८६ पर चर्चा की है। वर्ण-विन्यास के पसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १ प० २० मे अकित य काञ्चन मे, प० ६ मे अकित विसर्ज्जित कौण्डिन्य मे, प० ३ मे अकित प्रद परम मे तथा प० १६ मे अकित धिय प्रवदन्ति मे जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का प्रयोग, २ प० २४ मे अकित सव्वत्सर मे,अनुस्वार के बाद आने वाले व का द्वित्व, ३ प० १६ मे अकित प्रवदन्ति मे—केवल एक बार-अनावश्यक अनुस्वार का प्रयोग, ४ प० १ मे अकित विक्क्रम मे, अनुवर्ती र के साथ सयाग होने पर क का द्वित्व, प० ४ मे अकित अनुद्ध्यात मे अनुवर्त्ती य के साथ सयोग होने पर ध का द्वित्व, तथा ६ प० २८ मे सिंह के स्थान पर सिङ्ह का तथा प० ११ मे ताम्र के स्थान पर ताम्म्र का प्रयोग।

लेख राजा सुदेवराज अथवा महासुदेवराज का है, तथा इसमे अकित राजपत्र, महाजयराज के पूर्ववर्ती लेख के समान, शरभपुर नामक नगर से जारी किया गया है। यह उत्तरायण के अवसर पर अर्थात् सूर्य द्वारा अपनी उत्तराभिमुख गति के प्रारम्भ के समय जारी किया गया था। उत्कीर्णन की तिथि, अको मे, प्रवर्धमान विजय का वर्ष दश तथा पक्षविशेष के उल्लेख के बिना-माघ मास (जनवरी-फरवरी) का नवा दिन बताई गई है। किसी सवत् का उल्लेख नही है, तथा दसवा वर्ष सुदेवराज की प्रभुता अथवा शासन का वर्ष होना चाहिए। लेख किसी सप्रदाय विशेष से सबद्ध नही है, तथा इसका प्रयोजन पूर्वराष्ट्र अथवा पूर्वी देश मे स्थित श्रीसाहिका गाम का दो ब्राह्मणो के प्रति दान के लिए सुदेवराज की सम्मति का लेखन है।

---

१ दिवस के लिए अकित अक को ३० भी पढा जा सकता है। किन्तु ऐसा जान पडता है कि यह ६ का सक्रमणकालीन अक है, जिससे कि देवनागरी का आधुनिक ६ विकसित हुआ। जनरल कनिंघम ने वर्ष के लिए अकित अक को १० न पढकर ८० पढा, किन्तु मेरे विचार से यह मान्य नही हो सकता। यह प्रत्यक्षत: इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ६ पृ० ४४ इ० मे प्रकाशित डा० भगवानलाल इन्द्रजी की सारणी के अनुच्छेद ५ मे दिए गए १० के दूसरे स्वरूप का 'वर्ग तथा लम्ब' प्रकार है।

मूलपाठ[1]

मुहर[2]

क प्रसन्न[3]हृदयस्यैव विक्रमाक्क्रान्तविद्विष

ख श्रीमत्सुदेव[4]राजस्य शासन रिपुशासनम् [॥*]

प्रथम-पत्र

१ ओम् स्वस्ति शरभपुराद्विक्क्रमोपनतसामन्तमुकुटचूडामणि—

२ प्रभाप्रसेकाम्बुधो (धौ)तपादयुगलो रिपुविलासिनीसीमन्तोद्ध—

३ रणहेतुर्व्वसुवसुधागोप्रद [5]परमभागवतो मातापितृ—

४ पादानुद्ध्यातश्रीमहासुदेवराज पूर्व्वराष्ट्रीयश्रीसाहि—

५ काया प्रतिवासिकुटुम्बिनस्समाज्ञापयति । विदितमस्तु वो

६ यथास्माभिरय ग्रामस्त्तृ(त्रि)दशपतिसदनसुखप्रतिष्ठाक—

द्वितीय पत्र प्रथम पक्ष

७ रो यावद्रविशशिताराकिरणप्रतिहतघोरान्धकार जगदव—

८ तिष्ठते तावदुपभोग्यस्सनिधिस्सोपनिधिरचाटभटप्रावेश्य[।*]

९ सर्व्वकरविसर्ज्जित को(कौ)ण्डिन्यसगोत्रवाजसनेयसवित् [ऋ*]—

१० स्वामिन [आ*]त्मीयकन्याप्रदाने [न*] औपमन्यव[व*]त्ससगोत्र या[6]मा—

११ ओ[7][*] नागवत्सस्वामिवन्धुवत्सस्वामिनोस्ताम्र(म्र)शासनेनाति—

१२ स्तृ(सृ)ष्टको भूत्वास्माभिरप्युत्तरायणे मातापित्रोरात्मनश्च

---

१ मूल पत्रों से ।

२ प्रथम पंक्ति के प्रारम्भ में अंकित प्रसन्न शब्द को छोड़कर, लेख लगभग पूर्णतया विलुप्त हो गया है । किन्तु यत्र तत्र अस्पष्ट संकेत मिलते हैं, जिनसे ऊपर लेख स० ४०, पृ० २३७ पर अंकित मुहर के लेख की सहायता से, हमें उपरोक्त लेख प्राप्त हो सका है ।

३ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ) ।

४ आर्कयालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १७, प्रति० २६ में दिए गए शिलामुद्रण में श्रीमहासुदेव दिखाई पड़ता है । किन्तु मुहर पर यह पाठ अपठनीय है, और चूकि यह छन्द के अनुरूप नहीं है अत यह इस रूप में उत्कीर्ण नहीं रहा हो सकता ।

५ यहा तथा प० १६ में जिह्वामूलीय—स० ४०, प्रति० २६ की प० ३ तथा १४ के समान स्पष्टरूपेण अंकित न हो कर—कठिनतया दृश्य रूप में, प के उपरिभागीय वग के क्षितिजीय विभाजन मात्र से सकेतित है ।

६ यामाओ, इस शब्द के पूर्व × यह चिन्ह बना हुआ है जिसका अभिप्राय यह निर्दिष्ट करना है कि इस शब्द का वास्तविक स्थान यह नहीं है । यह स्पष्ट है कि प०९ से लेकर प० ११ तक का अभिप्रेत पाठ यह था सवितृस्वामिन् आत्मीयकन्याप्रदानेन यामाओरौपमन्यववत्ससगोत्रनागवत्तस्वामि इ० ।

७ इस ओ के पूर्व पहले मि उत्कीर्ण किया गया और फिर उसे अपाकृत कर दिया गया, तथा ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रति जहा ओ उत्कीर्ण है, वहा पहले य का उत्कीर्णन करके फिर अपाकृत कर दिया गया ।

द्वितीय पत्र द्वितीय पक्ष

१३ पुण्ये(ा)भिवृद्धयेऽनुमोदित [1] [।।*] ते यूयमेवमुपलभ्यास्याज्ञा[2]श्र—
१४ वरणविधेया भूत्वा यथोचित भोगभागमुपमुपनयन्तस्सु[3]—
१५ ख प्रतिवत्स्यथ [।।*] भविष्यतश्च भूमिपा[न*]नुदर्शयति । दानाद्वि[4]शिष्ट—
१६ मनुपालनज पुराणे(णा) द्ध (ध)र्म्मेषु निश्चितधिय प्रवदन्ति[5] धर्म्म । तस्मा—
१७ द्[द् *]विजाय सु[6]विशुद्धकुलश्रुताय दत्ता भुव भवतु वो मतिरेव गोप्तुम् [।।*] त-
१८ द्भवद्भिरप्येषा दत्तिरनुपालयितव्या [।।*] व्यासगीता [*]श्चात्र श्लोकानुदाहरन्ति [।*]

तृतीय पत्र : प्रथम पक्ष

१९ अग्ने[7]रपत्य प्रथम सुवर्ण्ण [*] भूर्व्वैष्णवी सूर्य्यसुताश्च गाव [*] दत्ता-
२० स्त्रयस्तेन भवन्ति लोका य काञ्चन गाञ्च महीञ्च दद्यात् [।।*] षष्टि[8] व—
२१ र्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिद आच्छत्ता चानुमन्ता च तान्ये-
२२ व न [र*]के वसेत् [।।*] वहुभिर्व्वसुधा दत्ता राजभि[*] सगरादिभि यस्य-
२३ यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फल[।।*] स्वदत्ता [*] परदत्ता[ ] [वा*] य-
२४ त्नाद्रक्ष युधिष्ठिर महि[9] महिमता [*] श्रेष्ठ दानाच्छ्रेयोऽनुपाल[10]-

तृतीय पत्र द्वितीय पक्ष

२५ अस्मिन् [नृ*]व ग्रामे पूर्व्वतटाकस्य पर्यत्त(न्त)भूमिवप्रबद्धा श्री-
२६ वा[11]पिका पन्थान यावज्जा(ज्ये)ष्ठ इति कृत्वा नाग[व*]त्सस्वामिने ग्रामार्द्धस्याधि[12]का दत्ता

---

१ इस विसर्ग के ऊपर एक × चिन्ह बना हुआ है जिसका तात्पर्य यह निर्दिष्ट करता है कि यहा कुछ जोड़ा जाना है, अर्थात् नीचे प० २५ तथा २६ से अकित अस्मिन्नेव ग्रामे से प्रारम्भ होने वाला अवतरण ।

२ पढ़ें, उपलभ्यैतयोराज्ञा ।

३ पढें, भागमुपनयन्तस् ।

४ छन्द, वसन्ततिलक ।

५ पढें, प्रवदन्ति, अथवा प्रवदति ।

६ पहले सि उत्कीर्ण किया गया और फिर इ की मात्रा का पूर्ण अपाकरण किए विना उ की मात्रा को जोड दिया गया ।

७ छन्द, इन्द्रवज्रा ।

८ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले दो श्लोकों मे ।

९ पढ़ें, महीं ।

१० वास्तविक सदर्भ प० २७ में अकित लनमिति है ।

११ इस वा के पूर्व एक × चिन्ह है जिसका तात्पर्य यह निर्दिष्ट करना है कि यहा, अथवा अधिक सभवत. श्री के पूर्व, कुछ जोडा जाना है, अर्थात्, पक्ति के अन्त से ग्रामार्द्धस्याधिका । इन दो पक्तियो का अभिप्रेत पाठ था -अस्मिन्नेव ग्रामे पूर्वतटाकस्य पर्य्यन्तभूमिवप्रबद्धा ग्रामार्द्धस्याधिका श्रीवापिका पन्थान यावज्ज्येष्ठ इति कृत्वा नागवत्सस्वामिने दत्ता । और यह अवतरण उपयुक्तत प० १३ में अकित अनुमोदित के पश्चात् जोडा जाना चाहिए था (द्र०, ऊपर टिप्पणी १) ।

१२ इस धि के ऊपर एक × चिन्ह है जिसका तात्पर्य यह निर्दिष्ट करता है कि यहा कुछ जोडा जाना है; अर्थात् मिने के नीचे, पक्तियो के बीच मे अकित का दत्ता को यहां रखना है ।

राजा महासुदेवराज के रायपुर पत्र

२७ लनमि[1]ति । स्वमुखाज्ञया प्रवर्द्धमानविजयसम्वत्सर १० माघ ६
२८ उत्की (त्की) र्ण्णं [०][2] द्रोणसिङ्घ (ङ्घे)न [॥*]

अनुवाद

मुहर[3]

प्रसन्न हृदय वाले (तथा) (अपनी) शक्ति से (अपने) शत्रुओ को जीतने वाले सुदेवराज का राजपत्र शत्रुओ (द्वारा भी मानने) के लिए राजपत्र (है)।

पत्र

ओम् ! कल्याण हो। शरभपुर नगर से श्री महासुदेवराज—जिनके चरण-युगल (अपनी) शक्ति से पराभूत किए गए (अपने समक्ष अवनत) सामन्तो के मुकुटो मे (बधी) चूडाओ के रत्नों के प्रभा-प्रवाह रूपी जल से परिशुद्ध हैं, जो (अपने) शत्रुओ की स्त्रियों के सवारे हुए केशो के उद्धरण के कारण हैं, जो कोश, भूमि तथा गायो का दान करने वाले हैं, जो भगवत् के परम भक्त हैं (तथा) जो (अपने) माता-पिता के चरणो का ध्यान करने वाले हैं—पूर्वी देश मे स्थित श्रीमाहिका (गाव) मे निवास करने वाले कृषको के प्रति यह आदेश जारी करते हैं —

प० ५—"आपको यह विदित हो कि (हमारे इस दान द्वारा) देवताओ के अधिपति (इन्द्र) के निवासस्थल (की प्राप्ति) के सुख को हमारे लिए निश्चित करने वाला यह गाव—जो एक ताम्र-पत्रांकित राजपत्र द्वारा, तब तक भोगे जाने के लिए जब तक कि सूर्य, चन्द्रमा तथा ताराओ की किरणो से उपाकृत हुए घोर अन्धकार वाले विश्व की स्थिति है, (इसके) छिपी निधियो तथा धरोहरो के साथ, नियमित सेनाओ से अप्रवेश्य, (तथा) सभी करो से मुक्त रूप मे, औपमन्यव (शाखा) के तथा वत्स गोत्र के नागवत्स स्वामिन् तथा बन्धुवत्सस्वामिन् को, जो कि कन्या-दान के कारण कौण्डिन्य गोत्र के तथा वाजसनेय (शाखा) के सवितृस्वामिन् के जामाता है, दिया गया है-सूर्य की अपनी उत्तराग्रमुख गति के प्रारम्भ के समय, (हमारे) माता पिता तथा हमारे अपने पुण्य-वृद्धि के उद्देश्य से, हमारे द्वारा अनुमोदित हुआ।

प० १३-'इससे अवगत हो कर आप उनके आदेशो का पालन करें तथा उचितरूपेण (उनके) भोग का भाग देते हुए सुख-लाभ करें।"

प० १५-तथा वे भावी राजाओं को यह निर्देश देते हैं-"धर्म पर केन्द्रित मन वाले पूर्वजनों का यह कहना है कि (दान की) सुरक्षा से उद्भूत पुण्य दान देने से (उद्भूत पुण्य से) बढकर है, अतएव आपका मन शुद्ध कुलोत्पन्न तथा विद्वान् ब्राह्मण को दिए गए दान की प्ररक्षा मे प्रवृत्त होना चाहिए। अतएव यह दान आप द्वारा सुरक्षित होवे।"

प० १८-और इस विषय परवे व्यास द्वारा गाए गए इन श्लोकों को उद्धत करते हैं-सुवर्ण अग्नि की प्रथम सन्तान है, पृथ्वी (भगवान) विष्णु की है, तथा गाए सूर्य की पुत्रिया हैं, अतएव सुवर्ण, गाय तथा भूमि दानी द्वारा तीनो लोकों का दान किया जाता है। भूमि-दान करने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग में सुख-भोग करता है, किन्तु (दान का) अपहरण करने वाला तथा (अपहरण कर्म)

---

१ यह प० २४ में अन्त मे अंकित सुपा का उपयुक्त सदम है।

२ जोड़ें, शासनम्।

३ अवशिष्ट कुछ शब्दो की सहायता से तथा महाजयराज के आरग दानलेख (ऊपर स० ४०,) के मुहर पर अंकित लेख की समवृत्तिता के आधार पर पुनर्स्थापित।

का अनुमोदन करने वाला उतने ही वर्षों तक नरक-वास करेंगे। सगर से प्रारम्भ हो कर यह पृथ्वी बहुसंख्यक राजाओं द्वारा दान में दी गई है जो किसी समयविशेष पर इस पृथ्वी का स्वामी होता है उसे ही उस समय (यदि वह इसे बनाए रहता है तो इस दान का) फल। हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठिर, पूर्व-दत्त भूमि की-चाहे वह स्वयं तुम्हारे द्वारा दी गई हो अथवा किसी अन्य के द्वारा-सावधानी से सुरक्षा करो, (वस्तुत) (दान की) सुरक्षा दान देने से अधिक पुण्यकर (है)।

प० २५-ज्येष्ठ होने के कारण गाव के (अपने ठीक) आधे भाग से अधिक के रूप मे, इसी गाव मे पूर्वी तालाब को परिवेष्टित करने वाली तथा सड़क तक फैली हुई भूमि पर बने टीले के भीतर स्थित श्रीवापिका नामक सिंचाई हेतु उपयोग किया जाने वाला कूप नागवल्लस्वामिन् को दिया जाता है।

प० २७-(महानुदेवराज) की स्वयं अपनी सुआज्ञा से, प्रवर्धमान विजय के वर्ष १० (में) माघ (मास) मे, ९ (दिन पर) (यह ताम्रपत्र) द्रोणसिंह द्वारा उत्कीर्ण हुआ।

सं० ४२, प्रतिचित्र २८

आदित्यसेन का अफसड प्रस्तर-लेख

यह अभिलेख १८५० से कुछ समय पूर्व मेजर मार्कम किट्टो द्वारा पाया गया किन्तु, जहां तक मैं खोज सका हूँ, इसका प्रथम अभिज्ञान १८६३ में जनरल कनिंघम के १८६१-६२ के विवरण में हुआ जो कि बंगाल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका के पूरक के रूप में (जि० ३२, पृ० ३३०) जारी किया गया, तथा जो, १८७१ में आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १ में–जहां कि यह लेख पृ० ४० पर उद्धृत है–पुनर्प्रकाशित हुआ। १८६६ में डा० राजेन्द्रलाल मित्र ने–आधुनिक देवनागरी लिपि में अंकित मूल प्रतिलिपि से जो कि मेजर किट्टो ने जनरल कनिंघम को दिया था–इस लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया। १८८२ में, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १५, पृ० ११ में, जनरल कनिंघम ने–मेजर किट्टो द्वारा तैयार किए गए मूल लेख की प्रतिलिपि जो कि इस समय तक श्री जे० डी० एस० बेगलर द्वारा बंगाल एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय की अभिलेखों की एक पेटिका में पायी जा चुकी थी, के अपने परीक्षण के आधार पर–इस अनुवाद में यह सूचना जोड़ी कि दूसरे राजा का नाम हर्षगुप्त है, न कि हरिगुप्त जैसा कि मेजर किट्टो ने पढ़ा था। तथा १८८३ में, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया जि० १६, पृ० ७९ में, उन्होंने आगे यह सूचित किया कि डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने–प्रत्यक्षतः उनको लिखे गए किसी पत्र में–यह संकेतित किया था कि प० ७ में मेजर किट्टो की प्रतिलिपि में अंकित शान्तवर्मन् के स्थान पर ईशानवर्मन् का नाम होना चाहिए।

अफसड[1] अथवा अफसण्ड, जिसे जाफरपुर भी कहा जाता है, सकरी नदी के दाहिने तट के निकट बसा हुआ एक गांव है, जो बंगाल प्रेसीडेन्सी में गया जिले के नवादा तहसील के प्रमुख नगर नवादा[2] से उत्तर पूर्व में लगभग पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है। यह अभिलेख एक प्रस्तर-पट्टी पर अंकित है, जो कि यहां पायी गई थी और बाद में अफसड में "वराह प्रतिमा के निकट पीठिका में इसे लगाये जाने के पूर्व इसके पुनर्निरीक्षण के उद्देश्य से तथा यथासंभव इसे पुनः स्थापित करने के उद्देश्य से" मेजर किट्टो द्वारा हटा दी गई थी। स्थानीय सूचना के अनुसार, मेजर किट्टो द्वारा यह प्रस्तर खण्ड नवादा ले जाया गया था, किन्तु जनरल कनिंघम इसे प्राप्त कर सकने में असफल रहे और न ही उन्हें यहां पर अथवा गया एवं बनारस में इसके विषय में कोई सूचना मिली। मूल प्रस्तर-खण्ड के अपलोपन से उत्पन्न कमी की पूर्ति–जहां तक संभव हो सकता है–कलकत्ता स्थित बंगाल एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में रखी, लाल खड़िया से निर्मित, उस अपवादरूपेण सुन्दर प्रतिलिपि से होती है, जिसे स्वयं मेजर किट्टो ने तैयार किया था, तथा जिससे मैंने संप्रति इस लेख का संपादन किया है और जिससे मेरा शिलामुद्रण तैयार हुआ है।

---

१ मानचित्रों इ० का 'Aphsar', 'Ufsund' तथा 'Ufsund Jafurpoor'। इण्डियन एटलस, फलक सं० ११२। अक्षांश २५°४' उत्तर, देशान्तर ८५°४४' पूर्व।

२ मानचित्रों इ० का 'Nawada', 'Newadeeh', 'Nowada' तथा 'Nowada'।

अपने हाशिए के साथ लेखन प्रस्तर-खण्ड का सपूर्ण सम्मुख भाग घेरता है, तथा प्रत्यक्षत यह लगभग २' फीट ६" इच चौडे, १' फीट ५½" इच ऊचे हलके दवे स्तर पर अकित है, तथा इस स्तर के अन्दर घसे होने के परिणामस्वरूप बनी पट्टी की चौडाई ¾" से लेकर १" तक है। प्रस्तर-खण्ड के बीच के भाग को ऋतु-प्रभाव से पर्याप्त क्षति पहुची है, किन्तु यहा भी–प० १५ मे, माधवगुप्त तथा हर्षदेव अर्थात् कनौज के हर्षवर्धन के बीच स्थित सम्बन्ध का निर्देशन करने वाले सकेत की पूर्ति को छोड कर–ऐतिहासिक महत्व की कोई भी सूचना नष्ट हुई नही जान पडती। शेष लेख पूर्णतया पठनीय है। अकन से यह सकेतित होता है कि प्रस्तर-खण्ड का निचला दाहिना किनारा टूट गया है, किन्तु, जैसा कि मूलपाठ की प० २५ से सम्बन्ध टिप्पणी से प्रदर्शित होता है, इस स्थान पर प्रस्तर-खण्ड मूलत दोषपूर्ण जान पडता है, तथा प्रथम दृष्टिपात से उद्भूत अपेक्षा के प्रतिकूल लेखन का बहुत कम भाग विलुप्त हुआ है। अक्षरो का आकार लगभग ⁵⁄₁₆" से लेकर ⁷⁄₃₂" तक हैं। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के है तथा, इस जिल्द के पूर्ववर्ती प्रतिचित्रो से तुलना करने पर, अत्यन्त विशिष्ट विकास प्रस्तुत करते है। ये अक्षर एक विशिष्ट प्रकार के हैं, चू कि इन अक्षरो मे प्रयुक्त लम्बरूप रेखाए नीचे के भाग मे टेढी मुडी हुई, अथवा झुकी हुई (कुटिल) हैं, अतएव इनके साथ एक विशेष नाम 'कुटिल' जुड गया है। 'कुटिल' शब्द वस्तुत (विक्रम) सवत् १०४६ के 'देवल' अभिलेख[1] मे आता है, इस लेख की अन्तिम पक्ति मे यह कहा गया है कि "यह (प्रशस्ति) गौड (देशवासी) तथा विष्णुहरि के पुत्र लक्षादित्य नामक लेखक द्वारा लिखी गई है, जो मुडे हुए अक्षरो के सुविज्ञ हैं।" "मुडे हुए अक्षरो" के लिए यहा कुटिलाक्षराणि शब्द का प्रयोग हुआ है। इस शब्द का प्रयोग यहा किसी विशिष्ट प्रकार की लेखन-शैली के सुस्थापित नाम के रूप मे प्रयुक्त हुआ नही जान पडता है—ठीक उसी प्रकार जैसे वर्तमान लेख की प० २७ मे प्रयुक्त पद विकटाक्षरा ("—सुन्दर अक्षरो मे रची प्रशस्ति)" नागपुर स्थित प्रादेशिक सग्रहालय के एक लेख की प० २७ मे प्रयुक्त पद रुचिराक्षरपङ्क्तिनि "=(यह प्रशस्ति) रुचिर अक्षरो वाली पक्तियो (मे उत्कीर्ण हुई है)" तथा महीपाल के सासबहू मन्दिर लेख की प० ४१ मे प्रयुक्त पद सद्वर्णा "=उत्तम अक्षरो मे रची (प्रशस्ति)"[2] किसी विशिष्ट लेखन शैली के सुस्थापित नाम के रूप मे नही प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु, 'कुटिल' शब्द इस अक्षर-प्रकार के साथ इतना ठीक बैठता है कि चू कि यह नाम इस वर्णमाला के साथ इतने लम्बे समय से प्रयुक्त होता रहा है अत इसके प्रयोग को बनाए रखने मे कोई आपत्ति नही दिखाई पडती। वर्तमान लेख की वर्णमाला को सातवी शताब्दी मे मगध मे प्रचलित वर्णमाला का कुटिल-प्रकार कहा जा सकता है। यह आधुनिक देवनागरी से भिन्न है किन्तु यह भिन्नता बहुत ही कम है। प० १ मे अकित गाढ मे तथा प० २ अकित दृढ मे प्रयुक्त मूर्धस्थानीय ढ अपने आधुनिक देवनागरी रूप के लगभग पूर्णतया समान है। प० ३ तथा १६ मे अकित चूडा मे, प० १८ मे अकित खड्ग मे, तथा प० २१ मे अकित जडो मे प्रयुक्त मूर्धस्थानीय ड अभी अपने सक्रमणकालीन रूप मे है और दन्त्य द से थोडा ही भिन्न है। तथा सपूर्ण लेख मे प्राचीनतम अकित स्वरूप किसी अनुवर्ती व्यजन के साथ अकित र का स्वरूप हैं—उदाहरणार्थ प० २ तथा १५ मे अकित हर्ष मे, प० २ मे अकित घनुर्भीम मे, प० ७ मे अकित सिन्धुर्लक्ष्मी मे, तथा प० १२ मे अकित अर्थ मे, इसके प्रयोग मे वही सामान्य विधि अपनाई गई है जिसका ऊपर कई स्थानो पर उल्लेख किया गया है, किन्तु जब कि हम प्राचीनतर लेखो मे इसे केवल अनुवर्ती य के सहयोग मे लिखित होने पर ही पक्ति पर अकित हुआ पाते है, सप्रति यह आद्यन्त पक्ति के ऊपर अकित होने के स्थान पर पक्ति पर ही अकित मिलता है, तथा प० ७ मे अकित शौर्य के र्य मे

---

१ आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ३५५, प्रति० ५१।

२ इडियन ऐन्टिक्वेरी जि० १५, पृ० ४१।

हम इस अक्षर का ठीक ठीक वही रूप पाते हैं जिस रूप मे यह दो शताब्दियो पूर्व अकित होता था—उदाहरणार्थ, महाराज हस्तिन् के वर्ष १९१ मे तिथ्यकित मझगवा पत्राकित लेख (ऊपर स० २३, प्रति० १४) की प० १२ मे अकित कुर्यात् मे। भाषा सस्कृत है और सपूर्ण लेख पद्य मे है। यह लेख अतिशयोक्तिपूर्ण पदो से युक्त तथा पौराणिक कथाओ से सम्बद्ध पदो—जिनका परवर्ती लेखो मे प्रचुर प्रयोग मिलता है और जो इन परवर्ती लेखो को अपेक्षाकृत प्राचीन लेखो की कलापूर्ण, सक्षिप्त, सुन्दर तथा सामान्यत काव्यात्मक शैली से पृथक करते हैं— से युक्त लेख का लगभग प्राचीनतम उदाहरण प्रस्तुत करता है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे केवल ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १ प० २१ मे अकित आतपत्र मे, केवल एक बार, अनुवर्ती र साथ सयोग होने पर त का द्वित्व, यह सभव है कि यहा यह द्वित्व शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे भ्रामक विचार के कारण हुआ हो, तथा २ सपूर्ण लेख मे व के स्थान पर ब का प्रयोग— उदाहरणार्थ प० ९ तथा ११ मे अकित विबुद्ध मे, प० १४-१५ मे अकित बलिनो मे, प० १५ मे अकित बभूव मे तथा प० १७ मे अकित बिभ्रतो मे।

लेख मगध के गुप्तो के वश मे उत्पन्न आदित्यसेन का है। यह तिथिरहित है। यह वैष्णव लेख है तथा इसका मुख्य प्रयोजन आदित्यसेन द्वारा भगवान् विष्णु के मन्दिर के निर्माण कार्य का लेखन है। किन्तु यह उसकी माता श्रीमती द्वारा एक धार्मिक विद्यालय अथवा विहार के निर्माण-कार्य का तथा उसकी पत्नी कोणदेवी द्वारा एक तालाब के उत्खनन-कार्य का भी उल्लेख करता है।

मूलपाठ[1]

१ ओम् [॥*] आसीद्[2]न्तिसहस्रगाधकटको विद्याधराध्यासित. सद्वश स्थिर उन्नतो गिरिरिव श्री कृष्णगुप्तो नृप । दृप्तारातिमदान्धवारणघटाकुम्भस्थली क्षुन्दता यस्यासख्यरिपुप्रताप-जयिना दोष्णा मृगेन्द्रायित ॥ सकल[3] कलङ्करहित

२ क्षततिमिरस्तोयवे शशाङ्क इव। तस्मादुदपादि सुतो देव श्रीहर्षगुप्त इति ॥ यो[4] योग्याकाल-हेलावनतदृढधनुर्भीमबाणौघपाती मूर्त [त्]* स्वस्वामिलक्ष्मीवसतिविमुखितैरीक्षित सास्रपात। घोराणामा—

३ हवानम् लिखितमिव जय श्लाघ्यमाविर्दधानो वक्षस्युद्दामशस्त्रव्रणकठिनकिणग्रन्थिलेखाच्छलेन॥ श्री[5] जीवितगुप्तोऽभूत्क्षितीशचूडामणि सुतस्तस्य । यो दृप्तवैरिनारीमुखनलिनवनैक-शिशिर[6]कर ॥

४ मुक्तामुक्त[7]पय प्रवाहशिशिरासूत्तुङ्गतालीवनभ्राम्यद्दन्तिकरावलूनकदलीकाण्डासु वेलास्वपि । श्च्योतत्स्फारतुषारनिर्झरपय शीतेऽपि शैले स्थितान्यस्योच्चैर्द्विपतो मुमोच

---

१ मेजर किट्टो के अंकन से, शिलामुद्रण भी उसी से।

२ छन्द, शार्दूलविक्रीडित।

३ छन्द, आर्या।

४ छन्द, स्रग्धरा।

५ छन्द, आर्या।

६ पढ़ें, शिशिर।

७ छन्द, शार्दूलविक्रीडित।

५ न महाघोर प्रतापज्वर ।। यस्या[1]तिमानुष कर्म्म दृश्यते विस्मयाज्जनौघेन। अद्यापि कोशवर्द्धन-तटात्प्लुत पवनजस्येव ।। प्रख्यातशक्तिभाजीषु पुर सर श्रीकुमा—

६ रगुप्तमिति । अजनयदेक स नृपो हर इव शिखिवाहन तनयं ।। उत्सर्प्पद्[2]वातहेलाचलितकदलिका-वीचिमालावितान प्रोद्यद्धलिजलौघभ्रमितगुरुमहामत्त—

७ मातगशैल । भीम श्री[3]शानवर्म्मक्षितिपतिशशिन सैन्यदुग्धोदसिन्धुर्ल्लक्ष्मीसप्राप्तिहेतु सपदि विमथितो मन्दरीभूय येन ।। शौर्य[4]सत्यव्रतधरो य प्रयागगतो घ—

८ ने । अम्भसीव करीषाग्नौ मग्न स पुष्पपूजित ।। श्री दामोदरगुप्तोऽभूत्तनयस्तस्य भूपते । येन दामोदरेणेव दैत्या इव हता द्विष ।। यो[5] मौखरे समितिषूद्ध—

९ तहूणसैन्या वल्गद्घटा विघटयन्नुरुवारणाना । सम्मूच्छित' सुरवधु(धू)र्वरय (न्) ममेति तत्पा-[णि] ण् पङ्कजसुखस्पर्शाद्वि[6]घु(बु)द्ध ।। गुणवद्[7][द्‌ *]वजकन्याना [*] नानालकारयौवन—

१० वतीनां । परिणायितवान्स नृप शत निसृष्टाग्रहाराणा ।। श् [री][8]महासेनगुप्तोऽभूत्तस्माद्वीरा-ग्रणी [*] सुत । सर्व्ववीरसमाजेषु लेभे यो धुरि वीरता [।।] श्[ी]म[9]त्सुस्थितवर्म्म-युद्धविजय—

११ श्लाघापदाङ्क मुहुर्यस्याद्यापि विबु(बु)द्धकुन्दकुमुदक्षुण्ण(?) च्छहार [—]त[*]। लोहि-त्यस्य तट् [` ]पु श् [ ी ]तलतल् [ `] पूल्फ[़]ल्[ल] नागद्र[़]मच्छायासुप्तविबु(बु)द्ध-[f] सद्ध[f] मथुन् [`] स्फ् [ी]त यशो गीयते ।। वसुदेवा—

१२ दिव[10] तस्माच्छ्रीस्[` ]वन[शो (?)] भ् [ ी ] दितचरणयुग । श्री माधवगुप्तोऽभून्माधव इव विक्रमैकरस [ ।।] [— — —[11]— अ ]नुस्म् [ऋ] तो धुरि रण् [ `] श्लाघावताम-ग्रण् [ी] सो (सौ)जन्यस्य निधानमर्थनिघ (च)—

---

१ छन्द, आर्या, तथा अगले श्लोक मे ।

२ छन्द, स्रग्धरा ।

३ ई की मात्रा का निचला भाग तथा र के अन्तिम सिरे को छोडकर शेष भाग पूर्णतया अप्राप्य है जो या तो अपूर्ण छोड दिए गए थे अथवा टूट गए । किन्तु अक्षर के सही अभिज्ञान के लिए शेष अश पर्याप्त है ।

४ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले श्लोक में ।

५ छन्द, वसन्ततिलक ।

६ छन्द यहा दोषपूर्ण है, दो दीर्घ अक्षरों के स्थान पर यहा दो ह्रस्व तथा एक दीर्घ अक्षर होने चाहिए थे ।

७ छन्द, आर्या ।

८ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ) ।

९ छन्द, शार्दूलविक्रीडित ।

१० छन्द, आर्या ।

११ छन्द, शार्दूलविक्रीडित, तथा अगले श्लोक में ।

१३ यत्यागो [द्*]धुराणा ध (? व)र [ ] । लक्ष्म् [ी]स[त्यस]रस्वती कुलगृह [ ] धर्मस्य तेसुर्द्द ढ पू(?)ज्यो(?) नासि[व्] सम् [ ] तल् [ ] [— — — — — — — —]ल्[—] सद्गुण् [ ] ॥ चक्र [ ] पाणितलेन सोप्युदवहत्तस्यापि शाङ्ग' [ ] धनु—

१४ र्नाशायासुहृदा[ ] सुखाय सुहृदाम् तस्याप्यसिर्नन्दक । प्राप्ते विद्विपता वक्षे प्रतिहत[—] तेनाप[— — — — — — — — — — — — — ढ(?)रि(?)म(?)[——]न्या' प्रणेमुज्जंना ॥ आजौ[१] मया विनिहता व(ब)—

१५ लिनो द्विपन् [त] कृत्य[ ] न म् [*]स्त्यपरिमित्यवधार्य वीर । ।] श्रीहर्षदेवनिजम [ ]-गमवञ्छया च(?) [— — — — — — — — — — — — — — —] [॥] श् [र्]-ीमान्व (ब)भूव दलितारिकरीन्द्रकुम्भमुक्तारज —

१६ पटलपांसुलमण्डलाग्र । आदित्यसेन इति तत्तनय क्षितीशचूडाम [णि] णर्द्द [— — — — — — — — —] [॥] — — —[२] — — — —] मागतमरिध्वसीत्थमाप्त यश श्लाघ्य

१७ सर्व्वधनुष्मता पुर इति श्लाघ परा वि(वि) अति आशीर्व्वादपरपरा चि(?)रसक्र(?)द् [—] यामासम (?) ॥ आजौ[३] स्वेदच्छलेन ध्व—

१८ जपटशिखया मार्ज्जितो दानपङ्क खड्ग क्षुण्णेन मुक्ताशकलसिकतल् [ी(?)] कृ(?)त्य(?)-(?) [— —] मद् [त]-मात [ ] गघात तद्गन्धाकृष्टसम्पद्द(व)—

१९ हलपरिमलभ्रान्त (न्त)मत्तालिजाल ॥ आव(ब)द्ध[४]भीमविकटभ्रुकुटिकठोरस [ ] ग् [र्]-ाम [— — — — — — — — — — — — । — — — — — —] दवल्लभभृत्य-वर्गगोष्ठीपु पेश—

२० लतया परिहासशील ॥ सत्य[५]भर्त्तृव्रता यस्य मुखोपद्[ा] नतापसी । प [ि]र् हास् [— — — — — — — — — — — — — — —] [॥] [— — —[६]— — —]ज्ञ सकलरिपुव(ब)-लध्वंसहेतुर्गरी—

२१ यान्निस्त्रिंशोत्खातघातश्रमजनितजडोऽप्यूर्जितस्वप्रताप । युद्धे मत्तेभकुम्भस्थ[ल — — — — — — — — — — — —]ध्व् [ ] तातपत्रस्थगितवसुमतीमण्डलो लो—

२२ कपाल ॥ आजौ[७]मत्तगजेन्द्रकुम्भदलनस्फीतस्फुरद्दोर्युगो ध्वस्ताने(?)क(?)रिपुप्रभावव्[— — — — — —] यशोमण्डल' । नयस्ताशेपनरेन्द्रमौलिचरणस्फारप्रतापान—

---

१ छन्द, वसन्ततिलक, तथा अगले श्लोक मे ।

२ छन्द, शार्दूलविक्रीडित ।

३ छन्द, स्रग्धरा ।

४ छन्द, वसन्ततिलक ।

५ छन्द, श्लोक (अनुष्टुम)

६ छन्द, स्रग्धरा ।

७ छन्द, शार्दूलविक्रीडित, तथा अगले श्लोक मे ।

२३ लो लक्ष्मीवान्समराभिमानविमलप्रख्यातकीर्त्तिर्नृ प ।। येनाय शरदिन्दुबिम्बधवला प्रख्यातभूमण्डला लक्ष्मीसगमकाक्षया सुमहती कीर्तिश्चर कोपिता । याता सा—

२४ गरपारमद्भुततमा सापत्न्यवैरादाहो तेनेद भवनोत्तम क्षितिभुजा विष्णो॰ कृते कारित ।। तज्ज[१]-नन्या महादेव्या श्रीमत्या कारितो मठ॰ । धार्मिकेभ्य स्वयदत्त सुरलो—

२५ क[२]गृहोपम ।। शखे[३]न्दुस्फटिकप्रभाप्रतिसमस्फारस्फुरच्छीकर नक्रकान्तिचलत्तरङ्गविलसत्पक्षिप्रनृत्यत्तिमि । राज्ञा खानितमद्भुत सुतपसा पेपीयमान

२६ जनैस्तस्यैव प्रियभार्यया नरपते श्रीकोणदेव्या सर ।। यावच्चन्द्रकला हरस्य शिरसि श्री॰ शार्ङ्गिणो वक्षसि ब्र(ब्र)ह्मास्ये च सरस्वती कृत—

२७ [⏑ — — — ⏑ — — ⏑ —] । [भोगे] भूभुजगाधिपस्य च तडिद्यावद्घनस्योदरे तावत्कीर्त्तिमिहातनोति धवलामादित्यसेनो नृप॰ ।। सूक्ष्मशिवेन[४] गौडेन प्रशस्तिर्व्विकटाक्षरा ।। (।)

२८ [— — — मा(?)मिता सम्यग्धार्म्मिकेण सुधीमता ।।

अनुवाद

ओम् । श्री कृष्णगुप्त नाम के राजा हुए थे जो इस अर्थ मे पर्वत सदृश थे कि (उनके) नगर, पर्वत की ढलानो के समान हाथियो से भरे रहते थे, कि जैसे पर्वत विद्याधरो से निवसित रहता है, वे विद्वान् लोगो द्वारा सेवित रहते थे, कि जैसे पर्वत उत्तम वासो से युक्त होता है, वे भी अच्छे वश मे उत्पन्न हुए थे, (तथा) इस अर्थ मे कि वे दृढ (तथा) उन्नत थे, (तथा) (अपने) दर्पयुक्त शत्रुओ के मत्त हाथियो के समूहो के कुम्भस्थलो को आहत करने मे, (एव) (अपनी) शक्ति से असख्य शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने मे जिनकी भुजा सिंह की भूमिका निभाती थी।

प० १—जिस प्रकार समुद्र से कलक-रहित, अन्धकार-नाशक पूर्ण चन्द्र उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार उनके शोभासपन्न श्री हर्षगुप्त नामक पुत्र उत्पन्न हुए जो कि—यथासमय सरलतया अवनत किए जाने वाले (अपने) दृढ धनुष से घोर बाण-वर्षा करते हुए, (तथा) (अपने) स्वामी स्वरूप (उसके) साथ बसने वाली भाग्य-लक्ष्मी के वासस्थान से पराङ्मुख एव विमूढ (अपने शत्रुओ) द्वारा साश्रु पूर्ण नेत्रो से देखे जाते हुए—(सदैव) अपने) वक्षस्थल पर अनेक शस्त्रो के घावो से बनी गाठो की पक्तियो के रूप मे भयकर युद्धो के लिखित-पत्र के समान प्रशसनीय विजय का प्रदर्शन करते थे।

---

१ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ) ।

२ इस कोने मे प्रस्तर-खण्ड टूट गया जान पडता है। किन्तु ऐसा प्रतीत है कि जब यह लेख उत्कीर्ण हुआ, उस समय भी इस स्थल पर प्रस्तर-खण्ड दोषपूर्ण था, क्योंकि प० २७ जो कि प्रस्तर-खण्ड के किनारो से प्रारम्भ होती है, के प्रारम्भ मे, यद्यपि नौ अक्षर पूर्णतया नष्ट हो गए हैं, तथा दो अक्षर अशत नष्ट हुए हैं, प्रयुक्त छन्दो से यह प्रदर्शित होता है कि प० २६—जो कि प्रस्तर-खण्ड के किनारे से नौ अक्षरो की दूरी से प्रारम्भ होती है—के प्रारम्भ मे कुछ भी नष्ट नही हुआ है, तथा प० २८—जो कि प्रस्तर-खण्ड के किनारे से लगभग सोलह अक्षरो की दूरी से प्रारम्भ की गई थी—के प्रारम्भ मे केवल चार अक्षर अप्राप्य हैं।

३ छन्द, शार्दूलविक्रीडित, तथा अगले श्लोक मे ।

४ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ)

प० ३— उनके पुत्र राजाओ मे श्रेष्ठ श्री जीवितगुप्त हुए जो (अपने) अभिमानी शत्रुओ की पत्नियो के मुखरूपी कमलों (को कुम्हला देने) के लिए अत्यन्त शीतल किरणो वाले (चन्द्रमा के समान) थे। आगे पीछे होने वाली जल की लहरो मे शीतल हुए तथा, उन्नत ताल वृक्षो के बीच विचरण करते हुए, हाथियो द्वारा तोडी गई कदली वृक्षो की शाखाओ से आवृत्त समुद्रतटो पर रहने वाले भी, (अथवा) हिमयुक्त, तीव्र बहती हुई एव लहरो वाली जलधाराओ से शीतल (हिमालय) पर्वत पर निवास करने वाले भी (उनके) अभिमानी शत्रुओ को (भय का) भयकर तीव्र-ज्वर नही छोडता था। आज भी मनुष्य जाति द्वारा जिनके अतिमानवीय कम, कोशवर्धन[1] (पर्वत) के तट मे लगाई गई पवन-पुत्र (हनुमत्)[2] की छलाग के समान, आश्चर्य के साथ देखे जाते हैं।

प० ५—जिस प्रकार (भगवान्) हर को मयूर-वाहन[3] (कार्तिकेय) हुए थे, उसी प्रकार उन राजा को प्रसिद्ध शक्ति वाला, युद्धाग्रणी श्री कुमारगुप्त नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ, मन्दर (पर्वत) की भूमिका अपनाने वाले जिनके द्वारा[4]— (सेनाओ के प्रयाण मे उत्पन्न) गर्जन करती हुई वायु द्वारा आगे पीछे चलायमान होते हुए कदली वृक्ष जिसकी बढती हुई लहर-शृखलाओ के समान हैं, (तथा) (सैनिको द्वारा उद्वेलित) उठती धूलि रूपी जल-समूह द्वारा भ्रमित (शत्रुओ के) वृहद्काय तथा शक्तिवान् मदमत हाथी जिसकी शिलाओ के समान हैं, ऐसा-लक्ष्मी की प्राप्ति का कारणस्वरूप, राजाओ मे चन्द्रमा के समान श्री ईशानवर्मन् की सेना रूपी दुग्ध-समुद्र शीघ्रतापूर्वक मथ दिया गया। धन (का स्वामित्व) होने पर (भी) शौर्य सपन्न तथा सत्यव्रत वे प्रयाग गए, (तथा वहां) पुष्पो से अलकृत हो, मानो जल मे (केवल स्नान करने के लिए गोता लगा रहे हो) वे गोबर के उपलो मे (जलाई गई) अग्नि मे निमग्न हो गए[5]।

---

१ कोशवर्धन पर्वत का एकमात्र अन्य उल्लेख हमें शेरगढ (कोटा) बौद्ध अभिलेख की प० १७ (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ४६) म प्राप्त होता है जहां कि यह उस पहाडी को निर्दिष्ट करता जान पडता है जिस पर आजकल शेरगढ का किला निर्मित है। यह उन पर्वतो मे से कोई एक जिस पर से हनुमत् ने अपनी कोई छलांग लगाई होगी—हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।

२ हनुमत्, रावण के साथ हुए युद्ध में राम के सहायको के रूप मे उत्पन्न, अर्ध-दैवी वानरों मे से प्रसिद्धतम थे। इस वानर-सेना के नेता विभिन्न देवताओं की सन्तान समझे जाते थे, तथा हनुमत् पवन या मारुत अथवा वायु देवता के पुत्र थे। हनुमत् की एक प्रसिद्ध छलांग वह थी जो उन्होंने भारत भूमि पर से सीता का पता लगाने के लिए समुद्र के ऊपर होते हुए, लंका तक लगाई थी। दूसरी वह थी जो उन्होंने, रावण के नगर को जलाने के पश्चात् पुन लका से भारत भूमि पर लगाई थी, इस अवसर पर, जिस पर्वत से वह उछले थे वह धक्के से भूमि के अन्दर चला गया। उनकी तीसरी छलांग वह थी जो उन्होने आहत लक्ष्मण को औषधि के लिए गन्धमादन पर्वत पर पहुचने के लिए लगाई थी। यह बता सकना कठिन है कि यहा किस छलाग की ओर संकेत है क्योकि रामायण में कोशवर्धन नामक किसी पर्वत का उल्लेख नहीं है, और जिन पर्वतो से उन्होंने अपनी छलांगें लगाई थी, मुझे उनके नाम नही मिलते।

३ कार्तिकेय का एक नाम कुमार था। इसी आधार पर यहा उनमे तथा कुमारगुप्त में तुलना की गई है।

४ इस श्लोक मे अमृत तथा अन्य मूल्यवान वस्तुओ जो विलुप्त हो गई थी, की प्राप्ति के लिए देवताओं तथा असुरों द्वारा किए गए समुद्र-मन्थन की ओर सकेत है। मन्दर पर्वत को मन्थन-यष्टि के रूप मे प्रयुक्त किया गया था और इस मन्थन-प्रक्रिया मे भाग्य तथा धन की देवी लक्ष्मी समुद्र से निकलीं।

५ यह श्लोक यह निर्दिष्ट करता प्रतीत होता है कि कुमार गुप्त का दाहसस्कार इलाहाबाद मे सपन्न हुआ, किन्तु यह अनिवार्यत यह निर्दिष्ट करता नहीं जान पडता कि वह जीते जी चिता मे बैठा था।

प० ८—उस राजा के पुत्र श्री दामोदरगुप्त थे जिनके द्वारा (उनके) शत्रु मारे गए, जैसे (भगवान्) दामोदर द्वारा राक्षस मारे गए थे। युद्ध मे (कुचल कर मार डालने के उद्देश्य से) हूणो की सेनाओ को ऊपर फेंकने वाले मौखरि के मदमत्त आगे बढते हुए शक्तिमान् हाथियो के व्यूह का विघटन करते हुए वह मूर्च्छित हो गया (और लडाई मे मृत्यु को प्राप्त हुआ), (तथा पुन स्वर्ग मे जागृतावस्था को प्राप्त कर तथा) "(अमुक अथवा अमुक) मेरी है", यह कहते हुए देव-पत्नियो के बीच चयन करते हुए, वे उनके कमल रूपी हाथो के सुखद स्पर्श द्वारा चेतन हुए। राजा (होने के समय) उन्होने गुणवान् ब्राह्मणो को सैकडो, आभूषणो से अलकृत तथा युवती, कन्याओ का विवाह किया (तथा) उन्हे अग्रहार-दानो का दहेज दिया।

प० १०—उनसे शूरो मे अग्रणी श्री महासेनगुप्त नामक पुत्र उत्पन्न हुए, जिन्होने सभी वीरो के समाज मे उच्चतम श्रेणी की वीरता (की ख्याति) प्राप्त किया, युद्ध मे श्रीमान् सुस्थितवर्मन् के ऊपर प्राप्त विजय-सम्मान से चिन्हित, (तथा) पूर्ण-प्रस्फुटित कमल अथवा कुन्द पुष्प के समान (धवल वर्ण) जिनका विपुल यश आज भी-पूर्ण विकसित पान मे पादपो की छाया मे सो कर उठे सिद्ध-मिथुनो से शीतल तल वाले-लोहित्य (नदी) के तटो पर आज भी गाया जाता है।

प० ११— जिस प्रकार वसुदेव से (देवी) श्री की सेवाओ से सुशोभित चरणो वाले (भगवान्) माधव (उत्पन्न हुए थे), उसी प्रकार उनसे, केवल पराक्रम मे आनन्द-लाभ करने वाले, तथा भाग्य-देवो की सेवाओ से सुशोभित चरणो वाले श्री माधवगुप्त (पुत्र रूप मे) उत्पन्न हुए। वह की प्रथम श्रेणी मे अनुस्मृत, युद्ध मे यश-लाभ करने वालो मे अग्रणी, अच्छाई के कोशस्वरूप, धन के सग्रह तथा दान मे उत्कृष्ट लोगो मे श्रेष्ठ, धन, सत्य तथा विद्या के सहज निवास-स्थान, (तथा) धर्म के दृढ सेतु-पृथ्वी पर ऐसा कोई भी नही है जो श्रेष्ठ जनो द्वारा (इतना) सराहनीय हो (जितना कि वह थे)। (भगवान्) के समान वे भी (अपने) हाथ की हथेली पर चक्र का वहन करते थे[1], उनके पास भी (अपने) शत्रुओ के विनाश के लिए (तथा) अपने मित्रो की प्रसन्नता के लिए (प्रयुक्त), सीग निर्मित धनुष तथा आनन्दित करने वाली तलवार थी[2], (तथा) (अपने) शत्रुओ का हनन सपन्न हो चुकने पर उनके द्वारा हटाया गया, लोगो ने प्रणमन किया। "(मेरे) शक्तिमान् शत्रु युद्ध मे मेरे द्वारा मारे जा चुके है, मेरे लिए और कुछ भी करना शेष नही है"—उस वीर ने मन मे ऐसा निश्चय किया, (और पुन) श्री हर्षदेव[3] से अपना सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा से।

---

१ भगवान् वास्तविक चक्र धारण करते हैं, राजा के हस्त-तल पर चक्र का अकन था (द्र०, ऊपर पृ० २२५, टिप्पणी १)।

२ यहा विष्णु (माधव) के चक्र, उनके शृ ग निर्मित धनुष, शार्ङ्ग तथा नन्दक नामक तलवार का निर्देश है।

३ कनौज का हर्षवर्धन। उसके नाम का यह स्वरूप हर्षचरित (कश्मीर सस्करण) पृ० ११६, प० ५ मे भी आता है। मैंने पाया है कि उसे प्राय श्रीहर्ष तथा श्री हर्षवर्धन भी कहा गया है— मानो श्री आदर सूचक उपसर्ग मात्र न हो कर उसके नाम का एक अ ग हो। किन्तु मुझे तद्‌विषयक कोई प्रामाणिक आधार नही उपलब्ध है। मुझे ऐसा एक भी दृष्टान्त नही प्राप्त है जिसमे किसी अभिलेख अथवा पुस्तक मे श्री श्री हर्ष पाठ दिया गया हो (द्र०, ऊपर पृ० १० टिप्पणी १) जबकि विक्रमादित्य के चौथे दानलेख की प० २६ (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १६, पृ० २२) मे उसे स्पष्ट रूपेण हर्ष-महानृप (महान राजा हर्ष) कहा गया है। इसी प्रकार, उसके विषय मे तथा उसके इतिहास के विषय मे बाण द्वारा रचित पुस्तक को, इसके प्रत्येक विभाजन की पुष्पिका मे, केवल हर्षचरित कहा गया है, श्री हर्षचरित नहीं, तथा कश्मीर सस्करण के ग्रन्थ के नाम के पूर्व दिया गया श्री केवल ग्रन्थ के नाम के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है जिससे "हर्ष का प्रसिद्ध इतिहास" यह अर्थ अभिप्रेत है।

प० १५— उनके आदित्यसेन इस नाम के राजाओ मे श्रेष्ठ श्रीमान् पुत्र हुए, जिनका चक्र (इसके द्वारा) दलित शत्रुओ के श्रेष्ठ हाथियो के कुम्भस्थलो से प्राप्त होने वाली मुक्ताओ रूपी धूलि के मोटे लेप से[1] मलिन रहता था यह उत्कृष्टतम प्रसिद्धि बताते हुए कि ...से प्राप्त (तथा) (अपने) शत्रुओ के नाश से उद्भूत (उनकी) श्रेष्ठ प्रशसा सभी धनुर्धरो के सम्मुख प्रशसनीय है। आशीर्वाद की एक अनवरत शृ खला । युद्ध में पसीना (पोछने) के बहाने (प्रयुक्त होने वाली) अपनी ध्वजा के क्षौम-वस्त्र के किनारे से (अपने द्वारा मारे गये) हाथियो के मद-पक से सनी हुई (तथा) (उनके कुम्भस्थलो से निकली हुई) मुक्ता-कणो रूपी बालुका मे बालुकामयी हुई तलवार को साफ करते हुए जो खण्ड खण्ड टूट गया था मदमत्त हाथियो का वध, जिस प्रक्रिया मे, प्रभूत मात्रा मे बहते हुए सुगन्धिपूर्ण मद से विभ्रान्त भ्रमर-पक्तिया सुगन्धि से आकृष्ट होती थीं। ' 'भयकर तथा कठोर भृकुटि से युक्त युद्ध मे (वे) (अपने) प्रियजनो तथा अनुचरो के समाज मे रुचिर प्रकार से हसने वाले हैं। (अपने) स्वामी के प्रति सत्यरूपेण पतिव्रता (अपने) मुख (?) के उत्कृष्ट गुणो से तपस्या करने वाली, हास' जिनकी पत्नी...। वाले (तथा) (अपने) सभी शत्रुओ के विनाश का कारण-स्वरूप (तथा) (अपनी) तलवार को (इसके कोश से) खीचने तथा (इससे) प्रहार (करने) के श्रम से उत्पन्न थकान से युक्त होने पर भी प्रबल शक्ति का स्वामी । युद्ध मे मत्त हाथियो के कुम्भस्थलो, (वे सत्य ही) विश्व के सरक्षक है जिनके शुभ छत्र से सपूर्ण पृथ्वी-मण्डल आवृत्त है। युद्ध मे मत्त हाथियो के कुम्भस्थलो के विदारण से उन राजा की दोनो प्रकाशमान भुजाए परिपुष्ट हैं, वे बहुसख्यक शत्रुओं की शक्ति के विनाशन द्वारा (अधिगत) यश-मण्डल से सम्पन्न हैं, (उनके) चरण की प्रबल प्रतापाग्नि (इसे प्रज्वलित रखने के लिए आहुति-स्वरूप) (अन्य) राजाओ के मस्तको की चूडाओ से न्यस्त है, वे श्री सम्पन्न हैं, (तथा) वे युद्ध मे सम्मानपूर्ण व्यवहार द्वारा (अधिगत) निर्मल तथा प्रख्यात यश से युक्त हैं।

प० २३— (भगवान्) विष्णु का यह सर्वोत्कृष्ट मन्दिर उन राजा के द्वारा बनवाया गया है, जिनके द्वारा शरद-चन्द्र के मण्डल के सदृश धवल (तथा) (समस्त) पृथ्वी-मण्डल पर प्रख्यात (ऊपर चर्चित) यह सुकीर्त्ति, उनके लक्ष्मी के साथ सहवास की इच्छा के कारण, दीर्घकाल तक कुपित की गई और फिर, और भी विलक्षण होती हुई, मानो सपत्नियो की स्थिति मे विद्यमान सहज विरोध के कारण (दूर रहने के उद्देश्य से) समुद्र के पार चली गई[2]।

प० २४— उनकी माता महादेवी श्रीमती द्वारा देव-लोक के घर के सदृश यह धार्मिक विद्यालय बनवाया गया, (तथा) स्वय उनके द्वारा धार्मिक जनो को दिया गया।

---

१ यह विश्वास था—और सस्कृत काव्य मे इसके प्रभूत उद्धरण मिलते हैं—कि हाथियों के कुम्भस्थलो मे मुक्ता होती है।

२ कीर्त्ति (प्रसिद्धि) तथा लक्ष्मी (भाग्य अथवा धन) को यहा राजा की सपत्नियों के रूप मे देखा गया है। भाव यह है कि अन्तत उसकी प्रसिद्धि इतनी अधिक हो गई कि विश्व के दूर दूर कोनों तक-यहा तक कि समुद्र पार तक-फैल गई, और यह इससे निर्दिष्ट किया गया है कि कीर्त्ति अ तत लक्ष्मी से ईर्ष्या करने के कारण और अपनी सपत्नी से दूर रहने के उद्देश्य से अपने स्वामी का घर छोड कर चली गई।

प० २५— उन्ही राजा की प्रिय पत्नी रानी श्री कोणदेवी द्वारा उत्कृष्ट तपस्या के सम्पादन मे, एक अद्भुत सरोवर खुदवाया गया है—जिसका जल लोगो द्वारा रूचिपूर्वक पीया जाता है, जिसका सीकर शख, चन्द्रमा अथवा स्फटिक को प्रभा के समान चचल तथा चमकीली प्रभावाला है, (तथा) घडियालो की गति से आगे पीछे होने वाली जिसको तरगो मे पक्षी क्रीडा करते है तथा वडी मछलिया नर्तन करती है।

प० २६— जब तक चन्द्रमा की कला (भगवान्) हर के मस्तक पर (स्थित है) (तथा) (देवी) श्री विष्णु के वक्षस्थल पर (तथा) (देवी) सरस्वती ब्रह्मन् के मुख में ··, जब तक पृथ्वी सर्पो के राजा (शेष) के फण पर (स्थित है); तथा जब तक मेघ के भीतर तडित् विद्यमान है– तब तक राजा आदित्यसेन (इन कार्यों मे) (अपनी) धवल कीर्ति प्रकाशित करते रहेगे।

प० २७— रुचिर अक्षरो (मे लिखी गई) (यह) प्रशस्ति····पूर्ण धार्मिक (तथा) अत्यन्त बुद्धिमान, गौड (देश) (के निवासी) सूक्ष्मशिव द्वारा (लिखी गई अथवा उत्कीर्ण की गई है)।

आदित्यसेन का अफसड़ लेख
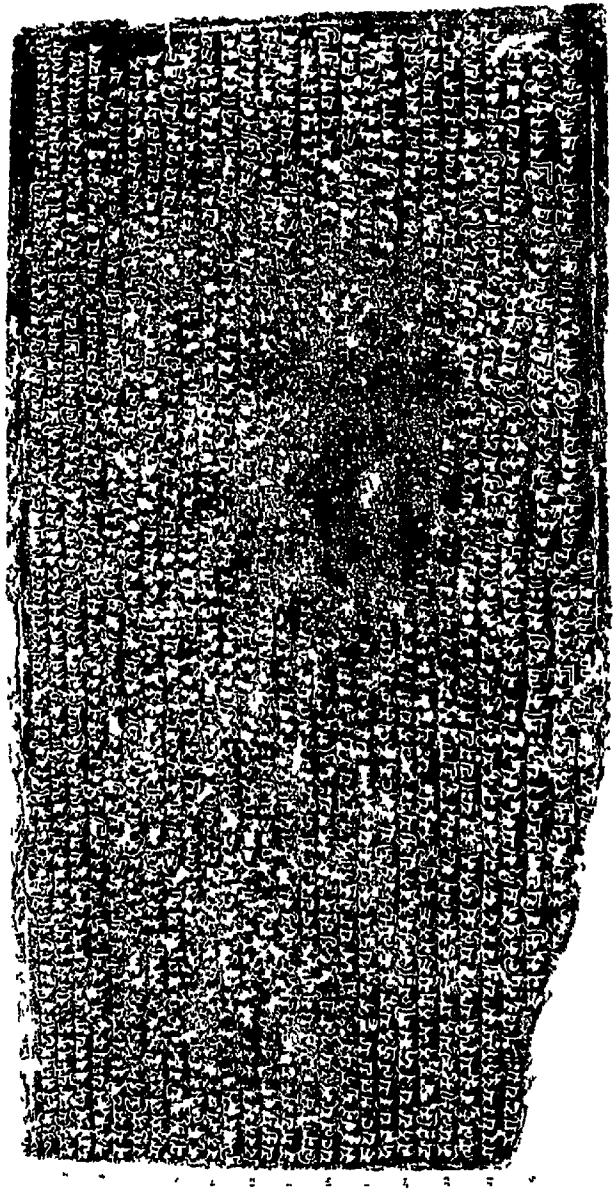
स० ४३, प्रतिचित्र २९क

आदित्य सेन का शाहपुर प्रतिमा-लेख

इस लेख की प्राप्ति प्रत्यक्षत १८७९–८० मे पुरातात्विक सर्वेक्षण के मुख्य निदेशक के सहायक श्री जे० डी० एम० बेगलर द्वारा हुई, तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान १८८२ मे, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १५, पृ० १२ के माध्यम से हुआ जबकि जनरल कनिंघम ने शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० ११, स० १) मूल का अपना पाठ तथा इसका अनुवाद प्रकाशित किया।

शाहपुर[1], जिसे शाहपुर-तैतरावा भी कहते हैं, बगाल प्रेसीडेन्सी मे पटना जिले के बिहार तहसील के मुख्य नगर बिहार से दक्षिण-पूर्व मे लगभग नौ मील की दूरी पर सकरी नदी के दाहिने तट पर स्थित एक गाव है। यह लेख मानव रूप मे अकित सूर्य की एक खडी प्रतिमा की पीठिका पर अकित है. प्रतिमा २' १०" ऊची है और इसके प्रत्येक हाथ मे कमल-पुष्प प्रदर्शित है, इसके प्रत्येक ओर एक छोटी खडी आकृति बनी हुई है जिनमे से दाहिनी आकृति के हाथ मे गदा है। यह प्रतिमा इस गाव के खेतो मे स्थित एक टीले से प्राप्त हुई थी। जब १८८४ मे मैंने अपने लिपिको को शाहपुर भेजा, उन्हे प्रतिमा प्राप्त नही हो सकी और न इस बात की कोई सूचना मिल सकी कि उसका क्या हुआ। अतएव, मेरा शिलामुद्रण श्री बेगलर की पेंसिल से बनें अकन (pencil-rubbing)—जो कि व्यावहारिक बातो के लिये पर्याप्त है यद्यपि सभवत तिथि उतनी स्पष्ट नही है जितनी हो सकती थी—से तैयार किया गया है।

लेखन, जो कि लगभग १' ४½" चौडा तथा ४" ऊचा स्थान घेरता है, प्रस्तर-खण्ड के ठीक दाहिने कोने पर काफी क्षतिग्रस्त हुआ है, किन्तु, शेष भाग पूर्ण सुरक्षित है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ⅕" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा लगभग पूर्णतया उसी कुटिल प्रकार के हैं जो हमे आदित्यसेन के पूर्ववर्ती अफसड लेख (स० ४२, प्रति० २८) मे मिलता है। प० २ मे, इन अक्षरो मे ६, ७ (?) तथा ६० के अक[2] भी सम्मिलित हैं। भाषा सस्कृत है तथा सपूर्ण लेख गद्य

---

१ मानचित्रों इ० का 'Shahpur', 'Shahpoor', 'Shahpur–Tetranwan' तथा 'Shahpoor–Titarawa'। इण्डियन एटलस, फलक स० ११२। अक्षाश २५°६' उत्तर, देशान्तर ८५°४३' पूर्व।

२ दिन के लिए प्रयुक्त शब्द थोडा सदिग्ध है किन्तु यह ७ जान पडता है। जनरल कनिंघम ने इन अको को दशमलव अक माना तथा वर्ष के लिए तथा दिन के लिए प्रयुक्त अको को क्रमश ५५ तथा १ पढ़ा। उसी समय उन्होंने यह भी सूचित किया कि डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने भी इन्हे दशमलव अक माना है पर वर्ष के अक को ८८ पढ़ा है। तथा जनरल कनिंघम द्वारा प्रकाशित शिलामुद्रण में यह अक वस्तुत ५५ अथवा ८८ प्रतीत

मे है · वर्ण-विन्यास के प्रसग मे एकमात्र ध्यातव्य विशिष्टता प० ३ मे अकित वलाधिकृत मे, ब के स्थान पर व का प्रयोग है।

अभिलेख स्वय को मगध के गुप्तो के वश मे उत्पन्न आदित्यसेन के समय मे रखता है। उसकी तिथि अको मे—वर्ष छियासठ तथा मार्ग अर्थात् मार्गशिर अथवा मार्गशीर्ष मास (नवम्बर-

---

होता है। किन्तु दशमलव अको के ज्ञान के लिए यह समय बहुत प्राचीन है। तथा अको के क्षतिग्रस्त होने पर भी अवशिष्ट अश यह प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त है कि पहले ६० का अकन हुआ है जिसके बाद ६ अकित हुआ है जहा तक उपलब्ध निश्चित तिथियो का प्रश्न है, देश के इस भाग मे अकात्मक प्रतीको की पद्धति हर्ष सवत् १८८ (ईस्वी सन् ७९४ ९५) तक सुरक्षित थी जैसा कि बगाल एशियाटिक सोसायटी के महाराज विनायकपाल के दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० १३ ८ इ०) से ज्ञात होता है, तथा पडौस के नेपाल मे यह पद्धति जयदेव द्वितीय के अभिलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १७८ इ०, तथा जि० १४, पृ० ३४५) के आधार पर, हर्ष सवत् १५३ (ईसवी सन् ६५९–६०) तक, तथा एक अन्य नेपाल अभिलेख (वही, जि० ९, पृ० १६८ इ०, तथा जि० १४, पृ० ३४५) के आधार पर गुप्त सवत् ५३५ (ईसवी सन् ८५४–५५) तक सुरक्षित थी। पश्चिमी भारत में यह गुजरात मे—जैसा कि गुजरात के राष्ट्रकूट के कारेली दानलेख से प्रदर्शित होता है (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १६, पृ० १०५ इ०)—शक सवत् ६७९ (ईसवी सन् ७५७-५८) तक प्रचलित थी। मध्य भारत मे यह—जैसा कि सामन्त देवदत्त के शेरगढ (कोटा) लेख मे प्रदर्शित होता है (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ४५ इ०, ३५१)—विक्रम सवत् ८७९ (ईसवी सन् ८२२–२३) तक प्रचलित थी। तथा दक्षिण भारत मे यह—जैसा कि पूर्वी चालुक्य महाराज विष्णुवर्धन प्रथम के विजगापटम दानलेख से ज्ञात होता है (बर्नेल की साउथ इण्डियन पैलियोग्राफी, पृ० १२ ३ इ० तथा प्रति० २७, अपरञ्च द्र०, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ७, पृ० १८६ जहा कि मैंने तिथि को सोलह वर्ष बताया है, अट्ठारह वर्ष नही जो कि यह वस्तुत जान पड़ता है) लगभग शक सवत् ५४९ (ईसवी सन् ६२७-२८) तक प्रचलित थी। जहा तक दशमलव अको के प्रथम प्रयोग का प्रश्न है (यहा हम उनके प्रथम ज्ञान के प्रश्न को छोड रहे हैं, जो कि सभवत उज्जैन के ज्योतिषियो को पाचवीं अथवा छठी शताब्दी ई० मे हुआ) इनके प्रयोग के प्राचीनतम आभिलेखिक दृष्टान्त जो मैं उद्धृत कर सका हू, वे इस प्रकार हैं उत्तर मे, भोजदेव का विक्रम सवत् ९३३ अथवा ईसवी सन् ८७६–७७ मे तिथ्यकित ग्वालियर अभिलेख (जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३१, पृ० ४०७ इ०, अपरञ्च द्र० इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० १०८, टिप्पणी २५), तथा उसी राजा का हर्ष सवत् २७६ अथवा ईसवी सन् ८८२–८३ मे तिथ्यकित 'पेहेवा' अभिलेख (जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ३०, पृ० ६७१ इ० तथा जि० ३३, पृ० २२३ इ०, अपरञ्च द्र० इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० १०९ टिप्पणी २७), मध्य भारत मे, उसी राजा का विक्रम सवत् ९१९ तथा शक सवत् ७८४ अथवा ईसवी सन् ८६२–६३ मे तिथ्यकित 'देवगढ' अभिलेख (आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० १०० इ० अपरञ्च द्र०, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ११०, टिप्पणी ३२), गुजरात मे राष्ट्रकूट ध्रुव तृतीय का शक सवत् ७८९ अथवा ईसवी सन् ८६७–६८ मे तिथ्यकित 'बगुम्रा' दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० १८४), काठियावाड मे, जाइक का (प० १७ मे वास्तविक शब्दो मे लिखित) गुप्त सवत् ५८५ अथवा ईसवी सन् ९०४–५ मे तिथ्यकित मोरबी दानलेख, दक्षिण भारत मे राष्ट्रकूटो का शक सवत् ६७५ अथवा ईसवी सन् ७५३-५४ मे तिथ्यकित सामानगढ दानलेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० १०८ इ०)।

दिसम्बर) के शुक्ल पक्ष का सातवा (?) दिनबताई गई है। सवत् का उल्लेख नही है किन्तु आदित्यसेन के इतिहास के विषय मे ज्ञात तथ्यो के आधार पर यह कनौज के हर्षवर्धन द्वारा चलाया गया सवत् निश्चित होता है, जो ईसवी सन् ६०६ अथवा ६०७ मे प्रारम्भ हुआ था[1], और इस प्रकार इस लेख की तिथि ईसवी सन् ६७२ ७३ ठहरेगी। लेख सूर्योपासना से सबद्ध है तथा इसका अभिप्राय, सर्वप्रथम तो किसी दान का, जिससे सबद्ध सूचना प० १ मे अब अपठनीय है, तथा दूसरे बलाधिकृत[2] सालपक्ष द्वारा-प्रत्यक्षत नालन्दा अग्रहार मे-इस प्रतिमा की स्थापना का लेखन है।

इस लेख मे नालन्दा के नाम का उल्लेख सदिग्ध है, किन्तु इसे मान लेने मे कोई विशेष आपत्ति नही है क्योकि शाहपुर के निकट मे नालन्दा, जो मूलत एक बौद्ध केन्द्र था, एक प्रसिद्ध स्थान था, जिसका तादात्य जनरल कनिंघम[3] ने राजगिर से ठीक सात मील उत्तर मे तथा शाहपुर से लगभग १५ मील सन्निकटत ठीक पश्चिम मे स्थित आधुनिक 'बरगाव'[4] मे किया है। प्रतिमा, जो पर्याप्त छोटी तथा वहनीय है, मूलत नालन्दा मे स्थापित की गई होगी और कालान्तर मे किसी समय शाहपुर स्थानान्तरित हो गई होगी।

मूलपाठ[5]

१ न्‌ ल्‌ ढ्‌ ग्‌ चन्द्रक्षितिकाल यावत्[र्] प्रतिपादित [।।*]

२ ओम् सम्वत् ६० ६ मार्ग शु दि ७ (?) अस्यान्दिवसमासम्वत्सरानुपूर्व्व्यां[6] श्रीआदित्य[7]सेन-

३ [देव]राज् [य्] ेना(?)लन्द(?)महाग्रहारे माध् [७न्] । ब(व)लाधिकृतसालपक्षेण दे [य*] धर्म्मोऽय प्रतिष्ठित ( )

४ [मातापित्रोरा]त्मनश्च पुण्याभिवृद्धये [।।*]

अनुवाद

तथा चन्द्रमा तथा पृथ्वी की स्थिति तक दान मे दिया गया।

---

१ द्र०, इण्डियन ऐंटिक्वेरी, जि० १३, पृ० ४२०, टिप्पणी ३७।

२ बलाधिकृत एक पारिभाषिक सेना-सबधी उपाधि है जिसका शाब्दिक अर्थ है-'सैनिक टुकडियो के (सचालन) के लिए नियुक्त व्यक्ति'। बलाधिकृतो मे ऊपर महाबलाधिकृत होता था, द्र०, ऊपर पृ० १३४, टिप्पणी २।

३ ऐश्येन्ट जोग्रोफी आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ४६८ इ०।

४ इण्डियन एटलस, फलक स० १०२। अक्षाश २५°८' उत्तर, देशान्तर ८५°२१' पूर्व। मानचित्र मे नाम 'Burgaon' लिखा गया है। अत इस नाम का शुद्ध रूप 'बडगाव' जान पडता है।

५ क्लेगलर की *pencil-rubbing* मे, शिलामुद्रण भी।

६ जोडे, तिथौ।

७ पढे आदित्य।

प० २–ओम्। वर्ष ६० (तथा) ५, मार्ग (मास) शुक्ल पक्ष[१], दिन ७ (?)–ऊपर उल्लिखित दिन, मास तथा वर्ष[२] द्वारा (निर्दिष्ट) इस (चान्द्र दिवस) पर, श्री आदित्यसेन के शासनकाल में बलाधिकृत पुण्यात्मा सालपक्ष द्वारा (अपने) माता-पिता तथा अपने पुण्य की वृद्धि के उद्देश्य से यह उपर्युक्त धार्मिक दान नालन्दा के महान् अग्रहार में प्रतिष्ठित किया गया।

---

१ मूलपाठ में इस स्थान पर संक्षिप्त रूप शु दिया गया है जो पक्ष अथवा पक्षे के साथ शुद्ध अथवा शुक्ल का प्रतिनिधित्व करता है; द्र०, ऊपर पृ० ११३, टिप्पणी १।

२ द्र०, ऊपर पृ० ११६, टिप्पणी ४।

स० ४४ तथा ४५, (कोई प्रतिचित्र नहीं)

आदित्य सेन का मन्दार पहाडी से प्राप्त शिलालेख

ये दो अभिलेख डा० फ्रॅन्सिस बुखनन (हैमिल्टन) द्वारा पाये गये थे तथा जनसामान्य को इनका ज्ञान सर्वप्रथम उनके विवरणों द्वारा हुआ, जिनके आधार पर श्री मान्टगोमरी मार्टिन ने ईस्टर्न इण्डियन शीर्षक पुस्तक का सकलन तथा १८३८ में इसका प्रकाशन किया, इस पुस्तक की जि० २ पृ०५८ पर शिलामुद्रणों के साथ (वही, प्रति० ४, स० ३ तथा ४) ये अभिलेख उल्लिखित हुए हैं। जहा तक मुझे ज्ञात है इनके विषय मे और विस्तृत जानकारी अब तक और कभी प्रकाशित नहीं हुई है।

मन्दार अथवा मन्दारगिरि[1] बगाल प्रेसीडेन्सी में भागलपुर[2] जिले के बाका तहसील के मुख्य नगर बाका[3] से सात मील दक्षिण-पूर्व मे स्थित एक प्रसिद्ध पहाडी है। उत्तरी भारत के अपने भ्रमण की अवधि में मैं इन अभिलेखो की स्थिति के विषय मे ठीक-ठीक सूचना पाने में असफल रहा, और उनके शिलामुद्रण नही प्रकाशित कर रहा हू। किन्तु, डा० बुखनन की प्रतिलिपिया—यद्यपि वे अपनी अच्छी नहीं हैं कि उन्हें यहा दिया जाय—आदित्यसेन के नाम के तुरन्त बाद के तीन अक्षरो को छोड कर, आद्यन्त बुद्धिगम्य हैं। और हाल मे ही श्री बेगलर ने मुझे लेख स० ४४ की एक प्रतिलिपि तथा एक हस्त-लिपि भेजी है जो यद्यपि शिलामुद्रण के लिए ठीक नही है किन्तु जो इस लेख के डा० बुखनन के पाठ का पूर्ण समर्थन करते हैं, और मुझे उन कुछ अक्षरो को निश्चितरूपेण पढने मे सहायता करते हैं जो उनके शिलामुद्रण मे सदिग्ध हैं। श्री बेगलर के अभिकथनो से यह ज्ञात होता है कि लेख स० ४४ पापहारिणी नाम से ज्ञात निचले तालाब के कोने से उठती हुई सीढियो की दाहिनी ओर, तथा ऊपरी तालाब पर जाने वाली सीढियो के तल मे स्थित शिला पर अकित है। दूसरे अभिलेख, स० ४५, की स्थिति अब सर्वथा अज्ञात है।

वस्तु सामग्री मे दोनो लेख समान हैं, किन्तु एक दो पक्तियो में तथा दूसरी चार पक्तियों में व्यवस्थित है। स० ४४ का लेखन लगभग ६' २" चौडा तथा २' ११" ऊचा स्थान घेरता है और पर्याप्त सुरक्षित अवस्था मे है, किन्तु शिला-तल इतना खुरदरा जान पडता है कि यह सदिग्ध है कि शिलामुद्रण के लिए पर्याप्तरूपेण सुन्दर स्याही की छाप प्राप्त की जा सकती थी। अक्षरों का औसत आकार लगभग ५" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा लगभग ठीक ठीक उसी कुटिल प्रकार के हैं जो हमे आदित्यसेन के अफसड अभिलेख (ऊपर स० ४२, प्रति० २८) मे प्राप्त होता है। भाषा सस्कृत है तथा दोनो लेख गद्य में हैं। वर्ण-विन्यास मे कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नहीं है।

---

१ मानचित्रों इ० का 'Mandar', 'Mandargiri', 'Mundar Hill,' तथा 'Mundar H Temeple'। इण्डियन एटलस, फलक स० ११२। अक्षांश २४° ५०' उत्तर, देशान्तर ८७° ४' पूर्व।

२ मानचित्रो इ० का 'Bhagalpur' तथा 'Bhaugulpoor'।

३ मानचित्रों का 'Banka'।

अभिलेख-द्वय को मगध के गुप्तों के वंश में उत्पन्न आदित्यसेन के समय में रखते हैं। ये तिथिविहीन हैं। किन्तु यहाँ आदित्यसेन के लिए प्रयुक्त परमभट्टारक तथा महाराजाधिराज की सार्वभौम उपाधियाँ यह प्रदर्शित करती हैं कि ये लेख कनौज के हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न हुई अव्यवस्था और अराजकता के काल के हैं जबकि आदित्यसेन ने मगध में अपनी स्वतंत्रता की स्थापना की, इनसे यह भी प्रदर्शित होता है कि ये अफसड तथा शाहपुर लेखों से कुछ बाद के हैं क्योंकि अन्यथा शाहपुर लेख में—चूँकि यह गद्य में है—यदि उस समय तक उसने इन सार्वभौम उपाधियों को धारण कर लिया होता तो उनका समावेश अवश्य हुआ होता। ये किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं हैं, इनमें केवल इस बात का उल्लेख है कि आदित्यसेन की पत्नी कोणदेवी ने एक तालाब का निर्माण कराया।

मूलपाठ[1]

सं० ४४

१ ओम् परमभट्टारकमह[ा]र[ा]जा[ि]ध[र][ा]ज—
२ श्रीआदित्य[2] सेनदेवदयित[ा] परम—
३ भट्टारिक[ा]र[ा]ज्[ञ्]ीमह[ा]द[े]व[ी]श्री[को]णद[े]व्[ी]
४ पुष्करिणीकीर्त्तिमिम[ा]ङ्का[ा][ि]र्तव [ती] [॥ *]

सं० ४५

१ ओम परमभट्टारकमह[ा]र[ा]ज[ा]धिराजश्रीआ[ि]दत्य[3]सेनदेवद[ि]यता
२ परमभट्टारिक[ा]र[ा]ज्ञीमहाद[े]वीश्रीक[ो]णद[े]वी पु[ष्]करिणीकर्त्ति त्तमिम-
[ा]ङ्कारितवती [॥ *]

अनुवाद

ओम्! परमभट्टारक तथा महाराजाधिराज श्री आदित्यसेनदेव की प्रिय पत्नी परमभट्टारिका[4], रानी[5], महादेवी श्री कोणदेवी ने सरोवर की इस प्रसिद्ध कार्य[6] को सम्पन्न करवाया।

---

१ श्री उत्तमर के सं० ४४ की प्रतिलिपि से, तथा डा० भुसनन के सं० ४५ के प्रकाशित शिलामुद्रण से।

२ पढ़, श्र्यादित्य।

३ यहाँ भी पढ़ें, श्र्यादित्य।

४ परमभट्टारिका, अक्षरश: वह जो सम्मान तथा पूजा की सर्वोच्च अधिकारिणी हैं, परमभट्टारक की स्त्रीलिंग में प्रयुक्त उपाधि है (द्र० ऊपर पृ० २१, टिप्पणी २), तथा सार्वभौम शासकों की लिए प्रयुक्त पत्नियों के पारिभाषिक उपाधियों में एक थी।

५ राज्ञी, जीवितगुप्त द्वितीय के अनुवर्ती देव-बरणार्क अभिलेख की प० २ इ० में यह शब्द आया है। यह राजन् शब्द का स्त्रीलिंग सूचक शब्द है किन्तु इसका प्रयोग एकान्तिकरूपेण अर्थात् स्थिति सूचित करने वाली पारिभाषिक उपाधि के रूप में नहीं होता जैसा कि हम राजन् शब्द के प्रसंग में पाते हैं। आधुनिक भाषा में भी रानी का प्राकृत रूप रानी शब्द राजा की पत्नी की उपयुक्त उपाधि है, किन्तु इंगलैंड तथा भारत की सम्राज्ञी की उपाधि के रूप में भी इसका प्रयोग उसी प्रकार होता है जैसे महारानी शब्द का।

६ कीर्ति। डा० राजेन्द्रलाल मित्र को प्रमाण मानते हुए, श्री के० टी० तेलंग (इण्डियन ऐंटिक्वेरी, जि० ६, पृ० ३६, टिप्पणी १२) ने सर्वप्रथम इस ओर ध्यान आकर्षित किया कि कुछ सन्दर्भों में कीर्ति शब्द 'मन्दिर' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उदाहरणार्थ, अनन्तदेव के शक संवत् १०१६ में निष्पादित खारेपाटन दानपत्र पं० १८ में (वही पृ० ३४) जिसका कि वे उस समय सम्पादन कर रहे थे। प्रो० आर० जी०

भण्डारकर ने इसका समर्थन किया (वही, जि० १२, पृ० २२८ इ०), इस अर्थ का यह न जानते हुए कनक द्वितीय के शक संवत् ७३४ में तिथ्यंकित बड़ौदा दानलेख की प० १४ इ० में अंकित अवतरण (वही, जि० १२, पृ० १५६) का अनुवाद करने में मैंने जो गलती की थी, उसके प्रति ध्यान दिलाते हुए उन्होंने अग्नि पुराण (बिब्लियोथिका इण्डिया, जि०१, १११ में), बाण रचित कादम्बरी एवं सोमेश्वर रचित कीर्तिकौमुदी से तीन अवतरण उद्धृत किए, जिनमें इस शब्द का स्पष्टतः यही अर्थ था। तब से, मैं इन दृष्टान्तों में दो दृष्टान्त और जोड़ सका हूं देवलब्धि का 'दुदही' लेख (वही, जि० १२, पृ० २८६) तथा विक्रम संवत् १०६३ में तिथ्यंकित उदयगिरि लेख (वही जि० १३, पृ० १८५)। इन प्रमाणों की समवृत्तिता के आधार पर कीर्ति–जो कि उसी धातु से व्युत्पन्न है–का उपरोक्त अर्थ किया जाना सर्वथा तर्कपूर्ण है। किन्तु, हाल में डा० भण्डारकर ने मुझे यह सुझाया है कि कीर्ति तथा कीर्तन का 'मन्दिर' अथवा इस प्रकार का कोई विशिष्ट अर्थ करना उपयुक्त नहीं है, ये शब्द सामान्यतया 'जनसामान्य के हित में निर्मित किसी भी ऐसी कृति का निर्देश करते हैं जिनसे इसके निर्माता के नाम का यशस्थापन अभिप्रेत है'। यह अर्थ कृत् (उल्लेख करना, स्मृति में रखना प्रशंसा करना') धातु में इस शब्द की व्युत्पत्ति से संगति रखता है। अतएव, उल्लिखित निर्माणविशेष मन्दिर हो सकता है, जैसा कि हम ऊपर चर्चित दृष्टान्तों में देखते हैं, अथवा तालाब जैसा कि हम इन लेखों में देखते हैं, अथवा वह इसी प्रकार का कोई भी अन्य निर्माण–कार्य हो सकता है।

एक अन्य अवतरण जिसमें कीर्ति शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है–यद्यपि इसके उल्लिखित निर्माणविशेष के यथार्थ स्वरूप के विषय में अब हमें कोई सूचना नहीं मिलती–बंगाल प्रेसीडेन्सी में 'सन्ताल' परगना में स्थित 'देवघर' के वैद्यनाथ मन्दिर के मण्डप के दाहिने स्तम्भ पर प्राप्त एक अभिलेख की प० ४ में अंकित मिलता है, जिसका संपादन डा० राजेन्द्रलाल मित्र ने जर्नल आफ द बंगाल एशियाटिक सोसायटी जि० ५२, भाग १, पृ० १९० इ०, टिप्पणी ३ में किया है। यह एक वैष्णव लेख है, और इस कारण–जैसा कि डा० आर० मित्र ने बताया है–यह वैद्यनाथ मन्दिर का लेख नहीं हो सकता क्योंकि यह एक शैव मन्दिर है, साथ ही, लेख के अन्त में दिए गए शब्दों से यह मन्दारगिरि पर स्थित किसी भवन से लाया गया जान पड़ता है। मुझे इस लेख का ठीक अंकन प्राप्त कर पाने का अवसर नहीं मिल पाया। किन्तु, सोसायटी के पुस्तकालय में उपलब्ध अंकन यह प्रदर्शित करने को पर्याप्त है कि डा०आर० मित्र का पाठ, जिसे मैं नीचे अपने अनुवाद के साथ प्रस्तुत कर रहा हूं, शुद्ध है :

मूलपाठ

१ शास्ता समुद्रान्तवसुन्धराया यष्टाश्वमेधाथमहाक्रतूनाम। आदित्यसेन प्रथितप्रभा–
२ वो बभूव राजामरतुल्यतेज ।। माघ्यां विशाखापदसयुतायां कृते युगे चोलपुराद्–
३ पेत्य महामणीनामयुतत्रयेण त्रिलक्षचामीकरटङ्ककेन ।। इष्टाश्वमेधत्रित–
४ येन दत्वा तुलासहस्त्र हयकोटियुक्तम्। श्रीकोशदेव्या महितो महिष्या अचीकरत्की–
५ र्तिमिमा स सर्व्वाम् ।। कृत्वा प्रतिष्ठां विधिवद्द्विजेन्द्रै स्वयं यथा वेदपथ नरेन्द्र। कल्याणहे–
६ तोर्म्मु वनत्रयस्य चकार सन्धा गुहरे स एव ।। स्थापितो बलभद्रेण वराहो भुक्तिमुक्ति–
७ द स्वगार्थे पितृमातृणां जगत सुखहेतवे ।। इति मन्दारगिरिप्रकरणम् ।।

अनुवाद

"प्रख्यात शक्तिवाले, प्रताप म देवताओं के समान, आदित्यसेन नाम के राजा हुए, जो समुद्रों के किनारे तक विस्तृत (संपूर्ण) पृथ्वी के शासक थे अश्वमेध तथा अन्य महान् यज्ञों के सम्पादक थे। माघ (मास) की पूर्णिमा के दिन, विशाखा (चान्द्र तारक-पुंज) पद से युक्त होने पर, कृत युग में, चोल नगर से

जाने पर, तीन अश्वमेध सम्पादित कर चुकने पर, (तथा) एक कोटि अश्वों के साथ अपने भार का हजार गुना दान कर चुकने पर, उन्होंने (अपनी) पत्नी श्री कोशदेवी के साथ—महा-मणियों की तीन अयुत (तथा) टकक (नामक) तीन लाख सुवर्ण (मुद्राओं) के साथ—इस सम्पूर्ण प्रसिद्ध निर्माण-कार्य (कीर्ति) को सम्पन्न कराया। ब्राह्मणों द्वारा (सम्पादित अनुष्ठानों द्वारा) विधि पूर्वक (इनकी) प्रतिष्ठा कर—मानो वह राजा स्वयं ही वेदों के मार्ग का (निर्माण कर रहे हों)—उन्होंने तीनों लोकों के कल्याण के हेतु (भगवान्) नृहरि की संस्थापना की। (अपने) माता-पिता स्वर्ग-प्राप्ति कर सकें इस उद्देश्य से (तथा) (सम्पूर्ण) जगत् की प्रसन्नता के लिए बलभद्र द्वारा भोग तथा मोक्ष के प्रदान करने वाले वराह (अर्थात् इस रूप में भगवान् विष्णु) की स्थापना की गई। इस प्रकार मन्दारगिरि—प्रकरण समाप्त होता है।"

इन अक्षरों को डा० रा० मित्र ने मैथिल की संज्ञा प्रदान की है और इनसे यह प्रदर्शित होता है कि लेख पर्याप्त आधुनिक है—निश्चितरूपेण सोलहवीं शताब्दी से प्राचीन नहीं, तथा इसका उत्कीर्णन उस समय हुआ होगा जब कि प० ६ में वर्णित विष्णु की वराह—मूर्ति बलभद्र द्वारा स्थापित की गई। मैंने इस लेख को पूर्णरूप में उद्धृत करना इसलिये उपयुक्त समझा क्योंकि मेरे विचार से इसमें मगध के आदित्यसेन की स्मृति सुरक्षित है। इस संदर्भ की प्राचीनता इसके कृत युग में रखे जाने से संकेतित है। तथा, यद्यपि यहां आदित्यसेन की पत्नी का नाम कोणदेवी के स्थान पर कोशदेवी लिखा गया है, किन्तु इस विषमता को लोगों की—आजकल के समान—व अभिलेख अथवा अन्य किसी प्रकार के प्राचीन अक्षरों को पढ़ सकने की सामान्य असमर्थता द्वारा व्याख्यायित करना चाहिए, यह एक ऐसी गलती है जिससे आदित्यसेन के प्रस्तावित तादात्म्य का निराकरण नहीं अपितु समर्थन होता है।

स० ४६; प्रतिचित्र २६ ख

जीवितगुप्त द्वितीय का देवे-वरणार्क अभिलेख

यह अभिलेख १८८०-८१ मे जनरल कर्निघम द्वारा पाया गया, तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान सर्वप्रथम १८८३ मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १६, पृ० ६८ तथा ७३ इ० के माध्यम से हुआ जिसमे कि उन्होने डा० भगवान लाल इन्द्रजी द्वारा दिया गया लेख का एक पाठ तथा इसका आंशिक अनुवाद प्रकाशित किया, और साथ मे अपने सहायक श्री एच० वी० डब्लू० गैरिक (H B W Garrick) द्वारा लिए गए आलोक-चित्र से तैयार किया गया एक शिलामुद्रण (वही, प्रति० २५ तथा २६) भी दिया।

देओ–वरणार्क[1] अथवा देव–वरणार्क—जो कि इस लेख मे उल्लिखित प्राचीन वारुणिका है—बगाल प्रेसीडेन्सी मे शाहाबाद जिले के प्रमुख नगर आरा से लगभग पच्चीस मील दक्षिण-पश्चिम मे स्थित एक गाव है। यह अभिलेख गाव के पश्चिम मे[2] स्थित एक मन्दिर—जिसे स्पष्टत, आधुनिक काल मे भगवान् विष्णु के मन्दिर के रूप मे रूपान्तरित कर लिया गया है[3]—के प्रवेश—मण्डप के एक स्तम्भ के दो परस्पर सन्निकट पक्षो पर अकित है।

लेखन, जो लगभग २' ३½" चौडा तथा १' ४" ऊचा स्थान घेरता है, ऋतु-प्रभाव से पर्याप्त क्षतिग्रस्त हुआ है, इसके ठीक दाहिने पार्श्व को विशेष क्षति पहुची है जहा कि विविध अवतरण बुरी तरह अपठनीय हैं, किन्तु सौभाग्य से—प० २ मे अकित माधवगुप्त के नाम के प्रथम तीन अक्षरो को छोड कर, जिन्हे सरलता पूर्वक जोडा जा सकता है—इस अभिलेख मे अकित मगध के गुप्तो की पूरी वशावली सुरक्षित है। प० ७ इ० मे ऐतिहासिक महत्व की पर्याप्त सूचनाए अकित थी, जो पूर्णतया सुरक्षित हैं। अक्षरो का औसत आकार लगभग $\frac{5}{16}$" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं और लगभग उसी कुटिल प्रकार के हैं जो हमे आदित्य सेन के अफसड अभिलेख मे (ऊपर स० ४३, प्रति० २८) मे मिलता है किन्तु, इनकी रेखाए नीचे उतनी अधिक मुडी हुई नही हैं। भाषा सस्कृत है तथा सपूर्ण लेख गद्य मे है। शैली मे यह सामान्यतया ताम्रपत्र दानलेखो में प्रयुक्त शैली का अनुसरण करता है, प्रस्तर अभिलेखो मे प्रयुक्त शैली का नही। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १ प० ७ मे अकित अन्तष्पाति मे जिह्वामूलीय अथवा विसर्ग के स्थान पर ष् का प्रयोग, २ प० १४ मे अकित हन्स मे स के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर दन्त्य न का प्रयोग, ३ अनुवर्त्ती र के साथ सयोग होने पर त का सदैव द्वित्व—उदाहरणार्थ, प० १ मे अकित त्त्रय मे, प० ५

---

१ मानचित्रो इ० का 'Deo-Barnark', 'Deo-Barnarak' तथा 'Deonar-Narooh'। इण्डियन एटलस, फलक स० १०३। अक्षांश २५°१४' उत्तर, देशान्तर ८४°३१' पूर्व।

२ द्र०, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १६, प्रति० २२, २३ तथा २४।

३ वही, पृ० ६९।

मे अंकित पुत्त्र मे तथा प० १६ मे अंकित मित्त्र मे, तथा ४ प१३ मे अंकित बालादित्य मे ब के स्थान पर व का प्रयोग।

अभिलेख मगध के गुप्तो के वश मे उत्पन्न जीवितगुप्त द्वितीय का है, तथा इसमे अंकित राजपत्र गोमतिकोट्टक दुर्ग से जारी किया गया है। यह तिथिविहीन है[1]। यह सूर्योपासना से सबद्ध लेख है[2] तथा इसका प्रयोजन वरुणवासिन् उपाधि के अन्तर्गत सूर्य के प्रति वारुणिका अथवा किशोरवाटक नामक गाव के दान की निरन्तरता का लेखन है, वरुणवासिन् नाम कुछ रोचक है क्योकि इसमे स्पष्टत, वह प्राचीन मान्यता सुरक्षित है जिसके अनुसार वरुण ('वह जो आवृत्त करता है')—समुद्र-देवता वरुण, जो स्वय मूलत अदिति के पुत्र बारह आदित्यो अथवा सूर्य के स्वरूपो [3] मे से एक माना जाता था, का नाम बनने के पूर्व—का अर्थ था सबको आवृत्त करने वाला आकाश'।

यह लेख दो कारणो से महत्वपूर्ण है प्रथम, मगध के गुप्तो की वशावली में तीन अधिक पीढ़िया दी गई हैं जिसमे देवगुप्त का नाम भी सम्मिलित है जिससे–जैसा कि हम आगे देखेंगे–वाकाटक महाराजाओ की तिथि के विषय मे सूत्र प्राप्त होता है, दूसरे, यह उन पूर्ववर्ती राजाओ का नाम देता है जिन्होंने क्रम से इस दान का अनुमोदन किया था। जिनके नाम अब पठनीय हैं, वे हैं बालादित्य जिसने—जैसा कि हमे चीनी यात्री युवानच्वाग के विवरण से ज्ञात होता है—मिहिरकुल के प्रसग मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, शर्ववर्मन्, जो स्पष्टत मौखरी शासक शर्ववर्मन् है जिसकी ताम्र-मुहर हमे नीचे म० ८७, प्रति० ३० क मे प्राप्त होती है, तथा अवन्तिवर्मन् जो सभवत मौखरी शासक अवन्तिवर्मन है जिसका उल्लेख बाण के हर्षचरित मे कनौज के हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री के पति ग्रहवर्मन के पिता के रूप मे हुआ है[4]।

वहा तक लेख मे उल्लिखित स्थानो का प्रश्न है, गोमतिकोट्टक, वह दुर्ग जहा से राजपत्र जारी किया गया था, को गोमती नदी—जो नार्थ-वेस्ट प्राविंसेज मे शाहजहापुर जिले से निकल कर लखनऊ जौनपुर होते हुए देववरणार्क से लगभग पचासी मील पश्चिम मे बनारस तथा गाजीपुर की लगभग आधी दूरी पर गगा मे मिलती है—के तट पर कही होना चाहिए। तथा वारुणिका स्पष्टत आधुनिक देव—बरणार्क ही है। आधुनिक नाम मे प्रथम भाग देव है, तथा दूसरा भाग वरुणार्क का अपभ्रंश रूप है, जो कि मूल देवता के परवर्ती स्वरूप—जिसमे सूर्य [अर्क] तथा वरुण दोनो के लक्षण सन्निहित थे—के नाम का निर्देश करता है।

---

1 जनरल कनिघम ने इसमें १५२ तिथि पढी, जिसे उन्होंने कनौज के हर्षवर्धन द्वारा प्रवर्तित सवत् से सबद्ध किया। किन्तु, इसका कारण केवल प० १६ मे अंकित सवत्सरायपञ्च शब्दो को ठीक न समझ सकना था।

2 ऐसा प्रतीत होता है कि देव बरणार्क मे अब भी चैत्र मास तथा कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष के छठें दिन पर सूर्य के सम्मान में दो विशेष उत्सव मनाए जाते है (द्र०, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १६, पृ० ७२)।

3 उदाहरण के लिए, द्र०, मोनियर विलियम्स, इण्डियन विज़डम, पृ० १२ इ० तथा ६८। तथा मुइर, सस्कृत टेक्स्ट्स जि० १, पृ० २७, टिप्पणी ४२।

4 द्र०, फिट्ज़ एडवर्ड का वासवदत्ता का प्राक्कथन, पृ० ५२; तथा हर्षचरित, कश्मीर सस्करण, पृ० ३११ इ०।

मूलपाठ[1]

१ [2] [न] म [। ॥ *] स्वस्ति शक्तित्रयोपात्तजयशब्दान्महानौहा(ह)स्त्यश्वपत्तिसम्भारदुर्निवाराज्जयस्कन्धावारात् गोमतिकोट्टकसमीपवास—

२ [कात्] [3] [श्रीमाधव] गुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यात परमभट्टारिकाया राज्ञा महादेव्या श्रीश्रीमत्यामुत्पन्न परमभागवत श्रीआदित्य[4] [से]—

३ [नदेवस्तस्य] पु [त्र] स्तत्पादानुध्यात परमभट्टारिकाया राज्ञा महादेव्या श्रीकोणद् [` *]-व्यामुत्पन्न परममाहेश्वरपरमभट्टारकमहार् [ा]ज् [ा]—

४ [धिराजपरमेश्वर]श्रीद् [`] वगुप्तद् [`]वस्तस्य[5] पुत्रस्तत्पादानुध्यात परमभट्टारिकाया [*] राज्ञा [*] महादेव्या [*] श्रीकमल[6]देव्यामुत्पन्न परममाहे—

५ [श्वरपरमभट्टारकम] हाराजा [धि] राजपरमेश्वरश्रीविष्णुगुप्तदेवस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यात परमभट्टारिकाया [*] राज्ञा [*] महादेव्या [*] श्रीइज्ज[7]दे [व्या]—

६ [मुत्पन्न परम [8]] भट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीजीवितगुप्त[9]देव [*] कुशली नगरम् [ॢ *] क्तौ वालवीवंपयिकश्रीवा (? वो)—

७ — पद्र (?) लिक् (?क्ष्)न्तप्पातिव् [ा *]वणिकाग्रामगोष्ठ् [ा] न (?) कुलसलावाटकदूतसीमकर्मकरमद्या(?)—

८ ·· तकरावपुत्रराजामात्यम[10]हा क्षतिकमहादण्डनायकमहाप्रतिहारमह् [ा] सा—

९ प्र (?) मातसा· · क् [ॢ] म् [ा] रामात्यराजस्थानीयोपरिक· · —धिकचौरोद्धरणिकदाण्डिकद (? दा) ण्ड—

१० [पाशिक (?)] · ·· क ज्यिं (?) बलव्यायतकिशो (?) रवा(?)ट(?) क (?)ग् [र्]ामहू द द यणिकग पतिकर्म (?)—

---

१ स्याही की छाप से।

२ भगवानलाल इन्द्रजी ने यहां वरुणवासिभट्टारकाय जोड़ा। किन्तु केवल पाच अथवा अधिक से अधिक छ अक्षर नष्ट हुए जान पड़ते हैं।

३ यहां माधवगुप्त की कोई धार्मिक उपाधि रही होगी जो नष्ट हो गई है, किन्तु, परमभागवत अथवा परममाहेश्वर के अंकन के लिए पर्याप्त स्थान यहा नही जान पडता।

४ पढ़ें, श्र्यादित्य।

५ देवगुप्त का यह नाम—वाकाटक महाराजाओं की तिथि पर प्रकाश डालने के कारण जो महत्वपूर्ण है—अत्यन्त अस्पष्ट है, किन्तु, मैं भगवानलाल इन्द्रजी के इस मत से सहमत हू कि इसे पर्याप्त निश्चितता के साथ पढा जा सकता है।

६ भगवानलाल इन्द्रजी ने इसे कुमार पढा, किन्तु ये तीन अक्षर स्पष्टत कमल हैं।

७ पढ़ें, श्रीज्जा।

८ यहां भागवत अथवा माहेश्वर था जो अपठनीय है।

९ भगवानलाल इन्द्रजी ने यहां सवित्तृ पढ़ा, किन्तु, तीन अक्षर यहां स्पष्ट रूपेण जीवित हैं, जैसा कि जनरल कनिंघम ने पढा है (आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, जि० १६, पृ० रोमन ८, ६८)।

१० पढ़ें, राजामात्य।

११ · ·· · रसक ····· तास्मत् [पृ]ादप्रसादोपजीविनश्च प्रतिव् [ा] सिनश्च ब्रा (ब्रा)-
ह्मणोत्तरा [न्] महत्तरक (? कु) क्षि (?)पुर—

१२ · ·· विज्ञापितश्रीवरुणवासिभट्टारकप्रतिव(ब)द्धभोजकसूर्यमित्त्रेण उपरिलिखि—

१३ [त] ··· ·ग्रामादिसयुत परमेश्वरश्रीवा(बा)लादित्यदेवेन स्वशासनेन भगवश्री[1]वरुणवासि-
भट्टारक—

१४ ·· क ··· ·वपरिवा(?)हक भोजकहन्समित्त्रस्य समापत् [त् *] या यथाकालाध्यासिभिश्च
एव परमेश्वर—

१५ श्रीशर्व्ववर्म्म ···भोजकऋषिमित्त्र[2] · यतक एव परमेश्वरश्री[म *]दवन्तिवर्म्मणा
पूर्व्वदत्तकमवल—

१६ [म्ब्य] · · एव मह् [ा*] रा [जाधिरा*] जपरमेश्वर · · · ·····शासनदानेन भोजकदुर्द्ध (?)-
रमित्त्रस्यानुमो—

१७ [दित] ·ते (?) न (?) सु (?) जयते (?) [। *] तदह् किमपि (?)· · एव · · ·मतिमान् · ·
आनुमा (मो) दितमितिस(?)र्व्व(?) ममाज्ञाप (?) ना (?) [। *] एता—

१८ पयु · ·· ·····वरुणवास्यायतन तदनु दत्तम्· ·

१९ ·· · त्यक्ष · · · मोद्रङ्ग मोपरिकर सदशापराधपञ्च—

२० · [। । *]—

अनुवाद

को नमस्कार । कल्याण हो । शक्ति के तीन घटकों[3] द्वारा अधिगत विजय-नाद से युक्त, (तथा) (अपने) जलपोतों, हाथियों अश्वों एव पदारोहियों से युक्त होने के कारण अजेय (तथा) गोमतिकोट्टक दुर्ग के निकट स्थित जय-स्कन्धावार से —

पं० २— श्री माधवगुप्त (थे) । उनके चरणों का ध्यान करने वाले उनके पुत्र परमभट्टारिका, रानी[4], महादेवी श्रीमती श्रीमतीदेवी से उत्पन्न, परमभागवत श्री आदित्यसेन-देव[5] थे ।

---

१ पढ़ें, भगवच्छ्री ।

२ पढ़ें, भोजकऋषि, अथवा, अधिक प्रचलित पद्धति के अनुरूप भोजकर्षि । स्वर अ के पश्चात् ऋ आने पर सामान्यतया इन दोनों स्वरों में सन्धि कर दी जाती है । किन्तु, डा० हुल्श ने मेरा ध्यान इस तथ्य विशेष की ओर दिलाया है कि पाणिनि ६.१.१२८, ऋत्यक पर की गई टीका का कथन है कि यह सन्धि शाकल्य के मतानुसार है, इसका यह तात्पर्य निकलता है कि अन्य वैयाकरणों के अनुसार यह सन्धि विकल्प रूप है, तथा सन्धि का न किया जाना समानरूपेण उपयुक्त है ।

३ शक्तित्रय । तीन शक्तियाँ अथवा राजकीय शक्ति के तीन घटक हैं प्रभुत्व, मन्त्र (सुन्दर सलाह) तथा उत्साह ।

४ रानी द्र० ऊपर पृ० २६२, टिप्पणी ८ ।

५ अन्यत्र अभिलेखों में (क्रम सं० ४४ तथा ४७,) आदित्यसेन के तथा उसकी माता एवं पत्नी के नामों के पूर्व सार्वभौम उपाधियों का प्रयोग हुआ है, इसे देखते हुए वर्तमान लेख में आदित्यसेन के नाम के पूर्व सार्वभौम उपाधियों का अप्रयोग अपेक्षाकृत विचित्र है ।

क-आदित्यसेन का शाहपुर प्रतिमा-लेख

मान ४०

ख-जीवितगुप्त द्वितीय का देव वरणार्क लेख

मान ३३

प०३— उनके चरणों का ध्यान करने वाले, उनके पुत्र परमभट्टारिका, रानी, महादेवी, श्रीमती कोणदेवी से उत्पन्न (भगवान्) महेश्वर के परमभक्त, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, तथा (परमेश्वर) श्री देवगुप्तदेव[1] थे।

प० ४— उनके चरणों का ध्यान करने वाले, उनके पुत्र परमभट्टारिका, रानी महादेवी, श्रीमती कमलदेवी[2] से उत्पन्न (भगवान्) महेश्वर के परमभक्त, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, तथा परमेश्वर श्री विष्णुगुप्तदेव थे।

प० ५— उनके चरणों का ध्यान करने वाले उनके पुत्र परमभट्टारिका, रानी, महादेवी, श्रीमती इज्जादेवी[3] (से उत्पन्न) के परमभक्त, परमभट्टारक, महाराजाधिराज तथा परमेश्वर श्री जीवितगुप्तदेव[4] (द्वितीय), सकुशल रहते हुए, नगर भुक्ति[5] में (तथा) वालवी विषय के अन्तर्गत में स्थित वारुणिका नामक गांव के पशुपालकों, तलावाटकों[6], दूतों,[7] सीमाबन्ध बनाने वालों[8] राजपुत्रों,[9] राजामात्यों महादण्डनायकों, महाप्रतिहारों,[10] 'कुमारामात्यों, राजस्थानीयों, उपरिकों

---

१ द्र०, ऊपर पृ० २६७, टिप्पणी ५।

२ द्र०, ऊपर पृ० २६७, टिप्पणी ६।

३ यह प्राकृत नाम है जिसमें इज्जा का प्रयोग संस्कृत इज्या (=यज्ञ) के लिए हुआ है। अज्झितदेवी में हम प्राकृत भाषान्तर्गत एक अन्य स्त्री-नाम प्राप्त है, उदाहरणार्थ, महाराज जयनाथ के वर्ष १७४ में तिथ्यंकित कारीतलाई दानलेख की प० ५ में।

४ द्र०, ऊपर पृ० २६७, टिप्पणी ६।

५ भुक्ति, शब्दशः 'भाग'। यह एक पारिभाषिक क्षेत्र विषयक उपाधि है। वर्तमान लेख की व्यवस्था के अनुसार, तथा महाराज महेन्द्रपाल के दिघवा-दुबौली दानलेख में 'श्रावस्ती भुक्ति में, तथा श्रावस्ती मण्डल के अन्तर्गत वालयिका विषय में स्थित पानीयक गांव के उल्लेख (इण्डियन एण्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ११२, प० ७ इ०) तथा महाराज विनायकपाल के बंगाल एशियाटिक सोसायटी के दानलेख में 'प्रतिष्ठान भुक्ति में', तथा 'वाराणसी विषय के अन्तर्गत कासीवार पथक से संबद्ध टिक्करिका गांव' के उल्लेख (वही जि० १५, पृ० १४१ प० ९ इ०) से ऐसा जान पड़ता है कि भुक्ति शब्द विषय से बड़े क्षेत्र का निर्देश करता था।

६ तलावाटक एक ऐसी राजकीय उपाधि है जिसकी व्युत्पत्ति और जिसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। इस लेख पर चर्चा के प्रसंग में डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने इस शब्द को तलवाटक पढ़ा तथा इसे आधुनिक तलाटी अथवा तलाठी (='गांव का लेखापाल') माना, किन्तु इस व्याख्या को स्वीकार करने के पूर्व किसी प्रमाण का होना आवश्यक है।

७ दूत, इस स्थान पर यह शब्द केवल सामान्य संदेशवाहक अथवा पत्रवाहक का परिचायक जान पड़ता है, ताम्रपत्रांकित राजपत्रों के संबंध में नियुक्त विशिष्ट दूतकों का नहीं (द्र०, ऊपर पृ० १२३ टिप्पणी १)।

८ सीमाकर्मकर।

९ राजपुत्र का शाब्दिक अर्थ है 'राजा का पुत्र, अथवा राजकुमार'। किन्तु उपरोक्त प्रकार के अवतरणों में इसका प्रयोग स्पष्टतः किसी पारिभाषिक राजकीय उपाधि के रूप में हुआ है। आधुनिक प्राकृत भाषाओं में हम मराठी में राउत अथवा राऊत शब्द तथा गुजराती में रावत शब्द 'अश्वारोही सैनिक, सैनिक' के अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ पाते हैं। ये शब्द राजपुत्र से व्युत्पन्न हुए तथा इस प्रकार इसका पारिभाषिक अर्थ निर्दिष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं, मोल्सवर्थ तथा कैण्डी ने अपने मराठी शब्दकोश में राय-दूत (='राजा का दूत') से इन शब्दों की व्युत्पत्ति मानी है, जो ठीक नहीं जान पड़ता।

१० महाप्रतिहार—शाब्दिक अर्थ 'महान् द्वार-रक्षक'। यह पारिभाषिक उपाधि प्रतिहारों के ठीक ऊपर स्थित राजकर्मचारी के लिए प्रयुक्त होती थी।

चौरोद्धरणिकों[1] दाण्डिकों[2] दण्डपाशिकों के प्रति . . द्वारा निर्धारित क्षिरोत्खाटक (?) गांव . के प्रति, तथा हमारे चरणों के अनुग्रह पर जीविकोपार्जन करने वालों, तथा ब्राह्मण जिनमें अग्रणी हैं ऐसे पड़ोसियों के प्रति (तथा) महत्तरों के प्रति.... (यह आदेश जारी करते हैं)।

पं० १२— " द्वारा अर्पित, भगवान् परमपावन वरुणवासिन् (के स्थल) से संबद्ध भोजक[3] सूर्यमित्र द्वारा ....ऊपर उल्लिखित (गांव) " गांव इत्यादि के साथ परमेश्वर श्री बालादित्य-देव द्वारा (स्वयं) अपने राजपत्र द्वारा दिया गया.... भगवान् परमपावन वरुणवासिन्... भोजक हंसमित्र के प्रति पुनःस्थापन द्वारा, तथा उनके द्वारा जिन्होंने समय समय पर अविच्छिन्न किया अर्थात् परमेश्वर श्री शर्व वर्मन्... भोजक ऋषिमित्र (के प्रति).... परमेश्वर अवन्तिवर्मन् द्वारा " इस व्यवहार-विधि के अनुसार[4] ... महाराजाधिराज तथा परमेश्वर ... के राजपत्रदान द्वारा भोजक दुर्बलमित्र द्वारा इसके भोग की अनुमति ..; तथा संप्रति उनके द्वारा इसका भोग किया जा रहा है।

पं० १७— अतएव मैं (अब घोषित करता हूं) कि " के प्रति यह अनुमोदित किया जा रहा है; सभी लोगों के लिए यह (मेरा) आदेश है।

.... (भगवान्) वरुणवासिन की वेदी तत्पश्चात् ...उद्रंग तथा उपरिकर के साथ, दश अपराधों तथा पांच . (पर लगाए गए दण्ड-शुल्क) के साथ ..दिया गया।

---

1 चौरोद्धरणिक—शब्दशः 'वह जिसे चोरों को नष्ट करने का कार्य सौंपा गया है': यह स्पष्टतः किसी पुलिस कर्मचारी के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक उपाधि है।

2 दाण्डिक—शब्दशः 'दण्ड देने वाला', 'जुर्माना' इस अर्थ में 'दण्ड' शब्द को लेने पर यह न्यायविभाग से संबंधित कोई कर्मचारी हो सकता है अथवा दण्ड शब्द का अर्थ '(सजा देने के लिए) छड़ी' यह करने पर यह कोई पुलिस कर्मचारी हो सकता है।

3 मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत शब्दकोश में भोजक की व्याख्या इस प्रकार की है: "पुरोहितों अथवा सूर्योपासकों का एक वर्ग जिन्हें मगों का, भोज जाति की स्त्रियों के साथ अन्तर्जातीय विवाह के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न, वंशज माना जाता था। चाइल्डर्स ने अपने पालि शब्दकोश में इसी शब्द का अर्थ 'ग्राम-प्रमुख' किया है।

४ मूल संरचना है—बालादित्यदेवेन ... पूर्वदत्तकमवलम्ब्य 'बालादित्यदेव (तथा उल्लिखित अन्यों) द्वारा दिए गए पूर्वदत्त दान का आश्रय लेते हुए, (अर्थात् स्वयं को उसके अनुरूप बनाते हुए)।' मैंने अनुवाद की सुविधा के लिए इस संरचना को छोड़ दिया है।

स० ४७, प्रतिचित्र ३० क

शर्ववर्मन् का असीरगढ ताम्र-मुहर-लेख

जनसामान्य को इस लेख का ज्ञान सर्वप्रथम १८३६ मे दो स्वतत्र स्रोतो मे हुआ। जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ५, पृ० ४८२ इ० मे श्री जेम्स प्रिंसेप ने इस लेख का रेव० डब्लू० एच० मिल का पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया, उन्होंने साथ मे एक शिलामुद्रण भी दिया (वही, प्रति० २६) जो डा० जे० स्विने द्वारा उन्हें दिए गए रेखाचित्र के आधार पर तैयार किया गया था, स्वय यह रेखाचित्र १८०५ मे मूल मुहर के मोम पर लिए गए अकन से तैयार किया गया था, और उस समय से ही यह डा० मेलिश के पास था। शिलामुद्रण पर्याप्त सुन्दर है किन्तु लेख का अनुवाद आद्यन्त दोषपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, F S जि० ३, पृ० ३७७ इ० में प्रो० एच० एच० विल्सन ने इस लेख का सर चार्ल्स विल्किन्स का पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया और साथ मे एक शिलामुद्रण भी दिया, प्रत्यक्षत पूरे आकार का यह शिलामुद्रण उस अकन के आधार पर बनाया गया था जो कि १८०५ अथवा १८०६ मे कैप्टेन कोलब्रुक को असीरगढ मे एक पेटिका में रखी महाराजा सिन्धिया की सपत्ति के साथ प्राप्त हुआ था, और कालब्रुक ने इसे सर चार्ल्स विल्किन्स के पास भेज दिया था।

असीरगढ़[1] एक पहाडी दुर्ग है जो पहले सिन्धिया के आधिपत्य में था, यह सेन्ट्रल प्राविन्सेज में निमाड[2] जिले के बुरहानपुर तहसील के प्रमुख नगर बुरहानपुर[3] से ग्यारह मील उत्तर-पूर्व में है। जैसा कि हर्षवर्धन के सोनपत मुहर (नीचे स० ५२, प्रति० ३२ ख) मे तथा समुद्रगुप्त के जाली गया-ताम्रपत्र से सबद्ध मुहर (नीचे स० ६०, प्रति० ३७) से ज्ञात होता है, यह लेख भी मूलत स्पष्टरूपेण किसी ताम्रपत्राकित दानलेख से सबद्ध मुहर—जो सभवत ताम्र—निर्मित रही होगी-पर अकित था। स्वय दानलेख कभी भी प्राप्त हुआ नहीं जान पडता। जहा तक मुहर का प्रश्न है, प्रकाशित विवरणो से यह अत्यन्त स्पष्ट नही है कि मूल मुहर कभी भी प्राप्त हुई थी अथवा केवल इसके अकन ही प्राप्त हुए थे। जो भी हो, मुझे यह ज्ञात नही हो

---

१ मानचित्रों इ० का 'Asir garh' तथा 'Aseer Gurh'। इण्डियन एटलस, फलक स० ५४ अक्षाश २१°७८' उत्तर, देशान्तर ७६°२०' पूर्व।

२ मानचित्रों इ० का 'Nimar'।

३ मानचित्रों इ० का 'Burhanpur' तथा 'Boorhanpoor'।

सका कि मुहर का अथवा इसके अकनो का क्या हुआ। मेरा शिलामुद्रण प्रो० एच० एच० विल्सन के लेख के साथ प्रकाशित शिलामुद्रण के पूर्ण आकार का पुनर्प्रस्तुतीकरण है।

मूल मुहर तथा अकनो के अभाव मे मै इसके नाप, भार अथवा इसकी वास्तविक अवस्था का कोई विवरण देने मे समर्थन नही हू। किन्तु, यदि मूल शिलामुद्रण पूर्ण आकार का है, तो यह एक स्थूलत अण्डाकार मुहर का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी माप ४¾" × ५$\frac{११}{१६}$" है। ऊपरी भाग मे कुछ आकृतिया बनी हुई है, जो इस प्रकार है बीच मे पुष्प-मालाओ से अलकृत एक वृषभ बना हुआ है जो ठीक दाहिनी ओर चल रहा है, इसके परे, अथवा इसके परले पार्श्व के इससे सबद्ध हो कर, एक छत्र है जिसकी यष्टि दो केतु-पटो से अलकृत है, ठीक दाहिनी ओर, वृषभ के समक्ष एक चलते हुए मनुष्य को आकृति अकित है, जिसके दाहिने हाथ मे एक छोटे और तिरछे डन्डे पर स्थित परशु दिखाया गया है, और बाए हाथ मे चक्र अथवा सूर्य चिन्हित ध्वज है, अथवा सभवत एक अब्दागीर (= सूर्य से छाया करने वाला) है। बाई ओर, वृषभ आकृति के पीछे, एक अन्य मनुष्य आकृति है जो बाए हाथ मे एक साधारण बडे डन्डे पर स्थित परशु धारण किए हुए है और दाहिने हाथ मे चौरी है जिससे वह वृषभ को हाक रहा है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के है, और यद्यपि वे—विशेष रूपेण अधिलिखित मात्राओ के अकन मे—अपेक्षाकृत अत्यलकृत है, किन्तु वे स्पष्टरूपेण मगध के गुप्तो के लेख स० ४२, ४३ तथा ४६ (प्रति० २८ और २९ क और ख) के अक्षरो से प्राचीनतर प्रकार के हैं। भाषा सस्कृत है तथा सपूर्ण लेख गद्य मे है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १ प० ७ मे अकित उत्पन्न परम मे उपध्मानीय का प्रयोग, २ अनुवर्त्ती र के साथ सयोग होने पर क तथा त का सर्वदा द्वित्व—उदाहरणार्थ, प० १ मे अकित आतिक्क्रान्त मे तथा प० ३ मे अकित पुत्त्र मे, तथा ३ प० ३, ४, ५ तथा ६ मे अकित अनुद्ध्यात मे अनुवर्त्ती य के साथ सयोग होने पर ध का द्वित्व।

मुहर मौखरि शासक शर्ववर्मन् की है, आदित्यसेन के अफसड अभिलेख की प० ७ मे (ऊपर स० ४२) इसके पिता ईशानवर्मन् का मगध के कुमारगुप्त के समकालीन के रूप मे हुआ है, जिससे शर्ववर्मन् की तिथि अत्यन्त ठीक ठीक निश्चित हो जाती है। केवल असीरगढ मे इस मुहर को प्राप्ति मौखरियो को इस क्षेत्र के साथ सबद्ध करने के लिए पर्याप्त नही है। उनका राज्य क्षेत्र सभवत यहा से कुछ सौ मील पूर्व मे स्थित था। इसकी वास्तविक स्थिति एक ऐसा विषय है जिसका समाधान—शर्ववर्मन की निश्चित तिथि के साथ—उस ताम्रपत्र की प्राप्ति होने पर ही हो सकता है जिससे कि यह मुहर सलग्न थी।

मूलपाठ[1]

१ चतुस्समुद्रातिक्क्रान्तकीर्त्ति प्रतापानुरागोपनतान्यराजा(जो)[2] वर्ण्णाश्रमव्यवस्था-

---

१ सर चार्ल्स विल्किन्स तथा प्रो० विल्सन के लेख के साथ प्रकाशित शिलामुद्रण से, सप्रति प्रकाशित शिलामुद्रण भी इन्ही स्रोतो से।

२ मूल मुहर—जिसे सभवत अकन लेने के पूर्व ठीक से साफ नही किया गया था—के अभाव मे इस तथा इसके समान कुछ अन्य दृष्टान्तो को मैं मूल मे प्राप्त दोष के रूप मे ले रहा हूँ, यद्यपि ये केवल शिलामुद्रण के दोष भी हो सकते हैं।

२ पनप्रवृत्तचक्रस्चक्रधर इव प्रजानामर्त्तिहर [*] श्रि(श्री)महाराजहरिवर्म्मा [।।*] तस्य–

३ पुत्रस्तत्पादानुद्ध्य [।*] तो जयस्वामिनीभट्टारिकादेव्य् [।*]मुत्पन्न श्रीमहाराजादित्यव–

४ र्म्मा [।।*] तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यातो हर्षगुप्ताभट्टारिकादेव्यामुत्पन्न श्रीमह [।*] रा–

५ जेश्वरवर्म्मा [।।*] तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यात उपगुप्ता[1]भट्टारिकादेव्यामुत्पन्नो–

६ मह् [।*] राजाधिराजश्रि (श्री)ईशान[2]वर्म्मा [।। *] तस्य पुत्रस्तत्पादानुद्ध्यातो ल (?) क्ष्[म्]ीव–

७ [त्] ी[3]भट्टारिकामह् [।*] देव्यामुत्पन्न परममाहेश्वरा(रो) महाराजाधिराजश्रीशर्व्वर्म्मा मौखरि [।।*]–

अनुवाद

श्री महाराज हरिवर्मन् (थे) जिनका यश चार समुद्रो के पार तक फैला, जिन्होंने (अपनी) शक्ति से तथा (अपने प्रति) अनुराग से अन्य राजाओ को अवनत किया, जो वर्णाश्रम धर्म के व्यवस्थापन के लिए, (अपनी) प्रभुता[4] का प्रयोग करने मे (भगवान्) चक्रधर के समान थे, (तथा) जो (अपनी) प्रजाओं की विपत्तियो के निवारक थे। उनके पुत्र उनके चरणो का ध्यान करने वाले, भट्टारिका,[5]देवी[6] जयस्वामिनी से उत्पन्न श्री महाराज आदित्यवर्मन् थे। उनके पुत्र उनके

---

१ सर चार्ल्स विल्किन्स न उमागुप्ता पढ़ा। जहा तक शब्द के दूसरे अक्षर का प्रश्न है, शिलामुद्रण मे म तथा प अत्यन्त सदृश हैं। किन्तु इस स्थान पर अक्षर म की अपेक्षा प जान पड़ता है, तथा इसके ऊपर श्रा की मात्रा निश्चितरूपेण नहीं है। मेरे पाठ के समर्थन मे, उपगुप्ता का पुल्लिंगवाची उपगुप्त चौथे अथवा पाचवे बौद्ध आचार्य के नाम के रूप में मिलता है (उदाहरणार्थ, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि०, ६ पृ० १४९, ३१५, बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, जि० १, पृ० १८२, तथा जि० २, पृ० ८८, ९३, व २७३)।

२ पढें, श्रीशान।

३ सर चार्ल्स विल्किन्स ने हर्षिणी पढ़ा, किन्तु यहां पर चार अक्षर हैं, तीन नहीं। पहला अक्षर अत्यन्त सदिग्ध है, दूसरा निश्चितरूपेण षि नही है, अपितु यह क्ष् (म्) ी जान पडता है जिसका ठीक से अकन नहीं किया गया है, तीसरा व है, चौथे मे अधिलिखित ई की मात्रा स्पष्टरूपेण दृश्यमान है तथा व्यंजन, जो लगभग पूर्णतया अपठनीय है, स्वभावतया त प्रस्तावित करता है।

४ चक्र, अथवा '(अपने रथ) के चक्र' द्वारा प्ररूपित। चक्र का अर्थ विष्णु का चक्र भी है, और इस प्रकार तुलना हो सकती है।

५ भट्टारिका–शब्दश 'वह जो पूजा अथवा सम्मान की अधिकारिणी है।' यह भट्टारक की स्त्रीलिंगवाची उपाधि है (द्र०, ऊपर पृ० २०, टिप्पणी ४)। यहां यह एक महाराजा की पत्नी को पारिभाषिक उपाधि के रूप मे प्रयुक्त हुआ है, किन्तु नीचे प० ७ मे इसका प्रयोग एक महाराजाधिराज की पत्नी की पारिभाषिक उपाधि के रूप में हुआ है।

६ देवी–यह महाराजा की पत्नी के लिए प्रयुक्त एक अन्य पारिभाषिक उपाधि है।

चरणो का ध्यान करने वाले, भट्टारिका तथा देवी हर्षगुप्ता से उत्पन्न श्री महाराज ईश्वरवर्मन् थे। उनके पुत्र उनके चरणो का ध्यान करने वाले, भट्टारिका तथा देवी उपगुप्ता[1] से उत्पन्न महाराजाधिराज श्री ईशानवर्मन् थे। उनके पुत्र, उनके चरणो का ध्यान करने वाले भट्टारिका तथा महादेवी लक्ष्मीवती[2] से उत्पन्न (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त, महाराजाधिराज शर्ववर्मन् मौखरि (हैं)।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० २७३, टिप्पणी १।

२ द्र०, ऊपर पृ० २७३, टिप्पणी ३।

स० ४८, प्रतिचित्र ३० ख

अनन्तवर्मन् का बराबर पहाडी का गुहा-लेख

यह अभिलेख १७८५ मे श्री जे० एच० हैरिंगटन को प्राप्त हुआ जान पडता है, और जनसामान्य को इस लेख का ज्ञान सर्वप्रथम १७६० मे एशियाटिक रिसर्चेज, जि० २, पृ० १६७ इ० के माध्यम से हुआ जबकि सर चार्ल्स विल्किन्स ने इस लेख का अपना अनुवाद–जो प्रत्यक्षत श्री हैरिंगटन के निरीक्षण मे तैयार की गई प्रतिलिपि से किया गया था[1]–प्रकाशित किया। १८३७ में,जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ६, पृ० ६७४ इ० मे श्री जेम्स प्रिंसेप ने हैथोर्न के निरीक्षण मे लिए गए स्याही की छाप के आधार पर तैयार किए गए एक शिलामुद्रण (वही, प्रति० ३६, स० १५, १६ तथा १७) के माथ लेख का अपना पाठ तथा इसका अनुवाद प्रकाशित किया। तथा, १८८४ मे इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १३, पृ० ४२८, टिप्पणी ५५ मे डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने प्रसगवश लेख का अपना पाठ प्रकाशित किया।

बराबर पहाडी, अथवा इस लेख मे उल्लिखित प्राचीन प्रवरगिरि, बगाल प्रेसीडेन्सी मे गया जिले के प्रमुख नगर गया[2] से लगभग चौदह मील उत्तर-पूर्व मे स्थित पनारी[3] गाव से उत्तर मे लगभग डेढ मील की दूरी पर है। पहाडी के दक्षिणी भाग मे एक गुहा-भवन है जिसे 'लोमश ऋषि गुफा'[4] नाम से पुकारा जाता है, तथा जिसकी मूल रचना का काल जनरल कनिंघम द्वारा अशोककालीन माना गया है, यद्यपि प्रवेश-मण्डप का विस्तार तथा मूर्तियुक्त गवाक्ष द्वारा इसका अलकरण बाद की तिथि मे–सभवत वर्तमान लेख के लेखन के समय हुआ। लेख गुहा के प्रवेश मार्ग से ऊपर ग्रेनाइट पत्थर के शलक्ष्णीकृत चिकने धरातल पर अकित है[5]।

लेख, जो ३' फीट ६½" चौडा तथा १ फीट ३½" ऊचा स्थान घेरता है, आद्यन्त अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो का आकार ½"से लेकर १½" तक है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला

---

१ और भी द्र०, एशियाटिक रिसर्चेज, जि० २, पृ० १२८ का कलकत्ता पुनर्मुद्रण।

२ मानचित्रों इ० का 'Gya'।

३ इण्डियन एटलस, फलक सं० १०३ का 'Punaree-Ferozpur' अक्षाश २४°५६' उत्तर देशान्तर ८५°७' पूर्व। पहाडी का अनुप्रवेश 'Barbar Hill' नाम से हुआ है तथा यह 'ट्रिगनोमेट्रिकल सर्वे स्टेशन' है।

४ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ४०, प्रति० १८ से दिए गए जनरल कनिंघम के रेखाकन में इसे 'ग' चिन्हित किया गया है।

५ जनरल कनिंघम ने (आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इडिया, जि० १, पृ० ४७) इन्हे "दो पृथक अभिलेख" कहा है "जिनमें दो पक्तियों वाला ऊपरी लेख अपेक्षाकृत बडे अक्षरो में लिखित चार पक्तियो वाले निचले लेख से कुछ बाद की तिथि का है।" किन्तु सभी छ पंक्तिया एक ही लेख की हैं, तथा प्रथम दो पक्तियों में अक्षरो का छोटा आकार स्थानाभाव के कारण हैं, गवाक्ष के ऊपरी भाग के मुडने के कारण यहा स्थान कम छूटा है।

के हैं तथा ये अत्यन्त विशिष्टरूपेण विकसित मात्राओ का प्रदर्शन करते है जिन्हें पहले ही ऊपर पृ० ५५ तथा १७१ मे देखा जा चुका है। भाषा सस्कृत है, और प्रारभिक ओम् शब्द के निर्देशक प्रतीक को छोड कर सम्पूर्ण लेख पद्य मे है। वर्णविन्यास के प्रसग मे केवल दो विशिष्टताए ध्यातव्य है १ अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर त का सदैव द्वित्व-उदाहरणार्थ, प० १ मे अकित पुत्त्र मे, तथा प० ५ मे अकित यत्त्र मे, तथा २ प० ४ मे अकित बभूव मे ब के स्थान पर व का प्रयोग।

अभिलेख अनन्तवर्मन् नामक मौखरि शासक का है, किन्तु प० ५ मे उसके पिता शार्दूल अथवा शार्दूलवर्मन् का जिस प्रकार उल्लेख हुआ है, उससे जान पडता है कि लेख का उत्कीर्णन उसके पिता के जीवत-काल मे ही हुआ था। लेख तिथिविहीन है। यह वैष्णव अभिलेख है, लेख का प्रयोजन इस गुफा मे अनन्तवर्मन् द्वारा विष्णु की कृष्णावतार रूप मे एक प्रतिमा की स्थापना का लेखन है।

स्वय पहाडी का उल्लेख प० २ मे प्रवरगिरि नाम से हुआ है। इस शब्द को एक विरुदमात्र के रूप मे लिया जा सकता है, जिसका अर्थ होगा '(यह) उत्कृष्ट पहाडी।' किन्तु महाराजा प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक दानलेख की प्रथम पक्ति मे (नीचे स० ५५, प्रति० ३४) उल्लिखित प्रवरपुर नामक नगर की समवृत्तिता के आधार पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यहा पहाडी का वास्तविक नाम अभिप्रेत है। तथा सभवत, पहाडी के आधुनिक नाम बराबर मे इसकी स्मृति शेष है, इसके लिए जनरल कनिघम द्वारा प्रस्तावित व्युत्पत्ति 'बडा आवर' (= 'बडा आवेष्टन')[1] पर्याप्त नही जान पडता।

मूलपाठ[2]

१ ओम्[3] [।।*] मूलपाना[*][4] मौखरीणा कुलमतनुगुणोऽलचकारात्मजात्या[5]। श्रीशार्दूलस्य योऽभूज्जनहृदयहरोऽनन्तवर्म्मा सुपुत्त्र [:।*]

२ कृष्णस्याकृष्णकीर्त्ति प्रवरगिरिगुहासश्रित विबमेतद् मूर्त्त[6] लोके यश[*] स्व रचितमिव मुदाचीकरत्कान्तिमत्स ।।

३ काल[7] शत्त्रुमहीभुजा प्रणयिना इच्छाफल: पादपो ।[8] दीप क्षत्त्रकुलस्य नैकसमरव्यापार-शोभावत [।*]

४ कान्ताचित्तहर स्मरप्रतिसम: पाता व(ब)भूव क्षिते: श्री शार्दूल इति प्रतिष्ठितयश [*] सामन्त-चूडामणि ।।

५ उत्पक्ष्मान्तविलोहितोरुतरलस्पष्टेष्टतारा रुषा।[9] श्रीशार्दूलनृप करोति विषमा यत्त्र स्वदृष्टि रिपो(पौ)।

६ तत्त्राकर्णविकृष्टशार्ङ्गशरधिव्यस्तश्शरोत्त(न्त)ावह. तत्पुत्त्रस्य पतत्यनन्तसुखस्यानन्तवर्म्मंश्रुते ।।

---

१ वही, पृ० ४३।

२ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

३ मूल में ओम् का निर्देशक प्रतीक हाशिये मे, प० ३ के आरम्भ के सम्मुख अकित हैं।

४ छन्द, स्रग्धरा।

५ यह विराम अनावश्यक है।

६ उत्कीर्णक ने पहले र्ति उत्कीर्ण किया और फिर उसने इ की मात्रा का अशत अपलोप किया।

७ छन्द, शार्दूलविक्रीडित, तथा अगले श्लोक मे।

८-९ ये विरामचिन्ह अनावश्यक हैं।

क-शर्ववर्मन् का असीरगढ मुहर

पूर्ण आकार

ख-अनन्तवर्मन् का बराबर पहाड़ी पर स्थित गुहा-लेख

माप १७
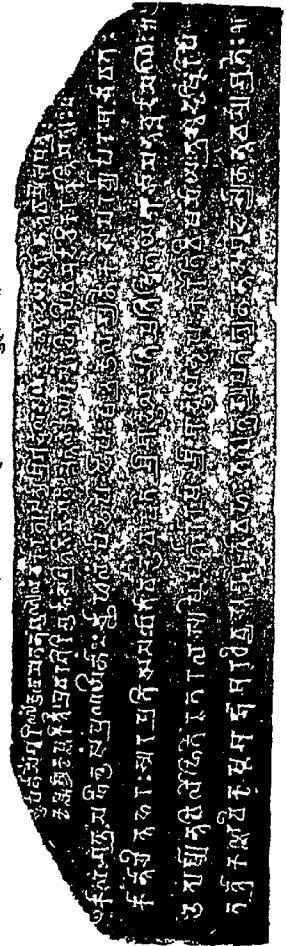
अनुवाद

ओम्! उन अनन्तवमन् ने–लोगो का हृदय जीतते हुए जो श्री शार्दूल[1] के सुपुत्र थे, (तथा) उत्तम गुणो के स्वामी जिन्होंने (अपने) जन्म से मौखरि राजाओ के वश को अलकृत किया–निर्मल यश वाले उन्होने प्रवरगिरि पर्वत की (इस) गुफा मे सस्थापित (भगवान्) कृष्ण की यह सुन्दर प्रतिमा बनवाई, मानो यह जगत् मे मूर्त्त रूप मे दृश्यमान् उनका अपना यश हो।

प० ३–सुप्रतिष्ठित यशवाले, सामन्तो[2] मे श्रेष्ठ श्री शार्दूल पृथ्वी के शासक हुए,–वे जो विरोधी राजाओ के लिए मृत्युस्वरूप थे, जो एक वृक्ष के समान थे, (उनके) प्रियजनो की (पूर्ण हुई) इच्छाए जिसके फल थे, जो बहुसख्यक युद्धो द्वारा सुशोभित क्षत्रिय जाति के दीपस्वरूप थे, (तथा) सुन्दर स्त्रियो के चित्त को आकृष्ट करते हुए जो (भगवान्) स्मर के समान थे।

प० ५–जिस किसी भी शत्रु के ऊपर श्रीमान् राजा शार्दूल क्रोध मे अपनी टेढी दृष्टि–जिसकी विस्तारित, सकम्प, स्पष्ट तथा प्रिय नेत्र-तारक ऊपर उठी भृकुटियो के बीच मे स्थित कोनो पर रक्त-वर्ण हैं–डालते हैं, उसके ऊपर अनन्तवर्मन् नाम वाले[3] अनन्त सुख के प्रदाता उनके पुत्र के (अपने) कान तक खीची गई प्रत्यचा[4] से छूटे मारक शर गिरते हैं।

---

१ उसके नाम के संक्षिप्त किए गए रूप के लिए, द्र०, ऊपर पृ० १०, टिप्पणी १।

२ सामन्त, द्र० ऊपर पृ० १८०, टिप्पणी ३। यहा इस शब्द का प्रयोग संभवत: मौखरि सामन्ता की वास्तविक स्थिति को सकेतित करता है।

३ शब्दश –'श्रवण, ध्वनि'।

४ शरधि, शब्दश 'शर रखने वाला', यह सामान्यत 'तरकश' द्वारा व्याख्यायित होता है। किन्तु यहां यह स्पष्टत प्रत्यचा का निर्देश करता है।

सं० ४६; प्रतिचित्र ३१ क

अनन्तवर्मन् का नागार्जुनी पहाड़ी का गुहा-लेख

यह अभिलेख भी लगभग १७८५ मे श्री जे० एच० हैरिंगटन को प्राप्त हुआ जान पडता है, तथा जनसामान्य को सर्वप्रथम इसका ज्ञान १७६० में एशियाटिक रिसर्चेज, जि० २, पृ० १६८ इ० के माध्यम से हुआ, जिसमे सर चार्ल्स विल्किन्स ने लेख का अपना अनुवाद प्रकाशित किया, जो प्रत्यक्षत श्री हैरिंगटन के निरीक्षण मे तैयार प्रतिलिपि से किया गया था[1]। १८४७ मे, जर्नल आफ द बंगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० १६, पृ० ४०१ इ० मे, मेजर मारखम किट्टो ने अपने लेख 'नोट्स आन द केव्स आफ बराबर' के साथ इसका शिलामुद्रण प्रकाशित किया (वही, प्रति० १०) जो स्वय उनके द्वारा बनाई गई प्रतिलिपि के आधार पर तैयार किया गया था। उसी जिल्द के पृ० ५०४ इ० मे सर-चार्ल्स विल्किन्स के पुर्नप्रकाशित अनुवाद के साथ डा० राजेन्द्र लाल मित्र का अपना पाठ प्रकाशित हुआ।

नागार्जुनी पहाडी, जिसे उसी सामन्त के अनुवर्ती लेख की प० ८ मे (नीचे स० ५०) विन्ध्य पहाडियो का भाग बताया है, बगाल प्रेसीडेन्सी मे गया जिले के प्रमुख नगर गया के उत्तर-पूर्व मे लगभग पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित जाफरा[2] नामक गाव के लगभग एक मील उत्तर मे है। यह पूर्ववर्ती लेख के प्रसग मे उल्लिखित बराबर पहाडी को सन्निहित करने वाली पहाडियो के सबसे पूर्वी भाग मे है। पहाडी के उत्तरी भाग मे एक गुहा-भवन है, इसके प्रवेश द्वार के ऊपर की शिला पर दसलथदेवानांपिय का चार पक्तियो का एक लेख है जो इसे अशोककालीन प्रमाणित करता है, तथा लेख के प्रथम दो शब्दो के आधार पर इसे 'वदथि गुफा' कहा जाता है[3]। वर्तमान लेख गुफा के प्रवेशद्वार के दाहिने हाथ पर स्थित ग्रेनाइट पत्थर के समतल तथा श्लक्ष्णीकृत धरातल पर अंकित है।

लेखन, जो लगभग ४' फीट २¾" चौडा तथा १' ५½" ऊचा स्थान घेरता है, आद्यन्त

---

१ इसके साथ ही द्र०, एशियाटिक रिसर्चेज, जि० २, पृ० १२६ का कलकत्ता पुर्नप्रकाशन।

२ इण्डियन एटलस, फलक स० १०३ का 'Kootbunpoor-Jabra' अक्षाश २५°०' उत्तर; देशान्तर ८५°८' पूर्व। मानचित्र मे पहाडी का नाम नही निर्दिष्ट है।

३ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ४०, प्रति० १८ मे दिए गए जनरल कनिंघम के रेखांकन मे इसे 'घ' चिन्हित किया गया है।

अत्यन्त सुरक्षित अवस्था में है। अक्षरों का औसत आकार लगभग १" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा ठीक-ठीक उसी प्रकार के हैं जो हमें इसी सामन्त के पूर्ववर्ती लेख (ऊपर स० ४८, प्रति० ३० ख) में मिलता है और इस लेख में भी उसी प्रकार की विकसित मात्राएं मिलती हैं। भाषा संस्कृत है तथा लेख के प्रारम्भ में ओम् के लिए प्रयुक्त प्रतीक को छोड़ कर सम्पूर्ण लेख पद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास के प्रसंग में केवल ये विशिष्टताएं ध्यातव्य हैं १ प० ५ में अंकित अन्स में अनुस्वार के स्थान पर दन्त्य आनुनासिक का प्रयोग, तथा २ प० १ में अंकित क्षत्र में तथा प० २ में अंकित नेत्र में, अनुवर्त्ती र के साथ संयोग होने पर त का परम्परागत द्वित्व।

यह मौखरि शासक अनन्तवर्मन् का एक अन्य लेख है। यह तिथिविहीन है। यह शैव अभिलेख है तथा इसका प्रयोजन इस गुफा में अनन्तवर्मन् द्वारा शिव के भूतपति (='सभी प्राणियों के अधिपति') रूप में तथा 'देवी' नाम से उनकी पत्नी पार्वती की एक प्रतिमा की स्थापना है। यह प्रतिमा सम्भवतः अर्धनारीश्वर प्रकार की प्रतिमा थी जिसमें शिव और पार्वती को सम्मिलितरूपेण प्रदर्शित किया जाता है, अर्थात् इसमें दाहिने भाग में पुरुष आकृति का तथा बायें भाग में स्त्री आकृति का अंकन होता है।

मूलपाठ[1]

१ ओम्[2] [॥०] आसीत्स[3]र्व्वमहीक्षितामनुरिव[4] क्षत्रस्थितेर्द्देशिकः श्रीमान्मत्तगजेन्द्रखेलगमनः श्रीयज्ञवर्म्मा नृपः [।०]

२ यस्याहूतसहस्रनेत्रविरहक्षामा सदैवाध्वरैः पौलोमी चिरमश्रुपातमलिना धा (ध)त्ते कपोलश्रियं ॥

३ श्रीशार्द्दूलनृपात्मजः परहितः श्रीपौरुषः श्रूयते ।[5] लोके चन्द्रमरीचिनिर्म्मलगुणो योऽनन्तवर्म्माभिधा(ध) [।०]

४ दृष्टा (?) दृष्टविभूतिकर्तृवरदं तेनाद्भुतं कारितं ।[6] बिम्बं भूतपतेर्गृहाश्रितमिदं देव्याश्च पायाज्जगत् ॥

५ अन्सा[7]न्ताद्दृष्टगाङ्गं प्रविततमणरज्यास्फुरन्मण्डलान्तः । व्यक्तं[8] भ्रूभङ्गलक्ष्मव्यतिकरशबलाखण्डवक्त्रेन्दुबिम्बं [।०]

---

१ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

२ मूल में इस ओम् शब्द के लिए प्रयुक्त प्रतीक हाशिए में प० ३ के प्रारम्भ के सम्मुख है।

३ छन्द, शार्दूलविक्रीडित, तथा अगले श्लोक में।

४ सर पार्सी विलियम एवं डा० आर० मित्र दोनों ने इसे महीक्षितां मनुरिव पढ़ा, किन्तु ता के ऊपर अनुस्वार नहीं अंकित है।

५ यह विराम चिन्ह अनावश्यक है।

६ यह विराम चिन्ह अनावश्यक है।

७ छन्द, स्रग्धरा।

८ विराम चिन्ह छोड़ते हुए पढ़ें, आत्तव्यक्त।

६ अन्तायानन्तवर्म्मा स्मरसदृशवपुर्ज्जीविते नि[: *]स्पृहाभिः दृष्ट [: *] स्थित्वा मृगीभि सुचिरमनिमिषस्निग्धमुग्धेक्षणाभि ॥

७ अत्याकृष्टा[१]स्फुरदविरतस्यन्द्रिन. शार्ङ्गयन्त्रा–। द्वे[२]गाविद्ध प्रविततगुणादीरितः सौष्ठवेन ।

८ दूर[३]प्रापी विमथितगजोद्भ्रान्तवाजीप्रवीरो ।[४] वाणोऽरिस्त्रीव्यसनपदवीदेशिकोऽनन्तनाम्ना (म्न)·[५] ॥

अनुवाद

ओम् ! श्री यज्ञवर्मन् नाम के श्रीमान् राजा हुए-जिन्होंने मानो वह अनु हों[६], पृथ्वी पर शासन करने वाले सभी राजाओं को क्षत्र धर्म की शिक्षा दी, जिनकी चाल मदमत्त हाथी की क्रीडा के समान थी, (तथा) जिनके यज्ञो के कारण (देवी) पौलोमी के गालो का सौन्दर्य सहस्र नेत्र (भगवान् इन्द्र) के (इस राजा द्वारा इतनी बार बुलाए जाने के कारण कि उसे सदैव उससे दूर रहना पडता था) वियोग मे गिरते हुए अश्रुओं से दीर्घकाल तक मलिन रहता था ।

पं० ३—श्रीमान् राजा शार्दूल के पुत्र जिनका नाम अनन्तवर्मन् है, जिनकी विश्व मे परोपकारी (तथा) भाग्य और पौरुष सम्पन्न (तथा) चन्द्र-किरणो के समान निर्मल गुणो से युक्त के रूप मे ख्याति थी —उनके द्वारा, (इस) गुफा मे प्रतिष्ठित, (भगवान्) भूपति तथा देवी की यह विलक्षण प्रतिमा बनवाई गई जो, (पूर्वकाल मे निर्मित अन्य प्रतिमाओं में) कुछ दृष्ट तथा कुछ अदृष्ट, (कौशल की) उत्कृष्टताओं से युक्त है, (तथा) जो (अपने) बनाने वाले को वरदान देने वाली है । यह विश्व की रक्षा करे ।

पं० ५—(अपने) कन्धो के अन्तिम सिरो तक खीचे गए धनुष की शर युक्त प्रत्यचा ने चमकते हुए मण्डल के कोनो पर प्रदर्शित भ्रूभंग रूपी चिन्हों के बिखरे होने से जिसके मुख रूपी पूर्ण-चन्द्र का धरातल धूम्रवर्ण का था, ऐसे अनन्तवर्मन, जिनका शरीर (भगवान्) स्मर के शरीर के

---

१ छन्द, मन्दाक्रान्ता ।

२ विराम-चिन्ह छोडते हुए पढें, यन्त्राद् ।

३ यह अक्षर विदेशबन्धु—जो इस लेख के नीचे बाद मे उत्कीर्ण किया गया किन्तु जिसका लेख से कोई संबंध नहीं है—ने दे के ए के साथ अंशतः मिल गया है ।

४ यह विराम-चिन्ह अनावश्यक है ।

५ यह विसर्ग प्रारम्भ में छोड दिया गया था, किन्तु जब नाम्ना को बदलकर नाम्नः किया गया तो इसे अशत. आगे अंकित द्विगुणित विराम चिन्ह की प्रथम रेखा पर अंकित किया गया ।

६ द्र०, ऊपर पृ० २७६, टिप्पणी ४ । अनु ययाति के पुत्रो मे एक थे जिनके वंशज आनव कहलाए. जनरल कनिंघम ने आनवो का तादात्म्य (आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० २, पृ० १४६) 'जन्जूहों' ने किया है जो आजकल पंजाब में स्थित नमक की पहाडी में 'मल्याल' तथा अन्य स्थानों में निवास करते हैं ।

समान था—खड़े होकर, दीर्घकाल तक जीवन से उदासीन तथा (जिस एकाग्रता से वे देखती हैं उसके कारण) तरल, स्निग्ध तथा अपलक दृष्टि से हिरणियो द्वारा देखा जाता हुआ— (केवल) मृत्यु (प्रदान करने के लिए ही) स्थित हैं । अनन्त[1] जिनका नाम है उनके, अत्यन्त खीची हुई तथा (अपने टकार की ध्वनि से) कुरर पक्षी की चीखो से स्पर्द्धा करने वाली प्रत्यचा से युक्त, धनुष रूपी यन्त्र से वेगमान् तथा कौशलपूर्वक छोडा गया दूरगामी तथा भय से उद्भ्रान्त हाथियो एव अश्वो को तितर बितर करने वाला शक्ति-सपन्न शर (अपने) शत्रुओ की पत्नियो को (वैधव्य के) दुख की स्थिति से अवगत कराता है ।

---

१ इस नाम के सक्षिप्त रूप के लिए, द्र०, ऊपर पृ० १०, टिप्पणी १ ।

सं० ५०; प्रतिचित्र ३१ ख

अनन्तवर्मन् का नागार्जुनी पहाडी का गुहा-लेख

यह लेख भी लगभग १७८५ मे श्री जे० एच० हैरिंगटन द्वारा प्राप्त हुआ जान पडता है तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान सर्वप्रथम १७८८ मे एशियाटिक रिसर्चेज, जि० १, पृ० २७६ इ० के माध्यम से हुआ, जिसमे सर चार्ल्स विल्किन्स ने श्री हैरिंगटन के निरीक्षण मे तैयार की गई प्रतिलिपि से लेख का अपना अनुवाद, तथा उन्ही वस्तु-सामग्रियो के आधार पर तैयार किया गया एक शिलामुद्रण, प्रकाशित किया[1]। तथा, १८३७ मे, जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ६, पृ० ६७२ इ० मे श्री जेम्स प्रिसेप ने श्री हाथोर्न के निरीक्षण से निर्मित एक स्याही की छाप के आधार पर तैयार किए गए शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० ३४) लेख का एक अन्य पाठ तथा इसका अनुवाद प्रकाशित किया।

यह बगाल प्रेसीडेन्सी के गया जिले मे स्थित जाफरा मे नागार्जुनी पहाडी[2] से प्राप्त एक अन्य लेख है। पहाडी के दक्षिणी भाग मे एक अन्य गुहा-भवन है, प्रवेश-द्वार के ऊपर शिला पर दसलथदेवानापिय के चार पक्तियो वाले एक अन्य लेख से यह भी अशोककालीन ज्ञात होता है, तथा लेख के प्रारम्भ मे अकित दो शब्दो के आधार पर इसे 'गोपी-गुफा'[3] कहा जाता है। सप्रति प्रकाशित लेख गुहा के प्रवेश द्वार के बाई ओर स्थित ग्रेनाइट पत्थर की शिला के समतल तथा श्लक्ष्णीकृत धरातल पर अकित है।

लेखन, जो लगभग ४' ११" चौडा तथा १' ११½" ऊचा स्थान घेरता है, आद्यन्त अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है—केवल अतिम पक्ति मे दान दिए गए नाम को उद्देश्यत विलोपित कर दिया गया है। अक्षरो का औसत आकर लगभग १" हैं। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा एकदम उसी प्रकार के हैं जो हमे इसी शासक के पूर्ववर्ती दो लेखो (ऊपर स० ४८ तथा ४९, प्रति० ३०ख तथा ३१क) मे मिलता है, और इसमे भी उसी प्रकार विकसित मात्राए मिलती हैं। भाषा सस्कृत है, तथा प्रारम्भ मे अकित ओम् शब्द के प्रतीक को छोड कर सपूर्ण लेख पद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य है १ प० २ मे अकित अङ्शु मे श के पूर्व तथा प० ६ में

---

१ इसके साथ ही द्र०, एशियाटिक रिसर्चेज, जि० १, पृ० २३६ इ० का कलकत्तापुनर्प्रकाशन।

२ द्र०, ऊपर पृ० २७८, तथा टिप्पणी २।

३ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ४०, प्रति० १८ मे प्रकाशित जनरल कनिघम के रेखांकन में 'ङ' से चिन्हित।

अंकित अड्हस् से ह् के पूर्व, अनुस्वार के स्थान पर कण्ठय आनुनासिक का प्रयोग, २ अनुवर्त्ती र के साथ सयोग होने पर क तथा त का परम्परागत द्वित्व-उदाहरणार्थ, प० ४ मे अंकित विक्रम मे, तथा प० ७ मे अंकित पुत्त्रेण मे, तथा ३ प० ५ मे अंकित लब्ध मे, प० ६ मे अंकित बन्धु मे तथा प० ९ मे अंकित अम्बुभि मे सदैव ब के स्थान पर व का प्रयोग।

यह मौखरि शासक अनन्तवर्मन् का एक अन्य लेख है। यह तिथिविहीन है। यह शैव अथवा शक्ति अभिलेख है, तथा इसका प्रयोजन अनन्तवर्मन् द्वारा इस गुफा मे कात्यायनी नामान्तर्गत शिव की पत्नी पार्वती की एक मूर्ति की स्थापना तथा भवानी नामान्तर्गत उसी देवी के प्रति एक गाव-जिसका नाम नष्ट कर दिया गया है-के दान का लेखन है।

इस अभिलेख की प० ८ मे नागार्जुनी पहाडी को विन्ध्य पर्वत-शृंखला (का भाग) कहा गया है। यह तथ्यो के अनुरूप है, क्योकि विन्ध्य पर्वत-यद्यपि यह पश्चिमी तथा मध्य भारत मे अधिक विशिष्ट है-प्रायद्वीप के पार तक फैला हुआ है, और गया के निकट से होती हुई इसके सुदूर पूर्वी पर्वत-प्रक्षेप गगा की घाटी मे स्थित राजमहल तक जाते है, जहा तक पहुँच कर ये समाप्त हो जाते हैं।

मूलपाठ[1]

१ ओम् (॥*) उन्निद्रस्य[2] सरोरुहस्य सकलामाक्षिप्य शोभा रुचा।[3] सावज्ञ महिषासुरस्य शिरसि न्यस्त क्वणन्नूपुर।

२ देव्या व स्थिरभक्तिवादसदृशी युञ्जन्फलेनार्थित। दिश्यादच्छनखाङ्शुजाल जटिल पाद पद सपदा॥

३ आसीदिप्टसमृद्धयज्ञमहिमा श्रीयज्ञवर्म्मा नृप। प्रख्याता(तो)विमलेन्दुनिर्म्मलयशा [*] क्षात्त्रस्य धाम्न पद।

४ प्रज्ञानान्वयदानविक्क्रमगुणैर्यो राजकस्याग्रणी [*]। भूत्वापि प्रकृतिस्थ एव विनहयादक्षोम्यसत्[त्व*]वोदधि [*]॥

५ तस्योदीर्णमहार्णवोपनरणव्यापारलव्य (ब्ध) यश [।*] तन्वान ककुद सुखेषु ककुभ कीर्[त*]या जितेदयुग [।*]

६ श्रीमान्व(ब)न्धुसुहृज्जनप्रणयिनामाशा फलं पूरय [न्*]। पुत्त्र कल्पतरोरिवाप्तमहिमा[4] शार्दूलवर्म्मा नृप

---

१ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

२ छन्द, सपूर्ण लेख मे शार्दूलविक्रीडित।

३ श्लोक के प्रथम तथा तृतीय पादो के उपरान्त सामान्यतया विरामचिन्ह नही रखा जाता, किन्तु इस लेख मे लगभग आद्यन्त इसका प्रयोग किया गया है।

४ पढे, महिमा।

७ तस्यानन्तमनन्तकीर्त्तियशसोऽनन्तादिवर्म्माख्यया । ख्यातेनाहितभक्तिभावितधिया पुत्रेण पूता-
त्मना [।*]

८ आसूर्यक्षितिचन्द्रतारकमिय पुण्याश्रद वाञ्च्छ(ञ्छ)ता । विन्यस्ताद्भुतविन्ध्यभवरगुहामाश्रित्य
कात्यायनी ।।

९ धौताङ्होमलपङ्कदोषममलैर्महानदं रम्बु(म्बु)भि · । व्यावृतोपवनप्रियङ्गु वकुलैरामोदित
वायुभि [*]

१० कल्पान्तावधिभोग्यमुच्चशिखरिच्छायावृतार्क्कद्युति । [– –] ग्राममनल्पभोगविभवं रम्य भवान्यै
ददौ ।।

अनुवाद

ओम् ! (अपने) पवित्र नख-रश्मियो ने आवृत्त देवी का चरण आपकी प्रार्थना को दृढ़ भक्ति की अभिव्यक्ति के अनुरूप (उपयुक्त) फल से युक्त करते हुए, समृद्धि का मार्ग दिखावे, (वह चरण) प्रस्फुटित कमलपुष्प के सौन्दर्य की शोभा का अतिक्रमण करने वाला जो, अपने बजते हुए नूपुर की ध्वनि के साथ महिषासुर राक्षस के शिर को ऊपर अवज्ञापूर्वक रखा गया था[1]।

प० ३–प्रभूत यज्ञो के सम्पादन द्वारा अधिगत महिमा के स्वामी, विख्यात निर्मल चन्द्र के समान विशुद्ध यश के स्वामी, क्षत्रिय जाति की (सपूर्ण) गरिमा के अधिष्ठान राजा श्री यज्ञवर्म्न थे–जो ज्ञान, (उच्च) कुल, दान तथा शक्ति मे सभी राजाओ मे श्रेष्ठ होते हुए भी, नम्रता के कारण (शान्ति की) स्वाभाविक स्थिति मे रहने वाले (तथा) कभी क्षुभित न होने वाले समुद्र (के समान) थे।

प० ५–उनके पुत्र राजा श्री शार्दूलवर्मन् (थे) जिन्होंने, सार्वभौमता के चिन्ह (स्वरूप) (विस्तार मे) उद्विग्न महासमुद्र के सदृश युद्ध-व्यापार मे अधिगत यश को क्षितिज-बिन्दुओ के मुखो पर फैला दिया था, जिन्होने (अपनी) कीर्त्ति से वर्तमान युग (के दोषो) को जीत लिया था, जो श्रीमान् थे, (तथा) जिन्होने, (अपने) भवधियो तथा मित्रो की इच्छाओ की पूर्ति करते हुए मानो कल्प-वृक्ष की महिमा को पा लिया था।

प० ७–सर्वदा अनन्त यश तथा प्रसिद्धि वाले उनके पुत्र, पवित्रात्मा, भक्तिभाव से समन्वित बुद्धि वाले वह (हैं) जो अनन्त मे प्रारम्भ होते हुए वर्मन् इस सज्ञा से[2] प्रख्यात हैं, सूर्य, पृथ्वी चन्द्रमा तथा तारागणो की स्थिति तक बने रहने वाले पुण्य के अधिष्ठान की इच्छा करने वाले जिनके द्वारा विन्ध्य पर्वतो की (इस) अद्भुत गुफा मे (देवी) कात्यायनी (की) यह (प्रतिमा) स्थापित की गई।

प० ९–उन्होने विपुल समृद्धि तथा भोग से युक्त.. नामक सुन्दर गाव–जिसके पाप, मल,

---

१ एक राक्षस जो कई रूप–किन्तु विशेषत. महिष का रूप–धारण करता था तथा पार्वती द्वारा मारा गया था, जिन्होने सिंह को वाहन बनाकर उसके ऊपर आक्रमण किया तथा उसका शिर काट डाला।

२ अर्थात् अनन्तवर्मन्।

क—अनन्तवर्मन का नागार्जुनी पहाड़ी पर स्थित गुहा-लेख

मान १७

ख—अनन्तवर्मन का नागार्जुनी पहाड़ी पर स्थित गुहा-लेख

सं० ५१, प्रतिचित्र ३२ क

ईश्वरवर्मन् का जौनपुर प्रस्तर-लेख

यह अभिलेख–जो १८७५–७६ अथवा १८७७–७८ मे जनरल कनिंघम को प्राप्त हुआ था, तथा जनसामान्य को जिसका ज्ञान १८८० मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ११ पृ० १२४ के माध्यम से हुआ, जिसमे कि उन्होने एक शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० ३७, स० १) लेख का अपना पाठ प्रकाशित किया–नार्थ-वेस्ट प्राविंसेज मे जौनपुर जिले के प्रमुख नगर जौनपुर मे स्थित जामी मस्जिद के दक्षिणी दरवाजे के बाहरी मेहराव के निचले भाग के नुकीले पत्थर से लिया गया है।

लेखन, जो १' ३½" चौडा तथा १' १½" ऊचा स्थान घेरता है,—जो जहा तक यह प्राप्त हैं–अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे हैं, केवल प्रस्तर-खण्ड के मध्य के थोडा ऊपर यह विविध चिन्हो द्वारा अपरूप हुआ मिलता है। किन्तु यह लेख एक बडे लेख का खण्डमात्र है। ऊपर तथा पक्तियो के अन्त मे कुछ भी नही नष्ट हुआ है किन्तु प्रत्येक पक्ति के प्रारम्भ मे अडतीस से लेकर वहत्तर तक अक्षर–सभवत वडी सख्या नष्ट हो चुके हैं इसी प्रकार, प्राप्त अतिम पक्ति के नीचे कई पक्तिया नष्ट हो चुकी हैं। अक्षरो का औसत आकार ,⅜" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं और वे विशिष्टरूपेण उसी प्रकार के है जो हमे शर्ववर्मन् के असीरगढ मुहर (ऊपर स० ४७, प्रति० ३० क) मे प्राप्त होता हैं किन्तु इनका अकन और भी अधिक अलकरण पूर्ण है। प० १ मे अकित दोर्भ्याम् मे, प० ४ मे अकित कीर्त्तिर् मे, प० ५ मे अकित करेगुर्णं गुंणवता मे तथा अन्य स्थलो पर यह उल्लेखनीय हैकि अधिलिखित र पक्ति के ऊपर अकित होने के स्थान पक्ति पर ही अकित किया गया है। भाषा सस्कृत है तथा प्राप्त लेख आद्यन्त पद्यात्मक है। वर्ण विन्यास के प्रसग मे केवल ये विशिष्टताए ध्यातव्य है १ अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर क त तथा द का द्वित्व–उदाहरणार्थ, प० ५ मे अकित वक्र्र मे, प० १ मे अकित क्षत्त्रेण मे तथा प० ५ मे अकित उपद्द्रवैर् मे,तथा, २ प० १ मे अ कित लब्ध मे ब के स्थान पर व का प्रयोग।

अभिलेख, प० ४ मे, मौखरी-अथवा जैसा कि यहा कहा गया है मुखर-वंश के राजा ईश्वर-वर्मन् का उल्लेख करता है, जो कि स्पष्टत असीरगढ मुहर (ऊपर स० ४७, पृ० २१९) की प० ५ मे उल्लिखित, शर्ववर्मन् का पितामह, ईश्वरवर्मन् है। किन्तु अनुवर्ती पक्तियो मे इतनी अधिक रिक्तता है कि यह कहना कठिन है कि उनमे दी गई ऐतिहासिक सूचनाए ईश्वरवर्मन् के प्रसग मे हैं अथवा उसके वशजो मे से किसी अन्य के प्रसग मे। यह बहुत ही अच्छा होता यदि प्रस्तर-खण्ड का प्रथमार्ध प्राप्त हो सकता, क्योकि उपरोक्त समस्या का समाधान करने के अतिरिक्त सभवत इसमे धारा नगर-

---

१ मानचित्रो इ० का 'Jounpoor इण्डियन एटलस, फलक स० ८८। अक्षाश २५°४१' उत्तर, देशान्तर ८२°४३' पूर्व।

जिसका प० ६ मे उल्लेख हुआ है—से सबद्ध राजा का नाम, तथा साथ ही आन्ध्रो जिनका उल्लेख प० ७ तथा ८ मे हुआ है—से सबद्ध राजा का नाम प्राप्त हो जाता, आन्ध्रो से सबद्ध सूचना से समवत आन्ध्र वश के तिथिक्रम का निर्धारण करने वाला वह प्रारम्भ-बिन्दु प्राप्त हो जाता जिसकी दीर्घकाल से अपेक्षा रही है। इसमे सभवत रैवतक पर्वत-जिसका प० ७ मे उल्लेख हुआ है—के सदर्भ में सौराष्ट्र अथवा काठियावाड के राजा का नाम भी मिल जाता। लेख के उपलब्ध भाग मे कोई तिथि नहीं दी गई है, और न ही कोई ऐसी सूचना मिलती है जिससे इसका साम्प्रदायिक स्वरूप ज्ञात हो सके।

मूलपाठ[1]

१ [2] .. .. र् (?) क्ष् (?) ल् (?) गम्[3] ॥ दोर्म्याम्[4] [ा]त्मभुवो धनु सहभुवा क्षत्त्रेण लब्ध- (ब्ध)त्मना विस्तारी—

२ . [.] दयिनी[5] मुखराणा भूभुजामन्ववाये। सकलपुरुषशक्तिव्यक्तशार्ङ्ग प्रतापो

३ कर्म्मणा[6] यज्ञ ध् [.]मवितानमेघनिवह पुण्यं वितेने दिवि ॥[7]

४ . लक[8]स्तालकाग्र कुलै ॥ तस्य[8] दिक्षु [व्] ततामलकीर्त्तेरात्मजो नृपतिरीश्वर- वर्म्मा

५ [कृ] पा[10]नुरागशमितक्रूरागम (?) पिद्द्रवैर् लोकानन्दकरैर्गुणैर्गुणवता को नाम

६ [अ] धिष्ठित क्षितिभुजा सिंहेन सिंहासनम् ॥ धारामार्गविनिर्गताग्निकणिका

७ दम् ॥ विन्ध्याद्द्रे प्रतिरन्ध्रमन्ध्रपतिना शकापरेणासितं यातो रैवतकाचल

८ मा[11] वारणाना घटासु व्याप्तेपूत्खातखड्गतिखड्गचितभुजेष्वन्ध्रसेनाभटेपु

९ र[12]प्रपातसलिलै स्नात शिलागन्धिभि प्रालेयाद्द्रि भुवश्च शीतपयस प्रक्षा—

१० रेणुभिर्गिरिसरित्पूरोर्म्मिभङ्गाकुलैरुत्सर्प्पद्भिरनुप्रगेऽपि दिवसो यस्याप्

११ य

---

१ स्याही की छाप से।

२ यदि (चूकि प० २ मे अकित अन्ववाये के पश्चात् एक विराम-चिन्ह मिलता है) हम इस पक्ति के उपलब्ध चतुर्थ अक्षर के उपरान्त अकित दुहरे विराम-चिन्ह को श्लोक के समापन का परिचायक मानें, तो यह मानना होगा कि इस स्थान पर बहत्तर अक्षर नष्ट हो गए हैं। किन्तु यदि यह केवल श्लोक के द्वितीय पाद की समाप्ति का परिचायक माना जाय तो केवल बत्तीस अक्षर नष्ट हुए मानने होंगे। यह जानने के उद्देश्य से कि प्रत्येक पक्ति के प्रारम्भ मे कितने अक्षर नष्ट हुए है मैंने श्लोकों को कई प्रकार से व्यवस्थित करके देखा है, किन्तु मैं किसी भी व्यवस्था से सतुष्ट नहीं हो सका। किन्तु इस पक्ति मे बहत्तर अक्षरो के नष्ट हुए होने की अधिक सभावना है और आगे भी इसी अनुपात मे अक्षरों का विलोपन समझना चाहिए।

३ छन्द सदिग्ध है।

४ छन्द, शार्दूलविक्रीडित।

५ छन्द, मालिनी।

६ छन्द, शार्दूलविक्रीडित।

७ पक्ति में आए रिक्त स्थान को पूर्ण करने के लिए इस विराम-चिन्ह के पश्चात् कुछ सज्जाकारी की गई है।

८ छन्द, शार्दूलविक्रीडित।

९ छन्द, स्वागता।

१० छन्द, शार्दूलविक्रीडित, तथा अगली तीन पंक्तियों में।

११ छन्द, स्रग्धरा।

१२ छन्द, शार्दूलविक्रीडित, तथा अगली पक्ति में।

अनुवाद

. . आत्मा (तक) को व्याप्त करने वाली (अपने) क्षत्रिय-सहज कौशल से (अपनी) भुजाओं मे (भगवान्) आत्मभू[1] का धनुष [धारण करते हुए] . मुखर राजाओ के उदयोन्मुख वश मे, . धार्मिक अनुष्ठान द्वारा , (तथा) (आहुतियो के) धूम्र वितान के मेघ-समूहन (के रूप मे) आकाश मे व्याप्त यज्ञो से उद्भूत पुण्य .. कुलो द्वारा ... (उनकी) अलकागो को नीचा करते हुए .

प० ४—दिशाओ मे दूर-दूर तक फैले हुए निर्मल यश वाले उनके राजा ईश्वरवर्मन् पुत्र (थे) ऐसे गुणो के साथ जो अनुगह तथा प्रीति द्वारा क्रूर व्यक्तियो के अभिगमन से (उत्पन्न) विपत्तियो को दूर करने वाले थे तथा मनुष्यमात्र मे आनन्द उत्पन्न करने वाले थे, गुणवानो मे कौन , (विरोधी) राजाओ के प्रति सिहस्वरूप उनके द्वारा सिहासन अधिगत किया गया। वह अग्नि-कण जो धारा (नगर से) मार्ग द्वारा होता हुआ आया था . . . सर्वथा भयभीत पन्ध्रो के स्वामी ने विन्ध्य पर्वत की कन्दराओ मे शरण लिया, . . रैवतक पर्वत गया . . हाथियो की सेनाओ मे व्याप्त (तथा) (म्यानो मे से) खीची गई तलवारो की शोभा से खचित भुजाओ वाले आन्ध्र-सेना के योद्धाओ के बीच . की, धूप से सुगन्धित जलधारा के जल से स्नान करते हुए . तथा हिम-पर्वत (हिमालय) के शीतल जल से पूर्ण भूप्रदेशो को पक्षालित करते हुए ....पराग-धूलि द्वारा . ..उद्विग्न पर्वतीय जलधाराओ की लहरो के टूटने से अस्त-व्यस्त, (तथा) आगे प्रवाहित होते हुए,....... .सूर्योदय के बाद आने वाली घडियो मे भी जिसका दिन .. ..

---

१ शब्दश 'स्वत –अस्तित्वमान्' , यह ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव तीनो का विरुद है। धनुष का उल्लेख होने से यहा पर इसे शार्ङ्ग नामक धनुष को धारण करने वाले विष्णु का निर्देशक मानना चाहिए।

क-ईश्वरवर्मन् का जौनपुर-लेख
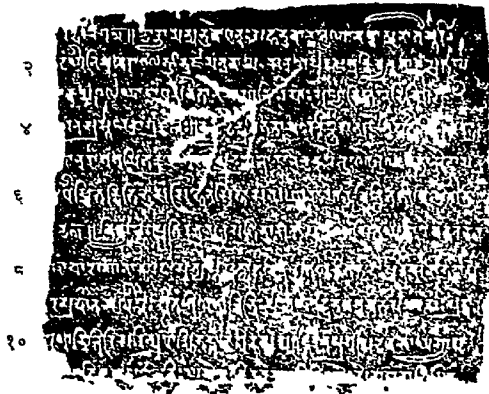
मान २५

ख-हर्षवर्धन का सोनपत मुहर
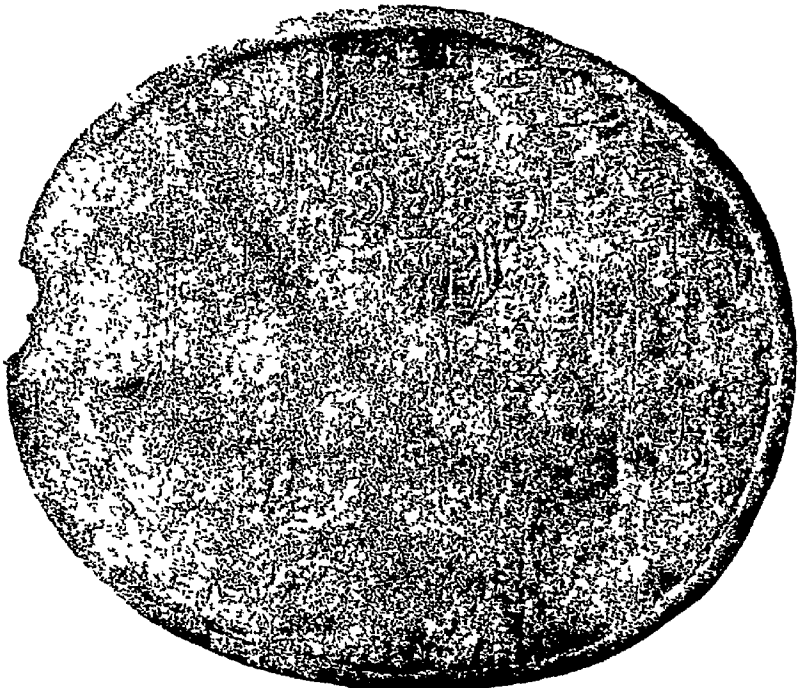
स० ५२, प्रतिचित्र ३२ ख

हर्षवर्धन का सोनपत ताम्र-मुहर लेख

जनसामान्य के ज्ञान मे पहली बार आने वाला यह लेख एक ताम्रमुहर से उद्धृत है, जो पजाब मे दिल्ली जिले के सोनपत तहसील के प्रमुख नगर सोनपत[1] अथवा सोनीपत[2] के एक वणिक मौहरसिंह रामरतन महाजन के अधिकार मे है। परिक्षणार्थ इस लेख की प्राप्ति मुझे श्री जे० डी ट्रेमलेट (J D Tremlett) बा० सी० एस० की कृपा से हुई, वस्तुत इस लेख की प्रथम सूचना उन्हे ही थी और उन्होंने ही मुझे इससे अवगत कराया।

५⅞' × ६⅞" की नाप की यह मुहर अण्डाकार है। इसके चारो ओर लगभग ¼" चौडी उभरी पट्टी मिलती है, तथा इस पट्टी के भीतर कुछ दबे हुए धरातल पर अपेक्षातया छिछली उकेरी में, ऊपरी भाग मे दक्षिणाभिमुख बैठे हुए वृषभ की आकृति बनी हुई है और इसके नीचे सप्रति उद्धृत लेख अकित है। टकाई के स्पष्ट चिन्हो से एव समुद्रगुप्त के जाली गया-ताम्रपत्र से (नीचे स ६० प्रतिचित्र ३७)-जिसके साथ इसके सदृश मुहर सबद्ध मिलती है—यह स्पष्ट है कि यह एक मुहर ही है जो किसी ताम्रपत्र से सबद्ध रही होगी। लेख के अक्षर इतने अधिक घिस गए है कि विभिन्न स्थलो पर उन्हे विभिन्न कोणो से प्रकाश डाल कर ही पढा जा सकता है, तथा कुछ स्थलो पर वे नितान्त अपठनीय है। किन्तु एक-मात्र ऐतिहासिक सूचना जो नष्ट हो गई जान पडती है, वह प० ४ मे प्रभाकर-वर्धन के पिता के नाम का कुछ अ श है। इस लेख के पढने मे मुझे डा० भगवानलाल इन्द्रजी से कुछ सहायता मिली है, किन्तु जिस रूप मे लेख यहा प्रकाशित है, उसके विवरणो के लिए वे उत्तरदायी नही है। मुहर का भार ३ पौंड ६ औंस है। अक्षरो का औसत आकार ³⁄₁₆" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा प्रायः उसी प्रकार के है जो हमे शववर्मन् के असीरगढ मुहर (ऊपर स० ४७, प्रति ३० क) मे मिलता है, किन्तु बनावट की सूक्ष्मताओ मे ये अक्षर अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन शैली प्रस्तुत करते है। भाषा सस्कृत है और सपूर्ण लेख गद्यात्मक है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे एकमात्र ध्यातव्य विशिष्टता है प० २ तथा ७ मे अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर त का द्वित्व।

यह मुहर कनौज के शासक हर्षवर्धन की है जिसने ईसवी सन् ६०६ अथवा ६०७ से शासन करना प्रारम्भ किया[3]। उसके अपने आभिलेखिक साक्ष्य होने के कारण यह विशेष महत्व का है। मैं इस मुहर से सबद्ध पत्र को प्राप्त करने के सभी प्रयत्न कर चुका हू क्योकि पत्राकित लेख से वशावली

---

१ मानचित्रों इ० का 'Sonipat', 'Soonput' तथा 'Sunput'। इण्डियन एटलस, फलक स० ४६। अक्षांश २८°५९' उत्तर, देशान्तर ७७°३' पूर्व।

२ नाम के अन्य रूप हैं 'Sonepat' तथा 'Sunpat'।

३ द्र०, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १३, पृ० ४२०, टिप्पणी ३७।

पूर्ण हो सकेगी तथा—यदि यह हर्षवर्धन के शासनकाल के प्राथमिक वर्षो का लेख है तो—इससे सभवत उस सवत् का ज्ञान हो सकेगा जिसका प्रयोग वह अपने सवत् की सस्थापना के पूर्व करता रहा होगा। किन्तु मैं इस पत्र के विषय मे कोई सूचना प्राप्त कर सकने मे सफल नही हो सका, और यह अप्राप्य हो गया जान पड़ता है। मुहर के वर्तमान स्वामी का कहना है कि पत्र के परिवार के पास कभी भी रहे होने का कोई निर्देश नही मिलता; अतएव इसके अब अस्तित्वमान होने मे पर्याप्त संदेह है।

मूलपाठ[1]

१ ... . य् . श्रीम(?) हा(? दा)
२ . . परमादित्यभ [क्तो महाराज] जश्रीराज्यवर्द्धन (॥*) तस्य पुत्रस्तत् (।)—
३ [दानुध्यात] श्री(?)म (?) हा (?)देव्याम् (ुत्पन्न परमा) दित्यभक्तो महाराज-श्रीमदादित्य—
४ [वर्द्धन[2]] (॥*) [त] स्य [पुत्रस्तत्पादानुध्यात· श्री] महा[3]सेनगुप्ता देव्यामुत्पन्न ..
५ . .. . य् म[व्]र्वर्णाश्रमव्यवस्थापनप्रवृ—
६ [त्त·] य् व(?) प्रव [ँ] द्ध . परमादित्यभक्त परमभट्टारक—
७ महाराजाधिराजश्रीप्रभाकरवर्द्धन· (॥*) तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्या [त]. . .
८ ... ि श्र [ी] मत्या [ं] यश् [ो]मत्य्[ामुत्पन्न·] परमसो(सौ)गत
९ . [परमभट्टारक]महाराजाधि [राज] श्रीराज्यव [र्द्धन] (॥*)
१० [तस्यानुजस्तत्पादानु] ध्यातो महादेव्या [ ] यशोमत्या—
११ [मुत्पन्न] . .. [प]
१२ [रमभट्टारकम] हाराजा [धि] राजश्रीहर्ष—
१३ वर्द्धन[4] (॥*)

अनुवाद

सूर्य के परमभक्त, महाराज श्री राज्यवर्धन (प्रथम) हुए। उनके पुत्र—जो श्रीमती महादेवी (?) से (उत्पन्न) हुए थे—उनके चरणों (का ध्यान करने वाले) सूर्य के (परम) भक्त, महाराज, श्री

---

१ मूल मुहर मे।

२ नाम का यह अ श पूर्णतः अपठनीय है किन्तु अन्य नामो में आए अन्तिम वर्णो से यह प्रदर्शित होता है। यह नामान्त भी वर्धन ही रहा होगा।

३ महा, ये दो अक्षर अत्यन्त अस्पष्ट हैं, किन्तु मेरे विचारानुसार इन्हें निश्चित ही मानना चाहिए।

४ वर्द्धन, ये तीन अक्षर अपेक्षाकृत छोटे तथा वामनाकृति है तथा मुहर के निचले भाग मे मध्य में अंकित है।

आदित्यवर्धन[1] (हुए)। उनके (पुत्र)—जो देवी (श्रीमती) महासेनगुप्ता से उत्पन्न हुए थे-(उनके चरणो का ध्यान करने वाले)' 'सूर्य के परमभक्त, परमभट्टारक तथा महाराजधिराज श्री प्रभाकरवर्धन (हुए), जो सपूर्ण वर्णाश्रमव्यवस्था के व्यवस्थापन मे प्रवृत्त थे। उनके पुत्र-जो' श्रीमती यशोमती से उत्पन्न हुए थे—उनके चरणो का ध्यान करने वाले, सुगत[2] के परम अनुयायी, परमभट्टारक तथा महाराजाधिराज श्री राज्यवर्धन (द्वितीय) (हुए)। (उनके अनुज)-जो महादेवी यशोमती से (उत्पन्न) हुए—(उनके चरणो का) ध्यान करने वाले, (परमभट्टारक तथा) महाराजधिराज श्री हर्षवर्धन (हैं)।

---

१ द्र०, पृ० २९०, टिप्पणी २।

२ परमसौगत बौद्ध धर्म से सबधित विरुद है। सुगत—शब्दश 'सुचारु रूपेण गया हुआ, वह जिसने सुन्दर स्थिति प्राप्त कर ली है'—बुद्ध के नामों अथवा उपाधियो मे एक है।

सं० ५३ तथा ५४; प्रतिचित्र ३३ क तथा ख

महाराज पृथिवीषेण के नचने-की-तलाई से प्राप्त लेख

ये दोनो लेख जनरल कनिंघम द्वारा १८८३-८४ मे पाए गए थे, तथा जनसामान्य को इनका ज्ञान उनके द्वारा १८८५ मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया,जि० २१,पृ० ९७इ० के माध्यम से कराया गया जिसमें कि उन्होने, इन दोनो लेखो के शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० २७) पूर्ण लेख (अर्थात् स० ५४) के मूल का अपना पाठ प्रकाशित किया।

नचने की-तलाई[1]-जिसका शाब्दिक अर्थ है नचना का तालाव-सेन्ट्रल इण्डिया के बुन्देलखण्ड प्रदेश मे जसो राज्य के प्रमुख नगर जसो[2] से लगभग सात मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित एक छोटा सा गाव अथवा झोपडियो का समूह है। जब मैंने प्रतिचित्र के शीर्षक का प्रारूप बनाया उस समय मुझे ऐसा ज्ञान था कि ये लेख जगल मे पडे किसी भारी शिलाखण्ड पर अ कित है, किन्तु, जनरल कनिंघम के प्रकाशित विवरण से ऐसा जान पडता है कि वे एक स्वतत्र शिला-पट्टिका पर अकित है जो 'लखुर, लखुरिया अथवा लखावर' नामक स्थान पर पडी हुई पाई गई थी, 'लखुर लखुरिया अथवा लखावर' 'कुथर अथवा कुथरगढ' के किले के बाहरी भूभाग का नाम है, तथा स्वय 'कुथर' अथवा 'कुथरगढ' को उस स्थान का प्राचीन नाम माना जाता है जिसके एक अश पर आधुनिक नचना अथवा नचने की तलाई नामक गाव बसा हुआ है। चार पक्तियो वाला लेख (स० ५४) शिला-पट्टिका के मुख भाग पर अ कित है, तथा, अपूर्ण लेख (स० ५३) इसके पार्श्व भाग पर अ कित है। लेख स० ५३ की व्याख्या सभवत यह है कि मूलत यह भाग मुख-भाग अभिप्रेत था, किन्तु कालान्तर मे इस भाग के धरातल को समतल न पाया जा कर इसे पार्श्व भाग बना दिया गया और सप्रति जो मुख भाग है उस भाग पर लेख को फिर से प्रारम्भ से अन्त तक लिखा गया। तथा मुझे इसमें अत्यन्त सदेह है कि पार्श्वभाग पर अकित लेख (स० ५३) मे वस्तुत एक से अधिक पक्तिया हैं। जो अकन मुझे भेजे गए थे उनमे व्याघ्र प्रतीत होने वाले कुछ चिन्ह मिलते हैं, किन्तु इस प्रश्न के निश्चित समाधान के लिए मैं न तो नचने-की-तलाई को अपने लिपिक भेज सका और न स्वय जा सका।

लेख स० ५३ का लेखन लगभग १' ९¾" चौडा तथा ७½" ऊ चा स्थान घेरता है, तथा लेख स० ५४ का लेखन लगभग १' ९" चौडा एव १' १" ऊ चा स्थान घेरता है। कुछ अक्षर अपूर्ण है जिसका कारण उत्तरकालीन क्षतिग्रस्तता के स्थान पर प्रस्तर-खण्ड की अनियमितता जान पडती है। लेख स० ५४ के मध्य मे एक आकृति बनी मिलती है जो बौद्ध चक्र अथवा सूर्य-प्रतीक है। अक्षरो का आकार ⅝" से लेकर १½" तक है। अक्षर दक्षिणी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा मध्य भारत मे प्रचलित उस

---

१ मानचित्रो इ० का 'Nachna' 'Nachna' तथा 'Narhna'। इसे इण्डियन एटलस, फलक स० ७० पर होना चाहिए, किन्तु यह वहा नहीं अकित है। अक्षाश २४°२४' उत्तर, देशान्तर ८०°३०' पूर्व।

२ मानचित्रों इ० का 'Jasso', 'Jusso', तथा 'Jussoo'।

'चौकोर-शिर प्रकार का का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसके विषय मे मैंने ऊपर पृ० २३ इ० पर चर्चा की है। भाषा सस्कृत है तथा दोनों लेख गद्य में हैं। वर्ण-विन्यास के प्रसग ये एक मात्र ध्यातव्य विशिष्टता लेख स० ५४ की प० ७ में अकित अनुद्ध्यात में ध के पूर्व ध का द्वित्व है।

जहा तक लेखों की वस्तुसामग्री का प्रश्न है, लेख स० ५३ मे केवल वाकाटक कुल अथवा वश के महाराज पृथिवीषेण का नाम दिया गया है। लेख स० ५४ मे इसकी पुनरावृत्ति के साथ उसके सामन्त व्याघ्रदेव का नाम भी दिया गया है। कोई तिथि नहीं अकित है, और न ही इसके किसी प्रकार के साम्प्रदायिक उद्देश्य का निर्देश करने वाली कोई सूचना दी गई है। लेख में केवल व्याघ्रदेव द्वारा किसी निर्माण-कार्य का उल्लेख है, जो मदिर अथवा कूप या तालाब रहा होगा जिसमे कि वर्तमान शिला-पट्टिका लगी रही होगी।

जहा तक इस वश के वाकाटक नाम का प्रश्न है, जनरल कनिघम[1] ने इसका तादात्म्य वर्तमान भान्दक[2] से किया है, सेन्ट्रल प्राविसेज में चान्दा जिले के भान्दक परगना का प्रमुख नगर, तथा चान्दा[3] से पन्द्रह मील उत्तर-पश्चिम और वरोदा[4] से ग्यारह मील दक्षिण-पूर्व मे स्थित, भान्दक स्पष्टरूपेण एक प्राचीन स्थान है। यह सभव है कि भान्दक वाकाटक राजधानी रहा हो। किन्तु, इन दोनो नामों का तादात्म्य सिद्ध नहीं किया जा सकता है। प्रथमत, यह बाधा उपस्थित होती है कि वाकाटक के द्वितीय अक्षर क का विलोपन क्यों हो गया तथा मूर्धस्थानीय ट का-पूर्व मे आनुनासिक के साथ-दन्त्य द मे रूपान्तरण कैसे हो गया। दूसरे, जैसा कि डा० ब्यूलर ने निर्देशित किया है[5], सबसे गम्भीर कठिनाई भ के व मे परिवर्तित होने मे है। तथा, तीसरे, मेरा यह मत है कि वाकाटक नाम वकाट नामक किसी स्थान-नाम से व्युत्पन्न होना चाहिए, उदाहरणार्थ, समुद्रगुप्त के मरणोत्तरकालीन इलाहाबाद स्तम्भ-लेख मे, महाकान्तार से महाकान्तारक, कोसल से कोसलक, केरल से कैरलक तथा पिष्टपुर से पैष्टपुरक की व्युत्पत्ति, तथा इसी प्रकार, त्रैकूटक महाराज धरसेन के वर्ष २०७ म तिथ्यकित 'पार्दी' दानलेख[6] की प० १ मे, त्रिकूट से त्रैकूटक की व्युत्पत्ति।

---

१ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ६, पृ० १२१ इ०।

२ इण्डियन एटलस, फलक स० ५३ का 'Bhanduk'। अक्षाश २०°६' उत्तर, देशान्तर ७९°६' पूर्व।

३ मानचित्रों इ० का 'Chandah'।

४ मानचित्रा इ० का 'Warora' तथा 'Wurroda'।

५ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० ४, पृ० ११७ इ०, तथा इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० २३९ इ०। डा० ब्यूलर के मतानुसार वाकाटक देश विशेष का नाम होने के साथ ही शासन करने वाले कुल अथवा वश का भी नाम है। किन्तु यह उनके द्वारा उद्धृत 'पवरज्ज-वाकाटक' इस सयुक्त शब्द मे नहीं आता, यह शब्द सिवनी दानलेख (नीचे स० ५६, पृ० २४६) की प० २२ के केवल मूल दोषपूर्ण पाठ मे मिलता है, शुद्ध शब्द प्रवरज्जवाटक है। किसी स्थान अथवा देश विशेष के नाम के रूप मे वाकाटक को कालतीय सामन्त रुद्रदेव के धनसकोण्ड अभिलेख की प० १६१ मे भी उल्लिखित माना गया है, किन्तु यह भी मूल दोषपूर्ण पाठ के कारण है (जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ७, पृ० ९०३, ९०८), जैसा कि इस लेख के मेरे अपने पाठ के साथ प्रकाशित शिलामुद्रण से स्पष्ट होता है (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० १९, १६, २०) यहा वस्तुत कटक नामक स्थान का उल्लेख हुआ है।

६ जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १६, पृ० ३४७।

यदि इस नाम का कोई अवशेष आधुनिक मानचित्रो मे प्रदर्शित स्थानो में कही खोजना है तो हम इस प्रकार के नामो मे खोजना चाहिए जैसे वकाट, वकाट, वक्रट, वकटोर अथवा वकटौली, तथा, इसे सभवतया रेवा-काण्ठा ऐजेन्सी मे स्थित 'वक्तपुर' में पाया जा सकता है।

मूलपाठ[1]

सं० ५३

१ वाकाटकाना महा[2]राजश्रि (श्री) पृथिविषेरण

२ व्या(?)घ्र(?)[3]

सं० ५४

१ वाकाटकान [*] महाराजश्रि (श्री-

२ पृथिविषेणपादा[4]नुद्ध्यातो

३ व्याघ्रादेवो मातापित्रो [*] पुण्य्[ा]र्त्थं

४ कृतमि[5]ति [॥*]

अनुवाद

वाकाटको के महाराज श्री पृथिविषेण के चरणो का ध्यान करने वाले व्याघ्रदेव ने (अपने) माता-पिता के पुण्य के लिए (इसका) निर्माण किया।

---

१ जनरल कनिंघम की स्याही की छापो से, इसी प्रकार शिलामुद्रण भी।

२ यह हा पहले छूट गया था और बाद मे पक्ति के नीचे जोड़ा गया।

३ ये दो अक्षर अत्यन्त सदिग्ध हैं. स्याही की छाप मे ये पेंसिल से चिन्हित है और वहा उनके कुछ चिन्ह हो सकते हैं। किन्तु अकन इतना गहरा नही है कि वे उसके पीछे स्थित उद्धृत चित्र पर दिखाई पड़े।

४ यह दा पहले छूट गया था और बाद मे पक्ति के नीचे जोड़ा गया।

५ पढें, कृतवान्।

क—महाराज पृथ्वीषेण का नचने की तलाई शिलालेख

मान २५

ख—महाराज पृथ्वीषेण का नचने-की-तलाई शिलालेख

मान २५

ग—महाराज प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक पत्रों की मुहर
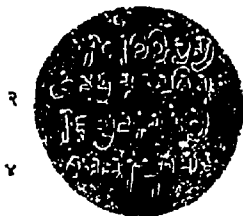
घ—महाराज प्रवरसेन द्वितीय के सिवनी पत्रों की मुहर
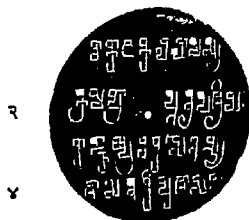
स० ५५, प्रतिचित्र ३४

महाराज प्रवरसेन द्वितीय का चम्मक ताम्रपत्र-लेख

यह लेख लगभग १८६८ मे प्राप्त हुआ था, मूलपत्र मेजर सेपान्स्की को प्राप्त हुए थे और उन्होने इनको वम्बई के डा० जान विलसन के पास भेज दिया था, जनसामान्य को इसका ज्ञान १८७९ में डा० भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा हुआ जब कि उन्होंने नोट्स ग्रान व बौद्ध राक-टेम्पल्स आफ अजन्ता,[1] पृ० ५४ इ० मे लेख का पाठ प्रकाशित किया। तथा,१८८३ मे डा०जी० व्यूलर सी०आइ० ई० ने आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० ४, पृ० ११६ इ० मे लेख का अपना पाठ तथा इसका अनुवाद प्रकाशित किया तथा इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० २३९ इ० में उन्होंने साथ में पत्रो का शिलामुद्रण भी प्रकाशित किया, किन्तु यहा पर उन्होंने मुहर का शिलामुद्रण नही प्रकाशित किया।

यह लेख कुछ ताम्रपत्रो पर अ कित है जो चम्मक नामक गाव मे खेत जोतते समय पाए गए थे, चम्मक,[2] अथवा इस लेख का प्राचीन चर्मांक, गाव हैदरावाद से सलग्न जिलो के पूर्वी वरार कमिश्नरी के इलिचपुर जिले के प्रमुख नगर इलिचपुर[3] से लगभग चार मील दक्षिण-पश्चिम मे स्थित है। मूलपत्र, जो परीक्षणार्थ मुझे डा० वर्जेस से प्राप्त हुए थे, मेरे विचार से अब पुन मेजर सेपान्स्की के पास है।

पत्र, जिनमे प्रथम तथा अन्तिम केवल एक ही ओर अ कित है, सख्या में सात हैं तथा प्रत्येक की लम्वाई ७$\frac{5}{8}$" से लेकर ७$\frac{3}{4}$" तक एव चौडाई ३$\frac{5}{8}$" से लेकर ३$\frac{7}{8}$" तक है। ये पर्याप्त समतल है, तथा उनके किनारे न तो मोटे बनाए गए हैं और न ही पट्टियो के रूप में उभरे हुए हैं। प्रथम तथा अन्तिम पत्रों के कुछ अक्षर मोरचा लगने के कारण क्षतिग्रस्त हुए हैं, किन्तु लेख के शेप अश अत्यन्त सुरक्षित अवस्था में हैं। पत्र पर्याप्त मोटे और भारी हैं, अक्षरों का उत्कीर्णन गहरा नही है और वे पत्र की दूसरी ओर द्रष्टव्य नही है। उत्कीर्णन सुन्दर हुआ है, किन्तु, जैसा कि सामान्यतया पाया जाता है, अक्षरो के आन्तरिक भागो मे यत्र तत्र उत्कीर्णक के उपकरणों के चिन्ह प्राप्त होते हैं। प्रत्येक पत्र

---

१ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया की पृथक् पुस्तिकाओं का स० ९।

२ इण्डियन एटलस, फलक स० ५४ का 'Chamuk'। अक्षांश २१° १२' उत्तर, देशान्तर ७७°३१' पूर्व। नोट्स आन व बौद्ध राक टेम्पल्स आफ अजन्ता, पृ० ५४ मे इन पत्रो को सेन्ट्रल प्राविंसेज मे सागर से प्राप्त हुआ बताया गया है। तथा, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० २३४ मे उन्हें इलिचपुर दानलेख कहा गया है। किन्तु आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ़ इण्डिया, जि० ४, पृ० ११६ मे उन्हें स्पष्टरूपेण चम्मक मे खेत को जुताई करते समय प्राप्त हुआ बताया गया है।

३ मानचित्रो इ० का 'Ellichpur'

के ऊपरी भाग पर उन्हे परस्पर सवद्ध करने लिए प्रयुक्त छल्ले का सूराख बना मिलता है। छल्ला गोलाकार है। इसकी मोटाई लगभग ३/४" तथा परिधि ३ ५/८" है। इसे किसी मुहर की सूराख मे नही जोडा गया था, प्रत्युत इसके सिरो को मानो किसी कील मे टागने अथवा सवद्ध करने के लिए चपटा कर दिया गया था, किन्तु इस भाग मे कोई सूराख नही मिलता जिससे इस प्रकार किसी कील से सवद्ध होना सिद्ध हो सके। मुहर[1] एक ताम्र निर्मित चपटी तस्तरी के स्वरूप का है जो बीच मे थोडा उठा हुआ है, इसकी मोटाई १/४" तथा परिधि २ ७/८" है। इसके पृष्ठ भाग के बीच मे एक छोटा छल्ला जुटा हुआ है जिससे यह उपरोक्त बडे छल्ले पर लटकता है। मुहर पर चार पक्तियो का एक लेख है जिसका मूलपाठ एव अनुवाद नीचे दिया हुआ है। सातो पत्रो का भार लगभग ६ पौड १४ औस है तथा दोनो छल्लो और मुहर का भार लगभग १४ १/२ औस है। इस प्रकार योग ७ पौंड १२ १/२ औस है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ३/१६" है। अक्षर दक्षिणी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा भारतीय वर्णमाला के चौकोर शिर प्रकार के हैं जिसके विषय मे मैंने ऊपर पृ० २३ इ० पर चर्चा की है। किन्तु—चाहे जानबूझ कर अथवा सयोगवश—सपूर्ण लेख मे अक्षरो के शिरोभाग को काट कर खोखला बना दिया गया था और वास्तविक चौकोर स्वरूप हमे यदा कदा ही देखने मे मिलता है— उदाहरणार्थ प० ५८ तथा ५९ मे। इन अक्षरो मे, प० ६० मे ८ तथा १० के अक एव प० १९ मे ८००० का अ क भी सम्मिलित है। भाषा सस्कृत है। मुहर का लेख पद्यात्मक है, किन्तु स्वय लेख—प० ३६ से लेकर प० ३९ तक मे आए हुए आशीर्वादात्मक एव अभिशसनात्मक श्लोको को छोड कर—संपूर्णत गद्य मे है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १. प० ग मे अकित राज्ञ. प्रवर मे, प० १३ मे अ कित पाणे प्रसाद मे, प० १६ मे अ कित शम्भो प्रमाद मे, तथा प० ३२ मे अ कित रक्षितव्य परि मे उपध्मानीय का प्रयोग-किन्तु प० ३० मे अ कित कालाय पुत्र मे उपध्मानीय का प्रयोग नही हुआ है, २ अनुवर्त्ती र के साथ सयोग होने पर क तथा द का कभी कभी द्वित्व—उदाहरणार्थ प० ख मे अ कित वक्रम मे प० ३१ मे अ कित विक्रयाभिस् मे, तथा प० ४ मे अ कित द्द्रोह मे, ३ प० ६ मे अ कित भागीरत्थ्यमल मे तथा प० २१ मे अ कित सर्व्वाद्ध्यक्ष मे अनुवर्त्ती य के साथ सयोग होने पर थ मथा घ का द्वित्व, तथा ४ प० ६० मे अ कित सव्वत्सरे मे अनुस्वार के पश्चात् व का द्वित्व।

लेख वाकाटक कुल अथवा वश के महाराज प्रवरसेन द्वितीय का है तथा इसमे अ कित राजपत्र प्रवरपुर नामक नगर से जारी किया गया है। यह शब्दो तथा अको दोनो मे तिथ्यकित है जो (इस शासन के) अठ्ठारहवें वर्ष मे ज्येष्ठ मास (मई-जून) के शुक्ल पक्ष का तेरहवा दिन है। यह किसी सम्प्रदाय विशेष से सवद्ध नही है, इसका प्रयोजन प्रवरसेन द्वितीय द्वारा सहस् स्त्र ब्राह्मणो के प्रति भोजकट प्रदेश मे स्थित चर्माक—अर्थात् आधुनिक चम्मक-गाव के दान का लेखनमात्र है।

मूलपाठ[2]

मुहर

क वाकाटक[3]ललामस्य

ख वक्रमप्राप्तनृपश्रिय

---

१ द्र०, प्रतिचित्र ३३ ग।

२ मूल पत्रो से।

३ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ)।

ग राज्ञ प्रवरसेनस्य

घ शासन रिपुशासन [।।०]

प्रथम-पत्र

१ दृष्ट[1] [।।०] स्वस्ति प्रवरपुरादग्निष्टोमाप्तोर्य्यामोक्थ्यपोडस्यातिरात्र[2]

२ वाजपेयबृहस्पतिसवसाद्यस्कश्वतुरश्वमेधयाजिन

३ वि(वि)ष्ण[ृ]व् [द्ध]द्धसगोत्रस्य सम्राड् वाकाटकाना[3] महाराजश्रि(श्री)प्रवरसेनस्य

४ सूनो सूनो प्रत्यन्त[स्]वामिमहाभैरवभक्तस्य अ[०] सभारसन्ति (न्नि) वेशि—

५ तशिवलिङ्ग्[ो] द्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादि [त]राजव[ं] शा—

द्वितीय पत्र प्रथम पक्ष

६ नाम्पराक्रमाधिगतभागीरथ्या(य)मलजलमूर्द्ध[ ]न्(र्द्ध)ाभिषिक्तानान्दशा—

७ श्वमेधावभृथस्नानाम्भारशिवाना महाराजश्रीभवनागदौ—

८ हित्रस्य गौतमी[4]पुत्रस्य वाकाटकाना महाराजश्रीरुद्रसे—

९ नस्य सूनोरत्यत्न(न्त)माहेश्वरस्य सत्यार्ज्जवकारुण्यशौर्य्यविक्रमन—

१० यविनयमाहात्म्याधिम(क)त्वहा[5](पा)त्रागतभक्ती(क्ति)त्वधर्म्मवी(वि)जयी(यि)त्व—

द्वितीय पत्र द्वितीय पक्ष

११ मनोनैर्म्मा (र्म्म)ल्यादिगुणैस्समुपेतस्य वर्षशतमभिवर्द्धमानकोश—

१२ दण्डसाधनसन्ना(न्ता)नपुत्रपौत्रिण युधिष्ठिरवृत्ते(त्तें)र्वाकाटका—

१३ ना महाराजश्रीपृथिविषेणस्य सूनोर्भगवतश्चक्रपाणे प्रसा—

---

१ द्र०, नीचे पृ० ३००, टिप्पणी ३ ।

२ द्र०, नीचे पृ० ३०१, टिप्पणी ८ ।

३ मूल रचना मे पढ़ें, सम्राड्वाकाटकानां । सम्राड् का अन्तिम अक्षर ड् (अथवा सभवत सम्राट् का ट्) अपेक्षाकृत छोटा तथा अस्पष्ट है, तथा पक्ति के नीचे और दूसरी पक्ति मे अ कित स्वामि के मि ठीक ऊपर उत्कीर्ण हुआ है ।

४ अधिलिखित ई की मात्रा का जो स्वरूप हम यहा पाते हैं, वह शेष लेख मे अन्यत्र आए स्वरूपो से भिन्न है । नीचे अगले लेख की प० ७ में इस प्रकार के ऊपर–जैसा कि विकल्पत मान्य है—ह्रस्व 'इ' की मात्रा मिलती है ।

५ उत्कीर्णक ने पहले यहां हि उत्कीर्णक किया और फिर इ की मात्रा का अ शत विलोपन किया । सभवत' उत्कीर्णक के मन मे हितागत तथा पात्रागत के मध्य चयन करने की द्विविधा थी । अधिलिखित ह्रस्व इ की मात्रा का जो स्वरूप हमे मिलता है वह अपेक्षाकृत परवर्ती काल तक सामान्य प्रचलन मे नही आया था । किन्तु, वर्तमान लेख मे यह पुन , स्पष्ट रूप में, प० १६ मे ति के साथ दो वार, प० २१ में नि के साथ तथा पं० २३ मे वि के साथ दो वार, तथा अन्य स्थानों पर अ कित मिलता है, तथा लेख मे अन्य कई दृष्टान्तों मे हमे इसी रूप में अ कित करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती हैं ।

१४ दोपार्ज्जित[1]श्रीसमुदयस्य वाकाटकानां महाराजश्रीरुद्रसेन—
१५ [स्य ॰] सूनोर्म्महाराजाधिराज श्रीदेवगुप्तसुताया प्रभाव—

तृतीय पत्र : प्रथम पक्ष

१६ तिगुप्तायामुत्पन्नस्य शम्भो . प्रसादधृतिकर्त्तयुगस्य
१७ वाकाटकानाम्परममाहेश्वरमहाराज श्री प्रवरसेनस्य वचना [त्॰]
१८ भोजकटराज्ये मधुनदि (दी)तट चर्म्माङ्क[2]नाम ग्र [ा॰] म राजमानिकभु(भू) मी—
१९ सहस्रै रष्टाभि [3]८००० शत् [॰] च्चराजपुत्रकोण्डराज विज्ञाप्त्या नानागो—
२० त्रचरणेभ्यो ब्राह्मणेभ्य सहस्राय दत्त. [॥॰]

तृतीय पत्र . द्वितीय पक्ष

२१ यतोऽस्मात्सन्तका [॰] सर्व्वाद्ध्यक्षाधियोगनियुक्ता आज्ञा सञ्च [ा॰] रिकुलपुत्राधिकृता
२२ भटाच् (श्) छात्राश्च विश्रुतपूर्व्वयाज्ञा ज्ञापयितव्या विदितमस्तु वो यथे—
२३ हास्मा कम्मनो[4] धर्म्मायुर्व्व (ब्ब) लविजयैश्वर्य्यविवृद्धये इहामुत्रहिता—
२४ र्त्थमात्मानुग्रहाय वैजैके[5] धर्म्मस्थान अपूर्व्वं दत् [त्॰]या उदकपूर्व्व—
२५ मतिसृष्ट [।] अयास्योचिता पूर्व्वराजानुमन्तां चातुर्व्वेद्यग्रामम—
२६ र्य्यादान् (म्) वितरामस्तद्यथा अकरदायी[6] अभटच्छ (च्छा) त्रप्रावेश्य [.॰]

चतुर्थ पत्र : प्रथम पक्ष

२७ म्पारम्परगोवलिवर्द्द [॰] अपुष्पक्षीरसन्दो (न्दो) ह [॰] अच् [ा॰] रा—
२८ सनचर्म्माङ्गार [.॰] अलवणक्लिन्नक्रेणिखनक [॰] सर्व्ववे(वि)ष्टिपरि—
२९ हारपरीहृत.[7] सनिधिस्सोपनिधि. सक्लि (क्लृ)प्तोपक्लि (क्लृ) प्त.
३० आचन्द्रादित्यकालीय पुत्रपौत्र [ा॰] नुगमक. [ा॰] भु [॰] जतां न के—
३१ नचि [द्॰] व्याघातं (·) कर्त्तव्यस्सर्व्वक्रियाभिस्स रक्षितव्य: प [रि॰] र्वर्द्धयि—
३२ तव् [य॰] श्च [ा॰] यश्चाय[8] शासनमगणयमानो (न) स्वल्प [ा॰] मपि [प॰] रिबाधां[9]

---

१ उत्कीर्णक ने पहले ज्जि भ किन कर फिर उसे ज्जि लिख कर शुद्ध किया।

२ उत्कीर्णक ने पहले ङ्का लिखा और फिर अंतन आ की मात्रा का विलोपन किया।

३ इस तृतीया विभक्ति के पश्चात् हमें यहां परिमित अथवा इसी प्रकार का कोई शब्द जोड़ना होगा।

४ पढ़ें, यथैव मात्मनो।

५ पढ़ें, वैजयिके।

६ उत्कीर्णक ने पहले यै लिखा, फिर उसे यी लिखकर शुद्ध किया।

७ पढ़ें, परिहृत।

८ पढ़ें, यश्चेदं।

९ उत्कीर्णन के पश्चात् श्व का लगभग अपूर्ण व सन्निकट हो गया।

चतुर्थ पत्र द्वितीय पक्ष

३३ न् (ड्) कुर्य्यात्कारयिता वा तस्य ब्राह्मणैर्व्वेदितस्य सव (द) ण्डनिग्रह कुर्य्या—
३४ म ॥ अस्मि [*] श्च धर्म्माधिकरणे अति (ती) तानेकराजदत्त (त्त) सञ्चित्त (न्त) न—
३५ परिपालन कृतपुण्यानुकीर्त्तनपरीहारार्त्थम् न कीर्त्तयाम [॥*]
३६ व्यासगीतौ चात्र श्लोकौ प्र¹माणि (णी) कर्त्तव्यौ [।*] स्व²दत्ता (त्ता) म्परदत्ता (त्ता)—
३७ म्वा(वा) यो हरेत वसुन्धरा गवा शतसहस्रस्य हन्तु—

पचम पत्र प्रथम पक्ष

३८ र्हरति दुष्कृत [॥*] षष्टि वर्षसहस्रानि (णि) स्वर्ग्गे मोदति भू—
३९ मिद आच्छेत्ता चानुमन्ता च³ तान्येव नरके वसेदिति [॥*] श्वा (श) सन—
४० स्थितिरचेय ब्राह्मणैरीश्वरैश्चानुपालनीया तद्यथा राज्ञा स—
४१ प्ताङ्गे राज्ये अद्रोहप्रवृत्ता (त्ता) ना [अ*] ब्रह्मघ्नचौर⁴परदारिक राजा—
४२ पथ्यकारिप्रभृति(ती)ना [अ*] सग्र्[।*]मकुर्व्वता अन्यग्रामेष्वन—॥

पचम पत्र द्वितीय पक्ष

४३ पर् [।*] द्वाना⁵आचन्द्रादित्यकालीय [।*] अतोऽन्यथा कुर्व्वतामनुमोदता वा⁶
४४ राज्ञ भु(भू)मिच्छेद कुर्व्वत अस्तेयमिति [॥*] प्रा (प्र) तिग्रा⁷हिणश्चात्र
४५ वारनियुक्ता [।*] शाट्यायन गणार्य्य वात्स्यदेवार्य्य भारद्वाज—
४६ कुमारशर्म्मार्य्य [*] पाराशर्य्यगुहशर्म्मा काश्यपदेव् [।*] र्य्य महेश्वरार्य्य⁸ [*]
४७ मायार्य्य [.*] कौण्डिन्यरुद्रार्य्य [*] सोमार्य्य [*] हरिशर्म्मार्य्य [*]

षष्ठ पत्र प्रथम पक्ष

४८ भारद्वाजकुमारश [ ] र्म्म् [।] र्य्य [*] कौण्डिण्य (न्य) मातृ (तृ) शर्म्मा वरशर्म्म् [।*]
४९ गोण्डशर्म्मा नागशर्म्मा भारद्वा [ज*]शान्तिशर्मा रुद्रशर्म्मा वात्स्य
५० भोजकद् [*] वार्य्य [.*] मघशर्म्मा देवशर्म्मा भारद्वाजमोक्षशर्म्म् [।*]

---

१ उत्कीर्णक ने पहले प्र लिखा और फिर का विलोपन कर दिया।

२ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अनुवर्ती श्लोक मे।

३ उत्कीर्णक ने पहले च्च अथवा च्छ लिखा और फिर निचले च अथवा छ का विलोपन कर दिया।

४ उत्कीर्णक ने पहले रा लिखा और फिर आ की मात्रा का विलोपन कर दिया।

५ विराम चिन्ह छोडते हुए पढ़े, आपर् [।] द्वाना।

६ उत्कीर्णक ने पहले व्वा लिखा और निचले व का विलोपन किया।

७ उत्कीर्णक ने पहले ग्रा लिखा, फिर ग्रा लिख कर शुद्ध किया।

८ यह र्य्य पक्ति के अन्त मे महेश्वरा के रा के नीचे अकित है, किन्तु स्पष्टत इसका स्थान यही है।

५१ [ना] गशर्म्मा रेवतिशर्म्मा धर्म्मार्य्य [॰] भारद्वाजशर्म्मार्य्य [॰]
५२ नन्दार्य्य [॰] मूलशर्म्मा । ईश्वरशर्म्मा । वरशर्म्मा

षष्ठ पत्र : द्वितीय पक्ष

५३ वात्स्य[1]स्कन्दार्य्य [॰] भारद्वाजबप्पार्य्य [॰] धर्म्मार्य्य [॰] आत्रेयस्कन्दार्य्य [:]
५४ गौतमसोमशर्म्मार्य्य [॰] भ [॰] तृशर्म्मा रुद्रश [र्म्मा] र्य्य [॰] मघार्य्य [॰] मातृ—
५५ शर्म्मार्य्य [॰] ईश्वरशर्म्मार्य्य [॰] गौतमसगोत्रमातृशर्म्मा—
५६ र्य्य [:॰] कौण्डिण्य(न्य)देवशर्म्मार्य्य [॰] वरशर्म्मार्य्य [॰] रोहार्य्य [॰]

सप्तम पत्र

५७ गौतमसगोत्रस्वामिदे[वा॰]र्य्य [:॰] रेवतिशर्म्मार्य्य [॰]
५८ ज्येष्ठशर्म्मार्य्य [॰] शाण्डिल्यकुमारशर्म्मार्य्य [:॰] स्वातिशर्म्मा—
५९ र्य्य [॰] श् [१॰]व्यायण (न)काण्ड् [१॰] र्य्यप्रभृतय- [।।॰] सेनापतौ
६० चित्रवर्म्मणि सम्वत्सरेऽष्टादश [मे॰] १०८ ज्येष्ठमासशुक्ल—
६१ पक्षत्रयोदश्या [॰] शासन लिखितमिति-[2] [।।॰]

अनुवाद

मुहर

वाकाटको के आभूषण, तथा जिन्होंने उत्तराधिकार मे राज्यश्री प्राप्त किया है ऐसे, राजा प्रवरसेन का राजपत्र (उनके) शत्रुओ (द्वारा भी पालन) के लिए राजपत्र है ।

पत्र

दृष्टि प्राप्त कर ली गई है ।[3] कल्याण हो ! प्रवरपुर नामक नगर मे, —महाराजाधिराज श्री देवगुप्त की पुत्री प्रभावतिगुप्ता से उत्पन्न उन (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त वाकाटकों के महा-

---

१ पढें, वात्स्य ।

२ पढें, इति । इस लेख मे दुहरे विरामचिन्ह के दो स्वरूपों का प्रयोग हुआ है, पं० ४२ मे अंकित अन्यग्रामेष्वन के पश्चात् लम्बाकार स्वरूप वाला, तथा प० ३३—३४ मे अंकित कुर्य्याम के पश्चात् क्षितिजीय स्वरूप वाला । दूसरे प्रकार का स्वरूप विसर्ग के समान है । और इस प्रकार इति शब्द के पश्चात् उत्कीर्णक द्वारा दुहरे विराम चिन्ह के स्थान पर विसर्ग का अंकन हो गया ।

३ यहा अंकित मूलपाठ तथा अनुवाद के प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि डा० ब्यूलर ने, यह मानते हुए भी कि प्रारम्भिक अक्षर दृष्टं अथवा दृप्त प्रतीत होते हैं, इन्हें ओं स्रों के रूप में व्याख्यायित किया । डा० भगवान लाल इन्द्रजी ने इन्हें दृष्टं पढा । दृ के ऊपर दिखाई पडने वाला चिन्ह अनुस्वार न हो केवल मोरचे का चिन्ह है । तथा अनुवर्ती लेख के प्रारम्भ में अंकित दृष्टं के समान, यहा भी पाठ भगवदिरुधपेण दृष्ट है । यही शब्द सत्याश्रय—ध्रुवराज—इन्द्रवर्मन् के गोआ दानलेख के प्रथम पत्र के हाशिए पर मिलता है (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १०, पृ० ३४८ इ०), जिसके लिए श्री के० टी० तैलंग (वही, पृ० ३६०, टिप्पणी) ने यह सुझाया कि इसका अर्थ "अनुमोदित किया गया" हो सकता है । किन्तु यह निश्चिततया दृष्ट भगवता="भगवान द्वारा दृष्टि (धार्मिक विषयो मे सुस्पष्ट दृष्टि; ब्रह्माड तथा तद्विषयक सभी विषयो के प्रति सम्यग् ज्ञान) प्राप्त कर ली गई है यहद पद का शेषाश हो सकता है; ऊपर पृ० ३१, टिप्पणी ४ मे सिद्ध के प्रसग मे मेरे अभिकथन द्रष्टव्य हैं ।

महाराज प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक पत्र

मान ६६

राज श्री प्रवरसेन (द्वितीय)[1] की आज्ञा—से जो (भगवान्) शम्भु का अनुग्रह प्राप्त होने से (इतने पुण्यात्मा हैं कि) कृत युग के हैं,

प० १३—(तथा) जो वाकाटकों के महाराज श्री रुद्रसेन (द्वितीय), जिन्होंने भगवान चक्रपाणि की कृपा से विपुल भाग्य का अर्जन किया था, के पुत्र हैं —

प० ६—जो[2] कि (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त, वाकाटकों के महाराज श्री पृथिविषेण—जो राजनीतिक बुद्धिमत्ता, नम्रता, विचारो की उच्चता, योग्य व्यक्तियो तथा अतिथियो के प्रति भक्ति धर्म द्वारा जयी होने की स्थिति, मन की निर्मलता तथा अन्य उत्कृष्ट गुणो से समन्वित थे, जो पुत्रो और पौत्रो की अविरल क्रम परम्परा वाले थे, जिनका कोश तथा शासन–साधन सैंकडो वर्षों से सगृहीत हो रहा था, जिनका आचरण युधिष्ठिर के समान था—के पुत्र थे ,—

प० ४—जो[3] (भगवान्) स्वामी–महाभैरव के परम भक्त वाकाटकों के महाराज श्री रुद्रसेन (प्रथम)—जो, जिनका कि राजवश (अपने) कधो पर शिव–लिंग का भार ढोने से (उद्भूत) शिव के अनुग्रह से उत्पादित हुआ था, (तथा) जिन्होंने (अपने) पराक्रम से अधिगत भागीरथी (नदी) के पवित्र जल मे अपना ललाट अभिषिक्त किया था, (एव) जिन्होने दश अश्वमेध यज्ञों के सम्पादन के उपरान्त स्नान किया था ऐसे भारशिवो के महाराज श्री भवनाथ के दौहित्र थे तथा जो[4] गौतमी पुत्र के पुत्र थे—के पुत्र थे ,[5]—

प० १—(तथा) जो[6] सार्वभौम वाकाटकों के महाराज श्री प्रवरसेन (प्रथम)—जिन्होंने अग्निष्टोम,[7] अप्तोर्याम, उक्थ्य, षोडशिन्, आतिरात्र,[8] वाजपेय, बृहस्पतिसव[9] तथा साद्यस्क[10] यज्ञो एव चार अश्वमेध यज्ञों का सम्पादन किया था (एव) जो विष्णुवृद्ध गोत्र के थे—के पुत्र थे,—

---

१ यहां सदम नीचे प० १८ ई० में अंकित "चर्मांक नामक गांव" ई० है ।

२ अर्थात्, रुद्रसेन द्वितीय ।

३ अथात्, पृथिविषेण ।

४ अर्थात् रुद्रसेन प्रथम ।

५ द्र०, ऊपर पृ० २६७, टिप्पणी ८ ।

६ अर्थात् रुद्रसेन प्रथम ।

७ अग्निष्टोम, शब्दश 'भगवान् अग्नि की स्तुति', वसन्त ऋतु मे पाच दिनो तक चलने वाला यज्ञ था, यह ज्योतिष्टोम यज्ञ, जो पवित्र सोमरस से सबद्ध प्रमुख यज्ञों मे एक था, का एक भाग था । ज्योतिष्टोम यज्ञ के अन्य भाग अप्तोर्याम, उक्थ्य, षोडशिन्, आतिराम, तथा वाजपेय नामक अनुष्ठान थे जिनका यहा पाठ मे उल्लेख है, इसका सातवा तथा अतिम भाग अत्यग्निष्टोम होता था जिसका यहां उल्लेख नही हुआ है ।

८ अपने सस्कृत शब्दकोश मे मोनियर विलियम्स ने केवल अतिरात्र रूप दिया है जिसमे प्रथम अक्षर ह्रस्व अ है, अपनी पुस्तक सस्कृत लिटरेचर, पृ० १७७, टिप्पणी मे मैक्समूलर ने भी यही रूप दिया है । किन्तु यहा पाठ मे प्रथम अक्षर स्पष्टत दीर्घ आ है। तथा, नीचे अनुवर्ती लेख की प० १ में यद्यपि मात्रा पूर्णरूपेण बनी हुई नहीं मिलती, किन्तु इसी लेख की प० ५ मे अकित भागीरथ्यामल के साथ तुलना करने मे यह प्रदर्शित होता है कि यहा भी दीर्घ आ अभिप्रेत था ।

९ बृहस्पतिसव एक अन्य यज्ञ था जो एक दिन चलता था और देवताओ के पुरोहित तथा आचार्य बृहस्पति से सबधित था ।

१० साद्यस्क एक अन्य यज्ञ था, प्राप्य ग्रन्थों में से किसी में मैं इसकी कोई व्याख्या नहीं पा सका हूँ ।

प० १८—भोजकट राज्य मे मधुनदी नामक नदी के तट पर स्थित तथा राजकीय मापन के अनुसार आठ हजार (अथवा अको मे) ८००० भूमियो[1] को नाप वाला चर्मांक नामक गाव, शत्रुघ्नराज के पुत्र कोण्डराज की प्रार्थना पर, विभिन्न गोत्रो तथा चरणो के एक सहस्र ब्राह्मणो को दिया जाता है।

प० २१—जिससे, सामान्य निरीक्षको[2] के पद पर नियुक्त हमारे[3] आज्ञाकारी तथा कुलीन[4] कर्मचारियो, (तथा हमारे) नियमित सैनिकों तथा छत्र उठाने वालो को—'हे श्रीमन्' (शब्द) पूर्व मे जिसके हो ऐसी आज्ञा से—(इस प्रकार) निर्देश दिया जाय—"आपको विदित हो कि हमारे धर्म तथा आयु तथा शक्ति तथा विजय एव साम्राज्य की वृद्धि हो इस उद्देश्य से (तथा) इस लोक एव परलोक मे (हमारा) कल्याण हो इस उद्देश्य से (तथा सामान्यरूपेण) अपनी भलाई के लिए यह (गाव), (हमारे) न्याय के विजयशील पद मे, पहले न दिए गए दान के रूप मे जलतर्पण के साथ दिया जाता है।

प० २५—"अब हम चतुर्वेदिन् ब्राह्मणो के गाव के प्रति इन निश्चित वस्तुओ का दान देते है जो कि इस (गाव) के उपयुक्त हैं (तथा) जो पूर्व राजाओ द्वारा अनुमोदित है, वे हैं इसे कर नही देना होगा; यह नियमित सेनाओ अथवा छत्र-धारको द्वारा अप्रवेश्य होगा, यह गायो अथवा बैलो की परम्परा,[5] अथवा पुष्पो एव दुग्ध की प्रभूतता, अथवा चरागाह, चर्म तथा कोयला अथवा नमक को खरीद के लिए खानो के प्रति (किसी अधिकार) से वचित होगा, यह बेगार (की सेवाओ) से पूर्णतया मुक्त होगा, यह छिपे धनो तथा कोशो एव क्लृप्त तथा उपक्लृप्त[6] से युक्त होगा, यह चन्द्रमा तथा सूर्य की स्थिति तक (उपभोग्य) होगा, (तथा) यह पुत्रो एव पौत्रो (के क्रम का) अनुसरण करेगा। कोई भी इसके उपभोगकर्त्ताओ के प्रति किसी प्रकार की बाधा न उपस्थित करे। सभी (सभव) उपायो द्वारा इसकी रक्षा की जाय। तथा जो भी व्यक्ति इस राजपत्र की अवज्ञा करते हुए, थोडी सी भी बाधा उपस्थित करेगा अथवा कराएगा, ब्राह्मणो द्वारा उसकी भर्त्सना किए जाने पर हम उसे दण्ड-शुल्क के साथ दण्डित करेंगे।"

प० ३४—तथा कम से कम धर्म (के पुण्य) से समन्वित इस राजपत्र मे[7] (हमारे द्वारा) सम्पादित (अन्य) पुण्य कर्मों के विषय मे आत्म-प्रशसा से बचने के उद्देश्य से हम यहा अन्य राजाओ,

---

१ भूमि, शब्दश 'पृथ्वी', यहा स्पष्टरूपेण भूमि की नाप से सबद्ध कोई पारिभाषिक शब्द है, जिसका वास्तविक वास्तविक मूल्य ज्ञात नही है।

२ सर्वाध्यक्ष।

३ अस्मत्सन्तक, शब्दश 'हमारे', द्र० चाइल्डर्स की पालि डिक्शनरी मे सन्तक के अन्तर्गत।

४ कुलपुत्र।

५ इस पद की व्याख्या पूर्ण स्पष्ट नहीं है। किन्तु यह पद एव अनुवर्ती तीन पद दान प्राप्त-कर्ताओ के प्रति गाव वालो के कुछ अधिकार सुरक्षित करते हुए प्रतीत होते हैं।

६ ये पारिभाषिक राजस्वविषयक पद हैं, जिनका अर्थ ज्ञात नही है।

७ यह डा० ब्यूलर की व्याख्या (आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ४, पृ० १२३, टिप्पणी ८) के अनुसार है। जहा तक 'राजपत्र' के अर्थ मे करण शब्द के प्रयोग का प्रश्न है, यह करणिक शब्द के 'राजपत्रो का बनाने वाला, लेखक' इस अर्थ में सतत प्रयोग से समर्थित होता है, उदाहरणार्थ, ऊपर लेख स ४२ की चर्चा के प्रसग मे उल्लिखित विक्रम सवत् १०४९ के 'देवल' अभिलेख के एक अवतरण मे डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने इसे धर्म्मोंवर मे सशोधित करने का प्रस्ताव किया, जिसका सभवत अर्थ होगा—'धर्म के प्रति सम्मान-प्रदर्शन के इस कर्म मे'।

जो मर चुके हैं और अब नहीं हैं, द्वारा दिए गए दोनो की (हमारे द्वारा की गई) देखभाल और सुरक्षा का उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

प० ३६—और इस विषय पर प्रमाण के रूप मे व्यास द्वारा गाए गए दो श्लोक उद्धृत किए जाने योग्य है। जो भी व्यक्ति अपने द्वारा अथवा किसी अन्य के द्वारा दान मे दी गई भूमि का अपहरण करता है, वह एक सहस्र गायो की हत्या के अपराध का भागी होता है। भूमि का दान करने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग में सुख-भोग करता है, (किन्तु), (दान का) अपहरणकर्त्ता तथा (अपहरण-कर्म) का अनुमोदन करने वाला दोनो उतने ही वर्षों तक नरक-वास करेंगे।

प० ६६—तथा ब्राह्मणो द्वारा एव (भविष्य मे होने वाले) स्वामियो द्वारा इस राजपत्र की शर्त्त का अनुपालन किया जाय, वह है (इस दान का भोग ये ब्राह्मण) चन्द्रमा तथा सूर्य की स्थिति तक तब तक करते रहें, जब तक कि वे (अनुक्रम मे आने वाले) सात अको वाले राजाओ के राज्य[1] के विरुद्ध कोई षड्यन्त्र नहीं करते, ब्राह्मण-हत्या नहीं करते, तथा चौर-कर्म, व्यभिचार, राजाओ को विष देने के कर्म इत्यादि में नही प्रवृत्त होते, जब तक कि वे युद्ध नही करते (तथा) अन्य ग्रामो के प्रति कोई हानिकारक कर्म नहीं करते। किन्तु अन्यथा कर्म करने पर अथवा (इस प्रकार के कर्मों का) अनुमोदन करने पर राजा इस भूमि को छीन लेने पर चौर-कर्म का भागी नही होगा।

प० ४४—तथा इस प्रसग के अवसर पर दान प्राप्त करने वाले ब्राह्मण ये (हैं)-शाट्यायन (गोत्र) के गणार्य। वात्स्य (गोत्र) के देवार्य। भारद्वाज (गोत्र) के कुमारशर्मार्य। पाराशर्य (गोत्र) के गुहशर्मन्। काश्यप (गोत्र) के देवार्य, महेश्वरार्य (तथा) मात्रार्य। कौण्डिन्य (गोत्र) के रुद्रार्य, (तथा) सोमार्य, (तथा) हरिशर्मार्य। भारद्वाज (गोत्र) के कुमारशर्मार्य। कौण्डिन्य (गोत्र) के मातृशर्मन्, (तथा) वरशर्मन्, गोण्डशर्मन् (एव) नागशर्मन्। भारद्वाज (गोत्र) के शान्तिशर्मन्, (तथा) रुद्रशर्मन्। वात्स्य (गोत्र) के भोजकदेवार्य, (तथा) मघशर्मन् (तथा) देवशर्मन्। भारद्वाज (गोत्र) के मोक्षशर्मन्, (तथा) नागशर्मन्, रेवतिशर्मन् (तथा) धर्मार्य। भारद्वाज (गोत्र) के शर्मार्य, (तथा) नन्दनार्य, मूलशर्मन्, ईश्वरशर्मन्, (तथा) वरशर्मन्। वात्स्य (गोत्र) के स्कन्दार्य। भारद्वाज (गोत्र) के बप्पार्य, (तथा) धर्मार्य। आत्रेय (गोत्र) के स्कन्दार्य। गौतम (गोत्र) के सोमशर्मार्य, (तथा) भातृशर्मन्, रुद्रशर्मार्य, मघार्य, मातृशर्मार्य, (तथा) ईश्वरशर्मार्य। गौतम गोत्र के मातृशर्मार्य। कौण्डिन्य (गोत्र) के देवशर्मार्य, (तथा) वरशर्मार्य, (तथा) रोहार्य। गौतम गोत्र के स्वामिदेवार्य, (तथा) रेवतिशर्मार्य, (तथा) ज्येष्ठशर्मार्य। शाण्डिल्य (गोत्र) के कुमारशर्मार्य, (तथा) स्वातिशर्मार्य (तथा) शाट्यायन (गोत्र) के काण्डार्य, इत्यादि।

प० ५६—(यह) राजपत्र अठारवें वर्ष (अथवा अकों में) १० तथा ८, ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष के तेरहवें चान्द्र दिवस पर लिखा गया, जब कि चित्रवर्मन् सेनापति हैं।

---

१ सप्ताग अथवा (किसी राज्य के) सात घटक अग है राजा, उसके, मत्री, मित्र, भूमि, दुर्ग, सेना तथा कोष।

सं० ५६, प्रतिचित्र ३५

महाराज प्रवरसेन द्वितीय का सिवनी ताम्रपत्र–लेख

जनसामान्य को इस लेख का ज्ञान सर्वप्रथम १८३६ मे, जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ५, पृ० ७२६ के माध्यम से हुआ, जिसमे कि श्री जेम्स प्रिंसेप ने एक शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० ३३, स० १ तथा २) लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया, मूलपत्र उन्हें श्री डो० एम० मैक्लिआड द्वारा भेजे गए थे।

यह लेख कुछ ताम्रपत्रो पर है जो मुझे परीक्षणार्थ सेन्ट्रल प्राविंसेज मे सिवनी –छपारा जिले के सिवनी तहसील मे स्थित पिण्डराई गाव[1] के निवासी हजारी गोण्ड मालगुजार नामक जमीदार के पास से प्राप्त हुए थे। इन पत्रो के मूल प्राप्ति-स्थान के विषय मे मुझे कोई सूचना नही है, किन्तु चू कि यह सदैव सिवनी दानलेख के नाम से जाना गया है, अतएव इसी नाम का प्रयोग ठीक जान पडता है; यद्यपि इस लेख मे उल्लिखित स्थानो के समीकरण के अभाव मे यह सामान्य रूप मे देश के उस प्रदेश की ओर सकेत करता है, जो इस लेख का मूल स्थान है।

पत्र, जिनमे प्रथम तथा अन्तिम केवल एक ही ओर अ कित है, सख्या मे पांच हैं और प्रत्येक की माप किनारो पर ८३⁄१६"×४½" तथा बीच मे इससे कुछ कम है। ये पर्याप्त समतल हैं और इनके किनारे न तो मोटे बनाए गए हैं और न ही पट्टियो के रूप मे उभरे हुए हैं। सपूर्ण लेख पर्याप्त सुरक्षित अवस्था मे है। पत्र कुछ पतले हैं और अक्षर पीछे की ओर इतने स्पष्ट रूप मे दिखाई पडते हैं कि उनमे से कुछ वहा पढे जा सकते हैं, यह कथन बीच मे आने वाले पत्रो के लिए भी सत्य है, जो कि अपवाद-स्वरूप है, यद्यपि शिलामुद्रण मे प्रतिचित्र के एक ओर अ कित अक्षर दूसरी ओर पठनीय नही है। उत्कीर्णन बहुत सुन्दर है, किन्तु, जैसा कि सामान्यतया पाया जाता है, कुछ स्थानो पर अक्षरो के आन्तरिक भागो पर उत्कीर्णक के,उपकरणो के चिन्ह दिखाई पडते हैं। प्रत्येक पत्र के ठीक दाहिने सिरे पर, उन्हे परस्पर सवद्ध करने के उद्देश्य से, छल्ले के लिए छेद बना हुआ है। छल्ला गोलाकार है तथा इसकी मोटाई लगभग ¼" एव परिधि ३½" है। इसके सिरे इस प्रकार चिपटे कर दिए गए थे कि वे दूसरे के ऊपर हो जाए, तथा उन्हे एक कील से सलग्न कर दिया गया था। जब दानलेख मेरे हाथो मे आया, वह इसी रूप में था। मुहर[2] एक ताम्रनिर्मित पतली तस्तरी के समान है जिसकी परिधि लगभग ३३⁄१६" है। मुहर पर चार पक्तियो का एक लेख अ कित है जिसका मूलपाठ तथा

---

१ मुख्य नगर सिवनी है, मानचित्रो इ० का 'Seoni' तथा 'Seonee'। इण्डियन एटलस, फलक स० ७९। अक्षाश २२°५' उत्तर देशान्तर ७९°३५' पूर्व।

२ द्र० प्रतिचित्र ३३ घ।

अनुवाद नीचे दिया गया है। पाचो पत्रो का भार ३ पौंड ४¾ औस है, तथा मुहर एव छल्ले का भार ५¾ औस है, इस प्रकार योग ३ पौंड ९¾ औंस है। अक्षरो का औसत-आकार लगभग ¼" है केवल मुहर एव अ तिम पत्र पर अ कित अक्षर कुछ बडे आकार के हैं। अक्षर दक्षिणी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा मध्य भारत मे प्रचलित वर्णमाला के उस चौकोर शिर प्रकार का अत्यन्त विशुद्ध एव सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिस पर मैंने ऊपर पृ० २३ इ० पर विचार किया है। इसमे ब का दो प्रकार प्राप्त होता है, एक तो इस अक्षर का परम्परागत प्रचलित रूप जो कि प० १ मे अकित बृहस्पति मे तथा इस लेख एव पूर्ववर्ती लेखो में अन्य स्थानो पर आता है, तथा दूसरा, जो चौकोर स्वरूप का है और प्राचीनतर है, केवल प० १७ में अ कित वेण्णा में, प० २६ मे अ कित आयुर्व्वल के निचले ब मे तथा प० ३६ मे अ कित बाप्पं में आता है। भाषा सस्कृत है। मुहर पर अ कित लेख पद्य मे है, किन्तु स्वय लेख—प० ३६ से लेकर प० ४२ तक में अकित आशीर्वादात्मक तथा अभिशाम-नात्मक श्लोको को छोडकर-सपूर्ण त गद्य में है। वर्ण-विन्यास के प्रसग में ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १ प० ८ में अ कित राज्ञ प्रवर में एक बार उपध्मानीय का प्रयोग, २ प० ५ तथा १७ में अ कित वन्श में तथा प० ४ में अ कित अन्स में श तथा स के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर दन्त्य न का प्रयोग ३ प० १ मे अ कित उपस्थ्य में, तथा प० ५ में अ कित भागीरत्थ्यमल में, एव प० २८ मे अ कित सर्व्वाध्यक्ष मे, अनुवर्त्ती य के साथ सयोग होने पर थ तथा ध का द्वित्व, ४ प० १९-२० मे अ कित अद्ध् वर्यंवे में, अनुवर्त्ती व के साथ सयोग होने पर ध का दित्व तथा ५ प० १८ में अ कित सव्वत्सरे में, अनुस्वार के उपरान्त व का दित्व (किन्तु जो वास्तविक उत्कीर्णन में छोड दिया गया था)।

यह वाकाटक कुल अथवा वश के महाराज प्रवरसेन दितीय का एक अन्य लेख है। जहा से यह राजपत्र जारी किया गया था उस स्थान का नाम नही दिया गया है। यह उसके शासन के अठ्ठारहवें वर्ष में फाल्गुन मास (फरवरी-मार्च) के शुक्ल पक्ष के बारहवें चान्द्र दिवस से तिथ्यकित है। यह किसी सम्प्रदाय विशेष से सबद्ध नही है, तथा इसका अभिप्राय केवल, प्रवरसेन द्वितीय दारा एक ब्राह्मण के प्रति, वेण्णाकार्पर भाग[1] में ब्रह्मपूरक ग्राम के दान का लेखन है।

दान दिए गए ग्राम की स्थिति तथा सीमाओ को परिभाषित करने के प्रसग मे उल्लिखित ग्रामो मे कोल्लपूरक सभवत मानचित्र मे प्राप्य आधुनिक 'कोलपूर' है[2] जो इलिचपुर से इक्कीस मील दक्षिण में स्थित है।

मूलपाठ[3]

मुहर

क वाकाटक[4]ललामस्य

ख क्रमप्राप्तनृपश्रिय

---

१ भाग, शब्दश 'हिस्सा', एक पारिभाषिक क्षेत्र-विषयक शब्द है जो बहुत कम प्रयुक्त हुआ दिखाई पडता है, इसका ठीक ठीक अर्थ नहीं स्पष्ट है।

२ इण्डियन एटलस, फलक स० ५४। अक्षांश २०°५६' उत्तर देशान्तर ७७°३४' पूर्व। दक्षिणी लेखों मे अंकित 'कोल्लापुर' मे यही नाम किंचित् भिन्नत बाम्बे प्रेसीडेन्सी मे कोलापुर राज्य के प्रमुख नगर आधुनिक कोलापुर के लिए प्रयुक्त मिलता हैं (उदाहरणार्थ, टरडाल लेख की प० ४८, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० १८, अपरच द्र०, वही, पृ० २३, टिप्पणी २२)।

३ मूल पत्रो से।

४ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ)।

ग राज्ञ प्रवरसेनस्य

घ शासन [*] रिपुशासनम्[।।]

प्रथम-पत्र

१ दृष्टम् सिद्धम्[१] ।। अग्निष्टोमाप्तोर्य्यामोकत्थ्यषोडश्यातिरात्र[२]वाजये (पे) यबृहस्पतिसव—
२ साद्यस्क्रत्र(च)तुरश्वमेधयाजिन विष्णुवृद्धसगोत्रस्य सम्रट् वाकाटकाना—
३ म्म[३]हाराजश्रीप्रवरसेनस्य सूनो सूनो अत्यन्तस्वामिमहा—
४ भैरवभक्तस्य अन्सभारसन्निव् [*] शितशिवलिङ्गोद्वहनशिवसुपरितुष्ट—
५ समुत्पादितराजवन्शानाम् पराक्रमाधिगतभागीरत्थ्या(य)मल जलमूर्द्धाभि—

द्वितीय-पत्र , प्रथम-पक्ष

६ षिक्तानाम् दशाश्वमेधावभथस्नानाम्भारशिवानाम्महाराजश्रीभवना—
७ गदौहित्रस्य[४] । गौतमी[५]पुत्रस्य पुत्रस्य । वाकाटकानाम्महाराजश्री—
८ रुद्रसेनस्य सूनो अत्यन्तमाहेश्वरस्य । सत्याज्र्जवकारुण्यशौ—
९ र्य्यविक्रमनयविनयमाहात्म्य्[६] [।*]धिम(क)त्वपात्र् [।*]गतभक्तित्वधर्म्मविजयि—
१० त्वमनोनैर्म्मल्यादिगुणसमुदितस्य । वर्षशतमभिवर्द्धमानकोश—
११ दण्डसाधनसन्तानपुत्रपौत्रिण युधिष्ठिरवृत्ते र्व्वाकाटकानाम्महाराज—

द्वितीय-पत्र , द्वितीय-पक्ष

१२ श्रीपृथिविषेणस्य सूनो [*] भगवतश्चक्रपाणेः प्रसादोपार्ज्जित—
१३ श्रीसमुदयस्य । वाकाटकानाम्महाराजश्रि(श्री)रुद्रसेनस्य सूनो
१४ पूर्व्वराजानुवृत्तमार्ग्गानुसारिण सुनयबलपरक्कमो—
१५ च्छिन्नसर्व्वद्विष महाराजाधिराजश्रीदेवगुप्तसुतायाम्प्रभावति—
१६ गुप्तायामुत्पन्नस्य शम्भो [*] प्रसादधृतिकार्त्तयुगस्य[७] वाकाटक—

---

१ मूल मे यह शब्द, सिद्धम्, पक्तियो के बीच मे दृष्टम् के नीचे अंकित मिलता है । दृष्टम् के लिए द्र० ऊपर पृ० ३००, टिप्पणी ३ ।

२ द्र०, ऊपर पृ० ३०१, टिप्पणी ८ ।

३ पढें, सम्राड्वाकाटकानाम् ।

४ यह, तथा प० २३ तक अंकित सभी विरामचिन्ह अनावश्यक है ।

५ द्र०, ऊपर पृ० २६७, टिप्पणी ४ ।

६ इस मयुक्त-शब्द मे त् अत्यन्त असामान्य रूप मे अंकित है, किन्तु यह इसके अतिरिक्त अन्य कोई अक्षर नहीं हो सकता ।

७ पढें, कार्त्तयुगस्य ।

तृतीय-पत्र , प्रथम-पक्ष

१७ वन्शालङ्कारभूतस्य । महाराजश्रीप्रवरसेनस्य वचनात् वेण्णा—
१८ कार्प्परभागे प्रवर्द्धमानराज्यस [॰] व्वत्सरे । अष्टादशमे । फाल्गु—
१९ ण(न)शुक्लद्वादश्याम् मौद्गल्यसगोत्राय । तैत्तिरि (री)यायाद्ध्वर्य्य—
२० वे देवशर्म्माचार्य्यामोदकपूर्व्वम् सकोरट सपञ्चाशत्क
२१ ब्रह्मपूरकन्नाम ग्रामोऽतिसृष्ट वटपूरकस्योत्तरेण । किणिहिरवे—
२२ टकस्यापरेण । पवरज्जवाटकस्य दक्षिणेत(न) । कोल्लपूरकस्य

तृतीय-पत्र , द्वितीय-पक्ष

२३ पूर्व्वेण । स्वसीमाप[रि॰] र्य्यन्छ्[ॅ] देन करञ्जवि (? चि) रकतटे । (।।) अत्रास्म-त्सन्तका
२४ सर्व्वाद्ध्यक्ष [नि॰] त् योग [नि॰] न्युक्ता आज्ञासञ्चारिकुलपुत्राधिकृता भटा
२५ श्छा[1]त्राश्च विश्रुतपूर्व्वया आज्ञया आज्ञापयितव्या [।॰] विदित—
२६ मस्तु त(व) यथैपोऽस्माभि आत्मनो धर्म्मायुर्व्वलविजयैश्वर्य्यवि[2]वृ [द्॰]धये
२७ इह् [ा॰]मुत्रहितार्त्थमात्व(त्म)ानुग्रहाय[3] । वैजयिके धर्म्मस्थाने[4] । अभट—

चतुर्थ-पत्र , प्रथम-पक्ष

२८ च्छ् [ा॰] त्रप्रावेश्य अपारम्परगोवलिवर्द्द अपुष्पक्षीरसन्दोह [॰] अचा—
२९ रासनचर्म्माङ्गार अलवण[5]त्लिन्व[6]क्रेणिखनक ।[7] सर्व्वविष्टिपरिहार—
३० परिहृत सनिधि सोपनिधि सक्लि(क्लृ)पप्तोक्लि(क्लृ)प्त आचन्द्रादित्य—
३१ कालि(ली)य पुत्रपौत्रानुगामी । भुज्यमानो न केनचिद् व्याघातयि—
३२ तव्य सर्व्वक्रियाभि सरक्षितव्य परिवर्द्धयितव्या(व्य)श्च [।॰] यश्चास्य—
३३ च्छासनमगण्यमान स्वल्पामपि परिवाधान् [ङ्] क् [ु॰]र्य्यात्कारियता[8] वा ।[9]

---

१ पढ़ें, भटाश् ।

२ पहले यहां धु उत्कीर्ण किया गया, और फिर ह्रस्व इ की मात्रा जोड़ कर तथा ऊ सूचक चिन्ह का विलोपन करके इसे वि में शुद्ध किया गया ।

३ यह विराम चिन्ह अनावश्यक है ।

४ जैसा कि हम पूर्ववर्ती लेख की प० २४ में पाते हैं, इस शब्द के पश्चात् अतिसृष्ट अथवा इसी प्रकार का कोई शब्द होना चाहिए ।

५ पहले लि उत्कीर्ण किया गया, और फिर इ की मात्रा का विलोपन करके इसे ल में सशोधित किया गया ।

६ पढ़ें, किलश ।

७ यह विराम चिन्ह अनावश्यक है ।

८ ऊपर लेख स० ५५ की प० ३३ के समान पढ़ें, कारयिता, अथवा कारयेत् ।

९ यह विरामचिन्ह तथा साथ ही अगली पंक्ति मे आने वाला विरामचिन्ह अनावश्यक हैं ।

चतुर्थ-पत्र , द्वितीय-पक्ष

३४ तस्य ब्राह्मणैरावेदितस्य । सदण्डनिग्रह कुर्य्याम कारयेम वेति [॥*]
३५ सेनापतौ वाप्पदेवे लिखित आचार्य्येण ॥ अस्मि [*] श्च धर्म्माधिकर—
३६ णे ।[1] अति(ती)तानेकराजदत्ता[2]स्सचिन्तनपरिपालन [*] कृतपु—
३७ ण्यानुकीर्त्तयाम [3] [।*] एष्यन्तत्कालप्रभविष्नून[4] गौरवाद्भविष्यान्वि—
३८ ज्ञापयाम ॥ व्यासगीतौ चात्र श्लोकौ प्रमाणि (णी)कर्त्तव्यौ ॥ (।)

पचम पत्र

३९ षष्टि[5]वर्षसहस्राणि स्वर्ग्गे मोदति भूमिद आच्छेत्ता चानुमत्ता(न्ता)
४० च तान्येव नरके वसेत (त्) ॥ स्वदत्ताम्परदत्ताव् (म्)वा यो हरे—
४१ त वसुन्धराम(म्) गवा शतसहस्रस्य हन्तुर्हरति दुष्कृतमिति ॥

अनुवाद

मुहर

वाकाटको के आभूषण तथा उत्तराधिकार-क्रम मे राज्यश्री को प्राप्त करने वाले राजा प्रवरसेन का राजपत्र (उनके) शत्रुओ का (भी) राजपत्र है ।

पत्र

दृष्टि प्राप्त कर ली गई है । सिद्धि प्राप्त कर ली गई है ।

प० १७—महाराज श्री प्रवरसेन (द्वितीय) की आज्ञा से-जो कि पूर्ववर्ती राजाओ का अनुसरण करने वाले हैं, जिन्होने (अपनी) उत्तम नीति तथा शक्ति और शौर्य से सभी शत्रुओ का नाश कर दिया है, जो महाराजाधिराज श्री देवगुप्त की पुत्री प्रभावतिगुप्ता के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं, जो (भगवान्) शम्भु का अनुग्रह प्राप्त होने से (इतने पुण्यात्मा है कि) मानो कृत युग के हो, जो वाकाटको के वश के आभूषण हैं,—

प० १२—(तथा) जो भगवान् चक्रपाणि के अनुग्रह से विपुल भाग्य-प्राप्त वाकाटको के महाराज श्री रुद्रसेन (द्वितीय) के पुत्र हैं,—

प० ८—जो[6] कि (भगवान्) महेश्वर के परमभक्त वाकाटको के महाराज श्री पृथिविषेण के पुत्र थे, जो अतीव सत्यता, ऋजुता, मृदुता, पराक्रम, शक्ति, राजनीतिक बुद्धि, नम्रता, विचारोच्चता,

---

१ यह विराम चिन्ह अनावश्यक है ।

२ पढें, दत्त ।

३ पूर्ववर्ती लेख की प० ३५ के समान यहा भी पढें, कृतपुण्यानुकीर्त्तनपरिहारार्थं न कीर्त्तयाम ।

४ पढें, एष्यत्कालप्रभविष्णूना ।

५ छन्द, श्लोक (अनुष्टभ), तथा अगले श्लोक मे ।

६ अर्थात् रुद्रसेन द्वितीय ।

महाराज प्रवरसेन द्वितीय के सिवनी पत्र

iiib

24

26

ivb

34

36

38

iva

28

30

32

v

40

सासारिक जनो तथा अतिथियो के प्रति अनुराग, धर्म द्वारा विजयी होने की स्थिति, मन की पवित्रता तथा अन्य उत्तम गुणो से समन्वित थे, जो सैकडो वर्षो से सगृहीत हो रहे कोश तथा दण्ड मे युक्त पुत्र-पौत्रो के क्रम मे उत्पन्न हुए थे, जिनका आचरण युधिष्ठिर के समान था,—

प० ३—जो[1] कि (भगवान्) स्वामि-महाभैरव के परम भक्त भारशिवो-जिनका राजवश (अपने) कन्धों पर शिव-लिंग का वहन करने मे (उद्भूत) (भगवान्) शिव के परम सतुष्ट होने से प्रारम्भ हुआ था, तथा जिनका ललाट (अपने) पराक्रम से प्राप्त भागीरथी (नदी) के पवित्र जल में अभिषिक्त हुआ था, (तथा) जिन्होने दश अश्वमेध यज्ञो के पश्चात् स्नान किया था—के महाराज श्री भवनाग के दौहित्र, वाकाटको के महाराज श्री रुद्रसेन (प्रथम) के पुत्र थे, जो[2] गौतमिपुत्र[3] के पुत्र थे,—

प० १—(तथा) जो[4] सार्वभौम वाकाटको के महाराज श्री प्रवरसेन (प्रथम)-जिन्होने अग्निष्टोम, अप्तोर्याम, उक्थ्य, षोडशिन्, आतिरात्र, वाजपेय, बृहस्पतिसव, तथा साद्यस्क्र तथा चार अश्वमेध यज्ञो का सपादन किया था, (एव) जो विष्णुवृद्ध गोत्र के थे—के पौत्र थे,—

प० १७—प्रवर्द्धमान अठ्ठारवें वर्ष मे फाल्गुन (मास) के शुक्ल पक्ष के बारहवें चान्द्रदिवस पर, वेण्णाकार्पर भाग मे स्थित ब्रह्मपूरक नामक गाव—अपनी सीमाओ के निर्धारण के अनुसार (जो) करजविरक[5] (नदी) के तट पर वटपूरक (गाव) के उत्तर मे, किणिहिरवेतक (गाव) के पश्चिम में, पत्ररज्जवाटक (गाव) के दक्षिण मे (तथा) कोल्लपूरक (गाव) के पूर्व में (है)—कोरट[6] तथा पचाम पुरवो से समन्वित, जल-तर्पण के साथ मौद्गल्य गोत्रीय (तथा) तैत्तिरीय शाखा के अध्वर्यु एव आचार्य देवशर्मन् को दिया जाता है।

प० २३—इस प्रसग मे सर्वाध्यक्ष पद पर नियुक्त हमारे आज्ञाकारी तथा उच्चकुलीन अधिकारियो को तथा (हमारे) नियमित सैनिको एव छत्रधारको को 'हे श्रीमन्' (ये शब्द) जिसके पूर्व में आए हो, ऐसे आदेश द्वारा (इस प्रकार) निर्देश किया जायः—'आप लोगो को यह विदित हो कि हमारे अपने धर्म, आयु, शक्ति तथा विजय एव साम्राज्य की वृद्धि के उद्देश्य से (तथा) इस लोक एव परलोक में (हमारे) कल्याण के उद्देश्य से (तथा सामान्यरूपेण) हमारे लाभ के उद्देश्य मे, (हमारे) विजयपूर्ण धर्म-स्थान में, यह (गाव) (दान दिया जाता है)।

प० २७—'यह नियमित सैनिको अथवा छत्र-धारको द्वारा अप्रवेश्य है, यह (उत्पत्ति के) क्रम में गायो तथा बैलो, अथवा पुष्पो एव दुग्ध की प्रभूतता, अथवा चरागाह, चमडे, कोयला, अथवा गीले नमक के क्रय (के अधिकार) मे वचित है, यह बेगार (कर्म करने) मे सर्वथा मुक्त है, यह छिपे

---

1 अर्थात् पृथिविषेण।

2 अर्थात् रुद्रसेन प्रथम।

3 द्र०, ऊपर पृ० २९७, टिप्पणी ४।

4 अर्थात् रुद्रसेन प्रथम।

5 अथवा, सभवत, करञ्जविरक।

6 सकोरट पारिभाषिक राजस्व विषयक शब्द है जिसका अर्थ ज्ञात नहीं है। किन्तु कोरट स्वरूप मे तथा सुनने में द्रविड भाषा का शब्द प्रतीत होता है, और सभवतः कन्नड भाषा के कोरडु, कोरण्डु, कोरण्टु (=ठूठ, वृक्ष का तथा लकडी का लठ्ठा, छोटी छडी') का प्राचीन रूप है। मराठी भाषा मे हमें कोरट् ('=काते हुए रेशम का कच्चा सूत'), कोरण्टा, कोराटा (='Baleria' अथवा 'Amaranth') तथा कोरडा (='सूखा, खाली, कोई लाभ न देने वाला') शब्द मिलते हैं।

कोशो तक धरोहरों एवं क्लृप्त एवं उपक्लृप्त पर अधिकार युक्त है, यह चन्द्रमा तथा सूर्य की स्थिति तक (उपभोग्य है), (तथा) यह पुत्रो एवं पौत्रो (की परम्परा) तक चलेगा। सभी (सभव) उपायों द्वारा इसकी सुरक्षा की जाय। और जो भी व्यक्ति, हमारे राजपत्र की अवज्ञा करते हुए, थोडी भी बाधा उपस्थित करेगा अथवा करवाएगा, ब्राह्मणो द्वारा उसकी भर्त्सना किए जाने पर हम उसे, दण्ड-शुल्क के साथ, दण्ड देंगे अथवा दिलवाएंगे।'

प० ३५—(यह राजपत्र) आचार्य द्वारा वाप्पदेव के सेनापतित्व काल में लिखा गया।

पं० ३५—तथा इस धर्म-विषय में हम, (हमारे द्वारा) सम्पादित (अन्य) धर्म-कार्यों की आत्म-प्रशंसा से बचने के उद्देश्य से, उन विभिन्न राजाओ, जो स्वर्गवासी हो चुके हैं और अब नहीं है, द्वारा दिए गए दानो को (हमारो) देखभाल तथा सुरक्षा से प्राप्त पुण्यलाभ की चर्चा नहीं करते। (किन्तु) भावी कालो मे जो लोग महान् होंगे उनके प्रति सम्मान के कारण, हम भावी (राजाओं) से (दान की सुरक्षा की) प्रार्थना करते हैं।

प० ३८—और इस विषय मे व्यास द्वारा गाए गए दो श्लोक प्रमाणस्वरूप लिए जाने चाहिए। भूमि का दान करने वाला साठ हजार वर्षो तक स्वर्ग में आनन्द लाभ करता है; (किन्तु) (दान का) अपहरणकर्त्ता तथा (अपहरण कर्म) का अनुमोदन करने वाला उतने ही वर्षो तक नरक-वास करेंगे। जो भी व्यक्ति स्वयं द्वारा दिए गए अथवा किसी अन्य द्वारा दी गई भूमि का अपहरण करता है, वह लाख गायों की हत्या करने वाले के अपराध का भागी होता है।

सं० ५७, प्रतिचित्र ३६क

पहलादपुर प्रस्तर-स्तम्भ-लेख

यह लेख अभियान्त्रिकी के कैप्टेन टी० एस० वर्ट द्वारा पाया गया, तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान सर्वप्रथम, १८३८ में, जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ७, पृ० १०५५ के माध्यम से हुआ, जिसमें श्री जेम्स प्रिंसेप ने लेख के मूल पाठ का—जैसा कि यह कैप्टेन वर्ट की प्रतिलिपि से पण्डित कमलाकान्त द्वारा पढ़ा गया था—तथा इसके साथ अपने अनुवाद का प्रकाशन किया।

पहलादपुर[1], नार्थ वेस्ट प्राविंसेज मे गाजीपुर जिले के जमानीया[2] तहसील मे महाईच परगना के प्रमुख नगर धानापुर से छ मील पूर्व-दक्षिण में गगा नदी के दाहिने तट पर बसा हुआ एक गाव है। यह लेख वलुहे पत्थर के एकश्मक स्तम्भ पर अ कित है, स्तम्भ की परिधि लगभग तीन फीट है, सत्ताइस फीट की लम्बाई तक यह गोल तथा श्लक्ष्णीकृत है, नीचे का नौ फीट खुरदरा है, और इस प्रकार स्तम्भ की कुल लम्बाई छत्तीस फीट है। लेख इस स्थान पर आधे से अधिक भूमि मे गडा हुआ पाया गया था और कालान्तर मे लगभग १८५३ में इसे बनारस ले जाया गया और सस्कृत कालेज के प्रागण मे, उत्तर की ओर, गाडा गया जहा यह आज भी खडा है। जमानीया से डेढ मील पूर्व में स्थित, लठिया नामक गाव मे एक अन्य वालुकाश्म स्तम्भ मिलता है जो आकार मे इससे छोटा है, इसे पहलादपुर स्तम्भ का सहवर्ती स्तम्भ माना जाता है, किन्तु इस पर कोई लेख नहीं है।

लेखन, जो कि लगभग ४' ११" चौडा एव ४" ऊ चा स्थान घेरता है, जहा से स्तम्भ अपनी वर्तमान पीठिका से प्रारम्भ होता है उससे लगभग दस फीट की ऊचाई पर है, उत्तर पश्चिम से प्रारम्भ हो कर यह स्तम्भ की गोलाई के आधे भाग तक जाता है। लेखन का अधिक भाग अत्यन्त सुरक्षित अवस्था में है, किन्तु श्लोक के तीसरे पाद में कुछ अक्षर, जिनमे राजा का नाम अ कित था (यदि यह अकित था तो), दुर्भाग्यवश पूर्णतया उचट गए हैं एव सर्वथा अपठनीय हैं। इस स्तम्भ पर तथाकथित शङ्खाकार अक्षरो (shellcharaters) में कई लेख अ कित हैं, किन्तु, प्रत्यक्षत , सप्रति प्रकाशित लेख से सबद्ध कोई

---

१ मानचित्रों इ० का 'Pulladpur' तथा 'Puhladpur'। अक्षांश २५°२६' उत्तर, देशान्तर ८३°३१' पूव। इसे इण्डियन एटलस, फलक स० १०३ पर, नदी के दूसरी ओर 'Puharpoor' के लगभग ठीक सामने होना चाहिए, किन्तु यहां इसे नहीं दिखाया गया है।

२ मानचित्रों इ० का 'Zamania' 'Zaminea', 'Zeemaneea' तथा 'Zumeniah'।

मूर्ति नहीं मिलती। अक्षरों का आकार १" से लेकर ३" तक है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं। इनमें न अक्षर का तथाकथित भारतीय-शक रूप भी सम्मिलित है जो कि उत्तरी भारत में प्रारम्भिक गुप्त युग के प्रारम्भ के शीघ्र बाद विलुप्त हो गया था इस लेख में इसका अंकन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि यह लेख इस ग्रन्थ में प्रकाशित अन्य किसी भी लेख के समान प्राचीन है। भाषा संस्कृत है, लेख केवल एक श्लोक का है जिसके प्रारम्भ में इह='यहां' शब्द आता है। वर्ण-विन्यास में कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नहीं दिखाई पड़ती।

अभिलेख तिथिविहीन है और किसी सम्प्रदायविशेष से सम्बद्ध नहीं है। यह किसी राजा की प्रसिद्धि की स्मृति में लिखा गया है जिसका नाम, यदि यह लिखा गया था तो धारण करने वाला भाग उखड़ गया है और अब अप्राप्य है। श्लोक के अन्तिम पाद में की गई तुलना के आधार पर, श्री प्रिंसेप ने यह सुझाया कि राजा का नाम लोकपाल था।-चारों पादों का अन्त 'पाल' से होता है जिससे प्रतीत होता है कि उनके नाम के अन्त में पाल रहा होगा। किन्तु श्लोक के तृतीय पाद में हमें निश्चितरूपेण सुविज्ञात शिशुपाल नाम मिलता है, चाहे यह स्वयं राजा के नाम के रूप में ही यहां अंकित हो, अथवा यह पुराणों में वर्णित चेदिराज शिशुपाल, जिसके कि साथ इनकी तुलना की गई है, का नाम हो-ऐसा जान पड़ता है कि जिस राजा का लेख इस स्तम्भ पर अंकित है उसका नाम शिशुपाल था। लेख का प्रमुख महत्व इसकी प्राचीन तिथि से-जैसा कि इसके अक्षरों से जान पड़ता है-तथा इस सम्भावना में निहित है कि यह लेख पल्लवों का है जो कि उत्तरी भारत से प्राप्त होता है। राजा के लिए पार्थिवानीकपाल पद का प्रयोग किया है। इसका अनुवाद 'राजाओं की सेनाओं का रक्षक' मात्र हो सकता है। किन्तु, इस स्थान पर पार्थिव इतना अधिक व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है[1] कि मेरे विचार से इस पद का सही अनुवाद होना चाहिए 'पार्थिवों की सेना का रक्षक'। तथा यदि पल्लव नाम के लिए डा० ओल्डहाउसेन की व्युत्पत्ति, पर्थव (अर्थात् पार्थियन)[2]→पहलव→पल्लव, माना जाय तो यह मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती कि इस लेख में इस जनजाति के प्रारम्भिक नाम के अधिक पूर्ण तथा सर्वथा संस्कृत स्वरूप का प्रयोग हुआ है।

मूलपाठ[3]

१ इह [।१] विपुल[4]विजयकीर्त्ति[त्व] क्षत्रसद्धर्मपाल: सततद(द)यितप[ा]र्थ-प[ा]र्थिवानि(नी)कपाल: दिशि दि[शि]शु शिशुपाल[-]तिमा [~~]पौ(?)ल: विहित इव विधात्रा पञ्चमो लो[कपा]ल [।।१]

---

१ एक हिन्दू नाम के रूप में यह कौशिकों के एक वंश का निर्देश करता है जो कि कुशिक-जिनका पालन पोषण पल्लवों के बीच हुआ था-और विश्वामित्र से उद्भूत हुए थे (द्र०, मुइर, संस्कृत टेक्स्ट्स, जि० १, पृ० ३५१ इ०)।

२ द्र०, वेबर, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० १८८, टिप्पणी २०१।

३ मूल स्तम्भ से।

४ छन्द, मालिनी।

क-पहलादपुर स्तम्भ-लेख

मान १७

ख-यौधेयों का विजयगढ लेख

मान ५०

ग-विष्णुवर्धन का विजयगढ स्तम्भ-लेख—वर्ष ४२८

मान ०८

अनुवाद

यहा, वह–जो विपुल विजय तथा यश के स्वामी हैं, जो क्षत्रिय जाति के वास्तविक धर्म के रक्षक है, जो राजाओ के पालक हैं, जो पार्थिवो की सेना के रक्षक हैं[1], जो दिन प्रतिदिन शिशुपाल [भगवान्] विधातृ द्वारा मानो पाचवे लोकपाल[2] बनाए गए।

---

१ अनुप्रवेशिक अभिकथन देखें।

२ चार लोकपाल अथवा जगत् के चारों दिशाओ के रक्षक हैं पूर्व के इन्द्र, दक्षिण के यम, पश्चिम के वरुण, तथा उत्तर के कुबेर। कभी कभी दक्षिण पूर्व में अग्नि, दक्षिण-पश्चिम में सूर्य, उत्तर-पश्चिम में वायु तथा उत्तर-पूर्व मे चन्द्र की स्थिति स्वीकार करते हुए लोकपालों की यह सख्या बढा कर आठ कर दी जाती है।

सं० ५८; प्रतिचित्र ३६ ख

यौधेयों का विजयगढ प्रस्तर-लेख

जनसामान्य को इस लेख का ज्ञान सर्वप्रथम मेरे द्वारा १८८५ में **इण्डियन ऐन्टिक्वेरी**, जि० १४, पृ० ८ के माध्यम से कराया गया था, तथा सप्रति इसका सम्पादन प्रथम बार हो रहा है। यह लेख एक प्रस्तर-खण्ड पर अ कित है जो कि मेरे लिपिको द्वारा, राजपूताना में भरतपुर[1] राज्य के बयाना तहसील के प्रमुख नगर ब्याना[2] से लगभग दो मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित, विजयगढ अथवा बजेगढ नामक पहाडी दुर्ग के दुर्ग-भित्ति के आन्तरिक भाग में जडा हुआ पाया गया था, यह प्रस्तर-खण्ड उस स्तम्भ के पास प्राप्त हुआ था जिस पर कि वरिक विष्णुवर्धन का वर्ष ४२८ की तिथि-युक्त अनुवर्ती लेख (स० ५९, प्रतिचित्र ३६ग) अ कित है।

प्रस्तर-खण्ड के सपूर्ण सम्मुख भाग पर, लगभग १' ५३" चौडे तथा ‑३" ऊचे अ श पर, उत्कीर्ण लेखन–प्रत्येक पक्ति के प्रारम्भ में लगभग एक इ च चौडे हाशिए को छोडकर—जहा तक यह उपलब्ध है, पर्याप्त सुरक्षित अवस्था में है। किन्तु यह मूलत. अधिक बडे लेख का अ शमात्र है। प्रत्येक पक्ति के अन्त में पर्याप्त नष्ट हो गया है, और इसी प्रकार प० २ के नीचे पक्तियो की अनिश्चित सख्या नष्ट हो चुकी है। शेष लेख की प्राप्ति के लिए यथासभव सभी प्रयत्न किए जाने पर भी सफलता नही मिली। अक्षरो का औसत आकार ३" है। अक्षरो को निश्चिततया उत्तरी प्रकार की वर्णमाला का मानना चाहिए, तथा लेख में म अक्षर के तथाकथित भारतीय-शक स्वरूप का अ कन स्पष्टत इसकी प्राचीन तिथि का प्रमाण है। किन्तु, इनका स्वरूप विशिष्टरूपेण आलकारिक है और ज्ञात तिथि का कोई ऐसा लेख नही उपलब्ध है जिसके साथ इसकी तुलना की जा सके, अतएव सप्रति इनके लिए कोई निश्चित काल नही सुझाया जा सकता। भाषा सस्कृत है। वर्णविन्यास में कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नही दिखाई पडती।

लेख मे अ कित की गई समस्त ऐतिहासिक वस्तु सामग्री नष्ट हो गई है, जिसमें उस महाराज तथा महासेनापति का नाम भी–प्रथम अक्षर तथा दूसरे अक्षर का कुछ अ श छोड कर—सम्मिलित है जिसकी उपाधिया प० १ में अ कित हैं। इस अभिलेख का महत्व यौधेयो के कुल का लेख होने मे है, जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ मे अन्यत्र केवल एक बार इलाहाबाद स्तम्भ-लेख (स० १) की

---

१ मानचित्रो इ० का 'Bhurtpoor'।

२ इण्डियन एटलस, फलक स० ५० का 'Byana'। अक्षाश २६°५७' उत्तर, देशान्तर ७७°२०' पूर्व। अन्य लेखक इसे 'Baiana', 'Bayana', 'Biana' तथा 'Bianah' लिखते हैं, किन्तु यह अशुद्ध है, जिस नाम का मध्ययुगीन रूप 'Behyana' कहा जाता है, उसमे दो अक्षर हैं। श्री ए०सी० कारलेयल ने इसकी व्युत्पत्ति बाणासुर नामक राक्षस के नाम से बताई, जो सर्वथा अस्वीकार्य है, इस व्युत्पत्ति के विषय मे बडी टिप्पणी के लिए, द्र० इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० १४, पृ० ९, । इस स्थान का प्राचीन सस्कृत नाम श्रीपथा था, द्र०, वही, पृ० ८ इ० तथा १०; तथा जि० १५, पृ० २३९।

प० २२ में हुआ है जहा कि इन्हें प्रारंभिक गुप्त शासक समुद्रगुप्त द्वारा पराभूत गणराज्यो में सम्मिलित किया गया है।

मूलपाठ[1]

१ सिद्धम् [॥*] यौव् [े] यगणपुरस्कृतस्य महाराजमहासेनापते पु

२ ब्राह्मणपुरोग चाधिष्ठान शरीरादिकुशल पृष्ट्वा लिखत्यस्ति रस्मा

३ [2] ... .

अनुवाद

सिद्धि प्राप्त की जा चुकी है। जिन्हे कि यौधेय गण का नेता बनाया गया है उन महाराज तथा महासेनापति की तथा ब्राह्मण जिसमें अग्रणी हैं ऐसे अधिष्ठान की (उनके) शरीर इत्यादिक कुशल पूछते हुए लिखते हैं—" है

---

१ स्याही की छाप से।

२ इस पक्ति में अधिलिखित कई मात्रायें पठनीय हैं, किन्तु सभी व्यजन टूटे हुए और अप्राप्य हैं।

सं० ५६, प्रतिचित्र ३६ म

विष्णुवर्धन का विजयगढ प्रस्तर-स्तम्भ-लेख

वर्ष ४२८

यह लेख १८७१-७२ मे श्री ए० सी० एल० कार्लेयल को प्राप्त हुआ, तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान सर्वप्रथम, १८७८ मे, आर्कयालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ६, पृ० ५६ इ० के माध्यम से हुआ जिसमे उन्होने, एक शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० ८), डा० ब्यूलर का मूलपाठ तथा अनुवाद[1] प्रकाशित किया जो कि मेरे द्वारा उन्हे दी गई स्याही की छाप पर आधारित थे। यह लेख, राजपूताना मे भरतपुर राज्य के ब्याना तहसील के प्रमुख नगर ब्याना[2] के निकट विजयगढ अथवा वेजेगढ नामक पहाडी-दुर्ग के अन्दर, दुर्ग के दक्षिणी दीवाल के निकट एक विशिष्ट स्थान पर खडे लाल बलुहे पत्थर से निर्मित एकाश्मक स्तम्भ पर अ कित है। स्तम्भ लगभग १३' ६" ऊचे एव ऊपरी भाग पर ६' २" चतुर्वर्ग ककण-पत्थर निर्मित चबूतरे पर खडा है। चबूतरे के ऊपर स्तम्भ की ऊचाई २६' ३" है। इसके ऊपर २२' ७" की लम्बाई तक स्तम्भ अष्टकोणीय है, तत्पश्चात् स्तम्भ तनुकार होता जाता है। सर्वथा ऊपर का भाग टूटा हुआ है, और ऊपर निकली हुई धातु-शलाका से यह विदित होता है कि मूलत इसके ऊपर शीर्षक स्थित था। अभिलेख स्तम्भ के दक्षिणी भाग की ओर अ कित है, यह लम्बरूप मे पूरे स्तम्भ पर अ कित है और ऊपर से नीचे की ओर पठनीय है[3]; तथा पक्ति ३, जो कि सबसे बडी पक्ति है, का सबसे नीचे का अक्षर चबूतरे के स्तर से ७' ०" की ऊंचाई पर है। जिस चबूतरे पर स्तम्भ स्थित है, वह स्पष्टतः स्वय स्तम्भ से पर्याप्त बाद का निर्माण-कार्य है, और इससे यह प्रतीत सा होता है कि यह स्तम्भ का सभवत मूल स्थान नहीं है। स्तम्भ के दक्षिण में, चौकोर अधिष्ठान के ऊपरी भाग की ओर, लगभग दसवीं से लेकर बारहवी शताब्दी की अविकसित देवनागरी लिपि में दो पक्तियो का एक लेख-श्रीयोगी ब [ब]ह्मसागर- अ कित है, इसके नीचे (विक्रम सवत्) १००८ (ईसवी सन् ६५१-५२) की किंचित् अस्पष्ट तिथि दी गई है, सभवत यह उस समय का निर्देश करती है जब स्तम्भ अपने वर्तमान स्थान पर खडा किया गया था।

लेखन, जो लगभग ६' ४" चौडा तथा २' ६½" ऊचा स्थान घेरता है, लगभग पर्याप्त सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो का आकार १½" से लेकर २" तक है। अक्षरो को उत्तरी प्रकार की वर्णमाला मे सबद्ध माना जा सकता है। लेख की तिथि के सर्वथा अनुरूप, इन अक्षरो मे म अक्षर का तथाकथित भारतीय-शक स्वरूप भी सम्मिलित है। प० १ मे ८, २० तथा ४०० के अ क भी अ कित हुए

---

१ प्रकाशित रूप मे दोनों ही क्षतिग्रस्त रूप मे है।

२ द्र०, ऊपर पृ० ३५१, तथा टिप्पणी ३।

३ इस विषय पर श्री कार्लेयल का विवरण सर्वथा उलटा है, किन्तु उनका मत ठीक नहीं है, जैसा कि उनके आगे के इस अभिकथन से प्रदर्शित होता है कि प० २ प० १ की बाई ओर हैं इत्यादि, यदि लेख नीचे से ऊपर की ओर पठनीय होता तो ऐसा नहीं हो सकता था।

हैं। भाषा संस्कृत है, तथा संपूर्ण लेख गद्य में है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १ प० ८ अ कित यश कुल मे जिह्वामूलीय का प्रयोग, २ प० १ मे अ कित विङ्शेषु में तथा प० ४ मे अ कित वङ्श मे अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग, ३ अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर त का सर्वत्र द्वित्व—उदाहरणार्थ, प० २ मे अ कित पुत्त्रेण मे, ४ प० २ में अ कित सुप्रतिष्ठित में, समान अवस्था में प का द्वित्व, ५ प० ४ में अ कित श्श्रेयो में तथा प० २ में अ कित पञ्चदश्श्याम् में क्रमश अनुवर्ती र तथा य के साथ सयोग होने पर श का द्वित्व, जो अत्यन्त दुर्लभ है, ६ प० ४ में अ कित अब्भ्युदय में, अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर भ का द्वित्व, तथा ७ प ४ में अ कित पत्त्रत्व में, अनुवर्ती व के साथ संयोग होने पर त का द्वित्व।

लेख वरिक कुल के विष्णुवर्धन नामक एक राजा का है। यह शब्दो तथा अ को दोनो मे तिथ्यकित है जो अवसित वर्ष चार सौ अठ्ठाइस बताई गई है जबकि फाल्गुन मास (फरवरी-मार्च) के कृष्ण पक्ष का पन्द्रहवा चान्द्र दिवस था। सवत्विशेष का उल्लेख नही है, किन्तु अक्षरो के स्वरूप तथा लेख के प्राप्ति-स्थान के क्षेत्र को देखते हुए इसे मालव अथवा विक्रम सवत् मे रखना समीचीन जान पडता है, जिसके अनुसार यह तिथि अवसित ईसवी सन् ३७१-७२ अथवा प्रचलित ईसवी सन् ३७२-७३ होगी। और इससे यह प्रतीत होता है कि अधिक सभव है कि वरिक विष्णुवधन प्रारभिक गुप्त शासक समुद्रगुप्त का सामन्त था[1]। लेख किसी सप्रदायविशेष से सबद्ध नही है और इसका अभिप्राय केवल विष्णुवर्धन द्वारा इस स्तम्भ—जिसे यूप अथवा 'याज्ञिक स्तम्भ' की सज्ञा दी गई है जो कि पुण्डरीक यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् खडा किया गया था—की स्थापना का लेखन है।

मूलपाठ[2]

१ सिद्धम् [॥*] कृतेपु चतुर्पु वर्पशतेष्वष्टाविङ्शेपु ४०० २० ८

२ फाल्गुण(न)बहुलस्य पञ्चदशश्यामेतस्याम्पूर्व्वायाम्[3] [।*]

३ कृतौ पुण्डरीके यूपोऽयम्प्रतिष्ठापितस्सुप्प्रतिष्ठितराज्यनामधेयेन श्रीविष्णुवर्द्धनेन वरिकेण यशोवर्द्धन-सत्पुत्त्रेण यशोरातसत्पुत्त्रेण व्याघ्ररातसत्प्रपौत्त्रेण[4]

४ श्रीयज्ञधर्म्मश्श्रेयोऽब्भ्युदययश कुलवङ्शभागभोगाभिवृद्धये [॥*] सिद्धिरस्तु पुष्टिरस्तु शान्तिरस्त जीवपुत्त्रत्वमस्त्विष्टकामावाप्तिरस्तु आ(श्र)द्धावित्ते स्यातामिति[5] [॥*]

---

१ इस तिथि को शक सवत् में रखने पर, जिसके अनुसार यह तिथि ईसवी सन् ५०६-७ होगी, इस विष्णुवधन का तादात्म्य सभवत मालव सवत् ५८६ (ईसवी सन् ५३२-३३) की तिथियुक्त मन्दसोर लेख में उल्लिखित इस नाम के व्यक्ति के साथ किया जा सकता है। किन्तु यह मानने का कोई आधार नही है कि देश के इस भाग मे शक सवत् का प्रयोग प्राचीन काल में होता था। साथ ही, उत्तरी अक्षर के रूप मे म का जो स्वरूप इस लेख मे मिलता है, उसका समय इतना प्राचीन नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, राजाधिराज तथा परमेश्वर उपाधियों का प्रयोग तथा लेख की सामान्य भाषा से भी यह जान पडता है कि मन्दसोर लेख का विष्णुवर्धन इस लेख मे चर्चित वरिक विष्णुवधन से कहीं अधिक महान् व्यक्ति था।

२ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

३ जोड़ें, तिथौ।

४ इस स्थान पर अ कित ण म अक्षर के नीचे दाहिनी ओर स्पष्ट प्रत्यावर्त्त प्राप्त होता है, यह स्वरूप लेख में अन्य स्थानो पर अ कित ण से भिन्न है।

५ जैसा कि शिलामुद्रण में स्पष्ट है, इस ति के पश्चात् अतिरिक्त यो रखने का कोई आधार नहीं है जैसा कि श्री कार्लेयल द्वारा प्रकाशित शिलामुद्रण में दिखाई देता है, श्री कार्लेयल ने इस ति को का में रूपान्तरित कर दिया है जो भी उपयुक्त नहीं है। श्री कार्लेयल की इन अशुद्धियों के कारण लेख की समाप्ति के विषय में डा० ब्यूलर का न समझ सकना सर्वथा स्वाभाविक था।

अनुवाद

सिद्धि प्राप्त की जा चुकी ! अट्ठाइस (वर्ष) के साथ चार सौ वर्ष, (अथवा, अ को मे) ४०० (तथा) २० (तथा) ८ अवसित हो चुकने पर[१], फाल्गुन (मास) के कृष्ण पक्ष के पन्द्रहवे चान्द्र दिवस पर, ऊपर (निर्दिष्ट) इस (चान्द्रदिवस) पर—

प० ३—पुण्डरीक यज्ञ (के सम्पादन की समाप्ति)के अवसर पर यह याज्ञिक स्तम्भ सुस्थापित राजत्व[२] तथा नाम वाले वरिक श्री विष्णुवर्धन—जो कि यशोवर्धन के सत्पुत्र है (तथा) यशोरात के सत्पौत्र हैं (तथा) व्याघ्ररात के सत्प्रपौत्र हैं—द्वारा (अपने) यश, यज्ञ, धर्म, (परलोक मे) कल्याण, समृद्धि कीर्त्ति, परिवार, वश, भाग्य तथा भोग[३] की वृद्धि के उद्देश्य से स्थापित कराया गया ।

प० ४—सफलता की प्राप्ति हो ! वृद्धि हो ! शान्ति हो ! (उसे) आयुष्मान् पुत्रत्व की स्थिति की प्राप्ति हो ! अभीप्सित इच्छाओ की उपलब्धि हो ! श्रद्धा एव धन का लाभ हो !

---

१ कृतेषु, द्र०, ऊपर पृ० ६१, टिप्पणी १ ।

२ अथवा, और अधिक पारिभाषिक रूप मे 'राज होने की स्थिति' ।

३ अथवा, सभवत , भागभोग को एक शब्द के रूप मे लिया जाना चाहिए जिसका अर्थ होगा 'करो का उपभोग, राजत्व, स्वामित्व', द्र० मोनियर विलियम्स के सस्कृत शब्दकोश मे भागभुज् शब्द जिसका अर्थ किया गया है : 'करो का भोग, राजा अथवा सार्वभौम शासक' ।

स० ६०; प्रतिचित्र ३७

समुद्रगुप्त का संदिग्ध-गया-ताम्रपत्र लेख

वर्ष ९

यह लेख, जो सम्प्रति प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है, एक ताम्रपत्र पर अंकित है जो कुछ वर्ष पूर्व जनरल कनिंघम द्वारा बंगाल प्रेसीडेन्सी मे गया जिले के प्रमुख नगर गया[1] से प्राप्त हुआ था, मेरे विचार से, जनसामान्य को इस लेख का ज्ञान सर्वप्रथम उन्ही के द्वारा, १८८३ मे, उनकी पुस्तक बुक आफ इण्डियन एराज,पृ० ५३ के माध्यम से हुआ था, जहा इसे वर्ष ४० में तिथ्यंकित बताया गया है। मुझे परीक्षणार्थ मूल पत्र की प्राप्ति जनरल कनिंघम से हुई थी।

एक ही ओर अंकित यह पत्र लगभग ८" लम्बा तथा ७½" चौडा है। यह पर्याप्त समतल है और इसके किनारे न तो मोटे बनाए गए हैं और न ही पट्टियो के रूप मे उभरे हुए हैं। बाई ओर लगभग अर्धभाग की दूरी पर इस पत्र की परत बहुत अधिक उतरी हुई है, तथा इस स्थान के ठीक नीचे तथा पुन पत्र के ऊपरी भाग मे वासकात् शब्द मे हल्की दरार है, किन्तु, इन स्थानो को छोड कर लेख लगभग संपूर्णत पर्याप्त अवस्था मे है। पत्र पर्याप्त मोटा तथा भारी है, और अक्षर, जो कि गहरे उत्कीर्ण नही हैं, पीछे की ओर बिलकुल नहीं दिखाई पडते। उत्कीर्णन अत्यन्त सुन्दर हुआ है, किन्तु, जैसा कि सामान्यतया पाया जाता है, अक्षरो के आन्तरिक भागो पर सर्वत्र उत्कीर्ण के उपकरणो के चिन्ह अंकित मिलते हैं। पत्र के ठीक दाहिनी ओर मुहर संलग्न की गई है जो अण्डाकार स्वरूप की है और जिसकी माप ७½"×३¾' है। इसमे, दबे हुए स्तर पर ऊपर के भाग मे सामने की ओर देखते हुए तथा दोनो पखो को फैलाए हुए गरुड पक्षी की आकृति उकेरी हुई है, तथा इसके ठीक नीचे पाच पंक्तियो का एक लेख अंकित है, यह लेख भी उकेरी मे है और इतना घिसा हुआ है कि यत्र तत्र कुछ असम्बद्ध अक्षरो को छोड कर एव प० ५ के अन्त में अत्यन्त अस्पष्टरूपेण अंकित सम् [.]द्रग्[.] प् [त] को छोड कर कुछ भी नही पढा जा सकता। सर्ववर्मन के असीरगढ मुहर (ऊपर स० ४७,) तथा हर्षवर्धन के सोनपत मुहर (ऊपर स० ५२,) के समान इसमे भी संक्षिप्त वंशावली दी गई रही होगी। मुहर के साथ पत्र का भार २ पौंड १० औंस है। अक्षरो का औसत आकार ³⁄₁₆" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं। इनमे प० १४ मे, ९ तथा १० अंक[2] भी सम्मिलित हैं। भाषा संस्कृत है तथा संपूर्ण लेख गद्य मे है। प० ३-८ मे,

---

१ मानचित्रों इ० का 'Gya'। इण्डियन एटलस, फलक स० १०४। अक्षांश २४°४८' उत्तर, देशान्तर ८५°३' पूर्व।

२ जिस अंक को मैं ९ मानता हूँ, जनरल कनिंघम के अनुसार वह ४० है। किन्तु यह अंक निश्चितरूपेण ४० नहीं है। यह दशमलव आकृति २ से बहुत अधिक मिलता है। किन्तु मास का दिवस स्पष्टरूपेण अंक १० के एक स्वरूप मे विशिष्टीकृत है। इससे यह प्रदर्शित होता है कि इस स्थान पर अंकित चिन्ह भी कोई अंक ही होगा, तथा एकमात्र अंक, जिसके यह बहुत अधिक निकट है, वह ९ का अंक है।

सामान्यतया प्रयुक्त पद उत्सन्न के स्थान पर हम उच्छन्न शब्द पाते हैं जो, जैसा कि यह यहा प्रयुक्त हुआ है, मोनियर विलियम्स के संस्कृत शब्दकोश के अनुसार संस्कृत उत्सन्न का प्राकृत अपभ्रंश है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १. अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर त का सर्वत्र द्वित्व—उदाहरणार्थ, प० ४ मे अ कित प्रपौत्रस्य, प० ८ मे अ कित पित्त्रौर् एव प० ६ मे अ कित सगोत्त्राय मे; २ प० १ मे अ कित अयोद्ध्या मे, अनुवर्ती य के साथ सयोग होने पर ध का द्वित्व, ३. प० ८ मे अ कित वो एव प० १४ मे अ कित सम्व्वत् मे कभी कभी व के स्थान पर व का प्रयोग, तथा ४ प० ७ तथा १० मे अ कित व्राह्मण मे, पं० ६ मे अकित वह्वृचाय मे तथा प० ६–१० मे अकित सव्रह्मचारिणे मे व के स्थान पर व का प्रयोग।

अकित विवरण के अनुसार यह लेख प्रारभिक गुप्त शासक समुद्रगुप्त का है तथा इसका अभिप्राय अयोध्या[1] नगर मे स्थित स्कान्धावार से जारी किए गए राजपत्र का लेखन है। लेख मे तिथि दी गई है, जो अको मे[2] वर्ष ६ (ईसवी सन् ३२८-२६) है तथा वैशाख मास (अप्रैल-मई)—पक्ष विशेष के उल्लेख विना—का दसवां सौर दिवस है। लेख किसी संप्रदायविशेष मे सवद्ध नहीं है, तथा इसका अभिप्राय समुद्रगुप्त द्वारा एक ब्राह्मण के प्रति गया विषय मे स्थित रेवतिका नामक गाव के दान का लेखनमात्र है।

मुहर पर अकित लेख के अक्षरो का स्वरूप शेष लेख के अक्षरो से अत्यन्त भिन्न दिखाई पडता है, इसी प्रकार मुहर का ताम्र भी पत्र के ताम्र से भिन्न है, मुहर अधिक सभवतया समुद्रगुप्त का ही है जो किसी अन्य पत्र से पृथक् हो गया है। जहा तक लेख का संबध है, वह निस्सदेह जाली है। यह यदि किसी अन्य से नही तो कम से कम इस तथ्यविशेष से निश्चिततया प्रमाणित होता है कि प० १ मे अकित उच्छेत्तुः से लेकर प० ५ मे अकित दौहित्त्रस्य तक समुद्रगुप्त के लिए प्रयुक्त सभी विरुद विना किसी अपवाद के सवन्धकारक विभक्ति मे हैं, लेख का प्रारूपकर्ता चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा समुद्रगुप्त के किसी अन्य उत्तराधिकारी के दानलेख से नकल कर रहा था[3]; और तव उसके मस्तिष्क मे यह वात आई कि इस दान को समुद्रगुप्त का दान वनाने के लिए—जो कि इसके साथ सलग्न की जाने वाली मुहर के अनुसार अपेक्षित था—यह सरचना उपयुक्त नही है, और फिर, पूर्ववर्ती अवतरणो मे सशोधन करने का कष्ट उठाये बिना, उसने उत्पन्न .... समुद्रगुप्त इस कर्तृवाचक विभक्ति को अपनाया। इस कूटरचना का कोई निश्चित समय निश्चित करना अत्यन्त कठिन है, एक ओर कुछ अक्षर प्राचीन हैं—उदाहरणार्थ क, प, म तथा र और विशेष रूप से ह का स्वरूप, दूसरी ओर, अन्य अक्षर आपेक्षिकरूपेण आधुनिक हैं—उदाहरणार्थ, प० ७-८ मे अकित वलत्कौषस्थान् का ष। किन्तु

---

१ आधुनिक अजोध्या अथवा अजूध्या (इण्डियन एटलस, फलक स० ८७ का 'Oudh' अथवा 'Ajoodhia')। अक्षाश २६°४८' उत्तर, देशान्तर ८२°१४' पूर्व, यह 'Ghagra' अथवा 'Ghogra' (घाघरा) नदी के दक्षिणी तट पर, नार्थ वेस्ट प्राविंसेज मे अवध के फैजावाद क्षेत्र के प्रमुख नगर फैजावाद से लगभग चार मील उत्तर-पूर्व मे है।

२ द्र० ऊपर पृ० ३१६, टिप्पणी २।

३ चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा अभिलेख (ऊपर स० ४,) तथा स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ लेख (ऊपर स० १३,) की सरचना से तुलना करें।

सामान्यरूपेण यह आठवी शताब्दी ई० के आसपास किया गया जान पडता है। जिन अन्य बातो से इसकी तिथि और अधिक निश्चितरूप से निर्धारित होती है वे हैं १ प० ३–४ में प्राकृत उच्छन्न का प्रयोग, तथा २ प० १ मे प्रारभिक पद महानौहस्त्यश्व का आना–इस प्रकार के पदो के अन्य उदाहरण हमें केवल जीवितगुप्त द्वितीय के देव-वरणार्क लेख (ऊपर स० ४६) की प० १ में, ईसवी सन् ७६१-६२ के महाराज महेन्द्रपाल के दिघवा-दुबौली दानलेख की प० १ में[1], तथा ईसवी सन् ७६४-६५ के महाराज विनायक पाल के बगाल एशियाटिक सोसायटी स्थित दानलेख[2] मे प्राप्त होते हैं।

मूलपाठ[3]

१ ओम् स्वस्ति महानौहस्त्यश्वजयस्कन्धावाराज्[द्] ा(द) योद्ध्यावासकात्सर्व्वराजोच्छेत्तु[*]पृ–

२ थिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिलास्वादितयश [शो*[4]] धनदवरुणेन्द्रा–

३ न्तकसमस्य कृतान्तपरशोर्न्यायागतानेकगोहिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोच्छ–

४ न्ना[5]श्वमेधाहर्त्त[6] [*] महाराजश्रीगुप्तप्रपौत्रम्य[7] महाराजश्रीघटोत्कचपौत्रस्य[8]

५ महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य[9] लिच्छविदौहित्रस्य[10] महादेव्या [*] कु–

६ मा[11]रदेव्यामुत्पन्न [*] परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीसमुद्र–

७ गुप्त गयावैषयिकरेवतिकाग्रामे ब्रा(ब्रा)ह्मणपुरोगग्रामवल–

८ त्कौषस्यामाह। एक चार्थं [*] विदितम्वो(वो) भवत्वेश(ष)ग्रामो मया मातापित्रोरा–

९ त्मनश्च पुण्याभिवृद्धये भारद्वाजसगोत्राय व(ब)हवृचाय सव् [र्] ब्र (ब्र)ह्मचा–

---

१ इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ११२।

२ वही, पृ० १४०।

३ मूल पत्र से।

४ श के ऊपर एक चिन्ह मिलता है जो मोरचे का चिन्ह भी हो सकता है, किन्तु जिससे यह शका उठती है कि यहाँ पर यशोधनद उत्कीर्ण हुआ था अथवा यशधनद। जो भी हो, अन्य लेखो से यह प्रदर्शित होता है कि शुद्ध पाठ यशशो धनद था।

५ अन्य सभी लेखों में उत्सन्न पाठ मिलता है। अपने सस्कृत शब्दकोश मे मोनियर विलियम्स ने यह सुझाया है कि उच्छन्न, जो 'अनावृत्त' अर्थ में उद्+छद् से व्युत्पन्न होता है, 'नष्ट हुआ' प्रयोगहीन हुआ' अर्थ मे यह उद्+सद् से बने हुए शब्द उत्सन्न का प्राकृत अपभ्र श है।

६ लेख को अनूदन योग्य बनाने के लिए इसे प्रपौत्र पढना आवश्यक है, और इसी प्रकार अन्य सभी पूर्ववर्ती सबधकारक विभक्तियो को कर्तृवाचक विभक्ति के रूप में पढ़ना चाहिए।

७ पढ़ें, आन्य

८ पढ़ें, पौत्र।

९ पढ़ें, पुत्र।

१० पढ़ें, दौहित्र।

१० रिके वा(ब्रा)ह्मणगोपदेवस्वामिने सोपरिकरोऽग्रहारत्वेनाति-

११ सृष्टः [।*] तद्युष्माभिरस्य श्रोतव्यमाज्ञा च कर्त्तव्या सर्व्वे च[1] स[2]मुचिता ग्रामप्र-

१२ त्यया मेयहिरण्यादयो देयाः [।*] न चे(चै)तत्प्रभृत्येतदग्रहारिकेण [।*] न्यद्[3]ग्रा-

१३ मादिकरदकुटुम्बिकारुकादय प्रवेशयितव्या अ(अ)न्यथा नियतमा(म)ग्र-

१४ हाराक्षेप [ः*] स्यादिति [।।*] सम्व(म्व)त्[4] ९ वैशाख दि १०[।।*]

१५ अन्यग्रामाक्षपटलाधिकृतद्यूतगोपस्वाम्यादेशलिखित[5] [।।*]

अनुवाद

ओम्! कल्याण हो! अयोध्या (नगर) में स्थित, जहाजों, हाथियों तथा अश्वों से युक्त जयस्कन्धावार से परमभागवत, महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त—जो कि सभी राजाओं के उन्मूलक हैं; विश्व में जिनका कोई विरोधी (अथवा जिनके समान शक्तिवाला) नहीं है; जिनका यश चारों समुद्रों के जल में आस्वादित है; जो धनद, वरुण, इन्द्र तथा अन्तक (देवताओं) के समान हैं; जो (भगवान्) कृतान्त के परशुस्वरूप हैं, जो विधिवत् अधिकृत कोटि गायों तथा सुवर्ण का दान करने वाले हैं; जो चिरकाल से असम्पादित अश्वमेध यज्ञ का पुनःस्थापन करने वाले हैं; जो महाराज श्री गुप्त के प्रपौत्र, महाराज श्री घटोत्कच के पौत्र, (तथा) महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त (प्रथम) के महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न पौत्र हैं (एवं) लिच्छवि-दौहित्र हैं—गया विषय के रेवतिका गांव में स्थित, ब्राह्मणों से युक्त, ग्राम-बलत्कौषों[6] के प्रति यह निर्देश देते हैं:—

पं० ८—"आपको यह विदित हो। (अपने) माता-पिता के तथा स्वयं अपने पुण्य की वृद्धि के उद्देश्य से मेरे द्वारा यह गांव एक अग्रहार के रूप में, उपरिकर के साथ, भारद्वाज गोत्र के (तथा) बह्वृच (शाखा) के ब्राह्मण गोपस्वामिन् नामक ब्रह्मचारी को दिया जाता है।

पं० ११—"अतएव आपको चाहिए कि आप द्वारा इनकी बात सुनी जाय, तथा (इनके) आदेशों का पालन किया जाय तथा गांव के संदर्भ में परम्परया उपयुक्त नापने योग्य प्रत्येक वस्तु,

---

१ इस भाग को पहले पत्र के हाशिए के निकट उत्कीर्ण किया गया और फिर वहां इसे अस्पष्ट सा कर फिर से उत्कीर्ण किया गया।

२ पहले स का उत्कीर्णन कर, उसे पुनः च लिखकर शुद्ध किया गया।

३ च का उत्कीर्णन कर, पुनः स लिखकर शुद्ध किया गया।

४ पहले प्रतीक की व्याख्या के लिए, द्र०, ऊपर पृ० ३१६, टिप्पणी २।

५ जोड़ें, उल्लेखोऽयम् अथवा इसी प्रकार का कोई अन्य शब्द।

६ बलत्कौषन् स्पष्टतः एक पारिभाषिक राजकीय उपाधि है; किन्तु इसका किसी अन्य स्थान पर उल्लेख नहीं मिलता और मैं इसके अर्थ की व्याख्या प्रस्तुत करने में असमर्थ हूँ।

समुद्रगुप्त का जाली गया पत्र—वर्ष ९

मान ९०

सुवर्ण इत्यादि दिया जाय। और इस समय मे, इस (गाव) के आग्रहारिक द्वारा (यहा बसने के लिए अथवा अपना व्यवसाय चलाने के लिए) अन्य ग्रामो इत्यादि के कृषको, शिल्पियो इत्यादि को न लाया जाय, (क्योकि) अन्यथा अग्रहार (के विशेषाधिकारो) का निश्चितरूपेण अतिक्रमण होगा। वर्ष[1] ६, (मास) वैशाख, दिवस १०।

प० १५-(यह पत्र) एक अन्य गाव के अक्षपटलाधिकृत[2] द्यूत-गोपस्वामिन् द्वारा लिखा गया है।

---

१ इस प्रतीक की व्याख्या के लिए द्र०, ऊपर पृ० ३१६, टिप्पणी २।

२ अक्षपटलाधिकृत, शाब्दिक अर्थ 'वैधिक राजपत्रो को सुरक्षित रखने के लिए नियुक्त व्यक्ति', एक राजकीय उपाधि है जो कि अक्षपटलिक का समरूप है (द्र०, ऊपर पृ० २३४, टिप्पणी[2])।

सं० ६१; प्रतिचित्र ३८क

उदयगिरि गुहा-लेख
वर्ष १०६

यह लेख १८७४-७५ अथवा १८७५-७६ मे जनरल कनिंघम द्वारा पाया गया था और जनसामान्य को इसका ज्ञान उन्ही के द्वारा १८८० मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ् इण्डिया, जि० १०, पृ० ५३ इ० के माध्यम से हुआ, जिसमे कि उन्होंने एक शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० १६) लेख का अपना पाठ तथा राजा शिव प्रसाद द्वारा किया गया इसका अनुवाद प्रकाशित किया। तथा, १८८२ मे, जनरल कनिंघम की प्रतिलिपि के आधार पर काम करते हुए, डा० हुल्श ने इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० ३०६ इ० मे लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया।

सेन्ट्रल इण्डिया मे सिन्धिया अधिकृत प्रदेश के ईशागढ जिले के भिलसा तहसील मे स्थित उदयगिरि[1] से प्राप्त यह एक अन्य लेख है। यह एक गुहा-भवन के अन्दर अकित है जिसे जनरल कनिंघम ने 'जैन गुहा, स० १०' की सज्ञा दी है। यह गुहा, जो 'अमृत गुहा, स० ६' से लगभग सौ गज की दूरी पर स्थित है, अपनी सम्मुखीन खुरदरी प्रस्तर-भित्ति द्वारा भूमिस्तर से ही दिखाई पडती है, यह पहाडी के उत्तर-पश्चिमी सिरे पर ऊपर की ओर स्थित है तथा इस तक पहुँचने के लिए खडी चट्टान के किनारे से सटी हुई एक सकरी तथा चढानयुक्त सीढी जाती है जिसके कारण इस तक अभिगमन पर्याप्त कठिन है। लेख गुहा के प्रमुख कक्ष से पूर्व मे स्थित दूसरे कक्ष तक जाते हुए अशत प्राकृतिक तथा अशत मानव-निर्मित नीचे महराव के समतल किए गए स्तर पर अकित है।

लेखन, जो लगभग १' फीट ३½" चौडा तथा ७¾" ऊचा असमान स्थान घेरता है, कुछ पक्तियो के प्रारम्भ तथा अन्त मे, चट्टान के कोणात्मक सिरो को छाटने के कारण, कुछ क्षतिग्रस्त हुआ है, किन्तु इन स्थानो पर बिना किसी सदिग्धता के पाठ की पूर्ति की जा सकती है, तथा शेष लेख पूर्ण सुरक्षित अवस्था मे है। अतिम पक्ति के नीचे ३१२४५ पाठ वाले आधुनिक अक काटे गए हैं जिन्हें शिलामुद्रण के ऊपरी भाग मे देखा जा सकता है, किन्तु लेख मे उनका कोई सम्बन्ध नही है। अक्षरो का औसत आकर लगभग ⅜" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं। भाषा सस्कृत है, तथा, प्रारम्भ मे अकित सिद्धो के आवाहन को छोड कर, सपूर्ण लेख पद्य मे है। वर्ण-विन्यास में कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नही दिखाई पडती।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० २७, तथा टिप्पणी १।

लेख स्वय को प्रारभिक गुप्त शासकों के समय मे रखता है किन्तु किसी शासकविशेष के शासनकाल का उल्लेख नही करता। किन्तु अकित तिथि से यह कुमार गुप्त के शासनकाल मे आता है। शब्दो मे, इसमे वर्ष एक सौ छः (ईसवी सन् ४२५-२६), कार्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर) के कृष्ण पक्ष के पाचवें सौर दिवस की तिथि अकित है। यह जैन लेख है तथा इसका प्रयोजन गुहा के मुख पर तीर्थंकर पार्श्व अथवा पार्श्वनाथ की प्रतिमा की सस्थापना का लेखन है।

मूलपाठ[1]

१ नम सिद्धेभ्य [॥०] श्री[2]सयुताना गुणतोयधीना गुप्तान्वयाना नृपसत्तमाना

२ राज्ये कुलस्याभिविवर्द्धमाने षड्भिर्युते वर्षशतेऽथ मासे [॥ ०] सु[3]कार्त्तिके वहुल-दिनेऽथ पचमे—

३ गुहामुखे स्फटविकटोत्कटामिमाम् जितद्विषो जिनवरपार्श्वसञ्ज्ञिका जिनाकृतिम् शमदमवान—

४ चीकरत् [॥ ०] आचार्य्य[4]भद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसावार्यकुलोद्गतस्य आचा-र्य्यगोश—

५ र्म्ममुनेस्सुतस्तु पद्मावतावश्[5]वपतेर्व्भटस्य [॥ ०] परैर[6]जेय्य रिपुघ्नमानिनस्स सड्घि—

६ लस्येत्यभिविश्रुतो भुवि स्वसञ्ज्ञया शङ्करनामशब्दितो विधानयुक्त यतिमा—

७ र्गमास्थित [॥०] स[7]उत्तराणा सदृशे कुरूणा उदग्दिशादेशवरे प्रसूत

८ क्षयाय कर्म्मारिगणस्य धीमान् यदत्र पुण्य तदपाससर्ज्ज [॥०]

अनुवाद

सिद्धो के प्रति नमस्कार ![8] श्री से समन्वित तथा गुणो के सागरस्वरूप गुप्त वश के परमो-

---

१ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

२ छन्द, इन्द्रवज्रा।

३ छन्द, रुचिरा।

४ छन्द, इन्द्रवज्रा।

५ यहाँ पर पद्मावति की सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है, उपयुक्त शब्द पद्मावती है जिसकी सप्तमी विभक्ति मे पद्मावत्याम् होगा। किन्तु छन्द की आवश्यकतानुसार इसके स्थान पर पद्मावति शब्द का प्रयोग हुआ है।

६ छन्द, वशस्थ।

७ छन्द, उपेन्द्रवज्रा।

८ सिद्धेभ्य। इन सिद्धों को पौराणिक अर्ध-दैवी सिद्ध नहीं समझा जाना चाहिए जिनका कि, उदाहरणार्थ, उल्लेख ऊपर लेख स० १८ की प० १ में हुआ है। ये वे सन्त हैं जिन्होंने कठिन तपस्या से

त्कृष्ट शासकों के प्रवर्द्धमान शासनकाल मे , वर्ष एक सौ छः में तथा कार्तिक के उत्तम मास मे कृष्ण पक्ष के पाचवे दिन —

प० ३—उनने[1], जिन्होने कि (धर्म के) शत्रुओ को जीत लिया है[2] (तथा) जो शान्तचित्तता तथा आत्मनियन्त्रण से मुक्त हैं, (इस) गुहा के मुख मे विस्तीर्ण सर्प-फणो [3] (के अलकरण) से विभूषित तथा पार्श्ववर्तिनी दैवी परिचारिका से युक्त जिनो मे उत्तम पार्श्व की प्रतिमा का निर्माण कराया (तथा स्थापना कराई)।

प० ४—वे यथार्थरूपेण सन्त आचार्य गोशर्मन् के शिष्य हैं, जो कि आचार्य भद्र के कुल के आभूषण थे (तथा) उत्तम कुल मे उत्पन्न हुये थे, किन्तु वे अश्वपति[4] संघिल—(अपने) शत्रुओं द्वारा अपराजेय जो स्वय को रिपुघ्न स्वरूप मानते थे[5]—तथा स्वयं अपनी सज्ञा मे जो शंकर पुकारे जाते

निम्नाकित पाच अवस्थाओ मे से एक मे तथा इन पाचों अवस्थाओं के कुछ रूप मे सिद्धि प्राप्त कर लिया है, ये पाच अवस्थाए हैं. सलोकता='किसी देवता विशेष के साथ उसी स्वर्ग मे निवास', सरूपता='देवता के साथ स्वरूप की एकात्मकता, अथवा उसके साथ तदाकार होना, सामीप्य='देवता के साथ निकटता', सायुज्य='देवता मे समाहित हो जाना', तथा सार्ष्टिता अथवा सामर्थ्यैश्वर्यत्व='शक्ति मे तथा सभी दैवी गुणो मे परम सत्ता के समान हो जाना'। जैन शब्द सिद्ध, बौद्ध शब्द सम्यक्सबुद्ध के पर्याप्त निकट है जो कि ऊपर लेख स० ११ की प० १ मे उल्लिखित हुआ है।

१ अर्थात् शकर जिसका नाम नीचे प० ६ मे आता है।

२ यहा अरिषट्क अथवा अरिषड्वर्ग की ओर सकेत है, द्र०, ऊपर पृ० १६०, टिप्पणी ६।

३ डा० हुल्श ने यहा गलती से स्फुट पढा है और इस प्रकार इस अवतरण का वास्तविक अर्थ उनसे छूट गया है। विकटा, जिसका अनुवाद मैंने 'दैवी पारिचारिक' किया है, के लिए द्र० मोनियर विलियम्स का सस्कृत शब्दकोष जहा उन्होंने इसकी व्याख्या 'एक प्रकार की दैवी परिचारिका जो विशेषत बौद्धो मे मान्य है' किया है। लेख मे उल्लिखित प्रतिमा अब गुहा में प्राप्य नहीं है। किन्तु इस अवतरण के अपने अनुवाद के समर्थन मे हम बादामी स्थित जैन गुहा मे प्राप्य इसी प्रकार की प्रतिमा को उद्धृत कर सकते हैं जिसका कि विवरण आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० १, पृ० २५ पर दिया गया है। यह प्रतिमा भी जैन पार्श्वनाथ की प्रतिमा है जिसके ऊपर प्रभा-मण्डल के रूप मे पाच फणो वाले सर्प की आकृति बनी हुई है तथा दाहिनी ओर सर्प-फण से युक्त एक स्त्री-आकृति बनी हुई है जिसने पार्श्वनाथ की आकृति के ऊपर स्थित छत्र की यष्टि पकड रखी है।

४ अश्वपति, शब्दश 'अश्वो का स्वामी' एक पारिभाषिक राजकीय उपाधि प्रतीत होता है। द्र०, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ६, टिप्पणी ५२ पर इसी प्रकार के शब्द गजपति के ऊपर प्रो०एफ० कीलहार्न की टिप्पणी।

५ अथवा, इसका यह अनुवाद हो सकता है–'स्वय को [अपने सभी] शत्रुओं का सहारक मानते थे'। किन्तु यहा रिपुघ्न एक व्यक्तिवाचक सज्ञा के रूप मे तथा रिपुजय—जो कि तीन-चार पौराणिक राजाओ अथवा वीरो का नाम है—के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त जान पडता है; अथवा, यह राम के एक भाई शत्रुघ्न के नाम के लिए प्रयुक्त हुआ हो सकता है। इसकी तुलना ऊपर लेख स० ५५ की प० १६ मे उल्लिखित शत्रुघ्नराज के नाम से भी की जा सकती है।

हैं—के पद्मावती[1] (से उत्पन्न) पुत्र के रूप में पृथ्वी पर अधिक प्रसिद्ध हैं, (तथा) उन्होंने, शास्त्रीय विधानो के अनुरूप, सन्यासियो के मार्ग का अनुसरण किया है।

प० ७—(कल्याणयुक्त होने में) उत्तर कुरु प्रदेश[2] के समान उत्तरी क्षेत्र मे उत्पन्न, बुद्धिमान उन्होंने इस (कृत्य) मे जो भी पुण्य है उसे धार्मिक कृत्यो के शत्रु-समुदाय[3] के विनाश के लिए निश्चित किया है।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ३२५, टिप्पणी ५।

२ कुरु, जो भारत के विभिन्न कुलों मे एक थे, दो शाखाओ मे विभक्त थे उत्तरी शाखा तथा दक्षिणी शाखा। उत्तर-कुरु प्रदेश को हिमालय पर्वत के सबसे उत्तरी पहाड़ी के उस पार स्थित माना जाता है, तथा इसे अनन्त सुख का स्थान बताया गया है।

३ यहां पुन अरिषड्वर्ग की ओर सकेत है, द्र० ऊपर पृ० १६०, टिप्पणी ६।

सं० ६२; प्रतिचित्र ३८ ख

सांची प्रस्तर लेख

वर्ष १३१

जनसामान्य को इस लेख का ज्ञान सर्वप्रथम १८३७ मे जर्नल ग्राफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ६, पृ० ४५१ इ० के माध्यम से हुग्रा जहा कि श्री जेम्स प्रिसेप ने ग्रभियात्रिकी के केप्टन एडवर्ड स्मिथ द्वारा वस्त्र तथा कागज पर ली गई प्रतिलिपियो के ग्राधार पर तैयार किया गया एक सुन्दर शिलामुद्रण प्रकाशित किया (वही,प्रति० २६) तथा साथ मे लेख का ग्रपना पाठ तथा ग्रनुवाद भी किया।

यह सेन्ट्रल इण्डिया में भोपाल राज्य के दीवानगज तहसील मे स्थित साची[1] मे प्राप्त होने वाला एक ग्रन्य लेख है। यह महा-स्तूप के पूर्वी तोरणद्वार के दक्षिण मे बीच की वेदिका की चौथी पक्ति में ग्रौर वेदिका के फिर वापस प्रविष्ट होते हुए कोने मे है।

लेखन जो कि लगभग २' ५" चौडा तथा २' ०" ऊचा स्थान घेरता है, ग्रत्यन्त सुरक्षित ग्रवस्था मे है, तथा सावधानी से पढे जाने पर प्रारम्भ से ग्रन्त तक पठनीय है, किन्तु समय-प्रभाव के कारण प्रस्तर-खण्ड का रग हट जाने के कारण इसे मूल प्रस्तर-खण्ड की ग्रपेक्षा स्याही की छाप ग्रथवा शिला-मुद्रण मे ग्रधिक ग्रासानी से पढा जा सकता है। ग्रक्षरो का ग्रकार ½" से लेकर १" तक है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के वर्ष ९३ में तिथ्यकित साची लेख (ऊपर स० ५, प्रति० ३ख) के समान इसके ग्रक्षर भी दक्षिणी प्रकार की वर्णमाला के हैं, ये उस लेख के समान सावधानी से नही उत्कीर्ण किए गए हैं, किन्तु यदि इस ग्रन्तर को छोड दिया जाय तो, इनमे किसी प्रकार का विशिष्ट विकास दिखाई पडता। इनमे प०११ मे, १, ५, ३० तथा १०० के ग्रक भी सम्मिलित हैं। भाषा सस्कृत है तथा सपूर्ण लेख गद्य मे है। प० ४ में ग्रकित प्रविष्टक मे हम क प्रत्यय पाते हैं जिसके विषय मे मैंने ऊपर पृ० ८६ पर चर्चा की है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे एकमात्र ध्यातव्य विशिष्टता यह है कि प० ११ मे ग्रकित सव्वत् मे ग्रनुस्वार के उपरान्त व का द्वित्व हो गया है।

लेख मे किसी राजाविशेष के शासनकाल का उल्लेख नही है, किन्तु ग्रकित तिथि के ग्राधार पर यह प्रारभिक गुप्त शासक कुमारगुप्त तथा उसके पुत्र एव उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त के शासनकाल

---

1 द्र०, ऊपर पृ० ३६, तथा टिप्पणी २। साची नाम की उत्पत्ति के विषय मे मैंने वहा जो कहा है, उसमें मैं यह जोडना चाहता हू कि साची ग्रथवा साची तथा काची के साथ हमें इस प्रकार के दृष्टान्तो की तुलना करनी चाहिए जैसे टोण्डल तथा बोण्डल, जो कि शोलापुर जिले के मालसिरस तालुका मे स्थित सटे सटे दो गांव है जिनके बीच मे एक नाला मात्र ग्राता है, तथा हिस्रे एव फिस्रे जो कि उसी जिले मे कर्माले तालुका मे स्थित दो सटे सटे गाव है। इस प्रकार की ध्वनि-साम्य रखने वाले गाव पूरे देश मे पाये जाते हैं।

क– उदयगिरि गुहा-लेख—वर्ष १०६

मान ४०

ख साँची लेख-वर्ष १३१

मान २५

मे पड़ता है। यह अंको मे[1] लिख्यंकित है जो वर्ष एक सौ इकतीस (ईसवी सन् ४५०-५१), अश्वयुज मास (सितम्बर-अक्टूबर) का-पक्ष विशेष के उल्लेख बिना-पाचवा सौर दिवस है। वह बौद्ध लेख है। तथा इसका प्रयोजन उपासक सनसिद्ध की पत्नी हरिस्वामिनी नामक उपासिका द्वारा काकनादबोट विहार अर्थात् साची के महा-स्तूप में[2] निवास करने वाले आर्य सघ अथवा बौद्ध भिक्षु वर्ग के प्रति कुछ धन के दान का लेखन है, जिससे प्रतिदिन एक भिक्षु को भोजन दिया जाय तथा बौद्ध भवनो में दीपक की व्यवस्था की जा सके।

मूलपाठ[3]

१ [ि]स्[द्ध]म्[4] [॥०] उपासकसनसिद्धभार्य्यया उपासिक[ा०]हरिस्वामिन्या माता-
२ पितरमु[5]द्दिश्य काकनादबोटश्रीमहाविहारे चातुर्द्दिशायार्य्यस-
३ घाय अक्षय[6]नीवी दत्ता दीनारा द्वादश[।०] एषा दीनाराणां या वृद्धि-
४ रुपजायते तथा दिवसे दिवसे सघमध्यप्रविष्टकभिक्षुरेक भोज-
५ यितव्य [॥ ०] रत्नगृहेऽपि दीनारत्रय दत्त [। ०] [त] द्दीनारत्रयस्य वृ[द्*]ध्या रत्नगृहे
६ भगवता बुद्धस्य दिवसेदिवसे दीपत्रय प्रवालयितव्य [॥ ०] चतुर्ब्बुद्धास-
७ नेऽपि दत्त दीनार एक [। ०] तस्य वृद्ध्या चतुर्ब्बुद्धासने भगवतो बुद्धस्य
८ दिवसेदिवसे दीप प्रवालयितव्य [॥ ०] एवमेषाक्षयनीवी-
९ आचन्द्रार्क्कशिलालेख्या स्वामिनीसनसिद्धभार्य्यया
१० उपासिक् [ा ०]हरिस्वामिन्या प्रवर्त्तिता इति [॥०]
११ सम्वत्[7] १०० ३० १ अश्वयुग्दि ५॥

अनुवाद

सिद्ध प्राप्त की जा चुकी है। उपासक सनसिद्ध की पत्नी उपासिका हरिस्वामिनी द्वारा, (अपने) माता-पिता के लिए, विश्व के चारो कोनो से काकनादबोट के पवित्र विहार मे समूहित श्रद्धालुओ के सघ के प्रति बारह दीनारो का अक्षय-नीवी दान दिया जाता है। इन दीनारो से प्राप्त ब्याज द्वारा सघ मे प्रविष्ट एक भिक्षु को प्रति दिन भोजन दिया जाय।

---

१ जनरल कनिंघम ने (भिलसा टोप्स, पृ० १९३) प्रथम प्रतीक को ३०० पढ़ा है। किन्तु यहां पर दाहिनी ओर के दो चिन्ह नहीं है जिनका १०० को ३०० बनाने के लिए होना आवश्यक है, तथा सम्भवत उनसे यह भूल इस कारण हुई कि प्रस्तर-खण्ड के स्वाभाविक चिन्ह स्याही की छाप मे बहुत बड़े रूप मे उभर आए होंगे।

२ द्र०, ऊपर पृ० ३८।

३ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

४ यह शब्द हाशिए पर उपासक के पहले उत्कीर्ण है। इसके अवशिष्ट चिन्ह अत्यन्त अस्पष्ट हैं।

५ पढ़ें, मातापितरावु।

६ इस शब्द का प्रारम्भिक अक्षर अ बुरी तरह उत्कीर्ण है और अक्षत सघाय के य से संश्लिष्ट है। सभवत सधि के नियमानुसार यहां सघायाक्षय उत्कीर्ण किया जा रहा था और फिर अ जोड़ दिया गया।

७ जहां तक प्रथम प्रतीक के पाठ का प्रश्न है, द्र० ऊपर टिप्पणी १।

प० ५—इसके अतिरिक्त तीन दीनार रत्न-गृह[1] मे दिये जाते हैं। इन तीन दीनारो के व्याज से रत्न-गृह मे प्रतिदिन भगवान बुद्ध के तीन दीप जलाए जाये।

पं० ६—इसके अतिरिक्त एक दीनार उस स्थान के लिए दिया जाता है जहा कि चार बुद्धो (की प्रतिमाए) स्थित हैं[2]। इसके व्याज से चार बुद्धो (की प्रतिमाओ) के निवास स्थान पर प्रतिदिन भगवान् बुद्ध का एक दीप जलाया जाय।

प० ८—इस प्रकार चन्द्रमा तथा सूर्य की स्थिति तक [बना रहे इस आशय से] प्रस्तर-खण्ड पर अंकित यह अक्षयनीवी दान सनसिद्ध की पत्नी आर्या[3] उपासिका हरिस्वामिनी द्वारा सम्पादित हुआ।

प० ११—वर्ष[4] १०० (तथा) ३० (तथा) १, (मास) अश्वयुज्, दिवस ५।

---

१ रत्न-गृह, द्र० ऊपर पृ० ४१, टिप्पणी ६।

२ चतुर्बुद्धासन। जैसा कि जनरल कनिंघम ने भिलसा टोप्स, पृ० १९१ इ० मे बताया है, यह पद स्तूप के चारो ओर दौडने वाली वेदिका में वेदिका के अन्दर प्रत्येक तोरण द्वार के सामने बैठी बुद्ध की प्रतिमाओं से बुद्धिगम्य होता है। मेरे विचार से साची में समय-समय पर किए गए निर्माण-कार्य की प्रक्रिया मे कई परिवर्तन हुए, तथा सप्रति दक्षिणी द्वार पर स्थित बुद्ध मूर्ति एक बैठी बुद्ध मूर्ति है जो अपनी सामान्य रूपरेखा मे उत्तरी, पूर्वी तथा पश्चमी तोरण-द्वारोपर रखी बुद्ध-मूर्त्तियो के समान है, यह स्पष्टतः मूल बुद्ध मूर्ति है जिसे यहा से हटा दिया गया है, जनरल कनिंघम ने जिस समय लिखा था उस समम दक्षिणी द्वार पर स्थित खडी बुद्ध मूर्ति अब बैठी मूर्ति के पश्चिम मे थोडा हट कर स्थित है।

३ स्वामिनी। अथवा सभवत यह शब्द अनुवर्ती लेख में उत्कीर्ण विहारस्वामिनी का सक्षिप्त रूप है; द्र० नीचे पृ० ३३२, टिप्पणी ७।

४ जहा तक प्रथम प्रतीक के पाठ का प्रश्न है, द्र०, ऊपर पृ० ३२९, टिप्पणी १।

स ६३, प्रतिचित्र ३६ क

मथुरा प्रस्तर-प्रतिमा-लेख
वर्ष १३५

यह लेख जनरल कनिंघम द्वारा पाया गया था, तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान सर्वप्रथम १८७१ मे, जर्नल श्राफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S जि०५ पृ० १८४ इ० के माध्यम से हुआ जहा कि प्रो० जे० डाउसन ने जनरल कनिंघम की स्याही की छाप आधार पर तैयार किए गए एक शिलामुद्रण के साथ (वही,प्रति० २, स०८) लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया। कुछ सशोधनो के साथ लेख का यह अनुवाद १८७२ मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया,जि०३, पृ०३६ इ० मे एक नए शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० १६, स० २२) पुनर्प्रकाशित हुआ ।

यह लेख नार्थ वेस्ट प्राविसेज मे मथुरा जिले के प्रमुख नगर मथुरा[1] मे स्थित जैल टीला से प्राप्त एक भग्न खडी प्रतिमा की पीठिका पर अकित है। जिस समय मैंने इसका परीक्षण किया, यह इलाहाबाद के राजकीय सग्रहालय मे थी, किन्तु मेरे विचार से अब इसे सभवत लखनऊ के प्रान्तीय सग्रहालय मे स्थानान्तरित कर दिया गया है। जहा तक प्रतिमा का प्रश्न है, अब केवल इसका चरण भाग अवशिष्ट है जिसके दोनो ओर घुटनो पर बैठी एक छोटी आकृति बनी मिलती है, और इस प्रकार यह कहना कठिन है कि मूर्ति किस प्रकार की थी, किन्तु लेख की भाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि यह खडी बुद्ध प्रतिमा थी ।

लेख के प्रारम्भ मे, हाशिए मे, बौद्ध धर्मचक्र बना हुआ है, और इस प्रतीक के उत्कीर्णन का प्रयोजन यह निर्दिष्ट करना जान पडता है कि किस प्रकार धर्म सभी वस्तुओ को स्वय मे समाहित करता है। लेखन १" ६½" चौडा तथा २⅔" ऊचा स्थान घेरता है तथा अतिम पक्ति को छोड कर— जिसका कि लगभग सपूर्ण अतिम अश टूट चुका है और अब अप्राप्य है—यह अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ⅜" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं। इनमे, प०१ मे, ५, २०, ३० तथा १०० के अक भी सम्मिलित हैं। भाषा सस्कृत है। प्रथम दो पक्तिया गद्य मे तथा शेष लेख पद्य मे है। वर्ण-विन्यास के प्रसग मे एकमात्र ध्यातव्य विशिष्टता यह है कि प० १ मे अकित सम्वत्सर मे अनुस्वार के उपरान्त व का द्वित्व हुआ है।

लेख स्वयं को किसी शासन-काल मे नही रखता,किन्तु इसमे अकित लेख से यह प्रारभिक गुप्त शासक स्कन्दगुप्त के समय का जान पडता है, क्योकि उसके पिता कुमार गुप्त, जिसने कम से कम वर्ष ९६ से शासन प्रारम्भ किया था, का इस तिथि तक शासन करना कठिन सा है। यह शब्दो तथा अको दोनो मे तिथ्यकित है जो कि वर्ष एक सौ पैंतीस (ईसवी सन् ५५४ ५५)तथा पुष्य मास(दिसम्बर-जनवरी)

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ३२, तथा टिप्पणी १ ।

का—पक्ष विशेष के उल्लेख विना—का बीसवां सौर दिवस है। प्रयुक्त पदों से तथा प्रस्तर-खण्ड पर उत्कीर्ण प्रतीक से यह स्पष्टरूपेण बौद्ध लेख है, तथा, इसका प्रयोजन उस प्रतिमा के दान का लेखन है जिसकी पीठिका पर वह अंकित है।

मूलपाठ[1]

१ सवत्सरशते पंचस्त्रिंशो[2] त्तरतमे १०० ३० ५ पुष्यमासे दिवसे वि[ं]श् [`] दि २० [। *] देयधर्म् [ो] ऽयमं विहारस्वामिन्य् [ा]

२ देवताया[3] [॥ *] यदत्र पुण्य तद्भवतु मातापित्रोः सर्व्वसत् [त् *] वानाञ्च अनुत्तर—ज्ञाना[4]प्तये[5] ॥

३ सौभाग्यं[6] प्रतिरु(रू)पता गुणवती कीर्त्तिस्सपत्नक्षय; श्रीमन्[त्] ो विभवा भवा[· *] सुखफला निर्व्वाणमते शिवम्

४ अस्तत्वा(?)नि भवन्ति दाननिरतौ चित्त नियोज्यैकदा [—] ो [— — ⏑] विचा(?ता)रण-[⏑ ⏑]धियां [— — ⏑ — —] f [⏑]याम् [॥*]

अनुवाद

(वर्ष) एक सौ पैंतीस मे, (अथवा अंको मे) १०० (तथा) ३० (तथा) ५ मे, पुष्य मास मे, बीसवे दिवस (अथवा अंको मे) दिन २० पर, यह विहारस्वामिनी[7] देवता का उपयुक्त धर्म-दान है। इस (कृत्य)मे जो भी पुण्य कर्म (है), वह (उनके) माता-पिता तथा सभी प्राणियो द्वारा परमज्ञान की प्राप्ति के लिए हो।

---

१ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

२ पढें, त्रिंश्।

३ पढें, देवताया।

४ यह न अपेक्षाकृत अस्पष्ट है; किन्तु यह अन्य कोई अक्षर नहीं हो सकता।

५ इस पाठ के विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु सामान्यतया हम अवाप्तये पाते हैं।

६ छन्द, शार्दूलविक्रीडित।

७ विहारस्वामिनी शब्दशः 'विहार की स्वामिनी (निरीक्षिका)'—यह शब्द कोई पारिभाषिक धार्मिक उपाधि नहीं जान पड़ता जो कि किसी ऐसे पद का निर्देश करता हो जिस पर स्त्रियों की नियुक्ति की जाती थी, द्र० नीचे पृ० ३५६, टिप्पणी २। हम इसकी शक संवत् १०३० मे तिग्यकिन करगुदरी लेख की प० ४०-४१ में अंकित दण्डनायकीति से तुलना कर सकते हैं (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० १०, पृ० २५२, तथा टिप्पणी १०), इसका अर्थ 'सेना का नेतृत्व करने वाली स्त्री' न होकर 'दण्डनायक की पत्नी' है। स्त्रियों के लिये उनके पतियों की राजकीय उपाधियों के प्रयोग के वर्तमान दृष्टान्त हम कनारी भाषा के गौडसानि तथा मराठी भाषा के पाटलीण् शब्दों में पाते हैं जिनका प्रयोग गौड अथवा पाटिल (=ग्राम-प्रमुख) की पत्नी के अर्थ में होता है।

प० ३–सौभाग्य, पुण्यात्मक गुणो से भरपूर (अनुकरणीय) प्रतिरूप होने की स्थिति, यश, (धर्म) के शत्रुओ[1] का विनाश, समृद्धि, सुख मे परिणत होने वाली योनिया, (तथा) अन्तत. मगलकारी निर्माण, (ये सभी) अनित्य हैं (?)[2], एक बार दान देने के सुख पर अपने चित्त को स्थित कर चुकने पर

२ यहा अरियद्दुग्गं अथवा अरियट्ठक की ओर सकेत है, द्र० ऊपर पृ० १६०, टिप्पणी ६ ।

३ बौद्ध मत के अनुसार, ऐसा प्रतीत होता है निर्वाण अथवा अस्तित्व का नाश भी नित्य अवस्था नहीं है, तथा इसे प्राप्त कर लेने पर भी कोई व्यक्ति तब तक भावी जन्मों से मुक्त नहीं होता जब तक कि इसके पश्चात् परिनिर्वाण की स्थिति न प्राप्त हो अर्थात् दैवी सारतत्व मे पूर्ण अन्तर्लयन द्वारा व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व का पूर्ण नाश न हो जाय ।

सं० ६४; प्रतिचित्र ३९ख

गढ़वा लेख

यह लेख जनरल कनिंघम द्वारा १८७४-७५ अथवा १८७५-७६ में प्राप्त हुआ था और जनसामान्य को इसके विषय में ज्ञान सर्वप्रथम उन्ही के द्वारा १८८० में आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० १० इ० के माध्यम से कराया गया जहां कि उन्होंने एक शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० ५, स० २ तथा ३) लेख का अपना पाठ प्रकाशित किया।

यह नार्थ वेस्ट प्राविंसेज में इलाहाबाद जिले के करछना तहसील स्थित गढवा[1] से प्राप्त एक अन्य लेख है। यह एक दीवाल गिराते समय प्राप्त हुआ, तथा यह एक चौकोर बालुकाश्म निर्मित स्तम्भ के भग्न खण्ड पर अंकित है। स्तम्भ के अन्य खण्ड नहीं प्राप्त हुए। मूल प्रस्तर-खण्ड अब कलकत्ता स्थित इम्पीरियल म्यूजियम में है।

लेखन में दो पृथक् लेखो के अवशिष्टांश सम्मिलित हैं जो दोनो ही दान के समान विषय का उल्लेख करते हैं। प्रस्तर-खण्ड के उस पार्श्व पर जो कि शिलामुद्रण की बांई ओर दिखाई देता है, हम चौदह पंक्तियां पाते हैं जो लगभग ३¾" चौड़ा तथा १' २¾" ऊंचा स्थान घेरती हैं, दूसरी ओर आठ पंक्तियां मिलती हैं जो लगभग ६½" चौड़ा तथा ११½" ऊंचा स्थान घेरती हैं। अवशिष्ट लिखितांश पूर्ण सुरक्षित अवस्था में है किन्तु व्याख्या के लिए सन्दर्भ के अभाव में कुछ अक्षर संदिग्ध हैं। अक्षरो का आकार ½" से लेकर ¾" तक है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं और एकदम उसी प्रकार के हैं जो ऊपर लेख स० ७, ८ तथा ९ (प्रति० ४, ख, ग तथा घ) मे मिलता है। इनमे प० १८ तथा १९ मे १ तथा ७ के अंक भी सम्मिलित हैं। भाषा संस्कृत है और संपूर्ण लेख गद्य मे है। वर्ण-विन्यास के प्रसंग मे एकमात्र ध्यातव्य विशिष्टता प० १६ मे अंकित विङ्शति में श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग है।

पं० १ के अन्त मे दृश्यमान अक्षरो के आधार पर लेख प्रारम्भिक गुप्त शासक कुमारगुप्त के समय का हो सकता है। किन्तु तिथि संबंधी विस्तृत विवरण ~~पूर्णतया नष्ट हो गया है। लेख के~~ अवशिष्ट अंश से इसका किसी धार्मिक सम्प्रदायविशेष से संबंध नहीं प्रदर्शित होता। इसका प्रयोजन किसी सत्र अथवा भिक्षाशाला के प्रति दिए गए दान का लेखन है।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ४६ तथा टिप्पणी १।

मूलपाठ[1]

प्रथम भाग

१ · थ् कु[2] –
२ · र् सत्र यू (?) ६(?)
३ · [दि] वसपूर्व्वाया म–
४ गुप्तस्यैव द य्
५ · [अ] नन्तगुप्ताय(? या)
६ पुण्याप्यायना–
७ [र्थं] · सत्रसा [मा*] न्यभोज–
८ [न] [दी]नारं
९ ·····वासोयुगा–
१० · परो दी–
११ [नार] दीनारं दे(?)व–
१२ · [यश्चैन] धर्म्मस्कन्ध व्यु–
१३ [च्छिन्द्यात्स पचभिर्महापात] कै स [ ]यु–
१४ क्त स्यादिति [॥]

द्वितीय भाग

१५ सत् [त्र*] रसामान्यभोजने
१६ प्रति सुवर्ण्णरेकान्तविङ्शतिभि[ ] ·····
१७ कारित [।*] ब्राह्म(?)णो मयिक
१८ द्वय २ करोत २ अ · ·
१९ युग १ कोट्टयूव मुकुन्
२० दक्षिणकूलकच्चोड पक्ष · [॥*]
२१ यश्चैन व्युच्छिद्[द्य्]ा[त्स पचभिर्महा]–
२२ [पा] तकैस्स[*]युक्त [स]य्[ादिति।]

अनुवाद

इस लेख की वस्तु सामग्री का कोई परस्पर सबद्ध विवरण देना कठिन है। केवल यह देखा जा सकता है कि प्रथम भाग मे, प० १-२ मे सभवत कुमारगुप्त के नाम का अश प्राप्त होता है; प० ५ मे अनन्तगुप्त अथवा अनन्तगुप्ता का नाम अकित है जो सभवत किसी राजकुलेतर व्यक्ति का

---

१ मूल प्रस्तर खण्ड से।

२ सभव यहा श्रीकुमारगुप्तस्य अकित था।

नाम है, तथा ऐसा प्रतीत होता है कि प० ७ से लेकर प० १२ तक मे एक सत्त्र अथवा भिक्षाशाला मे भोजन की सुविधा प्रदान करने तथा ऊपरी वस्त्र एव अधोवस्त्र का जोडा प्रदान करने के उद्देश्य से दीनारो के रूप मे दान-कर्म का लेखन हुआ था। प्रथम भाग का अन्त दान की निरन्तरता मे बाधा पहुचाने के विरुद्ध उस पदावली-विशेष से होता है जो सामान्यतया दानलेखो मे पायी जाती है।

लेख के द्वितीय भाग मे पुनः एक भिक्षा-शाला मे भोजन का तथा इसके सबध मे उन्नीस सुवर्ण नामक स्वर्ण-मुद्राओ की कीमत पर किसी वस्तुविशेष का उल्लेख है। इसके बाद मे कुछ और विवरण है जिसमे दो करोटो अथवा 'कटोरो' एव (ऊपरी वस्त्र तया अधोवस्त्र का) एक जोडा सम्मिलित है। पत्पश्चात् किसी नदी के दक्षिणी तट पर कुछ भूमि के दान की चर्चा है। और अन्त मे, पहले भाग के समान, दान की निरन्तरता मे बाधा पहुचाने के विरुद्ध उस पदावली विशेष का अकन है जो सामान्यतया दानलेखो मे पाई जाती है।

स० ६५, प्रतिचित्र ३६ग

महाराज भीमवर्मन् का कोसम प्रस्तर-प्रतिमा-लेख

वर्ष १३६

यह लेख १८७४-७५ मे जनरल कनिघम द्वारा पाया गया, तथा जनसामान्य को इस लेख का ज्ञान उनके द्वारा ही १८८० मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ३ के माध्यम से हुआ जहा कि उन्होने एक शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० २, स० ३) लेख का अपना पाठ प्रकाशित किया।

कोसम,[1] जो कि प्राचीन कौशाम्बी है, नार्थ वेम्ट प्राविंसेज मे इलाहाबाद जिले के प्रमुख नगर करारी[2] मे लगभग आठ मील दक्षिण मे यमुना नदी के बाए तट पर बसा हुआ एक छोटा सा गाव है। यह लेख शिव तथा पार्वती की खडी मूर्ति की भग्न पीठिका पर अकित है जो एक खेत मे किले के अन्दर स्थित उस बडे एकाश्मक स्तम्भ के निकट प्राप्त हुई थी जिसका विवरण आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ३०६ इ० मे दिया गया है।

लेखन का प्राप्त अश, जो प्रस्तर-खण्ड के लगभग १०½" चौडाई तथा ४" ऊचाई की नाप वाले सम्पूर्ण मुख भाग को घेरता है, अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है। किन्तु, यह अशमात्र है क्योकि कम से कम, प० २ के नीचे एक पक्ति पूर्णरूपेण नष्ट हो गई है, तथा इसके अतिरिक्त यह कह सकना भी बडा कठिन है कि प्रस्तर-खण्ड के प्रत्येक ओर कितना कितना अश नष्ट हो गया है। अक्षरो का औसत आकार ⅙" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं। इनमे ७, ९, ३० तथा १०० के अक और सभवत[3] २ का अक भी सम्मिलित हैं। भाषा सस्कृत है और लेख का उपलब्ध अश सपूर्णत गद्य मे है। वर्ण विन्यास के प्रसग मे कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नही मिलती।

लेख भीमवर्मन् नामक एक महाराज का है, अकित तिथि को देखते हुए जो प्रारभिक गुप्त शासक स्कन्दगुप्त का सामन्त रहा होगा। इसकी तिथि, अको मे दी गई है जो वर्ष एक सौ उन्तालीस (ईसवी सन् ४५८-५६) तथा सभवत किसी मास के दूसरे पक्ष का अथवा किसी ऋतु के दूसरे मास का सातवा दिवस है[4], किन्तु इस स्थान के विस्तृत विवरण टूट गए हैं और अप्राप्य हैं। यह स्पष्टत

---

१ मानचित्रों इ० का 'Kosam' तथा Kosim-Kheraj'। इण्डियन एटलस, फलक स० ८८। अक्षाश २५°२०' उत्तर, देशान्तर ८१°२७' पूर्व। खेरज के स्थान पर वस्तुत खिराज होना चाहिए, गाव के दो विभाग हैं जिनमे एक इनाम अर्थात् 'करमुक्त' है और दूसरा खिराज अर्थात् 'कर देने वाला' है।

२ मानचित्रों का 'Kuralee'।

३ द्र०, नीचे टिप्पणी ४।

४ दिव शब्द के पूर्व दो चिन्ह मिलते हैं जो २ का अक प्रतीत होता है, तथा इस अवतरण को निम्नांकित दो पद्धतियो मे से किसी एक के अनुसार पूरा किया जा सकता है उदाहरणार्थ, तिथ्यकन की उस विधि के अनुसार जिसका प्रयोग पुलुमायि के नासिक लेख मे हुआ है—'वर्ष १९ मे, ग्रीष्म-ऋतु के दूसरे पक्ष, २, मे,

एक शैव लेख है, तथा इसका प्रयोजन उस मूर्ति के दान अथवा उसकी सत्स्थापना का लेखन है जिसकी पीठिका पर इसका अकन हुआ है।

मूलपाठ[1]

१ मह् [ा*]र्[ा]जस्य श्रीभीमवर्म्मण सव [त्*] १०० ३० ६

२ २ (?)[2] दिव[3] ७ [।*] एतद्दि [द्*] वस कुमरमे· ·

३ · · · प······ · · · ·

अनुवाद

महाराज श्री भीमवर्मन् (के शासनकाल मे); वर्ष १०० (तथा) ३० (तथा) ६; ···· २ (?)[4]; दिवस ७; इस दिन (पर) ···· ·········

तेरहवें दिन, १३ (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० ४, पृ० १०८, स० १८); अथवा, उस विधि के अनुसार जिसका प्रयोग वासुदेव के मथुरा लेख मे हुआ है—'४४ [?७४] में, वर्षा ऋतु के प्रथम मास में, तीसवें दिन, ३०' (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ३, पृ० ३२, स० ८)। किन्तु मुझे वर्तमान लेख के समय तक इन प्राचीन विधियो के प्रयोग की निरन्तरता का कोई अन्य दृष्टान्त नहीं मिलता, और इससे इस विषय मे सदेह उठना है कि ये चिन्ह् वस्तुत २ के अक के लिए हैं।

१ जनरल कनिंघम के स्याही की छाप से, शिलामुद्रण भी।

२ द्र०, ऊपर पृ० ३३७, टिप्पणी ४।

३ अर्थात्, दिवस अथवा दिवसे।

४ द्र०, ऊपर पृ० ३३७, टिप्पणी ४।

ख—गढ़वा लेख

मान २५

घ—गढ़वा लेख—वर्ष १४८

मान ३३

क—मथुरा प्रतिमा लेख—वर्ष १३५

मान ५०

ग—महाराज भीमवर्मन् का कोसम प्रतिमा लेख—वर्ष १३९
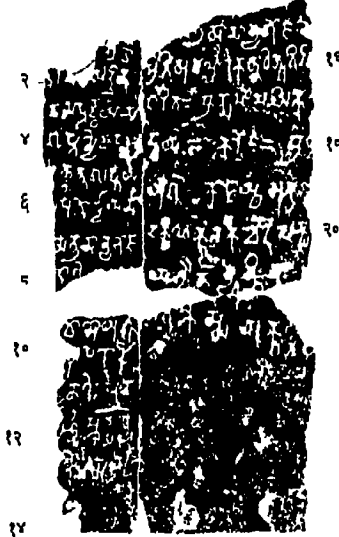
मान ३३

सं० ६६, प्रतिचित्र ३९ घ

गढवा प्रस्तर-लेख

वर्ष १४८

यह लेख १८७४-७५ अथवा १८७६-७७ मे जनरल कनिंघम द्वारा पाया गया था, तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान उन्ही के द्वारा १८८० मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० ११ के माध्यम से हुआ जहा कि उन्होने एक शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० ५, स०४) लेख का अपना पाठ प्रकाशित किया। वर्तमान समय तक लेख का यह पाठ ही एकमात्र प्रकाशित पाठ रहा है। किन्तु १८८२ मे इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० ३११, टिप्पणी २ मे डा० ई० हुल्श ने यह बताया कि लेख मे अकित तिथि का शुद्ध पाठ १४८ है, १४० नहीं जैसा कि जनरल कनिंघम ने पढा था।

यह नार्थ वेस्ट प्राविंसेज मे इलाहाबाद जिले के करछना तहसील मे स्थित गढवा[1] से प्राप्त होने वाला एक अन्य लेख है। यह एक बालुकाश्म-खण्ड पर अकित है जो विष्णु के दशावतार मन्दिर की पटरी से प्राप्त हुआ था और आजकल कलकत्ता स्थित इम्पीरियल म्यूजियम मे कलकत्ता रखा हुआ है।

ऊपर तथा नीचे एव पक्तियो के अन्त मे लगभग १½" चौडे हाशिये को छोड कर लेख प्रस्तर-खण्ड के सम्पूर्ण सम्मुख भाग को घेरता है जो कि लगभग २' ४" चौडा एव ७¾" ऊचा है। लेखन का अधिकाश भाग क्षतिग्रस्त हो गया है, किन्तु थोडे से प्रयास के साथ इसे सतोषजनक ढग से पढ़ा जा सकता है। किन्तु, यह लेख एक बडे लेख का अशमात्र है, क्योकि प्रत्येक पक्ति का पूर्व भाग–जो लगभग प्राप्त भाग के बराबर ही रहा होगा–इस प्रस्तर-खण्ड को किसी अन्य निर्माण कार्य के उपयुक्त बनाने की प्रक्रिया मे कट गया है और वह भाग नहीं प्राप्त हुआ है। अक्षरो का औसत आकार ⁷⁄₁₆" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं। भाषा सस्कृत है और सपूर्ण लेख गद्य मे है। वर्ण-विन्यास के प्रसंग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १ प० १ मे अकित चत्वारिङ्शद् तथा विङ्शति मे श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग, २ प० ३ मे अकित चित्त्र मे अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर त का द्वित्व, ३ प० १ मे अकित सव्वत्सर मे अनुस्वार के उपरान्त व का द्वित्व।

लेख स्वय को एक शासक विशेष के शासनकाल मे रखता है, किन्तु उसका नाम, जो कि प० १ के पूर्व भाग मे अकित था, टूट गया है और अप्राप्य है। अकित तिथि से यह प्रदर्शित होता है कि यह या तो प्रारभिक गुप्त शासक स्कन्दगुप्त के समय का अथवा उसके शासनकाल के ठीक बाद का

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ४६, तथा टिप्पणी १।

है। यह शब्दों में तिर्यंकित है, जो वर्ष एक सौ अड़तालीस (ईसवी सन् ४६७-६८), तथा माघ नाम (जनवरी-फरवरी) का—पक्षविशेष के उल्लेख बिना-इक्कीसवां सौर दिवस है। यह वैष्णव लेख है। तथा, इसका प्रयोजन अनन्तस्वामिन् नाम के अन्तर्गत भगवान् विष्णु की प्रतिमा की संस्थापना का लेखन है, तथा धूप, गन्ध, तथा माला इत्यादि प्राप्त होने के लिए एव जीर्णोद्धार कर्म के लिए किए गए दान का लेखन है जिसका कि विवरण अब नहीं प्राप्त है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है यह चित्रकूटस्वामिन् अथवा 'चित्रकूट[1] के अधिपति' नामक देवता से सबद्ध गांव मे कुछ भूमि के रूप में था।

मूलपाठ[2]

१ . .. . स्य प्रवर्द्धमानविजयराज्यसंव्वत्सर[3]शतेऽष्टाचत्वारिङ्शदुत्तरे माघमासदिवसे एक-विङ्शतिमे [॥*]

२ .... पुण्याभिवृद्ध्यर्थं वडभीङ्कारयित्वा[4] अनन्तस्वामिपादां[5] प्रतिष्ठाप्य गन्ध धूप-स्रग् .

३ . .. स्[फु]टप्रतिसंस्कारकरणार्थं भग [व]च्चित्र[कू]टस्वामिपादीयक्षेत्रे (?) तत्प्रावे-श्यमति

४ . ...ला दत्ता द्वादश [॥ *] यैन[6]च्छु [f] च्छन्द्य् [T] त्त[7] पचभि. महापातकै-र्[यु]क्त स्यादिति [॥*]

अनुवाद

के प्रवर्द्धमान शासनकाल[8] में .... वर्ष एक सौ अड़तालीस मे, माघ मास के इक्कीसवें दिन,

प० २— . के पुण्य की वृद्धि के उद्देश्य से चपटी छत[9] (वाला एक मंदिर) बनवा कर

---

१ यहां उल्लिखित चित्रकूट मानचित्रों इ० का 'Chatarkot,' 'Chitarkot, तथा 'Chitrakote Hill' है तथा नार्थ वेस्ट प्राविंसेज में बान्दा जिले में बान्दा से बयालीस मील दक्षिण-पूर्व में एव इलाहाबाद से इकहत्तर मील दक्षिण-पश्चिम मे स्थित है; अक्षांश २५°१२' उत्तर, देशान्तर ८०°४७' पूर्व। यह एक महान् तीर्थस्थल है तथा रामावतार रूप में विष्णु का पवित्र स्थान माना जाता है।

२ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

३ पढ़ें, सव्वे सव्वत्सर. इ०, ऊपर पृ० ४८, टिप्पणी ५।

४ पढ़ें, वडभिं कारयित्वा, अथवा वडभिङ्कारयित्वा।

५ पढ़ें, पादान् अथवा पादौ।

६ पढ़ें, यो एनं, अथवा यश्चैनं।

७ पढ़ें, स।

८ इ० ऊपर पृ० ४८ टिप्पणी ५।

९ वडभी (वलभी भी जो कि ऊपर लेख स० १८ की प० ३ मे आता है) का अर्थ 'छत का काष्ठनिर्मित ढांचा', 'चपटी छत', 'भवन का सबसे ऊपरी भाग अथवा कमरा,' 'सबसे ऊपरी मंदिर,'

(तथा) (भगवान्) अनन्तस्वामिन् के चरणो[1] की स्थापना करके, गन्ध, धूप, माला भगवान् चित्रकूटस्वामिन् के चरणो के प्रवेश द्वार के जो भी टूटा हुआ जीर्णोद्धार-कर्म उपस्थित हो उसके लिए बाहर दिया गया।

प० ४—जो भी व्यक्ति इस (दान के भोग) मे बाधा डालेगा, वह पाच महापातको (के अपराध) का भागी होगा।

'छज्जा,' 'प्रासाद के ऊपर बना अस्थायी निर्माण-काय,' 'तम्बू', किन्तु यहा कोई भवन अभिप्रेत जान पड़ता है, और इसका अर्थ 'चपटी छत वाला मदिर' प्रतीत होता है।

१ अर्थात् 'एक प्रतिमा की स्थापना करके', द्र० ऊपर पृ० १५१, टिप्पणी ६। पद शब्द के प्रयोग के स्थान पर पाद शब्द का प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि लेख मे चरण—चिन्हों—जिनकी पूजा पर्याप्त प्रचलित थी—का उल्लेख अभिप्रेत नहीं है। इसी प्रकार इस अवतरण के नीचे 'भगवान् चित्रकूट स्वामिन् के चरण' का अर्थ 'भगवान् चित्रकूटस्वामिन्' से है।

सं० ६७; प्रतिचित्र ४० क

तुसाम शिला लेख

यह लेख वर्ड द्वारा प्राप्त हुआ प्रतीत होता है, तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान सर्वप्रथम जनरल कनिंघम द्वारा १८७५ मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ५, पृ० १३८ इ० के माध्यम से हुआ, जहा कि उन्होंने एक शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० ४०, सं० ५) बाबू प्रताप चन्द्र घोष कृत लेख का अनुवाद प्रकाशित किया।

तुशाम[1] अथवा तुसाम पजाब मे हिसार जिले के भिवानी तहसील के प्रमुख नगर भिवानी[2] से लगभग चौदह मील उत्तर-पश्चिम मे स्थित एक गांव है। गाव के ठीक पश्चिम मे एक चढानयुक्त पहाडी है जो भूमि-स्तर से एकाएक प्रारभ होती है एव लगभग आठ सौ फीट की ऊचाई तक जाती है। तथा, वर्तमान लेख पहाडी के पूर्वी भाग मे लगभग आधी ऊचाई पर एक शिला-स्तर पर अकित है।

अभिलेख की सबसे नीचे की पक्ति से लगभग एक फुट नीचे बीच मे शिला पर एक चिन्ह बना हुआ है, अपने प्रकाशित शिलामुद्रण मे जनरल कनिंघम ने जिसका पूर्ण स्वरूप दिया है और जो या तो बौद्ध धर्मचक्र अथवा सूर्य का प्रतीक हो सकता है। किन्तु ऐसा कुछ भी नही है जो इसे सप्रति प्रकाशित लेख से सबधित करता हो यह सभव है कि इसका सबध इस शिला पर अकित विविधछोटेछोटे लेखो मे से किसी के साथ सबध रखता हो—उदाहरणार्थ, जितं भगवता भगवत्पाददेशे (='भगवान् द्वारा, भगवान् के चरणो[3] से सबद्ध (इस) प्रदेश मे, विजय सिद्धि की गई है) लेख जो, वर्तमान लेख के ठीक ऊपर, इसी काल के अपेक्षाकृत अनियमित अक्षरो मे उत्कीर्ण प्राप्त होता है[4]। लेखन लगभग४' २" चौडा तथा २½" ऊचा स्थान घेरता है, शिला के अनियमित स्वरूप के कारण पक्तिया असमान लबाई की हैं। उत्कीर्णन गहरा नही हुआ था और ऋतु-प्रभाव के कारण कुछ अक्षर मिट गए हैं,

---

१ मानचित्रो का 'Toosham' तथा 'Tosham'। इण्डियन एटलस, फलक स० ४६। अक्षाश २८°५१' उत्तर, देशान्तर ७६°०' पूर्व। नाम मे कभी कभी तालव्य श और कभी कभी दन्त्य स का प्रयोग होता है, किन्तु तालव्य श का प्रयोग अधिक होता है। जनरल कनिंघम ने इसे 'तुषान' लिखा है और उनके अनुसार यह तुषाराराम (='तुषार विहार') से व्युत्पन्न हुआ है। किन्तु नाम में मूर्धन्य ष नही मिलता, तथा प्रस्तावित शाब्दिक व्युत्पत्ति को, जो प्रमुखत. इस पूर्वमान्यता पर आधारित है कि लेख में विष्णु नामक एक तुषार शासक का उल्लेख है, स्वीकार नहीं किया जा सकता।

२ मानचित्रो का 'Bhewani' तथा Bhewanne'।

३ द्र०, ऊपर पृ० १५१, टिप्पणी ६।

४ द्र०, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ५, प्रति० ४०, स० १, किन्तु जो मूल का पर्याप्त शुद्ध प्रतिरूपण नहीं करता।

किन्तु मूल शिला स्तर पर मपूर्ण लेख पठनीय है। अक्षरो का अकार ३/४" से लकर ११/२" तक है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं किन्तु प० १ मे अकित अळि में इनमें दक्षिणी वर्णमाला के ळ अक्षर का अकन हुआ है जिसके विपय मे मैंने ऊपर पृ० ४ पर चर्चा की है। भाषा सस्कृत है और सपूर्ण लेख गद्य मे है। वर्णविन्यास के प्रसग मे केवल ये विगिष्टताए ध्यातव्य हैं १. प० ५ मे अकित उपाद्ध्याय मे अनुवर्ती य के माथ सयोग होने पर ध का द्वित्व, २ जैसा कि ऊपर कहा गया है, प० १ मे अकित अळि मे दक्षिणी वर्णमाला के ळ का अकन जिसका कारण समवत यह है कि सोमत्रात—जिसका कि यह लेख है—मध्य भारत अथवा दक्षिणी भारत का सात्वत था[1]।

लेख स्वय को किसी शासकके शासनकाल मे नही रखता और तिथिविहीन है, किन्तु, लिपिशास्त्रीय आधारो पर इसे चौथी शताब्दी के अन्त अथवा पाचवी शताब्दी के प्रारम्भ मे रख जा सकता है। यह वैष्णव लेख है, तथा इसका प्रयोजन सोमत्रात नामक आचार्य द्वारा भगवत् नामान्तर्गत भगवान् विष्णु के उपयोग के लिए दो तडागो तथा एक भवन के निर्माण का लेखन है।

जैसा कि प्रकाशित शिलामुद्रण मे दिखाई पडता है, जनरल कनिंघम के स्याही की छाप को वडा आकार देने पर लेख की प० २ मे प्रारभिक गुप्त महाराज घटोत्कच का नाम पढा गया, इसमे इस मान्यता को आधार प्राप्त हुआ कि उसी पक्ति मे विष्णु एक तुषार शामक था जिसने घटोत्कच को—जिसका तादात्म्य कण्व अथवा काण्वायन वश के तृतीय शासक नारायण[2] से किया जा सकता है—हराया। किन्तु जैसा कि सप्रति प्रकाशित मेरे शिलामुद्रण से स्पष्ट है, इसका कोई आधार नही है, जिन अक्षरो मे घटोत्कच का नाम पढा गया, वे वस्तुत दानवाङ्गना (='राक्षसो की स्त्रिया') पाठ देते हैं, तथा तुषार का अर्थ यहा केवल 'पाला' है।

मूलपाठ[3]

१ जितम[4]भीष्णमेव जाम्बवतीवदनारविन्दोर्ज्जिताळिना ।
२ दानवाङ्गनामुखाम्भोजलक्ष्मीतुषारेणविष्णुना । (॥)
३ अनेकपुरुषाभ्यागतार्य्यसात्वतयो[5]शाचार्य्य—
४ भगवद्भक्तयशस्त्रातप्रपौत्रस्याचार्य्यविष्णुत्रातपौत्रास्याचार्य्य—
५ वसुदत्तप्[ ]त्रस्य रावण्यामुत्पन्नस्य गोतमसगोत्रस्याचार्य्योपाद्ध्याय—
६ यशस्त्रात्[ान्] जस्याचार्य्यसोमत्रातस्येद भगवत्पादोपयो—
७ ज्य कुण्डमुपर्य्यावस्थ कु—
८ ण्ड चापर [॥*]

---

१ द्र०, नीचे पृ० ३४४, टिप्पणी २।

२ उदाहरणाथ, विष्णु पुराण ४ २४ मे उल्लिखित, एफ० ई० हाल द्वारा सपादित एच० एच० विलसन के अनुवाद का, पृ० १९२। इसी जिल्द के पृ० २०३ पर तुषार, तुखार अथवा तुष्खर [?] शासको का उल्लेख है।

३ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

४ इस म के ऊपर ओ की मात्रा के चिन्ह हैं किन्तु वे किसी प्रकार म से सवधित नहीं हैं, तथा, यह स्पष्ट नहीं है कि उनका अकन क्यो हुआ है क्योंकि वे समवत ओम् प्रतीक का प्रतिनिधित्व नहीं करते, तथा इनका अकन सवथा आवश्यक एवं अर्थविहीन है।

५ यह य सदिग्ध सा है, किन्तु यह कोई अन्य अक्षर नहीं हो सकता।

अनुवाद

जाम्ववती के मुखरूपी कमल के लिए शक्तिमान् भ्रमर के समान (तथा) दानवो की स्त्रियो के मुखरूपी कमल कोशोभा (के विनाश) के लिए तुषारस्वरूप (भगवान्) विष्णु द्वारा पुन-पुन विजय प्राप्त की गई है।

प० ३—भगवान् के चरणो[1] के उपभोग के लिए निर्मित यह तडाग (तथा) इसके ऊपर निर्मित भवन तथा दूसरा तडाग आचार्य सोमत्रात (की कृति है)—जो कि (पूर्ववर्ती पीढियो के) विविध मनुष्यो के उत्तराधिकारी, महापूजनीय सात्वत[2] तथा योग दर्शन के आचार्य, तथा भगवान् के परम भक्त यगस्त्रात के प्रपौत्र हैं, आचार्य विष्णुत्रात के पौत्र रावणी से उत्पन्न आचार्य वसुदत्त के पुत्र हैं, गोतम गोत्र के हैं, (तथा) आचार्य एव उपाध्याय यशस्त्रात के अनुज हैं।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० १५१, टिप्पणी ६।

२ मोनियर विलियम्स के सस्कृत शब्दकोश मे सात्वत को विष्णु अथवा कृष्ण का एक नाम बताया गया है, और साथ ही उन्हे मध्य भारत के एक जिले का निवासी कहा गया है जो जातिच्युत वैश्यो के वशज थे। यहा पर यह सभवत मध्य भारत अथवा दक्षिणी भारत से आए वैष्णवो अथवा भागवतो के किसी सप्रदाय-विशेष का नाम प्रतीत होता है।

सं० ६८, प्रतिचित्र ४० ख

देओरिया प्रस्तर-प्रतिमा-लेख

यह लेख जनरल कनिंघम द्वारा १८७१-७२ मे प्राप्त हुआ तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान उन्ही के द्वारा १८७३ मे आक्यॉलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० ३, पृ० ४८ इ० के माध्यम से हुआ जहा कि उन्होंने एक शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० १८ घ) लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया।

देओरिया अथवा देवरिया[1] नार्थ वेस्ट प्राविंसेज मे इलाहाबाद जिले के करछना तहसील मे अरइल परगना के प्रमुख नगर आरइल अथवा अरयल से लगभग आठ मील दक्षिण-पश्चिम मे यमुना नदी के दाहिने तट पर स्थित एक छोटा सा गाव है। यह लेख एक खडी बुद्ध-प्रतिमा की पीठिका पर अंकित है, प्रतिमा वस्त्रावृत्त है तथा इसके पैरो के पास-एक दाहिनी ओर तथा दो बाई ओर-पार्श्वानुचर-आकृतिया बनी हुई हैं। जिस समय मैंने इस प्रतिमा का परीक्षण किया उस समय यह इलाहाबाद के राजकीय सग्रहालय मे रखी हुई थी, किन्तु, मेरे विचार से, अब यह लखनऊ स्थित प्रान्तीय सग्रहालय मे है।

लेखन, जो की पीठिका का, लगभग १' १" चौडा तथा २¾" ऊचा, सपूर्ण सम्मुख भाग घेरता है, सपूर्णत अत्यधिक सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो का आकार ⁵⁄₁₆" से लेकर ⁵⁄₁₆" तक है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं। भाषा सस्कृत है तथा सपूर्ण लेख गद्य मे है। वर्ण विन्यास मे कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नही मिलती।

लेख स्वय को किसी शासक विशेष के शासनकाल मे नही रखता तथा तिथिविहीन है। किन्तु लिपिशास्त्रीय आधारो पर इसे लगभग पाचवी शताब्दी मे रखा जा सकता है। यह बौद्ध लेख है तथा इसका प्रयोजन बोधिवर्मन् नामक शाक्य भिक्षु द्वारा उस प्रतिमा के दान का लेखन है जिसकी पीठिका पर इस लेख का अंकन हुआ है।

मूलपाठ[2]

१ देयधर्म्मोऽयं शाक्यभिक्षो [*] बोधिवर्म्मण [।*] यदत्र पुण्य[*]

---

१ मानचित्रो का 'Deoria' तथा 'Deorya'। इण्डियन एटलस, फलक स० ८८। अक्षाश २५°१६' उत्तर, देशान्तर ८१°५१' पूर्व। डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने इसे 'Devalia' लिखा है (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १६, पृ० ३५४)।

२ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

२ तद्[1]भव[त्*] मातापित्रो[*] सर्व्वसत्[त्*]वाना चानुत्[त*]रज्ञानावाप्तये [॥*]

अनुवाद

यह शाक्य भिक्षु बोधिवर्मन् का समुचित धार्मिक दान है। इस (कर्म) में जो भी पुण्य निहित है, वह (उसके) माता-पिता तथा सभी प्राणियो द्वारा परम-ज्ञान के लाभ के लिए हो।

---

१ यह द् पहले छूट गया था और बाद में पंक्ति के ऊपर जोड़ा गया है।

स० ६६; प्रतिचित्र ४० ग

कसिया प्रस्तर-प्रतिमा-लेख

यह लेख, १८७५-७६ अथवा १८७६-७७ मे, श्री ए० सी० एल० कार्लेयल द्वारा पाया गया तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान सर्वप्रथम उन्ही के द्वारा १८८३ मे आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १८, पृ० ५६ के माध्यम से हुआ जहा कि उन्होने लेख का अपना पाठ तथा इसकी प्रस्तावित व्याख्या को प्रकाशित किया, इसके साथ ही (वही, पृ० ६०, टिप्पणी १) लेख का मेरा अपना पाठ (जो प्रकाशित रूप मे पर्याप्त कटा-पिटा था) तथा उस समय इसका जो अनुवाद मुझे ठीक जचा था वह भी दिया गया था।

कसिया [1] अथवा कसया, नार्थ वेस्ट प्राविंसेज मे गोरखपुर जिले के पडरौना [2] तहसील मे, गोरखपुर से ठीक पूर्व मे चौंतीस मील की दूरी पर स्थित एक गाव है। यह लेख निर्वाण प्राप्ति के कर्म मे लेटी हुई विशाल बुद्ध-प्रतिमा की पीठिका के पश्चिमी पार्श्व मे निचले भाग पर बैठी मानव आकृति के नीचे अ कित है, यह प्रतिमा श्री कार्लेयल द्वारा इस गाव के ध्वशावशेषो मे एक बडे टीले के उत्खनन कर्म के समय पाई गई थी।

प० २ मे मूर्तिकार के केवल अ शत पठनीय नाम को छोड कर, लगभग १' ३३/४" चौडा तथा २३/४" ऊचा स्थान घेरने वाला लेखन अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ५/१६" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के है। भाषा सस्कृत है तथा सपूर्ण लेख गद्य मे है। वर्ण-विन्यास मे कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नही मिलती।

लेख स्वय को किसी शासक के शासनकाल मे नही रखता तथा तिथिविहीन है। किन्तु, लिपिशास्त्रीय आधारो पर इसे पाचवी शताब्दी मे रखा जा सकता है। यह बौद्ध लेख है तथा इसका प्रयोजन हरिबल नामक महाविहारस्वामिन् [3] द्वारा उस प्रतिमा के दान का लेखन है जिसके नीचे लेख का अ कन किया गया है।

---

१ मानचित्रों ६० का 'Kasia', 'Kassia', 'Kasya', 'Kesia' तथा 'Kusya'। इण्डियन एटलस, फलक स० १०२। अक्षांश २६°४५' उत्तर, देशान्तर ८३°५८' पूर्व।

२ मानचित्रों ६० का 'Paraona', 'Parauna' तथा 'Pudrownan'।

३ महाविहारस्वामिन्, शब्दश 'विहार का महान् स्वामी (अधीक्षक)', स्पष्टतः एक पारिभाषिक धार्मिक उपाधि है जिसका विहार की व्यवस्था मे विहारस्वामिन् (='विहार का स्वामी (अधीक्षक)' नामक अधिकारियो के ठीक ऊपर स्थित अधिकारी के लिए प्रयोग होता था। विहारस्वामिन् उपाधि का उल्लेख नीचे साची स्तम्भ-लेख स० ७३ (प्रति० ४२क) मे हुआ है।

मूलपाठ[1]

१ देयधर्म्मोऽय महाविहारस्वामिनो हरिवलस्य ।

२ प्रतिमा चेय घटिता दिने . मा(?)श्वरेण । (।।)

अनुवाद

यह महाविहारस्वामिन् हरिवल का समुचित धार्मिक-दान है । तथा इस प्रतिमा का तक्षण-कर्म दिने माश्वर (?) द्वारा संपन्न हुआ ।

---

१ श्री कार्लेयल की स्याही की छाप से; शिलामुद्रण भी ।

क-तुसाम शिलालेख
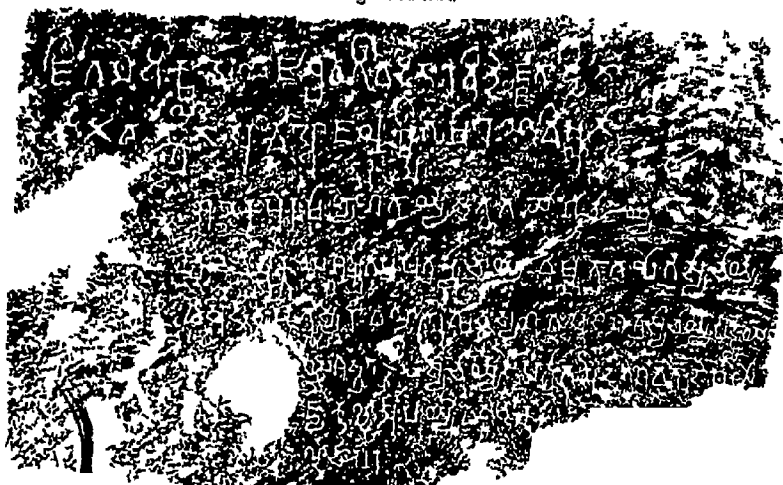
मान १५

ख-देवरिया प्रतिमा-लेख
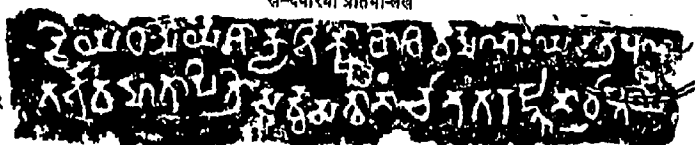
मान ५०

ग-कसिया प्रतिमा-लेख

मान ५०

घ मथुरा प्रतिमा-लेख—वर्ष २३०
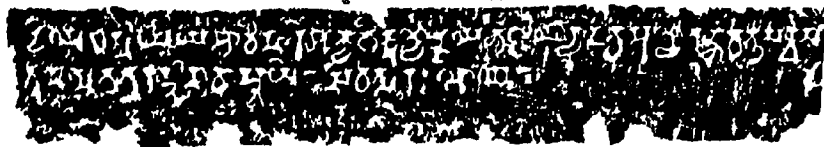
मान ५०

स० ७०, प्रतिचित्र ४० घ

मथुरा प्रस्तर-प्रतिमा-लेख
वर्ष २३०

यह लेख जनरल कनिंघम द्वारा पाया गया था तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान सर्वप्रथम १८७१ में जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, N S जि० ५, पृ० १८५ के माध्यम से हुआ जहा कि प्रो० जे० डाउसन ने जनरल कनिंघम की स्याही की छाप के आधार पर तैयार किए गए एक शिला-मुद्रण के साथ (वही, प्रति ६ २०, स० ६) लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया। कुछ सशोधनो के साथ लेख का यह अनुवाद, १८७३ मे, आर्क्यालाजिकलसर्वे आफ इण्डिया, जि० ३, पृ० ३७ मे पुन प्रकाशित हुआ जिसके साथ एक नया शिलामुद्रण (वही,प्रति० १६, प० २३) दिया गया।

यह नार्थ वेस्ट प्राविंसेज मे मथुरा जिले के प्रमुख नगर मथुरा[1] से प्राप्त एक अन्य लेख है, यह एक खडी बुद्ध-प्रतिमा की पीठिका पर अकित है, प्रतिमा वस्त्रावृत्त है तथा इसके शिर एव कधो के पीछे एक आभामण्डल बना हुआ है। प्रतिमा कटरा[2] टीले से प्राप्त हुई थी। जिस समय मैंने इसका परीक्षण किया, यह इलाहाबाद के राजकीय सग्रहालय मे रखी हुई थी, किन्तु, मेरे विचार से, अब यह लखनऊ स्थित प्रातीय सग्रहालय मे है।

लेखन जो पीठिका के सम्मुखीन पक्ष के ऊपरी भाग पर लगभग १' ४½" चौडा तथा २" ऊचा स्थान घेरता है, पर्याप्त सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ⅜" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं। इनमे, प० २ मे, ३० तथा २०० के अक भी सम्मिलित हैं। यह उल्लेखनीय है कि प० १ अकित भट्टायार्यद् मे आए र्य मे र पक्ति के ऊपर लिखा गया है तथा नीचे केवल एक य अकित है। धर्मो तथा र्जय मे र के लेखन की यही विधि अपनाई गई है, किन्तु उसी पक्ति मे अकित सर्व्व मे इसे भिन्न प्रकार से लिखा गया है। भाषा सस्कृत है तथा सपूर्ण लेख गद्य मे है। वर्णविन्यास में कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नहीं मिलती।

लेख स्वयं को किसी शासकविशेष के शासनकाल में नहीं रखता। किन्तु इस पर अको मे, बिना किसी अतिरिक्त विवरण के, वर्ष दो सौ तीस (ईसवी सन् ५४६–५०) अकित है। यह बौद्ध लेख है और इसका प्रयोजन जयभट्टा नामक शाक्य भिक्षुणी द्वारा यशोविहार नामक विहार के लिए उस प्रतिमा के दान का लेखन है जिस पर कि यह लेख अकित है।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ३२, तथा टिप्पणी १।

२ द्र०, ऊपर पृ० ३२, टिप्पणी २।

मूलपाठ[1]

१ देयधर्मोऽय यशा(शो) विहारे शाक्यभिक्षुण्यर्जयभट्टायार्यद[2]त्र पुण्य तद्भवतु सर्व्वस—

२ त्वम[3]नुत्तरज्ञानावाप्तये। (॥) सवत्सर २०० ३०। (॥)

अनुवाद

यशोविहार (नामक विहार) मे शाक्य भिक्षुणी जयभट्टा का यह समुचित धार्मिक दान है। इस (कर्म) मे जो कुछ भी पुण्य निहित है, वह सभी प्राणियो द्वारा परम ज्ञान के लाभ के लिए हो। वर्ष २०० (तथा) ३०।

---

१ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

२ पढ़ें, भिक्षुण्या जयभट्टाया ॥ यद्।

३ पढ़ें, सत्त्वानाम्।

स० ७१, प्रतिचित्र ४१ क

महानामन् का बोधगया लेख

वर्ष २६९

इस लेख का प्रथम प्रकाशन मेरे द्वारा ही कुछ समय पूर्व इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ३५६ इ० मे हुआ था, यह एक प्रस्तर-पट्टिका पर अंकित है जो जनरल कनिंघम तथा श्री जे० डी० एम० वेग्लर (J D M Beglar) द्वारा बगाल प्रेसीडेन्सी मे गया जिले के प्रमुख नगर गया मे लगभग पाच मील सीधे दक्षिण मे स्थित प्रसिद्ध बौद्ध स्थान बोधगया[1] से उत्खनन-कर्म करते समय पायी गई थी। मूल प्रस्तर-खण्ड अब कलकत्ता स्थित इम्पीरियल म्यूजियम मे है।

इस प्रस्तर-पट्टिका को देख कर ऐसा लगता है कि मूलतः यह तीन इच गहरे कोटर मे बिठाई गई थी, तथा किनारो पर चूलें निकाल कर इसे किसी भवन मे बिठा दिया गया था। सम्मुखीन स्तर लगभग १' ७½" चौडा तथा १' ६" ऊचा है। लेख के नीचे, प्रस्तर-पट्टिका की दाहिनी ओर, एक छोटे से वृक्ष अथवा झाडी की ओर मुख किए हुए तथा उसे खाते हुए एक गाय तथा बछडे की रेखाकृति बनी हुई है, गाय के कानो के ऊपरी भाग शिलामुद्रण मे, प० १४ के प्रारभ के नीचे, देखे जा सकते हैं। लेखन, जो प्रस्तर-खण्ड के ऊपरी भाग पर है तथा लगभग १' ७½" चौडा तथा १' ऊचा स्थान घेरता है—जिसमे कि एक इच का हाशिया भी सम्मिलित है—आद्यन्त अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो क औसत आकार लगभग ¼" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं। पूरे लेख में य का स्वरूप आदित्यसेन के अफसड लेख (ऊपर स० ४२) में सर्वत्र इस अक्षर के विकसित देवनागरी स्वरूप का प्रचीनतर प्रकार है। प० ७में अंकित यतिर्यत मे आए सयुक्ताक्षर र्य मे यह उल्लेखनीय है कि र पक्ति पर ही अंकित है और उसके नीचे केवल एक य का अकन हुआ है। इन अक्षरों मे, अंकित पक्ति में ७, ९, ६० तथा २०० के अक भी सम्मिलित हैं। भाषा सस्कृत है तथा प्रारम्भ के ओम् के लिए प्रयुक्त प्रतीक तथा अन्त मे उल्लिखित तिथि को छोड कर, सपूर्ण लेख पद्य मे है। वर्णविन्यास के प्रसग में उल्लेखनीय विशिष्टताए हैं १ अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर कभी कभी क तथा त का द्वित्व—उदाहरणार्थ, प० १३ में अंकित चक्क्रंस्, प० २ मे अंकित तन्त्य, प० १८ मे अंकित चैत्त्र मे तथा, २ सपूर्ण लेख मे ब के लिए व का प्रयोग—उदाहरणार्थ, प०२ तथा ८ मे अंकित वन्धु मे, प० ६ मे अंकित वभूव मे तथा प० १० तथा १२ में अंकित वोधि मे।

लेख स्वय को किसी शासक विशेष के शासनकाल मे नही रखता। यह अको मे[2] तिथियुक्त है जो वर्ष दो सौ उनहत्तर (ईसवी सन् ५८८-८९), तथा चैत्र मास (मार्च-अप्रेल) के

---

[1] मानचित्रो इ० का 'Bodh-Gya' तथा 'Buddh-Gaya'। इण्डियन एटलस, फलक स० १०४। अक्षांश २४°४१' उत्तर, देशान्तर ८५°२' पूर्व।

[2] जहा तक वर्षो के प्रसग मे अंकित तीसरे अक ९ का प्रश्न है, यह अक महाराज हस्तिन् तथा महाराज शर्वनाथ के भुमरा स्तम्भ लेख (ऊपर, स० २४) की प० ९ मे, दिना के प्रसग में, दूसरा अक है, जिसके

शुक्ल पक्ष का सातवा सौर दिवस है । यह बौद्ध लेख है तथा इसका प्रयोजन महानामन् नामक किसी व्यक्ति द्वारा—इस नाम का दूसरा व्यक्ति भी इस लेख मे उल्लिखित है—बोधिमण्ड मे अथवा इसकी सीमा के अन्दर अर्थात् आधुनिक बोधगया मे एक बुद्ध-भवन अथवा एक बौद्ध मन्दिर अथवा विहार के निर्माण का लेखन है ।

जहा तक इस लेख मे उद्धृत स्थानो का प्रश्न है, लका निश्चिततया सीलोन का सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है । तथा, जनरल कनिघम ने मुझे बताया है कि आम्रद्वीप भी इसी का एक अन्य नाम है जो कि इसे इस कारण प्राप्त हुआ क्योकि यह आम्र फल के आकार से मिलता है । **बोधिमण्ड** बोध गया मे बोधि वृक्ष के नीचे स्थित उस चमत्कारी आसन का नाम है जिसे वज्रासन भी कहा जाता है तथा जिस पर बैठ कर बुद्ध तथा उनके पूर्ववर्ती बुद्धो ने बोधि अथवा परम ज्ञान को पाया था[1] । तथा अपने पालि शब्दकोश मे चाइल्डर्स ने आगे यह जोडा कि उनका यह अनुमान है कि—सभवत बुद्ध

विषय मे मैंने यह कहा है (पृ० १३५, टिप्पणी २) कि यद्यपि यह अक ६ के लम्बरूप तथा सीधे प्रकार से बहुत कुछ मिलता है तथापि यह सभवत ७ अथवा ८ का अक है । उस समय मैंने यह भी विचार किया कि यही अक महाराज सक्षोभ के खोह दानलेख (ऊपर स० २५) मे दिवस-गणना के प्रसग मे अकित हुआ है, तदनुसार इस लेख की प० २४ मे मैंने अकित सौर दिवस को २६ पढा । किन्तु श्री श० ब० दीक्षित गणना करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उस लेख की प० २ ह० मे उल्लिखित चैत्र मास के शुक्ल पक्ष का तेरहवा चान्द्र दिवस उस मास के सत्ताइसवें सौर दिवस पर पडा था । तदनुसार, उस लेख की प० २४ मे अकित अक को ९ न पढ़ कर ७ पढ़ना चाहिए । श्री दीक्षित द्वारा की गई गणना की सहायता से सपूर्ण विषय पर विस्तार से विचार करने पर मे यह सोचता हू कि इन तीनो अवतरणो मे हमे एक ही अक न प्राप्त हो कर दो भिन्न भिन्न अक प्राप्त हैं । एक तो माहानमन् के वर्तमान लेख मे वर्षों के प्रसग में अकित तिथि मे तीसरा अक है, तथा दूसरा मुमरा स्तम्भ लेख मे दिवस-गणना के प्रसग मे दूसरा अक है, और मुझे अपने मूल विचार मे—कि यह ६ अक का लम्बरूप तथा सीधा प्रकार है—परिवर्तन करने का कोई कारण नही दीख पडता । यह सत्य है कि मोरवी दानलेख की तिथि मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० २, पृ० २५८, तथा प्रति०, प० १९) सर्वथा इसी प्रकार का चिन्ह आता है, जहा शब्दो मे अकित उल्लेख के कारण हम इस चिन्ह को ८ मानने को बाध्य होते हैं, किन्तु वहा पर यह सख्यात्मक अक न हो कर दशमलव-आकृति है, तथा यह लेख देश के सुदूर भाग से प्राप्त होता है और अत हम वर्तमान लेख के प्रसग में वही व्याख्या मानने को बाध्य नही है। दूसरा चिन्ह सक्षोभ के दानलेख मे दिवस-गणना के प्रसग मे दूसरा है । तथा शिला-मुद्रण का परीक्षण करने पर (प्रति० १५ ख) यह प्रदर्शित होगा कि, इसके नीचे बने हल्के से चिन्ह के कारण—जिसे मैंने पहले अक का भाग न मान कर मोर्चे का चिन्ह माना था—यह चिन्ह उस चिन्ह से भिन्न है जिसे कि मैं ६ मानता हू । अब इसे अक का ही अश मानने पर यह चिन्ह महानामन्के वर्तमान लेख मे दिन के लिए अकित चिन्ह के सामान दिखई पडता है, और, अतएव, इसे ८ न मानाकर ७ पढ़ना चाहिए जैसा कि मैंने इस लेख के अपनी मूल चर्चा के प्रसग मे माना था । यही चिन्ह विष्णुगुप्त के नेपाल-अभिलेख की प० १९ तथा २१ मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ९, पृ० १७२, तथा प्रतिचित्र) भी आता है, और डा० भगवानलाल इन्द्रजी द्वारा इस चिन्ह के ८ पढ़े जाने के आधार पर ही मैंने वर्तमान लेख मे आए इस चिन्ह को मूलत ८ पढा था ।

१ द्र०, अन्य प्रमाणो मे, बील का बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, जि० २, पृ० ११६ ।

के आसन की नकल पर—यह शब्द किसी भी बौद्ध मन्दिर मे बोधि वृक्ष के नीचे बने हुए चबूतरे के लिए प्रयुक्त होता था। वर्तमान लेख मे यह शब्द बुद्ध-आसन की अपेक्षा इसी अर्थ का द्योतक जान पडता है।

इस लेख का प्रमुख महत्व इस सभावना मे निहित है कि इसमे उल्लिखित दूसरा महानामन् वही व्यक्ति है जिसने पालि महावस अथवा लका के इतिहास का प्राचीनतर भाग लिखा था। यदि यह तादात्म्य स्वीकार्य हो तो तिथियो के प्रश्न के प्रसग मे एक महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होता है। दूसरी ओर इसमे किसी प्रकार का सदेह नही हो सकता कि वर्तमान लेख की तिथि को गुप्त सवत् मे रखा जाना चाहिए जिसके अनुसार इसके लिए ईसवी सन् ५८८-८९ की तिथि प्राप्त होगी। दूसरी ओर, लका से प्राप्त लेखो के आधार पर श्री टर्नर इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि माहानामन् के भानजे धातु-सेन का शासनकाल ईसवी सन् ४५९ से लेकर ४७७ तक था[1], और इसी के शासनकाल मे महानामन् ने इस इतिहास का सकलन किया था। यदि ऊपर प्रस्तावित तादात्म्य को स्वीकार किया जाता है तब वर्तमान लेख मे अकित तिथि से यह प्रदर्शित होता है कि या तो सिंहली तिथिक्रमिक विवरण उतने विश्वसनीय नही हैं जितना उन्हे माना जाता है, अथवा यह कि उनकी गणना के लिए गलत प्रारम्भ-बिन्दु अपनाया गया है तथा अब उनमे सशोधन की आवश्यकता है।

मूलपाठ[2]

१ ओम् [।। ०] व्याप्तो[3] येनाप्रमेय सकलशशिरुचा सर्व्वत सत् [त् ०]वधातु क्षुण्ण पाषण्ड-योधास्सुगतिपथरुधस्तर्क्कशस्त्राभियुक्ता सम्पूर्ण्णो

२ धर्म्मकोश प्रकृतिरिपुहृ त माधितो लोकभूत्यै[4]। शास्तु शाक्यैकब(ब)न्धोर्ज्जयति चिरतर तद्यशस्सारतन्त्रम् ।।नैरोधीं[5] शुभभावना—

३ मनुसृत ससारसक्लेशजिन्मैत्रेयन्य करे विमुक्तिवशिता यस्याद्भुता व्याकृता। निर्व्वाणावसरे च येन चरणौ हष्टौ मुने

४ पावनौ।[6] पायाद्व स मुनीन्द्रशासनधर स्तुत्यो[7] महाकाश्यप ।। सयुक्तागमिनो विशुद्धरजस सत्-[त्०]वानुकम्पोद्यता शिष्या

५ यस्य सर्द्धिचेरमल लकाचलोपत्यकाम् तेभ्य शीलगुणान्विताश्च शतश. शिष्यप्रशिष्या क्रमाज्जातास्तुङ्ग नरेन्द्र—

---

१ द्र०, टर्नर का महावसो, पृ० रोमन २, रोमन ५४, रोमन ६२, २५४ इ०, तथा जर्नल आफ द बगाल एशियाटिक सोसायटी, जि० ७, पृ० ६२२।

२ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

३ छन्द, स्रग्धरा।

४ यह विराम-चिन्ह अनावश्यक है।

५ छन्द, शार्दूलविक्रीडित, तथा अगले श्लोक मे।

६ यह विराम-चिन्ह अनावश्यक है।

७ पहले मैने इसे स्तुत्यं पढ़ा था। इस सशोधन तथा प० ५ से अतुलां के स्थान पर अमलां सशोधन के लिए मैं डा० कीलहार्न का आभारी हू।

६ वशतिलक प्रोत्सृज्य राज्यश्रियम् ॥ ध्यानो[1]दयाहितहित शुभाशुभविवेककृद्विहतमोह सद्धर्म्मातुल-विभवो भवो व(ब)भूव

७ श्रमणस्तत ॥ राहुला[2]ख्याश्च तच्छिश्य उ[3]पसेनो यतिर्यत' महानामा क्रमादेवमुपसेनस्ततो पर ॥ वात्सल्य[4] शरणा—

८ गतस्य सतत दीनस्य वैशेषिक व्यापत्सायकसन्ततिक्षतघृतेरार्त्तस्य चापत्यक। क्रूरस्याहितकारिणः प्रवितत व(ब)न्धोर्यथा—

९ भावत एव सच्चरितोद्भवेन यशसा यस्याचित भूतल ॥ आम्रद्वीपा[5]धिवासी पृथुकुलजलधि-स्तस्य शिष्यो महीयान्

१० लङ्काद्वीपप्रसूत. परहितनिरत सन्महानामनामा । तेनोच्चैर्व्वो(ब्बो)धिमण्डे शशिकरधवलः सर्व्वतो मण्डपेन ।[6]

११ कान्त. प्रासाद एष स्मरव(ब)लजयिन कारितो लोकशास्तु ॥ व्यपगत[7]विषयस्नेहो हततिमिर-दश प्रदीपवदसङ्ग

१२ कुशलेनानेन जनो वो(बो)धिसुखमनुत्तर भजताम् ॥ दावद्ध्[8]वान्तापहारी प्रविततकिरण सर्व्वतो भाति भास्वान्यावत्पूर्ण्णोऽम्वु(म्बु)—

१३ राशि फणिफणकुटिलैरूर्म्मिचक्रैस्समन्तात् यावच्चेन्द्राधिवासो विविधमणिशिलाचारुशृङ्गः सुमेरु शोभाढ्यम्

१४ तावदेतद्भवनमुरुमुने शाश्वतत्वम्प्रयातु ॥ सम्वत् २०० ६० ९ चैत्र शु दि[9] ७ ॥

अनुवाद

ओम् ! चिरकाल से शाक्य-गण-प्रमुख शास्ता का वह यश-समन्वित धर्म जयी है, पूर्ण चन्द्र के समान प्रकाशमान जिसके द्वारा अस्तित्व का अप्रमेय मूल धातु सभी दिशाओ में व्याप्त हुआ है, जिसके द्वारा कल्याण-मार्ग मे बाधक भिन्न मतानुयायी रूपी योद्धा तर्क-शस्त्र से प्रहरित होकर चूर-चूर हो गए हैं, (तथा) जिसके द्वारा प्रकृति रूपी शत्रु द्वारा अपहृत सपूर्ण धर्मकोश, मानवमात्र के कल्याण के लिए फिर से स्थापित हुआ है !

प० २—वह महाकाश्यप, जो प्रशसा के पात्र हैं, आपकी रक्षा करें-वह, जिन्होने मुनि श्रेष्ठ (बुद्ध) के सिद्धान्तो का पालन किया, जिन्होने समाधिरूप शुभ भावना का अनुसरण किया;

---

१ छन्द आर्या ।

२ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ) ।

३ इस उ के ऊपर अ ज्ञात ए की मात्रा उत्कीर्ण है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उत्कीर्णक ने से का लेखन इसी स्थान पर प्रारम्भ कर दिया था ।

४ छन्द, शार्दूलविक्रीडित ।

५ छन्द, स्रग्धरा ।

६ यह विराम-चिन्ह अनावश्यक है ।

७ छन्द, आर्या ।

८ छन्द, स्रग्धरा ।

९ दिन के लिए प्रयुक्त अ क की व्याख्या के लिए, द्र०, ऊपर पृ० ३५१, टि० २ ।

क— महानामन् का बोधगया लेख—वर्ष २६९

२
४
६
८
१०
१२
१४

मान ५०¹

ख—महानामन् का बोधगया प्रतिमा—लेख

मान ५०

जिन्होंने आवागमन रूपी क्लेश पर विजय पा लिया, निर्वाण की स्थिति मे जिनकी वासनाओं के शमन-कर्म की अद्भुतता का मैत्रेय के हाथ में प्रदर्शन (होना है)[1], तथा जिनके द्वारा, निर्वाण प्राप्त करने के अवसर पर मुनि (बुद्ध) के शुद्ध चरण-द्वय देखे गए[2]।

प० ८—धर्म की अनवरत परम्परा से युक्त, (अपने) मलो मे युक्त (तथा) प्राणियो के प्रति करुणा मे कर्मशील उनके शिष्यों ने एक समय लका पर्वत के चरणों में स्थित इस निर्मल देश मे विचरण किया, और उनसे, क्रम से, सैकडो की सख्या मे (सुन्दर) चरित्र-गुण से समन्वित शिष्यो और फिर उनके शिष्यो की परम्परा उत्पन्न हुई जो (वास्तविक) राजप्रभुता के यश के बिना महान् राज-वश के आभूषणस्वरूप थे।

प० ६—तब भव नामक श्रमण हुए जिन्हे ध्यान के उदय से कल्याण की उपलब्धि हुई, जिन्हें शुभ और अशुभ मे विवेक था, जिन्होंने मिथ्या ज्ञान का विनाश किया, (तथा) जिन्हे सद्धर्म का अतुलनीय धन प्राप्त था।

प० ७—तथा उनके शिष्य वह (थे) जिनका कि नाम राहुल था, जिनके पश्चात् भिक्षु उपसेन (प्रथम) (आए), फिर क्रम मे महानामन् (प्रथम) (हुए), (तथा) उनके पश्चात् अन्य उपसेन (द्वितीय) हुए, विपत्ति के अनवरत शरो मे नष्ट हुए भाग्य के कारण दुखी तथा शरण मे आए हुए प्रत्येक दु खी जन के प्रति जिनका विशेष स्नेह–ऐसा स्नेह जैसा कि मनुष्य का अपनी सतान के प्रति होता है–, बन्धु भाव के अनुरूप, उस क्रूर व्यक्ति के लिए (भी) होता था जो (उन्हे) हानि भी पहुँचाना चाहता हो (तथा) सुन्दर कर्मों से उद्भूत जिनके यश से, इस प्रकार सारा विश्व व्याप्त था।

प० ६—(उनसे भी अधिक) बढ कर उनके शिष्य वह (हैं) जिनका उत्कृष्ट नाम महानामन् (द्वितीय) है, जो आम्रद्वीप के निवासी हैं, महान् कुल के सागरस्वरूप है, लका द्वीप मे उत्पन्न हुए हैं, तथा अन्य जनो के कल्याण में आनन्दित होते हैं,—उनके द्वारा स्मर (नामक देवता) की शक्ति को जीतने वाले[3] मानवजाति के शास्ता का यह प्रासाद—जो चन्द्र-किरणों के समान धवल आभा वाला है तथा जिसके चारों ओर मण्डप बने हुए हैं—ऊचे बोधिमण्डप पर बनाया गया है।

---

१ मैत्रेय एक बोधिसत्व हैं जो सम्प्रति तुषित नामक स्वर्ग मे निवास कर रहे हैं और जो अगले बुद्ध हैं। तथा वर्तमान अवतरण, जो कुछ अस्पष्ट सा है, की व्याख्या सभवत निर्वाण प्राप्ति के पूर्व भगवान् बुद्ध द्वारा महाकाश्यप के प्रति दिए गए इस आदेश द्वारा होती है जिसमें उन्होंने अपने काषाय वस्त्र को (और इसके साथ बौद्ध सिद्धान्तों को) मैत्रेय को बुद्धत्व प्राप्त कर लेने पर देने को कहा (द्र०, बील का *बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आफ़ द वेस्टर्न वर्ल्ड*, जि० २, पृ० १४२ इ०)।

२ महाकाश्यप ध्यान में बैठे हुए थे कि एकाएक तीव्र प्रकाश फूटा और उन्होंने पृथ्वी को विकम्पित होते हुए देखा। इस शकुन से किस अद्भुत घटना का निर्देश हो रहा है, यह जानने के लिए दिव्य चक्षु का उपयोग करने पर उन्होंने बुद्ध को निर्वाण प्राप्त करते हुए देखा (द्र०, वही, जि० २, पृ० १६१)।

३ सामान्यत, इससे वासनाओं का दमन निर्दिष्ट होता है, किन्तु, साथ ही यह विशेष रूप से 'मार' अथवा 'ध्वसक के रूप मे राग' का भी निर्देश करता है, जिसका कि बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आफ़ द वेस्टर्न वर्ल्ड जि० २, पृ० ६६ इ० में उल्लेख हुआ है।

प० ११—इस समुचित (कर्म) के द्वारा मानव मात्र सासारिक वस्तुओ के प्रति राग से मुक्त हो कर, (मानसिक) अन्धकार के विनाश की अवस्था को प्राप्त कर, (तथा) (भौतिक पदार्थों के प्रति) किसी प्रकार का राग न रखते हुए दीपक (की ज्योति) के समान बोधि के परम सुख को प्राप्त करें।

प० १२—जब तक कि अन्धकार का निवारक सूर्य, अपनी दूर-दूर तक फैली हुई रश्मियो के साथ, सभी दिशाओ मे प्रकाशमान रहता है, जब तक कि फणधर-सर्पो के फणो रूपी वक्र तरग-मालाओ से चारो ओर से आवृत्त समुद्र (है); तथा जब तक कि इन्द्र (देवता) के निवास स्थान सुमेरु (पर्वत) की चोटिया विविध रत्न-पट्टियो से इस प्रकार सुन्दर लगती हैं कि मानो शोभा से समन्वित हो-तब तक महामुनि का यह मन्दिर स्थायित्व की स्थिति प्राप्त करे।

प० १४—वर्ष २०० (तथा) ६० (तथा) ९, (मास) चैत्र, शुक्ल पक्ष, दिवास ७।[1]

---

१ दिवस के लिये प्रयुक्त अक के प्रश्न पर चर्चा के लिए, द्र०, ऊपर पृ० ३५१ टिप्पणी २।

स० ७२, प्रतिचित्र ४१ ख

महानामन् का बोधगया—प्रतिमा—लेख

यह लेख भी मेरे द्वारा कुछ समय पूर्व ही प्रथम बार इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १५, पृ० ३५६ मे प्रकाशित हुआ था, यह एक बौद्ध प्रतिमा की पीठिका पर अकित है जो जनरल कनिंघम तथा श्री बेग्लर द्वारा बगाल प्रेसीडेन्सी मे गया जिले मे स्थित बोधगया[1] नामक स्थान पर उत्खनन कर्म करते समय प्राप्त हुई थी।

लेखन, जो लगभग १' ८¾" चौडा तथा १½" ऊचा स्थान घेरता है, लगभग पूर्ण सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ⅜" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं तथा महानामन् के पूर्ववर्ती लेख के अक्षरो के प्रकार के हैं। भाषा सस्कृत है तथा लेख गद्य मे है। वर्ण-विन्यास मे कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नही मिलती।

लेख स्वय को किसी शासक विशेष के शासन काल मे नही रखता, तथा तिथिविहीन है, किन्तु इसमे अकित अक्षरो द्वारा इसका भी समय ईसवी सन् ५८८-८९ के महानामन् के पूर्ववर्ती लेख का समय निश्चित होता है। यह बौद्ध लेख है। तथा इसका प्रयोजन महानामन् नामक एक स्थविर द्वारा—जो स्पष्टत पूर्ववर्ती लेख मे चर्चित दूसरा महानामन् है—एक प्रतिमा की स्थापना है जिसकी पीठिका पर यह लेख अकित है।

जैसा कि जनरल कनिंघम ने मुझे सुझाया है, इस लेख से यह जान पडता है कि जिस समय महानामन् ने बोधगया का दर्शन किया, उनकी आयु उस समय कम से कम तीस वर्ष थी, बौद्ध नियमो के अनुसार उन्हें पचीस वर्ष की आयु के पूर्व उपसम्पदा नही प्राप्त हो सकती थी, तथा उसके पश्चात् स्थविर अथवा थेर की उपाधि पाने के लिए उन्हे कम से कम दस अथवा बारह वर्षों तक प्रतीक्षा करनी थी। एक अन्य तथ्य यह ध्यान मे रखना है कि महानामन् की बोध-गया की यात्रा लका मे धातुसेन के सिंहासनारूढ होने के पूर्व हुई—जब कि अधिकारहरण-कर्ता पाण्डु के उत्पीडन से बचने के लिए मामा तथा भानजा लड रहे थे, श्री टर्नर की गणनाओ के अनुसार यह स्थिति ईसवी सन् ४३४ तथा ४३९ के बीच मे थी।

मूलपाठ[1]

१ ओम् देयधर्म्मोऽयं शाक्यभिक्षोः आम्रद्वीपवास्थिविरमहानामस्य[2] [॥॰] यदत्र पुण्य तद्भवतु

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ३५१, तथा टिप्पणी १।

२ श्री जे० डी० एम० बेग्लर के स्याही की छाप अकन से; शिलामुद्रण भी।

३ पढें, महानाम्न ।

सर्व्वसत् [त्वः] वानामनुत्तरज्ञानावाप्तयेऽस्तु[1] [॥*]

अनुवाद

ओम् ! यह आम्रद्वीप के निवासी शाक्य-भिक्षु, स्थविर महानाम्न का समुचित धार्मिक दा[न] है। इस (कार्य) मे जो कुछ भी पुण्य (निहित है) वह सभी प्राणियो द्वारा परम ज्ञान के लाभ [के] लिए हो।

---

१ चूकि पहले ही भवतु अकित है, अतः यह स्तु (अस्तु) अनावश्यक है। समानत. अनावश्यक अस्तु बोध गया प्रतिमा लेख—नीचे स[०] ७६ की प० २ मे आता है।

स० ७३ प्रतिचित्र ४२ क

सांची प्रस्तर-स्तम्भ-लेख

यह लेख जनरल कनिंघम द्वारा प्राप्त हुआ था तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान उन्हीं के द्वारा, १८४४ मे, उनकी पुस्तक भिलसा टोप्स, पृ० १८६ के माध्यम से हुआ जिसमें शिलामुद्रण के साथ (वही, प्रति० २१, स० १६६) उन्होंने लेख का अपना पाठ प्रकाशित किया।

यह सेन्ट्रल इण्डिया मे भोपाल राज्य के दीवानगज तहसील मे स्थित साची[1] से प्राप्त एक अन्य लेख है। यह महा स्तूप के पूर्वी तोरणद्वार से कुछ गज उत्तर-पूर्व मे स्थित एक, टूटे हुए, छोटे तथा एकाश्मक, गोलाकार स्तम्भशेष के उत्तरी पार्श्व पर अंकित है।

लेखन लगभग १०" चौडा तथा २¾" ऊचा स्थान घेरता है। प्रथम तीन अक्षरो को छोड कर, जो कि बहुत अधिक क्षतिग्रस्त हैं, लेख का प्राप्ताश अत्यन्त सुरक्षित अवस्था में है। किन्तु यह एक बडे लेख का अशमात्र है, इसका उपसहारात्मक भाग टूट गया है तथा अप्राप्त है। अक्षरो का आकार लगभग ½" है। अक्षर दक्षिणी प्रकार की वर्णमाला के हैं। भाषा सस्कृत है, तथा लेख गद्य में है। वर्णविन्यास के प्रसग मे, लेख मे अकित पुत्त्र मे, अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर त का द्वित्व उल्लेखनीय है।

लेख स्वय को किसी शासक विशेष के शासनकाल मे नही रखता तथा तिथिविहीन है। किन्तु, लिपिशास्त्रीय आधारो पर इसे स्थूलत पाचवी शताब्दी ईसवी मे रखा जा सकता है। यह स्पष्टत एक बौद्ध लेख का अश है, तथा, इसका प्रयोजन एक विहारस्वामिन्[2] द्वारा—जो गोशूरसिंहबल का पुत्र बताया गया है, किन्तु, जिसका अपना नाम अशत टूट चुका है तथा जिसके केवल प्रथम दो अक्षर, रुद्र, प्राप्त हैं—द्वारा इस स्तम्भ के दान का लेखन है, जिस पर कि यह लेख उत्कीर्ण है।

मूलपाठ[3]

१ अ (?) क विहारस्वामिगोशूरसिंहबलपुत्त्ररुद्र ...

अनुवाद

गोशूरसिंह बल के पुत्र .. विहारस्वामिन् रुद्र

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ३६, तथा टिप्पणी २।

२ विहारस्वामिन्, शब्दश "विहार का स्वामी", एक पारिभाषिक धार्मिक उपाधि है, जिसका प्रयोग महा-विहारस्वामिन् के बाद आने वाले पदाधिकारियों के लिए होता था, द्र०, ऊपर पृ० ३४७, टिप्पणी ३।

३ मूल स्तम्भ से।

सं० ७४; प्रतिचित्र ४२ ख

कलकत्ता सग्रहालय स्थित प्रस्तर-प्रतिमा-लेख

यह लेख, जिसका जनसामान्य को अभी ज्ञान नही है, कलकत्ता सग्रहालय स्थित एक बालुकाश्म—प्रतिमा की पीठिका पर अकित है। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलत यह बुद्ध-प्रतिमा थी, किन्तु एडियो से ऊपर का इसका सपूर्ण भाग टूटा हुआ है तथा अप्राप्त है। मुझे इसके प्राप्ति-स्थान की कोई जानकारी नही है।

लेखन, जो लगभग ९¾" चौडा तथा २½" ऊचा स्थान घेरता है, का जो अश प्राप्त है वह पर्याप्त सुरक्षित अवस्था मे हैं, किन्तु यह मूलत: एक बडे लेख का अशमात्र है, तृतीय पक्ति मे अकित इसका उपसहारात्मक भाग प्रस्तर-खण्ड को किसी निर्माण-कार्य के निमित उपयुक्त बनाने के लिए छाटने की प्रक्रिया मे कट गया है। अक्षरो का आकार ¼" से लेकर ⁵⁄₁₆" तक है। अक्षर उसी प्रकार की वर्णमाला के हैं। भाषा सस्कृत है और सपूर्ण लेख गद्य मे है। वर्णविन्यास के प्रसग मे, प० २ मे अकित अत्र तथा पित्रो मे अनुवर्ती र के साथ होने पर त का द्वित्व उल्लेखनीय है।

लेख स्वय को किसी शासक विशेष के शासनकाल मे नही रखता, तथा तिथिविहीन है, किन्तु लिपिशास्त्रीय आधारो पर इसे स्थूलत पाचवी शताब्दी ईसवी मे रखा जा सकता है। यह बौद्ध लेख है। तथा, इसका प्रयोजन धर्मदास नामक शाक्य-भिक्षु द्वारा उस प्रतिमा के दान का लेखन है जिसकी पीठिका पर यह अकित है।

मूलपाठ[1]

१ देयधर्मोऽय शाक्यभिक्षोर्धर्मदासस्य [।*] य—

२ दत्त्र पुण्य त[2]न्मातापित्त्रो [*] सर्वसत् [त्*] वाना चा—

३ [नुत्तर[3]ज्ञानावाप्तयेऽस्तु ।।]

अनुवाद

यह शाक्य-भिक्षु धर्मदास का उपयुक्त धार्मिक-दान (है)। इस (कार्य) मे जो कुछ भी पुण्य (निहित है), वह उसके माता तथा सभी प्राणियो द्वारा (परम ज्ञान की उपलब्धि के लिए हो)।

— —

---

१ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

२ यह न पहले नही उत्कीर्ण किया गया था, और बाद मे इसे इसके उपयुक्त स्थान के ऊपर जोड़ा गया।

३ यह अन्तिम पक्ति—स्पष्टत प्रस्तर-खण्ड को किसी निर्माण कार्य के उपयुक्त बनाने के लिए छाटते समय—पूर्णत: तया कट गई है तथा अप्राप्त है।

स० ७५. प्रतिचित्र ४२ ग

जनरल कनिंघम द्वारा प्राप्त इस लेख का ज्ञान जनसामान्य को उन्ही के द्वारा, १८७१ मे, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १, पृ० १२३, तथा प्रतिचित्र ३४, स० ८ के माध्यम से हुआ।

सारनाथ नार्थ वेस्ट प्राविसेज मे बनारस जिले के प्रमुख नगर बनारस से लगभग साढे तीन मील की दूरी पर स्थित बौद्ध ध्वशावशेषो के विशाल समूहन का आधुनिक नाम है। यह लेख बालुकाश्म निर्मित उकेरी मे प्रदर्शित बुद्ध के जीवन के तीन दृश्यो के नीचे अकित है, उकेरी इस स्थान पर उत्खनन-कर्म के समय पाई गई थी। मूल-प्रस्तर-खण्ड अब कलकत्ता स्थित इम्पीरियल म्यूजिम मे है।

सपूर्ण लेखन, जो लगभग १' १½" चौडा तथा २¾" ऊचा स्थान घेरता है, पर्याप्त सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ³⁄₁₆" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के विशिष्टरूपेण चौकोर स्वरूप के हैं। भाषा सस्कृत है तथा लेख गद्य मे है। वर्णविन्यास मे कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नही मिलती।

लेख स्वय को किसी शासक विशेष के शासनकाल मे नही रखता, तथा तिथिविहीन है। किन्तु लिपिशास्त्रीय आधारो पर इसे स्थूलत पाचवी शताब्दी ईसवी मे रखा जा सकता है। यह बौद्ध लेख है, तथा इसका प्रयोजन इस बात का लेखन है कि यह मूर्ति, जिसके नीचे लेख का उत्कीर्णन हुआ है, हरिगुप्त नामक भिक्षु के आदेश से बनाई गई थी।

मूलपाठ[1]

१ गुरु[2] पूर्व्वंगम कृत्वा।[3] मातर पितर तथा। कारिता

२ प्रतिमा शास्तु।[4] हरिगुप्तेन भिक्षुणा।

अनुवाद

इस कार्य मे निहित पुण्य का भोग (जिस क्रम मे अभीष्ट है उस क्रम मे) पहले (अपने) गुरु तथा (अपनी) माता तथा (अपने) पिता को रख कर, भिक्षु हरिगुप्त द्वारा शास्ता की यह प्रतिमा बनवाई गई।

---

१ मूल प्रस्तर–खण्ड से।

२ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ)।

३ तथा ४ दोनों ही प्रसंग में विराम चिन्ह अनावश्यक हैं।

सं० ७६, प्रतिचित्र ४२ घ

बोधगया प्रस्तर-प्रतिमा-लेख

जनसामान्य को अब तक अज्ञात यह लेख एक बौद्ध प्रस्तर-प्रतिमा की पीठिका पर अंकित है जो जनरल कनिंघम तथा श्री बेग्लर द्वारा बंगाल प्रेसीडेन्सी मे गया जिले में स्थित बोधगया[1] नामक स्थान पर उत्खनन-कर्म के समय पाई गई थी। मूल प्रतिमा अब कलकत्ता स्थित इम्पीरियल म्यूज़ियम मे है।

लेखन, जो पीठिका के ऊपरी भाग पर लगभग १' ११" चौडा तथा २" ऊंचा स्थान घेरता है, सपूर्णतः अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है। अक्षरो का औसत आकार लगभग ३/१६" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं, तथा लगभग सर्वथा उसी प्रकार के हैं जो महानामन् के बोधगया प्रतिमा लेख (ऊपर स० ७२, प्रति० ४१ ख) मे मिलता है। किन्तु महानामन् के वर्ष २६९ की तिथि से युक्त लेख (ऊपर स० ७१, प्रति० ४१ क) से तुलना करने पर हम इस लेख में यह भिन्नता पाते है कि यहा अनुवर्त्ती य के साथ सयोग होने पर र पंक्ति पर ही उत्कीर्ण हुआ है तथा य का द्वित्व हुआ है। भाषा सस्कृत है तथा लेख गद्य मे है। वर्णविन्यास के प्रसग मे एकमात्र ध्यातव्य विशिष्टता, प० १ में अंकित अत्त्र मे, अनुवर्ती र के साथ संयोग होने पर त का द्वित्व है।

लेख स्वय को किसी शासक विशेष के शासनकाल मे नही रखता, तथा तिथिविहीन है। किन्तु, लिपिशास्त्रीय आधारो पर इसे स्थूलत छठी शताब्दी मे रखा जा सकता है। यह बौद्ध लेख है, तथा इसका प्रयोजन तिष्याम्रतीर्थ नामक स्थान के निवासी धर्मगुप्त तथा दंष्ट्रसेन नामक दो शाक्य भिक्षुओ द्वारा उस प्रतिमा के दान का लेखन है जिसकी पीठिका पर इस लेख का उत्कीर्णन हुआ है।

मूलपाठ[2]

१ ओम् । देयधर्म्मोऽयं शाक्यभिक्ष्वोस्तिष्याम्रतीर्थवासिकधर्म्मगुप्तदंष्ट्रसेनयोर्य्यदत्र पुण्य [।] तद्भवतु मातापि [त्रो]राचार्य्योपाध्यायौ पूर्व्वङ्गम [।] कृत्वा

२ सर्व्वसत्वानाम[3]नुत्तरज्ञानावाप्तयेऽस्तु[4] ॥

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ३५१, तथा टिप्पणी १।

२ मूल प्रस्तर-खण्ड से।

३ पढें, सत्वानाम्।

४ यह स्तु (अस्तु) अनावश्यक है क्योंकि प० १ में पहले ही भवतु आ गया है, द्र०, ऊपर पृ० ३५८, टिप्पणी १।

क—साँची स्तम्भ-लेख

मान ५०

ख—कलकत्ता संग्रहालय स्थित प्रतिमा-लेख

मान ५०

ग—सारनाथ लेख

मान ५०

घ—बोधगया प्रतिमा-लेख
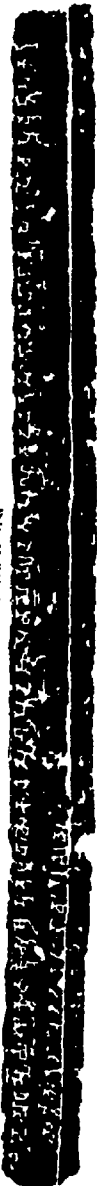
मान ४०

अनुवाद

ओम् ! यह तिष्याम्रतीर्थ निवासी धर्मगुप्त तथा दष्ट्रसेन नामक दो शाक्य भिक्षुओ द्वारा समुचित धार्मिक दान है। इस (कार्य) मे जो भी पुण्य (निहित) है, वह (उनके) माता-पिता तथा (उनके) आचार्य एव उपाध्याय के पश्चात् सभी प्राणियो द्वारा परम ज्ञान की उपलब्धि के लिए हो।

सं० ७७, प्रतिचित्र ४३ क

महाराज महेश्वरनाग का लाहौर ताम्र-मुहर-लेख

यह लेख, जनसामान्य को अब तक जिसका ज्ञान नही है, एक ताम्र-मुहर पर अंकित है जो जनरल कनिंघम को पजाब मे लाहौर जिले के प्रमुख नगर लाहौर[१] के एक देशी वनिए से प्राप्त हुई थी। इसके मूल प्राप्ति-स्थान की जानकारी नही है। मुझे परीक्षणार्थ यह जनरल कनिंघम से प्राप्त हुई थी।

मुहर एक वडी मुद्रिका के आकार की है जिसका स्वरूप इगलैंड मे पाई जाने वाली सामान्य अगूठी से मिलता है, तथा आज भी देशी राज्यो के मन्त्रियो के अगूठो पर ढीले रूप मे धारण की गई देखी जा सकती है। मुहर के चपटे स्तर से लेकर छल्ले के नीचे तक इसकी ऊचाई लगभग १ १/८" है। मुहर का चपटा स्तर लगभग १/१६" मोटा है, यह स्वरूप मे थोडा सा अण्डाकार है तथा माप मे १ ७/८"×१ ५/८" है। इसके ऊपरी भाग पर वाई ओर मुख कर बैठे हुए एक वैल की आकृति वनी हुई है। जिसके सामने अर्धचन्द्राकृति वनी हुई है, इसके नीचे एक सीधी रेखा है जो दोनो सिरो पर मुडी हुई है, इसके नीचे दो पक्तियो का लेख अकित है जिसका पाठ तथा अनुवाद नीचे दिया गया है, तथा सबसे नीचे एक वक्र रेखा है जो स्पष्टत नाग अथवा फणधर सर्प के लिए अभिप्रेत है। मूल मे लेख उलटा अकित है जिससे राजपत्रो पर इसकी छाप सीधी आवे; तथा, लेख का प्रयोग स्पष्टत इसी अथवा इसी प्रकार के किसी कार्य के लिए होता था। मैंने शिलामुद्रण मे इसका सीधा अकन दिया है। मुहर तथा छल्ले का सम्मिलित भार लगभग २१/२ औंस है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं। भाषा सस्कृत है तथा लेख गद्य मे है। वर्ण-विन्यास मे कोई उल्लेनीय विशिष्टता नही मिलती।

लेख केवल नागभट्ट के पुत्र महाराज महेश्वरनाग का उल्लेख करता है, जिसके लिए यह अनुमान किया जा सकता है कि वह सुविज्ञात नाग राजवश अथवा कुल से सबद्ध था। लिपिशास्त्रीय आधारो पर इसे स्थूलत चौथी शताब्दी मे रखा जा सकता है।

मूलपाठ[२]

१ महाराजनागभट्ट—

२ पुत्रमहेश्वरनाग

अनुवाद

नागभट्ट के पुत्र महाराज महेश्वरनाग।

---

१ मानचित्रो इ० का 'Lohare'। इण्डियन एटलस, फलक स० ३०। अक्षाश ३१°३४' उत्तर, देशान्तर ७४°२१' पूर्व।

१ मूल मुहर से।

स० ७८, प्रतिचित्र ४३ ख

महासामन्त शशाकदेव का रोहतासगढ प्रस्तर–मुहर का साचा

यह लेख, जो अब तक जनसामान्य के ज्ञान मे नही आया है, श्री बेगलर द्वारा, बंगाल प्रेसीडेन्सी मे शाहबाद (आरा) जिले के सहसराम तहसील के प्रमुख नगर सहसराम[1] से चौबीस मील दक्षिण-पूर्व मे स्थित, रोहतासगढ अथवा रोहितासगढ[2] के पहाडी-दुर्ग मे चट्टान काटते समय प्राप्त हुआ था।

ऊपरी भाग मे एक बैल का अपेक्षाकृत क्षतिग्रस्त अ कन है, जो दाहिनी ओर मुख करके बैठा हुआ है, तथा इसके नीचे, लगभग ३/१६" चौडी रेखा से अलग किया हुआ दो पक्तियो में लेख अ कित किया गया है जिसका मूलपाठ तथा अनुवाद नीचे दिया जा रहा है, यह सभी कुछ लगभग ८१/२" की परिधि वाले वृत्त के अन्दर है, जिसके साथ १/२" मे लेकर ३/४' तक की चौडाई का परिवेश है। मैंने यहा शिलामुद्रण मे सीधा अ कन दिया है। किन्तु शिला पर अ कित मूल उलटा है, तथा, वृषभ आकृति आवृत्त करने वाली गोल रेखा तथा बीच की आडी रेखा के साथ लेख एक दवे स्तर पर अ कित है, उकेरी में नहीं है। यह स्पष्ट है कि यह साचा है जिसमे ताम्रपत्राकित राजपत्रो के साथ सलग्न की जाने वाली उकेरी अ कन से युक्त ताम्र-मुहरो को ढाला जाता था। अक्षरो का औसत आकार लगभग १/१६" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं। भाषा सस्कृत है तथा लेख गद्य मे है। वर्ण-विन्यास में कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नही मिलती।

लेख मे केवल महासामन्त[3] शशाकदेव का नाम अ कित है। अक्षरो का जो काल है उसके आधार पर इस शशाकदेव का तादात्म्य पूर्वी भारत मे कर्णसुवर्ण (किए-लो न-सु फ-ल-न) के शासक शशाक (शे शेङ्ग किया) से करना उपयुक्त होगा–जो कि कनोज के राज्यवर्धन द्वितीय का समसामयिक तथा हत्यारा था तथा जिसका उल्लेख युवान–च्वाङ्ग ने बौद्धो के उत्पीडक के रूप मे किया है[4]। तथा,

---

१ मानचित्रो का 'Sahsaraun', 'Sahseram' तथा 'Sasseram'। इसे सस्कृत सहस्रग्राम=एक हजार गावों (का मण्डल)' का बिगडा रूप माना जाता है।

२ मानचित्रो इ० का 'Rhotasgurh' तथा 'Rohtasgarh'। इण्डियन एटलस, फलक स० १०४। अक्षाश २४°३७' उत्तर, देशान्तर ८३°५५' पूव।

३ महासामन्त, शब्दश 'एक जिले का महान प्रमुख', एक पारिभाषिक राजकीय उपाधि है जो, जैसा कि ऊपर देखा गया है (पृ० १८, टिप्पणी ३), महाराज के बराबर के पद का परिचायक प्रतीत होता है। महासामन्त के ठीक नीचे सामन्त होता था। अन्य लेखों मे इस दूसरी उपाधि का इसके पारिभाषिक अर्थ मे प्रचुर प्रयोग मिलता है। किन्तु, वर्तमान लेख शृ खला मे इसका प्रयोग केवल सामान्य रूप मे 'अधीनस्थ सामन्ता' के अर्थ मे मिलता है, उदाहरणार्थ, स० ३३ की प० ८ मे (द्र०, ऊपर पृ० १४८, टिप्पणी १),, तथा नीचे पृ० २८८, स० ८० की प० १ मे।

४ द्र०, बील की पुस्तक बुद्धिस्ट रेकर्ड स आफ द वेस्टर्न वल्ड, जि० १, पृ० २१० इ० तथा जि० २, पृ० ४२, ९१, ११८, १२१।

इस तादात्म्य को स्वीकार करने पर, लेख का समय सातवी शताब्दी के लगभग ठीक प्रारम्भ मे पड़ेगा।

मूलपाठ[1]

१ श्रीमहासामन्त—

२ शशाङ्कदेवस्य

अनुवाद

श्री महासामन्त शशाकदेव का।

---

१ श्री वेगलर की प्रतिलिपि से, शिलामुद्रण भी।

स० ७९, प्रतिचित्र ४३ ग

प्रकटादित्य का सारनाथ प्रस्तर-लेख

यह लेख, जो जनसामान्य को अभी तक ज्ञात नही है, एक प्रस्तर-खण्ड पर अ किन है जो जनरल कनिंघम को बनारस के निकट स्थित सारनाथ[1] से प्राप्त हुआ था। मेरे विचार मे इसे अब कलकत्ता स्थित इम्पीरियल म्यूजियम में भेज दिया गया है।

लेखन, जो प्रस्तर-खण्ड का लगभग २' ३" चौडा तथा १' ६" ऊचा सपूर्ण सम्मुख भाग घेरता है, बहुत अधिक क्षतिग्रस्त हुआ है-विशेष रूप से नीचे का भाग बहुत अधिक क्षतिग्रस्त है जहा कि प० १२ तथा प० १६ के प्रथमार्ध पूर्णतया अपठनीय है। तथा, कुछ बहुत अधिक क्षतिग्रस्त अवतरणो के प्रसग में मुझे डा० भगवानलाल इन्द्रजी से अत्यन्त सराहनीय सहायता प्राप्त हुई है जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। इतना क्षतिग्रस्त होने के अतिरिक्त, लेख अपेक्षाकृत बडे लेख का अशमात्र है। ऊपर तथा नीचे के भागो मे कुछ भी नष्ट नहीं हुआ है, किन्तु, किनारों पर मूल प्रस्तर-खण्ड के अश-स्पष्टत इसे किसी निर्माण-कार्य के उपयुक्त बनाने की प्रक्रिया मे-कट गए हैं, तथा, प० ३ म प्रारम्भ होकर प० ४ मे समाप्त होने वाला श्लोक यह प्रदर्शित करता है कि प० ३ मे अन्तिम पठनीय भाग से लेकर प० ४ मे प्रथम पठनीय भाग के बीच कम से कम अट्ठारह अक्षर नष्ट हो गए हैं, लेख की सामान्य लेखन-विधि यह प्रदर्शित करती प्रतीत होती है कि इस रूप मे नष्ट हुए अक्षरो के सपूर्ण अश पक्तियो के अन्त मे अ कित थे। इसके अतिरिक्त, शिलामुद्रण मे यह देखा जा सकता है कि किसी प्रयोजनवश प्रस्तर-खण्ड में नीचे की ओर लगभग आधी दूरी पर दो गोल छिद्र किए गए थे। अक्षरो का औसत आकार लगभग ½" है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं, तथा सिवाय इसके कि कुछ स्थलो पर कुटिल अक्षरो का प्रयोग द्रष्टव्य है-उदाहरणार्थ, प० ७ मे अ कित नितरा निष्कम्प मे-ये अक्षर लगभग ठीक ठीक उसी प्रकार के हैं जो आदित्यसेन के अफसडलेख (ऊपर स० ४२, प्रति० २८) मे मिलता है। भाषा सस्कृत है। अन्तिम पक्ति गद्यात्मक जान पडती है तथा शेष लेख पद्य में है, यद्यपि सभी दृष्टान्तो में छन्द-प्रकार नहीं पहचाना जा सकता। वर्णविन्यास में केवल ये उल्लेखनीय विशिष्टताए मिलती हैं १ प० १६ मे अ कित पुत्रेण में, एक बार, अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर त का द्वित्व, तथा २ ब के स्थान पर सर्दैव व का प्रयोग-उदाहरणार्थ, प० ३ में अ कित बालादित्य तथा लब्ध मे।

लेख प्रकटादित्य नामक शासक का है, जिसकी राजधानी काशी अर्थात् बनारस जान पडती है जिसका कि उल्लेख प्रथम पक्ति मे हुआ है। यह तिथिविहीन है किन्तु लिपिशास्त्रीय आधारो पर इसे स्थूलत लगभग सातवी शताब्दी ईसवी के अन्त मे रखा जा सकता है। यह वैष्णव लेख है, तथा इसका प्रयोजन 'मुरद्विप' नाम के अन्तर्गत भगवान् विष्णु के मन्दिर के निर्माण का तथा उसके जीर्णोद्धार-कार्य के लिए किसी सहायता का-जिसके विवरण नष्ट हो गए हैं-लेखन है।

---

१ द्र०, ऊपर पृ० ३६१।

इस लेख का प्रमुख महत्व इसमे बालादित्य नाम के दो शासको के उल्लेख मे निहित है। इनमे से एक प्रकटादित्य का पिता था। दूसरा इसी नाम का कोई पूर्वज था, तथा, चूकि स्वय उसे 'एक अन्य' बालादित्य कहा गया है, यह अनुमान उपस्थित होता है कि इससे भी पहले बालादित्य नाम का कोई अन्य पूर्वज भी था जिसका नाम प० २ तथा प० ३ के बीच मे आए तथा अब नष्ट हो गए अवतरणो मे उल्लिखित रहा होगा। तथा, अधिक सभव है कि प्रथम बालादित्य वही है जो मिहिरकुल के इतिहास के प्रसग मे सुविज्ञात है।

मूलपाठ[1]

१ .. दे (?)वो(?) ...... श्री-काशी[2]ति विख्यातं पुर-का(?)मे(?)न भूषित। . ...

२ ... [।।] [पु] रदर इ[व] पतत्यहो(?) ।। व् [ ] ङ्गत(?)रङ्ग (?) व .. शास्त्रविदो ... तटानाम्। करि।

३ रान्म[3]ध्य—द. शमानीत। तद्वशसम्भवोऽन्यो वा(बा)लादित्यो नृप प्रीत्या ।। तद्गोत्र-लव्ध (ब्ध)जन्मा वा(बा) लादित्यो

४ . पति ।। तस्य[4] धवलेति जाया पतिव्रता रोहिणीव चन्द्रस्य। गौरीव शूलपाणेल् (ल)क्ष्मीरिव वासु[देवस्य ।।]

५ [प्र] तापतप्तामित्रवधूसिन्धुशो[ष] . । .. तिविनया द्वयभृ(?)त भक्तिधर्म्मैकशक्ति-सततप्रथित

६ ... नु(?) सुतवत्सल . सुत शौर्य्यविनयसम्पन्न। श्रीमान्प्रकटादित्यो ....

७ . [द्वि] ज[5]वरनिकराश्रय प्रवृ(?)द्ध-(?)गुण। कल्पद्रुम इव नितरा निष्कम्प प्रकट-मूलोऽपि ।।

८ .[।] . द्विज[6]गणसेव्य स[तत] विद्वत्समुदयविहितरुचि ।। न्निरि [ज्ज्] त[दु] ज्जयशत्[त्रु]स्त्रि—

९ पू (?)र्व्वं कार्त्तिकेय इव ।। यस्य . व निर्गत लुब्ध(ब्ध)हृष्टभ्रमद्भ्रम [र] वि .

१० त[7]दिन पृथुपुष्करिण्य ।। ये (?)न(?)[8] रिपुसुन्दरीणाम् मलिनानि कृतानि [f]वपु-[ल] ...

११ ... नश(?)न(?)द्विजगुरु ..... ।। कारितमेतद्भवन मुरद्विषो र ....

१२ ... ... यामा(?)सु(?) युतायामिका प्रकट . . ..

१३ . . . बहुमतो धर्म्मयशोराशि . . ..

---

१ स्याही की छापसे।

२ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ)।

३ छन्द, आर्या, तथा, सभवत अगले श्लोक मे।

४ छन्द, आर्या।

५ छन्द, आर्या।

६ छन्द, आर्या, तथा सभवतः अगले श्लोक मे।

७ छन्द, प्रत्यक्ष वसन्ततिलक।

८ छन्द, सभवत आर्या।

क–महाराज महेश्वरनाग की लाहौर मुहर

२

पूर्ण आकार

ख–महासामन्त शशाङ्कदेव की रोहतासगढ स्थित मुहर योनि

२

मान ५०

ग–प्रकटादित्य का सारनाथ लेख
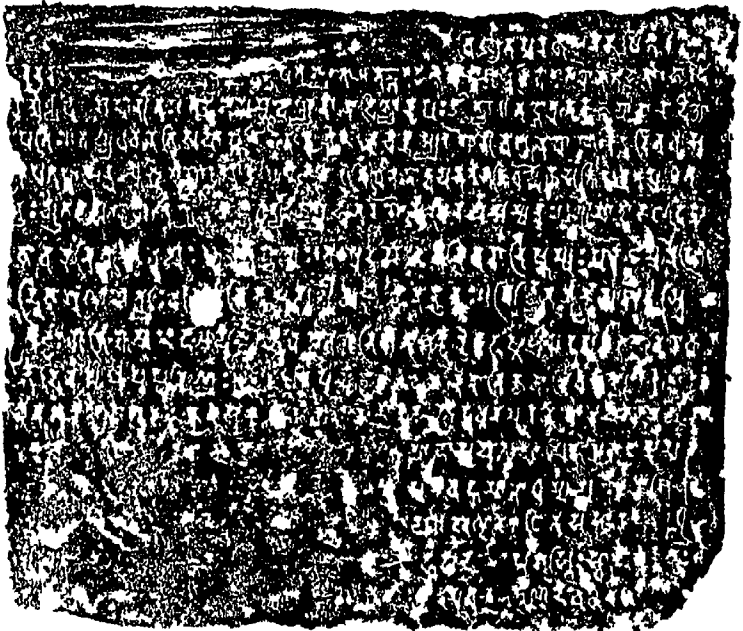
मान ३३"

१४ ...... य (?) ॥ खण्ड[1]स्फुटितसस्कार . धू . .
१५ . . हसम .. प्रशस्ति स्वा . त(?) ॥ . .
१६ .... . र् [ा] मचन्द्र [पु] त्र् [े] ण देवकेन ॥

अनुवाद

यह लेख इतना अधिक खडित है कि इसका सबद्ध अनुवाद नही किया जा सकता। किन्तु निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं। प० १ मे काशी नामक नगर का उल्लेख है तथा प० २ मे, इसके साथ सबद्ध रूप मे, पुरन्दर नामक देवता का उल्लेख है। प० २ मे अ तिम पठनीय अक्षर तथा प० ३ के प्रथम पठनीय अक्षर के बीच मे आए और अब नष्ट हो गए अवतरण मे शासक का नाम था, सभवत प० ३ के प्रारम्भ मे हम जिसके सबध मे मध्य प्रदेश का उल्लेख पाते हैं। उसके वश मे बालादित्य नाम का 'एक अन्य' शासक उत्पन्न हुआ था (प० ३)। इस बालादित्य के वश मे एक और भी बालादित्य हुआ (प० ३)। उसकी पत्नी धवला थी जिसकी तुलना चन्द्रमा की पत्नी रोहिणी, शूलपाणि की पत्नी गौरी, तथा वासुदेव की पत्नी लक्ष्मी से की गई है। उनका यशस्वी पुत्र प्रकटादित्य था (प० ६) जिसके गुणों तथा शक्ति की–जिसमें उसकी कार्त्तिकेय नामक देवता से तुलना भी (प० ९) सम्मिलित है–चर्चा प० ७ से लेकर प० १० तक के अ श मे की गई है, प्रत्यक्षत इस अ श मे कोई अतिरिक्त ऐतिहासिक सूचना नही अ कित थी। प० ११ मे मुरद्विष देवता के मदिर के निर्माण का उल्लेख है। प० १४ मे मदिर के जीर्णोद्धार कार्य के लिए स्वीकृत सुविधा का उल्लेख था। तथा प० १६ मे, प्रत्यक्षत लेख के उत्कीर्णक के रूप मे, रामचन्द्र के पुत्र देवक का नाम अ कित है।

---

१ छन्द, संभवत श्लोक (अनुष्टुभ)।

सं० ८० प्रतिचित्र ४४

महासामन्त तथा महाराज समुद्रसेन का निर्मण्ड ताम्रपत्र-लेख

इस लेख का ज्ञान जनरल कनिंघम को १८४७ अथवा १८४८ से रहा है; किन्तु जनसामान्य को इसका ज्ञान १८७९ मे हुआ जब कि पजाब मे सार्वजनिक शिक्षण के निदेशक के पद पर नियुक्त मेजर डब्लू० आर० एम० होलरायड (W. R M Holroyd) को इसको प्राप्ति हुई और उन्होंने इस ताम्र-पत्र को डा० राजेन्द्रलाल मित्र के पास भेजा, डा० राजेन्द्रलाल मित्र ने जर्नल आफ् द बंगाल एशियाटिक सोसायटी जि० ४८, पृ० २१२ इ० मे लेख का अपना पाठ तथा अनुवाद प्रकाशित किया।

निर्मण्ड,[1] पजाब मे कागड़ा जिले के कुल्लू[2] क्षेत्र के प्लाच तहसील के प्रमुख नगर प्लाच[3] मे इक्कीस मील उत्तर-पूर्व मे, सतलज नदी के दाहिने तट पर स्थित एक गाव है। यह लेख एक ताम्र-पत्र पर अ कित है जो इस गाव मे परशुराम नामक देवता के मदिर की सपत्ति है, तथा, क्षेत्रीय रीति के अनुसार, इसे मदिर के किसी दीवाल पर कील मे जड कर रखा जाता है। परीक्षणार्थ, मुझे मूल पत्र की प्राप्ति श्री एल० डब्लू० डेन, बी० सी० एस० की कृपा से हुई।

एक ही ओर अ कित यह पत्र अनियमित आकार का है, तथा इसका सबसे लम्बा भाग १' ९ ३/८" एव सबसे चौडा भाग ८ ३/८" है। इसके किनारे न तो मोटे बनाए गए हैं और न पट्टियो के रूप मे उभारे गए हैं। चार कोनो मे से तीन कोने न्यूनाधिक क्षतिग्रस्त हैं, किन्तु इससे-सिवाय इसके कि दुर्भाग्य से ऊपरी भाग के दाहिने कोने मे, प० १ के प्रारम्भ मे, जिसका यह लेख है उस महाराज के वश का नाम टूट गया है-कोई सूचना नष्ट नही हुई है। शेष लेख अत्यन्त सुरक्षित अवस्था मे है। ताम्रपत्र अपेक्षाकृत पतला है तथा अक्षर गहरे न उत्कीर्ण होने पर भी पीछे की ओर दिखाई पडते हैं; तथा उनके उत्कीर्णन मे इतनी शक्ति का प्रयोग किया गया है कि पत्र की मूल समतलता पूर्णतया नष्ट हो गई है, और इसके परिणामस्वरूप शिलामुद्रण मे अधिकाश अक्षर अस्पष्ट दिखाई पडते हैं। उत्कीर्णन पर्याप्त सुन्दर हुआ है, किन्तु, जैसा कि सामान्यता पाया जाता है,अधिकाश अक्षरो के आन्त-रिक भाग पर उत्कीर्णक के उपकरणो के चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। पत्र के ऊपरी भाग पर, बीच मे, एक सूराख है जो मूलत छल्ले के लिए—जिसके साथ मुहर सलग्न थी—बना प्रतीत होता है; किन्तु यह किनारे की ओर टूट गया है तथा अब छल्ला एव मुहर अप्राप्त हैं। पत्र के नीचे की ओर एक अन्य सूराख है, इसे सभवत बाद मे मदिर की दीवाल पर कील से जडने के निमित्त बनाया गया था। पत्र का भार लगभग १पौंड १२ औंस है। अक्षरो का आकार ३/१७" से लेकर ५/१६" तक है। अक्षर उत्तरी प्रकार की वर्णमाला के हैं। अनुवर्ती य के साथ र का सयोग होने पर, इस लेख मे र को पक्ति पर ही लिखा गया है तथा नीचे केवल एक य का अकन हुआ है—उदाहरणार्थ, प० ८ मे अ कित पर्यन्ता

---

१ मानचित्रो का 'Nirmand'। इण्डियन एटलस, फलक स० ४७। अक्षाश ३१°२५' उत्तर; देशान्तर ७७°३८' पूव।

२ मानचित्रो का 'Kullu' तथा 'Kulu'।

३ मानचित्रों का 'Pllach'।

मे तथा प० ११ मे अ कित कुर्यात् मे। इन अक्षरो मे, प० १४ मे, १, ६, तथा १० के अ क भी सम्मिलित हैं। भाषा सस्कृत है, तथा प० १२ से लेकर प० १४ तक मे अ कित आशीर्वादात्मक तथा अभिशंसनात्मक श्लोको को छोड कर सपूर्ण लेख गद्य मे है। वर्णविन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १ प० २ मे अ कित युगल ऋतु मे, प० ६ मे अ कित दु ख मे, प० २, ३ तथा ४ मे अ कित अनुध्यात' परम मे, प० २ मे अ कित उत्पन्न पित्रा मे तथा प० ५ मे अ कित दयालु परम मे जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का प्रयोग, २ प० १ मे अ कित वङ्श मे श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग, ३ प० १ मे अ कित समतिक्रान्त मे, तथा प० १५ मे अ कित अत्र तथा चावित्र मे, अनुवर्ती र के साथ सयोग होने पर कभी कभी क तथा त का द्वित्व, तथा ४ प० ३ अ कित लब्ध मे, प०७ मे अ कित ब्वलि मे, प० ८ तथा ६ मे अकित कुटुम्बिना मे, तथा प० ६ मे अकित कुटुम्ब मे सर्वत्र व के स्थान पर ब का प्रयोग।

लेख समुद्रसेन नामक महासामन्त तथा महाराज का है। यह अ को मे तिथियुक्त है, जो वर्ष छ तथा वैशाख मास (अप्रेल–मई) के शुक्ल पक्ष का ग्यारहवा सौर दिवस है। यह तिथि जिस सवत् विशेष की है, लेख मे इसे सकेतित करने के लिए कुछ भी नही है। लिपिशास्त्रीय आधारो पर इसे हम हर्ष सवत् मे रख सकते हैं जिससे ईसवी सन् ६१२–१३ की तिथि प्राप्त होती है। किन्तु मुझे इस बात की सम्भावना मे सदेह है कि सिंहासनारूढ होने के इतने शीघ्र हर्ष के शासनकाल के वर्ष सवत् के रूप मे सामन्यतया स्वीकार्य हो गए होंगे। तथा, मुझे यह अधिक सभव जान पडता है कि इस लेख की तिथि स्वय समुद्रसेन की राजसत्ता के वर्षो का निर्देश करती है, जैसा कि हम राज महा-जयराज के आरग दानलेख (ऊपर स० ४०) मे, राज महा–सुदेवराज के रायपुर दानलेख (ऊपर स० ४१) मे, तथा महाराज प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक तथा सिवनी दानलेखो (ऊपर स० ५५ तथा ५६) मे देखते ह। और उस दशा मे इस लेख की तिथि के विषय मे मात्र यह कहा जा सकता ह कि यह स्थूलत सातवीं शताब्दी ईसवी की है[1]। इस लेख का प्रयोजन कुछ

---

१ जनरल कनिंघम (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १४, पृ० १२० इ०) ने इस लेख को विक्रम सवत् १२२७ (ईसवी सन् ११६०–६१) मे रखा है, पर उनके आधार सर्वथा निर्बल हैं। यह सर्वथा सत्य है कि देश के इस भाग की वर्णमाला के अक्षर अत्यन्त रूढ़िवादी प्रकार के हैं, किन्तु इस सीमा तक नही कि इनको इतने बाद तक की शताब्दियो मे रखा जा सके। किन्तु, इस विषय में अधिक महत्वपूर्ण यह है कि उनके द्वारा किया गया तिथि का पाठ पूर्णतया अशुद्ध है। सवत् के बाद अ कित अ क की सर्वथा उपेक्षा करते हुए, उन्होने सवत् के पूर्व आए हुए शब्दो की व्याख्या के आधार पर तिथि–पाठ को निकाला है—अर्क का अर्थ उन्होंने 'बारह' तथा गण का अर्थ 'सत्ताईस' किया है। सख्यात्मक—शब्द-पद्धति के अनुसार, अर्क निश्चितरूपेण 'बारह' के लिए प्रयुक्त होता है, तथा सभवत गण का प्रयोग 'सत्ताईस' के लिए हो सकता है यद्यपि इसके लिए मुझे कोई प्रमाण नही उपलब्ध है। किन्तु, वर्तमान अवतरण मे अर्क लेख के रचयिता के नाम का द्वितीय घटक मात्र है, तथा गण का यहां जो कुछ भी अर्थ हो, यह सर्वथा निश्चित है कि इसका प्रयोग यहा सख्यात्मक–शब्द के रूप में नही हुआ है। सामान्य रूप में तिथि का लेखन सख्यात्मक प्रतीक अथवा अ क द्वारा हुआ है जो कि सवत् के तुरन्त बाद मे अ कित किया गया है, और यह अ क ६ है। जनरल कनिंघम को अपनी व्याख्या का किंचित समर्थन इस तथ्यविशेष मे प्राप्त हुआ कि 'मन्दी' तथा 'सुकेत' वशो की स्वीकृत वशावली मे एक नाम समुद्रसेन आता है, ईसवी सन् १५०० की पीढ़ी से प्रत्येक शासक का समय तीस वर्ष मानते हुए पीछे की ओर गणना करने पर जिसका समय लगभग ईसवी सन् ११४० से लेकर ११६६ के बीच मे पडेगा, तथा, तिथि की उनकी व्याख्या मानने पर जिसे इस लेख के समुद्रसेन के साथ समीकृत किया जा सकता है। किन्तु, इस तादात्म्य को कदापि नही माना जा सकता,

ब्राह्मणो—जिन्होंने निर्मण्ड के अग्रहार मे अथर्ववेद का अध्ययन किया था—के प्रति, त्रिपुरान्तक अथवा शिव देवता—मिहिरेश्वर नाम से जिनकी सस्थापना उनकी माता मिहिरलक्ष्मी द्वारा कपालेश्वर नाम के अन्तर्गत उसी देवता के पहले से ही स्थापित मदिर मे की गई थी—कीसेवाओ के लिए सूलिसग्राम नामक गाव के अभियोजन का लेखन है। अतएव, यह शैव लेख है, किन्तु इस देवता के नाम में प्रथम घटक के रूप मे मिहिर ='सूर्य' शब्द का प्रयोग यह सकेतित करता प्रतीत होता है कि इस दृष्टान्त मे शैव अनुष्ठानो के साथ साथ सूर्योपासना का कोई न कोई प्रकार भी सबद्ध था।

मूलपाठ[1]

१ [2] ...... भिख्यातनरपतिवङ्शजस्सम[3]भवच्चतुरूदधिसमतिक्रान्तकीर्त्तिरनेकसामन्तोत्तमाङ्गा-वनतमुकुटमणिमयूखविच्छुरितचरणारविन्द[4]—

२ युगल [5]क्रतुयाजी महासामन्तमहाराजश्रीवरुणसेनस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यात परमदेव्याप् (म्)-प्रवा(बा)लिकाभट् [ट् *]ारिकायामुत्पन्न पित्रैव तुल्यो गुणैर्म्म—

३ हासामन्तमहाराजश्रीसञ्जयसेनस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यात परमदेव्या शिखरस्वामिनीभट् [ट् *]-रिकायामुत्पन्नस्समरशतलब्ध (ब्ध)जयस्त्यागी म—

४ हासामन्तमहाराजश्रीरविषेणस्तस्य पुत्रस्तत्[ा *]दानुध्यात परमदेव्या श्रीमिहिरलक्ष्मीभट्-[ट् *]ारिकायामुत्पन्नश्शरदमलसकलरजनिकर इव प्राणि—

५ ना समाह् लादनकरस्समुत्खाताशेषरिपुराश्वावतामप्रार्थितफलप्रदो दीनानाथातुरदयालु परममाहे-श्वरोऽतिब्र(ब्र)ह्मण्य परात्थ्र्य (र्त्थं) करतो महासामन्त—

६ महाराजश्रीसमुद्रसेनो जननीश्रीमिहिरलक्ष्म्या धर्म्मार्त्थं भगवतस्त्रिपुरान्तकस्य लोकालोककरस्य-प्रणतानुकम्पिनस्सर्व्वदु खत्रयकरो[6] कपाले—

७ श्वरे जननीप्रतिष्ठितस्य श्रीमिहिरेश्वरस्य कपालेश्वरव्व(ब)लिचरुसत् [त्*]रस्नग्धूपदीपि(प)-दानाय सतत शीर्ण्णखण्डस्फुटितसाधनाय च नि—

८ र्म्मण्डामहाराथर्व्वणब्रा(ब्रा)ह्मणस्तोमाय सूलिसग्रामनववैदिलकर्म्मान्तिवक्खलिककुटुम्वि(वि)-ना द्वेसभूमीपर्य्यन्तापरिभूतनाम्ना फक्कश्च तालापुर—

९ ककुटुम्वि(वि)ना द्वेसभूमी सोद्रङ्गा ससीमान्तपर्य्यन्तासुलभककुटुम्व(ब)दिन्नकुटुम्व(म्ब)श्च। कपालेश्वरदेवस्य पूर्व्वप्रतिष्ठाया महाराजशर्व्ववर्म्मणा[7] भूमी दत्ता सूलिसग्रामस्य श्रीमिहि—

वशावली मे इस नाम के पूर्व आए वीरसेन, कनवाहनसेन तथा नरवाहनसेन नामो का इस लेख मे अंकित रवि-षेण, सजयसेन, तथा वरूणसेन नामो से तादात्म्य मानना अथवा उनके लिए प्रयुक्त हुआ स्वीकार करना असभव है।

१ मूल पत्र से।

२ यहा पर चार, अथवा सभवत पाच, अक्षर टूट गए हैं और अप्राप्य हैं। इनमें से अन्तिम अक्षर का कुछ अश पठनीय अक्षर भि के पूर्व देखा जा सकता है किन्तु यह बता सकना असभव है कि सपूर्ण अक्षर क्या था।

३ इस म के ऊपर प्राप्त चिन्ह ताम्बे का दोष है जिसके कारण सूराख बन गया है।

४ वि तथा ण्ड के बीच मे प्राप्त चिन्ह ताम्बे के दोष के कारण है।

५ इन अक्षरो के ऊपरी भाग टूटे हुए हैं तथा अप्राप्य हैं, किन्तु उनके अभिज्ञान के लिए पर्याप्त अ श शेष है।

६ पढें, करस्य।

७ पढें, शर्व्ववर्म्मणा।

महासामन्त तथा महाराज समुद्रसेन का निर्मण्ड पत्र

१० रलक्ष्म्या दत्तन्य समोदकजङ्गलभूमीसमेतशेष सप्रतिवासिजनसमेत सोद्रङ्ग [*] स्वसीमातृण-
काष्ठप्रस्रवणयूती (ति) पर्यन्त देवाग्राहारत्वेनाच—

११ न्द्रार्कतारासमकालीन प्रतिपादयति स्म [॥ *] विदित्वैतद्राजभिरस्तदाश्र (श्रि)तजनेना-
धिकृतानधिकृतेनहितमिच्छता प्रतिपालनीया [। *] योऽन्यथा कुर्यात्परिपन्थममपह—

१२ रणपीडोपद्रव वा स पञ्चभिर्म्महापातकैरुपपातकैश्च सयुक्तस्स्यात् ॥ उक्तञ्च [।*] बहुभिर्व्व[1]-
सुधा भुक्ता राजभिस्सगरादिभि [*] यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा

१३ फल [॥ *] षष्टि वर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिद आच्छेता चानुमन्ता च तान्येव नरके
वसेत् [॥ *] स्वदत्ता परदत्तान्वा यो हरेत वसुन्धरा षष्ठिवर्ष—

१४ सहस्राणि विष्ठाया जायते क्रिमिरिति ॥ दूतोऽत्र निहिलपति कुशलप्रकाशश्च । लेखकोऽत्र उद्योत-
षर्क[2]श्च गणस्रोम्य[3] [॥ *] सवत् ६ गे[4] शु दि १० [॥ *]

१५ राष्ट्रसमेतस्या(ये)य दत्ति [*] परिपाल्या ॥ गे(?)ङ्कि(?)कात्र उधा(?)न(?)स्थावर-
वादित्रक (?)विदयस(?)हृद्र उपलव[5]

१६ कगललञ्च(?)टिक द्व[6]य (?) मिह्री(हि)रलक्ष्मि(क्ष्मी)प्रतिपा (दि*)दृत्त इति [॥ *]

अनुवाद

राजाओ के वश मे महासामन्त तथा महाराज श्री वरुणसेन हुए, जिनका यश चार समुद्रो तक फैला हुआ था, जिनके चरणकमल विविध सामन्तो के झुके हुए मुकुटो मे जटित रत्नो की रश्मियों से समन्वित थे, (यथा) जिन्होने यज्ञ किए।

प० २—उनके पुत्र, जो उनके चरणों का ध्यान करने वाले थे, (तथा) उत्तम गुणो मे निश्चिततया (अपने) पिता के समान थे,—परमदेवी,[7] भट्टारिका प्रवालिका से उत्पन्न महासामन्त तथा महाराज श्री नजयसेन थे।

प० ३—उनके पुत्र—जो उनके चरणों का ध्यान करने वाले थे, [तथा] जिन्होने सैकडो युद्धो मे विजय प्राप्त किया था, (तथा) जो परम उदार थे—परमदेवी शिखरस्वामिनी से उत्पन्न महासामन्त तथा महाराज श्री रविगिण थे।

---

१ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले दो श्लोको म।

२ पढ़ें, उद्योतावकस्।

३ यह गणश्रेष्ठ के लिए अभिप्रेत जान पडता है।

४ उत्कीर्ण तो यही हुआ है। किन्तु यह निश्चित ये अर्थात् वैशाख के स्थान पर गलती से उत्कीर्ण हो गया है, तथा यह देख पाना सरल है कि कैसे उत्कीर्णक ने प्रपत्र की नकल करते समय यह गलती की।

५ इस व केपश्चात् प्राप्त चिन्ह ताम्बे मे दोष के कारण है, जिससे पत्र मे सूराख हो गया है।

६ इस द्व से पूर्व प्राप्त चिन्ह ताम्बे मे दोष के कारण है, जिससे पत्र मे सूराख हो गया है।

७ परमदेवी, शब्दश 'सर्वश्रेष्ठ देवी', महाराजो की पत्नियो की राजकीय उपाधि थी। किन्तु, अधिक प्रचलित उपाधि महादेवी थी (द्र०, ऊपर पृ० १६, टिप्पणी १)

प० ४—उनके चरणो का ध्यान करने वाले उनके पुत्र महासामन्त तथा महाराज श्री समुद्रसेन—जो परमदेवी, भट्टारिका श्री मिहिरलक्ष्मी से उत्पन्न हुए थे, शरद ऋतु के निर्मल चन्द्र के समान जो [सभी] प्राणियो को प्रमुदित करने वाले है, जिन्होने सभी शत्रुओ को नष्ट कर दिया है; जो दरिद्र, असहाय तथा आर्त्त जनो के प्रति सदय है, जो (भगवान्) महेश्वर के परम भक्त हैं, जो ब्राह्मणो के प्रति परम मित्रता का भाव रखने वाले हैं, (तथा) जो परम कल्याण मे निरत है,—ने (अपनी) माता श्री मिहिरलक्ष्मी के धार्मिक उद्देश्यो के निमित्त, चन्द्र, सूर्य, तथा तारागणो की स्थिति-काल तक के लिए, निर्म्मण्ड के अगहार मे अथर्ववेद का अध्ययन करने वाले ब्राह्मणो के प्रति—(भगवान्) कपालेश्वर (के मन्दिर) मे भगवान् त्रिपुरान्तक, दृष्ट तथा अदृष्ट लोक के सर्जक, (अपने) पूजको के प्रति दयालु, सभी दु खो के निवारक, (तथा) कपालेश्वर (के मन्दिर) मे (अपनी) माता द्वारा प्रतिष्ठित परम पावन (भगवान्) मिहिरेश्वर के निमित्त वलि, चरु, सत्र, माता तथा धूप-दीप देने के उद्देश्य से, तथा जो कुछ भी जीर्ण-शीर्ण हो उसके जीर्णोद्धार कर्म के लिए—समस्त सूलिसग्राम को भगवान् के अग्रहार के रूप मे दिया, जो कि श्री मिहिरलक्ष्मी द्वारा–समतल, दलदली तथा वन प्रदेशो के साथ, निवासियो के साथ, अर्थात् उन सभी भूमियो के साथ जिसमे सूलिसग्राम के नव-निर्मित वैदिल[1] के किनारे स्थित (क्षेत्र वाले) कृषक वक्खलिक (द्वारा दी गई) द्वंस[2]—भूमि, तथा पक्ख[3] इस परिभूत नाम से (ज्ञात) तालापुर[4]नामक नगरके कृषक द्वारा उद्रग के साथ तथा (अपनी) सीमाओ के किनारो को सन्निविष्ट करने वाली, (दी गई) द्वंसभूमि, तथा सुलभक तथा दिन्न का क्षेत्र तथा महाराज शर्व्ववर्मन् द्वारा भगवान् कपालेश्वर के पूर्व-सस्थापक के समय दी गई भूमि भी सम्मिलित थी—दान मे दिया गया था।

प० ११—इसे जान कर (भावी) राजाओ द्वारा (तथा) कल्याण चाहने वाले उन पर अश्रित जनो–चाहे वे अधिकार मे हो अथवा अधिकार मे न हो–द्वारा (इस दान को) रक्षा की जानी चाहिए। अन्यथा (कार्य करते हुए) जो कोई भी इसमे बाधा डालेगा अथवा अपहरण-कार्य जनित दु ख से कष्ट पहुचाएगा, वह पाच महापातको तथा उपपातको (के अपराध) का भागी होगा।

प० १२—और, यह कहा गया है—'यह पृथ्वी सगर से प्रारम्भ होकर विविध राजाओ द्वारा भोगी गई है, जो भी व्यक्ति जिस समयविशेष पर पृथ्वी का स्वामी होता है, उसे (यदि वह इस दिए गए दान को बनाए रखता है) उस समयविशेष पर फल प्राप्त होता है। भूमि–दान करने वाला साठ हजार वर्षों तक स्वर्ग मे आनन्द–लाभ करता है, (किन्तु) (दान) का अपहरण करने वाला तथा (अपहरण कर्म का) अनुमोदन करने वाला उतने ही वर्षो तक नरक–वास करेंगे। जो भी व्यक्ति दान का, चाहे वह स्वय द्वारा दिया गया हो अथवा किसी अन्य द्वारा दिया गया हो,–अपहरण करता है, साठ हजार वर्षों तक विष्ठा–कृमि के रूप में जन्म लेता है।

---

१ वैदिल। इस शब्द की मैं कोई व्याख्या नही पा सका हू।

२ द्वंस। यह सभवत कोई क्षेत्रीय शब्द है और इसकी मैं कोई व्याख्या नही पा सका हू। डा० आर० मित्र ने इसका अनुवाद 'चरागाह' किया है पर इसके समर्थन में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं उद्धृत किया है। प० ८ मे अ कित सूलिसग्रामनव से लेकर प० ९ मे अ कित भूमिदत्ता तक के अवतरण का अर्थ स्पष्ट नहीं है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसमे कुछ पूर्व–दत्त दानो का उल्लेख है जिससे सूलिसग्राम के अशेषम् अथवा 'सपूर्ण–भाग',—जो कि अब समुद्रसेन द्वारा दिया गया है—का स्पष्टीकरण होता है।

३ शब्दश 'कुष्ठ–रोगी'।

४ अथवा, सभवत, तालपु–।

प० १४—इस विषय में दूत[1] (है) निह्निपति[2] कुशलप्रकाश, तथा इस विषय में लेखक (है) गणप्रमुख (?)[3] उद्योताक। वर्ष ६, (मास) वैशाख, शुक्ल पक्ष, दिवस १० (तथा) १।

प० १५—देश के (लोगों के) सम्पूर्ण समूहन के इस दान की रक्षा की जानी चाहिए।

---

१ दूत, द्र० ऊपर पृ० १२३, टिप्पणी १। विक्रम संवत् ११९२ के एक उज्जैन दानलेख में (कोलब्रुक, एसेज, जि० २, पृ० २७३, तथा, इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स, ग० ३१, प० १२) एक ही तथा उसी दानलेख के लिए एक से अधिक दूत अथवा दूतक की नियुक्ति का दृष्टान्त मिलता है - "पुरोहित, ठक्कुर वामनस्वामिन्, ठक्कुर श्री पुरुषोत्तम, महाप्रधान, राजपुत्र श्री देवधर, तथा अन्य", जब कि इसके साथ कोई ऐसी परिस्थिति नहीं दिखाई देती जैसी कि ऊपर लेख सं० ३० के प्रसंग में मिलती है जिसमें राजपत्र में कुछ अतिरिक्त अधिकारों के समावेश के लिए दूसरे दूतक की आवश्यकता पड़ी थी।

२ निह्निपति। इस राजकीय उपाधि के प्रथम घटक की कोई व्याख्या मैं नहीं कर सका हूँ।

३ गणश्रेष्ठ (?)। यदि अभिप्रेत पाठ सही है, तब इस शब्द का कोई पारिभाषिक अर्थ होना चाहिए, किन्तु इसका ठीक ठीक अर्थ स्पष्ट नहीं है।

सं० ८१, प्रतिचित्र ४५

राजा तीवरदेव का राजिम ताम्र-पत्र लेख

यह लेख, लगभग १८७५ मे, हनुमन्त राव महरीक नामक मराठा सरदार को प्राप्त हुआ, तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान, १८२५ मे, एशियाटिक रिसर्चेज, जि० १५, पृ० ४९९ इ० के माध्यम से हुआ जहा कि–मूल पत्र श्री आर० जैंकिस द्वारा भेजे गए थे—शिवरामसूरि नामक एक जैन विद्वान् के पाठ तथा प्रो० एच० एच० विल्सन के अनुवाद के साथ इसका एक शिलामुद्रण (वही, प्रति० १४) प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् जनरल कनिंघम ने मूल पत्रो को पुन प्राप्त किया तथा, १८८४ मे, आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ् इण्डिया, जि० १७, पृ० १७ (तथा प्रति० ६, ७, ८) मे एक नए शिलामुद्रण का प्रकाशन किया।

राजिम[1] सेन्ट्रल प्राविंसेज मे रायपुर[2] से लगभग चौबीस मील दक्षिण-पूर्व मे महानदी के दाहिने तट पर स्थित एक कस्बा है। लेख धारण करने वाले पत्र इस नगर मे एक गृह के निर्माण के लिए पत्थर खोदते समय प्राप्त हुए थे और इस समय वे राजीवलोचन नामक देवता के मन्दिर के पुजारियो के अधिकार मे हैं। परीक्षणार्थ इस लेख की प्राप्ति मुझे जिलाधिकारियो की सहायता से हुई।

पत्र, जिनमें से प्रथम तथा अन्तिम केवल एक हो ओर अ कित है, सख्या मे तीन हैं, प्रत्येक पत्र की लम्बाई लगभग ८⅜" तथा चौडाई ५⅜" हैं। वे पर्याप्त समतल हैं और इनके किनारे न तो मोटे बनाए गए हैं और न ही पट्टियो के रूप मे उभारे गए है। कुछ स्थान मोरचे से क्षतिगस्त हैं किन्तु लेख का अधिकाश पूर्ण सुरक्षित अवस्था में है। ये पर्याप्त मोटे हैं, किन्तु प्रथम तथा अन्तिम पत्र मे अक्षर पीछे की ओर इतने अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं कि उनका अधिकाश पीछे पढा जा सकता है। उत्कीर्णन सुन्दर हुआ है, किन्तु, जैसा कि सामान्यतया पाया जाता है, बहुसख्यक अक्षरो के आन्तरिक भाग पर उत्कीर्णक के उपकरण के चिन्ह प्राप्त होते हैं। प्रत्येक पत्र के ठीक दाहिने पार्श्व में, लगभग बीच मे, उन्हे परस्पर सबद्ध करने हेतु प्रयुक्त छल्ले के लिए, एक सूराख बना हुआ है। छल्ला–जो कि, जब यह मुझे परीक्षणार्थ प्राप्त हुआ था, काटा नही गया था–गोल है तथा इसकी मोटाई लगभग ⁹⁄₁₆" एव परिधि ४¼" है। इसके सिरे, सामान्यरूपेण, मुहर के निचले भाग से सलग्न हैं। मुहर का सर्वोपरि भाग गोलाकार है, तथा इसकी परिधि लगभग ३³⁄₁₆" है। इसके ऊपर उकेरी मे, अपेक्षाकृत अधिक दबे हुए स्तर पर, बीचो बीच मे दो पक्तियो का एक लेख अ कित है जिसका पाठ तथा अनुवाद नीचे दिया गया है, ऊपरी भाग मे सम्मुखीन गरुड की आकृति बनी है जिसका शिर मनुष्य का एवं शरीर पख फैलाए हुए पक्षी का दिखाया गया है, प्रत्यक्षत: इसकी भुजाए मनुष्यो की हैं जो पखों तथा पैरो के बीच मे लटक रही है तथा प्रत्येक कधे के सामने तथा ऊपर एक फणधर सर्प की आकृति बनी हुई है

---

१ मानचित्रो का 'Rajam' तथा 'Rajim'। इण्डियन एटलस, फलक स० ९१। अक्षाश २०°५८' उत्तर, देशान्तर ८१°५५' पूर्व।

२ मानचित्रो इ० का 'Raepoor', 'Raipur' तथा 'Ryepoor', इ०, ऊपर पृ० २४१, तथा टिप्पणी १।

इसके ठीक दाहिनी ओर विष्णु का प्रतीक चक्र वना हुआ है, तथा ठीक वाई ओर शख वना हुआ है, नीचे के भाग मे पुष्प-सज्जा की गई है। तीनो पत्रो का भार लगभग २ पौंड ६३" औंस है, योग ५ पौंड ५३ औंस। अक्षरो का औसत आकार ३⁄१६" है। अक्षर दक्षिणी प्रकार की वर्णमाला के है, किन्तु इनमे दन्त्य द से भिन्न मूर्धस्थानीय ड भी सम्मिलित है—उदाहरणार्थ, प० ६ मे अ कित वाडवानल तथा प० १० मे अ कित गूढो मे। ये सेन्ट्रल इण्डियन मे प्रचलित 'चौकोर-शिर प्रकार' का एक अन्य दृष्टान्त, प्रस्तुत करते हैं जिसके ऊपर मैंने ऊपर पृ० १८ इ० मे विचार किया है। ये प० ३६ मे ७ के लिए प्रयुक्त सख्यात्मक प्रतीक[1] का एक स्वरूप तथा ८ के लिए प्रयुक्त दशमलव-आकृति[2] भी सम्मिलित हैं। अन्तिम पक्ति मे, तिथ्यकन के प्रसग मे प्रयुक्त तीन क्षेत्रीय भाषा के शब्दो को छोडकर, लेख की भाषा सस्कृत है। मुहर पर अ कित लेख पद्यात्मक है। स्वय लेख—प्रारम्भ मे अ कित एक श्लोक तथा प० २५ से लेकर ३५ तक मे आए आशीर्वादात्मक तथा अभिशसनात्मक श्लोको को छोड कर—गद्य मे है। वर्णविन्यास के प्रसग मे ये विशिष्टताए ध्यातव्य हैं १ प० ४ में अ कित निस्त्रिङ्श में, प० १६ में अ कित वङ्श मे तथा प० २७ मे अ कित नृशङ्श मे, श के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर कण्ठ्य आनुनासिक का प्रयोग, २ प० ५ मे अ कित वहल मे ब के स्थान पर व का प्रयोग, तथा ३ प० ८ मे अ कित ब्यवस्था मे, प० ९-१० मे अ कित बपुषि मे, प० २२ मे अ कित अभिवृद्धये मे, प० २५-२६ मे अ कित प्रतिपस्तब्यम् मे, प० ३० मे अ कित ब्यास मे तथा प० ३८ मे अ कित बा मे व के स्थान पर ब का प्रयोग।

लेख पाण्डुवश के राजा तीवरदेव का है। प० १८ मे उसे महाशिव-तीवरराज भी कहा गया है, तथा, मुहर पर अ कित लेख के अनुसार, वह कोशल देश का राजा था। इसमे अ कित राजपत्र श्रीपुर नामक नगर से जारी किया गया है, जो स्पष्टत रायपुर से लगभग चालीस मील पूर्व-उत्तर मे स्थित आधुनिक शिरपुर है। लेख किसी सम्प्रदायविशेष से सबद्ध नही है, तथा इसका सामान्य प्रयोजन तीवरदेव द्वारा, ज्येष्ठ मास (मई-जून) के (पक्षविशेष का उल्लेख नहीं है) वारहवें चान्द्र दिवस पर, एक ब्राह्मण के प्रति पेण्ठाम भुक्ति[3] मे स्थित पिम्परिपद्रक नामक गाव के दान का लेखन है। अन्तिम दो पक्तियो मे, अ शत सख्यात्मक प्रतीक[4] द्वारा तथा अ शत क्रमवाचक विशेषण से युक्त दशमलव-

---

१ यह चिन्ह, सभवत, सख्यात्मक प्रतीक तथा दशमलव—आकृति के बीच का रूप है, क्योकि यह महानामन् के बोधगया लेख, स० ७१, में अकित ७ के प्रतीक से थोडा भिन्न है (द्र०, ऊपर पृ० ३५१, टिप्पणी २), किन्तु यह आकृति की अपेक्षा प्रतीक के अधिक निकट है। जनरल कनिंघम ने (आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ़ इण्डिया, जि० १७, पृ० १७) इसे ६ पढ़ा-सभवत इस कारण कि यह आधुनिक बगाली ६ से स्वरूप में मिलता है। किन्तु, लेख मे दक्षिणी प्रकार के अक्षरो के प्रयोग के कारण यह मान्य नहीं हो सकता। सभवत यह सदेह हो सकता है कि यह ७ है अथवा ६। किन्तु सभी दृष्टिकोणो से विचार करने पर मेरा यह विचार है कि ७ ही अभिप्रेत है।

२ जैसा कि खडी रेखा मे बाई ओर के हल्के झुकाव से प्रकट होता है, यहां हम पूर्ण विकसित दशमलव आकृति पाते हैं, जो कि दक्षिणी प्रकार का है, यह क्रमवाचक विशेषण अष्टमु से भी स्पष्ट होता है। सख्यात्मक प्रतीक तथा दशमलव आकृति का सयोजन अपेक्षाकृत असामान्य है। किन्तु इससे भी अधिक विशिष्ट दृष्टान्त हमे सामन्त देवदत्त के विक्रम सवत् ८७९ के शेरगढ़ बौद्ध लेख के तिथ्यकन मे प्राप्त होता है, जहा कि ८०० का अकन, १०० के लिए प्रयुक्त सख्यात्मक प्रतीक के साथ, दशमलव आकृति ८ द्वारा हुआ है (द्र०, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ३५१ इ०)।

३ भुक्ति, शब्दश "भोग" एक पारिभाषिक क्षेत्रविषयक शब्द है जिसके ठीक ठीक अर्थ का निश्चयन होना शेष है।

४ द्र०, ऊपर टिप्पणिया १ तथा २।

आकृति द्वारा, एक दूसरी तथा और पूर्ण तिथि का अ कन हुआ है, यह तिथि है . शासनकाल का सातवा वर्ष, तथा कार्तिक मास (अक्टूबर-नवम्बर) का (पक्षविशेष का उल्लेख नही है) आठवा सौर दिवस। यह स्पष्टतया राजपत्र के लेखन अथवा अभियोजन की तिथि है। तथा, उल्लिखित 'शासन-काल' सभवत• तीवरदेव का शासनकाल है।

प० ११ में तीवरदेव की सार्वभौम उपाधि का उल्लेख हुआ है। किन्तु उसका नाम अथवा वश अनुल्लिखित है। दूसरी बात का निश्चयन अन्य साक्ष्यो से सभव प्रतीत होता है। तीवरदेव नन्नदेव, जो कि इन्द्रबल का पुत्र था, का दत्तक पुत्र[1] था। नन्नदेव तथा उसके पिता इन्द्रबल का उल्लेख शिरपुर से ही प्राप्त एक अन्य लेख मे हुआ है, जो श्री बेग्लर को प्राप्त हुआ था तथा जन-सामान्य को जिसका ज्ञान जनरल कनिंघम द्वारा, १८८४ मे, **आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया**, जि० १७, पृ० २५ इ० तथा प्रति० १८ क के माध्यम से हुआ, और इससे हमे ज्ञात होता है कि इन्द्रबल का पिता शबर वशीय उदयन था। शिरपुर लेख मे कोई तिथि नही दी गई है, किन्तु लिपिशास्त्रीय आधारो पर इसे स्थूलरूपेण लगभग आठवी अथवा नवी शताब्दी ईसवी मे रखा जा सकता है। और यह सर्वाधिक सभव प्रतीत होता है कि यह शबर शासक अथवा सरदार उदयन वही व्यक्ति है जो परवर्त्ती पल्लव शासक पल्लवमल्ल-नन्दिवर्मन् द्वारा विजित, बन्दी, तथा बाद मे मुक्त हुआ था[2]। श्री फ्लूक[3] ने नन्दिवर्मन् को ईसवी सन् ८०० मे लेकर ईसवी सन् ६०० के बीच में रखा है, उसकी तिथि का ठीक ठीक निश्चयन, कुछ सीमा तक, चोल शासक कोप्पर-केशरिवर्मन्—जिसका कि नाम नन्दिवर्मन् के एक लेख के तमिल भाषा मे किए गए परिवर्धन मे आता है—की तिथि के अनुरूप किया जाना अभी शेष है। इन विषयो के लिए और गवेषणा की अपेक्षा है। किन्तु, ये उस कालविशेष का सकेत करते हैं जिसमे तीवरदेव के वर्तमान लेख को रखा जा सकता है। तथा, यद्यपि प्रथम दृष्टि मे अक्षरों के प्राचीन स्वरूप से इसका समय और पूर्व का प्रतीत हो सकता है, किन्तु अ तिम पक्ति मे अ कित प्रयोग से इस प्रकार के निष्कर्ष का निराकरण होता है। जनरल कनिंघम अवश्य तीवरदेव के लिए ईसवी सन् ४२५ की निश्चित तिथि पर पहुचे हैं।[4] किन्तु, यह उनके नन्नदेव के प्रपौत्र शिवगुप्त का कटक के शासक सोमवशीय शिवगुप्त नामक किसी व्यक्ति के साथ तादात्म्य पर—उडीसा से प्राप्त ताड-पत्रों पर अ कित लेखो के अनुसार जो यपाति अथवा ययाति—केशरिन् के समय शासन कर रहा था—तथा ययातिकेशरिन् के लिए स्टर्लिंग द्वारा निर्धारित तिथि ईसवी सन् ४७४–५२६ (अथवा ४७३ से ५२०) को ठीक मानने पर आधारित है। मैं इस विषय पर विस्तार से विवेचन बाद में करू गा। यहा केवल यह कहना पर्याप्त है कि उडीसा लेखो के आधार पर ययातिकेशरिन के लिए प्राप्त तिथि सर्वथा अविश्वसनीय है, तथा इनसे कम से कम लगभग चार शताब्दियो पूर्व की तिथि प्राप्त होती है, और, यदि इन दो शिवगुप्तो का तादाम्य ठीक है तो इसमे किसी प्रकार का सदेह नही रह जाता कि तीवरदेव को, स्थूलरूपेण, लगभग ईसवी सन् ८०० के पूर्व नही रखा जा सकता।

---

१ तनयप्राप्त, प० १६, शब्दश 'पुत्र रूप मे प्राप्त'। जैसा कि इस अनुच्छेद में उल्लिखित शिरपुर लेख की प० ५ मे अ कित है, नन्नदेव का स्वय से उत्पन्न पुत्र चन्द्रगुप्त था

२ **इण्डियन ऐन्टिक्वेरी**, जि० ८, पृ० २७८, २८२ इ०; तथा **मेनुअल आफ द सलेम डिस्ट्रिक्ट**, जि० २, पृ० ३६०, ३६४।

३ **जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी**, N S जि० १६, पृ० २०३।

४ **आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया**, जि० १७, पृ० १७ इ०।

मूलपाठ[1]

मुहर

क श्रीम[2]त्ती[3]वरदेवस्य कोशलाधिपतेरिद
ख शासन धर्म्मवृद्ध्यर्थं [ ]
स्थिरमाचन्द्रतारक [॥*]

प्रथम पत्र

१ ओम् [॥*] जयति[4] जगत्[त्*]रयतिलक[*] क्षितिभृत्कुलभवनमङ्गलसूत्र [*]ि श्रि(श्री)मत्ति(ती)वरदेवो धौरेय [*] स—
२ कलपुण्यकृता [॥*] स्त(स्व)स्ति ि श्रि(श्री)पुरात्समधिगतपञ्च महाशब्दानेकनतनृपतिकिरि(री)ट—
३ कोटिघृप्त(ष्ट)चरणनखदर्पणोद्भासितोऽपि कन्थदुन्मुखप्रकटरिपुराजलक्ष्मि (क्ष्मी)—
४ केशपाशाकर्षणदुर्ललितपाणिपल्ल [वो*] निशितनिस्तृ(स्त्रि) ङ्शघनघातपातितारिद्विरदकु—
५ म्ममण्डलगलद्व(ब)हलशोणितसदासिक्तमुक्ताफलप्रकारमण्डितरणाङ्गन—
६ द्वि(वि)विधरत्नसमा[5]रलाभलोभविजृम्भमाणारिक्षाखारिवडवानलश्चन्द्रोदय इवाकृत—
७ करोद्वेग क्षि(क्षी)रोद इवाद्वि(वि) र्भूनेकातिशायिरत्नसम्पत्गरुत्मानिव भुजङ्गोद्धारचतुर-[*]
८ परामृष्टग(श)त्रुकलत्रनेत्राजनकोमलकपोलकुङ्कुमपत्र भङ्गत् शिष्टाचारव्य(व्य)वस्था—
९ परिपालनैकदत्तचित्त [*] [।*] अपि च प्रावतने तपसि यशसि रहसि चेतसि चक्षुपि व(व)प्-[_]—

द्वितीय पत्र, प्रथम पक्ष

१० पि च पूजितो जनेनाक्लिष्टतया नितान्तमवितृप्तो गूडो(ढो) गाड(ढ)स्वच्छप्रसन्नय(व)द—
११ नेन चालङ्कृत [*] स्वामिभवन् [`]ऽप्यवहुलपनोऽनुज्झित कृतृष्णोऽपि नितान्तत्या—
१२ गि(गी) रिपुजनप्रचण्डोऽपि सो(सौ)म्यदर्शनो भूतिविभूषणोऽप्यपरुष स्वभाव [त *] कि—
१३ न्वासन्तुष्टो धर्मार्जनेन सम्पल्लाभे स्वल्पक्रोधेन प्रभावे लुब्धो यशसि न प—
१४ रवित्तापहारे स(श)क्[ल] सुभासि(षि)तेपु न कामिनि(नी) क्रि(क्री)डासु प्रतापानलदग्धाशेप—
१५ रिपुकुलतूलराशिस्तुहिनगिलाशैलधवलयशोराशिप्रकाशितदिगन्त [*] कान्त [*] प्रकृत्या
१६ ि श्रि(श्री)मदिन्द्रवलसूनोरलङ्कृतपाण्डुवङ्शस्यां श्रि(श्री)नन्नदेवस्य तनयप्राप्त स्वपुन्य (ण्य)—

---

१ मूल पत्रों से।

२ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ)।

३ मात्रा थोडी क्षतिग्रस्त है और यह कह सकना कठिन है कि यहां ह्रस्व इ की मात्रा थी अथवा दीर्घ ई की। प० १ तथा प० १८ में, नाम मे ह्रस्व मात्रा का प्रयोग किया गया है, और, वास्तव मे, लेख के अधिकांश में ह्रस्व मात्रा के स्थान पर दीर्घ मात्रा का ही प्रयोग हुआ है। किन्तु प० १ मे प्रयुक्त छन्द से यह प्रदर्शित होता है कि इस नाम मे दीर्घ ई की मात्रा का प्रयोग ही शुद्ध है।

४ छन्द, आर्या, किन्तु द्वितीय पाद मे एक लघु अक्षर की कमी है।

५ पत्र मे छल्ले के लिए बनाए गए सूराख से मा की मात्रा अशत नष्ट हो गई है।

१७ सभारप्रस(श)मिताशेषजगदुपद्रव स्वप्रज्ञाशू(सू)चिसमद्धृतारिवलकण्टक. पर—
१८ मवैष्णवो मातापितृपादानुध्यात ¹ श्रि(श्री)महाशिवतिर¹राज कुशली² ॥ पेण्ठामभुक्तीय-

द्वितीय पत्र ; द्वितीय पक्ष

१९ पिम्परिपद्रके ब्राह्मणा (न्) सपूज्य प्रतिवासिन समाज्ञापयति [।*] विदितमस्तु
२० भवता यथास्माभिरय ग्रामो यावद्रविशशिताराकिरण प्रतिहत घोरान्धकार ज—
२१ गदवतिष्ठते तावदुपभोग्य [*]सनिधि· सोपनिधिर³चाटभट⁴प्रवेश् [।*] दा—
२२ रद्रणकसर्वकरादानसमेतो माता⁵पित्रोरात्मनश्च पुण्याभिवृ(वृ)⁶द्धये भा—
२३ रद्वाजसगोत्रवाजसनेयमाध्यन्दिन भट्टगोरिदत्रपुत्रभट्ट—
२४ भवदत्तभट्टहरदत्ताभ्या ज्येष्ठद्वादशायामुदकपूर्व प्रतिपादित इ—
२५ त्यवगम्य भवद्भिर्यथोचितमस्मै⁷ भोगभागमुपनयद्भि सुखम्प्रति—
२६ वस्तव्य(व्य)मिति ॥ भाविनश्च भूमिपालानुद्दिश्येदमभिधीयते [।*] भूमि⁸प्र—
२७ दा दिवि ललन्ति पतन्ति हृ(ह)न्त हृत्वा महि⁹ नृपतयो नरके नृशङ्सा

तृतीय पत्र

२८ एतद् [द्*] वय[*] परिकल्प्य चलञ्च लक्ष्मि(क्ष्मी)मायुस्तथा कुरुत यद्भवतामभि-(भी)ष्ट [ ] [॥*]
२९ अपि च [।*] रक्षा¹⁰पालनयोस्तावत्फल सुगति दुर्गति को नाम स्वर्गमुच्छ(त्सृ)ज्य
३० नरक प्रतिपाद्यते [॥*] व्या(व्या)सगि(गी) ताश्चात्र श्लोकानुदाहरन्ति [।*] अग्नेर¹¹-[प*]त्य प्रथम
३१ सुवर्ण भूर्वैष्णवि(वी)सूर्यसुताश्च गाव· दत्ता[स्*]त्रयस्तेन भवन्ति लोका य कञ्चन गा—
३२ ञ्च महि(ही)ञ्च¹² दद्या [त्*] [॥*] षष्टि¹³वर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिद आक्षेप्ता
३३ चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् [॥*] बहुभिर्वसुधा दत्ता राजभि सगरादिभि

---

१ पढ़ें तीवर । उत्कीर्णक ने, पहले व और र दोनो छोडते हुए, राज का रा उत्कीर्ण किया, और फिर आ की मात्रा का अ शत अपलोप करते हुए वह व जोडना भूल गया ।

२ यह विरामचिन्ह अनावश्यक है ।

३ पढ़ें, सोपनिधिर् ।

४ उत्कीर्णक ने पहले व उत्कीर्ण किया और फिर उसे ट बनाकर शुद्ध किया ।

५ उत्कीर्णक ने पहले पित्रो बनाना प्रारभ किया और फिर उसे माता बनाकर शुद्ध किया ।

६ उत्कीर्णक ने पहले वृि लिखा और फिर अधिलिखित इ की मात्रा का अपलोप किया ।

७ पढ़ें, आभ्या ।

८ छन्द, वसन्ततिलक ।

९ पढ़ें, महीं ।

१० छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ) ।

११ छन्द, इन्द्रवज्रा ।

१२ इस ञ्च का निचला भाग अपूर्ण है । इसकी पुनरावृत्ति की गई और इसे परा बनाया गया; किन्तु इस दूसरे ञ्च का अधिकाश छल्ले की सूराख से नष्ट हो गया ।

१३ छन्द, श्लोक (अनुष्टुभ), तथा अगले दो श्लोको मे ।

राजा तीवरदेव के राजिम पत्र

मान ५०

३४ यस्य यस्य यदा भूमि [स्॰] तस्य तस्य तदा फल [॥॰] स्वदत्ता पर दत्ता वा(वा) यत्नाद्रक्ष
३५ युधिष्ठिर [1]महि[2] महिमता श्रेष्ठ दाना श्रेयो[3]ऽनुपालनमिति ॥ प्रवर्द्धमान—
३६ विजयराज्यसम्वत्सरु[4]७ कार्त्तिक दिवसु अष्ठ(ष्ट)मु ८ [॥॰]

अनुवाद

मुहर

धर्म की वृद्धि के लिए उद्दिष्ट कोशल (राज्य) के सार्वभौम शासक तीवरदेव का यह राजपत्र चन्द्रमा तथा तारागणो की स्थिति तक सुदृढ़तापूर्वक स्थित रहेगा।

ओम्! तीनो लोको के आभूषण, राजवश के प्रासादो के मगलसूत्र-स्वरूप, तथा धर्म-कर्म करने वालो मे सर्वाधिक उत्साह रखने वाले श्री तीवरदेव की विजय है।

प० २—कल्याण हो। श्रीपुर नामक नगर से—वह जो पचमहाशब्द[5] प्राप्त किए हुए तथा (सम्मान प्रदर्शन मे उनके समक्ष) अवनत हुए विविध शासको के किरीटो द्वारा श्लक्ष्णीकृत (अपने)

---

१ पढ़ें, युधिष्ठिर।

२ पढ़ें, मही।

३ पढ़ें, दानाच्छ्रेयो।

४ यहा तथा दिवसु और अष्टमु में, हम प्रत्यक्षत क्षेत्रीय भाषान्तगत प्रयुक्त पययसान देखते हैं। वष तथा दिवस की व्याख्या के लिए, द्र० ऊपर पृ० ३७७, टिप्पणी १ तथा २।

५ पञ्चमहाशब्द, शब्दश 'पाच महान् शब्द'। यह एक पारिभाषिक अभिव्यक्ति है जिसका अथ बहुत दिनो तक सदिग्ध रहा। मोनियर विलियम्स के सस्कृत शब्दकोश मे महाशब्द का अथ 'महा शब्द से प्रारभ होने वाली राजकीय उपाधि' किया गया है, और तदनुसार पचमहाशब्द मे उच्च राजकीय पदो के लिये प्रयुक्त पाच उपाधियो जैसे महाराज, महामण्डलेश्वर, महासामन्त इ० का निर्देश होगा। इसके पूर्व मैंने यह सुझाव रखा था (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ६, पृ० ३०७, टिप्पणी) कि यह शब्द जैनो के पचमहामन्त्र का समरूप है तथा अर्हत्, सिद्ध, आचाय, उपाध्याय तथा सर्वसाधु इन पाच उपाधियो का निर्देश करता है, किन्तु बाद मे (वही, जि० १०, पृ० ३०७, टिप्पणी) अपने इस पूर्व प्रस्तावित सुझाव की अपेक्षा इस उपर्युक्त व्याख्या को स्वीकार किया। यह देखते हुए कि वलभी के ध्रुवसेन प्रथम के (गुप्त) सवत् २०७ मे तिथ्यकित लेख की प० १३ इ० तथा प० २१ इ० मे उसके लिए महासामान्त, महाप्रतिहार, महादण्डनायक, महाकार्ताकृतिक तथा महाराज ये पाच उपाधिया दो बार प्रयुक्त हुई हैं (इण्डियन ऐंटिक्वेरी, जि० ४, पृ० १०५), डाक्टर ब्यूलर ने भी (वही, पृ० १०६, टिप्पणी) इसी व्याख्या को स्वीकार किया। राष्ट्रकूट शासक अमोघवष प्रथम तथा उसके शिलाहार सामन्त कर्पदिन द्वितीय के शक सवत् ७७५ की तिथियुक्त कन्हेरी लेख की प० ३ के अनुवाद मे प्रो० कीलहार्न ने भी यही अथ किया है (वही, जि० १३, पृ० १३५)। इसी बीच श्री श० प० पण्डित ने (वही, जि० १, पृ० ८१, टिप्पणी) उपयुक्त अथ स्वीकार करते हुए भी यह जोडा—यद्यपि इसके लिये उन्होंने कोई प्रमाण उद्धृत नहीं किया—कि इस शब्द को पांच वाद्ययन्त्रो की ध्वनियो का निर्देशक स्वीकार करना पर्याप्त सामान्य हो गया था। इस विचार को ग्रहण करते हुए सर वाल्टर इलियट (वही, जि० ५, पृ० २५१ इ०) ने फरिश्ता से दो तथा चन्द में पृथ्वीराजरासा के उन्नीसवें खण्ड से एक अवतरण उद्धृत किये जिनमे राजाओ के दरबारो मे दिन मे पांच बार नौबत अथवा 'शाही वाद्य' बजाए जाने की बात कही गई है, और उन्होंने यह मत रखा कि प्रस्तुत शब्द इसी प्रथा का निर्देश करता है। इस पर टिप्पणी करते हुए श्री ग्राउज (वही, जि० ५, पृ० ३५४ इ०) ने यह बताया कि चन्द की पुस्तक से उद्धृत अवतरण 'प्रतिदिन बजाई

चरणो के नखो रूपी दर्पण से प्रकाशमान होते है, जिनकी अगुलिया, रोते हुए तथा (और अधिक दुर्व्यवहार के भय से) चिन्ताकुल प्रतीक्षा मे देखते हुए जनसामान्य के समक्ष विगोपित शत्रु-शासको

जाने वाली पाच प्रकार की सगित-ध्वनि' का उल्लेख करता है न कि 'प्रतिदिन पाच बार बजाई जाने वाली सगीत-ध्वनि' का, उन्होंने तुलसीदास के रामायण के प्रथम काण्ड से एक पक्ति का उद्धरण दिया जो 'पाच प्रकार की सगति-ध्वनि तथा मागलिक गीतो' का उल्लेख करती है, उन्होंने इस ग्रन्थ की टीका मे एक दोहा भी दिया जिसमें पाच प्रकार की सगति-ध्वनियो को व्याख्यायित किया गया है जो इस प्रकार हैं- तन्त्रि, ताल, झाझ, नगारा तथा बासुरी। और, अन्तत श्री के० बी० पाठक (वही, जि० १२, पृ० ९५ इ०) ने एक जैन लेखक द्वारा रचित एक अवतरण—जिसमें किसी राजकीय यात्रा का विवरण है तथा पचमहाशब्द एव मागलिक नगाडो की ध्वनि की चर्चा की गई है—को उद्धृत करते हुए यह कहा कि लिंगायत विवेकचिन्तामणि ने पाच वाद्ययन्त्रो के नाम इस प्रकार गिनाए हैं शृंग, तम्मट, शख, भेरी तथा जयघन्टा। इस विषय मे अन्तिम दो विद्वानो के योगदानो से इसमे किसी प्रकार का सदेह नही रह जाता कि पचमहाशब्द पांच वाद्ययन्त्रो की ध्वनियो का निर्देश करता है जिनके प्रयोग की अनुमति उच्च पद तथा अधिकार से युक्त व्यक्तियो के लिए एक विशेष सम्मान—चिन्ह के रूप मे प्रदान की जाती थी। कुछ लेखो मे कुछ विशिष्ट वाद्ययन्त्रो का उल्लेख है जिनका—यदि इन्हें परम्परागत प्रयुक्त, विशिष्ट वाद्ययन्त्रो मे रखा जाय तो—विवेकचिन्तामणि मे बताए गए वाद्ययन्त्रो से तादाम्य होना शेष है। एवम्, शक सवत् ११०२ की तिथियुक्त बक्कगावे लेख (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ५, पृ० ४६, प० ४) कल्चुरि शासक बिज्जल को डमरुकतूर्यनिर्घोषण='वह (जिसके सामने) डमरुक नामक वाद्ययन्त्र की ध्वनि बजाई जाती है' विरुद प्रदान करता है। इसी प्रकार सौन्दत्ति तथा वेलग्राम के रट्ट सरदारो को त्रिवक्तीतूर्यनिर्घोषण विरुद प्राप्त था, उदाहरणार्थ, शक सवत् ११५१ की तिथियुक्त सौन्दत्ति लेख मे लक्ष्मिदेव के लिए (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १०, पृ० २६८, तथा आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, जि० ३, पृ० ११३, प० ६२)। तथा गोआ के कदम्बो के लिए पेरमट्टितूर्यनिर्घोषण विरुद का प्रयोग होता था, उदाहरणार्थ, शक सवत् १०८० की तिथियुक्त वेंकटापुर लेख मे शिवचित्त-पेर्माडि के लिए (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ११, पृ० २७३, प० ७ इ०)। कभी कभी हम पचमहाशब्द के स्थान पर अशेषमहाशब्द='सभी महान शब्द' का प्रयोग पाते हैं, उदाहरणार्थ, गुजरात के राष्ट्रकूट सरदार कर्क द्वितीय के शक सवत् ७३४ की तिथियुक्त बरोदा दानलेख की प० ४१ मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० १६०) तथा उसी वश के सरदार ध्रुव द्वितीय के शक सवत् ७५७ की तिथियुक्त बरौदा दानलेख की प० २४ मे (वही, जि० १४, पृ० १९९)। किन्तु इसका और अधिक व्यापक अर्थ नही था, यह अशेषपचमहाशब्द='सभी पाच महान शब्द' इस दुहरी अभिव्यक्ति से प्रदर्शित होता है जो कि शिलाहार सरदार माम्वाणि के शक सवत् ७८२ की तिथियुक्त अम्बरनाथ लेख की प० १ मे (जर्नल आफ द बाम्बे ब्राच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० ९, पृ० २१९, तथा जि० १२, पृ० ३२९) तथा यादव सरदार सेउणदेव के शक सवत् १०६३ की तिथियुक्त अञ्जनेरी लेख की प० २ मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० १२६) प्रयुक्त हुई है। लेखो मे सामन्तो के नामो के साथ तथा यहा तक कि महाकुमारो अथवा उत्तराधिकारियो के नामो के साथ समधिगतपचमहाशब्द='जिसने पाच महाशब्द प्राप्त किए हैं' विरुद का प्राय प्रयोग होता है। किन्तु सार्वभौम शासको के प्रति इसके प्रयोग मे मैं केवल ये दृष्टान्त उद्धृत कर सकता हू: राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष प्रथम के लिए उसके शक सवत् ७८८ की तिथियुक्त शिरुर लेख की प० ६ इ० मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० १२, पृ० २१८), कक्क नामक एक अन्य राष्ट्रकूट शासक के लिए उसके शक सवत् ६७९ की तिथियुक्त छारोली दानलेख की प० २२ मे (जर्नल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, जि० १६, पृ० १०८); तथा धारा के देवपान के लिए विक्रम

को राजलक्ष्मी के केशपाशो के अपकर्षण मे अनुदार हैं, जो (अपने) तीक्ष्ण असि-प्रहार से काटे गए (अपने) शत्रुओ के हाथियो के कुम्भस्थलो से गिरते हुए गाढे रक्त मे सदैव सनी हुई विविध मणियो से अलकृत युद्ध-भूमियों मे, विविध रत्न-कोशो की उपलब्धि की तृष्णा से मुह खोलने वाले (अपने) शत्रुओ के खारे जल के लिए वडवानल सदृश हैं, जिन्होने (अपने) करो से कष्ट नहीं दिया है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि उदयमान चन्द्रमा (अपनी) रश्मियो से कष्ट नहीं देता है, क्षीर-सागर के समान जो उत्कृष्टतम रत्नो को प्रकाशित करते हैं, गरुत्मत् के समान जो सर्पों का नाश करने वाले हैं[1], जो (अपने) शत्रुओ की मर्यादा-भग हुई पत्नियो की आखो के (आसुओं के बहने से धुले हुए) काजल से नम्र बनाए गए गालो पर चिपके केशर-कणो को भग्न करने वाले हैं, जिनके विचार केवल सुन्दर व्यवहार के सस्थापन तथा पालन मे निरत हैं,

प० ९–मनुष्य-मात्र द्वारा सतत पूजित होने पर (भी) जो (अपने) धार्मिक नियम (तथा) यश (तथा) एकान्तता (तथा) बुद्धि (एव) दर्शन (तथा) पूर्व-जन्म में किए गए (सुन्दर) कर्मों से उद्भूत शरीर (की सुन्दरता) के (विषय में) सतुष्टि से तृप्त नहीं हैं, जो गूढ़ हैं तथा अभेद्य, स्वच्छ एव प्रसन्न आकृति मे अलकृत हैं, जो (अपने) स्वामी के प्रासाद मे भी कभी भी (शब्दो का) अभाव नही अनुभव करते, यद्यपि वे बहुत अधिक नही बोलते हैं, जो भूमि (प्राप्त करने) की तृष्णा होने पर भी अत्यधिक उदार हैं, जो (अपने) शत्रुओ के प्रति भयानक होने पर भी सौम्य-दर्शन हैं, जो महिमा मण्डित होने पर भी कठोर नही हैं, जो स्वभावत धनोपलब्धि मे धर्म का अर्जन करने मे (तथा) शक्ति (सपन्न होने) पर भी केवल हलका क्रोध (प्रदर्शन करने) मे कभी सतुष्ट नही होते, जो यश-लोलुप हैं (किन्तु) दूसरो के धनापहरण के लोलुप नही, जो सुन्दर वार्तालापो मे विनम्र हैं (किन्तु) कामिनियो के साथ क्रीडा करने मे नही, जिन्होने (अपनी) शक्तिरूपी अग्नि से (अपने) शत्रु-कुल रूपी तूल-राशि को जला डाला हैं, जिन्होंने (अपने) हिम-पर्वत के समान धवल यश से ससार के कोने-कोने को प्रकाशित किया है, (तथा) जो स्वभाव से सुन्दर हैं,

प० १६–(वह) श्री महाशिव-तीवरराज,–जो श्री इन्द्रवल के पुत्र, तथा पाण्डु वश को अलकृत करने वाले श्री नन्नदेव के दत्तक पुत्र[2] हैं, जिन्होंने अपने पुण्याधिक्य से ससार के सभी क्लेशो को दूर कर दिया है, जिन्होने अपनी बुद्धि रूपी सूई से सभी काटो को निकाल दिया है, जो (भगवान्) विष्णु के परमभक्त हैं, (तथा) जो (अपने) माता-पिता के चरणो का ध्यान करने वाले हैं,–सकुशल रहते हुए (तथा) पेण्ठाम मुक्ति में स्थित पिम्परिपद्रक (नामक गाव) में ब्राह्मणो की पूजा करके उसके निवासियो के प्रति यह राजाज्ञा निकालते हैं–

प० १९–"आपको यह विदित हो कि हमारे द्वारा, जल-तर्पण के साथ, ज्येष्ठ (मास) के बारहवें चान्द्र-दिवस पर, यह गाव (हमारे) माता-पिता तथा हमारे अपने पुण्य की वृद्धि के लिए

सवत् १२७५ में तिथ्यकित 'चाचा' लेख की प० ५ इ० मे (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया के पृथक् प्रकाशनों मे प्रकाशन स० १०, प० १११)। एकमात्र ऐसा दृष्टान्त जो मुझे ज्ञात है, जिसमे इस सम्मानसूचक विशिष्टता के स्रोत का–अर्थात् शासन करने वाले सार्वभौम शासक द्वारा किसी सामन्त को प्रदान किए जाने का–कोई उल्लेख है, वह है ग्वालियर के भोजदेव का विक्रम सवत् ९१९ तथा शक सवत् ७८४ की तिथियुक्ति देवगढ़ लेख जिसमें (आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, जि० १०, पृ० १०१ तथा प्रति० ३३, स० २, प० ३) महासामन्त विष्णु (?) को तत्प्रवर्त्तपचमहाशब्द='उनके अर्थात् भोजदेव द्वारा दिए गए पचमहाशब्द से युक्त', विरुद दिया गया है।

१ यहा सभवत सुविज्ञात नागवश अथवा कुल का उल्लेख है।

२ तनयप्राप्त, शब्दश 'पुत्र रूप मे प्राप्त', द्र० ऊपर पृ० ३७८, टिप्पणी १।

भारद्वाज गोत्र के तथा वाजसनेय-माध्यंदिन (शाखा) के भट्ट गौरिदत्त के पुत्रो भट्ट भवदत्त तथा भट्ट हरदत्त को दिया जाता है-सूर्य तथा चन्द्रमा तथा तारगणो की रश्मियो द्वारा भयकर अन्धकार से मुक्त विश्व की स्थिति तक वे-इसकी छिपी निधियो तथा धरोहरो के साथ, नियमित अथवा अनियमित सेनाओ द्वारा अप्रवेश्य, (तथा) दारद्रणक[1] तथा अन्य करो की प्राप्ति (के अधिकार) के साथ-वे इसका उपभोग करें।

प० २४-"इसे जानते हुए, आप समुचितरूपेण (उनके) उपभोग के भाग को प्रदान करते हुए सुख से रहे।"

प० २६-तथा, भावी शासको के निर्देशन के लिए यह कहा जाता है,-'भूमि-दान करने वाले शासक स्वर्ग मे सुख-लाभ करते है, (किन्तु) दुःख है। जो (पूर्व-दत्त) भूमि का अपहरण करते है और (इस प्रकार) मनुष्य-मात्र को हानि पहुँचाते हैं, वे नरक मे गिरते हैं· इन विकल्पो को तथा भाग्य (और) जीवन की अनित्यता को भी ध्यान मे रखते हुए, आपको जैसा रुचे वैसा करे।" इसके अतिरिक्त,-"सुरक्षा के फल से भाग्यशाली स्थिति की निश्चितता स्थापित होती है, तथा सुरक्षा न करने से अभाग्य की स्थिति की, कौन (जानते हुए) स्वर्ग का तिरस्कार तथा नरक का वरण करेगा ?"

प० ३०-और इस विषय पर व्यास द्वारा गाए गए श्लोक उद्धृत किए जाते है -सुवर्ण अग्नि की प्रथम सन्तान है, पृथ्वी (भगवान्) विष्णु की है; गाए सूर्य की पुत्रिया है अतएव, जो सुवर्ण, गाय तथा पृथ्वी का दान करता है, वह तीनो लोको का दान करता है। भूमि का दान करने वाला साठ हजार वर्षो तक स्वर्ग मे प्रसन्नता-लाभ करता है, (किन्तु) (दान का) अपहरण करने वाला तथा (अपहरण-कर्म का) अनुमोदन करने वाला उतने ही वर्षो तक नरक-वास करेंगे। सगर से प्रारभ हो कर विविध राजाओ द्वारा पृथ्वी का दान दिया गया है, जो कोई भी जिस समयविशेष पर पृथ्वी का स्वामी है उसे उस समयविशेष पर (यदि वह सप्रति दिए गए दान को बनाए रखता है, तो उसका) फल प्राप्त होगा। हे राजश्रेष्ठ युधिष्ठिर, दान मे दी गई भूमि की-चाहे वह तुम्हारे द्वारा दी गई हो अथवा किसी अन्य के द्वारा दी गई हो-सावधानी से रक्षा करो, (सत्य ही) (दान की) सुरक्षा दान देने से अधिक पुण्यकर है।

प० ३५ प्रवर्द्धमान शासनकाल का वर्ष ७, (मास) कार्तिक, आठवा दिवस, (अथवा, अको मे) ८।

---

१ दारद्रणक एक राजस्व विषयक शब्द है जिसकी व्याख्या अपेक्षित है। शब्दकोशो मे दार शब्द का प्रयोग 'अन्तराय', 'छिद्र', 'जुती हुई भूमि', 'पत्नी' इन अर्थों मे मिलता है, किन्तु उनमे द्रणक शब्द अथवा कोई ऐसा धातुरूप नही मिलता जिसकी सहायता से इसकी व्याख्या की जा सके। इस शब्द से या तो कृषि सबधी किसी कर का निर्देश होता है, अथवा यह उस प्रकार के किसी विवाह-कर का निर्देश करता है जिसकी कि जगत्तुग द्वितीय के शक सवत् ८४० मे तिथ्यकित दण्डापुर लेख की प० ६ इ० मे (इण्डियन ऐन्टिक्वेरी जि० १२, पृ० २२३ इ०) चर्चा हुई है।

अनुक्रमणिका

टिप्पण—स्थूलाकों में संख्याएं पुस्तक के प्रथम खण्ड (भूमिका) से संबद्ध पृष्ठों का निर्देश करती हैं, अपेक्षाकृत सूक्ष्म संख्याएं पुस्तक के द्वितीय खण्ड (लेख तथा अनुवाद) से संबद्ध पृष्ठों की।

अ

आ

इ

ई

उ

ऊ

ए

ऐ

ओ

औ

क

ख

ग

इसे उत्तरी शक वर्ष के रूप लेने पर सभी लेखांकित तिथियो के लिए संतोषजनक परिणाम निकलता है ८३, ९०, ९६ ९८, १०३ टि० तथा यह लगभग निश्चित है कि शीघ्र ही यह सभी रूपो मे उत्तरी शक वर्ष से अभिन्न हो गया तथा इसका प्रथम दिन चैत्र शुक्ल १ हुआ ७८, लेखांकित तिथियो की गणना जिससे प्राप्त परिणाम उपरोक्त शर्तो को पूरा करते हैं ७६, ८३, ८४, ९६, १०३, ११०, ११३, ११६, ११८, (गुप्त) वर्ष १६५ मे तिथ्यंकित बुधगुप्त का एरण स्तम्भ-लेख यह सिद्ध करता है कि प्रचलित गुप्त-वलभी तथा प्रचलित शक वर्षों के बीच का अंतर दो सौ ब्यालीस वर्षो का है, तथा यह कि अलबेरूनी का अनुसरण करने से एव दो सौ इकतालीस वर्ष जोडने से हम प्रदत्त प्रचलित गुप्त-वलभी वर्ष से तुल्य प्रचलित शक वर्ष के प्रारम्भ के पूर्व का अन्तिम अवसित शक वर्ष पाते है ८३-८४, वलभी वर्ष ९४५ मे तिथ्यंकित अर्जुनदेव के वेरावल अभिलेख से यह प्रमाणित होता है कि गुप्त वर्ष के साथ मूल पूर्णिमान्त व्यवस्था, काठियावाड मे ईसवी सन् १२६४ तक सुरक्षित रही ८९-९०, दो अपवाद रूप तिथिया वलभी वर्ष ९२७ मे तिथ्यंकित तथा (गुप्त-वलभी) वर्ष ३३० मे तिथ्यंकित धरसेन चतुर्थ के कैर दानलेख मे मिलती है जिनसे प्राप्त परिणाम गुप्त वर्ष के वास्तविक प्रारम्भ से पूर्व स्थित कार्तिक मास से प्रारम्भ होने वाले वर्ष की प्रतिष्ठापना करते हैं ९०, ९२, इस अन्तर का स्पष्टीकरण ७०, ७३ ९१, ९२, ९४, काल के विषय मे प्रमाण जोकि प्रारम्भिक गुप्त काल से लेखो मे बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र द्वारा उपलब्ध होता है १०० से १२३ तक, प्राप्त परिणामो का साराश जिनसे ईसवी सन् ३१९-२० संवत् का काल तथा ईसवी सन् ३२०-२१ संवत् का प्रथम प्रचलित वर्ष ठहरता है १२३ से १२६ तक, इसका प्रमाण कि अन्यथा स्पष्ट न किये होने पर गुप्त-वलभी तिथियो के वर्षो को प्रचलित वर्षों के रूप मे ग्रहण करना चाहिए १२६ से १२८ तक, संवत् की उत्पत्ति के विषय मे अन्वेषण १२८ से १३४ तक, इसके काल अथवा प्रारम्भ का निर्धारण किसी ज्योतिषीय अपेक्षा द्वारा नही हुआ था ३३ १२८, अपितु इस की उत्पत्ति किसी ऐतिहासिक घटना में ढूंढनी चाहिए जो वस्तुत ईसवी सन् ३२० में घटी १२८, यह वलभी कुल के किसी व्यक्ति द्वारा नहीं स्थापित हुआ था १२८, न ही प्रारम्भिक गुप्त वश के संस्थापक महाराज गुप्त द्वारा १२८, यह इस वश के प्रथम प्रभुतासपन्न शासक चन्द्रगुप्त प्रथम के सिंहासनारोहण से नही प्रारम्भ हो सकता १२९, १३०, प्रारम्भिक गुप्तों द्वारा यह किसी बाह्य स्रोत से ग्रहण किया गया था १३०, वे कारण जिनके कारण उन्हो ने स्वय भारत मे उस समय प्रचलित किसी संवत् को नही स्वीकार किया १३० से १३२ तक, भारत से बाहर, नेपाल में, तथाकथित गुप्त संवत् का प्रयोग उस देश के लिच्छवी शासको द्वारा होना था ९४, ९५, १३२, १८६, इसके और दृष्टांत १८०, १८५, १८५, १८६ लिच्छवियो की प्राचीनता तथा शक्ति के कारण तथा उनके और प्रारम्भिक गुप्तो के बीच स्थित मित्रतापूर्ण सम्बन्धो-जिनमें परस्पर विवाह भी सम्मिलित थे-के कारण प्रारम्भिक गुप्त शासक किसी लिच्छवि संवत् को स्वीकार करने मे उत्साहित होंगे १३४, तथा सर्वाधिक सम्भावना इस बात की है कि तथाकथित गुप्त संवत् एक लिच्छवि संवत् है जिसका प्रारम्भ लिच्छवियों मे राजतत्र की सामान्य स्थापना के समय से अथवा नेपाल में लिच्छवि शासक जयदेव प्रथम के शासन काल के प्रारम्भ से हुआ था १३४

–गुप्त-काल, गुप्त संवत् के लिए अलबेरूनी द्वारा प्रयुक्त एक अभिव्यक्ति, यह सर्वथा युक्तियुक्त है किन्तु इसके प्राचीन कालिक अस्तित्व के लिए कोई प्रमाण नहीं १८, २१, २३, २४, ३०

गुप्त नृपराज्य भुक्तौ, परिव्राजक महाराजों के दान लेखो मे प्राप्त एक पारिभाषिक अभिव्यक्ति जिन से यह प्रदर्शित होता है कि इन कुछ तिथियो पर गुप्त सार्वभौमता का नैरन्तर्य अब भी बना हुआ था ४१, ४२, ४६ १००, १०३ १०६, ११३, ११६, २१७ तथा टि०, ११६ १२८, १३३, १४१

गुप्त-वलभी संवत्, उस काल मे, जबकि वलभी के शासको द्वारा इसके प्रयोग के कारण इसे सम्भवत वलभी संवत् कहा जाने लगा होगा, गुप्त संवत् के लिए एक सुविधाजनक नाम २१

गुप्त, प्रारम्भिक, ६ टि०, उनके लेखो की वास्तविक तिथियो का विस्तार ईसवी सन् ४०१ से ईसवी सन् ४६६ तक है ६, किन्तु परिव्राजक महाराजो के लेखो से सिद्ध होता है कि गुप्त साम्राज्य ईसवी सन् ५२८ तक बना रहा ७, उनका अन्तिम उन्मूलन मिहिरकुल द्वारा सम्पन्न हुआ ९, उनका वशवृक्ष १६, इस मान्यता के समर्थन का

घ

च

छ

ज

झ

ट

ड

ढ

त

ध

न

प

फ

व

भ

म

ल

व

चन्द्र : राम, सुरश्मि के साथ

चेट : मातृ के साथ

जय : धन के साथ

तुल : मातृ के साथ

दत्त : अभय, गौरि, दिवाकर, ध्रुव नर, नाग, पर्ण, फल्गु, भग, भव, भास्कर, रवि, वसु विभु, शर्व, षष्ठि, सूर्य, स्वामिन्, हर के साथ

दास : अजगर, ईश्वर, धर्म, भुजग, मातृ वराह, विष्णु, शिव के साथ

दिन्न : वराह, बोधि के साथ

देव : आदित्यसेन, उदय, घोष, कुमार, कौद्रव, जय, जीवितगुप्त, तीवर, देवगुप्त, धर्म, ध्रुव, नन्न, नरेन्द्र, बाप्प, बालादित्य, भोजक, मान, मही, महीदेवि, रुद्र, रुद्र, वसन्त, विजय, विष्णु, व्याघ्र, वृष, शंकर, शशांक, शिव, शीलादित्य, स्कंद, स्वामिन्, हर्ष के साथ

देवी : अजिन्त, इन्द्रा, कमल, कुमार, कोण, दत्त ध्रुव, भाग्य, भोग, मुरुण्ड, राम, वत्स, श्रीमती के साथ

दोष : धर्म भगवत के साथ

धर्मन् : यशस् के साथ

नन्दिन् : विष्णु के साथ

नाग : कुमार, गणपति, देव, भव, महेश्वर, शक्ति, शर्व, स्कद, स्वामिन् के साथ

नाथ : जय, शर्व के साथ

नामन् : महा के साथ

पट्ट : वर के साथ

पति : पशु के साथ

पस : शाल के साथ

पाल : शिशु के साथ

पालित : चक्र के साथ

पुत्र : गौतम अथवा गौतमी, देव, संध्या, के साथ

प्रकाश : कुशल के साथ

बल : इन्द्र, गोशूरसिंह, विष्णु, हरि के साथ

बोट : रङ्क के साथ

भट : देर ध्रुव, ध्रु, पुलिन्द, विष्णु, स्कंद हरि के साथ

भट्ट : नाग के साथ

भट्टक : तिल के साथ

भर्तृ : वत्स के साथ

भूति : ध्रुव, रुद्र के साथ

मित्र : मण्डल, देव, दुर्वेर, पुष्प, बुद्ध ऋषि, सूर्य, हंस के साथ

राज : कोण्ड, गोप, जय, तीवर, देव, नील, मण्ट, व्याघ्र, शत्रुघ्न, सुदेव के साथ

रात : अत्र अथवा आत्र, यशस्, व्याघ्र, के साथ

लक्ष्मी : मिहिर के साथ

वत्स : नाग, वन्धु के साथ

वर्धन : आदित्य, प्रभाकर, यशस्, राज्य, विष्णु, हर्ष के साथ

वर्मन् : अचल, अनन्त, अवन्ति, अंशु, आदित्य, ईशान, ईश्वर, चन्द्र, चित्र, जय, नर, बन्धु, बल, बोधि, भीम, भोग, यज्ञ, विभु, विश्व, शर्व, शार्दूल, सुस्थित, हरि, हस्तिन् के साथ

वाढ : सर्प के साथ

विष्णु : इन्द्र, देव, धन्य, मातृ, वरुण, हरि के साथ

वृद्ध : विष्णु के साथ

शर्मन् : ईश्वर, कुमार, गुह, गो, गोण्ड, ज्येष्ठ, देव, ध्रुव, नाग, भर्तृ, मघ, मातृ, मूल मोक्ष, रेवति, रुद्र, वर, वरुण, शान्ति, सु, सोम, हरि के साथ

शिव : भार, मातृ, सूक्ष्म के साथ

सिंह : अचल, द्रोण के साथ

सिद्ध : सन के साथ

ष

स